卐 श्री शङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः 卐

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति पिंडवाडा संचालितायां

आचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरकर्मसाहित्यजैनग्रन्थमालाया नवमो (९) ग्रन्थः

बन्धविहाणं

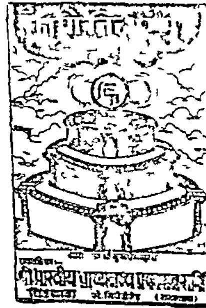
तत्थ

मूल-

पयडि बंधो

(मूलप्रकृतिबन्धः)

'प्रेमप्रभा' टीका-समलङ्कृतः



प्रेरका मार्गदर्शकाश्च -

सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता आचार्यदेवाः

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराः

प्रकाशिका—भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समितिः, पिंडवाडा

प्रथम आवृत्ति - प्रति-५५०	राजसंस्करण-३०) रु० राजाधिराज „ -४०) रु०	वीर संवत् २४९८ विक्रम संवत् २०२८

※ प्राप्तिस्थान ※

भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति
C/o रमणलाल लालचंद
१३५/१३७ झवेरी बाजार, बम्बई २

•

भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन-समिति
C/o शा समरथमल रायचंदजी
पिंडवाडा, (राज०)
स्टे० सिरोही रोड (W R)

•

भारतीय प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
शा. रमणलाल वजेचन्द,
C/o दिलीपकुमार रमणलाल,
मरकती मार्केट,
अहमदाबाद २

•

ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस, पिंडवाड़ा

परम तपस्वी परम पूज्य गुरुदेव श्री **जितेन्द्रविजयजी** महाराज (सांसारिक नाते से वडिल वन्धु) ने व्याकरण आदि मौलिक ग्रन्थ पढने की प्रेरणा देकर ग्रन्थ लिखने के लिए सक्षम वनवाया। अतः आप का उपकार अविस्मरणीय है।

प. पू. आगमप्रज्ञ आचार्यदेवश्री **जम्बूसूरीश्वरजी** महाराज ने इस ग्रन्थ के छपने के बाद सभी फार्मों का सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्षण करके संशोधन किया। तथा पदार्थसंग्रहकार शास्त्रज्ञ प. पू. मुनिवर्यश्री **जयघोषविजयजी** म०, कुशाग्रधी प. पू. मुनिवर्यश्री **धर्मानन्दविजयजी** म. एवं प्राकृतज्ञ विद्वद्वर्य मुनिराजश्री **वीरशेखरविजयजी** ने संशोधन व सम्पादन कार्य में हाथ वटाकर अविस्मरणीय उपकार किया है।

मुनिराजश्री **पद्मसेनविजयजी** ने इस ग्रन्थ के सम्पादन की सम्पूर्ण जिम्मेवारी अपने शिर पर ली थी, किन्तु दक्षिण देश व पूर्व देश में उनका चातुर्मास मुझ से अलग होने के कारण वे सम्पादन कार्य न कर सके, फिर भी ५–६ का प्रूफ संशोधन आदि मे अवश्य सहयोग दिया है।

श्री जैन श्रेयस्कर मण्डल की पाठशाला के पंडितवर्य, कर्मप्रकृत्यादि के अध्यापक सुश्रावक **पुखराजजीभाई** ने, पं. सुश्रावक **वसंतभाई, रतिभाई** द्वारा इस ग्रन्थ को सुना व संशोधित किया, एवं शुद्धिपत्रक भेजकर श्रुतभक्ति का लाभ उठाया, अतः वे कैसे भूले जा सकते हैं?

प्रेस मेनेजर **फतेहचन्दजी** जैन भी स्मृति के पथ मे आते है, जिन्होंने इस मुद्रण कार्य में यथायोग्य प्रयत्न किये है।

इसके सिवाय इस ग्रन्थ में जिसने भी साक्षात् या परंपरा से ज्ञात अज्ञात सहयोग दिया हो, उन सब के प्रति कृतज्ञभाव व्यक्त करता हूं।

इस ग्रन्थ में तार्किक शैली से (Logically) कर्मसिद्धि, कर्म के मुख्य ८ भेद, व १५८ उत्तरभेद, १४ मूल मार्गणा, १७४ उत्तरमार्गणा, आदि का विस्तृत वर्णन दिया गया है व उन मार्गणा में मूलप्रकृतिबन्ध का सत्पदादि द्वार–प्रतिद्वारों द्वारा वर्णन किया गया है। भव्य आत्माएं इस ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन करके मोक्ष प्राप्ति करे, यही अन्तिम अभिलाष–.. .... .

अन्त में छाद्मस्थ्यादि दोष से जिनागम विरुद्ध कोई क्षति हुई हो, उसका मिच्छामि दुक्कडं देता हूँ।

जैन उपाश्रय, मोकलसर
जिला–बाडमेर (राजस्थान)
स० २०२८

—**मुनि गुणरत्नविजय**

समर्पण

यद्यङ्गुल्याऽऽकाशो मेयो प्रसृतादिभिश्च पाथोधिः ।
स्यां च यदि सहस्रमुखस्तदा क्षमो भवदुपकृतीर्वक्तुम् ।।

जे महापुरुषे संसारसागरमांथी उद्धार करी संयमनौकामां आरोहण
कराव्युं, जेओश्री संयमप्रदानथी मांडी तेर तेर वर्ष सुधी पोतानी
पुण्यनिश्रामां राखी मारी संयम नौकाना कावेल सुकानी बन्या,
जेओश्रीए पचाचारमां प्रगति करावी, जेओश्रीनी असीम
कृपाथी हुं अल्पज्ञ 'खवगसेढी' महाग्रन्थ अने आ द्वितीय
महाग्रन्थ 'प्रकृतिबन्ध टीका' नु सर्जन-सम्पादन
करी शक्यो छुं, ते अनन्त उपकारी जैन शासन
ना परमप्रभावक कर्मशास्त्र निष्णात सिद्धांत-
महोदधि सुविशालगच्छाधिपति स्वर्गस्थ
आचार्यदेवश्री श्रीमद्विजय—

प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा

ना पवित्र करकमल मां



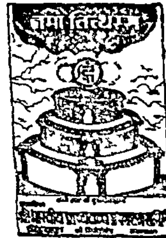
भवदीय कृपाकाक्षी—
गुणरत्नविजय

Acharyadeva Shrimad-Vijaya-Premasurishwara Karma-Sahitya-Granthmala
GRANTH NO. 9

AN AVI ANAM
MOOL
PAYA AN H

[Along with "PREMAPRABHA" commentary]
By
A GROUP OF DISCIPLES

Inspired and Guided by
His Holiness Acharya Shrimad Vijaya
PREMASURISHWARJI MAHARAJA
the leading authority of the day
on Karma philosophy.



Published by-
haratiya rachya Tattva rakashana Sa iti, indwara

First Edition
Copies 550

DELUXE EDITION RS 30
SUPER DELUXE „ RS 40

A D 1972

AVAILABLE FROM

1. BHARATIYA PRACHYA TATTVA PRAKASHANA SAMITI
C/o Shah Ramanlal Lalchandji,
135/137 Zaveri Bazzar
BOMBAY-2
(INDIA)



2 BHARTIYA PRACHYA TATTVA PRAKASHANA SAMITI.
C/o Shah Samarathmal Raychandji,
PINDWARA, (Rajasthan)
St. Sirohi Road (W. R)
(INDIA)



3. Shah Ramanlal Vajechand,
C/o Dilipkumar Ramanlal,
Maskati Market,
AHMEDABAD-2
(INDIA)



Printed by
Gyanodaya Printing Press
PINDWARA (Raj)
St Sirohi Road, (W R)
(INDIA)

सम्पादकीय

जैन दर्शन ने विश्व-विचित्रता का स्वभाव, काल, नियति, कर्म, पुरुषार्थ इन पांच कारणों में से कर्म को सापेक्ष मुख्य कारण माना है। अलग अलग **दर्शनकारों** (Philosophers) ने भी कर्म को भिन्न भिन्न नाम से स्वीकार किया है। जैसे कि बौद्धो ने **वासना**, वेदान्तिओं ने **अविद्या**, सांख्यों ने **प्रकृतिपरिणाम** अदृष्ट, नैयायिक व वैशेपिकों ने **अदृष्ट** इत्यादि स्वीकृत किया है, किन्तु जैन महर्पियो ने ही सर्वज्ञकथित कर्म की **प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश, बन्ध, उदय, सत्ता, विपाक क्षय** आदि का बहुत गहराई से चिन्तन, मनन व प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि कर्मप्रकृति, **कषाय-प्राभृत, बंधशतक, पंचसंग्रह** वगैरह कर्मसाहित्य के प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे है।

वर्तमान युग के महान चिन्तक, आगम आदि साहित्य के परिशीलनकार, सच्चारित्र-सम्पन्न, **करण, कर्मसिद्धि** आदि ग्रन्थो के लेखक, कर्मसाहित्यनिष्णात, सिद्धान्त-महोदधि प. पू० आचार्यदेवश्री विजय **प्रेमसूरीश्वरजी** महाराज ने अथाग परिश्रम लेकर न केवल श्रमण व श्रमणोपासक समुदाय के अन्दर कर्म-साहित्य का अध्ययन अध्यापन ही करवाया, अपितु अपने शिष्य प्रशिष्य परिवार के पास प्राचीन साहित्य के आधार पर अनेक कर्म-साहित्य के ग्रन्थ निर्माण करवाये और आपने स्वयं भी वृद्धावस्था में उनका संशोधन आदि किया। फलतः आपकी जीवित अवस्था में ही ¾ लेखन-संशोधन कार्य हो चुका था। शेप कार्य समाप्ति के लिए आपके शिष्य-प्रशिष्य अभी भी प्रयत्नशील है।

प्रस्तुत प्रकृतिबंध के प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ का संशोधन आपने जीवित अवस्था में कर लिया था, एवं ग्रन्थ का ¾ भाग मुद्रणालय में छप भी गया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ का संशोधन करके व लेखन में मुझे प्रेरणा देकर और तेरह तेरह साल अपने सांनिध्य में रखकर संयम जीवन में तरक्की करवा कर मुझ पर महान उपकार किया है। इसलिए मै भवोभव आपका ऋणी हूँ।

परम पूज्य तार्किक विशारद, प्रभावक प्रवचनकार परम गुरुदेव श्री पन्यास प्रवरश्री **भानुविजयजी** म० गणिवर ने न्यायादि ग्रन्थो का अभ्यास करवाया, जिससे **खवगसेढी** में मोक्षस्वरूप व प्रस्तुत ग्रन्थ में कर्म निरूपण आदि के लेखन करने में मुझे क्षमता प्राप्त हुई। अतः आपका भी मुझ पर असीम उपकार है।

प्रकाशकों की ओर से

भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन-समिति के द्वारा सन १९६६ को अहमदाबाद में (१) **गसेढी** और (२) **ठिइबंधो** ग्रन्थों का विशाल समारोह पूर्वक उद्‌घाटन किया गया, जिस समारोह में दोनो ग्रन्थों को गजराज पर विराजमान कर जुलुम निकाला गया व प्राचीन और अर्वाचीन जैन साहित्य का प्रदर्शन भी आयोजित किया गया। जिससे सामान्य जनता व बुद्धिजीवी लोगों का जैन साहित्य की तरफ ध्यान काफी आकृष्ट हुआ, एवं समिति के सदस्यों में कर्मसाहित्य के ग्रन्थो के प्रकाशन में तेजी का संचार हुआ जिससे आज आपके करकमलों में हम यह ९ वाँ ग्रन्थ समर्पित करते हैं।

इस नववे ग्रन्थ के मुद्रण का आर्थिक सहयोग पादरली वाले श्रीमान् **हीराचन्दजी जेरूपजी** व आप के पुत्र **पौत्र तिकमचंदजी, सरदारमलजी, जिनदास, दिलीपकुमार** आदि ने दिया है।

श्रीमान् **हीराचन्दजी** नवकारमंत्र की माला व प्रभु पूजादि धार्मिक कार्य मे अच्छी रुचि रखते हैं। आपकी धर्मपत्नी **मनुबाई** ने पौषदशमी, वर्षीतप इत्यादि तप किये हैं। आपके चार पुत्र थे, उनमें से आपने अपने दो पुत्रो एवं अेक पुत्र वधू को दीक्षा की अनुमति दी। जिसमें प्रथम पुत्र पू० मुनिराजश्री **जितेन्द्रविजयजी महाराज** ने **"उत्तरपयडिरस-बधो"** टीका ग्रन्थ की रचना की है। जो हमारी ग्रन्थमाला के ५ वें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ है। दूसरे पुत्र पू० मुनिराजश्री **गुणरत्नविजयजी** महाराज ने स्वोपज्ञटीकायुक्त **क्षपकश्रेणि** ग्रन्थ की रचना की, जो हमारी संस्था के प्रथम ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ है। अब उन्ही मुनिराजश्री ने **प्रकृतिबन्ध** की **प्रेमप्रभा** टीका की रचना की, जो अब पाठकों के कर-कमलो में हैं। पुत्रपौत्रादिसहित श्रीमान् **हीराचन्दजी** ने उद्यापन, लालबाग उपाश्रय जीर्णोद्धार, श्री आदिनाथ भगवान की मूर्ति की प्रतिष्ठा के अवसर पर फलेचुनडी, शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा चढावा, प्रकृतिबन्ध ग्रन्थ के इस प्रकाशन में आर्थिक सहाय इत्यादि सुकृत किये है। एतदर्थ आप को धन्यवाद है व हम आप के सघ-भक्ति श्रुतभक्ति आदि की अनुमोदना करते हैं।

आज तक प्रकाशित आठो ग्रन्थ के आधार स्तम्भ स्वर्गीय आचार्यदेवश्री विजय-**प्रेमसूरीश्वरजी** महाराज को हम करोडों वन्दना करते हुए आपश्री का आभार मानते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थगुम्फित पदार्थों (तत्त्वों) के संग्रहकार परम पूज्य गीतार्थ मुनिराजश्री **जयघोषवि० म०**, कुशाग्रधी पू० गीतार्थ मुनिराजश्री **धर्मानन्दवि० म०** तथा मूल-ग्रन्थ की प्राकृतगाथाओं के रचयिता प्राकृतविशारद पू० मुनिराजश्री **वीरशेखरवि० म०** और इस ग्रन्थ की सरल व सुबोध और सुविस्तृत टीका के रचयिता प० पू० मुनिराजश्री **गुणरत्नवि० म०** का भी सवन्दन पूर्वक आभार मानते है, जिनके अथाक परिश्रम के फलस्वरूप यह ग्रन्थ पाठकों के हस्तकमलो मे हम समर्पित कर रहे है।

इस अवसर पर संस्था के निजी ज्ञानोदय प्रेस के व्यवस्थापक **फतेहचन्द** जैन व अन्य कर्मचारी आदि भी स्मृति पथ पर आते हैं, जिनके सहयोग से समिति अपने ग्रन्थ सुचारु रूप से प्रकाशित कर रही है।

इस ग्रन्थमाला के करीब १७ ग्रन्थ प्रकाशित होंगे, उनमे समृद्धि वाले सज्जन संस्था को आर्थिक सहयोग देकर ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य सरल बनावें।

भवदीय–

शा. समरथमल रायचन्दजी (मंत्री)

शा. शान्तिलाल सोमचंद (भाणाभाइ) (मंत्री)

शा. लालचन्द छगनलालजी (मंत्री)

भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन समिति

(i) **पिंडवाड़ा**
स्टे सिरोहीरोड (राजस्थान)

(ii) १३०/१३७ जौहरी बाजार
बम्बई–२

समिति का ट्रस्टी मंडल

* विषयसूचिः *

(१३) त्रयोदशमन्तरद्वारम् ३८४–३९७

(१४) चतुर्दश भावद्वारम् ३९८–४००

(१५) पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वारम् ४०२–४२१



❀ यन्त्रकसूचि ❀



बंधविहाणे

मूल-

पयडि

(मूलप्रकृतिबन्धः)

'प्रेमप्रभा' टीकाविभूषितः

॥ ॐ ह्रीँ अर्हँ नम ॥

॥ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

प्रवचनकौशल्याधार-सुविहिताग्रणी-गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावक--सिद्धान्तमहोदधि-
कर्मशास्त्रनिष्णाता-ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादाना पुण्यतमनिश्रायां
तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मितं मुनिश्रीजयघोषविजय-धर्मानन्दविजय-
वीरशेखरविजयसंगृहीतपदार्थकं मुनिश्रीवीरशेखरविजय-
विरचितमूलगाथाकं प्रेमप्रभाटीकाविभूषितम्

बंधविहाणं

तत्र

मुनिश्री णरत्नविजयविरचितः

प्रेमप्रभाटीकासमलंकृतः

मूल-

पयडिबंधो

(मूलप्रकृतिबन्धः)

प्रेमप्रभाटीका—

बन्धविधानमुक्तस्य, श्रीकेवलज्ञानशालिनः ।
पार्श्वनाथस्य पादाब्जं, सिद्ध्यै नमामि भावतः ॥१॥ (अनुष्टुप्)

नौमि तं वीरनाथं गणधरसुनुतं पादयुग्मं यदीयं,
शक्रेन्द्राद्यिनाथैः स्तुत इह भरते तीर्थनाथोऽन्तिमो यः ।
प्राप्ताः भव्याश्च यस्यामृतसमवचसा बोधिरत्नं त्वनेके,
प्रव्रज्यां यस्य पार्श्वे शिवसदनफलां चोररीकृत्य सिद्धाः ॥२॥ (स्रग्धरा)

हरिणाङ्कितनुरर्जुनरुचिरमृतकरः कलाश्रयो वीरः ।
जनतापापहरः श्रीभाक् सकले विष्टपे जयति ॥३॥ (पथ्यार्या)

ध्येयास्ते सर्वसिद्धा विमलशिवगतौ संस्थिताः कर्ममुक्ता
लोकान्ते लोकभावान् समभुवनविदो भोगिनः सिद्धिवध्वाः ।
यद्ध्यानाऽग श्रयन्ते शिवगतिफलकं स्वीयकर्माऽऽतपघ्नं
संसारस्फारसत्रे जनिमरणजरातापसतप्तभव्याः ॥४॥ (स्रग्धरा)

वन्दे तं गौतमाख्य प्रथमगणधरं वीरविश्वाद्यशिष्यं,
प्राप्तो योऽष्टापदाद्रिं निजकवलभराद् निर्वृतेर्निर्णयाय ।
दीक्षाव्याजाज्जनेभ्यो य इह खलु ददौ केवलज्ञानदीप्तिं,
प्राप्ते श्रीवर्धमानेऽचलमरुजशिवं केवल येन लब्धम् ॥५॥ (स्रग्धरा)

यद्विद्याच्छवितो भगः किमुत खं भीत्याऽधिगम्याऽटति,
शुभ्रो यद्यशउच्चयः किमुत खे पर्येति चन्द्रच्छलात् ।
कर्मारेर्हतये व्यधुः किमुत ये कर्मप्रकृत्यायुध
दधुस्ते शिवशर्मसूरिगुरवः कर्मप्रणाशे बलम् ॥६॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

दृब्धः सप्ततिकाग्रन्थो यैर्भङ्गप्रतिपादकः ।
नित्यं मयि प्रसीदन्तु ते तद्ग्रन्थविधायिनः ॥७॥ (अनुष्टुप्)

संदर्भो निर्मितो यैर्गुणगणनिकरैः प्राभृतान्तः [卐]कषायो
यत्कीर्त्तिज्योतिषेदं त्रिभुवनभवन शुभ्ररूपं चकास्ति ।
बह्वज्ञानेन मूढान् भुवनभविजनान् ये प्रकाशं च निन्युः,
सत्सूरीन्द्रान् स्तुवे तान् गुणधरविबुधान् कर्ममर्मापहत्यै ॥८॥ (स्रग्धरा)

सक्षिप्य *शतकादीन् यैर्निर्मितः पञ्चसंग्रहः ।
सर्वदा विजयन्ता ते श्रीचन्द्रर्षिमहत्तराः ॥९॥ (अनुष्टुप्)

श्रुतपारगतः प्रज्ञाशाली मङ्गुप्रभुर्जयतु धीरः ।
श्रीनागहस्तिदेवो जयताच्छ्रीकर्ममर्मविज्ञश्च ॥१०॥ (गीति)

कुशाग्रधीभिर्निरमायि यैर्ज्ञैः सुभव्यसन्दोहसरोजसूर्यैः ।
सटिप्पन श्रीशतकादिचूर्णिर्जयन्तु ते श्रीमुनिचन्द्रपादाः॥११॥ (उपेन्द्रवज्रा)

यैश्चारित्रेण तुल्यो न भवति कमनस्तस्य वै हसगत्वाद् ।
येषां क्षान्त्या तु साम्य व्रजति च न विधुस्तस्य संग्रामकृत्वात् ।

[卐] कषायप्राभृतग्रन्थ * शतक-सप्ततिका कषायप्राभृत-सत्कर्म-कर्मप्रकृतिग्रन्थान् ।

यैः सच्छीलेन तुल्यो न भवति गिरिशो रागवत्त्वाद् भवान्यां
ते सूरीन्द्राः भवेयुः **सुमलयगिरयः** सुप्रसन्नाः सदैव ॥१२॥ (स्रग्धरा)
विद्वन्मन्याः कुपक्षाः स्ववचनपटुतां दर्शयन्तो जगत्यां,
यैः रेवन्तप्रतापैः कलितिमिरहरैश्चक्रिरे कौशिकाभाः ॥
यैः प्राप्तं प्राज्ञवर्यैः खलु विजयपदं कोविदानां सभायां,
जीयासुस्ते **यशोभाग्विजयपद**युताः पाठका वन्दनीयाः ॥१३॥ (स्रग्धरा)
मिथ्यामोहतमोयुतेऽतुलबलप्रद्युम्नभिल्लाकुले,
नानाकर्मलताऽऽस्पदे खलु युते दुर्भेदकर्माद्रिभिः ।
दुर्वाद्योघवचःकुशादिगहने शोकानलस्याश्रये
स्तूयन्ते हितकारिणो भववने दानान्विताः सूरयः ॥१४॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)
वैराग्यामृतपानपुष्टहृदयो यो यश्च गच्छाधिपः,
स्वाध्याये चरणे तथा सुकरणे नित्यं च यत्प्रेरणा ।
दाक्षिण्यैकनिधिस्तथा मधुरगीर्बह्वागमज्ञश्च यः
सत्सिद्धान्तमहोदधिर्विजयते स **प्रेमसूरीश्वरः** ॥१५॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)
श्रीकर्मसिद्धिगुम्फः **सुमार्गणाद्वार**विवरणग्रन्थः ।
सङ्क्रमकरणग्रन्थश्च विरचितास्तेन बुद्धिमता ॥१६॥ (पथ्यार्या)
बुद्धिः कर्कशतर्कतर्कणकलाढ्या विद्यते यस्य हि,
मुक्तिस्त्रीं तपसा सदा जिगमिषोः कायः कृशो यस्य च ।
सन्ति प्रव्रजिता अनेकतरुणाः श्रुत्वा च यद्देशनां,
नः पायात् प्रगुरुः स **भानुविजयः** पन्यासवर्यो गणी ॥१७॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)
भवाब्धेर्निस्तारे प्रवहणसमः क्षान्तिसदन-
स्तपोवह्निव्रातैर्दुरितदलिकं ज्वालयति यः
तथा यः संपूज्यश्चरणकुशलः सोदरचरो
जितेन्द्रः स्यात् सिद्ध्यै स **विजयपदान्तो** मम गुरुः ॥१८॥ (शिखरिणी)
पापानि विलयं यान्ति, यन्नामस्मृतिमात्रतः ।
ते सर्वे मुनयः सन्तु, श्रेयसे भूयसे मम ॥१९॥ (अनुष्टुप्)
श्रुतदेवीं हृदि स्मृत्वा पूज्यानां च प्रसादतः ।
स्वोपज्ञां **क्षपकश्रेणिं** विरचय्य यथागमम् ॥२०॥
बन्धविधानशास्त्रस्य **प्रकृतिबन्ध**नामकम् ।
ग्रन्थं **प्रेमप्रभावृत्त्या** विवृणोमि यथाश्रुतम् ॥२१॥ (अनुष्टप् युग्मम्)

इह खलु बहुभवोपार्जिताऽशुभकर्मकलापजानतसंयोगवियोगसंकल्पविकल्पमत्स्यकच्छपसंकुले दुःसहकामवाडवाग्निप्रजाज्वल्यमाने क्रोधावर्तपरिपूरिते विकृतितटिनीसङ्गतेऽनादिसंसारपारावारे निमज्जतामैदयुगीनभव्यप्राणिनां जिनधर्म एव शरण्यः । स चाराधनीयोऽचिन्त्यचिन्तामणिकल्प मानुषजन्म प्राप्य, उपासनीयो जीवाजीवपुण्यपापाश्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षण-नवपदार्थसार्थं समधिगम्य, सेवनीयः श्रीमदार्हतमतसमतसूक्ष्मतत्त्वविचारभावितगुरुचरणान् समासाद्य, प्रयतनीयः पञ्चविधाचारनिरतिचारचरणनिरतानां सुधादेशीयवचनविनाशितभव्यजनकु-सुमशरवासनानां गुरुवर्याणां सकाशाद्विधिवज्जैनेन्द्रकृतान्तानधीत्य । अतोऽयं ग्रन्थकारो बहुविधकषायकूललुण्टाकव्याप्तभवाटवीनिस्सरणैकसहाये जैनेन्द्रप्रवचनोपदेशलक्षणधर्मे प्रयतमा-नोऽभीष्टदेवतास्तुत्यादिरूप मङ्गलमभिधेयप्रयोजनार्थांश्च प्रतिपिपादयिषुरादिगाथामाह—

बंधविहाणविमुक्कं सिरिवीरं पणमिउं गुरुकिवाए ।
भणिमु सपरसेयत्थं बंधविहाणं जहासुत्तं ॥१॥

(प्रे०) 'बंधविहाण' इत्यादि, 'बन्धविधानविमुक्तं' तत्र मिथ्यात्वादिहेतुभिः कर्मयोग्यपुद्गलानामात्मना सह क्षीरनीरवदग्न्ययःपिण्डवद्वाऽन्योन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्ध उच्यते, तस्य विधानानि=भेदाः, तैर्विमुक्तो रहितः, प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशभेदरहितो इत्यर्थः,अथवा बन्धस्य विधानं=निर्वर्तनम् , तेन विमुक्तः बन्धसम्पादनरहित इत्यर्थः, तम् बन्ध-विधानविमुक्तम्,'श्रीवीरं' तत्र 'राजृ दीप्तौ' विराजते=शोभते, यद्वा घनघातिकर्मसंघातविदारणा-नन्तरप्राप्तातुलकेवलश्रिया अनन्यभूतमहातपसा वा प्रकाशत इति वीरः, विपूर्वकराजृधातोरौणा-दिकोऽप्रत्ययो दीर्घत्व च बाहुलकात् । 'ईरिक् गतिकम्पनयो'वि=विशेषेणा-ऽपुनर्भावेन ईर्ते=याति शिवं कम्पयत्यास्फोटयत्यपनयति कर्म वेति वीरः 'लिहादिभ्य (सिद्धहेम० ५-१-५०)' इत्यनेन कर्तरि अच्प्रत्ययः, ण्यन्त ईर्धातुर्वा, विशेषेण ईरयति=मोक्षं प्रति भव्यप्राणिनो गमयतीति वीरः, कर्तरि अच् प्रत्ययः 'दृ विदारणे' विदारयति कर्मारिसंघातमिति वीरः पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः । यदुक्तम्—

"विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते
तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद्वीर इति स्मृत ।" इति

यद्वा 'शूरश्चारभटो वीरो विक्रान्तश्चाथ' (अभिधान श्लो ३६५) इति वचनात् वीरयति स्म=कषायोपसर्गपरिषहादिशत्रुगणमभिभवति स्मेति वीरः, यद्वा वीरयति स्म रागादिशत्रून् प्रति पराक्रमयति स्मेति वीरः पूर्ववदच्प्रत्ययः कर्तरि । अथवा ईरणमीरः 'भावाकर्त्रोः (सिद्धहेम० ५-३-१८) इत्यनेन भावे घञ्प्रत्ययः, ज्ञानमित्यर्थः, "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः"

इति वचनात् । ततो विशिष्ट ईरो=ज्ञान यस्य, स वीरः । यद्वा विशिष्टा या सकलभुवनलोक चमत्कारिणी ईः =लक्ष्मीः, ता राति भव्येभ्यः प्रयच्छतीति वीरः "राक् दाने" गधातोः "आतो डोऽह्वावाम" (सिद्धहेम० ५-१-७६) इत्यनेन सूत्रेण कर्तरि डप्रत्ययः, यद्वा 'ईरण क्षेपे' क्रियत्क्षपितकर्मसाध्वपेक्षया विशेषत ईरयति=क्षपयति=तिरस्करोत्यशेषाण्यपि कर्माणीति वीरः, कर्तरि अच् प्रत्ययः। यद्वा 'ईर गतिप्रेरणयो' वि=विशेषणान्तरङ्ग मोहमहाबल-निर्दलनार्थमनन्तं तपोवीर्यं व्यापारयतीति वीरः, श्रिया=समस्तजन्तुजातचेतश्चमत्कारिपरमार्हन्त्य-महामहात्म्यविस्तार्यष्टमहाप्रातिहार्यशोभया सकललोकालोकविलोकनैककुशलविमलकेवलालो-कललितलक्ष्म्या वा युक्तो वीरः श्रीवीरः, तम्, चरमजिनपतिं श्रीवर्धमानस्वामिनमित्यर्थः 'प्रणम्य'प्रशब्दस्य प्रकर्षार्थकत्वात् कायेन नत्वा वचनेन स्तुत्वा मनसा प्रणिधाय चेत्यर्थः, एतेन ग्रन्थकृता मङ्गलोपन्यासः कृतः। ननु किमर्थं मङ्गलमुपादीयते, तदुपादानाद्धयस्य शास्त्रस्या-ऽमङ्गलता प्रसज्यते,अमङ्गले हि मङ्गलोपादानं सार्थकम्।न च शास्त्रमङ्गलीकरणार्थं मङ्गलोपन्यास आवश्यक इति वाच्यम्,यतः स्वतो मङ्गलरूपस्य शास्त्रस्य मङ्गलीकरणार्थं यन्मङ्गलमुपन्यस्तम्, तस्याऽपि मङ्गलीकरणार्थं मङ्गलान्तरं न्यसितव्यम्, तस्य चाऽन्यन्मङ्गलम्, स्वय मङ्गलत्वेऽपि मङ्गलान्तरसापेक्षत्वात् शास्त्रवद्, एवं मङ्गलानवस्थाप्रसङ्गः। किञ्च यद्यन्मङ्गलमुपादीयते तत्तदमङ्गलमेव स्यात्, अमङ्गलस्य मङ्गलीकरणार्थं मङ्गलोपन्यासस्य सार्थकत्वेन निजोत्तर-वर्त्तिमङ्गलेन स्वस्याऽमङ्गलताज्ञापनात्। अत्रोच्यते–शास्त्रस्य स्वतो मङ्गलत्वेऽपि शिष्यशेमुषी-मङ्गलतापरिग्रहार्थं मङ्गलोपन्यास आवश्यकः, शिष्यो हि मङ्गलेऽभिहिते मङ्गलमेतच्छास्त्रमित्येवं स्वमतौ तन्मङ्गलतापरिग्रहं करोतीति। यदुक्तम् भाष्य धाम्भोनिधिभिः—

> "जइ मंगलरूप चि य सत्थ। तो किमिह मंगलग्गहण।
> सीसमइमंगलपरिग्गहत्थमेत्त तदभिहाण' ॥१॥" इति

मङ्गलभूतं शास्त्रं मङ्गलबुद्धया गृहीतमेव मङ्गलं भवति, नाऽन्यथा साधुवत्। तद्यथा द्वौ राजसेवकौ ग्रामसीमनिमित्तं राजकुलं गच्छन्तौ पथि मुनिमपश्यताम्। तत्रैकेन 'ध्रुवा सिद्धि-' रिति मन्यमानेन मङ्गलतया मुनिं परिगृह्य नमस्कृत्य च राजकुलं गतम्। द्वितीयेन मङ्गलतयाऽपरिगृह्य तत्समुद्घट्टनं कृत्वा गतम्। आद्येन जितम्, द्वितीयेन तु पराभूतम्। न चैवमसाध्वादिकं मङ्गलतया परिगृह्यमाणं मङ्गल स्यादिति वाच्यम्, असाधोः स्वतो मङ्गलरूपत्वाभावात्,सत्यमणिर्हि मणितया गृह्यमाणो ग्रहीतुर्गौरवमापादयति, न त्वसत्यमणिस्तत्तया।

किञ्च "श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि, अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायका ॥१॥" इति वचनादस्य शास्त्रस्य निर्जरार्थत्वेन श्रेयोरूपत्वात् विघ्नसंघात-संभवः, तन्निराकणार्थं च मङ्गलमावश्यकम्। नन्वस्तु मङ्गलमावश्यकम्,ग्रन्थे तत्कुतो निबध्यते ?

न च शिष्टाः क्वचिदभीष्टे शास्त्रप्रकरणादिवस्तुनि प्रवर्तमानाः श्रेयस्काम्यया विशिष्टभीष्टदेवता-नमस्कारपुरस्कारेणैव प्रवर्तन्ते, स च सकलप्रत्यूहसंघातविघातकत्वेन प्रारिप्सितशास्त्रप्रकरणादि-परिसमाप्तयेऽलं स्यादिति वाच्यम्, कायमनोभ्यां नमस्कारे कृतेऽभीष्टार्थसिद्धेः। नवा शिष्टाचार-परिपालनाय ग्रन्थे मङ्गलोपन्यास आवश्यक इति वाच्यम्, अस्य ग्रन्थस्य सर्वज्ञमूलकपदार्थसार्थ-प्रतिपादकत्वेन सकलशिष्टाचारपरिपालनसिद्धेः। अत्रोच्यते-शास्त्रादौ सर्वेऽपि श्रोतारः शास्त्रादि-श्रवणरसिकान्तःकरणाः सकलविघ्नसङ्घातविघातनिमित्तमवश्यमभीष्टदेवतास्तवाभिधानपूर्वमेव प्रवर्तन्तामिति श्रोतॄणां कृतेऽभीष्टदेवतास्तवोऽभिधातव्यः। मङ्गलशब्दस्य व्युत्पत्तिस्त्वियम्, " अगुवगुमगु · गतौ" मङ्ग्यतेऽधिगम्यते साध्यते हितमनेनेति मङ्गलम्, "मृदिकन्दि०" (सिद्धहेम० उणादि४-६५) इति सूत्रेण अलप्रत्ययः। यद्वा मङ्ग इति धर्मस्याख्या "लाक् आदाने" ततश्च मङ्गं लाति=समादत्त इति मङ्गलम् "आतो डोऽह्वावाम" (सिद्धहेम०-५-१ ७६) इति सूत्रेण कर्तरि डप्रत्ययः, धर्मोपादानहेतुरित्यर्थः। निपातनाद्वाऽभीष्टार्थप्रकृति-प्रत्ययसाध्यो मङ्गलशब्दः। तथाहि "मकुङ् मण्डने" मङ्क्यतेऽलंक्रियते शास्त्रमनेनेति मङ्गलम्. "मनिच् ज्ञाने" मन्यते=ज्ञायते निश्चीयते विघ्नाभावोऽनेनेति मङ्गलम् यद्वा "मदैच् हर्षे" माद्यन्ति=हृष्यन्ति=मदमनुभवन्तीति मङ्गलम्, यद्वा "मदुङ् स्तुति मोद-मद-स्वप्नगतिषु" मोदन्ते शेरते विघ्नाभावेन निष्प्रकम्पतया सुप्ता इव जायन्ते शास्त्रस्य पारं गच्छन्त्यनेनेति, मङ्गलम्. अथवा महीङ् वृद्धौ पूजायाञ्च" मह्यन्ते पूज्यन्तेऽनेनेति मङ्गलम्। सर्वत्र अलप्रत्ययो विधीयते, ततो मङ्गलमिति रूपं निपात्यते। अथवा मां गालयति भवाद्=संसारादपनयतीति मङ्ग-लम्, यदि वा शास्त्रस्य मा भूत् गलोऽस्मादिति मङ्गलम्, इति दिक्।

कृतमङ्गलोपन्यासो ग्रन्थकृत् क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह '**भणिमु**' त्ति भणामः 'सत्सामीप्ये सद्वद्वा (सिद्धहेम० ५-४-१)' इत्यनेन सूत्रेण भविष्यत्यर्थे वर्तमाना-प्रत्ययः, शब्दतः प्रतिपादयिष्याम इत्यर्थः। किम् ? इत्यत आह–'**बधविहाणं**'ति 'बन्धविधानम्' तत्र जीवप्रदेशानां कर्मपरमाणुभिः सह सम्बन्धः बन्धः, अभ्यञ्जनचूर्णपूर्ण-समुद्गकवन्निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके मिथ्यात्वादिहेतुभिः कार्मणवर्गणापुद्गलैः सहात्मनोऽग्न्ययः-पिण्डवदन्योन्यानुगमपरिणामात्मकः सम्बन्धो बन्ध इति यावद्, यदुक्त **शतकचूर्णौ**–

"जीवपरिणामहेतु कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्ता जीवो वि तहेव परिणमइ ॥१॥" इति

तस्य विधानं मिथ्यात्वादिहेतुभिर्निर्वर्तनं बन्धविधानम्, तद्, यद्वा विधानं=विधा भेद इत्यर्थः, बन्धस्य विधानं बन्धविधानम्, तत्। ननु यदि युष्माभिर्बन्धविधानं स्वमनीषिकया वक्ष्यते, तर्ह्यनादेयमेवेद प्रेक्षावता स्यात्, छद्मस्थत्वे सति स्वतन्त्रतयाऽभिधीयमानत्वात्,

रथ्यापुरुषवाक्यवदिति परवचनमाशङ्क्य तदुपन्यस्तहेतोरसिद्धतामुपदर्शयन्नाह 'जहासुत्त' त्ति 'यथासूत्रं' सूत्रं = गणधरप्रभृतिरचितमागममनतिक्रम्य "योग्यतावीप्साऽर्थानतिवृत्तिसादृश्ये" (सिद्धहेम० ३-१-४०) इत्यनेन सूत्रेणाऽर्थानतिवृत्तावव्ययीभावसमासः, श्रुतानुसारेणेत्यर्थः, न तु स्वमनीषिकया, अतः स्वतन्त्रतयाऽभिधीयमानत्वादिति हेतुरसिद्ध इति भावः। यः छद्मस्थः सन् सूत्रानपेक्षं स्वतन्त्रमेव वक्ति, तस्य रथ्यापुरुषस्येव वाचोऽनादेयत्वमिति वयमपि मन्यामहे, किन्तु तदिह नास्ति, सूत्रानुसारेणैव बन्धविधानस्याभिधीयमानत्वात्।

किं भवन्तः स्वशक्त्या भणिष्यन्ति ? इति परवचनमाशङ्क्य तद्व्यपनोदाय प्राह- 'गुरुकिवाए' त्ति' गुरुकृपया' गृणन्ति तत्त्वं प्रवचनार्थमिति गुरवस्तीर्थङ्करगणधरप्रभृतयः, तेषां कृपा=प्रसादः,तया।

ननु भवन्तः किमर्थं भणिष्यन्ति ? इत्यत आह-"सपरसेयत्थ"'ति 'स्वपरश्रेयोऽर्थम्' स्वश्च परे चेति स्वपरे, तेषां श्रेयः=हितं=मोक्षः,स्वपरश्रेयः, 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण पद प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति न्यायात् स्वश्रेयः परश्रेयश्चेत्यर्थः, तदेव अर्थः=प्रयोजन यत्र, तत्तथा, स्वपरश्रेयोऽर्थम्, क्रियाविशेषणत्वेन "क्रियाविशेषणात्" (सिद्धहेम० २-२ ४०) इत्यनेन सूत्रेण द्वितीया विभक्तिः। **बन्धविधानं** भणाम इत्यनेन प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमभिधेयनिर्देशः कृतः,एतदुक्तौ हि शास्त्रश्रवणप्रवृत्तेः, अन्यथा किमत्र ग्रन्थेऽभिधेयमिति संशयाना न तत्र प्रवर्तेरन्, वदेयुश्च नारब्धव्योऽयं ग्रन्थः, निरभिधेयत्वात् काकदन्तपरिक्षावत्, यदुक्तम्—

'श्रुत्वाऽभिधेय शास्त्रादौ, पुरुषार्थोपकारकम्। श्रवणादौ प्रवर्तन्ते तज्जिज्ञासानोदिता ॥ १ ॥
नाऽश्रुत्वा विपरीत वा श्रुत्वाऽऽलोचितकारिण। काकदन्तपरिक्षादौ प्रवर्तन्ते कदाचन ॥२॥" इति।

अभिहितेऽप्यभिधेये न च प्रयोजनश्रवणमन्तरेण सहृदयास्तमाद्रियन्ते प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गात्, यदाहुः—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
एवमेव प्रवृत्तिश्चेच्चैतन्येनाऽस्य किं भवेत् ॥१॥" इति

वदेयुश्च प्रेक्षावन्तः-नारम्भणीयोऽय ग्रन्थः,प्रयोजनशून्यत्वात्,कण्टकशाखामर्दनवदिति। तेन ग्रन्थप्रकरणादिप्रारम्भप्रयासनिष्फलताशङ्काव्युदासाय ग्रन्थादौ प्रयोजनं वक्तव्यम्, तच्च दर्शितम् '**स्वपरश्रेयोऽर्थ**'मित्यनेन। अथ तदेव विस्तरतो निरूप्यते। तद्यथा-प्रयोजनं द्विविधम्,ग्रन्थकर्तुः श्रोतुश्च, एकैकं पुनर्द्विधा, अनन्तरपरम्परभेदात्। तत्र ग्रन्थकर्तुरनन्तरं प्रयोजनं सत्त्वानुग्रहो विस्तरशास्त्रपठनाद्यसमर्थसंक्षिप्तरुचिजन्तूना संक्षिप्तशास्त्रे प्रवृत्तेः, कर्मनिर्जरा वा ग्रन्थग्रथन-लक्षणस्वाध्यायस्याऽभ्यन्तरतपोरूपत्वेन बहुतरकर्मनिर्जरासम्भवात्। परम्परप्रयोजनं त्वपवर्ग-प्राप्तिः,यतो भव्यसत्त्वानुग्रहप्रवृत्तोऽचिराच्छिवसम्पदं लभते। यदुक्तम्-

"सर्वज्ञोक्तोपदेशेन य सत्त्वानामनुग्रहम् ।
करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम्" ॥१॥ इति ।

श्रोतॄणामनन्तरप्रयोजनं यथावद् बन्धपरिज्ञानम्, परम्परप्रयोजनं तु तेषामपि निःश्रेयसाऽवाप्तिः। तद्यथा-विज्ञातकर्मबन्धस्वरूपा बन्धहेत्वपायानवबुध्य तद्बन्धुपरमणाय प्रयतमानाः परमपदावाप्तये निःसपत्नं प्रयत्नमाचरन्ति । ततो निखिलश्रेयस्कारकं महानन्दमासादयन्ति । **यदुक्तम्—**

"सम्यग्भावपरिज्ञानाद्विरक्ता भवतो जनाः ।
क्रियाऽऽसक्ता ह्यविघ्नेन गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥" इति ।

प्रयोजने दर्शितेऽपि न परम्परया सर्वज्ञमूलताऽवगतिमन्तरेणाऽतीन्द्रियपदार्थसार्थप्रतिपादके ग्रन्थादौ सुधियः प्रवर्तेरन्, अभिदध्युश्च ते, यथा नारम्भणीयमिदं ग्रन्थादि, सम्बन्धवन्ध्यत्वात्, स्वेच्छाविरचितशास्त्रवदिति । ततस्तेषां ग्रन्थशास्त्रप्रकरणादिप्रवृत्तौ सम्बन्धो वक्तव्यः, स च द्विधा,श्रद्धानुसारितर्कानुसारिशिष्यभेदात् । तत्राद्यो गुरुपर्वक्रमलक्षणः, श्रद्धानुसारिणः प्रति, स च यथासूत्रमित्यनेन प्रकटीकृतः, तद्यथा - गर्भसमवतरणावसरचतुर्दशस्वप्नसंसूचितेन गर्भस्थावस्थानिजमातृप्रशस्तदोहदसमुत्पत्तिनिमित्तभूतेन स्वकीयजन्ममहोत्सवावसरशचीपतिसंशयापनयननर्तितमन्दारमहीधरेण समुत्पादितशैशवामलकीक्रीडानिजसुहृदाश्चर्येण निजजनयित्रीमानसिकदुःखव्यपाकरणनिमित्ताष्टाविंशतिवर्षातिक्रमाऽनन्तरस्वकीयसहोदराग्रहवशवर्षद्वयगृहवासपरिपालनसमनन्तरनिजनिष्क्रमणाऽवसरसंवत्सरावधिवितीर्णदानेन छद्मस्थावस्थापराजितपरिषहोपसर्गचमूसंघातेन क्षपकश्रेण्या घनघातिकर्मचतुष्टयनिर्मूलनानन्तरसमासादितसकललोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानेनाऽष्टमहाप्रातिहार्यपरमार्हन्त्यसम्पत्समृद्धेन भगवता **महावीरेण** संसारमहीरुहोन्मूलनैकहेतुपञ्चत्रिंशद्गुणसमन्वितसकलजगज्जन्तुजातस्वस्वभाषापरिणामिन्या भाषया सर्वे पदार्था अर्थतः प्ररूपिताः, तदनु प्रवचनाधिपतिभिर्भगवन्माहात्म्यबलाद् व्यपगतमहामोहैः **श्रीमदिन्द्रभूति**प्रभृतिभिर्गणधरैरेव सूत्ररूपेण सूत्रिताः । **यदुक्तम्—** "अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणा ।" इति। तत्पश्चात् पूज्यै**र्जम्बूस्वामि-प्रभव-शय्यम्भव-यशोभद्र-सम्भूतविजय-भद्रबाहु-स्थूलभद्र-महागिरि-सुहस्ति-स्वाति**-प्रभृतिभिर्निजनिजसूत्रेषु विस्तृततमविस्तृततरविस्तृतेषु निबध्यमाना एतावतीषु भूमिकां यावदानीताः । तानि सूत्राण्याश्रित्याऽयं **बन्धविधानाख्य**ग्रन्थो रचित इत्येवं परम्परया सर्वविन्मूलकोऽयं ग्रन्थ इत्यवदातशेमुषीशालिभिर्भव्यजनैरुपादेयो भवतीति । अत्र प्रेरको भणति-नन्वस्तु श्रद्धानुसारिणः प्रति गुरुपर्वक्रमलक्षणसम्बन्धः, तर्कानुसारिणः शिष्यान् प्रति तु शब्दरूपापन्नग्रन्थतत्प्रतिपाद्यार्थयोः कः सम्बन्धः ? न तावच्छब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः सम्भवति, स हि य एवाऽर्थः, स एव शब्दः, य एव

शब्दः स एवार्थ इत्येवं भवेत् । एवं च मोदकादिशब्दोच्चारणे मोदकादिना मुखपूरणं भवेत, क्षुरिकादिशब्दोच्चारणे च वदनपाटनादिकं सम्पद्येत, न चैवं दृश्यते, ततोऽमी शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो न युक्तिमुपैति । नापि तदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धः क्षोदक्षमः। तद्यथा—किं शब्दादर्थ उत्पद्यते ? अर्थाद्वा शब्दः ? न तावच्छब्दादर्थ उत्पद्यते, घटादयो हि मृदादिभ्य उत्पद्यमाना वीक्ष्यन्ते न शब्दादिति । यदि तु शब्दादपि घटादयो भावा भवेयुश्चेत्, तदा न मृदादिपरिक्लेशमनुभवेयुः कुम्भकारादयः । नाप्यर्थाच्छब्दोत्पत्तिः, ताल्वोष्ठपुटदन्तादिभ्यः पुरुषप्रयत्नसहितेभ्य एव शब्दोत्पत्तिदर्शनात् । ततः शब्दार्थयोस्तादात्म्यतदुत्पत्त्यन्तरसम्बन्धाभावेन नास्ति कश्चित्सम्बन्धस्तर्कानुसारिणः प्रतीति । अत्रोच्यते—अनभ्युपगतोपालम्भेन निरर्थकमेव चर्चितं भवद्भिः, यतो नाऽस्माभिः शब्दार्थयोस्तादात्म्यतदुत्पत्त्यन्यतरसम्बन्धोऽभ्युपगम्यते, किन्तु सकलविद्वज्जनसम्मतो वाच्यवाचकभावलक्षणः । तत्र न किञ्चिद्विरुध्यते, शब्दो हि वाचकः, अर्थस्तु वाच्यः । इह च शब्दसमुदायात्मकोऽयं ग्रन्थो वाचकः, तत्प्रतिपादितार्थस्तु वाच्यः । स च वाच्यवाचकसम्बन्धोऽर्थापत्तिगम्यः । यद्वोपायोपेयभावसम्बन्धोऽत्र विवक्षितव्यः । तद्यथा—वचनरूपापन्नोऽयं ग्रन्थ उपायः, तत्प्रतिपादितार्थपरिज्ञानं चोपेयं मोक्षपदं वा । असा उपायोपेयभावाख्यः सम्बन्धोऽप्यर्थापत्तिगम्यः

गाथार्धेन सुरासुरनरसेवितस्य भगवतश्चत्वारोऽतिशया अपि संसूचिताः । तद्यथा—चतुर्विधबन्धविमुक्त इत्यनेन अपायापगमातिशय उक्तः, श्रीवीरमित्यत्र श्रीशब्दस्य केवलज्ञानार्थप्रकटीकरणेन ज्ञानातिशयः प्रतिपादितः, तस्यैवाऽष्टमहाप्रातिहार्यशोभार्थव्यक्तीकरणेन तु पूजातिशयः संज्ञापितः, वीर इत्यनेन वचनातिशयः व्यक्तीकृतः, तथाहि—वि=विशिष्टाम् ई=लक्ष्मीं राति=भव्येभ्यः प्रयच्छतीति वीरः, राति हि भगवान् सुरासुरनरतिर्यक्साधारणवाण्या निःश्रेयसाभ्युदयसाधनोपायोपदेशेन भव्यानां भुवनाद्भुतां श्रियम् । उक्तं च—
"अरहंतो भगवतो अहियं च हियं च नवि इहं किंचि । वारंति य कारवंति य घेत्तूण जणं बला हत्थे । उवएसं पुण देंति जेण चरिएण कित्तिनिलयाण । देवाण वि हुंति पहू किमंग पुण मणुयमित्ताणं ।" इत्यनया व्युत्पत्त्या घातितघातिसंघातस्य प्राप्तत्रिभुवनालोकनैकहेतुकेवलज्ञानस्य नरनाकिनायक-प्रणतस्य तीर्थेश्वरस्य भगवतो वचनातिशयः संदिष्टः ।

'बंधविहाण भणिमु' इति प्रतिज्ञातम्, तत्र बन्धः कतिविधः ? इत्यतः प्राह—

तत्थ चउविहो बंधो पयइट्ठिइरसपएसभेएहिं ।
एक्केक्को उण दुविहो मूलुत्तरपयडिभेअत्तो ॥२॥

(प्रे०) 'तत्थ' इत्यादि, 'तत्र' जैनेन्द्रप्रवचने तदेकदेशभूतबन्धविधानाख्यग्रन्थे वा बन्धः, कतिविधः? इत्याह—'चउविहो' त्ति 'चतुर्विधः' चतस्रो विधा यस्य, स चतुर्विधः, चतुष्प्रकार इत्यर्थः, कुतः? इत्याह—'पय०' त्ति 'प्रकृति-स्थिति-रस-प्रदेशभेदेभ्यः' प्रकृति-स्थिति-रस-प्रदेश-भेदानाश्रित्य।

इदमत्र तात्पर्यम्-(१) बध्यते=अस्वातन्त्र्यमापादयति येनात्मा, स बन्धः, "भावाकर्त्रोः" (सिद्धहेम० ५-३-१८) इत्यनेन सूत्रेण करणे घञ् प्रत्ययः। (२) यद्वा बध्यते=मिथ्यात्वादिहेतु-युक्तेनाऽऽत्मनाऽऽत्मसात्क्रियते यः, स बन्धः पुद्गलपरिणामो मिथ्यात्वादिरूप इति कर्मसाधनो बन्धशब्दः। यथा दीप ऊष्मगुणयोगाद् वर्त्त्या स्नेहमादायाऽर्चीरूपेण परिणमयति, तथाऽऽत्म-प्रदीपो रागादिगुणयोगात् काययोगादिवर्त्त्या कर्मस्कन्धानादाय कर्मतया परिणमयति। (३) अथवा यो ज्ञानदर्शनवीर्यादिलक्षणं पुरुषसामर्थ्यं बध्नाति=प्रतिबध्नाति=अवष्टभ्नाति, स बन्धः, "लिहादिभ्यः" (सिद्धहेम० ५-१-५०) इत्यनेन कर्तरि अच् प्रत्ययः, आत्मप्रदेशप्रतिष्ठपुद्गलसमूहस्य हि ज्ञानदर्शनादिगुणप्रतिबन्धकत्वात् कर्तृसाधनवचनं युक्तिमद्। (४) यद्वा बन्धनं बन्धः, जीवप्रदेशानां कर्मयोग्यपुद्गलानां च क्षीरोदकवद्वह्न्ययःपिण्डवद्वा परस्पराऽऽश्लेष इति भाव-साधनो बन्धशब्दः, कर्मयोग्यपुद्गलाश्च बन्धनकरणादिशास्त्रेषु विस्तरेण प्रतिपादिताः, ततोऽवसेयाः। आत्मा ह्यस्थगितास्रवद्वारोऽतिबादरान् औदारिकादिवर्गणागतपुद्गलानतिसूक्ष्मांश्च ध्रुवाचित्तादिवर्गणागतान् परिहृत्य कर्मयोग्यवर्गणागताननन्ताऽवयवान् अभव्येभ्योऽनन्तगुणान् सिद्धानामनन्तभागकल्पान् स्कन्धानादाय कर्मतया परिणमयति। यदुक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ—

"न स आदातुं स्कन्धानतिसूक्ष्मान् बादरांश्च शक्नोति। स्वादेन न बध्यन्ते जात्वणवः शर्कराश्च तथा ॥१॥
अणवः स्कन्धाश्चैकोत्तरपरिवृद्धा सुसूक्ष्मपरिणामाः। केचिदनन्ताऽवयवा अप्यग्राह्या जिनैरुक्ताः ॥२॥
एभ्यस्तु परा स्कन्धा एकोत्तरवृद्धिवर्धिताः सूक्ष्माः। पञ्चरसपञ्चवर्णास्तथा द्विगन्धाश्चतुःस्पर्शाः ॥३॥
अगुरुलघवः स्थिताश्च क्षेत्रैकत्वेन वर्तमानाश्च। प्रायोग्याः कर्मतया ग्रहीतुमुक्ताः परिणमय्य ॥४॥
अणवोऽसेत्स्यद्भ्योऽनन्तगुणाः सिद्धवदनन्ततमभागाः। एकस्कन्धीभूताः स्कन्धानाः चाऽपि मान तत् ॥५॥"
॥इति॥

संक्षेपतो मिथ्यात्वाविरत्यादिहेतुभिरात्मना गृहीतानां कर्मयोग्यपुद्गलानां कर्मतया परि-णमनं बन्ध उच्यते। उक्तं च वाचकवर्यैस्तत्त्वार्थसूत्रे— "मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्धः"। इति। (अ० ८ सू० १, २, ३)

ननु किमर्थं कर्म कल्प्यते? न च जगद्वैचित्र्यं प्रति कारणत्वेन कर्मणः स्वीकार आवश्यक इति वाच्यम्, यतो जगद्वैचित्र्यं प्रति कालादीनामसाधारणकारणत्वमुपपद्यते।

इदमुक्तं भवति-कालवादिनः प्राहुः-यत् किञ्चिदिह जगति प्रादुर्भवति, तत् सर्वं कालकृतमेव। यदुक्तम्–

काल पचति भूतानि, काल संहरति प्रजा । काल सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रम ॥ १ ॥

अस्य व्याख्या— कालो 'भूतानि' उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवन्ति वस्तूनि 'पचति' परिणतिं प्रापयति। कालः प्रजाः 'संहरति' नाशादिपर्यायान्तरेण स्थापयति। कालः 'सुप्तेषु' परेष्टकारणेष्वजनितकार्येषु सत्सु 'जागर्ति' कार्यमुत्पादयति। तेन कालो 'दुरतिक्रमः' अनपलपणीयकारणताकः। तद्यथा–स्थाली-वह्निसंयोगादिपाकसामग्रीसत्त्वेऽपि मुद्गपक्तिर्न भवति, किन्तु सा कालं प्रतीक्षते, तमन्तरेण पराभिमतकारणसद्भावेऽपि मुद्गपक्त्यभावः, तत्सद्भावे च मुद्गपक्तिसद्भाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कालः कारणमिति।

तन्न, मुद्गपाकजननयोग्यकाले व्यतिक्रान्तेऽपि मुद्गपक्तेरभावाद् न कालः कारणम्। न च तदानीं मुद्गपाकाद्यभवनं कालविशेषकृतमेव बोध्यमिति वाच्यम्, नित्यरूपस्य कालस्य विशेषत्वाभावात्। अस्तु वा विशेषः, किन्तु तस्य मुद्गपक्तिजनना-ऽजननस्वभावत्वेन नित्यत्वहानेः स्वभावभेदाद् भेदसिद्धेः। न च विलक्षणाग्निसंयोगकृतः मुद्गपाकविशेष इति वाच्यम्, यतः स विलक्षणाग्निसंयोगः किं निर्हेतुक उत सहेतुकः? तस्याऽहेतुकत्वे सर्वदा प्राप्तिर्भवेत्, सर्वदा वाऽभावः स्यात्। सहेतुकत्वे काल एव कारणतया स्वीकार्यः, भवन्मतेऽन्यस्य हेतुतयाऽस्वीकारात्। ततश्च स्फुटमेवाऽन्योऽन्याश्रयत्वम्, सति कालभेदे मुद्गपक्तिहेतुविलक्षणाग्निसंयोगभेदः तद्भेदाच्च कालभेद इति। तन्न काल एक एव कारणम्। किञ्च स्थाल्यादिसामग्रीसद्भावे मुद्गपाकहेतुविलक्षणाग्निसंयोगजननयोग्यकाले व्यतिक्रान्तेऽपि कङ्कटुकानां पक्त्यभावान्न काल एव कारणम्।

अथाहुः केचित्–स्वभाव एव सर्वत्राऽव्याहतं कारणमिति। तथाहि–सर्वे भावा स्वभावेनैवात्मीयात्मीयसत्तायां तेन तेन प्रतिनियतसंस्थानादिरूपेण वर्तन्ते, स्वभावेनैव च नश्यन्ति। यदुक्तम्—

'सर्वे भावा स्वभावेन स्वस्वभावे तथा तथा। वर्तन्तेऽथ निवर्तन्ते कामचारपराङ्मुखा.॥ १॥
न विनेह स्वभावेन मुद्गपक्तिरपीष्यते। तथा कालादिभावेऽपि नाश्वमापस्य सा यत ॥ २॥' इति

यदि चाऽतत्स्वभावत्वं कार्यजननप्रयोजकं स्वीक्रियते, तदा मृत्तिकातो यथा घटो भवति, तथा पटोऽपि स्यात्। उक्तं च—

'अतत्स्वभावात् तद्भावेऽतिप्रसङ्गोऽनिवारित । तुल्ये तत्र मृद कुम्भो न पटादीत्ययुक्तिमत्॥ १॥" इति

तस्मात् स्वभावहेतुकं जगदिति। यदुक्तम्—

"क कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्य विचित्रभाव च मृगपक्षिणा च ।
स्वभावत सर्वमिद प्रवृत्त न कामचारोऽस्ति कुत प्रसङ्ग ॥ १॥" इति ।

तदयुक्तम्, बीजादीनां कण्टकादिकारणत्वेन सिद्धेः। यस्य हि यस्मिन् सत्येव भावः, यस्य च विकाराद् यस्य विकारः, तत् तस्य कारणम्। उत्सूनादिविशिष्टावस्थाप्राप्तं च बीजं कण्टकादितैक्ष्ण्यादिकारणतयाऽध्यक्षानुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकतो निश्चीयते। तस्मान्न स्वभाव एव एकः कारणम्। किञ्च कङ्कटुकरहिता अपि मुद्गाः केचित् पच्यन्ते, केचित् पुनर्न, किन्तु कुशूलादिस्था एव तिष्ठन्ति। घटादिपरिणमनस्वभावा मृत्तिका काचिदेव घटतया परिणमति; काचित्पुनर्घटादितयाऽपरिणमन्ती सरोवरादिष्वेव तिष्ठतीति न स्वभाव एक एव कारणम्।

अथ प्राहुः केचिद्–मुद्गादीनां तथा तथा नियतपाकादिरूपेण भवनाद् नियतिरेव कारणमिति। **यदुक्तम्**—

"नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्। ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः ॥ १ ॥" इति।

ततश्च यद् घटादिकं मुद्गपाकादिकं च यस्मिन् काले यतो दण्डादितो यावद् देशव्यापि भवति, तत् तदेव ततस्तथानियतं जायते, **यदुक्तम्**–

यद् यदैव यतो यावत्, तत् तदैव ततस्तथा। नियतं जायते न्यायात् क एतां बाधितुं क्षमः ॥ १ ॥
न चर्ते नियतिं लोके, मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते। तत्स्वभावादिभावेऽपि नासावनियता यतः ॥ २ ॥" इति।

यदि च भावानां नियत्यजन्यत्वं स्यात्, तर्हि सर्वाभावः स्यात्। **यदुक्तम्**—"एते हि तत एव, तच्च तदन्यथा भवतीति प्राप्तम्, न चैतदेवमिति, तदन्यवदभीष्टस्याप्यभावः।" इति।

किञ्च नियत्यजन्यत्वेऽन्योऽन्यात्मकतापत्तिः क्रियावैफल्यं च स्यात्। तथाहि–घटादीनामनियतहेतुकत्वेन यथा घटस्य दण्डादिकारणजन्यत्वम्, तथा पटकारणतन्त्वादिजन्यत्वमपि भवेत्, एवं च यथा पटादिकस्य तन्त्वादिजन्यत्वम्, तथैव घटकारणदण्डादिजन्यत्वमपि भवेत्। ततश्च पटकारणतन्त्वादिजन्यत्वाद् घटस्य पटात्मकत्वं स्यात्, घटकारणदण्डादिजन्यत्वाच्च पटस्य घटात्मकत्वं भवेदिति घटपटादीनामन्योऽन्यस्वरूपत्वं भवेत्।

तथा घटार्थिनो मृद उपादानेऽपि ततो घटो न स्यात्, अनियतकारणत्वेन तन्त्वादिभ्योऽपि घटोत्पत्तेः। ततश्च मृदुपादानक्रियावैफल्यं स्यात्।

न च शस्त्राद्युपघातेऽपि तथामरणनियताभावे जीवन्त एव केचिद् दृश्यन्ते, नियते च मरणकाले शस्त्रादिघातं विनाऽपि म्रियन्ते। **यदुक्तम्**–"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति, नृणां शुभोऽशुभो वा भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाऽभाव्यं भवति न भाविनोऽपि नाशः।" इति नियतिरेव कारणमिति वाच्यम्, शास्त्रोपदेशवैयर्थ्यप्रसक्तेः। तदेवं न नियतिरेकैव कारणम्।

अथाहुः केचित्–मुद्गस्थाल्यादिसामग्रीसद्भावेऽपि पुरुषप्रयत्नरूपपुरुषकारं विना न मुद्गपक्त्यादिकं भवति। तेन जगद्वैचित्र्यं प्रत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां पुरुषकार एव कारणमिति।

तन्न, महति प्रयत्नेऽपि स्थाल्यादिभङ्गेन मुद्गपक्तेरनुपपत्तेः। अतो न पुरुषकार एव कारणम्।

अथ केचित् पुनराहुः—जगद्वैचित्र्यं प्रति कर्मैव कारणमिति। यथा भोक्तृकर्मवैगुण्ये महत्यपि प्रयत्ने स्थाल्यादिगतछिद्रादिभवनाद् मुद्गपक्त्यादिर्न भवति, तत्कर्मानुकूल्ये च भवतीति। तन्न, मुद्गपाकस्य दृष्टकारणस्य स्थाल्यादिकस्य वैगुण्यादेव मुद्गपाकाभावोपपत्तेर्न दृष्टकारणपरिहारेणाऽदृष्टस्य कर्मणः प्रतिबन्धकत्वेन कल्पनोचिता। नापि च स्वतन्त्रं कर्म कारणमुपपद्यते, कर्त्रधीनत्वात्।

किञ्च कथमेकस्वभावात् कर्मणो मुद्गपक्त्यादितदभावादिकानेककार्योत्पत्तिः, कारण-वैचित्र्यमन्तरेण कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेः। कर्मणोऽनेकस्वभावत्वे नाममात्र एव भवतो विप्रति-पत्तिः, कालस्वभावादीनामप्यर्थतः स्वीकारात्। तन्न कर्मैकमेव कारणम्।

तदेवं न काल-स्वभाव नियति-पुरुषकार-कर्मणां मध्यादेकैकस्य कारणत्वमुपपद्यते।

अथ प्राह **सिद्धान्ती**—काल-स्वभाव-नियति-पुरुषकार-कर्माणि समुदायेन जगद्वैचित्र्यं प्रति कारणम्, सामग्र्या कार्यजनकत्वादिति। **यदुक्तम्**—

> अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम्।
> गर्भादेः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः ॥ १ ॥
> न चैकैकत एवेह क्वचित् किञ्चिदपीक्ष्यते।
> तस्मात् सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका मता ॥ २ ॥" इति।

तत्राऽपि गौणमुख्यभाव इतरेतरेषां भवति। तथाहि—कुत्रचित् कालस्य मुख्यभावः, कुत्रचित् स्वभावस्य, कुत्रचिन्नियतेः, कुत्रचित् पुरुषकारस्य, अन्यत्र च कर्मणः। कारणत्वं तु पञ्चानां समुदितानामेव।

इह च कर्मणो मुख्यभावमाश्रित्य प्ररूपणा क्रियते। यद्यपि सर्व आत्मानः परमार्थतः सर्वज्ञेयविषयज्ञानादिस्वभावाः, न च तेषां परस्परं कश्चिद् भेदः, तथापि ज्ञायते कश्चिदल्पज्ञानी, अन्यो विशेषज्ञानी, कश्चित् सर्वदर्शी कश्चित् पुनरन्धः, कश्चित् रोगी, इतरस्तु निरोगी, एको निर्मोही, अपरश्च समोहः, एको मनुष्यऽन्यश्च तिर्यगादिः, कश्चिद् निर्बल इतरश्च बलवान् इत्यादि न निर्हेतुकम्; अतिप्रसङ्गात्। अतोऽवैचित्र्यहेतुत्वेन कर्माभ्युपगन्तव्यम्। उक्तं च **स्ववार्तासमुच्चये**—

> आत्मत्वेनाविशिष्टस्य वैचित्र्यं तस्य यद्वशात्। नरादिरूपं तच्चित्रमदृष्टं कर्मसञ्ज्ञितम् ॥ १ ॥
> तथा तुल्येऽपि चारम्भे सदुपायेऽपि यो नृणाम्। फलभेदः स युक्तो न युक्त्या हेत्वन्तरं विना ॥२॥" इति।

एवं **विशेषावश्यकभाष्येऽप्युक्तम्**।

> जो तुल्लसाहणाणं फलविसेसो न सो विणा हेउं। कज्जत्तणओ गोयम घडोव्व हेऊ अ सो कम्मं ॥१॥" इति।

न च वैचित्र्यहेतुत्वमौदारिकादेः स्थूलशरीरादेरेवाऽस्तु, किमर्थमतिरिक्तपदार्थः कर्म

कल्प्यत इति वाच्यम्, विग्रहगत्योत्पद्यमानस्य जन्माद्यसमय औदारिकादिशरीरादिविरहाद् वैचित्र्यानुपपत्त्या कर्मणः स्वीकृतेरनिवारत्वात्। तच्च कर्मौदारिकादेरपि कारणं भवति। ननु कर्मणः पुद्गलात्मकत्वेन मूर्तिमत्त्वात् कथं तन्नोपलभ्यते, तदनुपलम्भे च कथं तत् सदिति चेत्, उच्यते-नायं नियमः, यत् सत्, तदुपलभ्यत एव, सौक्ष्म्यादिकारणात् पिशाचादिशरीरस्येवौदारिकशरीरादिनिमित्ततयोपकल्पितस्य कर्मणोऽनुपलम्भेऽपि तत्सत्ताया अपवदितुमन्याय्यत्वात्। न च कथमनुपलभ्यमानस्य सत्ताऽभ्युपेयेति वाच्यम्, पूर्वोक्तयुक्तेराप्तवाक्याच्च तस्याः सिद्धेः। आप्तवाक्यं चेत्थम्—

"व्यापारमात्रात्फलद निष्फल च महतोऽपि च।
अतो यत्कर्म तद्देव चित्र ज्ञेय हिताहितम्॥ १॥" इति

यद्यपीदं जगद्वैचित्र्योपपत्तयेऽङ्गीक्रियमाण कर्माऽन्यैर्दर्शनान्तरीयैः **सौगतादिभिरपि** वासनेत्यादि नामान्तरेण स्वीकृतम्, तथापि तैरभ्युपगम्यमानं तदपौद्गलिकं युक्त्या नोपपद्यते। तथाहि—वासनेति **सौगताः** प्राहुः, तदयुक्तम्, वासनाया अमूर्तत्वेनाऽऽकाशस्येवाऽनुग्रहोपघाताभावेनाऽप्रतिबन्धकत्व प्रसज्येत। **यदुक्तम्**—

"अन्ने उ अमुत्त चिय कम्म मन्नति वासनारूव।
त तु न जुज्जइ तत्तो उवघायाणुग्गहा भावा॥ १॥
नागास उवघाय अणुग्गह वा वि कुणइ सत्ताण॥" इत्यादि।

वेदान्तिनः पुनराहुरविद्येति, तदपि न घटामटाट्यते, अविद्यायाः सदसद्विकल्पानाक्रान्तत्वात्। तद्यथा—अविद्या किं सद्रूपा? उताऽसद्रूपा? न तावत्प्रथमपक्षः, सद्भूतस्य ब्रह्मण इव तस्या अपि निवृत्तेरसम्भवात्, तन्निवृत्त्यभ्युपगमे चाविशेषेण ब्रह्मणोऽपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयपक्षो घटामश्चति, असद्रूपायास्तस्या गगनकुसुमवत् प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः।

नन्वविद्या न सद्रूपा, नाऽसद्रूपा, किन्त्वनिर्वचनीयेति चेत्, मैवम्, यथाऽनिर्वचनीयतयाऽविद्या तत्कार्याणि चाऽनिर्वचनीयानि भण्यन्ते, सा निर्वचनीया नवा? प्रथमपक्षे सत्त्वेन निर्वचनीया चेत्, तर्ह्यद्वैतभङ्गः, ब्रह्मभिन्नायास्तस्या अपि सत्त्वस्वीकारात्। अथाऽसत्त्वेन चेत् तर्हि कथं तया खरविषाणकल्पयाऽविद्याया उपरञ्जनम्?

सांख्यास्तु प्राहुः-अनात्मगुणोऽदृष्टं कर्म प्रकृतिपरिणामत्वात् प्रकृतिपरिणामः "शुक्ल कृष्ण च कर्मेति' वचनादिति। तच्च सम्यग् विचार्यमाणं कथमपि नोपपद्यते, सिद्धे हि प्रकृतिरूपे धर्मिणि तत्परिणामरूपस्य धर्मस्य चिन्ता युक्ता, न च कुतश्चित् प्रमाणतः प्रकृतिः सिद्धा, **क्षपकश्रेणिग्रन्थे** सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमगाथावृत्तिगतमोक्षस्वरूपप्रस्तावे प्रतिक्षिप्तत्वात्।

नैयायिकवैशेषिकास्तु प्राहुरात्मगुणरूपमदृष्ट कर्मेति, तदप्ययुक्तम्, तस्यात्मगुणत्वे

कथं तदात्मपारतन्त्र्यनिमित्तं भवेत्? यो यस्य गुणः, स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तं न भवति, यथा पृथिव्यादे रूपादिः।

अतः पौद्गलिकं कर्माऽभ्युपगन्तव्यम्। यदुक्तं **सम्मतितर्कविवृत्तौ** "अशेषज्ञेयस्वभावस्यात्मनः स्वविषयेऽप्रवृत्तिर्विशिष्टद्रव्यसम्बन्धनिमित्ता पीतहृत्पूरपुरुषस्वविषयज्ञानाऽप्रवृत्तिवत्, यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धकं द्रव्यं, तद् ज्ञानावरणादि नत्तु मत पुद्गलरूपं कर्म।" इति।

ननु कर्मणः पौद्गलिकत्वेन मूर्तत्वादात्मनश्चाऽमूर्तत्वात् कथं मूर्तामूर्तयोस्तयोः सम्बन्धः? इति चेत्, उच्यते—आमुक्तेरात्माऽनादिकालतो मूर्तकर्माऽविनाभूतः, तेन मूर्तकर्मसम्बन्धात् तस्य कथंचिद् मूर्तत्वम्। तेनात्मकर्मणोर्दुग्धपानीययोरिव परस्परमनुप्रवेशात् सम्बन्ध उपपद्यते। अन्योऽन्यानुप्रवेशाच्च जीवाश्रिता ज्ञानादयो देहे, देहाश्रिताश्च रूपादय आत्मनि व्यपदिश्यन्ते। गौरोऽहं जानामीति प्रतीतिश्च भवति। तथा चोक्तं **सम्मतितर्के**—

"रूवाइपज्जवा जे देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि। ते अण्णोण्णाणुगया पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ॥१॥" इति।

अथ चात्मनः कथञ्चिद् मूर्तत्वकथनादस्त्येवात्मनः कथञ्चिदमूर्तत्वमित्यपि। अमूर्तत्वेऽपि न हि जीवकर्मणोः सम्बन्धो बाध्यते, घटाऽऽकाशयोरिव सम्बन्धात्। न च यथा घटसंयुक्तस्याऽपि नभसो न घटादनुग्रहोपघातौ भवतः, तथा कर्मयुक्तस्याऽमूर्तस्यात्मनः कथं कर्मणाऽनुग्रहोपघातौ स्यातामिति वाच्यम्, सुरादिना ज्ञानस्येवानुग्रहोपघातयोरिवोपपत्तेः। तथाहि यथा मदिरया मादनशक्त्याऽमूर्तस्य ज्ञानस्योपघातो भवति, ब्राह्मीघृतादितश्चानुग्रहः, तथा कर्मणाऽप्यात्मनोऽनुग्रहोपघातौ भवत इति समुपपद्यते। **यदुक्तम्**—

मूर्तयाऽप्यात्मनो योगो घटेन नभसो यथा। उपघातादिभावश्च ज्ञानस्येव सुरादिना ॥ १ ॥" इति।

तच्च कर्म प्रवाहतोऽनादि "अणाइय त पवाहेण" इति वचनात्। यदि प्रवाहापेक्षयाऽपि सादि स्यात्, तर्हि पूर्वात्मनः कर्मवियुक्तत्वेनाऽकर्मकस्य जीवस्य कर्मणा योगः सञ्जात इत्यर्थो लभ्येत, ततश्च मुक्तानामपि कर्मणा सम्बन्धः स्यात्, अकर्मकत्वाविशेषात्। तेन च मुक्ता अप्यमुक्ता भवेयुः। न चात्मनः कर्मणा सहानादितः संयोगत्वे कथं तद्वियोग इति वाच्यम्, अनादिसंयुक्तानां काञ्चनोपलानां धमनादिनेव जीवकर्मणोर्ज्ञान दर्शन-चारित्र ध्याना-ऽनलादिना वियोगात्। यदुक्तं **विशेषावश्यकभाष्ये**—

"जह इह च कचणोवलसंयोगोऽणाइसतइगओ वि। वुच्छिज्जइ सोवाय तह जोगो जीवकम्माण ॥१॥" इति

नन्वात्मनो हस्ताद्यभावेन तदयादानशक्तिविरहात् कथं कर्मग्रहणं संभवति? इति चेत्, उच्यते—न हि बाह्यहस्तादिव्यापारेण घटादिवत् कर्मपुद्गलानादत्त आत्मा, किन्त्वध्यवसायविशेषाद्रागद्वेषमोहपरिणामाभ्यञ्जनलक्षणादात्मनः कर्मयोग्यपुद्गलजालश्लेषणरूपमादानं स्नेहाभ्यक्तवपुषि रजोलगनवत्।

उपर्युक्तलक्षणः कर्मणो बन्ध एकरूपोऽपि कार्यभेदादवस्थाभेदाद्वा प्रकृत्यादिविभागमासादयति। यथा एक एव जनः क्रूरतानीचतालोभादिभेदात् क्रूरनीचादिव्यपदेशं लभते, तथा बन्धोऽपि। अतो बन्धश्चतुर्विधो भवति–प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धो रसबन्ध' प्रदेशबन्धश्चेति।

तत्र प्रकृतिशब्दोऽपादानसाधनः। तद्यथा–प्रक्रियते=प्रभवति आत्मस्वभावलक्षणज्ञानादिगुणाच्छादनरूपं कार्यं यतो ज्ञानावरणादितः, सा प्रकृतिः "स्त्रियां क्तिः" (सिद्धहेम० ५-३-९१) इत्यनेनाऽपादाने क्तिप्रत्ययः, मौलं कारणमित्यर्थः। यथा घटकार्यं प्रति मृद् मौलं कारणं भवति, तथैवात्मगुणाच्छादनं प्रति प्रकृतिरेव ज्ञानावरणादिरूपा मौलं कारणं भवति। अथवा भावसाधनः प्रकृतिशब्दः, प्रकरणं प्रकृतिः, "स्त्रियां क्तिः" (सिद्धहेम० ५-३-९१) इत्यनेन सूत्रेण भावे क्तिप्रत्ययः, स्वभाव इत्यर्थः, यदुक्तममरकोशे '×××××संसिद्धिप्रकृती त्विमे। स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गश्च।" इति। यथा लोके दुष्टप्रकृतिः दुष्टस्वभाव इति प्रसिद्धिः, तथा कर्मणामपि स्वभावः प्रकृतिशब्देन प्रोच्यते। भावार्थः पुनरयम्–क्रियते=विधीयते जीवेनाऽञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरपुद्गलनिचिते लोके क्षीरनीरवद् वह्न्ययःपिण्डवद्वा यत् कर्मवर्गणाद्रव्यमात्मसम्बद्धम्, तत् कर्मेति व्यपदिश्यते, तच्च कर्म किञ्चिद् ज्ञानमावृणोति, किञ्चिद् दर्शनमावृणोति। किञ्चिद् सुखदुःखवेदनमुत्पादयतीत्यादि, यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–कोइ णाणमावरेइ, कोइ दसणं, कोइ सुखदुक्खाइं वेयणमित्यादि।' तेषां कर्मणां यः स्वभावः, सा प्रकृतिरिति भण्यते। तत्र ज्ञानावरणस्य प्रकृतिः=स्वभावो ज्ञानाच्छादनम्, दर्शनावरणस्य सामान्यबोधाच्छादकत्वम्, वेदनीयस्य सुखदुःखसंवेदनम् मोहनीयस्य मोहप्रापकता, आयुषो भवधारणम्, नाम्नो नरनारकादिनानाविधकरणता, गोत्रस्योच्चनीचव्यपदेशहेतुता, अन्तरायस्य च दानादिविघ्नकरणम्।

स्थितिशब्दो भावसाधनः। तथाहि–स्थानं स्थितिः, भावे क्तिप्रत्ययः, यद्वा स्थीयतेऽनयेति स्थितिः 'स्त्रियां क्तिः' (सिद्धहेम० ५-३-९१) इत्यनेन करणे क्तिप्रत्ययः आत्मना इह परिणतानां पुद्गलानामात्मप्रदेशेष्ववस्थानं स्थित्या संभवति, तदभावे च निर्जरणप्रसङ्गः, उपात्तस्याऽवस्थानकालः स्थितिरित्यर्थः। भावार्थः पुनरयम्–यदा जीवो मिथ्यात्वादिहेतुभिः परिणतः स्वावगाढक्षेत्रगताननन्तान् कर्मवर्गणापुद्गलस्कन्धान् कर्मतया परिणमयति, तदा तेषु पुद्गलस्कन्धेषु यथा ज्ञानादिगुणाच्छादनस्वभावः समुत्पद्यते, तथैव तेषु तदानीमेव तात्कालिककाषायिकपरिणत्यनुरूपा अवस्थानशक्तिरपि संजायते, ययोदीरणाद्यभावेऽन्तर्मुहूर्तप्रभृतिसप्ततिसागरोपमकोटीकोटीकालं यावद् आत्मप्रदेशेषु ते कर्मपुद्गलस्कन्धा अवस्थातुं शक्नुवन्ति। यदुक्तं **शतकवृत्तौ**–स्थितिः कर्मणोऽवस्थानशक्तिः।" इति

तथा 'रस आस्वादने' रसः रसः "भावाकर्त्रोः" (सिद्धहेम०,५-३-१८) इत्यनेन भावे घञ्, गुडादीनां मधुररसवत् कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषो रस उच्यते।

प्रदेशशब्दः कर्मसाधनः. तथाहि–प्रदिश्यन्ते=प्रतिपाद्यन्ते ये परमाणुपरिच्छेदेन, ते प्रदेशाः।

एते प्रकृत्यादयो मोदकदृष्टान्तेन बोद्धव्याः, "तस्स उ चउरो भेया पगईमाईउ हु ति नायव्वा। मोयगदिट्ठ तेणं पगईभेओ इमो होइ। इति आर्षवचनात्। तथाहि–कश्चिन्मोदकः प्रकृत्या वातं हरति, अन्यः पुनः पित्तं नाशयति, इतरस्तु श्लेष्ममुपशमयति, बुद्धिं वा संवर्धयति। एवं कर्मपुद्गलराशिरपि जीवसम्बन्धात् कश्चिज्ज्ञानमावृणोति, अन्यः पुनर्दर्शनमाच्छादयति. कश्चित्तु सुखदुःखहेतुर्भवति। पुनः स एव मोदको दिनं दिनद्वय दिनत्रयं वा यावन्मासादि तिष्ठति, परतो विपद्यते, एवं कर्मपुद्गलजालमप्यन्तर्मुहूर्तप्रभृतिसप्ततिसागरोपमकोटीकोट्यवस्थानकालयोग्यतां लभते। रसः पुनः तिक्तमधुरादिरूपः, तस्यैव कस्यचिदेकगुणोऽपरस्य द्विगुणो, अन्यस्य च त्रिगुण इत्यादिको भवति। एवं कर्मपुद्गलानामनुभागशब्दवाच्यो रस एकस्थानद्विस्थानत्रिस्थानचतुःस्थानतीव्रमन्दादिरूपो भवति। तस्यैव मोदकस्य कणिकादिरूपाः प्रदेशाः परिमाणविशेषापन्ना भवन्ति, तथैव कर्मणोऽपि प्रदेशा अल्पबहुबहुतरबहुतमादिरूपा भवन्ति *। तदेवं व्याख्याताः प्रकृत्यादिशब्दाः।

सम्प्रति प्रकृतिबन्धादयो व्याख्यायन्ते–मिथ्यात्वादिहेतुसद्भावे पुद्गलादान प्रकृतिबन्धः कर्मात्मनोरैक्यलक्षणः, स्थितिरसप्रदेशबन्धानां समुदायः प्रकृतिबन्ध इति यावत्, यदुक्तं **कर्मविपाकवृत्तौ**–' प्रकृतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम्। अनुभागो रस प्रोक्त, प्रदेशो दलसचय ॥।' इति। ततोऽध्यवसायविशेषात्कर्मपरिणतिः स्थित्यादिरूपा भवति। उपात्तकर्मपुद्गलराशेरात्मप्रदेशेष्ववस्थानकालनियमनं स्थितिबन्धः, इयं व्युत्पत्तिः–स्थितिः प्रकृतीनामवस्थानं जघन्यादिभेदभिन्नम्, तस्या बन्धः स्थितिबन्धः, विपाकनिबन्धनो रसबन्धः, इयं व्युत्पत्तिः–गृहीतपुद्गलानां शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा तीव्रमन्दादिरूपो वा यो रसः, तस्य बन्धो रसबन्धोऽनुभागबन्ध इत्यर्थः, आत्मनः स्वप्रदेशेषु कर्मप्रदेशानामनन्तानन्तानां प्रतिप्रकृतिप्रतिनियतपरिमाणानां बन्धः प्रदेशबन्धः स्थितिरसनिरपेक्षदलिकसंख्याप्राधान्येन कर्मपुद्गलानां यद् ग्रहणम्, स प्रदेशबन्ध इति भावः, उक्तं च–

---

* राजवार्तिककारादयस्तु प्राहु–यथा इक्षुपयआदीना प्रकृतिर्मधुरता, निम्बस्य तिक्तताः, तथाऽऽत्मना परिणतपुद्गलराशे प्रकृतिरर्थानवगमादिरूपा भवति। तत्स्वभावाऽप्रच्युति स्थिति. यथा गोमहिष्यादिक्षीराणा माधुर्यस्वभावादप्रच्युति स्थितिस्तथाऽऽत्मना कर्मतया परिणतस्य पुद्गलराशेरर्थानवगमादिस्वभावादप्रच्युति स्थिति। यथा गोमहिष्यादिक्षीराणा कस्यचिद्रसस्तीव्रो भवति, कस्यचित्पुनर्मन्द, अन्यस्य तु मध्यम, तथैव कर्मपुद्गलाना स्वगतसामर्थ्यविशेषो रसो भवति। कर्मतया परिणताना कर्मपुद्गलाना परिमाणाऽवधारण प्रदेश इति।

इति कर्मण प्रकृतयो मूलाश्च तथोत्तराश्च निर्दिष्टा । तासां च स्थितिकालनिबन्ध स्थितिबन्ध उक्त स ॥१॥
तासामेव विपाकनिबन्धो यो नामनिर्वचनभिन्न । स रसोऽनुभावसञ्ज्ञस्तीव्रो मन्दोऽथ मध्यो वा ॥२॥
तेषां पूर्वोक्तानां स्कन्धानां सर्वतोऽपि जीवेन । सर्वदशैर्योगविशेषाद् ग्रहण प्रदेशाख्य ॥३॥
प्रत्येकमात्मदशा कर्मावयवैरनन्तकैर्बद्धा, कर्माणि बध्नतो मुञ्चतश्च सातत्ययोगेन ॥४॥" इति ।

इह प्रथमतः प्रकृतिबन्धो निरूपणीयः, यतः शेषविकल्पाः स्थितिबन्धादयः प्रकृतित एव साध्याः, प्रकृतिबन्धस्य स्थित्यनुभागप्रदेशसमुदायत्वात्, यदुक्तम्—'ठिइबंधो दलस्स ठिई पएसबंधो पएसगहणं जं । ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबंधो ।" इति । असत्यां हि प्रकृतौ न वक्तुं शक्यते—ज्ञानावरणस्य त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटिप्रमाणा स्थितिः, मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटिमितेत्यादि । उपात्तस्य कर्मपुद्गलराशेरवस्थानकालपरिच्छेदात् प्रकृतिबन्धनिरूपणानन्तरं स्थितिबन्धः प्ररूपणीयः । सत्यां स्थितौ फलदानार्हत्वात् स्थितिबन्धानन्तरं रसबन्धो निरूप्यः । ततः फलदानक्षमस्य द्रव्यपरिमाणनिश्चयः कर्तव्य इति चरमः प्रदेशबन्धः ।

तत्र प्रकृतिबन्ध-प्रदेशबन्धौ योगहेतुकौ, स्थितिबन्धरसबन्धौ च कषायप्रत्ययौ, अन्वयव्यतिरेकदर्शनात् । तद्यथा—योगे सति सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् प्रकृतिः प्रदेशाग्रं च बध्येते, योगाभावे चाऽयोगिगुणस्थानके न बध्येते, एवं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत् कषायसद्भावात् स्थितिरसौ बध्येते, कषायाभावे चोपशान्तमोहवीतरागप्रभृतिगुणस्थानकेषु न बध्येते । यदुक्तं **बन्धशतके**—'जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ ।" इति ।

अथ प्रकृतिबन्धादीनामेकैकस्य द्वैविध्यं दर्शयति—**'एक्केक्को'** इत्यादि, एकैकः पुनर्द्विविधः, प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धो रसबन्धः प्रदेशबन्धश्च प्रत्येकं द्विविधो भवतीत्यर्थः, प्रकृतिबन्धादयः शब्दा अनुपदं व्याख्याताः । द्वैविध्ये कः प्रयोजकः ? इत्यत आह—**मूलुत्तर०'** ति 'मूलोत्तरप्रकृतिभेदतः' प्रकृतिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तेन मूलप्रकृतीरुत्तरप्रकृतीश्चाश्रित्य प्रकृतिबन्धादीनां द्वैविध्यम् । ततश्चायं तात्पर्यार्थः-मूलप्रकृतिबन्ध उत्तरप्रकृतिबन्धश्च, मूलप्रकृतिमाश्रित्य स्थितिबन्ध उत्तरप्रकृतिं च प्रतीत्य स्थितिबन्धः, मूलप्रकृतिमवलम्ब्य रसबन्ध उत्तरप्रकृतिश्चावलम्ब्य रसबन्धः, एवं प्रदेशबन्धोऽपि द्विविधो वक्तव्यः ।

मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतीराश्रित्य प्रकृतिबन्धादीनां द्वैविध्यं भवति । तत्र काः मूलप्रकृतयः ? काः पुनरुत्तरप्रकृतयः ? इति परशङ्काशङ्कुसमुद्धरणाय प्रथमतो मूलप्रकृतीराह—

णाणस्स दंसणस्स य आवरण वेअमोहआउणि ।
णामं गोअं विग्घं एआ मूलपयडी अट्ठ ॥३॥

(प्रे०) **'णाणस्स'** इत्यादि, तत्राऽनेकपर्यायाश्रितं जीवद्रव्यम्, तस्य ज्ञान-दर्शन सुख-दुःख-सद्दहण-चारित्र--जीवित--देवभवाद्युच्चनीचदानादिलब्ध्यादयो अनेकविधा धर्मपर्यायाः। तत्र **'ज्ञानस्य'** ज्ञायते=परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम्, "करणाधारे' (सिद्धहेम० ५-३-१२६) इत्यनेन सूत्रेण करणेऽनट्, ज्ञातिर्वा ज्ञानम्, भावेऽनट्प्रत्ययः, सामान्यविशेषात्मकवस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः,। यद्वा जानातीति ज्ञानम्, स्वविषयग्रहणरूपत्वात् तस्य, 'रम्यादिभ्य कर्तरि' (सिद्धहेम० ५-३-१२६) इत्यनेन कर्तरि अनट्प्रत्ययः, तस्य। 'दर्शनस्य च' दृश्यते=अवलोक्यतेऽनेनेति दर्शनम्, करणेऽनट्प्रत्ययः, दृष्टिर्वा दर्शनम् भावे वाऽनट्प्रत्ययः, सामान्यविशेषात्मकवस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः, ज्ञानस्य दर्शनस्य च 'आवरणम्' आव्रियते=ज्ञानं दर्शनं वाऽऽच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणं 'करणाधारे'(सिद्धहेम० ५-३-१२९)इत्यनेन करणे अनट् प्रत्ययः, यद्वा आवृणोति=ज्ञानं दर्शनं वाऽऽच्छादयतीत्यावरणम् "रम्यादिभ्य कर्तरि' सिद्धहेम० ५ ३-१२६) इत्यनेन कर्तर्यनट् प्रत्ययः, अथवा आवृतिः आवरणम्, "क्लिबे" (सिद्धहेम०) २-४-६७) इत्यनेन सूत्रेण भावेऽनट्, ज्ञानावरणं दर्शनावरणं चेत्यर्थः। 'वेअ०' इत्यादि, 'वेद्य-मोहायूंषि' वेद्यादीनि कृतद्वन्द्वानि निर्दिष्टानि। वेद्यते अनुभूयते यद्, तद्वेद्यम् 'य एचात (सिद्ध-हेम० ५-१- ८) इत्यनेन कर्मणिय प्रत्ययः, वेदनीयमित्यर्थः। यद्यपि सर्वं कर्म वेद्यते, तथापि पङ्कजादिशब्दवद्वेद्यशब्दस्य रूढिविषयत्वात् सातासातरूपमेव कर्म वेद्यमित्युच्यते, न शेषम्। तथा मोहयति=जानानमपि सदसद्विवेकविकलं करोतीति मोहः, 'लिहादिभ्य" (सिद्धहेम० ५-१-५०) इत्यनेन कर्तरि अच् प्रत्ययः, मोहनीयमित्यर्थः। तथा एति=आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वोपार्जित-कर्मावाप्तनरकादिदुर्गतेर्निर्गन्तुमनसोऽपि जन्तोरित्यायुः 'इणो णित्' (उणा०१९८) इत्यनेन सूत्रेण उस् प्रत्ययः। एति=गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, पूर्ववद् उस्प्रत्ययः, यद्वा आयाति=भवाद्भवान्तरं सक्रामतां जन्तूनां निश्चयेनोदयमागच्छतीति, 'पृषोदरादय" (सिद्धहेम० ३-२-१५५)इत्यनेन सूत्रेण आयुःशब्दसिद्धिः। यद्यपि च सर्वं कर्मोदयमायाति, तथाप्यस्त्यायुषो विशेषः, यतः शेषं कर्म बद्धं सत्किंचित्तस्मिन्नेव भव उदयमायाति, किञ्चित्तु प्रदेशोदयभुक्तं जन्मान्तरेऽपि स्वविपाकत उदय नायात्येवेत्युभयथाऽपि व्यभिचारः, आयुषि स्वयं नास्ति, बद्धस्य तस्मिन्नेव भवेऽवेदनात् जन्मान्तरसंक्रान्तौ तु स्वविपाकतोऽवश्यं वेदनादिति विशिष्टस्यैवोदयागमनस्य विवक्षितत्वात्तादृशो-दयस्य चायुष्येव सद्भावात्तस्यैवैतन्नाम, अथवा आयान्ति=यस्मिन्नुदिते सति तद्भवप्रायोग्याणि सर्वाण्यपि शेषकर्माण्युदयमागच्छन्ति तदायुः, यद्वा आनीयन्ते शेषप्रकृतयो-ऽस्मिन्नुपभोगाय जीवेन शाल्योदनव्यञ्जनविकल्पाः कांस्यपात्रवदित्यायुः, आनीयते वाऽनेन तद्भवाऽन्तर्भावी प्रकृतिगण इत्यायुः, रज्जुबद्धेक्षुयष्टिभारकवत्। आयतते वा शरीरधारणं प्रतीत्यायुर्निगडादिवत्। वेद्य च मोहश्चाऽऽयुश्च वेद्यमोहायूंषि।

'नाम' इत्यादि, 'नाम' नामयति=प्रह्वीकरोत्यधममध्यमोत्तमगतिषु प्राणिनम्, गति-जातिप्रभृतिपर्यायानुभवनं वा प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम, तदेवं कर्तृसाधनो नामशब्दः, यद्वा नम्यते=प्रह्वीक्रियतेऽनेनेति नाम, "सात्मन्नात्मन्" (उणादि ९१६) इति सूत्रेण मनन्तो निपात्यते। नामयति=जीवप्रदेशान्तर्भाविपुद्गलद्रव्यविपाकसामर्थ्यात् संज्ञां लभत इति नाम।

'गोत्रम्' 'गुङ् शब्दे' गूयते=शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्, तद् गोत्रम्, अथवा गच्छति=प्राप्नोति उच्चनीचभेदव्यपदेशं यतः, तद्गोत्रम्, यद्वा गां शुभाशुभां वाचं त्रायते=उच्चारणकालानन्तरार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात् पालयतीति गोत्रम् "आतो डोऽह्वावामः" (सिद्धहेम० ५-१-७६) इत्यनेन कर्तरि डप्रत्ययः, 'विघ्नम्' विशेषेण हन्यन्ते=ज्ञानादिलब्धयो विनाश्यन्तेऽनेनेति विघ्नम् 'स्थादिभ्यः कः' (सिद्धहेम०५-३-८०)इत्यनेन सूत्रेण करणे कप्रत्ययः, अन्तरायमित्यर्थः।

नन्वनेन क्रमेण ज्ञानावरणाद्युपन्यासेऽस्ति किञ्चित्प्रयोजनमुत यथाकथंचिदेवैष क्रमः प्रवृत्तः? अस्ति प्रयोजनमिति ब्रूमः। किं तदिति चेत्? उच्यते–इह ज्ञानं दर्शनं च जीवस्य स्वतत्त्वभूतम्, तदभावे च जीवस्यैवाऽयोगात्, "लक्षणाभावे लक्ष्याभावः" इति न्यायात्, इत्थं जीवो ज्ञान-दर्शनाख्यलक्षणाभावे कथं भवेत्? कर्मनिरूपणं च मुख्यवृत्त्यात्मानमाश्रित्यैव क्रियते, तदभावे निरूपणाभावप्रसङ्गः, तेन ज्ञानदर्शने मुख्ये। तयोरपि ज्ञानमेव प्रधानम्, तद्वशादेव सकलशास्त्र-विचारप्रवाहप्रवृत्तेः। किञ्च सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयोगयुक्तस्य संजायन्ते, न दर्शनोपयोगोपयुक्तस्य। यदुक्तम्–'सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स। नो अणागारोव-ओगोवउत्तस्स' इति। अपि च यस्मिन् समयेऽशेषकर्ममलविनिर्मुक्तो जायते, तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव, न पुनर्दर्शनोपयोगोपयुक्तः, द्वितीयसमये दर्शनोपयोगसद्भावात्, ततो ज्ञानं प्रधानं तदावारकं च कर्म ज्ञानावरणं प्रथममुक्तम्। तदनन्तरं दर्शनावरणम्, ज्ञानोपयोगाच्च्यु-तेन दर्शनोपयोगस्याऽधिगमात्। ज्ञानदर्शनावरणहेतुकं सुखदुःखसंवेदनमिति तृतीयं वेदनीयम्। तथाहि-इह लोके ज्ञानावरणस्योत्कर्षं प्राप्तो जनः सूक्ष्मसूक्ष्मतरपदार्थविचाराक्षममात्मानं निरीक्ष्य खीद्यते, ज्ञानावरणक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञया जानानो बहुजनातिशायिन-मात्मानमवेक्ष्य सुखं वेदयते। तथाऽतिनिबिडदर्शनावरणविपाकोदयतो जात्यन्धादिरनुभवति दुःख-सन्दोहम्, दर्शनावरणक्षयोपशमाच्च स्पष्टचक्षुरादियुक्तो यथावस्त्ववलोकनेनाऽनुभवत्यमन्दमानन्द-संदोहम्। तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणान्तरं वेदनीयं निगदितम्। भवेद्वेदनां वेदयमानोऽपि मोहाभिभूतो न विरज्यत इति चतुर्थं मोहनीयम्, यद्वा वेदनीयं सुखदुःखे जनयति, अभीष्टानभीष्ट-विषयसम्बन्धे च वश्यं संसारिणां रागद्वेषौ, तौ च मोहनीयहेतुकौ, तत एतदर्थप्रतिपत्तये वेदनीया-नन्तरं चतुर्थं मोहनीयम्। जनो मोहनीयस्य प्रबलसाम्राज्यान्न विरज्यत, अविरक्तश्च देवमनुष्य-तिर्यङ्नरकायुषि वर्तत इति मोहानन्तरमायुः, अथवा मोहनीयमूढा जना बह्वारम्भपरिग्रहप्रभृति-

कर्मादानप्रसक्ता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति, ततो मोहनीयसमनन्तरमायुर्ग्रहणम् । नरकाद्यायुष्कः उदिते नरकगत्यादयोऽवश्यमेवोदयमागच्छन्ति, आयुरुदयापेक्षो हि गत्याद्युदयः, तेनायुष्कानन्तरं नाम। नामोदयेन परिप्राप्तशरीरादेः पुंसो गोत्रनिमित्तकः शुभाशुभव्यपदेशो भवति, तेन नामानन्तरं गोत्रम् । सति गोत्रदय उच्चैःकुलोत्पन्नस्य प्रायः प्रचुरो दानलाभाऽन्तरायादिक्षयोपशमो भवति, राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात् , नीचैःकुलोत्पन्नस्य तु प्रचुरो दानलाभान्तरायादीनामुदयः, नीचजातीनां तथादर्शनात् । एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रसमनन्तरमन्तरायमिति ।

एता ज्ञानावरणादयः प्रकृतयः पटादिनिदर्शनैर्बोद्धव्याः । उक्तं च–

"पडपडिहारसिमज्जाहडिचित्तकुलालभण्डगारीण। जह एएसिं भावा कम्माण वि जाण तह चेव। १।।' इति।

इदमत्र हृदयम्–यथा काचकामलादिदोषरहिताऽपि चक्षुर्घनघनतरघनतमवस्त्रेणाच्छादिता सती मन्दं मन्दतरं मन्दतमं पश्यति, तथा जीवो घनघनतरघनतमेन ज्ञानावरणेनावृतः शरदुद्गतशशाङ्कनिर्मलतरोऽपि मन्दं मन्दतरं मन्दतमं जानीते, तेन पटोपमं ज्ञानावरणमुच्यते । दर्शनावरणं तु प्रतीहारवज्ज्ञेयम् , यथा राजा इच्छति–अहं जनं पश्येयम् , तदा शोभनम् , जनोऽपीच्छति अहं राजानमवलोकये, तदा शोभनम् , किन्तु राजानं द्रष्टुकामस्य प्रतीहारः स्वाऽनभिप्रेतस्य लोकस्य राजदर्शने प्रतिबन्धको भवति, तथैव दिदृक्षुरप्यात्मनृपो दर्शनावरणरूपाननुकूलप्रतीहारसद्भावेन जनस्थानिघटादिकं न प्रेक्षते। उक्तं च—

'दसणसीले जीवे दसणघाय करेइ ज कम्म । त पडिहारसमाणं दसणावरण भवे बीय ।।१।।
जह रन्नो पडिहारो अणभिप्पेयस्स सो उ लोगस्स । रण्णो तह दरिसाव न देइ दटठु पि कामस्स ।।२।।
जह राया तह जीवो पडिहारसम तु दसणावरण । तेणिह विवधएण न पिच्छइ सो घडाईय ।।३।।"इति ।

वेदनीयं च मधुलिप्तखड्गधारावद्भवति, यथा मधुलिप्तखड्गधारां लिहानो मधु स्वादयमानः सुखमनुभवति, तथा सातवेदनीयं वेदयन् विपाकतः सुखमनुभवति, स एव मधुलिप्तखड्गधारा लिहानः छिन्नजिह्वो जातो दुःखमनुभवति, एवमसातवेदनीयमनुभवन् विपाकतः दुःखमनुभवति। उक्तं च—

"महुआसायणसरिसो, सायावेयस्स होइ हु विवागो । ज असिणा तहि छिज्जइ सो उ विवागो असायस्स ।।१।।
एव सुखदुक्खकर चउगइभावन्नयाण। जीवाण सामन्नेण भणिमो, सुहदुक्ख दुसु दुसु गईसु ।।२।।"इति ।

तथा मोहनीयं मद्यपानवज्ज्ञेयम् , यथा मद्यपानेन मोहितो जनः परवशो हिताहितविवेकं न जानीते, तथैव मोहनीयकर्मणा मूढो जनः परायत्तो भूत्वा स्वहिताहितविवेकं न वेत्ति । ,ते

तथायुर्हडिवदवगन्तव्यम् , यथा हडिस्ततो गन्तुमनसमपि तत्र क्षिप्तं चोरादिकं चिरञ्जिवकाल यावद् धारयति, तथा नरकादिगतितो निश्चिक्रमिषुमपि जीवमायुर्बलात् धारयति । उक्त‚यतो-

"ज नेरइय नारयभवम्मि तहि धरइ उव्वियतं पि । जाणसु त निरयाउ हडिसरिसो तस्स उ विवादिभ्य"
एव तिरिय मणुयं देव तिरियाइएसु भावेसु । ज धरइ तब्भवगय त तेसिं आउय भणिय ।।२ यः ˆ-

'नाम' इत्यादि, 'नाम' नामयति=प्रह्वीकरोत्यधममध्यमोत्तमगतिषु प्राणिनम्, गति-जातिप्रभृतिपर्यायाऽनुभवनं वा प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम, तदेवं कर्तृसाधनो नामशब्दः, यद्वा नम्यते=प्रह्वीक्रियतेऽनेनेति नाम, 'सात्मन्नात्मन्' । (उणादि ९१६) इति सूत्रेण मनन्तो निपात्यते । नामयति=जीवप्रदेशाऽन्तर्भाविपुद्गलद्रव्यविपाकसामर्थ्यात् संज्ञां लभत इति नाम ।

'गोत्रम्' 'गुङ् शब्दे' गूयते=शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्, तद् गोत्रम्, अथवा गच्छति=प्राप्नोति उच्चनीचभेदव्यपदेशं यतः, तद्गोत्रम्, यद्वा गां शुभाशुभां वाचं त्रायते= उच्चारणकालानन्तरार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात् पालयतीति गोत्रम् 'आतो डोऽह्वावाम' (सिद्धहेम०५-१-७६) इत्यनेन कर्तरि डप्रत्ययः, 'विघ्नम्' विशेषेण हन्यन्ते=ज्ञानादिलब्धयो विनाश्यन्तेऽनेनेति विघ्नम् 'स्थादिभ्यः कः' (सिद्धहेम०५-३-८०) इत्यनेन सूत्रेण करणे कप्रत्ययः, अन्तरायमित्यर्थः ।

नन्वनेन क्रमेण ज्ञानावरणाद्युपन्यासेऽस्ति किञ्चित्प्रयोजनमुत यथाकथंचिदेवैष क्रमः प्रवृत्तः? अस्ति प्रयोजनमिति ब्रूमः । किं तदिति चेत्? उच्यते–इह ज्ञानं दर्शनं च जीवस्य स्वतत्त्वभूतम्, तदभावे च जीवस्यैवाऽयोगात्, "लक्षणाभावे लक्ष्याभाव" इति न्यायात्, इत्थं जीवो ज्ञान-दर्शनाख्यलक्षणाभावे कथं भवेत्? कर्मनिरूपणं च मुख्यवृत्त्यात्मानमाश्रित्यैव क्रियते, तदभावे निरूपणाभावप्रसङ्गः, तेन ज्ञानदर्शने मुख्ये । तयोरपि ज्ञानमेव प्रधानम्, तद्वशादेव सकलशास्त्र-विचारप्रवाहप्रवृत्तेः । किञ्च सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयोगयुक्तस्य संजायन्ते, न दर्शनोपयोगोपयुक्तस्य । यदुक्तम्–'सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स । नो अणागारोव-ओगोवउत्तस्स' इति । अपि च यस्मिन् समयेऽशेषकर्ममलविनिर्मुक्तो जायते, तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव, न पुनर्दर्शनोपयोगोपयुक्तः, द्वितीयसमये दर्शनोपयोगसद्भावात्, ततो ज्ञानं प्रधानं तदावारकं च कर्म ज्ञानावरणं प्रथममुक्तम् । तदनन्तरं दर्शनावरणम्, ज्ञानोपयोगाच्च्यु-तेन दर्शनोपयोगस्याऽधिगमात् । ज्ञानदर्शनावरणहेतुकं सुखदुःखसंवेदनमिति तृतीयं वेदनीयम् । तथाहि-इह लोके ज्ञानावरणस्योत्कर्षं प्राप्तो जनः सूक्ष्मसूक्ष्मतरपदार्थविचाराक्षममात्मानं निरीक्ष्य खीद्यते, ज्ञानावरणक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञया जानानो बहुजनातिशायिन-मात्मानमवेक्ष्य सुखं वेदयते । तथाऽतिनिबिडदर्शनावरणविपाकोदयतो जात्यन्धादिरनुभवति दुःख-संदोहम्, दर्शनावरणक्षयोपशमाच्च स्पष्टचक्षुरादियुक्तो यथावस्त्ववलोकनेनाऽनुभवत्यमन्दमानन्द-संदोहम् । तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणान्तरं वेदनीयं निगदितम् । भवेद्वेदनां वेदयमानोऽपि मोहाभिभूतो न विरज्यत इति चतुर्थं मोहनीयम्, यद्वा वेदनीयं सुखःदुखे जनयति, अभीष्टानभीष्ट-विषयसम्बन्धे च वश्यं संसारिणां रागद्वेषौ, तौ च मोहनीयहेतुकौ, तत एतदर्थप्रतिपत्तये वेदनीया-नन्तरं चतुर्थं मोहनीयम् । जनो मोहनीयस्य प्रबलसाम्राज्यान्न विरज्यत, अविरक्तश्च देवमनुष्य-तिर्यङ्नरकायुःषु वर्तेत इति मोहानन्तरमायुः, अथवा मोहनीयमूढा जना बह्वारम्भपरिग्रहप्रभृति-

कर्माविनाभाविन्यो नरकाद्यायुष्कमाश्रयन्ति, ततो मोहनीयसमनन्तरमायुर्ग्रहणम् । नरकाद्यायुष्क उदिते नरकगत्यादयोऽवश्यमेवोदयमागच्छन्ति, आयुरुदयापेक्षो हि गत्याद्युदय', ते नायुष्कानन्तरं नाम । नामोदयेन परिप्राप्तशरीरादेः पुंसो गोत्रनिमित्तक' शुभाशुभव्यपदेशो भवति, तेन नामानन्तरं गोत्रम् । सति गोत्रोदय उच्चैःकुलोत्पन्नस्य प्रायः प्रचुरो दानलाभाऽन्तरायाद्धिक्षयोपशमो भवति, राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात् , नीचैःकुलोत्पन्नस्य तु प्रचुरो दानलाभान्तरायादीनामुदयः, नीचजातीनां तथादर्शनात् । एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रसमनन्तरमन्तरायमिति ।

एता ज्ञानावरणादयः प्रकृतयः पटादिनिदर्शनैर्बोद्धव्याः । उक्तं च–

"पडपडिहारसिमज्जाहडिचित्तकुलालभंडगारीणं । जह एएसिं भावा कम्माण वि जाण तह चेव ॥१॥" इति ।

इदमत्र हृदयम्–यथा काचकामलादिदोषरहिताऽपि चक्षुर्घनघनतरघनतमवस्त्रेणाच्छादिता सती मन्दं मन्दतरं मन्दतमं पश्यति, तथा जीवो घनघनतरघनतमेन ज्ञानावरणेनावृतः शरदुद्गतशशाङ्कनिर्मलतरोऽपि मन्दं मन्दतरं मन्दतमं जानीते, तेन पटोपमं ज्ञानावरणमुच्यते । दर्शनावरणं तु प्रतीहारवज्ज्ञेयम् , यथा राजा इच्छति–अहं जनं पश्येयम् , तदा शोभनम् , जनोऽपीच्छति अहं राजानमवलोकये, तदा शोभनम् , किन्तु राजानं द्रष्टुकामस्य प्रतीहारः स्वाऽनभिप्रेतस्य लोकस्य राजदर्शने प्रतिबन्धको भवति, तथैव दिदृक्षुरप्यात्मनृपो दर्शनावरणरूपाननुकूलप्रतीहारसद्भावेन जनस्थानिघटादिकं न प्रेक्षते । उक्तं च—

"दंसणसीले जीवे दंसणघायं करेइ जं कम्मं । तं पडिहारसमाणं दंसणावरणं भवे बीयं ॥१॥
जह रन्नो पडिहारो अणभिप्पेयस्स सो उ लोगस्स । रण्णो तह दरिसावं न देइ दट्ठुं पि कामस्स ॥२॥
जह राया तह जीवो पडिहारसमं तु दंसणावरणं । तेणिह विबंधएणं न पिच्छइ सो घडाईयं ॥३॥" इति ।

वेदनीयं च मधुलिप्तखड्गधारावद्भवति, यथा मधुलिप्तखड्गधारां लिहानो मधु स्वादयमानः सुखमनुभवति, तथा सातवेदनीयं वेदयन् विपाकतः सुखमनुभवति, स एव मधुलिप्तखड्गधारां लिहानः छिन्नजिह्वो जातो दुःखमनुभवति, एवमसातवेदनीयमनुभवन् विपाकतः दुःखमनुभवति । उक्तं च—

नन्वष्टमूलकर्मणामुत्तरप्रकृतयो विंशत्युत्तरशतं कथमुच्यन्ते ? ग्रन्थान्तरेष्वष्टपञ्चाशदधिक-शतप्रकृतीनां प्रतिपादनोपलम्भादित्याशङ्कासमाधानाय प्राह—

बंधं पडुच्च एआ णेया मोहस्स उदयसत्तासुं ।
अडवीसा सत्ताए तिउत्तरसयं तु णामस्स ॥५॥

(प्रे०) 'बंध' इत्यादि 'बन्धं' प्रकृतिबन्धादिलक्षणं 'प्रतीत्य' आश्रित्य 'एताः' अनुपद-मुक्ता विंशत्यधिकशतम् (१२०) उत्तरप्रकृतयः 'ज्ञेयाः' ज्ञातव्याः, न तूदयसत्त्वे प्रतीत्य, उक्त च **कर्मविपाके** "एव विसुत्तरसय बन्धे पयडीण होइ णायव्व ।" इति । ननूदयसत्त्वे प्रति को विशेषः ? इत्यतः प्राह—'**मोहस्स**' इत्यादि, 'मोहस्य' मोहनीयकर्मणः 'उदयसत्त्वयोः' उदय-विषयाः सत्त्वविषयाश्च 'अष्टाविंशतिः' अष्टाविंशतिसंख्याका (२८) उत्तरप्रकृतयो बोध्याः,सम्य-क्त्वमोहनीय-मिश्रमोहनीययोरपि ग्रहणात् । '**सत्ताए**'इत्यादि,'**सत्तायां**'सत्त्वविषयाः 'त्र्युत्तरशतं' त्र्यधिकशतसंख्याकाः (१०३) उत्तरप्रकृतयस्तु नाम्नो ज्ञेयाः, बन्धनसंघातनाना शरीरतः पृथग् विवक्षणाद् वर्णादीनां च कृष्णाद्युत्तरभेदग्रहणात् । एतेनोदयमाश्रित्याऽष्टमूलप्रकृतीनां सर्वसंख्ययो-त्तरप्रकृतयो द्वाविंशत्यधिकशतं (१२२) सत्त्वञ्चाश्रित्याऽष्टापञ्चाशं शतं (१५८) भवन्ति ॥ ५ ॥

चतुर्थगाथायां ज्ञानावरणादीना पञ्चप्रभृतय उत्तरप्रकृतयः प्रोक्ताः, सम्प्रति ता नामग्राहं विभणिषुराह—

मइसुअऽवहिमणकेवलणाणावरणं ति पंचहा पढमं ।
णयणेयरोहिकेवलदंसणआवरणयं णेयं ॥६॥
णिद्दा णिद्दाणिद्दा पयला पयलपयला य थीणद्धी ।
एवं णवहा बीअं सायमसायं दुहा तइयं ॥७॥

(प्रे०) **मइ०**'इत्यादि,' मतिश्रुतावधिमनःकेवलज्ञानावरणं' पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् मनःशब्देन :पर्यायो मनःपर्यवो मनःपर्ययो वेति ग्राह्यम्, ज्ञानावरणं च प्रत्येकमभिसम्ब-न्धनीयम् । अ्रऽयमर्थः—मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणमवधिज्ञानावरणं मनःपर्यायज्ञानावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणं मनःपर्ययज्ञानावरणं वा केवलज्ञानावरण च । तत्र 'बुधि मनिंच् ज्ञाने' मननं मतिः, यद्वा मन्यत इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तुपरिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः, "स्त्रिया क्तिः" (सिद्धहेम०५-३ ९१) इत्यनेन भावे करणे वा क्तिप्रत्ययः, मनुतेऽर्थान् इति मतिः, कर्तरि बाहुलकात् क्तिप्रत्ययः, मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानम्, इदं चाऽऽभिनिबोधिकज्ञानमप्युच्यते यदुक्तं **सूत्र ताङ्गे**="पंचविहे णाणे प० त० आभिणिबोहियणाणे सुयणाणे ओहीणाणे मणपज्जव-णाणे केवलणाणे ।" इति । अयं भावः—अभि=अर्थाभिमुखोऽविपर्ययरूपत्वात्, नि=नियतो-ऽसंशयरूपत्वाद् बोधः=संवेदनमित्यभिनिबोधः । स एवाऽऽभिनिबोधिकम्, "विनयादिभ्य" (सिद्धहेम० ७-२-१६९) इत्यनेन स्वार्थे इकण् प्रत्ययः । अभिनिबुध्यते वा यः कर्म-

तथा नाम चित्रकारवद् बोध्यम्, यथा चित्रकारो नानावर्णैरनेकानि सुरूपाणि कुरूपाणि च निर्वर्तयति, तथैव नामप्रकृतिरपि जीवस्य सुरूपाणि कुरूपाणि विदधाति, यदुक्तम्–

"जह चित्तायरो निउणो अणेगरूवाइ कुणइ रूवाइ। सोहणमसोहण इ चोक्खाचोक्खेहिं वण्णेहि ॥१॥
तह नाम पि य कम्म अणेगरूवाइ कुणइ जीवस्स। सोहणमसोहणाइ इट्ठाणिट्ठाइ लोयम्स ॥ २ ॥' इति।

गोत्रं च कुम्भकारवन्निश्चेतव्यम्, यथा कुम्भकारः स्वेष्टानिष्टभाण्डं मृदस्तादृश कलशादिकं निष्पादयति, यादृशं शुकनतया लोकात्कुसुमचन्दनाक्षतादिभिः पूजा लभते, स एव मुंभलादि तादृशं निर्वर्तयति, यादृशमक्षिप्तमद्यमपि लोकान्निन्दां लभते, तथा यदुदयान्निर्धनः कुरूपो बुद्ध्यादिपरिहीणोऽपि सुकुलजन्ममात्रादेव लोकतः पूजामश्नुते, यदुदयाच्च प्रभूतधनः सुरूपोऽप्रतिहितप्रज्ञोऽपि कुकुलजन्ममात्रादेव लोकतो निन्दा लभते, तद् गोत्र कुल लोपमम्।

विघ्नं भाण्डागारिकवद् बोध्यम्, यथा नृपादयः प्रतिकूलेन भाण्डागारिकेण दानादीनि कर्तुं न पारयन्ति, तथाऽऽत्मनृपो विघ्नभाण्डागारिकेण दानादीनि कर्तुं नालं भवति। उक्त च-

"जह राया इह भडारिएण विणिएण कुणइ दाणाई। तेण उ पडिकुलेण न कुणइ सो दानमाईणि ॥१॥
जह राया तह जीवो भण्डारी जह तहतराय च। तेण उ विवयएण न कुणइ सो दाणमाईणि ॥२॥ इति

अथ निगमयन् प्रकृतिराशिं दर्शयति–'एआ' इत्यादि, 'एताः' अनन्तरोक्ता ज्ञानावरणादिरूपा मूलप्रकृतयः 'अष्टौ' अष्टसंख्याकाः, नाधिका इत्यर्थः।

मूलोत्तरप्रकृतिभेदाद् द्विधाः प्रकृतिबन्धादयः प्रागुक्ताः, तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टा अभिहिताः, सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीर्वक्तुकाम आह—

तेसि उत्तरपयडी कमसो पच णव दोण्णि छव्वीसं।
चउरो सडसट्ठी दो पंचेआ वीसजुत्तसयं ॥४॥

(प्रे०) 'तेसिं' इत्यादि, तासां तच्छब्देन मूलप्रकृतिपरामर्शः, तेन मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतयः क्रमशः पञ्च (५) नव (९) द्वे (२) षड्विंशति(२६)श्चतस्रः (४) सप्तषष्टिः (६७) द्वे (२) पञ्च (५) भवन्तीति शेषः, "यत्रान्यत्क्रियापद न श्रूयते, तत्राऽस्तिर्भवन्तीपर प्रयुज्यते" इति न्यायात्। भावार्थः पुनरयम्–यथा पञ्चाङ्गुलिनिष्पन्नो हस्तो भवति, तथा ज्ञानावरणादयः पञ्चप्रभृत्युत्तरप्रकृतिनिष्पन्नाः। तत्र ज्ञानावरणस्य पञ्चोत्तरप्रकृतयो मतिज्ञानावरणादयः, दर्शनावरणस्य नवोत्तरप्रकृतयश्चक्षुर्दर्शनावरणादयः, वेदनीयस्य द्वे उत्तरप्रकृती सातासातरूपे, मोहनीयस्य षड्विंशतिर्मिथ्यात्वादयः, आयुषश्चतस्रो नरकायुष्कादयः, नाम्नः सप्तषष्टिर्नरकगत्यादयः, गोत्रस्य द्वे उच्चैर्गोत्र नीचैर्गोत्रं चेति, अन्तरायस्य च पञ्च दानान्तरायादयः नन्वेताः सर्वा मिलित्वा कतिपया उत्तरप्रकृतयो भवन्ति ? इत्यत आह–'एआ' इत्यादि, 'एताः' अष्टकर्मणामुत्तरप्रकृतयः 'विंशतियुतशतम्' सर्वसंख्यया विंशत्यधिकशत (१२०) भवन्ति।

नन्वष्टमूलकर्मणामुत्तरप्रकृतयो विंशत्युत्तरशतं कथमुच्यन्ते ? ग्रन्थान्तरेष्वष्टपञ्चाशदधिकशतप्रकृतीनां प्रतिपादनोपलम्भादित्याशङ्कासमाधानाय प्राह—

बंधं पडुच्च एआ णेया मोहस्स उदयसत्तासुं ।
अडवीसा सत्ताए तिउत्तरसयं तु णामस्स ॥५॥

(प्रे०) 'बंध' इत्यादि 'बन्धं' प्रकृतिबन्धादिलक्षणं 'प्रतीत्य' आश्रित्य 'एताः' अनुपदमुक्ता विंशत्यधिकशतम् (१२०) उत्तरप्रकृतयः 'ज्ञेयाः' ज्ञातव्याः, न तूदयसत्त्वे प्रतीत्य, उक्तं च **कर्मविपाके** "एव विसुत्तरसय बन्धे पयडीण होइ णायव्व ।" इति । ननूदयसत्त्वे प्रति को विशेषः ? इत्यतः प्राह—'**मोहस्स**' इत्यादि, 'मोहस्य' मोहनीयकर्मणः 'उदयसत्त्वयोः' उदयविषयाः सत्त्वविषयाश्च 'अष्टाविंशतिः' अष्टाविंशतिसंख्याका (२८) उत्तरप्रकृतयो बोध्याः,सम्यक्त्वमोहनीय-मिश्रमोहनीययोरपि ग्रहणात् ।' ।ए'इत्यादि,'**सत्तायां**'सत्त्वविषयाः 'त्र्युत्तरशते' त्र्यधिकशतसंख्याकाः (१०३) उत्तरप्रकृतयस्तु नाम्नो ज्ञेयाः, बन्धनसंघातनाना शरीरतः पृथग् विवक्षणाद् वर्णादीनां च कृष्णाद्युत्तरभेदग्रहणात् । एतेनोदयमाश्रित्याऽष्टमूलप्रकृतीनां सर्वसंख्ययोत्तरप्रकृतयो द्वाविंशत्यधिकशतं (१२२) सत्त्वञ्चाश्रित्याऽष्टापञ्चाशं शतं (१५८) भवन्ति ॥ ५ ॥

चतुर्थगाथायां ज्ञानावरणादीना पञ्चप्रभृतय उत्तरप्रकृतयः प्रोक्ताः, सम्प्रति ता नामग्राहं विभणिषुराह—

मइसुअऽवहिमणकेवलणाणावरणं ति पंचहा पढमं ।
णयणेयरोहिकेवलदंसणआवरणयं णेयं ॥६॥
णिद्दा णिद्दाणिद्दा पयला पयलपयला य थीणद्धी ।
एवं णवहा बीअं सायमसायं दुहा तइयं ॥७॥

(प्रे०) '**मइ०**'इत्यादि,' मतिश्रुतावधिमनःकेवलज्ञानावरणं' पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् मनःशब्देन : यो मनःपर्यवो मनःपर्ययो वेति ग्राह्यम्, ज्ञानावरणं च प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयम् । अयमर्थः—मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणमवधिज्ञानावरणं मनःपर्यायज्ञानावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणं :पर्ययज्ञानावरणं वा केवलज्ञानावरण च । तत्र 'बुधि मनिंच् ज्ञाने' मननं मतिः, यद्वा मन्यत इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तुपरिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः, "स्त्रियां क्तिः" (सिद्धहेम०५-३ ९१) इत्यनेन भावे करणे वा क्तिप्रत्ययः, मनुतेऽर्थान् इति मतिः, कर्तरि बाहुलकात् क्तिप्रत्ययः, मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानम्, इदं चाऽऽभिनिबोधिकज्ञानमप्युच्यते यदुक्तं **सूत्र** **ताङ्गे**="पचविहे णाणे प० त० आभिणिबोहियणाणे सुयणाणे ओहीणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे ।" इति । अयं भावः—अभि=अर्थाभिमुखोऽविपर्ययरूपत्वात्, नि=नियतोऽसंशयरूपत्वाद् बोधः=संवेदनमित्यभिनिबोधः । स एवाऽऽभिनिबोधिकम्, "विनयादिभ्यः" (सिद्धहेम० ७-२-१६९) इत्यनेन स्वार्थे इकण् प्रत्ययः । अभिनिबुध्यते वा यः कर्म-

भूतः, सोऽभिनिबोधः, स एवाऽऽभिनिबोधिकम्=अवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमेव, तस्य स्वसंविदितरूपत्वात्, अभिनिबुध्यते वाऽनेनास्मादस्मिन् वेत्यभिनिबोध, स एवाऽऽभिनिबोधिकम्, तदावरणकर्मक्षयोपशम इत्यर्थः, अभिनिबुध्यत इत्यभिनिबोधः, लिहादित्वात् कर्तरि अच्, स एव आभिनिबोधिकम्=आत्मा, अभिनिबोधोपयोगपरिणामाऽनन्यत्वात् तस्य। यद्वा अभि=अभिमुखो=वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी नि=नियतः=इन्द्रियमनः समाश्रित्य स्वस्वविषया-ऽपेक्षी बोधनं=बोध इत्यभिनिबोधः, स एवाऽऽभिनिबोधिकम्, पूर्ववत् स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः। यद्वा अभिनिबोधे भवम्, तेन वा निर्वृत्तम्, तन्मयं वा तत्प्रयोजनं वेति इकण्प्रत्ययोपादानाद् आभिनिबोधिकम्, आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानम्। यदुक्तम्, **विशेषावश्यके--**

अत्थाभिमुहो नियओ बोहो जो सो मओ अभिनिबोहो। सो चाभिणिबोहियमहव जहा जोग्गमाउज्ज ॥१॥
त तेण तओ तम्मि व सो वाऽभिणिबुज्झए तओ वा त . ...॥२॥ इति।

तच्च चतुरष्टाविंशतिद्वात्रिंशत्पट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदैः परिभावनीयम्।

आवृणोति आव्रियते वाऽनेनेत्यावरणम्, मतिज्ञानस्यावरणं मतिज्ञानावरणम्।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गहेतुसन्निधाने श्रूयते स्म यत्, तच्छ्रुतम्, किं तत्? शब्दमात्रम्, घृतमायुरितिवत् कारणे कार्योपचाराद् भावश्रुतस्य हेतुः शब्दोऽपि श्रुतमुच्यते, तस्य ज्ञानं श्रुतज्ञानम्, यद्वा श्रूयतेऽनेनाऽस्मादस्मिन् वेति श्रुतम्, तदावरणकर्मक्षयोपशम इत्यर्थः। अथवा आत्मैव श्रुतोपयोगपरिणामा-ऽनन्यत्वात् शृणोतीति श्रुतम्। आह च-त तेण तओ तम्मि व सणेइ सो वा सुय॰तेण।' इति।

यद्वा श्रवणं श्रुतमभिलापप्लावितार्थावगमहेतुरुपलब्धिविशेषः, कम्बुग्रीवादिमद् वस्तु घटादिशब्दाभिलाप्य जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारीन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तज्ज्ञानं च श्रुतज्ञानम्। यद्वा मत्या गृहीतपदार्थतोऽन्यार्थेषु यज्ज्ञानं जायते, तच्छ्रुतज्ञानम्। यथा धूमदर्शनाद् वह्निज्ञानं जायते, यद्वा शब्दाद् यज्ज्ञानं जायते, तच्छ्रुतज्ञानम्। श्रुतज्ञानं चाऽक्षरादिभेदेन चतुर्दशविधं पर्यायादिभेदेन च विंशतिप्रकारं बोध्यम्। तस्याऽऽवरणं श्रुतज्ञानावरणम्।

अवधानमवधिः, 'उपसर्गाद् द कि' (सिद्धहेम० ५-३-८७) इति सूत्रेण भावे अवपूर्वकधाधातोः कित् इप्रत्ययः, इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणमित्यर्थः, यद्वा अवशब्दः अधोऽर्थे, यथा अधःक्षेपणम् अवक्षेपणमिति। अव=अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते=परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, अथवा अधोगौरवधर्मत्वात् पुद्गलः अवाङ् इत्युच्यते, तं दधाति=परिच्छिनत्तीत्यवधिः, अवधिरेव ज्ञानमवधिज्ञानम्। यद्वा-ऽवधिः=मर्यादा, रूपिषु परिच्छेदकत्वेन प्रवृत्तिरूपा, अवधिना सह वर्तमानं ज्ञानमित्यवधिज्ञानम्, तृतीयासमासः। न चानया व्युत्पत्त्याऽवधिज्ञानं मूर्तस्यैव वस्तुनः परिच्छेदकम्,

ततश्चाऽमूर्तेनासतीतानागतवर्तमानपुद्गलपर्यायाणां परिच्छेदकं न स्यादिति वाच्यम्, द्रव्यपर्याययोर्भेदाभेदस्वीकारेण मूर्तपुद्गलपर्यायाणामपि मूर्तत्वलाभात्। यद्वा अवधीयते ऽनेनाऽस्मादस्मिन्वेत्यवधिः, अवधिश्चासौ ज्ञानं चाऽऽवधिज्ञानम्, आह च—

"तेणावहीयते तम्मि वाऽवहाण च तोऽवही सो य। मज्जाया ज तीए दव्वाइ परोप्पर मुणइ तओऽवहित्ति ॥१॥" इति।

तच्च भवप्रत्ययक्षयोपशमजभेदेन द्विविधम्, तस्यावरणमवधिज्ञानावरणम्।

तथा संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गणाद्रव्याणि मनोयोगेन मनस्त्वेन परि ानि मनांस्युच्यन्ते, तेषां पर्यायाः=चिन्तनानुगताः परिणामा इति मनःपर्यायाः, यदा कश्चिदेवं चिन्तयेत् किंस्वभाव आत्मा? ज्ञानस्वभावोऽमूर्तः, कर्ता, सुखादीनामनुभविता इत्यादयो ज्ञेयविषयाध्यवसायाः परगता इत्यर्थः. तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्. यद्वाऽऽत्मभिर्व्यापारितानि मनांसि पर्येति=अवगच्छतीति मनःपर्यायम् "कर्मणोऽण्" (सिद्ध०५-१ ७२) इत्यनेन सूत्रेण अण्प्रत्ययः, मनःपर्यायं च तज्ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम्, यद्वा परकीयमनसि गतोऽर्थो मन इत्युच्यते, तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति, मनसः पर्यायाः=विशेषा मनःपर्यायाः; तान् जानाति=परिच्छिनत्तीति मनःपर्यायज्ञानम्। न च सामान्यं विना विशेषो न संभवति, अतो मनःपर्यायज्ञानं विशेषपरिच्छेदकत्वेन कथं घटां प्राञ्चति? इति वाच्यम्, सामान्यग्रहणस्य सामर्थ्यलभ्यत्वात्। अथवा अयनम् आयः.. अयिधातोर्घञ्प्रत्ययः, गमनं वेदनमित्यर्थः, मनसो मनसि वा परि=सर्वतो भावे आयो मनःपर्यायः, स चासौ ज्ञान च मनःपर्यायज्ञानं सर्वतो मनःपरिच्छेदः, तस्यावरणं मनःपर्यायज्ञानावरणम्। यद्वा परि=सर्वतो भावे अवनम् अव इति पर्यवः, गत्यर्थकादवधातोः "उदादिभ्यः ...हिभ्य कित् (उणादि०२) इत्यनेन औणादिकः कित् अप्रत्ययः, अयनं अयः, इधातोः अल्प्रत्ययः, गमनं वेदनमित्यर्थः,। पर्यवः पर्ययो वा मनसि मनसो वेति मनःपर्यवो मनःपर्ययो वा सर्वतो मनःपरिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यवश्च स ज्ञानं चेति मनःपर्यवज्ञानम्, मनःपर्ययश्चासौ ज्ञानं चेति मनःपर्ययज्ञानम्, अथवा मनसः पर्यायाः पर्ययाः पर्यवा वा भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यर्थः, तेषु तेषां वा ज्ञानं मन पर्यायज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं वा। आह च—

"पज्जवण पज्जयण पज्जाओ वा मणम्मि वा मणसो वा। तस्स व पज्जायादिन्नण मणपज्जवन्नाण॥१॥ इति।

तच्च द्विधा ऋजुमतिविपुलमतिभेदात्, तस्यावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणम्।

तथा केवलमेकमसहायं वा, मत्यादिज्ञानरहितत्वात्, यदुक्तम्—"नट्ठ मि छाउमत्थिए नाणे" इति। न च देशत आवरणापगमे मतिज्ञानादीनि समुत्पद्यन्ते, तर्हि सर्वत आवरणापगमे मत्यादिज्ञानानि कुतो न भवन्ति? इति वाच्यम्, तेषामाच्छादितसहस्रभानुकेवलज्ञानकिरणरूपत्वात्। तथाहि-यथाऽतिघनघनाघनान्तरितस्य सहस्रभानोरन्तरालस्थितकटकुड्याद्यावरणविवरप्रविष्टप्रकाशो घटपटाद्यर्थान् प्रकाशयति, तथा केवलज्ञानावरणमेघावृत्तस्य केवलज्ञानसूर्यस्यान्तरालगतमतिज्ञानावरणकटकुड्याद्यावरणतत्क्षयोपशमरूपसूक्ष्मविवरविनिर्गतक्षायोपशमिकज्ञानप्रकाशो जीवादीन् पदार्थान् प्रकाश-

यति । ततः सकलमेघपटलकटकुड्याद्यपगमे तथाविधः प्रकाशः सहस्ररश्मेरस्पष्टरूपो न भवति, अपि तु निःशेषतः परिस्पष्टो भवति, तथैवाऽत्र सकलकेवलज्ञानावरणमतिज्ञानावरणाद्यावरणविलये न तथाविधो मतिज्ञानादिसंज्ञितः केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति, किन्तु सर्वात्मना यथास्थितं वस्तु परिच्छिन्दन्नन्य एव । अन्ये त्वाहुः-सन्त्येव मतिज्ञानादीन्यपि सयोगिकेवलिप्रभृत्यवस्थायाम्, फलाभावाच्च न विवक्ष्यन्ते, दिनकरोदये ग्रहगणवत् । उक्तं च-

"अन्ने आभिणिबोहियनाणाणि वि जिणस्स विज्जति. अफलाणि य सूरुदए जहेव नक्खत्तमाईणि॥१॥ इति'

यद्वा केवलं=शुद्धं सकलकर्मपङ्कापगमात्, यद्वा केवलं=सकलं तदावरणक्षये निःशेषतस्तदुत्पत्तेः, अथवा केवलम्=असाधारणम् अनन्यसदृक्त्वात्, यदिवा केवलम्=अनन्तं ज्ञेयस्याऽनन्तत्वाद् अपर्यवसिता-ऽनन्तकालावस्थायित्वाच्च, अथवा केवलं=निर्व्याघातं लोकेऽलोके च क्वापि व्याघाताभावात् । यद्वा वाङ्मनःकायाश्रयान् बाह्याभ्यन्तरांश्च तपःक्रियाविशेषान् यदर्थमर्थिनः सेवन्ते, तत्केवलमुच्यते, केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम्, तस्यावरणम् केवलज्ञानावरणम्, अत्र मतिज्ञानादिषु बहु वक्तव्यम्, तत्तु **विशेषावश्यकादिग्रन्थतोऽवसेयम्**, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गान्नाऽत्र वितन्यते ।

ननु मतिज्ञानावरणादीनामयं क्रमोपन्यासः किं सहेतुकः, उत निर्हेतुक ? इति चेत्, सहेतुक इति ब्रूमः। कथम् ? इति चेत्, उच्यते-इह तावन्मतिश्रुते प्रथमतो वक्तव्ये, परस्परमनयोः स्वामिकालविषयपरोक्षत्वसाधर्म्याद् मतिश्रुतसद्भावे चाऽवध्यादिसद्भावात्। तथाहि-यो मतिज्ञानस्य स्वामी भवति, स एव श्रुतज्ञानस्याऽपि, यदुक्तं "जत्थ मइनाण तत्थ सुयनाण जत्थ सुयनाण तत्थ मइनाण" इति, एवमुभयोः स्वामित्वसाधर्म्यम् । यावानेव मतिज्ञानस्य कालस्तावानेव श्रुतस्य, स च प्रवाहापेक्षयाऽतीतानागतवर्तमानरूपः सर्वकालः, एकजीवापेक्षया च सातत्येन सातिरेके सागरोपमाणां द्वे षट्षष्टी, उक्तं च "दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नच्चुए अहवा ताइ। अइरेग नरभविय नाणाजीवाण सव्वद्धा" इति कालसाधर्म्यम् । यथा चेन्द्रियनिमित्तं मतिज्ञानम्, तथा श्रुतज्ञानमपि, तेनोभयोः कारणसादृश्यम् । यथा मतिज्ञानं सर्वद्रव्यविषयकं भवति, तथा श्रुतज्ञानमपि सर्वद्रव्यविषयकं भवति, यदुक्त"मतिश्रुतज्ञानयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" इति विषयसाधर्म्यम् । यथा मतिज्ञानं परोक्षम्, तथा श्रुतज्ञानमपि, 'आद्ये परोक्षम्' इति वचनप्रामाण्यात् । इति परोक्षत्वसाधर्म्यम् । तथा मतिज्ञानश्रुतज्ञानभावेऽवधिज्ञानादिसद्भावः,। तेनादौ मतिश्रुतग्रहणम्, उक्तञ्च--

ज सामिकालकारणविसयपरोक्खणत्तणेहि तुल्लाइ। तब्भावे सेसाणि य तेणाइए मइसुयाइ ॥१॥" इति

ननु भवतामेकत्र मतिश्रुते प्रागेवाऽवध्यादिभ्यः, अनयोः स्वाम्यादिसाधर्म्यात् । परमेतयोः प्रथमतो मतिः, ततः श्रुतमित्येतत्कुतो गम्यते ? इति चेत्, उच्यते-श्रुतस्य मतिपूर्वकत्वाद् विशि-मत्यंशरूपत्वाद्वा मतिः प्रथममुपन्यस्यते । आह च--

'मइपुव्वं जेण सुय तेणाईए मई विसिट्ठो वा । मइभेओ चेव सुय तो मइसमणतर भणिय ॥१॥" इति।

न च मतिश्रुतयोः स्वाम्यादिभेदैरभिन्नत्वादनयोरेकत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, लण-

कार्यकारणभेदेन्द्रियविभागसाक्षरानक्षरमूकामूकभेदैर्भिन्नत्वात् । तथाहि—मन्यते योग्यार्थोऽनयेति मतिः, श्रवणं श्रुतमित्यादिलक्षणमाश्रित्य भेदः । तथा मतिज्ञानं श्रुतस्य कारणम्; श्रुतं तु कार्यम् । यदुत्कर्षाऽपकर्षवशादुत्कर्षाऽपकर्षभाग् यद्भवति, तत्तस्य कारणं भवति, घटकार्यं प्रति मृत्कारणवत् । इदमुक्तं भवति-श्रुतेष्वपि बहुषु ग्रन्थेषु यद्विषयं स्मरणमीहापोहादि वाऽधिकतरं प्रवर्तते, स ग्रन्थः स्फुटतरः प्रतिभाति,न शेष इति कार्यकारणापेक्षया भेदः । तथा भेदभेदाद्भेदः,यतो मतिज्ञानमष्टाविंशतिप्रभृतिभेदं श्रुतज्ञानं च चतुर्दशादिभेदम् । तथेन्द्रियविभागाद्भेदः; श्रुतस्य श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धित्वाद् मतिज्ञानस्य च शेषोपलब्धेः, उक्तं च **विशेषावश्यकभाष्ये**—

"सोइंदिओवलद्धी होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं । मुत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलाभो य सेसेसु ॥१॥" इति ।

तथा मतिज्ञानमनक्षरं साक्षरं च, श्रुतज्ञानं तु साक्षरमेवेति साक्षरानक्षरभेदाद्भेदः । मूककल्पं मतिज्ञानम्, स्वमात्रप्रत्यायकत्वात्, अमूककल्पं तु श्रुतज्ञानम्, स्वपरप्रत्यायकत्वादिति मूकामूकभेदाद्भेदः । यदवादीद् **भाष्यसुधाम्भोधिः**—

"लक्खणभेया हेऊफलभावओ उ भेयइन्दियाविभागा । वागक्खरमूयेयरभेया भेओ मइसुयाण ॥१॥ इति

मतिश्रुतयोरनन्तरमवधिज्ञानमुपन्यसनीयम्,कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्यात् । तथाहि-यथा मतिश्रुतयोरेकजीवाश्रय : सागरोपमाणां सातिरेके द्वे षट्षष्टी भवति, तथैवावधिज्ञानस्याऽपीति कालसाधर्म्यम् । यथा मिथ्यात्वोदयाद् मतिश्रुते विपर्ययत्वमापद्येताम्,तथैवावधिज्ञानमपि,**यदुक्तम्** 'आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम्' इति विपर्ययत्वसाधर्म्यम् । तथा यो मतिश्रुतयोः स्वामी, स एवाऽवधिज्ञानस्येति स्वामित्वसाधर्म्यम् । विभङ्गज्ञानिनः सुरादेः सम्यक्त्वावाप्तौ युगपन्मतिश्रुतावधिज्ञानलाभ इति लाभसाधर्म्यम्,**आह च**-"कालविवज्जयसामित्तलाससाहम्मओऽवही तत्तो ।" इति ।

अवधिज्ञानानन्तरं मनःपर्यवज्ञानं वक्तव्यम्, छद्मस्थविषयभावप्रत्यक्षत्वसाधर्म्यात् । तद्यथा—यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्य भवति, तथा मनःपर्यवज्ञानमपीति छाद्मस्थ्यसाधर्म्यम् । यथाऽवधिज्ञानस्य विषयो रूपिद्रव्यम्, "रूपिष्ववधेः" इति वचनप्रामाण्यात्, तथा मनःपर्यायज्ञानस्याऽपि,तस्य मनोवर्गणापुद्गलालम्बनादिति विषयसाधर्म्यम् । यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे, तथा मनःपर्यवज्ञानमपीति भावसादृश्यम् । यथाऽवधिज्ञानं प्रत्यक्षम्, तथैव मनःपर्यवज्ञानमिति प्रत्यक्षत्वसाधर्म्यम् । उ च— "माणसमित्तो छउमत्थविसयभावादिसामण्णा ।" इति ।

मनःपर्यवज्ञानानन्तरं केवलज्ञानमभिधातव्यम्, सर्वोत्तमत्वात् स्वामित्वविपर्ययाभावसाधर्म्यात् सर्वाऽवसाने लाभाच्च । तथाहि—केवलज्ञानस्य सर्ववस्तुपरिच्छेदकत्वेन सर्वोत्तमता, न तथा शेषाणां मतिज्ञानादीनाम्, देशतः परिच्छेदकत्वात् । सर्वोत्तमं च शिरःशिखरे वक्तव्यम्, :

केवलज्ञानं प्रान्तेऽभिधीयते। यथा मनःपर्यवज्ञानस्य स्वामी यतिर्भवति, तथैव केवलज्ञानस्याऽपीति स्वामित्वसाधर्म्यम्। यथा मनःपर्यायज्ञानं सविपर्ययं न भवति, तथैव केवलज्ञानमपीति विपर्ययाभावसाधर्म्यम्। यथा यः सर्वाणि मतिज्ञानादीनि लब्धुं योग्यः, स नियमादन्ते केवलज्ञानं समामादयतीति पर्यवसानलाभहेतुयुक्तः. उक्तं च—

'अते केवलमुत्तमजइसामित्तावसाणलाभाओ।
एत्थ च मतिसुयाइ परोक्खमियरं च पच्चक्खं ॥ १ ॥' इति।

उक्तरीत्या मतिज्ञानादीनां क्रमः सहेतुकः,तेन तेषामावरणान्यपि तेन क्रमेण वक्तव्यानि, तथाहि-आद्यं मतिज्ञानावरणम्, ततः श्रुतज्ञानावरणम्, ततोऽवधिज्ञानावरणम्, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणम्, ततश्च केवलज्ञानावरणमिति. गाथायाम् इतिशब्द एवमर्थे, एवं 'प्रथमं' ज्ञानावरणं पञ्चधा'पञ्चविधं भवति।

अथ दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीर्दिदर्शयिषुराह– **'णयणे०'** इत्यादि, 'नयनेतरावधिकेवलदर्शनावरणकम्' अत्र कप्रत्ययः स्वार्थिकः. दर्शनावरणशब्दस्तु प्रत्येकमभियुज्यते, ततश्चायमर्थः— नयनदर्शनावरणम्' इतरदर्शनावरणम्=अनयनदर्शनावरणमवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणं च। तत्र णीञ् प्रापणे नीयते=प्राप्यतेऽनेन दृश्यमिति नयनम्, "करणाधारे" (सिद्धहेम०५-३-१२९) इत्यनेन करणेऽनट् प्रत्ययः, नयनेन नयनाभ्यां दर्शनं=सामान्यग्राहिबोध इति नयनदर्शनम्, तस्यावरणं नयनदर्शनावरणम्, सामान्योपलम्भनमात्मपरिणतिरूपं यच्चक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणम्=चक्षुर्दर्शनलब्धिविघाति चक्षुर्दर्शनावरणमित्यर्थः, इतरैः,=चक्षुर्व्यतिरिक्तैरिन्द्रियैर्मनसा च जायमानं दर्शनं स्वस्वविषयसामान्योपलम्भनमचक्षुर्दर्शनमित्यर्थः,तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनलब्धिविघात्यचक्षुर्दर्शनावरणमिति यावत्। अवधिना = रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं = सामान्योपलम्भनमवधिदर्शनम्, अवधिरेव वा दर्शनम् अवधिदर्शनम्, तस्यावरणमित्यवधिदर्शनावरणम्। केवलेन = सम्पूर्णवस्तुतत्त्वसामान्योपयोगलक्षणेन दर्शनमिति केवलदर्शनम्, केवलमेव वा दर्शनं केवलदर्शनम्, तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम्। 'णेयं' ति 'ज्ञेयम्' दर्शनावरणस्य रचतुष्टयं ज्ञातव्यम्। न च यथा-ऽवधिदर्शनावरणमुच्यते, तथा मनःपर्ययज्ञानस्यापि दर्शनावरणं कुतो नाऽभिधीयते ? इति वाच्यम्, यतो मनःपर्ययज्ञानं तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते; न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शनाभावाद् न तदावरणं कर्म।

अथ दर्शनावरणस्य शेषान् पञ्चप्रकारानभिधित्सुराह-'निद्दा' इत्यादि, 'निद्रा' 'द्रांक् कुत्सितगतौ' नि=नियतं द्राति=कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यस्यां स्वापावस्थायाम्, सा निद्रा "भिदादय" (सिद्धहेम०१-३-१०८) इत्यनेन अङ्प्रत्ययः,नखच्छोटिकामात्रेण यस्यां प्रबोधो जायते सा सुखावबोधरूपा स्वापावस्था निद्रा भण्यते तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रा, कारणे कार्योपचारात्। तथा 'निद्रानिद्रा' निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा "मयूरव्यंसकेत्यादय" (सिद्धहेम०३-१-११६) इत्यनेन शाकपार्थिववद् मध्यमपदलोपिसमासः,अतिशायिनीत्वं च

नाप्रकारप्रयुक्तं द्रष्टव्यम् । तद्यथा-यस्यां चैतन्यस्याऽत्यन्तमस्फुटीभूतत्वाद् बहुभिः प्रयत्नैः प्रबोधो भवति, सा दुःखप्रबोधरूपा निद्रानिद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा, उपचारात् 'पयाला' त्ति 'प्रचला' प्रचलति=विघूर्णत उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा यस्यां स्वापावस्थायां प्राणी, सा प्रचला, यद्वा या स्वापक्रियाऽऽत्मानं प्रचलयति, सा प्रचला, लिहादित्वाद् अच् प्रत्ययः । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला भण्यते । **'पयलपयला' त्ति** "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" (सिद्धहेम० ८-१-४)इति प्राकृतलक्षणेन 'पयल' इत्यत्र ह्रस्वत्वम् , 'प्रचलाप्रचला' प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला पूर्ववन्मध्यमपदलोपिसमासः, सा हि संक्रमणादिकमपि कुर्वत उदयमागच्छति, ततः स्थानस्थितस्वप्तृप्रभवप्रचलापेक्षयाऽस्या अतिशायिनीत्वम् । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला । **'थीणद्धि' त्ति** 'स्त्यानगृद्धिः' स्त्याना=बहुत्वेन संघातमापन्ना पिण्डीभृता गृद्धिः=अभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाध्यवसितार्थसाधनविषया यस्यां स्वापावस्थायाम्, सा स्त्यानगृद्धिः 'गौणादयः' (सिद्धहेम० ८-२-१९४)इति सूत्रेण **'थीणद्धि'** इति निपात्यते । यद्वा धातूनामनेकार्थत्वात् स्त्यायतिरत्र स्वप्नार्थको गृह्यते, गृधिर्दीप्त्यर्थकः स्त्याने=स्वप्ने गृध्यति=यदुदयादात्मा रौद्रं बहु च कर्म करोति, सा स्त्यानगृद्धिः । अस्यां हि जाग्रदवस्थाऽध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति । श्रूयते च प्रवचने क्षुल्लकदृष्टान्तः । तद्यथा-कश्चित्क्षुल्लको द्विरदेन दिवा स्खलीकृतः, तस्मिन् द्विरदे बद्धाभिनिवेशो रजन्यामुत्थाय स्त्यानगृद्ध्युदये वर्तमानस्तद्द्विरददन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारे क्षिप्त्वा पुनः सुप्तवानित्यादि । यद्वा ' ' द्धि' त्ति पदेन स्त्यानर्द्धिशब्दो बोध्यः । स्त्याना=पिण्डीभूता ऋद्धिः-आत्मशक्तिर्यस्यां स्वापावस्थायाम् , सा स्त्यानर्द्धिः, तत्सद्भावे हि प्रथमसंहननस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिर्जायते, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानगृद्धिः स्त्यानर्द्धिर्वा । ननु पञ्चाऽपि निद्राः ' दर्शनावरणानि भवितुमर्हन्ति ? न हि ताभिर्दर्शनमाव्रियत इति चेत् , उच्यते-चक्षुरचक्षुरवधीनां दर्शनं क्षायोपशमिकत्वादनेकव्यक्तिव्यक्तम् , तत्प्रबोधः, तद्वैमल्यमित्यर्थः, यासामुदये नितराम्=अतिशयेन द्राति=कुत्सितो भवति, असद्रूपः तत्त्वतः, स्वभावात्सर्वथा च्युतो भवति, ता निद्राः क्षायोपशमिकदर्शनाऽऽविर्भूतवैमल्यस्य सर्वथा विघातिकाः, न तु क्षायोपशमिकोपयोगस्य, यतोऽसावन्यकर्मक्षयोपशमज इति । यद्वा पञ्चाऽपि निद्राः प्राप्तदर्शनलब्धेरुपघातकृतः, तदेवं प्राप्तस्य दर्शनस्य नाशकत्वेन तासां दर्शनावरणत्वम् , दर्शनचतुष्टयस्य त्वप्राप्तदर्शनस्य प्रतिबन्धकत्वेन दर्शनावरणत्वम् , **यदुक्तं गन्धहस्तिभिः**"निद्रादयो यत समधिगताया एव दर्शनलब्धे उपघाते प्रवर्तन्ते, चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टय तूद्गमच्छेदित्वान्मूलघात हन्ति दर्शनलब्धिमित्यतो दर्शनावरणभेदा " इति । अत उपसंहरति-**'एव'** इत्यादि, एवं 'नवधा' नवप्रकारं 'द्वितीयं दर्शना० वरणं भवति ।

अथ वेदनीयस्योत्तरप्रकृतीः प्रदर्शयितुकामः प्राह- **'सायं'** इत्यादि, सातमसातं च द्विधा' द्विप्रकारकं 'तृतीयं' वेदनीयं भवति । **इदमुक्तं भवति**-सत्शब्दः प्राशस्त्ये, प्रशसा चाऽऽ-

त्मनोऽभिमतविषयत्वम् । सद् एव सातम् , प्रज्ञादित्वाद् अण् प्रत्ययः, यदुदयवशादारोग्यविषयोपभोगादिजनितमाह्लादरूपं सातं वेदयते, तत्सातवेदनीयम् , तद्विपरीतं चाऽसातवेदनीयम् ।

अथ मोहनीयस्योत्तरप्रकृतिप्रपञ्चाख्यानाय प्राह—

होएज्ज मोहणीयं दुविहं दंसणचरित्तभेआओ ।
दंसणमोहो तिविहो सम्मं मीसं च मिच्छत्तं ॥८॥

(प्रे०) 'होएज्ज' इत्यादि, भवति 'मोहनीय' मोहयति प्राणिनं सदसद्विवेकविकलं करोतीति मोहनीयम् , "बहुलम्" (सिद्धहेम० ५ १-२)इत्यनेन सूत्रेण कर्तर्यनीयप्रत्ययः । संग्रहभेदेन तत् कतिविधम् ? इत्यत आह– 'दुविह' इत्यादि, द्विविधं दर्शनचारित्रभेदात् , दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं चेत्यर्थः । तत्र तत्त्वश्रद्धानं दर्शनम् , तन्मोहनाद् दर्शनमोहनीयम् , चर्यतेऽनेनेति चरित्रं"लूधूसूखनिचर०" (सिद्धहेम० ५-२-८७) इत्यनेन सूत्रेण इत्रट् प्रत्ययः, चरित्रमेव चारित्रम् "प्रज्ञादिभ्योऽण्" (७-२-१६५)इत्यनेन स्वार्थिकोऽण्प्रत्ययः, तच्च प्राणातिपातादिविरतिलक्षणम्, तन्मोहनाचारित्रमोहनीयम्, दर्शनमोहनीयं च चारित्रमोहनीयं च दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीये, तयोर्भेदः, दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयभेदः, तस्मात् ।

"यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायेनादौ तावद् दर्शनमोहस्योत्तरप्रकृतीः प्रपञ्चयति- **'दंसणमोहो'** इत्यादि, दर्शनमोहः 'त्रिविधः' त्रिप्रकारः । ननु के तस्य [illegible]राः ? इत्यत्र प्राह-'स[illegible]' इत्यादि, 'सम्यक्त्वं' सम्यक्त्वमोहनीयं 'मिश्रं' सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीयं 'मिथ्यात्वं' मिथ्यात्वमोहनीयं च । अयं भावः-मिथ्यात्वमेकमेव बध्यते । विशुद्धिप्रकर्षेण तु मिथ्यात्वपुद्गलजातं जीवात्मना शोधितं सत् शुद्धमर्धविशुद्धमशुद्धं च भवति, तत्र शुद्धं मिथ्यात्वपुद्गलजालं सम्यक्त्वमोहनीयम् , अर्द्धविशुद्धं मिश्रमोहनीयम् , अशुद्धं पुनर्मिथ्यात्वमोहनीयम् , **उक्तं च–**

सम्यक्त्वगुणेन ततो विशोधयति कर्म तत् स मिथ्यात्वम् । यद्वच्छकृत्प्रभृतिभि शोध्यन्ते कोद्रवा मदना ॥१॥
यत्सर्वथाऽपि तत्र विशुद्धं तद्भवति कर्म सम्यक्त्वम् । मिश्रं तु दरविशुद्धं भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥२॥इति ।

तत्र मिथ्यात्वोदयाद् मदनकोद्रवभक्षकवत् स्वात्मवशतां न याति, जिनेन्द्रप्रणीततत्त्वं च न श्रद्धत्ते, किन्तु विपरीतमेवाभ्युपगच्छति, मिथ्यात्वस्य ह्युदये जीवो विपरीतदर्शनो भवति । न च तस्मै सद्धर्मः स्वदते, पित्तोदये घृतवद् । मिश्रोदयात्पुनर्जीवो नालिकेरद्वीपमनुष्यवद् जिनप्रवचनरूचि द्वेषविकलः संशयज्ञानी भवति, न सम्यग्मिश्रयज्ञानी । **उक्तं च कर्मप्रकृतौ–**

मिच्छद्दिट्ठी नियमा उवइट्ठं पवयणं न सद्दहइ । सद्दहइ असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥१॥
सम्मामिच्छद्दिट्ठी सागारे वा तह अणागारे । अह वजणोग्गहम्मि य सागारे होइ नायव्वो॥२॥" इति ।

तथा बृहच्छतकबृहच्चूर्णौ–"जहा नालिकेरदीववासिस्स अइछुहाइयस्स वि पुरुसस्स इत्थ ओयणाइए अणेगविहे वि ढोइए, तस्स आहारस्स उवरिं न रुई, न य निंदा, जेण कारणेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सूओ । एवं सम्मामिच्छद्दिट्ठिस्स वि जीवाइपयत्थाणं उवरिं न रुई न य निंदा'

इति । सम्यक्त्वमोहनीयोदयो न तत्त्वश्रद्धान प्रतिहन्ति सम्यक्त्वमोहनीयस्य विशुद्धपुद्गलरूपत्वेन विकाराजनकत्वात् । न च सम्यक्त्वमोहनीयं कथं दर्शनमोहनीयम् ? तस्य दर्शनमोहाजनकत्वादिति वाच्यम्, यतः सम्यक्त्वमोहनीयं यद्यपि तत्त्वश्रद्धान न रुणद्धि, तथापि तस्य मिथ्यात्वप्रकृतित्वेनाऽतिचारोत्पादनक्षमत्वाद् दर्शनमोहनीयत्वव्यपदेशो भवति ।

अथ क्रमप्राप्तचारित्रमोहनीयस्योत्तरप्रकृतीः प्रदर्शयितुकाम आह—

दुविहो चरित्तमोहो सोलकसायणवणोकसायेहि ।
तहि कोहमाणमायालोहक्खा चउविहकसाया ॥९॥

(प्रे०) 'दुविहो'इत्यादि, 'द्विविधः'द्विविकल्पकः चारित्रमोहः'चारित्रमोहनीयम्, 'षोडशकषाय-नवनोकषायेभ्यः' "गम्ययप कर्माधारे" (सिद्धहेम० २-२-७४) इत्यनेन गम्यमानस्य यबन्तस्य कर्मणि पञ्चमी विभक्तिः, प्रासादात्प्रेक्षत इतिवद्, षोडशकषायान्नवनोकषायांश्चाश्रित्य मोहनीयं द्विविधं भवतीत्यर्थः । ननु कषायनोकषाययोः कः प्रतिविशेषः ? इति चेत्, उच्यते—'कष हिंसायाम्' कष्यन्ते=हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः=संसारः "युवर्णवृदृवशरणगमृद्ग्रह" (सिद्धहेम० ५-३-२८) इत्यनेन सूत्रेणाऽधिकरणे अल्प्रत्ययः, कषस्य आयो=लाभो येभ्यः, ते कषायाः, ते च क्रोधमानमायालोभरूपाः, यदिवा कषस्य=संसारस्य आयाः=उपादानकारणानि कषायाः, यद्वा कषं=संसारम् अयन्ते=गच्छन्त्यैभिरिति कषायाः, करणेऽल्पप्रत्ययः, यद्वा कषति=हिनस्ति देहिन इति कषं कर्म, तस्य आयाः, तल्लाभहेतुत्वादिति कषायाः यदिवा कषं=संसारं भवं वा आययन्ति=गमयन्ति देहिन इति कषायाः, इधातोरच् प्रत्ययः, उक्त च—

"कम्म कस भवो वा कसमाओ सिं जओ कसायातो । कसमाययति व जओ गमयति कसायत्ति॥१॥"इति ।

नोकषायास्तु कषायसहकृता एव चरणोपघातित्वरूपस्वकार्यनिर्वर्तनप्रत्यला भवन्ति, न ह्यमीषां पृथक् सामर्थ्यमस्ति, यद्दोषो यः कषायः, तत्सहचारिण एतेऽपि तद्दोषा एव जायन्ते, नोशब्दः साहचर्यवाचित्वेन व्याख्येयः । कषायैः सहचरा नोकषायाः,एषां केवलानां प्राधान्यं नास्ति,किन्तु कषायैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकं दर्शयन्ति, बुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते । कषायोद्दीपनाद्वा नोकषायाः, उक्त च—

'कषायसहवर्तित्वात् कषायप्रेरणादपि । हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता ।" इति ।

यद्वा ईषदर्थको नोशब्दः, ईषत्कषायाः कषायैकदेशत्वात्, नोकषायाः, ते च हास्यादिलक्षणाः ।

तत्र क्रोधमानमायालोभानां कषायाणामेकैकश्चतुर्विधः, अनन्तानुबन्ध्यादिभेदात् । तेन कषाया षोडश। नोकषायास्तु हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदाख्या नव भवन्ति।

"यथोद्देश निर्देश "इति न्यायेनैतर्हि कषायमोहनीय वक्तुकाम आह—'तहि'इत्यादि,तस्मिन्' कषायनिरूपणे 'क्रोधमानमायालोभाख्याः' क्रोधमानमायालोभनामानश्चतुर्विधाः कषायाः,तत्र

क्रोधोऽप्रीतिलक्षणः, मानो गर्वः, माया शाठ्यम्, लोभो गार्द्ध्यम्। इदमुक्तं भवति क्रोधनं क्रोधः,क्रुध्यति वा येन, स क्रोधः। क्रुध्धातोः "भावाऽकर्त्रो" (सिद्धहेम० ५-३-१५)इत्यनेन घञ् प्रत्ययः, क्रोधः कोपो रोपो द्वेषोऽक्षमा संज्वलनः कलहो वृद्धिः भण्डनं झंझा दोषो विवाद इत्यादयः क्रोधप्रतिपादकाः शब्दाः। उक्तं च **कषायप्राभृतचूर्णौ**–

"कोहो य कोवरोसो अक्खमसजलणकलहवड्ढी य। झझा दोसविवादो दस कोहेयट्ठिया होंति॥

तथैव **समवायाङ्गे**ऽपि–"कोहे कोवे रोसे अखमा सजलणे कलहे चडिक्के भडणे विवाए।" इति। तत्र कोपनं कोपः, पूर्वावस्थातोऽन्यथा परिणामः, रोपणं रोपः, तत्परिणामेनारूपितत्वादात्मनः। द्वेषणं द्वेषः, तत्परिणामस्य वचनद्वारेण प्रकाशनात् कायद्वारेण च निर्देशनात्, अप्रीतिमात्रो वा। न क्षमा अक्षमा, परकृतापराधस्यासहनमित्यर्थः। सम्यग् ज्वलति स्वपरोपतापकारित्वादिति संज्वलनः, 'नन्द्यादिभ्योऽन" (सिद्धहेम० ५-१ ५२) इत्यनेन अनप्रत्ययः। कलहो महता शब्देनाऽन्योन्यमसमञ्जसभाषणम्, वर्धन्तेऽस्या वैरादय इति वृद्धिः, झंझा नाम तीव्रतरसंक्लेशपरिणामः। विरुद्धो वादो विवादः, स्पर्धः संघर्षः। यद्वा विवादः विप्रतिपत्तिसमुत्थवचनम्, उपचाराद् विवादोऽपि क्रोधपर्यायः, इति पर्यायनामानि। **व्याख्याप्रज्ञप्त्यो** तु वृद्धिझंझयोः स्थाने चाण्डिक्य भण्डनं च पठितम्, तत्र रौद्राकारकरणं चाण्डिक्यम्, दण्डादिभिर्युद्धं भण्डनम्। **व्याख्याप्रज्ञप्तिवचन** त्वेवम्–'अह भंते कोहे १ कोवे २ रोसे ३ दोसे ४ अखमे ५ सजलणे ६ कलहे ७ चडिक्क भण्डणे विवादे।" इति।

जात्यादिगुणवानहमेवेत्येवं मननम्=अवगमनं मानः। मन्यते वाऽनेनेति मानः, तत्र मानपर्यायनामानि दश। तद्यथा-सर्वदात्मपूजाकाङ्क्षित्वाद् मानः, स्तम्भनात् स्तम्भः, अनम्रतेत्यर्थः, गर्वो जात्यादेः, उत्सेकः ज्ञानादिभिराधिक्ये आत्मनोऽभिमानः दर्पो बलकृतः, मद्यादिमदवदनालापदर्शनान्मदः, परोपहसनप्रायत्वात्स्मयः, उत्कर्षप्रकर्षसमुत्कर्षा अभिमानपर्यायत्वेन रूढाः। आत्मन उत्कर्षः–अहमेव जात्यादिभिरुत्कृष्टो न मत्तः परतरोऽन्योऽस्तीत्यध्यवसायः। यद्वा आत्मनः परेभ्यः सकाशात् गुणैरुत्कृष्टाभिधानम् आत्मोत्कर्षः। परिभवनं परिभवः परावमान इत्यर्थः, उक्तं च **कषायप्राभृतचूर्णौ**––

"माणमददप्पथंभो उक्कासपगास तध समुक्कस्सो। अत्तुक्करिसो परिभव उस्सिद दसलक्खणो माणो ॥१॥" इति।

मानं=हिंसनं वञ्चनमिति माया, यद्वा मीयते=अपरोक्षवत् प्रदर्श्यतेऽनयेति माया, माधातोः "स्थाछामा०" (उणादि ३५७) इत्यनेन यप्रत्ययः, ततः स्त्रीवृत्तौ आप् प्रत्ययः। मायापर्यायशब्दा दश, तथाहि-मीयतेऽनया जन्तोस्तिर्यग्योन्यादिजन्मेति माया, निक्रियते=परः परिभूयतेऽनयेति निकृतिः, यद्वा नितरा करणं निकृतिः, आदरकरणेन परवञ्चनम्, पूर्वकृतमाया-

प्रच्छादनार्थं मायान्तरकरणम् , विप्रलभ्यते यया, सा वञ्चना, दम्भनं दम्भो (कल्कः) चेष्टवच-नाद्यनुमेयः, कूट्यते दह्यतेऽमुना परः परिणामान्तरेणेति कूटम्, तद्रूपपरिणामः, अतिसंधीयते-ऽनेन पर इत्यतिसन्धानम्=अतीवाऽनुप्रविश्य सन्धानमन्तरङ्गताप्रदर्शनं ततो विनाशः । ऋजो-र्भाव आर्जवं तद्विपरीतम्–अनार्जवं कायमनोवक्रता, ग्रहण=मनोज्ञार्थं परकीयमादाय निह्नवनम्, कुहकमसद्भूतमन्त्रतन्त्रोपदेशादिभिर्लोकोपजीवनम् , गूहनं=गोपायनमन्तर्गतदुराशयस्य बहिरा-कारसंवरणम् , यद्वा गहनं परव्यामोहनाय वचनजालम्, मनोज्ञस्यार्थस्य परतो मिथ्याविनया-दिभिः स्वीकाराभिप्रायो मनोज्ञार्थमार्गणम् , छन्नं छद्मप्रयोगः । सातियोगः अविश्रम्भसम्बन्धः सातिशयेन वा द्रव्येण निरतिशयस्य योगस्तत्प्रतिरूपकरणमित्यर्थः । परप्रतारणाय विविध-क्रियाणामाचारः=आचरणम्, आचर्यते अधिगम्यते भक्ष्यते वा परस्तथोपायभूतयेत्याचरणम् । प्रणिधानं प्रणिधिः 'उपसर्गाद् द. कि (सिद्धहेम०५-३-८७) इति सूत्रेण किः प्रत्ययः । बाह्यचेष्टया उपधीयते=गृह्यत इत्युपधिः, चित्तस्याऽन्यथापरिणाम इत्यर्थः । उक्तं च **तत्त्वार्थभाष्यकृ-द्भिः**–"माया प्रणिधि उपधि निकृति आचरण वञ्चना दम्भ कूटम् अतिसन्धानम् अनार्जवमित्यन-र्थान्तरम्' इति । तथैवोक्तं **कषायप्राभृतचूर्णावपि**–"माया य सादिजोगो णियदी वि य वचणा अणुज्जगदा । गहण मणुण्णमग्गणकक्ककुहकगूहणच्छण्णो ।" इति ।

लोभनम्=आकाङ्क्षणं लोभः,लुभ्यतेऽनेन जीव इति लोभः,"भावाकर्त्रोः"(सिद्धहेम०५-३-१८) इत्यनेन सूत्रेण घञ् प्रत्ययः । अथ लोभपर्यायशब्दाः प्रतिपाद्यन्ते–रागः स्नेहो गृद्धिरिच्छाऽभिलाषो मूर्च्छा काङ्क्षा-ऽऽसक्तिः कामो निदानं छन्दः सुतः प्रेयोदोषोऽनुराग आशा शाश्वतः प्रार्थना लालसाऽविरतिस्तृष्णा विद्या जिह्वा । तत्र आत्मनो रञ्जनं रागः । स्नि-ह्यत्यनेनेति स्नेहः पितृपुत्रभार्यादिषु प्रीतिविशेषः, प्राप्तेष्टवस्तुषु गार्ध्यम् अभिरक्षणादि कार्यं गृद्धिः । एषणम् इच्छा । अभिलापस्त्रैलोक्यविषयः । मूर्च्छनं मूर्च्छा परिग्रहसरक्षणानुबन्धः । प्रकर्षप्राप्ता मोहवृद्धिर्भविष्यत्कालोपादानविषया काङ्क्षा । बाह्याभ्यन्तरोपकरणविषयसुखे राग आसक्तिः । कमनं कामः, इष्टदारापत्यादिपरिग्रहाभिलाषः । जन्मान्तरसम्बन्धेन निदीयते=सङ्-कल्प्यत इति निदानम्, परोपभोगसमृद्धिदर्शनात् सङ्क्लिष्टस्यात्मनो जन्मान्तरे कथं नामैवं भोगपरिसम्पन्नता मे स्यादिति । छन्दनं छन्दो मनोऽनुकूलविषयं मनःप्रणिधानम् । सूयते= अभिषिच्यते विविधविषयाभिलाषकलुषसलिलपरिषेकैरिति सुतः । प्रेयश्चासौ दोषश्च प्रेयोदोषः, आह्लादनमात्रत्वनिबन्धनात् परिग्रहाभिलाषस्य, प्रेयत्वे सत्यपि संसारप्रवर्धननिमित्तत्वाद् दोषो-पपत्तेः । इष्टवस्तुन्यनुरञ्जनम् अनुरागः । अविद्यमानस्यार्थस्याशासनमाशा, अथवा मम पुत्रस्य शिष्यस्य वा इदमिदं भूयादित्यादिरूपा आशीः । शश्वद्भवः शाश्वतः 'भवे' (सिद्धहेम०) ६-३-१२३) इति सूत्रेण अण् प्रत्ययः, अस्य शाश्वतता परिग्रहलाभात् प्राक् पश्चाच्चाऽस्योपल-

लम्भेन बोध्या । प्रकर्षेणाऽर्थनं प्रार्थना, परं प्रतीष्टार्थयाञ्चा । लालसनं=आभीक्ष्ण्येन स्पृहणं लालसा । अविरमणमविरतिः, विरमण वा विरतिः, न विद्यते विरतिः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत् यस्य, सोऽविरतिः । तर्पणं तृष्णा विषयपिपासेत्यर्थः । वेदनं विद्या, विद्येव विद्या तदधीनत्वाल्लोभोऽपि तथा व्यवह्रियते । जिह्वे व जिह्वा असन्तोपसाधर्म्यात् तथाव्यपदेशः, उक्तं च कषायप्राभृतचूर्णौ–

"कामो राग णिदाणो छंदो य सुदो य पेज्जदोसो य । णेहाणुराग आसा इच्छामुच्छा य गिद्धी य ॥१॥
सासद पत्थण लालस अविरदि तण्हा य विज्ज जिब्भा य लोभस्स णामवेज्जा वीस एगट्ठिया भणिया॥२॥
इति ।

प्रतिपादिताश्चत्वारः कषायाः । सम्प्रत्येकैकस्य चातुर्विध्यं प्रतिपादयति—

चउहा पत्तेगमणअपच्चक्खाणियरसंजलणभेआ ।
हुन्ति णवणोकसाया हस्सरईअरइसोगभयकुच्छा ॥१०॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'चउहा' इत्यादि, तत्र 'पत्तेगं' ति 'प्रत्येकं' क्रोधमानमायालोभानामेकैकः 'चउहा' त्ति 'चतुर्धा' चतुष्प्रकारो भवति, 'अण०' त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् अनशब्देन अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानशब्देन च अप्रत्याख्यानावरणा ग्राह्याः । ततश्चायमर्थः– अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण-तदितर-सञ्ज्वलनभेदात्=अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदात् । इदमुक्तं भवति–क्रोधकषायश्चतुर्विधः, अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरणः प्रत्याख्यानावरणः सञ्ज्वलनश्चेति, एवं मानमायालोभा अपि वक्तव्याः ।

तत्र अनन्तः=संसारो नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवजन्मजरामरणपरम्परालक्षणः, तं अनुबध्नन्ति= संयोजयन्ति=अविच्छिन्नं कुर्वन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः, उक्तं च—
"संयोजयन्ति यन्नरमनन्तसङ्ख्यैर्भवैः कषायास्ते । संयोजनताऽनन्तानुबन्धिता वाऽप्यतस्तेषाम् ॥१॥" इति ।

यद्वा अनन्तोऽनुबन्ध एषामस्तीत्यनन्तानुबन्धिनः, ते चाऽनन्तानुबन्धिनश्चत्वारः क्रोधो मानो माया लोभश्चेति, सम्यग्दर्शनोपघातिनश्चैते, यतस्तदुदयात्सम्यक्त्वं नोत्पद्यते, पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति ।

ननु चारित्रमोहनीयभेदाख्याने कथमनन्तानुबन्धिन उपदेश युज्यते, सम्यक्त्वप्रतिबन्धित्वेन दर्शनमोहनीयत्वव्यपदेशसम्भवात् ? इति चेत्, उच्यते–अनन्तानुबन्धिनः सम्यग्दर्शनसहभाविक्षमादिस्वरूपोपशमादिचरणलवविबन्धिनः । न चोक्तोपशमादिभिश्चारित्री वक्तव्य इति वाच्यम्, अल्पत्वात् । इदमुक्तं भवति–यथा मनसोऽल्पत्वाद् अमनस्को न सञ्ज्ञी, तथैवाऽल्पोपशमादिभिर्न चारित्री, किन्तु महता मूलगुणादिरूपेण चारित्रेण चारित्री, यत्पुनः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादैः –'पढमिल्लुआण उदए नियमा संजोयणाकसायाण । सम्मद्दंसणलंभं भवसिद्धीया

वि न लहति ।।१।।" इत्युक्तम्, तदनन्तानुबन्धिनां न सम्यक्त्वावारकतया, किन्तु सम्यक्त्वसहभाव्युपशमाद्यावारकतया प्रोक्तम्, अन्यथा-ऽनन्तानुबन्धिनैव सम्यक्त्वस्याऽऽवृतत्वात् किमपरेण मिथ्यात्वेन ? आवृतस्याऽप्यावरणेऽनवस्थाप्रसङ्गः। तस्माद् यथा 'केवलियणाणलंभो नन्नत्थ खए कसायाण' इत्यत्र कषायाणां केवलज्ञानस्याऽनावारकत्वेऽपि कषायक्षयः केवलज्ञानकारणतयाऽभिहितः, तस्मिन्नेव तस्य भावाद्। एवमनन्तानुबन्धिक्षयोपशम एव सम्यक्त्वलाभ उच्यते, तस्मिन् सति तस्य भावाद्, यतो ना-ऽनन्तानुबन्धिपूदितेषु मिथ्यात्वं क्षयोपशममुपयाति, तदभावाच्च न सम्यक्त्वमिति। किञ्चाऽनन्तानुबन्धिनामुदयेऽप्युत्कृष्टतः षडावलिका यावत् सास्वादनगुणस्थानके सम्यक्त्वाऽऽस्वादनं भवत्येव, तस्मादनन्तानुबन्धिनो न सम्यक्त्वाऽऽवारकाः। यत्पुनर्दर्शनमोहनीयं सप्तविधमन्यत्र श्रूयते, तच्च मतं सम्यक्त्वसहचरितत्वेनोपशमादिगुणानां सम्यक्त्वोपचारादिति मन्यामह इत्यलं विस्तरेण।

तथा प्रतिशब्दः प्रतिषेधार्थकः, प्रति=प्रतिषेधस्य आख्यानं=प्रकाशनं प्रत्याख्यानम्, तच्च प्रयोजनाभावे ज्ञात्वा सर्वान् प्राणिनो न हन्मि यावज्जीवमित्यादिरूपम् आचार्यादिसन्निधौ भावतः कथनम्, न ईषत् प्रत्याख्यानम् अप्रत्याख्यानम् अणुव्रतादिरूपा देशविरतिरित्यर्थः। नञ् शब्दोऽत्र ईषदर्थकः, अनुदरा कन्येत्यादिवत्। उक्तं च–

तत्सादृश्यमभावश्च, तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च, नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥ इति।

अप्रत्याख्यानमावृण्वन्तीत्यप्रत्याख्यानावरणाः, ये स्वल्पमपि प्रत्याख्यानमावृण्वन्ति, ते नियमतः सर्वविरतिलक्षणमपि प्रत्याख्यानं आवृण्वन्ति, नास्त्यत्र कश्चित्संदेहः। उक्तं च–**तत्त्वार्थवृत्तौ**–"आवृण्वन्ति प्रत्याख्यानं स्वल्पमपि येन जीवस्य। तेनाऽप्रत्याख्यानावरणास्ते निर्विशेषोक्त्या ॥१॥" इति।

सादृश्यार्थको वा नञ्शब्दः, यथा अब्राह्मणः। प्रत्याख्यानावरणवद्-अप्रत्याख्यानावरणम्, उक्तं च–**तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ**–

"प्रत्याख्यानावरणसदृक्त्वाद्वा तत्तथा भवति सिद्धम्। तत्त्वब्राह्मणवचने तत्सदृशं पुरुष एवेष्ट ॥१॥ इति

किमत्र सादृश्यम् ? इति चेत्, उच्यते–यथा प्रत्याख्यानावरणा विरतिं स्थगयन्ति, तथैवाऽप्रत्याख्यानावरणा अपि। अयं तु विशेषः-अप्रत्याख्यानावरणैर्देशविरतिः सर्वविरतिश्च स्थग्येते, प्रत्याख्यानावरणैस्तु सर्वविरतिरेव केवला स्थग्यते।

केचिदप्रत्याख्याना इति पठन्ति तेषां मते नञर्थः प्रसज्यप्रतिषेधो व्याख्येयः। न विद्यते देशसर्वनिषेधरूपं प्रत्याख्यानं येषामुदये, तेऽप्रत्याख्यानाः प्रसज्यप्रतिषेधस्य निषेधमात्रपरत्वात्, **यदुक्तम्**–"नाल्पमप्युत्सहेद्येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात् अप्रत्याख्यानसञ्ज्ञोऽतो द्वितीयेषु निवेशिता ॥१॥

ते च चत्वारः, अप्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभश्चेति। देशविरतेः प्रतिरोधकाश्च ते, तेषां ह्युदयाद्देशविरतिं न प्रतिपद्यन्ते, पूर्वप्रतिपन्ना अपि प्रतिपतन्ति।

तथा प्रत्याख्यानं=सर्वविरतिलक्षणमावृण्वन्ति, ते प्रत्याख्यानावरणाः, यदुक्तम्-

"सर्वसावद्यविरति प्रत्याख्यानमिहोच्यते। तदावरणसञ्ज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥१॥" इति।

प्रत्याख्यानपरिणामजन्मविघातघातकारित्वात् प्रत्याख्यानावरणाः, न तु सत एव प्रत्याख्यानस्य, अभवसिद्धिकादीना तत्प्रसङ्गात्। इदमुक्तं भवति-कश्चिच्छङ्कते-ननु किमेते-ऽसतः प्रत्याख्यानस्याऽऽवरणाः? उत सत एव प्रत्याख्यानस्य? न तावदेकान्तेनाऽसतः प्रत्याख्यानस्य, खरविषाणस्याऽप्यावरणत्वप्रसङ्गात्, नापि सतः प्रत्याख्यानस्यावरणास्सम्भवन्ति, अभवसिद्धिकादीनामपि प्रत्याख्यानसत्त्वेन विरतिमत्त्वप्रसङ्गादिति। अत्रोच्यते-सतः प्रत्याख्यानस्यावरणा इति द्रव्यार्थिकनयेन, असत इति च पर्यायार्थिकनयेनेत्यभ्युपगम्यते। न चैवमभवसिद्धिकानां प्रत्याख्यानप्रसङ्गः, द्रव्यार्थिकनयेन जीवद्रव्यरूपतया तेषां तत्सद्भावेऽपि पर्यायार्थिकनयेन तत्परिणत्युत्पत्त्यभावात्। अतो यदुदयादात्मा प्रत्याख्यानपर्यायेण न परिणमति, ते प्रत्याख्यानावरणाः, प्रत्याख्यानपरिणतिजन्मविघातकारिणः प्रत्याख्यानावरणा इत्यर्थः। यदुक्तं **विशेषावश्यके**--

"णासतस्सावरणं ण सतोऽभव्वाइविरमणपसगा। पच्चक्खाणावरणा तम्हा तत्सभवावरणा ॥१॥
उदए विरइपरिणई न होइ जेसिं खयाइओ होइ। पच्चक्खाणावरणा त इह जहा केवलावरणं ॥२॥" इति

ते च प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः, प्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभश्चेति। एते सर्वविरतेर्घातकाः, तेषां ह्युदये सर्वविरतिर्न जायते, पूर्वोत्पन्नाऽपि व्यपगच्छति।

सम्=सन्निपाते, संज्वलयन्ति = दीपयन्ति दुःसहपरिषहोपसर्गसन्निपाते सर्वविरतिभाजं मुनिमपीति संज्वलनाः, यद्वा संशब्द ईषदर्थे, संज्वलयन्ति=यत्किंचिदेव स्वल्पमपि दुर्वचनादिकमासाद्योदयं यान्त्युपशाम्यन्ति चेति संज्वलनाः "नन्द्यादिभ्योऽन" (सिद्धहेम० ५-१-५२) इत्यनेन सूत्रेण कर्तर्यनप्रत्ययः, उक्तं च-

"सञ्ज्वलयन्ति यतिं यत् सविग्न सर्वपापविरतमपि। तस्मात् सञ्ज्वलना इत्यप्रशमकरा निरुच्यन्ते।" इति।

यद्वा संयमो ज्वलति येषु सत्सु, ते संज्वलनाः, ते च चत्वारः, संज्वलनः क्रोधो मानो माया लोभश्चेति। एते पुनर्यथाख्यातसंयमस्य घातिनः। उक्तं च—

"मूलगुणाण लभ न लहइ मूलगुणघाइण उदए। सजलणाण उदए न लहइ चरणं अहक्खाय ॥१॥ इति।

इत्थं क्रोधश्चतुर्विधो भवति, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदात्। एवं मानमायालोभा अपि चतुष्प्रकाराः। तत्र चतुर्विधः क्रोधः पर्वत-भूमि-वालुका-जलराजिदृष्टान्तैः परिभाव्यः, मानः शैला-ऽस्थि-दारु-तिनिसलतानिदर्शनैः,माया घनवंशीमूल-मेषविषाण-गोमूत्रिका-ऽवलेखिकोदाहरणैः,लोभश्च कृमि-कर्दम-खञ्जन-हरिद्रारागदृष्टान्तैर्व्याख्येयः। एतदुक्तं भवति-पर्वतः पाषाणपुञ्जः, तदेकदेशोऽप्युपचारात् शिलादिविभागः पर्वत उच्यते। तत्र शिलायां राजिः=रेखा समुत्पद्यते, सा यावच्छिला तिष्ठति, तावदवतिष्ठते, न च तस्याः सन्धानं भवति। एवमनन्तानुबन्धिक्रोधोऽप्युत्पन्न आजीवनमनुवर्तते, कथमपि निवर्तयितुं न शक्यः।

यथा भूमौ उद्धृता रेखा शनैः शनैः कचवरादिभिः पूर्यमाणा वर्षाकालेऽवश्यं पूर्यते, तथाऽप्रत्याख्यानावरणक्रोध उत्पन्नो वर्षस्याभ्यन्तरे प्रशाम्यति ।

यष्ट्यादिभिर्वालुकायां ह्युत्पन्ना रेखा प्रकर्षतश्चतुर्मासाभ्यन्तरे वाय्वीरणादिभिः परिपूर्यते, एवं प्रत्याख्यानावरणक्रोधोऽप्युत्कर्षतोऽन्तर्मासचतुष्कमुपशाम्यति । **तत्त्वार्थभाष्यकृन्मतेन** प्रत्याख्यानावरणक्रोधो जघन्यतोऽहोरात्रमुत्कृष्टतश्च वर्षं यावत् तिष्ठति । अक्षराणि त्वेवम्–"वालुकासदृशो नाम यथा वालुकायां काष्ठशलाकाशर्करादीनामन्यतमेन हेतुना राजिरुत्पन्ना वाय्वीरणाद्यपेक्षया संरोहा अर्वाग् मासस्य संरोहति । एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधोऽहोरात्र पक्ष मास संवत्सर वाऽवतिष्ठते, स वालुकाराजिसदृशो नाम" इति ।

यथा जले यष्ट्यादिभिः समुद्धृता राजिः शीघ्रमेव निवर्तते, तथैव संज्वलनक्रोधोऽपि प्रकर्षतः पाक्षिकप्रतिक्रमणकाल उपशमं गच्छति ।

अथ चतुर्विधो मानो व्याख्यायते–शिलाया विकारः शैलः "विकारे" (सिद्धहेम० ६-२-३०) इति सूत्रेण अण्प्रत्ययः, शैलश्चासौ स्तम्भश्च शैलस्तम्भः, यथा शैलस्तम्भः कथमपि न नमनीयः, तथाऽनन्तानुबन्धिमानोदयेन जीवोऽनमनीयः ।

यथाऽस्थिस्तम्भो बहुतरैरुपायैर्महता कष्टेन नमति, तथा प्रत्याख्यानावरणमानोदयेन जीवः कष्टेन नमति ।

यथा काष्ठस्तम्भोऽग्निस्वेदादिबहूपायैः कष्टेन नमति, तथा प्रत्याख्यानावरणमानोदयेन जीवः कष्टेन नमति ।

यथा तिनिसलतास्तम्भोऽल्पप्रयत्नैः सुखेन नमति, तथैव संज्वलनमानोदयेन जीवः सुखेन नमति । एतेऽनन्तानुबन्धिमाना-ऽप्रत्याख्यानावरणमान-प्रत्याख्यानावरणमान-संज्वलनमाना यथाक्रमं यावज्जीव–संवत्सर–चतुर्मास–पक्षावस्थायिनः ।

अथ चतुर्विधा माया निरूप्यते–यथा घनवंशीमूलमतिकुटिलमृजु कर्तुमग्निना प्रज्वलितमपि ऋजुतां न गच्छति, तथैवाऽनन्तानुबन्धिमायाजनितमनःकुटिलतोपायशतेनाऽपि न निवर्तते । तेन घनवंशीमूलोपमा–ऽनन्तानुबन्धिमाया ।

यथा मेषशृङ्गस्य वक्रता महता कष्टेन निवर्तते, तथैवाऽप्रत्याख्यानावरणमायोत्पन्ना कुटिलताऽतिसुदुःखेनाऽपगच्छति ।

तथा गौर्बलिवर्दः, तस्य मार्गे गच्छतो वक्रतया पतिता मूत्रधारा गोमूत्रिका प्रोच्यते । सा च पवनादिना शोषं गता कष्टेन वक्रतां परित्यजति, एवं प्रत्याख्यानावरणमायाऽपि कष्टेनाऽपगच्छति । तेन गोमूत्रिका सदृशा प्रत्याख्यानावरणमाया सूक्ता ।

तथा वार्धक्या धनुरादीनामुल्लिख्यमानानां याऽवलेखिका वक्रत्वरूपा प्रपतति, सा सुखेन प्राञ्जलीक्रियते, एवं संज्वलनमायोदयोत्थितकुटिलता सुखेनैव निवर्तते । इत्थं अवलेखिकोपमा संज्वलनमाया भवति । इयं चतुर्विधाऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदभिन्ना माया क्रोधवद् यथाक्रमं यावज्जीव-वर्ष-मासचतुष्क-पक्षावस्थायिनी बोध्या ।

अथ लोभो विवर्ण्यते—यथा कृमिरागरक्तं वस्त्रं दग्धमपि रागानुबन्धं न मुञ्चति, तथाऽनन्तानुबन्धिलोभः कथमप्यपनेतुमशक्यः ।

यथा वस्त्रे विलग्नः कर्दमः कष्टतमेनोपायेन निवर्तयितुं शक्यः, तथैवाऽप्रत्याख्यानावरणलोभः कष्टतमोपायेन निवर्तनीयः ।

यथा वस्त्रादौ लग्नं दीपादीनां खञ्जनं कष्टेनापैति, तथैव प्रत्याख्यानावरणलोभोऽपि कष्टेनाऽपगच्छति ।

यथा वस्त्रादौ विलग्नो हरिद्रारागः सूर्यादितापमवाप्य क्षिप्रमपगच्छति, तथा संज्वलनलोभः सुखेन निवर्तते । अयमनन्तानुबन्ध्यादिभेदैश्चतुर्विधो लोभो यथाक्रमं यावज्जीव-संवत्सर-चतुर्मास-पक्षावस्थायी भवति ।

इहाऽनन्तानुबन्ध्यादीनामुत्कर्षतो यावज्जीवादिस्थायित्वं प्रोक्तम्, तत्सर्वमपि व्यवहारनयाश्रितं बोध्यम् । यदुक्तमज्ञानान्धकारभास्करैः **श्रीमद्देवेन्द्रसूरिपादैः**—"यावज्जीवानुगा अनन्तानुबन्धिन, वर्षगा अप्रत्याख्यानावरणा, चतुर्मासगा प्रत्याख्यानावरणा, पक्षगा सञ्ज्वलना । इद च—"फरुसवयणेण दिणतव अहिक्खिवतो य हणइ मासतव । वरिसतव सवमाणो हणइ हणतो य सामण्ण ॥१॥ इत्यादिवद्व्यवहारनयमाश्रित्योच्यते, अन्यथा हि कथ बाहुबलिप्रभृतीना पक्षादिपरतोऽपि सज्वलनाद्यवस्थिति श्रूयते, अन्येषा च सयतादीनामाकर्षादिकाले प्रत्याख्यानावरणानामप्रत्याख्यानावरणानामनन्तानुबन्धिना चान्तर्मुहूर्तादिक कालमुदय श्रूयते इति ।"

अनन्तानुबन्धिनं क्रोधं वा मानं वा मायां वा लोभं वाऽनुसरन् जीवो नरके समुत्पद्यते, अप्रत्याख्यानावरणं क्रोधादीनामन्यतममनुरुध्यमानस्तिर्यक्षूत्पत्तिं लभते । प्रत्याख्यानावरणं क्रोधादीनामन्यतममनुसरन् जीवो मनुष्येषूत्पत्तिं प्राप्नोति । संज्वलनं क्रोधादिष्वन्यतममनुगच्छन् जीवो नियमेन देवत्वेनोत्पद्यते । उक्तं च **श्रीस्थानाङ्गसूत्रे**—'चत्तारि रातीओ पन्नत्ता त जहा-पव्वयराती पुढविराती वालुयराती उदगराती । एवामेव चउव्विहे कोहे पण्णत्ते । त जहा पव्वयरातीसमाणे पुढविरातिसमाणे, वालुयरातीसमाणे उदगरातीसमाणे, पव्वयरातीसमाण कोहमणुप्पविट्ठे जीवे काल करेइ णेरइतेसु उववज्जति, पुढविरातीसमाणे कोहमणुप्पविट्ठे जीवे काल करेइ, तिरिक्खजोणितेसु उववज्जति, वालुयरातिसमाणे कोह अणुप्पविट्ठे जीवे काल करेइ, मणुस्सेसु उववज्जति, उदगरतिसमाण कोहमणुपविट्ठे जीवे काल करेइ, देवेसु उववज्जति ॥

चत्तारि थभा पण्णत्ता, त जहा सेलथभे अट्ठिथभे दारुथभे तिणिसलताथभे । एवामेव चउव्विधे माणे पण्णत्ते । त जहा—सेलथभसमाण जाव तिणिसलताथभसमाणे, सेलथभसमाण माण अणुपविट्ठे जीवे काल करेति नेरतिएसु उववज्जति । एव जाव तिणिसलताथभसमाण माण अणुपविट्ठे जीवे काल करेति देवेसु उववज्जइ ।

चत्तारि केतणा पण्णत्ता, त जहा वसीमूलकेतणते मेढविसाणकेतणए गोमुत्तिकेतणते अवलेहितकेतणते । एवामेव चउव्विहा माया पण्णत्ता, त जहा—वसीमूलकेतणासमाणा जाव अवलेहितासमाणा, वसीमूलकेतणासमाण माय अणुविट्ठे जीवे काल करेति, णेरइएसु उववज्जति, मेढविसाणकेतणासमाण मायमणुप्पविट्ठे जीवे काल करेति, तिरिक्खजोणितेसु उववज्जति, गोमुत्ति० जाव काल करेति मणुस्सेसु उववज्जति, अवलेहणिता जाव देवेसु उववज्जति ।

चत्तारि वत्था पणत्ता, त जहा-किमिरागरत्ते कद्दमरागरत्ते खजणरागरत्ते हलिद्दरागरत्ते । एवामेव चउव्विधे लोभे पण्णत्ते त जहा-किमिरागरत्तवत्थसमाणे कद्दमरागरत्तवत्थसमाणे खजणरागरत्तवत्थसमाणे

हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणे । किमिरागरत्तवत्थसमाण अणुपविट्ठे जीवे काल करेइ, नेरइएसु उववज्जइ । तहेव जाव हलिद्दरागरत्तवत्थसमाण लोभमणुपविट्ठे जीवे काल करेइ, देवेसु उववज्जति ।।" इति ।

इहाऽनन्तानुबन्ध्यादिप्रकृतीनामुदये मृतो नरकगत्यादिषु गच्छतीति यदभिहितम्, तत्सर्वं व्यवहारनयापेक्षया बोध्यम् । यदुक्तं श्रीदेवेन्द्रसूरिपादैः कर्मविपाकवृत्तौ–"अनन्तानुबन्ध्युदये मृतो नरकगतावेव गच्छति, अप्रत्याख्यानावरणोदये मृतस्तिर्यक्षु, प्रत्याख्यानावरणोदये मृतो मनुष्येषु सज्वलनोदये पुनर्मृतोऽमरेष्वेव गच्छति । उक्तश्चायमर्थ पश्चानुपूर्व्याऽन्यत्राऽपि–"पक्खचउमासवच्छरजावज्जीवाणुगामिणो भणिया । देवनरतिरियनारयगइसाहणहेयवो णेया" ।।१।। इति । इदमपि व्यवहारनयमधिकृत्योच्यते, अन्यथा ह्यनन्तानुबन्ध्युदयवतामपि मिथ्यादृशा केषाञ्चिदुपरितनग्रैवेयकेषूत्पत्तिः श्रूयते, प्रत्याख्यानावरणोदयवता देशविरताना देवगति, अप्रत्याख्यानावरणोदयवता च सम्यग्दृष्टिदेवाना मनुष्यगति ।" इति ।

एवं क्रोधादीनामेकैकस्य कषायस्याऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदैश्चातुर्विध्यात् कषायाः षोडश भवन्ति । तद्विपाकवेद्याः कर्मप्रकृतयोऽपि षोडश भवन्ति ।

अथ नवनोकषायान् प्रतिपिपादयिषुराह–'हुन्ति' इत्यादि, भवन्ति 'नव' नवसंख्याका नोकषायाः, के ते ? इत्यत आह–'ह ०' इत्यादि, हास्यादिशब्दतः परस्याः सिविभक्तेर्लोपः प्राकृतत्वात् । 'हास्यः' हसनीयं हास्यः, "ऋवर्णव्यञ्जनान्ताद् घ्यण्" (सिद्धहेम० ५ १-१७) इत्यनेन घ्यण्, यस्योदयात्सनिमित्तं वाऽनिमित्तं वा हसति=स्मयते, तद् हास्यमोहनीयम्, 'रतिः' रमणम् रतिः 'स्त्रिया क्ति' (सिद्धहेम० ५-३ ९१) इत्यनेन भावे क्तिः, यस्योदयात् सचित्तासचित्तेषु बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु सनिमित्तं निर्निमित्तं वा प्रमोदो जायते, तद्रतिमोहनीयम् । 'अरतिः' न रतिः=अरतिः, यस्योदयाद् बाह्याभ्यन्तरेषु सनिमित्तं निर्निमित्तं वाऽप्रीतिर्जायते, तदरतिमोहनीयम् ।

'शोकः' 'शुच शोके' शोचनं शोकः 'भावाकर्त्रो' (सिद्धहेम० ५-३-१८) इत्यनेन भावे घञ् प्रत्ययः, यदुदयात् सनिमित्तं वाऽनिमित्तं वा जीवः परिदेवते, दीर्घं च निःश्वसिति, स्वमस्तकाद्यवयवांश्च हन्ति क्रन्दति, भुवि च लोठति, तच्छोकमोहनीयम् । 'भयं' भीतिर्भयम्, 'युवर्णवृद्दवशरणगमृद्ग्रह' (सिद्धहेम० ५ ३ २८) इत्यनेन भावे अल्प्रत्ययः, यस्योदयात् सनिमित्तं निर्निमित्तं वा जीवस्त्रस्यत्युद्विजते वेपते बिभेति, तद्भयमोहनीयम् ।

'जुगुप्सा' जुगुप्सनं जुगुप्सा, 'शसिप्रत्ययात्' (सिद्धहेम० ५ ३-१०५) इत्यनेन सूत्रेण स्त्रियां भावे अङ्प्रत्ययः । यस्योदयाद् जीवस्य शुभाशुभद्रव्यविषयं व्यलीकं=चित्तस्याऽन्यथात्वं जायते, यद्वा शुभाशुभवस्तुभ्यो जुगुप्सते, तज्जुगुप्सामोहनीयम् । एते षड् नोकषाया हास्यषट्कशब्देनाऽपि व्यवह्रियन्ते ।।१०।।

अथ शेषांस्त्रयान् नोकषायान् आयुषश्च चतुर्भेदान् व्याजिहीर्षुराह—

थी–पुरिस-णपुमवेआ इइ होइ चउत्थमट्ठवीसविहं ।
णिरयतिरिणरसुराउगभेएहि पंचमं चउहा ॥११॥

(प्रे०) 'थी'०इत्यादि, 'स्त्रीपुरुषनपुंवेदाः' वेद्यन्त इति वेदाः, वेदशब्दोऽत्र प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्चायमर्थः-स्त्रीवेदः पुरुषवेदः नपुंसकवेदश्च। तत्र यस्योदयात् स्त्री=योषित् पुरुषमभिलषति पित्तोदये मधुरद्रव्यवत्, स स्त्रीवेदः कारीषदाहोपमः। इदमुक्तं भवति–यथा यथा चाल्यते, तथा तथा कारीषदाहो ज्वलति दहति च बृंहति च, एवमबलाऽपि पुरुषेण यथा यथा संस्पृश्यते, तथा तथाऽस्या अभिलाषोऽधिकोऽधिकतरो जायते, अभुज्यमानायां तु छिन्नकारीषदाहतुल्यो मन्दो जायत इत्यर्थः। यस्योदयात् पुरुषः स्त्री सेवितुमभिलषति, श्लेष्मोदये अम्लाभिलाषवत्, स पुरुषवेदस्तृणदाहसदृशः, यथा तृणानां दाहे ज्वलनं झटिति च विध्यापनं भवति, एवं पुरुषवेदोदये स्त्री प्रत्यभिलाषः संजायते क्षिप्रं च निवर्तते तत्सेवनेन। यस्योदयात् स्त्रीपुरुषयोरुभयोरभिलाष उत्पद्यते, पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवत्, स नपुंसकवेदो महानगरदाहतुल्यः। यथा नगरं दह्यमानं महता कालेन दहति विध्याति च महतैव, तथैव नपुंसकवेदोदये सति स्त्रीपुरुषयोः सेवनं प्रत्यभिलाषातिरेको महताऽपि कालेन न निवर्तते, नापि सेवनेन तृप्तिः, बहुकाले गतेऽस्य प्रशमो जायत इत्यर्थः, 'इति' इतिशब्द एवमर्थे। एवं भवति चतुर्थं=मोहनीय 'अष्टाविंशतिविधम्' अष्टाविंशतिर्विधाः=प्रकारा यस्य, तद्, अष्टाविंशतिप्रकारकमित्यर्थः।

अथाऽऽयुष उत्तरप्रकृतीर्वक्तुकाम आह-'णिरय'० इत्यादि, 'निरयतिर्यङ्नरसुरायुष्कभेदैः' आयुरेव आयुष्कम्, स्वार्थिककप्रत्ययः, इहाऽऽयुष्कशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ततश्चायमर्थः-निरयायुष्कं तिर्यगायुष्कं नरायुष्कं=मनुष्यायुष्कं सुरायुष्कं चेति तानि, तेषां भेदा निरयायुष्क–तिर्यगायुष्क-मनुष्यायुष्क-देवायुष्कभेदाः, तैः। तत्र 'दैवं भाग्यं भागधेयं दिष्टं चाऽयस्तु तच्छुभम्' इति हैमीयवचनात्, निर्गतः अयः=शुभभाग्यं (इष्टफलं) सातवेदनीयादिरूपं येभ्यः, ते निरयाः सीमन्तकादयो नरकवासाः, "तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः" इति न्यायेन तत्र स्थिता जीवा अपि निरयाः, मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत्। तेषामायुः निरयायुः, येन तेष्ववस्थितिर्भवति। तिरोऽञ्चन्ति गच्छन्तीति तिर्यञ्चः, व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यग्गतिनाम, तन्नामोदयवन्तश्चैकेन्द्रियादयस्तिर्यञ्चः, तेषामायुस्तिर्यगायुः, येन तिर्यक्ष्ववस्थानम्। नृणन्ति=निश्चिन्वन्ति वस्तुतत्त्वमिति नराः=मनुष्याः, तेषामायुर्नरायुः, येन तेषु ध्रियन्ते जीवाः। सुष्ठु राजन्त इति सुराः "क्वचित्" (सिद्धहेम० ५-१-१७१) इत्यनेन बहुलाधिकारात् सुपूर्वकात् राजृधातोर्डप्रत्ययः, यद्वा 'सुरत ऐश्वर्यदीप्त्योः' सुरन्ति=विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणकान्त्या सहजशरीरकान्त्या च दीप्यन्ते वेति सुराः, अथवा सुष्ठु रान्ति=ददति प्रणतानामीप्सितमर्थं लवणाधिपसुस्थित इव लवणजलधौ मार्गं जनार्दनस्येति सुरा देवा इत्यर्थः, तेषामायुः सुरायुः, येन तेषु तिष्ठति, निरयायुरादिभेदैः

कतिविधमायुः? इत्यत आह-'**पंचमं**' इत्यादि, 'पञ्चमम्'=आयुः 'चतुर्धा' चतुष्प्रकारकं भवति ॥११॥

क्रमप्राप्तस्य नामकर्मणो द्वेधा उत्तरप्रकृतयः पिण्डप्रकृति–प्रत्येकप्रकृतिभेदात्। अथादौ तावत् पिण्डप्रकृतीर्निरूपयिषुराह—

गइजाइतणुउवंगा बंधणसंघायणाणि संघयणं ।
संठाणवण्णगंधरसफासअणुपुव्विविहयगइ ॥१२॥

(प्रे०) '**गइ०**' इत्यादि, नाम्नः प्रकृतत्वात् सर्वत्र नामेत्युपस्कारः कार्यः, 'गइजाइतणुउवंगा' त्ति प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम् 'गतिजातितनूपाङ्गानि' गतिनाम जातिनाम तनुनाम उपाङ्गनाम चेति, 'बन्धनसंघातने' बन्धननाम संघातननाम, 'संहननं' संहनननाम 'संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शानुपूर्वीविहायोगतयः' संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनामाऽऽनुपूर्वीनाम विहायोगतिनाम चेति। तत्र गम्यते=तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यते या, सा गतिः, 'स्त्रियां क्तिः' (सिद्धहेम० ५-३-१००) इत्यनेन कर्मणि क्तिप्रत्ययः, नारकादिपर्यायपरिणतिरिति यावत्। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिः, सैव नाम *गतिनाम, तच्च चतुर्विधम्, नरकादिभेदात्।

जननं जातिः, एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणामलक्षणं यदेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाक् सामान्यं तज्जातिरिति, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि जातिः, उपचारात्। यदुदयाज्जीव एकेन्द्रियो द्वीन्द्रिय इत्यादि व्यपदिश्यते, तदेकेन्द्रियादिजातिनाम। न चैकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमेकेन्द्रियादिज्ञानावरणक्षयोपशमेन्द्रियपर्याप्तिनामभ्यामेव सेत्स्यति. किमर्थं जातिः कल्प्यत इति वाच्यम्, यत इन्द्रियज्ञानावरणक्षयोपशमो भावेन्द्रियजनने कृतार्थः, केवलज्ञानिनां च तदभावे पञ्चेन्द्रियत्वव्यवहारानुपपत्तिः स्यात्, इन्द्रियपर्याप्तिः पुनर्द्रव्येन्द्रियोत्पादने चरितार्था, विग्रहगतौ च तदभावेनैकेन्द्रियत्वादिव्यपदेशाभावप्रसङ्गः स्यात्। एवमन्यत्र चरितार्थे ज्ञानावरणक्षयोपशमपर्याप्तिनाम्नी कथमयमेकेन्द्रियः, अयं द्वीन्द्रिय इत्याद्येकेन्द्रियादिव्यपदेशं जनयितुमलं भविष्यतः, न ह्यन्यसाध्यं कार्यमन्यः करोति, अतिप्रसङ्गात्। तस्मादेकेन्द्रियादीनां जीवानां समानजातीयजीवान्तरेण सह समाना बाह्या काचित्परिणतिरेकेन्द्रियादिशब्दवाच्या, सा च जातिनामकर्मोदयत एवाभ्युपगन्तव्या। उक्तं च "अव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिरिति"। उक्तं च **तत्त्वार्थवृत्तिकारैरपि** एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रिय इति व्यपदिश्यते। एकेन्द्रियसञ्ज्ञाव्यपदेशनिमित्तं एकेन्द्रियजातिनाम जातिरिति सामान्येन पृथिव्यादिभेदेष्वन्वितत्वात् एकेन्द्रियजातिनामान्तरेणैकेन्द्रियसञ्ज्ञाया अभाव एव स्यात्।' इति। तच्च जातिनाम पञ्चविधम्, एकेन्द्रियादिभेदात्।

तनोति=विस्तारयति जन्तुरात्मप्रदेशान् यस्याम्, सा तनुः, तज्जनकं कर्माऽपि तनुः, सैव नाम तनुनाम, औदारिकादिशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणकारणं यत्कर्म, तच्छरीरनामेति भावः। तच्च

* सर्वार्थसिद्धिकारास्त्वाहु–"यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति, सा गतिः।" इति।

तद्भावनिबन्धनं कर्माऽपि संस्थानम्। तदेव नाम संस्थाननाम। यस्योदयेन बध्यमानपुद्गलेषु संस्थानविशेषो भवति, तत्संस्थाननामेत्यर्थः। तच्च षोढा, समचतुरस्रादिभेदात्।

वर्ण्यते=अलङ्क्रियतेऽनेनेति वर्णः 'भावाकर्त्रोः' (सिद्धहेम० ५ ३ १८) इत्यनेन करणे घञ् प्रत्ययः, तद्धेतुकं कर्माऽपि वर्णनाम, यस्योदयाच्छरीरेषु कृष्णादिवर्णोत्पत्तिर्भवति, तद् वर्णनामेत्यर्थः। तच्च पञ्चविधं कृष्णादिभेदात्।

"गन्धिण् अर्दने" गन्ध्यते=आघ्रायत इति गन्धः, तत्कारणं कर्माऽपि गन्धनाम, यदुदयात् शरीरविषयं सौरभं दुर्गन्धित्वं वोपजायते, तद् गन्धनामेत्यर्थः। तच्च द्विविधं सुरभिदुरभिभेदात्।

'रसण् आस्वादनस्नेहनयो' रस्यते=आस्वाद्यत इति रसः, तज्जनकं कर्माऽपि रसनाम, यदुदयाद् जन्तुशरीरे तिक्तादिरसविशेषः समुत्पद्यते, तद्रसनामेत्यर्थः। तच्च पञ्चविधम्, तिक्तादिभेदात्।

"स्पृशत् संस्पर्शे" स्पृश्यत इति स्पर्शः, तन्निबन्धनं कर्माऽपि स्पर्शनाम, यस्योदयाच्छरीरे कठिनादिः स्पर्शविशेषः प्रजायते, तत् स्पर्शनामेति यावत्। तच्चाष्टविधम्, कठिनादिभेदात्।

पूर्वस्य पश्चाद् अनुपूर्वम् "विभक्तिसमीप०" (सिद्धहेम० ३-१-३९) इत्यनेन सूत्रेणाऽव्ययीभावसमासः, तस्य भाव आनुपूर्व्यम् 'पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्य कर्मणि च (सिद्धहेम० ७-१-६०) इत्यनेन सूत्रेण टयण् प्रत्ययः, टित्वात् "अणञेयेकण०" (सिद्धहेम० २-४-२०) इत्यनेन सूत्रेण ङीप्रत्ययः। कूर्पर-लाङ्गल-गोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वित्रिचतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाटीत्यर्थः। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरप्यानुपूर्वी। इदमुक्तं भवति–परित्यक्तपूर्वशरीरो मनुष्यस्तिर्यग्वा यावत् स्वोत्पत्तिस्थानं न प्राप्नोति, तावदन्तर्गतिरुच्यते, सा च द्विधा ऋजुर्वक्रा च। तत्र यदा ऋज्वा गत्या स्वोत्पत्तिस्थानं गच्छति समयप्रमाणया, तदानुपूर्वीकर्मोदय विनैव पूर्वभवायुर्व्यापारात् स्वोत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति। वक्रगतौ वर्तमानः पुनर्द्वित्रिचतुःसमयमात्रकालेनाऽऽनुपूर्व्या=प्रतिविशिष्टदेशक्रमेणाऽध्वयष्टिवद् यदुदयात् स्वाभिमतोत्पत्तिस्थानमासादयति, तद् आनुपूर्वीनाम वृषभनासिकारज्जुकल्पम्, यत्कर्मोदयादतिशयेन तद्गमनानुगुण्यं स्यात्, तदप्यानुपूर्वीशब्दवाच्यमिति। तच्चात्मनो गत्यन्तरं गच्छत उपग्रहे वर्तते मीनस्येव पयः। आनुपूर्व्या वृषभनासिकारज्जुकल्पाया उदयो विग्रहगतौ उत्तरभवायुषा सह विग्रहगतिप्रथमसमयत एव जायते, विग्रहगत्यभावे च तदुदयो नास्ति।

केचित्सूरिप्रवरास्तु प्राहुः-यदुदयाद् निर्माणनामकर्मणा निर्मापितानां बाहुप्रभृत्यङ्गानामङ्गुल्याद्यङ्गानां रचना निवेशपरिपाटी–उभयतो बाहू कटेरधो जानुनी इत्यादि, अत्रैव स्थाने इदं

विनेष्टव्यमित्येवंरूपा जायते, ❀ तदानुपूर्वीनाम । उक्तं च **तत्त्वार्थभाष्यकारैः**-
"निर्माणनिर्मितानां शरीराङ्गोपाङ्गानां विनिवेशक्रमनियामकमानुपूर्वीनामेत्यपरे ।" इति ।

प्राकृतत्वाद् हकारोत्तराऽऽकारस्य यकारोत्तराकारस्य चाऽकारः, 'विहायोगतिः' तत्र विहायः= आकाशः, तत्र तेन वा गतिः=गमनं विहायोगतिः, तत्कारणत्वात् कर्माऽपि विहायोगतिनाम । नन्वस्तु पक्ष्यादीनां विहायोगतिनामकर्मोदयः, आकाशे गमनदर्शनात्, मनुष्यादीनां तु न संभवति, पक्ष्माद्यभावात् । न चाकाशस्यावगाहनागुणत्वात् सर्वेषां विहायसा गतिः संभवतीति वाच्यम्, तस्य सर्वगतत्वेन ततोऽन्यत्र गमनाभावाद्व्यवच्छेद्याभावेन विहायसेति विशेषणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । अत्र ब्रूमः-मनुष्यादीनामपि विहायस्येव गतिरवगाहनोपकारकत्वात्तस्य । न च व्यर्थविशेषणापत्तिः, यतो विहाय इति पदमपहाय गतिरेवोच्येत, तदा नामकर्मणः प्रथमप्रकृतिरपि गतिरस्तीति पौनरुक्त्याशङ्का स्यात्, तद्व्यवच्छेदार्थं विहायःशब्दो विशेषणत्वेनोपात्तः, विहायसा गतिः, न तु नारकत्वादिपरिणतिरूपेति । विहायोगतिनाम च द्विविधम्, शुभाशुभभेदाद् गजगर्दभयोर्गतिवत् । **तत्त्वार्थवृत्तिकारास्तु** विहायोगतिस्वरूपमित्थं प्रतिपादयन्ति-'विहाय =आकाश, तत्र गति विहायोगति सा द्विधा शुभा च अशुभा च । तत्र प्रशस्ता हंसगजवृषादीनाम्, अप्रशस्ता तूष्ट्रखरशृगालादीनाम् । तत्र लब्धिर्देवत्वोत्पत्त्यविनाभाविनी, शिक्षया ऋद्धि शिक्षर्द्धि तपस्वीनां प्रवचनमधीयानानां विद्याद्यावर्तनप्रभावात् वाऽऽकाशगमनस्य लब्धिशिक्षर्द्धिहेतोर्जनकं विहायोगतिनामेति ।"

सिध्यज्जीवानां पुद्गलानां च गमनं स्वाभाविकम्, न विहायोगतिनामकर्मजन्यम् ॥१२॥

अथ गत्यादीनां प्रकृतीनां संज्ञां संख्याभिधानमष्टौ च प्रत्येकप्रकृतीर्विभणिषुराह—

पिंडपयडित्ति चउदस तह अगुरुलहूवघायपरघाया ।
उस्सासआयवुज्जोअनिमिणतित्थमडपत्तेया ॥१३॥

(प्रे०) '**पिंड०**' इत्यादि, '**पिण्डप्रकृतयः**' अनन्तरोक्तैर्गतिनामादिभिः पदैर्वक्ष्यमाणनरकगत्या-

---

❀(१) **धवलाकारास्तु** विग्रहगता आत्मप्रदेशानां रचनाक्रममानुपूर्वीनाम प्रचक्षते । अक्षराणि त्वेवम् "जस्स कम्मस्सुदएण परिचत्तपुव्वसरीरस्स अ[ग]हिदुउत्तरसरीरस्स जीवपदेसाण रचणा परिवाडी होदि त कम्ममाणुपुव्वीणामं ।

(२) **राजवार्तिककारास्तु** पूर्वशरीरसंस्थानाविनाशकारणमानुपूर्वीनामेत्याहु-"यत्पूर्वशरीराकाराऽविनाशो यस्योदयाद्भवति, तदानुपूर्व्यं नाम । यदा छिन्नायुर्मनुष्यस्तिर्यग् वा पूर्वेण शरीरेण वियुज्यते, तदैव नरकभव प्रत्यभिमुखस्य तस्य पूर्वशरीरसंस्थानानिवृत्तिकारणं विग्रहगतावुदेति, तन्नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् । ननु च तन्निर्माणनामकर्मसाध्य फल नानुपूर्व्यनामोदयकृतम् ? नैष दोष, पूर्वायुरुच्छेदसमकाल एव पूर्वशरीरनिवृत्तौ निर्माणनामोदयो निवर्तते, तस्मिन्निवृत्तेऽष्टविधकर्मतैजसकार्मणशरीरसम्बन्धिन आत्मन पूर्वशरीरसंस्थानाविनाशकारणमानुपूर्व्यनामोदयमुपैति, तस्य कालो विग्रहगतौ जघन्येनैक समय, उत्कर्षेण त्रय समया, ऋजुगतौ तु पूर्वशरीराकारविनाशे सति उत्तरशरीरयोग्यपुद्गलग्रहणान्निर्माणनामकर्मोदयव्यापार ।" इति । याऽत्र निर्माणनामकर्मण उदयनिवृत्तिरुक्ता, सा चिन्त्या, निर्माणकर्मणो ध्रुवोदयत्वात् ।

दीनां चतुरादिभेदानां पिण्डितानां प्रतिपादनात् पिण्डप्रकृतयो व्यपदिश्यन्ते, अनेकाऽवान्तरभेदपिण्डात्मकाः प्रकृतयः पिण्डप्रकृतय इति व्युत्पत्तेः । ताः 'इति' अनेन प्रकारेण=अनन्तरगाथोक्तगत्यादिनामग्रहेण 'चतुर्दश' चतुर्दशसंख्या भवन्ति ।

अथ नाम्नः प्रत्येकप्रकृतीरभिधातुकाम आह–'तह' इत्यादि, 'तथाऽगुरुलघूपघातपराघातानि' नाम्नः प्रकृतत्वाद् नामशब्दः सर्वत्र योज्यः, अगुरुलघुनामोपघातनाम पराघातनाम च । तत्र यस्य कर्मण उदयात् स्वशरीरं शिंशपादिसारवद् गुरु न भवति, नाप्यर्कतुलादिवद् लघु, नापि गुरुलघु, किन्त्वगुरुलघु भवति, अन्योन्यापेक्षया त्रिप्रकारं भवतीत्यर्थः । एकान्तगुरुत्वे हि तस्य वहनाऽसंभवप्रसङ्गः, एकान्तलघुत्वे तु वायुना ह्रियमाणं तद् धारयितुमशक्यं स्यात् , तत्कर्माऽगुरुलघुनाम । यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–अगुरुलहु त्ति ण गुरु णो लहु णो गुरुलहु अगुरुलहु । जस्सोदयाओ अगुरु सव्वेसिं जीवाण अप्पप्पणो शरीरं ण गुरुगं ण लहुगं अगुरुलहुगं । अगुरुलहुग पंचविह पि सरीरं णिच्छयाओ गुरुगं लहुगं गुरुलघु वा ण भवइ, किन्तु अन्नोन्नावेक्खाए तिन्नि वि सम्भवन्ति।" इति । न च तन्नामकर्माभावाद् धर्मास्तिकायादीनां कुतोऽगुरुलघुतेति वाच्यम् , अनादिपारिणामिकागुरुलघुत्वपर्यायस्य तत्रोपलम्भात् । अमुक्तानां जीवानां त्वनादिकर्मनोकर्मसम्बन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम् , तदत्यन्तनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति । षड्गुणवृद्धिहानिव्यवस्थितोऽगुरुलघुपर्यायो धर्मास्तिकायादीनां मुक्तादीनां चाऽन्यत्र विस्तरेण प्रतिपादितः, ततोऽभ्यूह्यः ।

यदुदयात्स्वशरीरावयवैरेव स्वशरीराऽन्तः प्रवर्धमानैः लम्बिकाप्रतिजिह्वाचौरदन्तादिभिरेव जन्तुरुपहन्यते, तदुपघातनाम, यद्वा यस्योदयात् स्वयकृतैर्बन्धनैः पर्वतप्रपातादिभिश्च जन्तुरुपहन्यते, तदुपघातनाम । उक्तं च **श्रीमलयगिरिसूरिपादैः** "स्वयकृतोद्बन्धनभैरवप्रपातादिभिस्तदुपघातनाम ।" इति । **तत्त्वार्थवृत्तिकारास्तु** शरीराङ्गानामुपाङ्गानां च यथोनतानां यस्य कर्मण उदयात् परैरनेकधोपघातः क्रियते, तदुपघातनामेति ब्रुवन्ति । **केचित्प्रवचनसूरयः** प्राहु-यस्योदयो जीवस्य पराक्रममुपहन्ति, समर्थवपुषोऽपि निर्वीर्यतामापादयति जीवविजयं चोपहन्ति, विजितेऽप्यन्यस्मिन् नैव विजित इत्यादिव्यपदेशहेतुतां प्रतिपद्यते, तदुपघातनाम । उक्तं च-**तत्त्वार्थभाष्ये**–'स्वपराक्रमविजयाद्युपघातजनकं वा'' ।इति ।

यस्योदयादोजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन नृपादिसभायामभिगतः सभ्यानामपि त्रासमुत्पादयति परेषां वा प्रतिभाघातं करोति, तत्पराघातनाम । अन्ये तु यस्योदयाद् जीवः परमुपहन्ति *तत् पराघातनाम । यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–'जस्सोदयाओ जीवो अणेगहा परं हणइ' । इति ।

'उस्सास०'इत्यादि, 'उच्छ्वासातपोद्योतनिर्माणतीर्थम्' समाहारद्वन्द्वनिर्देशः, उच्छ्वासनामा

* राजवार्तिककारास्तु "फलाद्यावरणसन्निधानेऽपि यदुदयात् परप्रयुक्तशस्त्राद्याघातो भवति, तत्पराघातनाम" इति पठन्ति ।

ऽऽतपनामोद्योतनाम निर्माणनाम, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् तीर्थंकरनाम । तत्र उच्छ्वसनम्=उच्छ्वासः, यदुदयाद् आत्मन उच्छ्वासलब्धिः प्राणापानपुद्गलादानसामर्थ्यरूपा संजायते, तदुच्छ्वासनाम, यदुक्तं **तत्त्वार्थभाष्यकारैः**-"प्राणापानपुद्गलग्रहणसामर्थ्यजनकमुच्छ्वासनाम ।" इति । न च लब्धीनां क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकभावानामन्यतमत्वाद् औदारिकलब्धिर्न संभवतीति वाच्यम् , वैक्रियोच्छ्वासादिलब्धीनामौदयिकत्वसंभवात् , औदयिकत्वे सत्यपि वीर्यान्तरायक्षयोपशमस्याऽत्रापि निमित्तत्वेन क्षायोपशमिकत्वव्यपदेशस्याप्यविरुद्धत्वात् ।

आतपतीति आतपः, 'लिहादिभ्य' (सिद्धहेम० ५-१-५०) इत्यनेन कर्तरि अच्प्रत्ययः, आतप्यते वाऽनेनेति आतपः 'पुं नाम्नि घः' (सिद्धहेम० ५-३-१३०) इत्यनेन घप्रत्ययः । यदुदयवशाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यप्युष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति, तदातपनाम, सहस्रांशुमण्डलपृथ्वीकायेष्वेवा-ऽऽतपविपाकः, न पुनर्वह्नौ, तत्र ह्युष्णत्वमुष्णस्पर्शोदयाद् लोहितवर्णोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति न तत्राऽऽतपोदयजनितमुष्णप्रकाशवत्त्वमस्ति । यत्र पुनः स्वरूपेणानुष्णानि शरीराण्युष्णप्रकाशवन्ति भवन्ति, तत्रैव भानुमण्डलगतभूकायिकेष्वातपोदयः स्वीक्रियते । उक्तं च **बृहत्कर्मविपाके**-

"जस्सुदएणं जीवे होइ सरीरं तु ताविलं इत्थ । सो आयवे विवागो, जह रविबिम्बे वियाणाण ॥१॥
ण भवइ तेयसरीरे जेण उ तेअस्स उसिणफासस्स । होइ हु उदओ णियमा जह लोहियवण्णनामस्स ॥२॥"

इति । उद्योतनम्=उद्योतः, अथवोद्द्योतते येन, स उद्योतः । यद्विपाकेन जीवशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्ति, यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियचन्द्रग्रहनक्षत्रतारकविमानरत्नौषधयः, तदुद्योतनाम, देवानां भवधारणीयशरीरस्य तु प्रकाशकत्वं नोद्योतनामकर्मोदयजनितम्, किन्तु वर्णनामोदयजनितम् । यदुक्तं **श्रीमुनिचन्द्रसूरिपादैः**"तत्र भवधारणीये अत एव वचनात् नास्ति उद्योतनामकर्मोदयः । किन्तु तेषु यः प्रकाशः, स वर्णनामजनितशरीरकृष्णादिवर्णप्रकर्षप्रभवो यथा तीर्थङ्कराणां भामण्डलरूपप्रकाशः ।" इति । निर्मीयतेऽनेनेति निर्माणम् , "करणाधारे" सिद्धहेम० ५-३-१२९) इति सूत्रेण करणेऽनट्प्रत्ययः, यदुदयः सर्वजात्यनुसारेणाऽङ्गप्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवृत्तितां व्यवस्थापयति, तद् △ निर्माणनाम कलाकुशलसूत्रधारकल्पम्, तदभावे तद्भृतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामादिभिर्निर्वर्तितानामपि शिरादशनप्रभृतीनां स्थानवृत्तेर्नियमो न स्यादित्यर्थः ।

यदुदयवशादष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखश्रीयुताश्चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता भवन्ति, सुरासुरनरेन्द्रैश्च पूजिता भवन्ति, तथा दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं श्रमणादिचतुर्विधसंघस्वरूपं प्रवचनरूपं वा तीर्थं प्रवर्तयन्ति यतिधर्मं गृहस्थधर्मं चोपदिशन्ति, 卐 तत्तीर्थंकरनाम ।

△ राजवार्तिककारास्त्वाहुः-"अङ्गोपाङ्गानां यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणमिति विज्ञायते । तद् द्विविधम् स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति । जातिनामकर्मोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयति ।" इति ।

卐 राजवार्तिककारा आक्षेपपरिहारपूर्वकमेतदाहुः-"गणधरत्वादीनामुपसंख्यानमिति चेत् , न, अन्यनिमित्तत्वात् । यथा तीर्थकरत्वनामकर्मोच्यते, तथा गणधरत्वादीनामुपसंख्यानं कर्तव्यम् , गणधर-चक्र-
• अ

अथ प्रत्येकप्रकृतीनां संख्यां दर्शयति–'अट्ठ पत्तेया' त्ति 'अष्टौ प्रत्येकाः' अगुरुलघुप्रभृतयोऽष्टौ=अष्टसंख्याः प्रत्येकप्रकृतयो भवन्ति, पिण्डप्रकृतिवदन्यभेदाभावात् ॥१३॥

प्रत्येकप्रकृतयो द्विधाः, सप्रतिपक्षा अप्रतिपक्षाश्चेति । तत्राऽप्रतिपक्षा अगुरुलघ्वादयः प्रोक्ताः, सम्प्रति सप्रतिपक्षास्त्रसस्थावरादीः प्रकृतीरभिधातुकाम आदौ त्रसादीर्दशप्रकृतीराह—

तसबायरपज्जत्तं पत्तेअथिरं सुहं च सुभगं च ।
सुस्सरआइज्जाणि य जसकित्ती होइ तसदसग ॥१४॥

(प्रे०) 'तस०'इत्यादि, त्रसबादरपर्याप्तम्' त्रसादयः कृतसमाहारद्वन्द्वसमासाः प्रथमया निर्दिष्टाः, प्रक्रमाद् नामशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम च, 'प्रत्येकस्थिरं' प्रत्येकनाम स्थिरनाम च 'शुभं' शुभनाम च 'सुभग' सुभगनाम च 'सुस्वरादेये' सुस्वरनामाऽऽदेयनाम च 'यशःकीर्त्तिः' यशःकीर्त्तिनाम 'होइ' इत्यादि. इत्येवं 'त्रसदशकं' नामोपलक्षितं प्रकृतिदशकं त्रसदशकं भवति=त्रसदशकमिति व्यवह्रियते । भावार्थः पुनरयम्-त्रस्यन्ति=उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः"लिहादिभ्य" (सिद्धहेम० ५-१-५०) इत्यनेन सूत्रेण कर्तरि अच्प्रत्ययः। तद्विपाकवेद्यं कर्माऽपि त्रसनाम, यस्योदयाज्जीवा गमनं विदधते, तत् त्रसनामेत्यर्थः। गतिर्हि द्विधा भवति, कर्मण उदयात् स्वभावाच्च। तत्र द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजीवानां त्रसनामकर्मोदयप्रयुक्ता गतिः, परमाणुतेजोवायूनां तु स्वाभाविकी। अथ त्रसनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियादयस्त्रसा उच्यन्ते, उक्तं च विपाके "बितिचउपणिंदिय तसा ।" इति। तत्र शङ्ख-चन्दनक-कपर्द-जलूका-कृमि-गण्डोल-पूतरकादयो द्वीन्द्रियाः स्पर्शरसनलक्षणेन्द्रियद्वयवत्त्वात् । युका-मत्कुण-गर्दभेन्द्रगोपक-कुन्थु-मत्कोटकादयस्त्रीन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणरूपेन्द्रियत्रयवत्त्वात् । मक्षिका-भ्रमर-मशक-वृश्चिकादयश्चतुरिन्द्रियाः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणेन्द्रियचतुष्टयवत्त्वात् । मत्स्य-मकर-हरि-हरिण-सारस-राजहंस-नर-सुर-नारकादयः पञ्चेन्द्रियाः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणेन्द्रियपञ्चकवत्त्वात् ।

यस्य कर्मण उदये जीवा बादराः=स्थूलशरीरा भवन्ति तद् बादरनामकर्म । नाऽत्र चक्षुर्ग्राह्यत्वापेक्षया बादरत्वमभिधीयते, एकैकस्य बादरपृथ्वीकायादिशरीरस्यापि चक्षुर्ग्राह्यत्वायोगात् , किन्तु बादरपरिणामवत्त्वाद् बादरत्वम् , ततो बहूनां समुदायश्चक्षुर्गोचरीभवति, न तु सूक्ष्मवत् सर्वथैव चक्षुरगोचरः ।

धर-वसुदेवबलदेवा अपि विशिष्टर्द्धियुक्ता इति चेत् , तन्न, किं कारणम् ? अन्यनिमित्तत्वात् । गणधरत्वं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षनिमित्तम् , चक्रधरत्वादीनि उच्चैर्गोत्रविशेषहेतुकानि । तदेव तीर्थकरत्वस्यापि निमित्तं भवतु किं तीर्थकरत्वनाम्नेति ? तन्न, किं कारणम् तीर्थप्रवर्तनफलत्वात् । तीर्थप्रवर्तनफलं हि तीर्थकरनामेष्यते, न चोच्चैर्गोत्रोदयात् तदवाप्यते, चक्रधरादीनां तदभावात् ।" इति ।

पर्याप्तयो विद्यन्ते येषाम्, ते पर्याप्ताः "अभ्रादिभ्य" (सिद्धहेम० ७-२-४६) इत्यनेन सूत्रेण अप्रत्ययः। तद्विपाकवेद्यं कर्माऽपि पर्याप्तनाम। ननु का नाम पर्याप्तिरिति चेत्? उच्यते-पर्याप्तिर्नामपुद्गलप्रचयज आहारादिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुः शक्तिविशेषः। सा च षोढा, आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिरुच्छ्वासपर्याप्तिर्भाषापर्याप्तिर्मनःपर्याप्तिश्चेति।

तत्र यया शक्त्या शरीरनामकर्मोदयाद् बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति, साऽऽहारपर्याप्तिः। यया रसीभूतमाहाररसासृग्मांसमेदाऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति, सा शरीरपर्याप्तिः। धातुत्वेन परिणतमाहारं यया शक्त्येन्द्रियरूपतया परिणमयति, सेन्द्रियपर्याप्तिः। यया पुनरुच्छ्वा योग्यान् पुद्गलानादायोच्छ्वासत्वेन परिणमय्याऽवलम्ब्य च मुञ्चति, सोच्छ्वासपर्याप्तिः। यया शक्त्या वचोयोग्यपुद्गलान् गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्यावलम्ब्य च मुञ्चति, सा भाषापर्याप्तिः। यया पुनर्मनःप्रायोग्यपुद्गलानादाय मनस्त्वेन परिणमय्यावलम्ब्य च मुञ्चति, सा :पर्याप्तिः। पर्या ामकर्मोदयाज्जीवा प्रोक्तपर्याप्तीर्निर्वर्तयन्ति, यदुक्तमाराध्यपादैः **शतकचूर्णिकारैः**-"पज्जत्ती णाम सत्तिविसेसो, सो य दलओवचयाओ उप्पज्जइ। आहारियस्स दव्वस्स खलरसपरिणाम‌णसत्ती आहारपज्जत्ती, सत्तधातुतया रसस्स परिणामणसत्ती सरीरपज्जती। इन्दियपज्जत्ती पञ्चण्हमिन्दियाण जोग्गे पोग्गले विचिणिय तब्भावणयणसत्ती अत्थाववोहसत्ती य इन्दियपज्जत्ती। बाहिरे आणापाणजोग्गे पोग्गले घेत्तूण आणापाणाए परिणामित्ता ऊसासनीसासत्ताए निस्सरणसत्ती आणापाणपज्जत्ती। वइजोगे पोग्गले घित्तूण भासत्ताए परिणामित्ता वइजोगत्ताए णिस्सरणसत्ती भासापज्जत्ती, मणोजोगे पोग्गले घित्तूण मणत्ताए परिणामित्ता मणजोगत्ताए णिस्सरणसत्ती मणपज्जत्ती। एयाओ पज्जत्तीओ पज्जत्तगनामकम्मोदएण णिव्वत्तिज्जन्ति, त जेसिं अत्थि ते पज्जत्तगा" इति। एव **श्रीनन्दिसूत्र-प्रज्ञापना** प्रभृतिग्रन्थे पि टीकाकारमहर्षिभिरुक्तम्। **तत्त्वार्थवृत्ति** रास्त्वाहारादिग्रहणसामर्थ्यविशिष्टान् पुद्गलान् पर्याप्तिं कथयन्ति। इदमत्र हृदयम्-पर्याप्तिः=करणशक्तिविशेषः स च दलिकोपचयादुत्पद्यते, कारणे कार्योपचाराच्च तद्दलिकमपि पर्याप्तिरुच्यते। यथा दात्रेण लुनातीत्यत्र ेतुर्दात्रजन्यशक्ति विशेषस्य साधकतमत्वेन करणत्वेऽपि कारणे कार्योपचाराद् दात्रस्य करणत्वं प्रसिद्धम्, तथैवेहाऽपीत्यर्थः। **श्वतत्त्वार्थ त्रवृत्तौ**- पर्याप्तिः पुद्गलरूपाऽऽत्मनः कर्तु करणविशेष, येन करणविशेषेणाहारादिग्रहणसामर्थ्यमात्मनो निष्पद्यते, तच्च करणं यै पुद्गलैर्निर्वर्त्यते, ते पुद्गला आत्मनाऽऽत्तास्तथाविधपरिणतिभाज, पर्याप्तिशब्देनोच्यन्ते। सामान्येनोदिष्टा पर्याप्ति नामग्राह विशेषेण निर्दिदिक्षन्नाह-तद्यथेत्यादि। आहारग्रहणसमर्थकरणपरिनिष्पत्तिराहारपर्याप्ति, शरीरकरणनिष्पत्ति शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियकरणनिष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्ति, प्राणापानौ=उच्छ्वासनिःश्वासौ तद्योग्यकरणनिष्पत्ति प्राणापानपर्याप्ति। भाषायोग्यपुद्गलग्रहणविसर्गसमर्थकरणनिष्पत्तिर्भाषापर्याप्ति। यथोक्तम्-'आहारकसरीरेन्दियऊसासवओमणोऽहिनिव्वित्ती। होइ जओ दलियाओ करण एसा उ पज्जत्ती॥१॥" इति शब्द इयत्ताप्रतिपादनार्थं। ननु च षट्पर्याप्तय पारमर्षवचनप्रसिद्धा, कथ सख्याका इति? उच्यते-इन्द्रियपर्याप्तिग्रहणादिह मन पर्याप्तेरपि ग्रहणमवसेयम्।" इति। एता षडपि पर्याप्तय उत्पत्तिदेशप्राप्तिप्रथमसमय एव युगपत् प्रारभ्यन्ते, निष्ठां तु क्रमेण यान्ति, न तु समकम्, उत्तरोत्तरस्याः

पर्याप्तेः सूक्ष्मतरत्वेन बहुतरकालत्वात् । तथाहि—आहारपर्याप्तितः शरीरपर्याप्तिः सूक्ष्मा, तत इन्द्रियपर्याप्तिः सूक्ष्मतरा, ततः प्राणापानपर्याप्तिः, ततो भाषापर्याप्तिः, ततोऽपि मनःपर्याप्तिः, सूक्ष्म-सूक्ष्मतराणां च निष्पादने कालो बहुबहुतरो गच्छतीति न्याय्यमेव, यथा स्थूलकर्तिका-सूक्ष्मकर्तिकयोः सूक्ष्मकर्तिका स्थूलकर्तिकातश्चिरेण कालेन कुक्कुटकं परिसमापयति ।

न च शरीरपर्याप्त्यैव शरीरं भविष्यति, किमर्थं शरीरनामकर्म पृथगभिहितमिति वाच्यम्, साध्यभेदात् । तथाहि—शरीरनामकर्मोदयेनौदारिकादिशरीरपुद्गला गृह्यन्ते, शरीरपर्याप्त्या तु गृहीतपुद्गला औदारिकादिशरीरत्वेन परिणम्यन्त इति कार्यवैलक्षण्यात् कारणवैलक्षण्यं प्रतिपत्तव्यम् । एवमुच्छ्वासपर्याप्तेरुच्छ्वासनामकर्मणोऽपि भेदो द्रष्टव्यः । तथाहि—उच्छ्वासनामकर्मोदयेन सतीमप्युच्छ्वासलब्धिमात्मशक्तिविशेषरूपामुच्छ्वासपर्याप्तिमन्तरेण व्यापारयितुं न शक्नुयात् △ । यदुक्तं **लोकप्रकाशे**—

"एवमुच्छ्वासलब्धिः स्यात् साध्या तन्नामकर्मणा । साध्यमुच्छ्वासपर्याप्तेस्तस्या व्यापारणं पुनः ॥१॥
सतीमप्युच्छ्वासलब्धिमुच्छ्वासनामकर्मजाम् । व्यापारयितुमीशः स्यात् तत्पर्याप्त्यैव नान्यथा॥२॥" इति ।

इदमेव भङ्ग्यन्तरेण न्यगादि कलिकालतमोदिवाकरैः **श्रीमदाचार्यहरिभद्रसूरीश्वरपादैः श्रावकप्रज्ञप्तौ**—' उच्छ्वासनाम यदुदयादुच्छ्वासनिःश्वासौ भवतः । आह—यद्येवं पर्याप्तिनाम्नः क्वोपयोग इति उच्यते—पर्याप्तिः=करणशक्तिः उच्छ्वासनामवत एव तन्निवृत्तौ सहकारिकारणम् इषुक्षेपणशक्तिमतो धनुर्ग्रहणशक्तिवत् ।" इति ।

तत्रैकेन्द्रियाणामाहार-शरीरेन्द्रियोच्छ्वासरूपाश्चतस्रो द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामाहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषालक्षणाः पञ्च, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च षट् पर्याप्तयो भवन्ति । तत्र च वैक्रियशरीरिणामेकैव शरीरपर्याप्तिरान्तर्मौहूर्तिकी, शेषास्तु पञ्चाऽप्येकसामयिक्यः । इदमुक्तं भवति—वैक्रियशरीरिणो जीवा आहारपर्याप्तिमेकेन समयेन निर्वर्तयन्ति, ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा शरीरपर्याप्तिं निष्पादयन्ति, तत एकं समयं गत्वेन्द्रियपर्याप्तिं निर्वर्तयन्ति, ततोऽप्येकं समयं व्यतिक्रम्योच्छ्वासपर्याप्तिं निष्ठापयन्ति. एवमग्रेऽप्येकैकसमयवृद्ध्योत्तरोत्तरपर्याप्तिं निष्ठापयन्ति । नवरं देवाश्चरमपर्याप्तिद्वयं युगपन्निष्ठापयन्ति। औदारिकशरीरिणां पुनरेकाऽऽहारपर्याप्तिरेकसामयिकी, शेषास्त्वान्तर्मौहूर्तिक्यः । तथाहि—आहारपर्याप्त्याऽपर्याप्ता जीवा विग्रहगता एव वर्तन्ते, उत्पत्तिदेशं च प्राप्ताः प्रथमसमय एवाऽऽहारकत्वादाहारपर्याप्तिं निष्पादयन्ति तेनाहारपर्याप्तिरेकसामयिकी卐। ततोऽन्तर्मुहूर्तं गत्वा शरीरपर्याप्तिं निष्पादयन्ति, ततोऽन्तर्मुहूर्तं व्यतिक्रम्येन्द्रियपर्याप्तिम्, ततोऽन्तर्मुहूर्तमतीत्योच्छ्वासपर्याप्तिम् ततोऽन्तर्मुहूर्तमतीत्य भाषापर्याप्तिम्, ततोऽन्तर्मुहूर्तं व्रजित्वा मनःपर्याप्ति

△तर ... तिककारास्तु 'शीतोष्णसबन्धजनितदुःखस्य पञ्चेन्द्रियस्य यावुच्छ्वासनिःश्वासौ दीर्घनादौ श्रोत्रस्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षौ तावुच्छ्वासनामोदयजौ यौ तु प्राणापानपर्याप्तिनामोदयकृतौ, तौ सर्वसंसारिणां श्रोत्रस्पर्शानुपलभ्यत्वादतीन्द्रियौ ।'' इत्याहुः । तच्चिन्त्यम् उच्छ्वासनामकर्मोदयस्यैकेन्द्रियाणामपि सत्त्वात् ।

卐धवलाकारैस्तु शरीरोपादानप्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेनाहारपर्याप्तिर्निष्पद्यत इत्याहुः ।

समापयन्ति । उक्तं च
"वेउव्विय पज्जत्ती सरीर अतमुहु सेस इगसमया । आहारे इगसमया सेसा अतमुहु ओराले ॥१॥" इति ।

पर्याप्तनामकर्मोदयाज्जीवाः स्वपर्याप्तियुक्ता भवन्ति । पर्याप्तास्तु द्विधा, लब्धिकरणभेदात् । तत्र ये स्वप्रायोग्यपर्याप्तीर्निर्वर्त्य म्रियन्ते, नार्वाक्, ते लब्धिपर्याप्ताः, यैः पुनः शरीरेन्द्रियादीनि करणानि निर्वर्तितानि, ते करणपर्याप्ताः ।

यदुदयवशादेकैकजीवः प्रत्येकं शरीरमौदारिकरूपं वा वैक्रियलक्षणं वा पृथक् पृथग् निर्वर्तयति, तत् प्रत्येकशरीरनाम, यथा प्रत्येकवनस्पतिकायिकजीवः प्रत्येकशरीरनामकर्मोदयेन मूलस्कन्धत्वक्शाखापत्रपुष्पफलादिषु पृथक् शरीरं निर्वर्तयति। ननु पीलुप्रभृतीनां वृक्षाणां मूलकन्दत्वक्शाखादयः प्रत्येकमसङ्ख्येयजीवाः प्रवचने भणिताः, यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे-"जे यावण्णे तहप्पगारा०, एएसि णं मूलावि असंखेज्जजीविया कंदावि खंधावि तयावि सालावि पवालावि पत्ता पत्तेयजीविया पुप्फा अणेगजीविया फला एगट्ठिया.सेत्तं एगट्ठिया ।' इति । मूलादयश्च देवदत्तादिशरीरवद्-खण्डैकशरीराकारा उपलभ्यन्त इति कथं तेषां प्रत्येकशरीरत्वम्? इति चेत्, उच्यते-मूलादिष्वसंख्येयानामपि जीवानां शरीरसङ्घाताः पृथक्पृथक्स्वस्वावगाहना भवन्ति, यथा तिलपर्पटिकादौ श्लेषद्रव्यमिश्रितास्तिलाः । इह श्लेषद्रव्यस्थानीयं रागद्वेषोपचिततथाविधप्रत्येकनामकर्म, तदुदयाच्च ते परस्पराविमिश्रितशरीराः संभवन्ति ।

यदुदयात् शिरोऽस्थिदन्तादीनां शरीरावयवानां स्थिरता भवति, तत् * स्थिरनाम ।

यदुदयान्नाभेरुपरितनाः शिरःप्रभृतयोऽवयवाः शुभा भवन्ति, Δ तच्छुभनाम, शिरःप्रभृतिभिर्हि स्पृष्टः परो हृष्यतीति तेषां शुभत्वम् ।

यस्योदयादनुपकृदपि सर्वजनस्य प्रियो भवति, तत्सुभगनाम । उक्तं च 'अणुवकए वि बहूणं होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ त्ति ।' यत्तु तीर्थकरोऽप्यभव्यानां द्वेष्यो भवतीति,तत्र न तीर्थकरगतदुर्भगत्वं निमित्तम्, किन्तु तद्गतमिथ्यात्वदोष एव ॥

यस्योदयेन जीवस्य स्वर आकर्णयितुः श्रोत्रप्रीतिहेतुर्भवति कोकिलसुस्वरवत्, तत्सुस्वरनाम।

यस्योदयाद् यत्तद् ब्रुवाणस्यापि वचनमुपादेयतामापादयति, दर्शनसमनन्तरमेव जनास्तस्याभ्युत्थानादिकं समाचरन्ति, तदादेयनाम ।

अथवा आदेयता=श्रद्धेयता शरीरगुणलक्षणा यस्योदयाद्भवति, तद् आदेयनाम ★ । यदुक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ- 'अथवा आदेयता=श्रद्धेयता दर्शनादेव यस्य भवति, स च शरीरगुणो यस्य विपाकाद् भवति, तदादेयनाम" इति ।

यदुदयवशाद् लोके जीवस्य यशःकीर्तिर्भवति, तद्यशःकीर्त्तिनाम । तत्र सामान्यतस्तपस्त्या

* 'यदुदयात् दुष्करोपवासादितपस्करणेऽपि अङ्गोपाङ्गाना स्थिरत्व जायते' इति वदन्ति राजवार्तिककारा ।
Δ "यदुदयात् दृष्ट' श्रुतो वा रमणीयो भवत्यात्मा तच्छुभनाम" इति मन्यन्ते राजवार्तिककारा ।
★ यस्योदयात् प्रभोपेतशरीर दृष्टेष्टमुपजायते तदादेयनाम ।" इत्यमाणि राजवार्तिककारैरपि ।

गशौर्यादिना समुपार्जितेन यशसा कीर्तनं=संशब्दनं=श्लाघनं यशःकीर्त्तिरुच्यते, यद्वा यशः=सामान्येन ख्यातिः=गुणोत्कीर्तनरूपा प्रशंसा, अथवा सर्वदिग्गामुकं यशः, एकदिग्गामिनी कीर्त्तिः, यद्वा दानपुण्यप्रभवा कीर्त्तिः, पराक्रमकृतं यशः, यशश्च कीत्तिश्च यशःकीर्त्ती, ते यदुदयाद्भवतः, तद्यशःकीर्त्तिनाम ॥१४॥

सम्प्रति त्रसादिप्रतिपक्षप्रकृतिदशकमाह—

थावरदसगं थावरसुहुमअपज्जत्तगाणि साहारं ।
अथिरअसुहदुभगाणि य दुस्सरऽणाइज्जअजसं ति ॥१५॥

(प्रे०) '**थावर०**' इत्यादि, 'स्थावरदशक' स्थावरोपलक्षितं त्रसदशकस्य विपक्षभूतं दशकं =प्रकृतिदशकमिति स्थावरदशकं। ननु कास्ता दशप्रकृतयः ? इत्यतः प्राह—'**थावर०**' इत्यादि, स्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तकानि' नामशब्दस्येहापि सम्बन्धात् स्थावरनाम सूक्ष्मनामा-ऽपर्याप्तनाम-च 'साधारणं' साधारणनाम 'अस्थिराशुभदुर्भगानि च' अस्थिरनामाऽशुभनाम दुर्भगनाम च-'दुःस्वरानादेयायशः' समाहारद्वन्द्वनिर्देशः, दुःस्वरनामाऽनादेयनाम अयशः=अयशःकीर्त्तिनाम च, इतिशब्द इयत्ताऽवधारणार्थकः । इदमत्र विस्तरव्याख्यानम्—तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः, उष्णादिसंतापेऽपि तत्परिहारा-ऽसमर्था इति स्थावराः 'स्थेशभासपिसकसो वर' (सिद्धहेम०५-२-८२) इत्यनेन कर्तरि वरप्रत्ययः, ते च पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजःकायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः, तद्विपाकवेद्यं कर्माऽपि स्थावरनाम । न च तेजःकायिक-वायुकायिकानां गतिरप्यस्ति, तत्रोक्तव्युत्पत्त्यर्थो न घटत इति वाच्यम् , तेषां गतेः स्वाभाविकत्वात् , न ह्युष्णाद्यभितप्तास्ते स्वप्रयत्नेन छाया गच्छन्ति ।

यस्य कर्मण उदयात् केषाञ्चित् पृथिवीकायादीनां शरीरं सूक्ष्मम्=अदृश्यं नियतमेव भवति, बहूनामपि समुदितानां जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति, तत् सूक्ष्मनाम, यद्वा यदुदयात् पृथिव्यादीनां शरीरं तथा भवति, यथा स्वशरीरमन्यजीवानामुपग्रहस्योपघातस्य च हेतुर्न भवति, तत् सूक्ष्मनाम ।

यस्योदयात्स्वप्रायोग्यपर्याप्तिमपरिसमाप्यैव म्रियन्ते, तद् अपर्याप्तनाम, पर्याप्तयो विद्यन्ते येषाम् , ते पर्याप्ताः, न पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तन्निमित्तं कर्माऽपर्याप्तनामेत्यर्थः, अपर्याप्ता अपि जीवा आहारशरीरेन्द्रियलक्षणपर्याप्तित्रयं परिसमाप्यैव म्रियन्ते, अपरिसमाप्तपर्याप्तित्रिकाणां पारभविकायुर्बन्धाभावेन मरणाभावात्। अन्ये तु यस्योदयाद् अपर्याप्तिं निर्वर्तयन्ति, तदपर्याप्तनामकर्मेत्याहुः । यदुक्तं- कर्मचूर्णौ—"पयाओ चेव अपज्जत्तीओ अपज्जत्तगणामकम्मोदएण णिव्वत्तिज्जति त जेसिं अत्थि, ते अपज्जत्तगा ।।' इति ।

यस्य [illegible]ण उदयाद् अनन्तानां जीवानामेकमेव शरीरं जायते, तत्साधारणनाम । तत्र यदैक-जीवस्योपभोगादि, तदाऽन[illegible] । तथाहि-यदैकः साधारणत्वेन जायते, तदाऽनन्ता [illegible]

द्यन्ते, यदैकस्याहारादिपर्याप्तिचतुष्टयं निष्पद्यते, तदाऽनन्तानामपि, यदैकस्य प्राणापानग्रहण-विसर्गौ भवतः, तदाऽनन्तानामपि, यदैक आहारादिकं गृह्णाति, तदैव शेषा अनन्ता अपि गृह्णन्ति। यदाऽग्न्यादिनैको नश्यति, तदाऽनन्ता अपि।

यदुदयात् शरीराऽवयवानां कर्णजिह्वात्वगादीनामस्थिरता चलता मृदुता भवति, * तद् अस्थिरनाम।

यदुदयात् पादादीनां शरीराऽवयवानामशुभता भवति, 卐 तदशुभनाम। न च पादादीना-मशुभताऽसिद्धेति वाच्यम्, पादादिना स्पृष्टे क्रोधादिविकृतिदर्शनात्। न च तथापि पादादिना कलत्रादिभिः स्पृष्टे क्रोधाद्यभावदर्शनेन व्यभिचार इति वाच्यम्, तत्र मोहजनितस्नेहाद्युपलम्भात्।

यस्योदयादुपकार्यपि जनस्याऽप्रियो भवति, तद्दुर्भगनाम।

यदुदयाज्जीवस्य श्रूयमाणः स्वरः श्रोतुः श्रोत्राप्रीतिकरो भवति, काकोलूकस्वरवत्, तद्दुःस्वरनाम।

यदुदयवशाद् युक्तियुक्तमपि ब्रुवाणस्याऽपि जनस्य वचनमुपादेयं न भवति, न च लोकस्तस्याऽभ्युत्थानादिकं करोति, ^ तदनादेयनाम।

यदुदयात् प्राक् प्रतिपादिते यशःकीर्त्ती न भवतः, तद् अयशःकीर्त्तिनाम, तथा यस्योदयाद् मध्यस्थजनस्याऽप्रशस्यो भवति, दोषविषया च ख्यातिर्भवति, तदप्ययशःकीर्त्तिनाम ॥१५॥

प्रतिपादिता नामकर्मणो द्वाचत्वारिंशद् भेदाः। सम्प्रति तस्य त्र्यधिकशतभेदान् प्रदर्श-यितुकामो गत्यादिपिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदसंख्यां प्राह—

पिंडपयडीण चउपणपणतिगपंचदसपंचछगछक्कं।
पणदुपणऽट्ठचउदुगं पणसयरी उत्तरा भेआ ॥१६॥

(प्रे०) 'पिंड०'इत्यादि, 'पिण्डप्रकृतीनां' पूर्वभणितस्वरूपाणां गत्यादिचतुर्दशप्रकृतीनां क्रमशश्चतुरादय उत्तरभेदा भवन्तीति समुदितवाक्यार्थः। इदमुक्तं भवति—गतिनाम्नश्चत्वार उत्तर-भेदाः, जातिनाम्नः पञ्च, तनुनाम्नः पञ्च, अङ्गोपाङ्गनाम्नस्त्रयः, बन्धननाम्नः पञ्चदश, संघातन-नाम्नः पञ्च, संहनननाम्नः षट्, संस्थाननाम्नः षट्, वर्णनाम्नः पञ्च, गन्धनाम्नो द्वौ, रसनाम्नः पञ्च, स्पर्शनाम्नोऽष्टौ, आनुपूर्वीनाम्नश्चत्वारो विहायोगतिनाम्नश्च द्वौ। एते सर्वसंख्यया कति भेदा भवन्ति? इत्यत आह-'पणसयरी'इत्यादि, एते सर्वसंख्यया 'पञ्चसप्ततिः' पञ्चसप्तति-संख्याकाः (७५) 'उत्तरा भेदाः' पिण्डप्रकृतीनामवान्तरभेदा भवन्ति ॥१६॥

अथ गतिजातिप्रभृतीनामुत्तरभेदान्नामग्राहं विभणिषुराह—

---

* राजवार्तिककारास्तु "यदुदयाद् ईषदुपवासादिकरणात् स्वल्पशीतोष्णादिसम्बन्धाच्च अङ्गोपा-ङ्गानि कृशीभवन्ति, तदस्थिरनाम" इत्याहुः।

卐 "तद्विपरीतफलं द्रष्टुः श्रोतुश्चाऽरमणीयकरम् अशुभनाम" इत्याहुः श्रीराजवार्तिककाराः।

^ यस्योदयाच्छरीरं निष्प्रभमापद्यते, तदनादेयनामेति मन्यन्ते राजवार्तिककाराः।

णिरयतिरिणरसुरगई इगबिअतिगचउपणिंदिजाईओ।
उरलविउव्वाहारगतेअगकम्मणपणसरीरा ॥१७॥

(प्रे०) 'निरय०'इत्यादि, 'निरयतिर्यङ्नरसुरगतिः' निरयाश्च तिर्यञ्चश्च नराश्च सुराश्च निरयतिर्यङ्नरसुराः, तेषु गतिः, निरयतिर्यङ्नरसुरगतिः, अत्र गतिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणपदस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्। निरयादयो विस्तरेण प्राग् व्युत्पादिताः। निरयाः=सीमन्तकादयो नरकवासाः, निरयेषु विषये गतिरिति निरयगतिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निरयगतिनाम। यदुदयवशाद् नारक इति व्यपदिश्यते, तद् निरयगतिनाम, नारकशब्दव्यपदेश्यपर्यायनिबन्धनं निरयगतिनामेति फलितार्थः। यदुदयवशात् तिर्यङ्ङिति व्यपदिश्यते, तत् तिर्यग्गतिनाम। एवं मनुष्यगतिनाम देवगतिनाम च व्याख्येयम्।

'इग०' इत्यादि, 'एकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियजातयः' इन्द्रियशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। एकेन्द्रियाश्च द्वीन्द्रियाश्च त्रीन्द्रियाश्च चतुरिन्द्रियाश्च पञ्चेन्द्रियाश्चेत्येकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाः, तेषां जातयः, एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिया जातयः, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं जातिपदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ततश्चायमर्थः—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम च। तत्र यदुदयाज्जीव एकेन्द्रियो व्यपदिश्यते, तदेकेन्द्रियजातिनाम। एवं द्वीन्द्रियादिजातिनामान्यपि व्याख्येयानि।

तत्रैकेन्द्रियजातिर्व्यापिका, तद्व्याप्यास्तु पृथिवीकायिकादिजातयः, तद्व्याप्याः पुनः शर्करावालुकादिजातयः। तेन पृथिवीकायिकादिजातय एकेन्द्रियजात्यपेक्षया व्याप्याः शर्करावालुकादिजात्यपेक्षाया च व्यापिकाः, एकेन्द्रियजातिस्तु केवलं व्यापिका।

व्यापकत्वं चेह व्याप्यजातिभिन्नत्वे सति व्याप्यजात्यधिकरणवृत्तिर्य उभयवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावस्तदप्रतियोगित्वम्। यथा शर्कराजातेर्व्यापिका पृथिवीकायिकजातिः। तथाहि—पृथिवीकायिकजातेः शर्कराजातिभिन्नत्वे सति शर्कराजात्यधिकरणे शर्कराख्य उभयवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताको वालुकाजात्यत्यन्ताभावः, तदप्रतियोगिता पृथिवीकायिकजातौ वर्तते। यतस्तादृशाऽभावीयप्रतियोगिता वालुकाजातौ वर्तते। तेन पृथिवीकायिकजातेः शर्कराजात्यपेक्षया व्यापकता 'व्याप्यजातिभिन्नत्वे सति' इत्येतस्यानुपादाने शर्कराजात्यधिकरणे वर्तमानो य उभयवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताको वालुकाजात्यत्यन्ताभावस्तदप्रतियोगितायाः शर्कराजातौ सत्त्वात् शर्कराजातौ शर्कराजात्यपेक्षया व्यापकत्वं स्यात्, तच्चानभिप्रेतम्। 'उभयवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकः' इत्यस्यानुपादाने शर्कराजात्यधिकरणे शर्कराख्ये 'एकसत्त्वे उभयं नास्ति' इति प्रतीतेः पृथिवीकायिकाप्कायिकजात्युभयवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताको यः पृथिवीकायिकजात्यप्कायिकजात्य :, तत्प्रतियोगितायाः श[illegible]राजातिभिन्नायां पृथिवीकायिकजातौ उपलम्भाद् पृथिवीकायिक-

जातेर्व्यापकत्वं न स्यात् ,तच्च नेष्टम् । अनया रीत्यैकेन्द्रियजातेरपि पृथिवीकायिकजात्यपेक्षया व्यापकता साध्या ।

'पृथिवीकायिकादिजातयस्त्वेकेन्द्रियजात्यपेक्षया व्याप्याः' इति यदुक्तम् ,तत्र व्याप्यत्वं नाम व्यापकाधिकरणे वर्तमानो य उभयवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः, तत्प्रतियोगित्वम् । तथाहि-एकेन्द्रियजात्यधिकरणेऽप्कायिकादौ य उभयवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकः पृथिवीकायिकजात्यभावः, तत्प्रतियोगितायाः पृथिवीकायिकजातौ सत्त्वाद् एकेन्द्रियजात्यपेक्षया व्याप्यता पृथिवीकायिकजातेः । 'उभयवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकः' इत्यस्यानुपादान एकेन्द्रियजात्यधिकरणे अप्कायिकादौ 'एकसत्त्वेऽप्युभयं नास्ति' इति प्रतीतेर्य एकेन्द्रियजातिपृथिवीकायिकजात्युभयवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक एकेन्द्रियजातिपृथिवीकायिकजात्यभावः, तत्प्रतियोगिताया एकेन्द्रियजातौ अपि सत्त्वात् स्वस्य स्वापेक्षया व्याप्यत्वं स्यात् , तच्चानभिप्रेतम् ।

न चैकेन्द्रियजातेर्व्याप्या जातयः पृथिवीकायिकादयः, तद्व्याप्यास्तु शर्करावालुकादय इति स्वमनीषिकया विजृम्भितमिति शङ्कनीयम् , यतस्तत्त्वार्थभाष्यकारैरेकेन्द्रियजातिः पृथ्वीकायिकाद्यनेकभेदभिन्ना दर्शिता, एवं पृथिवीकायिकादयोऽपि शर्करावालुकाप्रभृत्यनेकभेदभिन्ना ख्यापिताः । तथा च तद्ग्रन्थः—"एकेन्द्रियजातिनामानेकविधम्—तद्यथा—पृथिवीकायिकजातिनाम अप्कायिकजातिनाम तेजःकायिकजातिनाम वायुकायिकजातिनाम वनस्पतिकायिकजातिनामेति ।

तत्र पृथिवीकायिकजातिनामानेकविधम् । तद्यथा शुद्धपृथिवी—शर्करा-वालुकोपल शिला-लवणाऽयस्त्रपु-ताम्र-सीसक-रूप्य-सुवर्ण-वज्र हरिताल-हिङ्गुलक-मनःशिला--सस्यकाऽञ्जन-प्रवालका-ऽभ्रपटा-ऽभ्रवालिकाजातिनामादि ।" इति ।

शङ्खशुक्त्यादयो द्वीन्द्रियजातेर्व्याप्यजातयः, त्रीन्द्रियजातेर्मत्कुणपिपीलिकादयः, चतुरिन्द्रियजातेर्भ्रमरसरघादयः, पञ्चेन्द्रियजातेश्च नरनारकादयः ।

न्यायाचार्या उपाध्याययशोविजयास्तु आहुः—"अपकृष्टचैतन्यादिनियामकतयैकेन्द्रियत्वादिजातिसिद्धिस्तदेव चैकेन्द्रियादिव्यवहारनिमित्तं लाघवात्तन्निबन्धनतया च जातिनामसिद्धिः । नारकत्वादिकं च न जातिरूपं तिर्यक्त्वस्य पञ्चेन्द्रियत्वादिना साङ्कर्यात् , किंतु सुखदुःखविशेषोपभोगनियामकपरिणामविशेषरूपं तन्निबन्धनतया च गतिनामसिद्धिरिति कृतं प्रसङ्गेन ।" इति । तदत्र तत्त्वं बहुश्रुता जानन्ति ।

'उरल०' इत्यादि, इह प्राकृतत्वात् 'लिङ्गमतन्त्रम्' (८-४-४४५) इत्येतत्सूत्रमाश्रित्य पुंस्त्वम् । औदारिकादिशब्दाः कृतद्वन्द्वा उपात्ताः, औदारिकं च वैक्रियं चाहारकं च तैजसं च कार्मणं चेत्यौदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि, तानि च पञ्चशरीराणि चेत्यौदारिक वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणपञ्चशरीराणि । तत्र उद्गता=उत्कृष्टा आरा=छाया यस्य, तद् उदारम् , उत्कृष्टच्छायमित्यर्थः, यद्वा उदारं=प्रधानं मोक्षहेतुत्वात् तीर्थंकरगणधरादिशरीरापेक्षया वा, अथवा उत्कृष्टा आरा=मर्यादा धर्मनीतिलक्षणा यस्य, तदुदारम् , यद्वा उपादानात् प्रभृत्यनुसमयम् उद्गच्छति=वर्धते जीर्यते शीर्यते परिणमतीत्यादि पर्यायान्तरप्राप्त्या मुहुर्मुहुरुद्गमनाद् उदारम् , निपातनाद् हि इष्टरूपसिद्धिः ।

यद्वा उदारं=स्थूलम्, अल्पप्रदेशोपचितत्वेन बृहत्त्वात्। बृहत्त्वं चाऽस्य सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वाच्छेषशरीरापेक्षया। न चोत्तरवैक्रियशरीरस्य योजनलक्षमानत्वोपलम्भात् कथमौदारिकस्य बृहत्त्वम्? इति वाच्यम्, भवधारणीयसहजशरीरापेक्षयाऽभीष्टत्वाद् भवधारणीयसहजवैक्रियशरीरस्य तूत्कर्षेणाऽपि पञ्चशतधनुर्मात्रत्वात्। उक्तं च **प्रज्ञापनाचूर्णौ**–"ओरालं नाम वित्थरालं विसालं ति जं भणियं होइ, कथं? साइरेगजोयणसहस्समवट्ठियपमाणमोरालियं अन्नमेद्दहत्तं नत्थि त्ति, विउव्वियं होज्जा? तं तु अणवट्ठियप्पमाणं अवट्ठियं पुण पंचधणुसयाइं इमं पुण अवट्ठियप्पमाणसाइरेगं जोयणसहस्सं।" इति। उदारमेव औदारिकम् "विनयादिभ्यः" (सिद्धहेम० ७ २ १६९) इत्यनेन स्वार्थे इकण्प्रत्ययः। यद्वा उदारं बृहदसारम्, तन्निष्पन्नमौदारिकम्, तन्निबन्धनमौदारिकनाम, यदुदयवशाद् औदारिकशरीरप्रायोग्यपुद्गलान् गृह्णाति, तदौदारिकशरीरनामेत्यर्थः। यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–"तप्पाओग्गपुग्गलग्गहणकारणं जं कम्मं तं ओरालियसरीरणामं।" इति।

वि=विशिष्टा=विविधा क्रिया=चेष्टा विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम् "भवे" (६ ३-११३) इत्यनेन अण् प्रत्ययः। यद्वा विक्रियया कृतं वैक्रियम्, "कृते" (सिद्धहेम० ६-३-१९२) इत्यनेन अण् प्रत्ययः। इदमुक्तं भवति–एकं भूत्वाऽनेकं भवति, अनेकं भूत्वैकं भवति, अणु भूत्वा महद्भवति, महद्भूत्वाऽणु भवति, एकाकृति भूत्वाऽनेकाकृति भवति, अनेकाकृति भूत्वैकाकृति भवति, दृश्यं भूत्वाऽदृश्यं भवति, अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति, भूमिचरं भूत्वा खेचरं भवति, खेचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, प्रतिघाति भूत्वाऽप्रतिघाति भवति, अप्रतिघाति भूत्वा प्रतिघाति भवतीत्यादि विक्रियाया भवं विक्रियया वा कृतमिति वैक्रियम्, उभयत्र अण्प्रत्ययः। तच्च द्विविधम्, औपपातिकलब्धिप्रत्ययभेदात्। तत्र उपपातो=जन्म, तस्मिन् भवम्=औपपातिकम्। तच्च नारकदेवानाम्। मनुष्यतिरश्चां च तपोविशेषजनितलब्धिप्रत्ययं वैक्रियं भवति। वैक्रियनिबन्धनं वैक्रियनाम, यदुदयवशाद् वैक्रिययोग्यपुद्गलान् गृह्णाति, तद्वैक्रियशरीरनामेत्यर्थः, यदुक्तं **तत्त्वार्थसूत्रटीकायाम्**–"विचित्रशक्तिकद्रव्यनिर्मापितं वैक्रियं, तद्योग्यपुद्गलादानकारणं यत् कर्म, तद् वैक्रियशरीरनामाभिधीयते।" इति।

आह्रियते=निर्वर्त्यते चतुर्दशपूर्वविदा विशिष्टलब्धिवशात् तीर्थंकरस्फातिदर्शनादितथाविधप्रयोजनायेति आहारकम् 'बहुलम्' (सिद्धहेम० ५-१-२) इति सूत्रेण कर्मणि णकप्रत्ययः, पादहारकवत्। आहारककारणमाहारकनाम, यदुदयवशादाहारकशरीरयोग्यपुद्गलानादत्ते, तदाहारकशरीरनामेत्यर्थः।

तेजसा=तेजःपुद्गलैर्निर्वृत्तं तैजसम्। यद्भुक्ताहारपरिणमनहेतुर्भवति, यद्वशाच्च विशिष्टतपसा प्राप्तविशिष्टलब्धिकस्य तेजोलेश्याविनिर्गमः शीतलेश्याया वाऽऽविर्भावो भवति। यथा कोपवशाद् लौकिकमुनेर्गोशालकस्य तेजोनिसर्गः, प्रसादावेशाच्च भगवतो गोशालके शीतरश्मिनिसर्गः, तत् तैजसम्, तन्निबन्धनं नाम तैजसनाम। यदुदयात् तैजसपुद्गलानाददाति, तत् तैजसशरीरनामेत्यर्थः।

कर्मणा निष्पन्नं कार्मणम् ,अशेषकर्मराशेराधारभूतम् ,कुण्डमिव बदरादीनाम् ,अशेषकर्मप्रसवसमर्थं वा, यथा बीजमङ्कुरादीनाम् ।

अथवा कर्मैव कार्मणम् । ननु स्वार्थिकप्रत्ययो नोपपद्यते, कर्मतः कार्मणस्य भिन्नत्वे उपपत्तिदर्शनात् । तथाहि—न खलु कर्मण्येव कार्मणम्, ज्ञानावरणाद्याश्रयत्वात् तस्य, चक्षुरिन्द्रियादिवत् । एतदुक्तं भवति—यथा चक्षुरिन्द्रियादीनामाश्रयभूतमौदारिकशरीरमन्यद् , अन्यानि च चक्षुरादीनीन्द्रियानि, तथा कार्मणशरीरं कर्मभ्योऽन्यत् । अपि च ज्ञानावरणाद्याश्रयत्वेन व्यवतिष्ठमानं कार्मणशरीरं कथं ज्ञानावरणादिमात्रमेव ? यदि पुनः कार्मणशरीरं न स्याद् बदराश्रयकुण्डकल्पम् , तदा ज्ञानावरणादीनामितस्ततः पतनं स्यात् । तच्च नेष्टम् । तस्माद् ज्ञानावरणादीनां यद् आश्रयभूतम् . तत् कार्मणशरीरं ज्ञानावरणादितः पृथक् । उत्पत्तिकारणभेदादपि ज्ञानावरणादितो भिन्नत्वं कार्मणस्य । तद्यथा—बन्धननामकर्मप्रत्ययं प्रद्वेषादिनिमित्तं च कर्मोत्पद्यत इत्याप्तोपदेशः, कार्मणशरीरं तु स्वनामकर्मोदयाज्जायते, शरीराणां स्वनामकर्मोदयत उत्पत्तेः । तस्माद् ज्ञानावरणादितो व्यतिरिक्तं कार्मणशरीरमित्युपपन्नम् . ततश्च न घटते स्वार्थिकप्रत्यय इति चेत् , न, कर्मतोऽभिन्नत्वेऽपि तथोपपत्तेरनैकान्तिकत्वाद् यथोक्तोपपत्तिजालस्य ।

अथवा कर्मसु भवम् ,कर्मसु जातं वा, कर्मणां समूहो वा, कर्मणां विकारो वा कार्मणम् , आत्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगतानां कर्मपरमाणूनामेव कार्मणशरीरत्वात् । यदुक्तम्—

"कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं । सव्वेसि सरीराण कारणभूयं मुणेयव्वं ॥१॥" इति ।

इहावतारितगाथाया उत्तरार्धस्यायं भावः–सर्वेषाम्=औदारिकादीनां शरीराणां कारणभूतं=बीजभूतं कार्मणशरीरम् । न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजे कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावः । तथा कार्मणशरीरं (तदेकदेशभूतकार्मणशरीरनामकर्म) स्वस्यापि (=ज्ञानावरणादिकर्मरूपस्य तदेकदेशकार्मणशरीरनामकर्मात्मकस्य च) कारणमस्ति, कार्मणशरीरनामकर्मोदयतः कार्मणवर्गणापुद्गलादानेन कार्मणशरीरनिर्वृत्तेः स्वपरप्रकाशकाऽऽदित्य इव । इदमत्र हृदयम्–यथा भास्करः स्वमण्डलं प्रकाशयति, उपलब्धिहेतुत्वेन चाऽन्यद्रव्याणि घटपटादीनि प्रकाशयति । न चाऽन्यपदार्थो दिनकरमण्डलस्य प्रकाशक इति वाच्यम् ,अनवस्थाप्रसक्तेः । न च घटपटादीनामप्रकाशात्मकत्वाद् भास्वान् प्रकाशयतु तान् , सवितृमण्डलं तु प्रकाशात्मकमेव, तस्य किं प्रकाश्यते तत्स्वभावत्वादित्याशङ्कनीयम् ,यतो यद्यपि प्रकाशस्वभावं मार्तण्डमण्डलम् ,तथापि तत् प्रकाश्यमपि भवति, प्रमाणवत् । प्रमाणं हि स्वपररूपप्रकाशकारीष्यते, अन्यथाऽनेकदोषप्रसक्तिः स्यात् । तथैव कार्मणशरीरं स्वस्याऽन्येषां चौदारिकशरीरादीनां कारणं भवति, न पुनर्ज्ञानावरणादिकर्मतः सर्वथा व्यतिरिक्तं कार्मणस्य कारणमन्वेषितव्यम् , कर्मरूपत्वात् कार्मणस्य ।

तच्च कार्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरं गच्छतोऽपि भवति । ननु यदि गत्यन्तरे संक्रमयतोऽपि

जन्तोः कार्मणशरीरं भवति, तर्हि तत् चक्षुषा कथं न लक्ष्यते ? इति चेत्, उच्यते—कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मत्वेन चक्षुरिन्द्रियाऽग्राह्यत्वात् । उक्तश्च **प्रज्ञाकरगुप्तेनाऽपि** "अन्तरा भवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते निष्क्रामन् प्रविशन् वापि नाभावोऽनीक्षणादपि ।" इति । कार्मणशरीरनिबन्धनं कार्मणशरीरनाम । यदुदयवशात् कार्मणशरीरयोग्यान् पुद्गलानादत्ते, तत् कार्मणशरीरनामेत्यर्थः ।

नन्वौदारिकादिशरीरनामकर्मादीनामनेन क्रमेणोपन्यासेऽस्ति कश्चिद्धेतुः ? उत न ? इति चेद्, अस्तीति ब्रूमः । कः ? इति चेत्, उच्यते—उत्तरोत्तरशरीरस्य सूक्ष्मत्वात् शरीराणि यथोक्तक्रमेण उपन्यस्यन्ते, तेन तन्निबन्धनकर्माण्यप्यौदारिकादिशरीरनामानि तेन क्रमेणोपादीयन्ते । यद्वौदारिकशरीरं बहुस्वामिकं स्थूलप्रदेशकमल्पप्रदेशकं च भवति, तेन तत् प्रथमतो बुद्धा उपतिष्ठते । ततो वैक्रियशरीरं स्वामित्वसाधर्म्यात् । तथाहि—यथौदारिकशरीरस्य स्वामिनो मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च भवन्ति, तथैव वैक्रियशरीरस्याऽपि । तत उपतिष्ठत आहारकशरीरं लब्धिसाधर्म्यात् । तथाहि—यथा मनुष्याणां वैक्रियशरीरं लब्धिप्रत्ययं भवति, तथैव संयतस्य चतुर्दशपूर्वविद आहारकशरीरं लब्धिनिमित्तकं भवति । ततस्तैजसशरीरमुपतिष्ठते लब्धिसाधर्म्यात् । तथाहि—यथा लब्धिवतामाहारकशरीरं भवति, तथैव तैजसशरीरं तेजोलब्धिवतां जनानां भवति । ततः कार्मणशरीरमुपतिष्ठते, तैजसशरीरसहचारित्वात् । तदेवमौदारिकादिशरीराणां क्रमः सहेतुकः, तेन तन्निबन्धनौदारिकादिशरीरनामकर्माण्यपि तेन क्रमेण वक्तव्यानि ॥१७॥

अथाङ्गोपाङ्गादीनामुत्तरभेदान् प्रचिख्यासुराह—

पढमतितणूवंगा होज्जा उरलाइगाण सजुआण ।
पणबंधणाणि हुन्ते कम्मणजुत्ताण चत्तारो ॥१८॥
तिण्णि य तेअजुआणं तेअसकम्मणजुआण तिण्णि त्ति ।
पण्णरहबंधणाइं पण उण संघायणाणि तणुणामा ॥१९॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'पढम०' इत्यादि, 'प्रथमत्रितनूनां' प्रथमाः=आद्या यास्तिस्र औदारिकवैक्रियाहारकरूपाः तनवः=शरीराणि, तासाम् 'उवंग' त्ति प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, 'उपाङ्गानि' "भामा सत्यभामा" इति न्यायाद् अङ्गोपाङ्गानि भवन्ति, औदारिकादिशरीरत्रिकद्वारेणाऽङ्गोपाङ्गनामाऽपि त्रिविधम् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनामा—ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनाम चेत्यर्थः । तत्र यदुदयादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते, तदौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम । यदुदयवशाद् वैक्रियशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते, तद्वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम । यदुदयवशादाहारकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते, तदाहारकाङ्गोपाङ्गनाम । तैजसशरीरकार्मणशरीरयोस्तु नाङ्गोपाङ्गानि सन्ति, जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वात् तयोः ।

अथ क्रमप्राप्तानि बन्धनानि वक्तव्यानि, तत्र **गर्गर्षिशिवशर्मसूरिप्रभृत्याचार्याणां** मते बन्धनानि पञ्चदश भवन्ति, यदुक्तं **बृहत्कर्मविपाके**– "बंधणभेआ उ पण्णरस" त्ति । **श्रीमन्मलयगिरिपादादयस्तु** मतान्तरेण पञ्च बन्धनान्यपि प्रतिपादयन्ति । इह तावत्प्रथममतमनुसृत्य पञ्चदशौदारिकौदारिकादिबन्धनानि त्रिभिर्गाथाभिराह–**'उरलाइगाण'** इत्यादि, बन्धनशब्दः प्राग् व्याख्यातः, औदारिकमादि येषाम्, तानि औदारिकादीनि, तेषाम् औदारिक-वैक्रियाहारक-तैजस-कार्मणरूपाणां प्रत्येकं 'स्वयुतानां' स्वेन युतानाम्, औदारिकेण युतम् औदारिकम्, वैक्रियेण युतं वैक्रियम्, आहारकेण युतम् आहारकम्, तैजसेन युतं तैजसम्, कार्मणेन युतं कार्मणमित्येतेषाम् 'पण' इत्यादि, 'पञ्च' पञ्चसंख्याकानि बन्धनानि भवन्ति । तथाहि–औदारिकौदारिकबन्धनम्, वैक्रियवैक्रियबन्धनम्, आहारकाहारकबन्धनम्, तैजसतैजसबन्धनं कार्मणकार्मणबन्धनं चेति पञ्च बन्धनानि । तथा **'कम्मणजुत्ताण'** त्ति 'कार्मणयुक्तानां' कार्मणेन युक्तानाम् औदारिकादीनां चत्वारि बन्धनानि, तद्यथा–औदारिककार्मणबन्धनं वैक्रियकार्मणबन्धनम् आहारककार्मणबन्धनं तैजसकार्मणबन्धनं च **'तिन्नि'** इत्यादि, 'त्रीणि च तैजसयुतानाम्' औदारिकादीनां त्रयाणां तैजसेन युतानां त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । तद्यथा–औदारिकतैजसबन्धनं वैक्रियतैजसबन्धनम् आहारकतैजसबन्धनं चेति । **'तेअ०'** इत्यादि 'तैजसकार्मणयुतानां त्रीणि' औदारिकादीनां त्रयाणां तैजसकार्मणाभ्यां युतानां त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । तथाहि–औदारिकतैजसकार्मणबन्धनं वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनम् आहारकतैजसकार्मणबन्धनं चेति । तत्र (१) पूर्वगृहीतानामौदारिकशरीरपुद्गलानां गृह्यमाणौदारिकपुद्गलैः सह बन्धो येन क्रियते, तदौदारिकौदारिकबन्धननाम । (२) येन गृहीतानां गृह्यमाणानां चौदारिकपुद्गलानां गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च तैजसशरीरपुद्गलैः सह सम्बन्धः क्रियते, तदौदारिकतैजसबन्धननाम । (३) येन पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां चौदारिकपुद्गलानां कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्धो विधीयते, तदौदारिककार्मणबन्धननाम (४) येनौदारिकपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां कार्मणपुद्गलानां च पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां वा यः परस्परसम्बन्धः क्रियते, तदौदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम । एवं चत्वारि वैक्रियवैक्रियादिबन्धननामानि चत्वारि चाहारकाहारकप्रभृतिबन्धननामानि वक्तव्यानि । तथा येन तैजसपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां स्वैरेव तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह यः परस्परसम्बन्धः क्रियते, तत्तैजसतैजसबन्धननाम । येन पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च तैजसपुद्गलानां कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सम्बन्धो विधीयते, तत्तैजसकार्मणबन्धननाम । तथा येन कार्मणपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणैः स्वैरेव कार्मणपुद्गलैः सह सम्बन्धो विधीयते, तत्कार्मणकार्मणबन्धननाम । न च पञ्चानां शरीराणां द्विकादियोगभङ्गकाः षड्विंशतिर्भवन्ति, तर्हि बन्धनानि षड्विंशतिः(२६) कुतो नोच्यन्ते ? इति वाच्यम्, औदारिकवैक्रियाहारकशरीराणां परस्परविरुद्धानामन्योऽन्याऽसम्बन्धात् ।

अथ संघातननाम्न उत्तरभेदप्रख्यापनाय आह–**'पण'** इत्यादि, **'पञ्च'** पञ्चसंख्यकानि

संघातनानि **'तनुणामा'** त्ति प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, यतः प्राकृते लिङ्गं व्यभिचार्यपि, 'तनुनामानि' शरीरनामानि औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणाख्यानि भवन्ति। ननु यदि बन्धननामानि पञ्चदशाऽभिहितानि, तर्हि संघातननामान्यपि तावन्ति कुतो नोच्यन्ते, यतो नाऽसंहतस्य बन्धनम्, यथा लोके पाषाणयुग्मस्य कृतसंघातस्योत्तरकाले वज्रलेपादिना बन्धनं क्रियत इति चेद्, उच्यते–नाऽत्र संघातननामकर्म पुद्गलसंहतिमात्रनिमित्तं भवति, पुद्गलसंहतिमात्रस्यौदारिकशरीरनामकर्मनिमित्तकग्रहणमात्रेणैव सिद्धत्वात्। किन्त्वौदारिकादिशरीरविशेषरचनानिमित्तं संघातननाम, औदारिकादिशरीराणि च पञ्चैव, तेन तद्विशेषरचनानिमित्तं कर्माऽपि पञ्चविधम्। केचित्त्वेवं समादधति प्रवचनसूरयः–लोके ये स्वजातौ संयोगा भवन्ति, त एव शुभाः, एवमिहाऽपि स्वशरीरपुद्गलैः सह ये संयोगरूपाः संघाताः, ते शुभा इति प्राधान्यख्यापनाय पञ्चैव संघाता अभिहिता इति। अन्य आचार्यपादाः संघातननामानि पञ्च मन्यमाना बन्धनान्यपि पञ्चैवाऽभ्युपगच्छन्ति, तेषां मत औदारिकादिपुद्गलानां स्वपुद्गलैः सह यस्योदयेन बन्धो भवति, तद् बन्धननाम। इह यः स्वभिन्नतैजसादिपुद्गलैः सह बन्धो भवति, स सन्नपि नाधिक्रियते, अविवक्षणात्। तच्च बन्धनं पञ्चविधम्, औदारिकादिशरीरपुद्गलानां पञ्चविधत्वात्। तच्च बन्धनं संघातमन्तरेण न भवति, नाऽसंहतस्य बन्धनमिति न्यायात्। तेन पञ्चबन्धनवत् संघातनान्यपि पञ्चैव भवन्ति ॥१८,१९॥

अथ क्रमप्राप्तस्य संहनननाम्नो भेदान् ख्यापयितुकाम आह—

संघयणं छद्धा वज्जरिसहणारायरिसहणारायं।
णारायद्धणरायं कीलियछेवट्ठगाणि त्ति ॥२०॥

(प्रे०) **'संघयणं'** इत्यादि, 'संहनन'संहन्यते=दृढीक्रियते शरीरपुद्गला येन, तत् संहननमिति प्राग् व्याख्यातम्। तच्चाऽस्थिरचनाविशेषात्मकं **'छद्धा'** षट्प्रकारं भवति। के ते षट् प्रकाराः? इत्यत आह **'वज्ज०'** इत्यादि, 'वज्रर्षभनाराचर्षभनाराचम्' अत्र समाहारद्वन्द्वसमासनिर्देशः, वज्रऋषभनाराचसंहननम् ऋषभनाराचसंहननं च, **'णारा०'** ति, अत्र "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" (सिद्धहेम० ८-१ ६७ सूत्रेण 'अद्धणराय'इत्यत्र नाराचशब्दस्याऽऽद्यस्य आकारस्य अकारो जातः 'नाराचार्धनाराच' नाराचसंहननमर्धनाराचसंहननं च **'कीलि०'** त्ति स्वार्थिककप्रत्ययः प्राकृतत्वात्, कीलिकासंहननं सेवार्तसंहननं च, इतिशब्द इयत्तापरिच्छेदकः। तत्र ऋषभशब्देन परिवेष्टनपट्ट उच्यते, वज्रशब्देन च कीलिका व्यवह्रियते, नाराचशब्देनोभयपार्श्वयोरस्थिबन्धो मर्कटबन्धोऽभिधीयते। उक्तं च **बृहत्कर्मविपाके**–'रिसहो य होइ पट्टो वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा। उभओ मक्कडबंधं नारायं तं वियाणाहि।' इति। द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकारेण तृतीयेनाऽस्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि कीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र संहनने भवति,

तद्वज्रर्षभनाराचसंहननम्, यदुदयेन वज्रऋषभनाराचसंहननं भवति, तद् वज्रऋषभनाराचसंहनन-नाम, हस्तयोरुभयतो मर्कटबन्धेन कलाचीग्रहणे मध्यदेशे लोहपट्टकेन वेष्टयित्वा पट्टबन्धन-मध्यदेशे वेधं दत्त्वा कीलिका प्रक्षिप्यते, तस्यां च प्रक्षिप्तायां यथा मञ्चोऽचलः कालान्तरस्थायी बलवान् भवति, तथा यत्संहननोदयेनाऽस्थिसञ्चयो बलवान् अचलः कालान्तरस्थायी च भवति, तद् वज्रऋषभनाराचसंहनननामेति भावः। अन्ये तु प्राहुः—अस्थ्नामेव कीलिकामत्त्वमिति। यदुक्तं **व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तौ**—"तत्र वज्र च तत् कीलिकाकीलितकाष्ठसपुटोपमसामर्थ्ययुक्तत्वात्, ऋषभश्च लोहादिमयपट्टबद्धकाष्ठसपुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वाद् वज्रर्षभ, स चासौ नाराच च उभयतो मर्कटबन्धनिबद्ध-काष्ठसपुटोपमसामर्थ्योपेतत्वाद् वज्रर्षभनाराच, तत् सहननम् = अस्थिसञ्चयविशेषोऽनुपमसामर्थ्ययोगाद् यस्यासौ वज्रर्षभनाराचसहनन. । अन्ये तु कीलिकादिमत्त्वमस्थ्नामेव वर्णयन्ति।" इति।

यत्पुनः कीलिकारहितं भवति, तदृषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम ऋषभनाराचसंहनननाम, **तत्त्वार्थभाष्य** रास्त्वर्धवज्रर्षभनाराचं पठन्ति। एतदुक्तं भवति—वज्रऋषभनाराचस्यार्धमित्यर्ध-वज्रऋषभनाराचम्=वज्रस्यार्धमृषभस्यार्धं नाराचस्यार्धमित्यर्थः। यदुक्तं **तत्त्वार्थवृत्तौ**—अर्धवज्रर्षभ-नाराचनाम तु वज्रर्षभनाराचानामर्धं किल सर्वेषा वज्रस्यार्धं ऋषभस्यार्धं नाराचस्यार्धमिति भाष्यकारमतम्।" इति। यद्वाऽर्धग्रहणेन पट्टहीन व्याख्येयम्। **अन्ये पुनराहुः**—वज्रनाराचसंहननम्, आद्यसंहनना-पेक्षया पट्टाकारेणाऽस्थ्ना हीनमित्यर्थः, तेन वज्रनाराचसहननं भवति। तथा चाऽत्र **तत्त्वार्थ-वृत्तिकाराः** 'कर्मप्रकृतिग्रन्थेषु वज्रनाराचनामैव पट्टहीन पठितम्।" **शतकचूर्णावप्युक्तम्**—"मर्क-टकीलिकायुक्त द्वितीयम्।" इति।

यत्र केवलो मर्कटबन्धो भवति, न कीलिका, नापि पट्टः, तद् नाराचसंहननम्, तन्निमित्तं नाराचसंहनननाम। यत्रैकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वे तु कीलिकैव, तदर्धनाराचसंहननम्, तदु-दयनिमित्तमर्धनाराचसहनननाम। यत्र मर्कटबन्धेन विनाऽस्थ्नो मध्ये कीलिकामात्रं भवति, तत्कीलिकासंहननम्, तन्निबन्धनं कीलिकासंहनननाम।

यत्र तु परस्पर पर्यन्तस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति, स्नेहाभ्यवहारतैला-भ्यङ्गविश्रामणादिरूपां च परिशीलनां नित्यमपेक्षन्ते, तत्सेवार्तम्। सेवार्तसंहननं यदुदयाद्भवति, तत्सेवार्तसंहनननाम। यद्वा 'छेवट्ठं' इत्यत्र प्राकृतत्वेन लुप्तस्य दकारस्य दर्शनात् 'छेदवृत्तकं' छेदानाम्=अस्थिपर्यन्तभागानां वृत्तं=परस्परसम्बन्धघटनालक्षणं वर्तनं यत्र, तच्छेदवृत्तकं संहन-नम्, कीलिकापट्टमर्कटबन्धरहितमस्थिपर्यन्तभागमात्रसंस्पर्शि षष्ठसंहननमित्यर्थः। तन्निबन्धनं नाम छेदवृत्तकसहनननाम।

तत्त्वार्थभाष्यकारास्तु सृपाटिकानामकं षष्ठं सहननं ब्रुवन्ति, यथा सृपाटिका=फल-संपुटकम्, यत्र फलानि परस्परस्पर्शमात्रवृत्त्या वर्तन्ते, तथा यस्मिन् संहननेऽस्थीनि कोटिद्वय-समगतानि (संस्पृशीनि) चर्मस्नायुमासाऽवबद्धानि तिष्ठन्ति, तत् सृपाटिकासंहननमुच्यते। तन्नि-बन्धन नाम सृपाटिकासंहनननाम।

संघातनानि **'तनुणामा'** त्ति प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, यतः प्राकृते लिङ्गं व्यभिचार्यपि, 'तनुनामानि' शरीरनामानि औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणाख्यानि भवन्ति । ननु यदि बन्धननामानि पञ्चदशाऽभिहितानि, तर्हि संघातननामान्यपि तावन्ति कुतो नोच्यन्ते, यतो नाऽसंहतस्य बन्धनम्, यथा लोके पाषाणयुग्मस्य कृतसंघातस्योत्तरकाले वज्रलेपादिना बन्धनं क्रियत इति चेद्, उच्यते–नाऽत्र संघातननामकर्म पुद्गलसंहतिमात्रनिमित्तं भवति, पुद्गलसंहतिमात्रस्यौदारिकशरीरनामकर्मनिमित्तकग्रहणमात्रेणैव सिद्धत्वात् । किन्त्वौदारिकादिशरीरविशेषरचनानिमित्तं संघातननाम, औदारिकादिशरीराणि च पञ्चैव, तेन तद्विशेषरचनानिमित्तं कर्माऽपि पञ्चविधम् । केचित्त्वेवं समादधति प्रवचनसूरयः–लोके ये स्वजातौ संयोगा भवन्ति, त एव शुभाः, एवमिहाऽपि स्वशरीरपुद्गलैः सह ये संयोगरूपाः संघाताः, ते शुभा इति प्राधान्यख्यापनाय पञ्चैव संघाता अभिहिता इति । अन्ये आचार्यपादाः संघातननामानि पञ्च मन्यमाना बन्धनान्यपि पञ्चैवाऽभ्युपगच्छन्ति, तेषां मते औदारिकादिपुद्गलानां स्वपुद्गलैः सह यस्योदयेन बन्धो भवति, तद् बन्धननाम । इह यः स्वभिन्नतैजसादिपुद्गलैः सह बन्धो भवति, स सन्नपि नाधिक्रियते, अविवक्षणात् । तच्च बन्धनं पञ्चविधम्, औदारिकादिशरीरपुद्गलानां पञ्चविधत्वात् । तच्च बन्धनं संघातमन्तरेण न भवति, नाऽसंहतस्य बन्धनमिति न्यायात् । तेन पञ्चबन्धनवत् संघातनान्यपि पञ्चैव भवन्ति ॥१८,१९॥

अथ क्रमप्राप्तस्य संहनननाम्नो भेदान् ख्यापयितुकाम आह—

संघयणं छद्धा वज्जरिसहणारायरिसहणारायं ।
णारायद्धणरायं कीलियछेवट्ठगाणि त्ति ॥२०॥

(प्रे०) **'संघयणं'** इत्यादि, 'संहनन' संहन्यते=दृढीक्रियते शरीरपुद्गला येन, तत् संहननमिति प्राग् व्याख्यातम् । तच्चाऽस्थिरचनाविशेषात्मकं 'षोढा' षट्प्रकारं भवति । के ते षट् प्रकारा ? इत्यत आह **'वज्ज०'** इत्यादि, 'वज्रर्षभनाराचर्षभनाराचम्' अत्र समाहारद्वन्द्वसमासनिर्देशः, वज्रऋषभनाराचसंहननम् ऋषभनाराचसंहननं च, **'णारा०'** ति, अत्र "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" (सिद्धहेम० ८-१ ६७ सूत्रेण 'अद्धणराय' इत्यत्र नाराचशब्दस्याऽऽद्यस्य आकारस्य अकारो जातः 'नाराचार्धनाराच' नाराचसंहननमर्धनाराचसंहननं च **'कीलि०'** त्ति स्वार्थिककप्रत्ययः प्राकृतत्वात्, कीलिकासंहननं सेवार्तसंहननं च, इतिशब्द इयत्तापरिच्छेदकः । तत्र ऋषभशब्देन परिवेष्टनपट्ट उच्यते, वज्रशब्देन च कीलिका व्यवह्रियते, नाराचशब्देनोभयपार्श्वयोरस्थिबन्धो मर्कटबन्धोऽभिधीयते । उक्तं च **बृहत्कर्मविपाके**–'रिसहो य होइ पट्टो वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा । उभओ मक्कडबंधं नारायं तं वियाणाहि ।' इति । द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकारेण तृतीयेनाऽस्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि कीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र संहनने भवति,

तद्वज्रर्षभनाराचसंहननम्, यदुदयेन वज्रऋषभनाराचसंहननं भवति, तद् वज्रऋषभनाराचसंहनननाम, हस्तयोरुभयतो मर्कटबन्धेन कलाचीग्रहणे मध्यदेशे लोहपट्टकेन वेष्टयित्वा पट्टबन्धनमध्यदेशे वेधं दत्त्वा कीलिका प्रक्षिप्यते, तस्यां च प्रक्षिप्तायां यथा मञ्चकोऽचलः कालान्तरस्थायी बलवान् भवति, तथा यत्संहननोदयेनाऽस्थिमञ्चयो बलवान् अचलः कालान्तरस्थायी च भवति, तद् वज्रऋषभनाराचसंहनननामेति भावः। अन्ये तु प्राहुः–अस्थ्नामेव कीलिकामत्त्वमिति। यदुक्तं **व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तौ**—"तत्र वज्रं च तत् कीलिकाकीलितकाष्ठसपुटोपमसामर्थ्ययुक्तत्वात्, ऋषभश्च लोहादिमयपट्टबद्धकाष्ठसपुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वाद् वज्रर्षभ, स चासौ नाराच च उभयतो मर्कटबन्धनिबद्धकाष्ठसपुटोपमसामर्थ्योपेतत्वाद् वज्रर्षभनाराच, तत् सहननम्=अस्थिसञ्चयविशेषोऽनुपमसामर्थ्ययोगाद् यस्यासौ वज्रर्षभनाराचसहनन। अन्ये तु कीलिकादिमत्त्वमस्थ्नामेव वर्णयन्ति।" इति।

यत्पुनः कीलिकारहितं भवति, तदृषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम ऋषभनाराचसंहनननाम, **तत्त्वार्थभाष्य** रास्त्वर्धवज्रर्षभनाराचं पठन्ति। एतदुक्तं भवति–वज्रऋषभनाराचस्यार्धमित्यर्धवज्रऋषभनाराचम्=वज्रस्यार्धमृषभस्यार्धं नाराचस्यार्धमित्यर्थः। यदुक्तं **तत्त्वार्थवृत्तौ**–अर्धवज्रर्षभनाराचनाम तु वज्रर्षभनाराचानामर्धं किल सर्वेषां वज्रस्यार्धं ऋषभस्यार्धं नाराचस्यार्धमिति भाष्यकारमतम्।" इति। यद्वाऽर्धग्रहणेन पट्टहीनं व्याख्येयम्। **अन्ये पुनराहुः**–वज्रनाराचसंहननम्, आद्यसंहननापेक्षया पट्टाकारेणाऽस्थ्ना हीनमित्यर्थः, तेन वज्रनाराचसहननं भवति। तथा चाऽत्र **तत्त्वार्थवृत्तिकाराः** 'कर्मप्रकृतिग्रन्थेषु वज्रनाराचनामैव पट्टहीनं पठितम्।" **शतकचूर्णावप्युक्तम्**–"मर्कटकीलिकायुक्तं द्वितीयम्।" इति।

यत्र केवलो मर्कटबन्धो भवति, न कीलिका, नापि पट्टः, तद् नाराचसंहननम्, तन्निमित्तं नाराचसंहनननाम। यत्रैकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वे तु कीलिकैव, तदर्धनाराचसंहननम्, तदुदयनिमित्तमर्धनाराचसंहनननाम। यत्र मर्कटबन्धेन विनाऽस्थ्नो मध्ये कीलिकामात्रं भवति, तत्कीलिकासंहननम्, तन्निबन्धनं कीलिकासंहनननाम।

यत्र तु परस्परं पर्यन्तस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति, स्नेहाभ्यवहारतैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपां च परिशीलनां नित्यमपेक्षन्ते, तत्सेवार्तम्। सेवार्तसंहननं यदुदयाद्भवति, तत्सेवार्तसंहनननाम। यद्वा 'छेवट्ठं' इत्यत्र प्राकृतत्वेन लुप्तस्य दकारस्य दर्शनात् 'छेदवृत्तकं' छेदानाम्=अस्थिपर्यन्तभागानां वृत्तं=परस्परसम्बन्धघटनालक्षणं वर्तनं यत्र, तच्छेदवृत्तकं संहननम्, कीलिकापट्टमर्कटबन्धरहितमस्थिपर्यन्तभागमात्रसंस्पर्शि षष्ठसंहननमित्यर्थः। तन्निबन्धनं नाम छेदवृत्तकसहनननाम।

तत्त्वार्थभाष्यकारास्तु सृपाटिकानामकं षष्ठं सहननं ब्रुवन्ति, यथा सृपाटिका=फलसंपुटकम्, यत्र फलानि परस्परस्पर्शमात्रवृत्त्या वर्तन्ते, तथा यस्मिन् संहननेऽस्थीनि कोटिद्वयसगतानि (संस्पृशीनि) चर्मस्नायुमासाऽवबद्धानि तिष्ठन्ति, तत् सृपाटिकासंहननमुच्यते। तन्निबन्धन नाम सृपाटिकासंहनननाम।

एतान्युक्तस्वरूपाणि संहननान्यौदारिकशरीर एव भवन्ति, शेषेष्वस्थ्यभावात् ।

ये पुनराहुरुक्तोपमानोपमेयः शक्तिविशेषः संहननमिति, तेषां मतं न युक्तम्, **प्रज्ञापनावृत्त्यादौ** प्रतिक्षिप्तत्वात् । तथा चात्र **श्रीप्रज्ञापनासूत्रवृत्तिः**–'संहननम्–अस्थिरचनाविशेष, आह च मूलटीकाकार –"संहननमस्थिरचनाविशेष" इति, तेन य आह–सूत्रे शक्तिविशेष एव संहननमिति तथा च तद्ग्रन्थः–'सुत्ते सत्तिविसेसो संघयण' मिति स भ्रान्त ,मूलटीकाकारेण सूत्रानुयायिना संहननस्यास्थिरचनाविशेषात्मकस्य प्रतिपादितत्वात् । यत्त्वेकेन्द्रियाणा सेवार्तसंहननमन्यत्रोक्त तत् टीकाकारेण समर्थितम्, औदारिकशरीरत्वादुपचारत इदमुक्त द्रष्टव्य न तु तत्त्ववृत्त्येति, यदि पुन शक्तिविशेष स्यात्, ततो देवाना नैरयिकाणा च संहननमुच्येत, अथ च ते सूत्रे साक्षादसंहननिन उक्ता इत्यलम् उत्सूत्रप्ररूपकविस्यन्दितेषु ।" इति ॥२०॥

संहननप्रभेदान् भणित्वा संस्थानस्य षड्भेदान् वर्णस्य च पञ्चभेदानाविश्चिकीर्षुराह—

समचउरंसं णिग्गोहसाइकुज्जाणि वामणं हुंडं ।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहिअहलिद्दसिया ॥ २१ ॥

(प्रे०) **'सम०'** इत्यादि, 'समचतुरस्रं' समाः=शास्त्रोक्तलक्षणाऽविसंवादिन्यश्चतस्रः=चतुःसंख्याका अस्रयः=पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम्, आसनस्य ललाटोपरितनभागस्य चाऽन्तरं दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुनश्चान्तरं वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा यत्र संहनने, तत्समचतुरस्रम् "सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरस्रैणीपदाजप्रोष्ठपदभद्रपदम्" (सिद्धहेम० ७-३-१२९) इति सूत्रेण समासान्तो-ऽप्रत्ययः, समचतुरस्रं च तत्संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानम्, तुल्यारोहपरिणाहः सम्पूर्णलक्षणोपेताङ्गोपाङ्गावयवः स्वाङ्गुलाष्टाधिकशतोच्छ्रायः सर्वसंस्थानप्रधानः पञ्चेन्द्रियजीवशरीराकारविशेषः समचतुरस्रसंस्थानमित्यर्थः, तन्निबन्धनं नाम समचतुरस्रसंस्थाननाम, यद्वा समपादाङ्गुष्ठाग्रादारभ्य केशान्तं यावत्स्थितमूर्ध्वं यत्प्रमाणसूत्रम्, तावन्मात्रमेव तिर्यक्प्रसारितयोर्भुजयोः प्रमाणसूत्रम्, एवंभूत संस्थान समचतुरस्रसंस्थानमुच्यते, तन्निबन्धन समचतुरस्रसंस्थाननाम ।

'णिग्गोह०' त्ति 'न्यग्रोधसादिकुब्जानि' पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् न्यग्रोधशब्देन न्यग्रोधपरिमण्डल बोध्यम्, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान सादिसंस्थान कुब्जसंस्थानं च । तत्र नाभेरुपरि सर्वा अवयवाः समचतुरस्रसंस्थानलक्षणाविसंवादिनोऽधस्ताच्च न तथा, तन्न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानम्, यथा न्यग्रोधो=वटवृक्षः, स चोपरि सम्पूर्णाऽवयवोऽधस्तात् पुनर्न तथा, यद्वा वटस्य विस्तारो बहुर्दैर्घ्यं पुनः स्तोकं भवति, तथैवेदमपि विस्तरबहुलं शरीरलक्षणोक्तप्रमाणभाग्, अधस्तु हीनाधिकप्रमाणम्, तन्निबन्धन नाम न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामोच्यते ।

तथा सह आदिना=नाभेरधस्तनभागरूपेण यथोक्तप्रमाणयुक्तेन वर्तत इति सादि संस्थानम्, सर्वमेव हि शरीरमविशिष्टेना-ऽऽदिना सह वर्तत इति विशेषणाऽन्यथा ऽनुपपत्तेरिहाधस्तनकायस्य

विशिष्टता लभ्यते, ततो यत्र नाभेरधस्तनभागो यथोक्तप्रमाणयुक्त उपरि च हीनः, तत् सादिसंस्थानम्। तच्च सादि उत्सेधबहुलं परिपूर्णोत्सेधमित्यर्थः। यद्वा सादीति शाल्मलीतरुमाचक्षते प्रवचनिकाः, तस्य स्कन्धो द्राघीयान् भवति, न तदनुरूपा विशालता, तथेहाऽस्मिन् संस्थाने पुरस्य शिरोऽधो बाहुविस्तारः स्तोको भवति, किन्तूच्चैस्त्वयुक्तो भवति। तत्कारणं नाम सादिसंस्थाननाम।

कन्धराया उपरि पाणिपादं च यथोक्तप्रमाणोपेतं संक्षिप्तविकृतमध्यकोष्ठं च यत्र भवति, तत्कुब्जसंस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम कुब्जसंस्थाननाम। अन्ये त्वाहुः–एतत्स्वरूपं वामनमिति।

'वामण' त्ति ओष्ठादिकं लक्षणयुक्तं हस्तपादयोश्च लक्षणहीनता यत्र, तद्वामनसंस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम वामनसंस्थाननाम, एतल्लक्षणं कुब्जमित्यपरे।

'हुण्डं' ति 'हुण्डम्' यत्र हस्तपादाद्यवयवाः सर्वे शास्त्रोक्तप्रमाणविसंवादिनः प्रायो भवन्ति, तद्धुण्डम्, तन्निबन्धन नाम हुण्डसंस्थाननाम।

'संठाणा' त्ति प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम् 'संस्थानानि' एवं संस्थानानि षड्विधानि भवन्ति।

अथ पञ्चविधं वर्णं व्याजिहीर्षुराह–**'वण्णा'** त्ति वर्णाः' वर्ण्यतेऽलङ्क्रियते शरीरमेभिरिति वर्णाः, ते च पञ्चविधाः। अथ नामग्राहं तान् भणति–**'किण्ह०'** इत्यादि, 'कृष्ण नील-लोहित-हारिद्र-सिताः' यस्योदयात् शरीरं कृष्णं भवति, राजपट्टादिवत्, तत्कर्म कृष्णवर्णनाम, यदुदयाज्जन्तोः शरीरं मरकतादिवद् नीलं भवति, तन्नीलवर्णनाम, यदुदयवशाच्छरीरं लोहितं=रक्तं भवति हिङ्गुलादिवत्, तल्लोहितवर्णनाम। यदुदयवशाज्जन्तुशरीरं हारिद्रं=पीतं भवति हरिद्रावत्, तद्धारिद्रवर्णनाम। यदुदयाज्जन्तुशरीरं सितं=श्वेतं भवति, शङ्खादिवत्, तत् सितनाम। कपिशादयस्तु तत्संयोगेनैवोत्पद्यन्ते, न पुनः सर्वथैतद्विलक्षणा इति न ते पृथक् वर्णत्वेन प्रदर्शिताः ॥२१॥

अथ गन्धादीनामुत्तरभेदान् प्रचिकटयिषुराह—

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसायअंबिला महुरो।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खट्ठा ॥२२॥

(प्रे०) **'सुरहि०'** इत्यादि, 'सुरभिदुरभी' पिण्डप्रकृतिषु वर्णनामकर्मानन्तरं गन्धनाम्नः प्राक्प्रतिपादितत्वाद् गन्धशब्दोऽत्राभिसम्बध्यते, सुरभिगन्धो दुरभिगन्धश्च, तत्र सुष्ठु रमत इति सुरभिः, सुरभिश्चासौ गन्धश्च सुरभिगन्धः, स च सौख्यकृद्भवति। यदुदयाज्जन्तुशरीर कर्पूरादिवत् सुगन्धं भवति, तत् सुरभिगन्धनाम। वैमुख्यकृद् दुरभिगन्धः, यदुदयवशाज्जन्तुशरीरं लशुनादिवद् दुरभिगन्धं भवति, तद् दुरभिगन्धनाम। अत्रोभयसंयोगजा अनेकविकल्पा भवन्ति, किन्तु नाऽत्र ते पृथगुक्ताः, एतयोः संयोगादेव लभ्यत्वेनाऽविवक्षणात्।

अभिहितं गन्धनाम, सम्प्रति रसभेदान् भणति–**'रसा'** इत्यादि, रसाः पूर्वोक्तशब्दार्थाः 'पञ्च' पञ्चसंख्याकाः। अथ तान् नामग्राहं भणति–**'तित्त०'** इत्यादि, 'तिक्तकटुकषायाम्लमधुराः'

एते कृतद्वन्द्वाः प्रथमया निर्दिष्टाः । तत्र यस्योदयेन जन्तुशरीर निम्बादिवत् तिक्तं भवति, तत् तिक्तरसनाम । यदुदयवशात् प्राणिशरीरं मरिचनागरादिवत् कटु भवति, तत्कटुरसनाम । अन्ये तु विपरीतमाहुः । यदुदयवशाद् हरितक्यादिवद् जीवशरीरं कषायं भवति, तत्कषायरसनाम । यदुदयाज्जन्तुशरीरमम्लिकादिवदम्लं भवति, तदम्लरसनाम । यदुदयाज्जीवशरीरमिक्ष्वादिवन्मधुरं भवति, तन्मधुररसनाम । अन्यत्र स्तम्भिताहारविध्वंसादिकर्ता सिन्धुलवणाद्याश्रितो लवणोऽपि रसः पठ्यते, स चेह पृथग् नोपात्तः, मधुरादिसमर्गजत्वात् तदभेदेन च विवक्षणात् ।

उक्तं रसनाम पञ्चविधम् । अथ स्पर्शमष्टविध व्याहरति–'फासा' इत्यादि, 'स्पर्शाः' स्पृश्यन्त इति स्पर्शा', 'अष्टौ' अष्टसख्याका भवन्ति, के पुनस्ते ? इत्यतः प्राह–'गुरु०' इत्यादि, गुरु-लघु मृदु खर- शीतोष्ण–स्निग्ध–रूक्षाः' तत्राऽधोगमनहेतुरयोगोलकादिगतो गुरुः स्पर्शः, प्रायस्तिर्यगूर्ध्वगमनहेतुरर्कतूलाद्याश्रितो लघुः, सन्नतिकारण तिनिश-लतादिस्थितो मृदुः, स्तब्धतादिकारणं पाषाणादिनिश्रितः खरः, देहस्तम्भादिहेतुर्हिमाद्याश्रितः शीतः, आहारपाकादिनिबन्धनं वह्न्यादिगत उष्णः, तैलघृताद्याश्रितः स्निग्ध' स्पर्शः, भस्माद्यादिस्थितश्च रूक्षः । यदुदयवशाद् जन्तुशरीरं वज्रादिवद् गुरु भवति, तद्गुरुस्पर्शनाम । यदुदयाज्जीवशरीरमर्कतूलादिवल्लघु भवति तल्लघुस्पर्शनाम । यदुदयाद् जीवशरीरं मृणालादिवद् मृदु भवति, तन्मृदुस्पर्शनाम । यदुदयवशाज्जीवशरीरमन्धदृषदादिवत् खर जायते, तत्खरस्पर्शनाम । यदुदयवशाज्जन्तुशरीरं जलादिवत् शीत भवति, तच्छीतस्पर्शनाम । यदुदयेन जीवशरीरं ज्वलनादिवदुष्णं भवति, तदुष्णस्पर्शनाम । यदुदयाज्जीवशरीरं घृतादिवत्स्निग्ध भवति, तत् स्निग्धस्पर्शनाम, यदुदयवशाज्जीवशरीरं भूत्यादिवद् रूक्षं भवति, तद् रूक्षस्पर्शनाम । यद्यपि सर्वेषां जीवानां वर्णादिविंशतिकमुदेति, तथापि तत्तत्कृष्णादिप्राधान्यात् कृष्णादिशरीरं व्यवह्रियते ॥२२॥

अथानुपूर्वीविहायोगतिनाम्नोर्गोत्रस्य चोत्तरभेदान् प्रख्यापयितुं प्राह—

णिरयतिरिक्खमणुससुरअणुपुव्वी होज्ज सुहअसुहखगई ।
छट्ठं तिजुअसयविहं णीयुच्चं सत्तमं दुविहं ॥२३॥

(प्रे०) 'णिरय०' इत्यादि, 'निरयतिर्यङ्मनुष्यसुरानुपूर्वी' द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यत इति न्यायेन आनुपूर्वीशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्चायमर्थः–प्राग्व्याख्यातशब्दार्थाऽऽनुपूर्वी चतुर्धा भवति, तद्यथा–निरयानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी सुरानुपूर्वी चेति । तत्र वक्रग य गच्छतो जन्तोर्नरकायुष्युदिते वृषभस्याभिमतदेशनयने रज्जुकल्पाया नरकप्रापणे कारणभूताया नरकानुपूर्व्या उदयो भवति । एव तिर्यगानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी देवानुपूर्वी च भाव्या ।

ऋजुगत्या गच्छतो जन्तोरानुपूर्व्या उदयो न भवति । उक्तं च बृहत्कर्मविपाके:—

"नरयाउयस्स उदए नरए वक्केण गच्छमाणस्स, नरयाणुपुव्वियाए तहिँ उदओ अन्नहिं णत्थि ॥ १ ॥
एव तिरिमणुदेवे तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स, तेसिमणुपुव्वियाण तहिँ उदओ अन्नहिं णत्थि ॥ २ ॥" इति ।

व्याख्यातमानुपूर्वीनाम चतुर्विधम् , सम्प्रति विहायोगतिनाम व्याख्यातुकाम आह–'सुह०' त्ति 'शुभाशुभखगतिः' खगतिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् शुभखगतिः=प्रशस्तविहायोगतिः, अशुभखगतिः=अप्रशस्तविहायोगतिः । यस्योदयेन जन्तोर्वृषभगजराजहंसादिवत् प्रशस्ता विहायोगतिर्भवति, तच्छुभविहायोगतिनाम । यस्योदयेन खरोष्ट्रादिवदप्रशस्ता विहायोगतिर्भवति, तदशुभविहायोगतिनाम ।

अथ निगमयति 'छट्ठ' इत्यादि, 'षष्ठं' ग्रन्थोपात्तज्ञानावरणादिक्रमप्रामाण्यात् नामकर्म 'त्रियुतशतविध' त्र्यधिकशतप्रकारकं भवति ।

अथ गोत्रकर्मणो भेदौ व्याहरति–'णीयुच्चं' इत्यादि, 'नीचोच्चं' नीचमुच्चं च 'सप्तम' गोत्रकर्म द्विविधम् । इदमुक्तं भवति–गोत्रकर्म द्वेधा नीचैर्गोत्रम् उच्चैर्गोत्रं चेति । तत्रार्यदेशसंभवजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम् उच्चैर्गोत्रम् । तत्र आर्यदेशे मगधा-ऽङ्ग-वङ्ग-कलिङ्गादिके संभवः, जातिः पितुरन्वयो हरिवंशेक्ष्वाकुप्रभृतिः, कुल मातुरन्वय उग्रभोगादिरूपम् , स्थान प्रभोः समीपप्रत्यासन्ननिवेशितत्वम्, मानः=पूजा, स्वहस्तेन ताम्बूलादिप्रदानादि., सत्कारोऽभ्युत्थानासनाञ्जलिप्रग्रहप्रभृतिभिः, ऐश्वर्यमिभाश्वरथपदातिप्रभृतेः प्राभूत्यम् , उत्कर्षः=माहात्म्यम् , इत्येतेषामार्यदेशादिसम्भवानां निर्वर्तकमुच्चैर्गोत्रम् । चण्डालमौष्टिकव्याधमत्स्यबन्धदास्यादिनिर्वर्तकं नीचैर्गोत्रम् । तत्र चण्डाला मातङ्गाः, मौष्टिकाः शौरिकाः, व्याधा लुब्धकाः, मत्स्यबन्धाः प्राणातिपातहेतुभिर्ये जीवन्ति । दासभावो दास्यम् । चण्डालादिनिर्वर्तकं नीचैर्गोत्रम् । इदमत्र तात्पर्यम्–यस्योदयाद् बुद्धिधनरूपादिपरिहीणोऽपि लोके पूजां लभते, तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयेन बुद्धिधनरूपादिविशिष्टोऽपि लोके निन्दां लभते, तन्नीचैर्गोत्रम् । उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

"अधणो बुद्धिविउत्तो रूवविहूणो वि जस्स उदएण । लोयम्मि लहइ पूयं उच्चागोयं तयं होइ ॥१॥
सधणो रूवेण जुओ बुद्धीनिउणो वि जस्स उदएण । लोयम्मि लहइ निन्दं एयं पुण होइ नीयं तु ॥२॥" इति।२३।

अथाऽन्तरायकर्मणः पञ्चोत्तरभेदान् भणितुकामः प्राह:—

तह दाणलाहभोगोवभोगविरियंतरायगं चरिमं ।
पंचविहं इइ एआ सव्वा अडवण्णजुत्तसयं ॥२४॥

(प्रे०) 'तह०' इत्यादि, तथा 'दानलाभभोगोपभोगाऽन्तरायकम्' इह स्वार्थिककप्रत्ययः, अन्तरायशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते, दानान्तरायं लाभान्तरायं भोगान्तरायमुपभोगान्तरायं वीर्यान्तरायं चेति 'चरमम्' अन्त्यम् अन्तरायनामकं कर्म पञ्चविधं भवति । इदमुक्तं भवति–जीवं दानादिकं चाऽन्तरा व्यवधानापादनाय एति=गच्छतीत्यन्तरायम् , जीवस्य दानादिकं प्रति-

बध्नातीत्यर्थः । तच्च पञ्चविधम्, दानान्तराय-लाभान्तराय-भोगान्तरायोपभोगान्तरायवीर्यान्तराय-भेदात् । तत्र दीयत इति दानम्, तस्याऽन्तराय दानान्तरायम्, यस्य कर्मण उदयाद् दातव्ये द्रव्ये प्रतिग्राहके च सन्निहितेऽस्मै दत्तं महाफलमिति जानानोऽपि जीवो न ददाति, तद्दानान्तरायम् । लभ्यत इति लाभः, लाभस्याऽन्तरायम् लाभान्तरायम्, यदुदयवशाद् विद्यमानेऽपि देयवस्तूनि यथा-प्रार्थनं स्वशक्त्या ददतो वदान्याद् याञ्चाकुशलोऽपि जनो न लभते, तल्लाभान्तरायम् । ननु यदि दातुः सकाशाद्याचको न लभते, तर्हि दातुर्दानान्तरायं कुतो नाऽभ्युपगम्यते, याचकस्य लाभान्त-रायस्वीकारे किं बीजमिति चेत् ? उच्यते–यदि दाता यथा विवक्षिताय याचकाय न ददाति, तथा-ऽन्यस्मै कस्मैचिदपि मार्गणाय न दद्यात्, तर्हि दातुरेव दानान्तरायम् । किन्त्वयं सर्वस्मै प्रयच्छति, केवलं विवक्षिताय न ददाति, तेन याचकस्य लाभान्तरायम् । दानान्तराय दायकविषयं लाभान्त-रायं तु ग्राहकविषयमित्युभयोर्विवेकः ।

सकृदुपभुज्य यस्त्यज्यते, स भोगः, कर्मणि घञ् प्रत्ययः, स च माल्यचन्दनाहारादिकरूपः । यदुदयात् सति विभवादौ विद्यमाने च माल्याहारादिके विरतिहीनोऽपि न भुङ्क्ते, तद्भोगान्तरायम् ।

उपशब्दः पौनःपुन्यार्थकः, उप=पुनः पुनर्भुज्यते यः, स उपभोगः, स्त्रीशय्याभवनासनादि-लक्षणः । उक्त च **बृहत्कर्मविपाके**–

"सइ भुज्जइ त्ति भोगो सो पुण आहारपुप्फमाईओ । उवभोगो उ पुणो पुण उवभुज्जइ भवणविलयाई ॥" इति ।

उपभोगस्याऽन्तरायम् उपभोगान्तरायम्, यदुदयाद्विद्यमानमपि शय्यासनालङ्कारादिकं नोपभुङ्क्ते, तदुपभोगान्तरायं कर्म ।

वि=विशेषेण ईर्यते=चेष्टतेऽनेनेति वीर्यम्, यद्वा वि=विविधम् अनेकप्रकारमीरयति यत्प्राणिनं क्रियासु, तद्वीर्यम्, शक्तिः सामर्थ्यमुत्साहः पराक्रमश्चेष्टेति तस्य पर्यायाः । तच्च मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीण-मोहगुणस्थानकपर्यवसानाना जीवानां क्षयोपशमजनित भवति, तेन प्रकृष्टाऽप्रकृष्टमुपलभ्यते, क्षयोपशमजनिततारतम्यात् । उत्पन्नकेवले भगवति तु निरतिशयम्, वीर्यान्तरायस्य निश्शेषतः क्षीणत्वात् । वीर्यस्याऽन्तराय वीर्यान्तरायम् । यदुदयवशाद् वयस्थो रोगवियुक्तो बलवानपि जनः कुम्ममोचयादावपि समर्थो न भवति, तद्वीर्यान्तरायकर्म । उक्त च **बृहत्कर्मविपाके**–

"बलव रोगविउत्तो, वयसपण्णो वि जस्स उदएण । विरिएण होइ हीणो वीरियविग्ध तु पचमय ॥१॥" इति ।

'इइ' इत्यादि, 'इति' उक्तप्रकारेण 'एताः सर्वाः' अष्टाना मूलप्रकृतीना सकला उत्तरप्रकृ-तयः 'अष्टपञ्चाशद्युक्तशतम्' अष्टपञ्चाशदधिकशतसंख्याकाः (१५८) भवन्ति, नाऽधिकाः । एताः सत्तामाश्रित्याऽष्टापञ्चाशदुत्तरशतं बोध्याः । कथमेतदवसीयते इति चेत्, उच्यते–प्रागुक्त यद् नाम्न-स्त्र्यधिकशतप्रकृतयः सत्तामाश्रित्य भवन्तीति, तेन तामेवाश्रित्यैतावत्यः प्रकृतयो ज्ञातव्याः । आचार्यान्तरमतेन तु सत्तामाश्रित्याऽष्टचत्वारिंशदधिकशत प्रकृतयो ज्ञातव्याः । यदुक्तं **कर्मस्तवे**–

'अडयाल पयडिसय खविय जिण णिव्वुय वदे ॥" इति । तेषां मते बन्धनानि पञ्चैव गृह्यन्ते, न पुनः पञ्चदश ॥२४॥

बन्धे उदये चाऽष्टपञ्चाशदधिकशतप्रकृतयः पूर्वमहर्षिभिर्न प्ररूप्यन्ते, किन्तु यथाक्रमं विंशत्यधिकशतं द्वाविंशत्यधिकं च शतं प्रकृतयो निरूप्यन्ते, तथाविधविवक्षातः कारणान्तराद्वा । तेन सम्प्रति बन्धमुदयं च प्रतीत्य कथं यथोक्तमानाः प्रकृतयो भवन्तीति हृदि शङ्कामाधाय तदपनोदाय प्राह—

ससरीरन्तरभूया बंधणसंघायणा उ बंधुदए ।
वण्णाइ चऊ गेज्झा बंधे णो सम्ममीसाइं ॥२५॥

(प्रे०) '**ससरीर०**' इत्यादि, तत्र 'बन्धोदये' बन्धे उदये च चिन्त्यमाने 'बंधण०' त्ति प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, "बन्धनसंघातनानि" पञ्चदशबन्धनानि पञ्च च संघातनानि '**ससरीर**'० त्ति 'स्वशरीराऽन्तर्भूतानि' स्वशरीराऽन्तर्गतानि विवक्ष्यन्त इति शेषः । तथाहि—औदारिकशरीरग्रहणेनौदारिकौदारिकौदारिकतैजसौदारिककार्मणौदारिकतैजसकार्मणबन्धनान्यौदारिकसंघातनं च गृहीतानि भवन्ति, न पुनस्तानि पृथगुपादीयन्ते । तथा वैक्रियशरीरग्रहणेन वैक्रियवैक्रिय वैक्रियतैजसवैक्रियकार्मण-वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनानि वैक्रियसंघातनं च गृहीतानि भवन्ति । आहारकशरीरग्रहणेनाऽऽहारकाहारका-ऽऽहारकतैजसा ऽऽहारककार्मण- ऽऽहारकतैजसकार्मणबन्धनान्याहारकसंघातनं च गृहीतानि भवन्ति, तैजसशरीरग्रहणेन तैजसतैजसबन्धन—तैजसकार्मणबन्धने तैजससंघातनं च गृहीतानि भवन्ति, कार्मणशरीरग्रहणाच्च कार्मणकार्मणबन्धनं कार्मणसंघातनं च गृहीते भवतः । तुशब्दो विशेषार्थः, स च तेषां बन्धनसंघातनानां स्थित्युदयबन्धकालादयः स्वशरीरतुल्या ज्ञातव्या इति विशिनष्टि । '**वण्णाइ**' इत्यादि, 'वर्णादयः' वर्णगन्धरसस्पर्शाख्याः 'चत्वारः' सामान्यतश्चतुःसंख्याका ग्राह्याः, न तु कृष्णादिभिः स्वोत्तरभेदैः पञ्चद्विपञ्चाष्टसंख्याकैः विंशतिसंख्याकाः, एवं च बन्धनपञ्चदशकं संघातनपञ्चकं वर्णादिषोडशकं च त्र्युत्तरशतनामप्रकृतितोऽपनीय शेषाः सप्तषष्टिप्रकृतयो नाम्न उदये बन्धे च गृह्यन्ते । तेनोदये सर्वसंख्यया द्वाविंशत्युत्तरशतं प्रकृतयो भवन्ति, उपलक्षणत्वादुदीरणायामपि द्वाविंशत्यधिकशतप्रकृतयो बोध्याः । बन्धे पुनर्न द्वाविंशत्यधिकशतं प्रकृतयः पूर्वमहर्षिभिः प्रतिपादिताः, सम्यक्त्वमोहनीय—सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीययोरप्यपनयनात् । एतदेव प्राह—'**बंधे**' इत्यादि, बन्धे 'सम्यक्त्वमिश्रे' सम्यक्त्वमोहनीयं मिश्रमोहनीयं चाऽपि 'नो' नोशब्दस्य प्रतिषेधार्थकत्वाद्, न भवतः । मिथ्यात्वपुद्गलानां सङ्क्रमेण सम्यक्त्वमोहनीयं सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीयं च निष्पाद्येते, अतो न तयोर्बन्धः सम्भवतीति तयोर्द्वाविंशत्युत्तरशतादपनीतयोः शेषा विंशत्यधिकशतप्रकृतयो बन्धे-ऽधिक्रियन्त इति भावः । तदेवं त्रयोविंशतिगाथाभिर्भणिता मूलप्रकृतय उत्तरप्रकृतयश्च ।

❋ मूलोत्तरप्रकृतीनां यन्त्रकम् ❋

<table>
<tr><th>८ मूलप्रकृतय</th><th colspan="9">१५८ उत्तरप्रकृतय.</th><th>सर्वसंख्या</th><th>गाथा</th></tr>
<tr><td>ज्ञानावरणम</td><td colspan="2">मतिज्ञानावरणम्</td><td colspan="2">श्रुतज्ञाना०</td><td colspan="2">अवधिज्ञा०</td><td colspan="2">मन पर्ययज्ञाना०</td><td>केवलज्ञाना०</td><td>५</td><td>६</td></tr>
<tr><td>दर्शनावरणम्</td><td>चक्षुर्दर्श०</td><td>अचक्षु०</td><td>अवधिद०</td><td>केवलद०</td><td>निद्रा</td><td>निद्रानिद्रा</td><td>प्रचला</td><td>प्रचलाप्र.</td><td>स्त्यानर्द्धि</td><td>९</td><td>६,७</td></tr>
<tr><td>वेदनीयम</td><td colspan="5">सातवेदनीयम्</td><td colspan="4">असातवेदनीयम्</td><td>२</td><td>७</td></tr>
<tr><td>मोहनीयम</td><td>मिथ्यात्वमो०</td><td>मिश्र०</td><td>सम्यक्त्वमो०</td><td colspan="3">△ १६ कपाया</td><td colspan="3">❀ ९ कपाया</td><td>२८</td><td>८–११</td></tr>
<tr><td>आयुष्कम्</td><td colspan="2">निरयायुष्कम्</td><td colspan="2">तिर्यगायुष्कम्</td><td colspan="2">मनुष्यायुष्कम्</td><td colspan="3">देवायुष्कम्</td><td>४</td><td>११</td></tr>
<tr><td>नाम</td><td colspan="2">चतुर्दशपिण्डप्रकृत्युत्तरप्रकृतय ७५
卐 ४ गतय, ५ जातय, ५ शरीराणि, ३ अङ्गोपाङ्गानि, △ १५बधनानि, ५ सघातनानि, ६ सहननानि, ६ सस्थानानि, ५ वर्णा, २ गन्धौ, ५ रसा, ८ स्पर्शा ४ आनुपूर्व्य २ विहायोगती ।</td><td colspan="2">प्रत्येकप्रकृतय ८
अगुरुलघु, उपघातम्, पराघातम्, उच्छ्वासम्, आतपम्, उद्योतम्, निर्माणम् तीर्थकरम् ।</td><td colspan="2">त्रसदशकम् १०
त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येक स्थिर शुभ सुभग सुस्वरम्, आदेय यश-कीर्ति ।</td><td colspan="3">स्थावरदशकम् १०
स्थावर सूक्ष्मम्, अपर्याप्तम् साधारणम अस्थिरम् अशुभ दुर्भग दु स्वरम् अनादेयम् अयश कीर्ति ।</td><td>१०३</td><td>१२-२३</td></tr>
<tr><td>गोत्रम्</td><td colspan="5">उच्चैर्गोत्रम्</td><td colspan="4">नीचैर्गोत्रम्</td><td>२</td><td>२३</td></tr>
<tr><td>अन्तरायम्</td><td colspan="2">दानान्तरायम्</td><td colspan="2">लाभान्तरायम्</td><td colspan="2">भोगान्तरायम्</td><td colspan="2">उपभोगान्तरायम्</td><td>वीर्यान्तरायम्</td><td>५</td><td>२४</td></tr>
<tr><td></td><td colspan="9"></td><td>१५८</td><td></td></tr>
</table>

सङ्केतसूचि:—

△ १६ कषाया —१ अनन्तानुबन्धिक्रोध , २ अनन्तानुबन्धिमान ३ अनन्तानुबन्धिमाया ४ अनन्तानुबन्धि-लोभ., ५ अप्रत्याख्यानावरणक्रोध ६ अप्रत्याख्यानावरणमान ७ अप्रत्याख्यानावरणमाया ८ अप्रत्याख्यानावरणलोभ , ९ प्रत्याख्यानावरणक्रोध १०प्रत्याख्यानावरणमान ११ प्रत्याख्यानावरणमाया १२ प्रत्याख्यानावरणलोभ , १३ सज्वलनक्रोध १४ सज्वलन-मान १५ सज्वलनमाया १६ सज्वलनलोभश्च ।

❀ ९ नोकषाया =१ हास्य २ रति ३ अरति. ४ शोक ५ भय ६ जुगुप्सा ७ स्त्रीवेद ८ पुरुषवेद ९ नपुंसक-वेदश्च ।

卐 ४ गतय =१ नरयगति॰ २ तिर्यग्गति ३ मनुष्य-गति ४ देवगतिश्च ।

५ जातय =१ एकेन्द्रियजाति २ द्वीन्द्रियजाति ३ त्रीन्द्रियजाति ४ चतुरिन्द्रियजाति ५ पञ्चेन्द्रियजातिश्च ।

५ शरीराणि=१ औदारिक २ वैक्रियम् ३ आहारक ४ तैजस ५ कार्मण च ।

३ अङ्गोपाङ्गानि=१ औदारिकाङ्गो० २ वैक्रियाङ्गो० ३ आहारकाङ्गो० ।

१५ बन्धनानि=१ औदारिकौदारिक० २ औदारिक-तैजस० ३ औदारिककार्मण० ४ औदारिकतैजसकार्मण० ५ वैक्रिय-वैक्रिय० ६ वैक्रियतैजस० ७ वैक्रि-यकार्मण० ८ वैक्रियतैजसकार्मण० ९ आहारकाहारक० १० आहा-रकतैजस० ११ आहारककार्मण० १२ आहारकतैजसकार्मण० १३ तैजस-तैजस० १४ तैजसकार्मण० १५ का-र्मणकार्मणबन्धन च ।

५ सघातनानि=१ औदारिकसघातन २ वैक्रिय० ३ आहारक० ४ तैजस० ५ कार्मण-सघातन च ।

६ सहननानि=१वज्रर्षभनाराचम् २ ऋषभनाराच ३ नाराचम् ४ अर्धनाराच ५ कीलिका ६ सेवार्तम् ।

६ सस्थानानि=१समचतुरस्र २ न्यग्रोधपरिमण्डल ३ सादि ४ कुब्ज ५ वामन ६ हुण्ड च ।

५ वर्णा =१ कृष्णो २ नीलो ४ लोहितो ४ हारिद्र: ५ शुक्लश्च ।

२ गन्धौ=१ सुरभि २ दुरभिश्च ।

५ रसा =१ तिक्त २ कटु ३ कषाय ४ अम्ल ५ मधुरश्च ।

८ स्पर्शा =१ गुरु २ लघु ३ मृदु ४ खर ५ शीत ६ उष्ण ७ स्निग्धो ८ रूक्षश्च ।

४ आनुपूर्व्य =१ निरयापूर्वी २ तिर्यगानुपूर्वी ३ मनु-ष्यानुपूर्वी ४ देवानुपूर्वी च ।

२ विहायोगती =१ शुभविहायोगति २ अशुभविहा-योगतिश्च ।

/\ केचिदाचार्या —पञ्चदशबन्धननामकर्मस्थाने शरीरवत् पञ्च बन्धनानि पठन्ति, तेन तेषा मते १४८ उत्तर–प्रकृतय ।

† उदये पञ्चदशबन्धननामानि पञ्च च सघातनानि च न पृथग् गृह्यन्ते, औदारिकशरीरग्रहणेन तेषा ग्रहणात् , तथा वर्णगन्धरसस्पर्शना यथासख्य पञ्चद्विपञ्चाष्टभेदैर्निष्पन्ना विंशतिमपनीय तेषामेव सामान्य वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षण चतुष्क गृह्यते, तेनाष्टपञ्चाशदुत्तरशताद् पञ्चदशबन्धन-पञ्चसघातन-वर्णादिषोडशकरूपषट्त्रिंशत्यपसारितायामुदय प्रतीत्य द्वाविशत्यधिकशत(१५८-३६=१२२)प्रकृतयो भवन्ति ।

★ बन्धे मिश्रमोहनीय-सम्यक्त्वमोहनीये अपि नादीयेते, तेन द्वाविंशत्यधिकशतात् तयोरपसारित-योर्विंशत्यधिक शतम् (१२२-२=१२०) उत्तरप्रकृतयो बन्धमधिकृत्य भवन्ति । (गाथा २५)

बन्धश्चतुर्विधो भवति प्रकृत्यादिभेदादिति द्वितीयगाथया प्राक्प्रतिपादितम् । सम्प्रति स बन्धोऽस्मिन् ग्रन्थे किं सामान्येन प्रतिपादयिष्यते ? उत विशेषेण ? इत्यत आह—

इह खलु ओघेण तहा आएसेण जहसंभवं बंधं।
वोच्छिहिमु मग्गणासुं चउसत्तरिउत्तरसयम्मि ॥२६॥

(प्रे०) 'इह' इत्यादि, 'इह' अस्मिन् बन्धविधानाख्ये ग्रन्थे, खलुर्वाक्यालङ्कारे ओघेन=सामान्येन तथा आदेशेन=विशेषेण 'मार्गणासु' मार्ग्यन्ते=अन्विष्यन्ते बन्धादयः पदार्था यासु, ता मार्गणाः "णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरन" (सिद्धहेम० ५-३-१११) इत्यनेनाऽऽधारेऽनप्रत्ययः, 'आत्' (सिद्धहेम० २ ४ १८) इत्यनेन च सूत्रेण आप् प्रत्ययः, तासु, अथवा स्थानशब्दस्य लुप्तत्वाद् मार्गणाशब्देन मार्गणास्थानानि ग्रहीतव्यानि, तत्र मार्गणं=बन्धादिपदार्थानामन्वेषणं मार्गणा, तस्याः स्थानानि मार्गणास्थानानि, तेषु, कतिषु वक्ष्यन्ति भवन्तः ? इत्यत आह—'चउ०' त्ति 'चतुःसप्तत्युत्तरशते' चतुस्सप्तत्यधिकशतप्रमाणासु (१७४) 'बन्धं' प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशभेदाद् यश्चतुर्विधो बन्धः, तं यथासंभवं 'वक्ष्यामः' प्रतिपादयिष्यामः । इदमुक्तं भवति—गत्यादिमार्गणा अनपेक्ष्य यो बन्धो वक्ष्यमाणसत्पदादिभिर्द्वारैः प्रतिपादयिष्यते, स बन्ध ओघेन प्ररूपितो ज्ञातव्यः । यथा ज्ञानावरणादीनां प्रकृतीना बन्धोऽस्ति, ज्ञानावरणादिप्रकृतिबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः, कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रभृतिरित्यादि । यः पुनर्नरकगत्यादिमार्गणाविशेषान् अधिकृत्य बन्धो वक्ष्यमाणसत्पदादिभिर्द्वारैः प्रतिपादयिष्यते, स बन्ध आदेशेन निरूपितो ज्ञातव्यः, यथा नरकगत्यादिषु ज्ञानावरणादिप्रकृतीना बन्धोऽस्ति, ज्ञानावरणादिप्रकृतिबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः । कालस्तु दशसहस्रवर्षप्रभृतिरित्यादि । सर्वत्र खल्वोघादेशभेदाद् द्विविधमेव व्याख्यानं भवति, सामान्यविशेषव्यतिरिक्ताभावात् । न च विशेषस्य सामान्याश्रयत्वाद् विशेषस्य प्ररूपणायां कृतायां सामान्यस्याऽपि बोधो भविष्यतीति वाच्यम्, सक्षेपविस्तररुचिसत्त्वाऽनुग्रहार्थं पृथक् प्ररूपणात् । तत्राप्यादौ तावत् सामान्यतः प्ररूपणा क्रियते, अन्यथा विस्तरं दृष्ट्वा व्याकुलमनो नोत्सहेत विशेषप्ररूपणाश्रवणाय ।

अत्राऽऽदेशेन चतुःसप्तत्युत्तरशतमार्गणासु यथासम्भवं वक्ष्याम इति वचनात् सर्वोऽपि बन्धो न चतुःसप्तत्यधिकशतमार्गणासु वक्ष्यते, किन्तु यथासंभवमेव, यथा प्रकृतिबन्धश्चतुःसप्तत्यधिकशतमार्गणासु (१७४) वक्ष्यते, स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धश्च सप्तत्यधिकशतमार्गणासु (१७०) प्रतिपादयिष्यते, अकषाय-केवलज्ञान-यथाख्यातसयम-केवलदर्शनमार्गणासु कषायाभावेनोक्तबन्धयोरसम्भवात् । एवं प्रदेशबन्धोऽपि सप्तत्यधिकशतमार्गणासु भणिष्यते, अकषायादिषु प्रदेशबन्धस्य सत्त्वेऽपीह ग्रन्थे सकषाययोगजनितप्रदेशबन्धस्य विवक्षणात् । तथा चतुर्विधोऽप्यायुर्बन्धस्त्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणासु (१६३) कथयिष्यते, वैक्रियमिश्र-कार्मणयोगा-ऽपगतवेदा-ऽकषाय-केवलज्ञान-सूक्ष्मसम्परायसंयम यथाख्यातसयम-केवलदर्शनौपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रा-ऽनाहारकमार्गणास्वायुर्बन्धासम्भवात् ॥२६॥

'बध वोच्छिहिसु मग्गणासु' इत्यत्र मार्गणाशब्दोपादानाद् मार्गणाः प्रतिपिपादयिषुरादौ तावन्मूलमार्गणाः प्रदर्शयन्नाह–

गइइंदियाणि कायो जोओ वेओ कसायणाणाणि ।
संजमदंसणलेसा भवसम्मं सण्णिआहारा ॥२७॥

(प्रे०) **'गइइंदियाणि'** त्ति 'द्विवचनस्य बहुवचनम्' (सिद्धहेम०८-३-१३०) इत्यनेन प्राकृतलक्षणेन द्विवचनस्य स्थाने बहुवचनमुपात्तम् । 'गतीन्द्रिये' गतिश्च इन्द्रियश्च गतीन्द्रिये । तत्र गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः 'स्त्रियां क्तिः'(सिद्धहेम ५-३-९१) इत्यनेन कर्मणि क्तिप्रत्ययः,नारकत्वादिपर्यायपरिणतिरित्यर्थः । न चाऽनया व्युत्पत्त्या गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादीनामपि गतिव्यपदेशः स्यादिति वाच्यम् , गम्यते=प्राप्यते कर्मोदयवशवर्तिभिर्जीवैर्येन गतिनामकर्मणा, तत्कर्म गतिः, उपचाराद् नारकत्वादिपरिणतिरपि गतिरिति व्याख्यानात् । तथाहि– विवक्षितनारकत्वादिपरिणतिं गच्छन्ति संसारिणो जीवा येन कर्मणा, तत्कर्म गतिः, कार्ये कारणोपचाराच्च नारकत्वादिपरिणतिरपि गतिः । एतदुक्तं भवति–चातुर्गतिकसंसारिणां नारकत्वादिपरिणतिरूपगमनहेतुर्गतिनामकर्मैव, नारकत्वादिपरिणतिरूपे कार्ये तत्कारणभूतस्य नरकादिगतिनामकर्मण उपचाराद् नारकत्वादिपरिणतिरपि गतिरुच्यते । शकटादीनां तु गमनहेतुत्वेऽपितादृशगतेः कर्मजन्यत्वाभावाद् न तेषां गतिव्यपदेशः । यद्वा नारकत्वादिपरिणतिं प्रति गमनं गतिः, तेन ग्रामारामादिगमनस्य न गतिप्रसङ्गः ।

'इदु परमैश्वर्ये' इन्दनात् सर्वद्रव्यविषयेष्वैश्वर्ययोगाद् इन्द्रो जीवः 'भीवृधि०' (उणादि० ३८७) इत्यनेन रप्रत्ययः । इन्द्रस्य=जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियम् , चक्षुराद्युच्यते, आत्मनः कर्तृत्वानुमाने चक्षुरादीनां करणत्वेन लिङ्गत्वात् , इन्द्रेण वा जीवेन दृष्टम् इन्द्रियम् , आत्मा हि चक्षुरादीनि दृष्ट्वा स्वविषये नियुङ्क्ते । इन्द्रेण सृष्टमिन्द्रियम् , आत्मकृतेन हि शुभाशुभकर्मणा तथाविधविषयोपभोगाय जीवस्य चक्षुरादीनि जायन्ते, तेन सर्जकत्वमात्मनः । इन्द्रेण जुष्टमिन्द्रियम् , यतश्चक्षुरादीन्यवलम्ब्य विज्ञानमुत्पादयति । इन्द्रेण दत्तमिन्द्रियम् , विषयग्रहणाय विषयेभ्यः समर्पणात् । इन्द्रस्याऽऽवरणक्षयोपशमसाधनमिन्द्रियम् । तत्र विषयेषु चक्षुरादीनां प्रसक्तत्व आवरणसाधनत्व विरक्तत्वे च क्षायोपशमसाधनत्वमिति । एवं लिङ्गाद्यर्थेषु इन्द्रशब्दाद् इयप्रत्ययः 'इन्द्रियम्' (सिद्धहेम० ७-१-१७४) इति सूत्रेण निपात्यः । मतिज्ञानावरणक्षयोपशमसम्भूतमेकेन्द्रियादिजातिनामकर्मोदयनियमितक्रम स्पर्शेन्द्रियादिभेदभिन्नं पर्याप्तनामकर्मादिसामर्थ्यसिद्धमिन्द्रियमित्यर्थः ।

'कायो' त्ति 'कायः' चीयते=औदारिकादिनामकर्मभिरुपचयं नीयत इति कायः, "चितिदेहावासोपसमाधाने कश्चादेः" (सिद्धहेम० ५-३ ७९) इति सूत्रेण घञ् प्रत्ययश्चकारस्य च ककारः, तेनेष्टकादीनां चयस्य न कायव्यपदेशः, औदारिकादिनामकर्मकरणकचयाभावात् ।

न च कार्मणकाययोगाऽवस्थायामौदारिकवैक्रियाभावेन कायव्यपदेशो न स्यादिति वाच्यम्, तत्राऽपि कार्मणशरीरोदयेन कर्मपुद्गलचयोपदर्शनात्। यद्वा चीयते=सहकारिभिः पृथिव्यादिनामकर्मभिरुपचयं नीयत इति कायः, पूर्ववत् घञ् प्रत्ययः, कार्मणकाययोगाऽवस्थाऽयोगिकेवल्यवस्थयोस्त्वौदारिकादिपुद्गलग्रहणाभावेन तच्चयाभावेऽपि कारणे कार्योपचारात् पृथिव्यादिनामकर्मरूपचयनहेतोः सत्त्वाद् न जीवाना तत्र कायव्यपदेशो विरुद्धः।

'जोगो' त्ति 'योगः' युज्यते धावनवल्गनादिचेष्टासु जीवोऽनेनेति योगः, 'पुंनाम्नि घः' (सिद्धहेम० ५-३-१३०) इत्यनेन करणे घप्रत्ययः। यद्वा योजनं योगः, भावे घञ्, वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमजनितेन पर्यायेणात्मनः सम्बन्ध इत्यर्थः, अथवा युज्यते सम्बध्यते कर्मप्रदेशैः सह जीवोऽनेनेति योगः, कर्मादाननिबन्धनत्वात्तस्य। योगो वीर्यं शक्तिः स्थामः पराक्रमश्चेष्टा (परिस्पन्दः) उत्साहः सामर्थ्यमित्येकार्थाः, यदुक्तं **कर्मप्रकृतौ**–

"जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तह चेट्ठा। सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवंति पज्जाया॥" इति।

कर्तृसाधनो वा योगशब्दः, तद्यथा–युनक्ति शरीरादियुक्ते जीवे वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमजनितं पर्यायमिति योगः। अथवा कर्मसाधनः, तथाहि–वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमजनितेन पर्यायेण धावनादिक्रियासु युज्यते=व्यापार्यत इति योगः, वीर्याऽन्तरायक्षयक्षयोपशमजनितः शरीरादियुक्तस्य जीवस्य परिणामविशेष इत्यर्थः। यदुक्तं **श्रीस्थानाङ्गसूत्रे**–

"मणसा वायसा काएण वावि जुत्तस्स वीरियपरिणामो। जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ॥१॥
तओ जोगेण जहा रत्तत्ताई घडस्स परिणामो। जीवकरणप्पओए विरियमवि तहप्पपरिणामो॥२॥" इति।

एतेन न युज्यमानानां वस्त्राणां कषायाणां च योगव्यपदेशः, तेषां वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितत्वाभावात्, क्षयशब्दोपादानाच्च न सयोगिकेवलिनां योगाभावापत्तिः 'शरीराद्युदययुक्तस्य' इत्यस्योपादानाद् नाऽयोगिनां योगप्रसक्तिः।

'वेओ' त्ति वेद्यते=अनुभूयत इति वेदः, स च त्रिविधः पुरुषवेदादिभेदात्। न च सर्वेषां कर्मणां वेद्यमानत्वेन तेषामपि वेदत्वव्यपदेशः स्यादिति वाच्यम्, गच्छतीति गौरित्युक्तेऽपि सास्नामत्त्वे एव गोशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वोपलम्भाद् रूढिवशेन पुरुषवेदादिष्वेव वेदशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वाभ्युपगमात्। अथवा करणसाधनो वेदशब्दः, वेद्यते इन्द्रियोद्भूतं सुखमनेनेति वेदः, वेदग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूताऽवेदमार्गणाऽपि गृह्यते। वक्ष्यते च वेदप्रभेदाऽवसरे 'थीपुमणपुमअवेआ' इति।

'कसायणाणाणि' त्ति 'कषायज्ञाने' कषायश्च ज्ञानं च कषायज्ञाने, "चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ" (सिद्धहेम० ३-१-११७) इत्यनेन सूत्रेण इतरेतरद्वन्द्वसमासः, प्राकृतत्वाच्च बहुवचनम्। तत्र 'कष शिष जष झष हिंसायाम्' कृष्यन्ते=हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन्निति कषः=संसारः। 'अयि गतौ' कषमयन्ते एभिर्जीवा इति कषायाः, यद्वा कषस्य आयो=लाभो येभ्यः, ते कषायाः। 'कृषीत् विलेखने' कृषन्ति=विलेखयन्ति सुखदुःखरूपमस्योत्पत्तये कर्मक्षेत्रमिति कषायाः, आयप्रत्यय ऋकारस्य चाऽकार

कषायाः, तावत् कषायोदयस्योपबृंहिका भवति योगान्तर्गतद्रव्यात्मकलेश्या । दृश्यते च योगान्तर्गतद्रव्याणां कषायोदयोपबृंहणसामर्थ्यम् , पित्तद्रव्यवत् । तद्यथा–पित्तप्रकोपविशेषात् प्रवर्धते महान् कोपः, तथा योगान्तर्गतद्रव्यविशेषादपि प्रवर्धते कषायोदयः । न च तथाऽभ्युपगमे 'स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण' इति वाचकपुङ्गववचनेन सह विरोधः स्यादिति वाच्यम् , यतः स्थितिपाको नामाऽनुभाग उच्यते, तस्य निमित्त कषायोदयान्तर्गतकृष्णादिलेश्यापरिणामाः, ते च वस्तुतः कषायरूपा एव, तदन्तर्गतत्वात् । न च लेश्यापरिणामानां कषायोदयान्तर्गतत्वस्वीकारे कृष्णादिलेश्यापरिणामवैचित्र्यं कथं लभ्येत ? इति वाच्यम् , योगान्तर्गतद्रव्यरूपमहकारिकारणभेदवैचित्र्याभ्यां तदुपपत्तेः । यदुक्त प्रज्ञापनावृत्तौ पूज्यमलयगिरिपादैः–"योगनिमित्ततायामपि विकल्पद्वयमवतरति किं योगान्तर्गतद्रव्यरूपा योगनिमित्तकर्म्मद्रव्यरूपा वा ? तत्र न तावद्योगनिमित्तकर्म्मद्रव्यरूपा विकल्पद्वयानतिक्रमात् । तथाहि–योगनिमित्तकर्म्मद्रव्यरूपा सती घातिकर्म्मद्रव्यरूपा अघातिकर्म्मद्रव्यरूपा वा ? न तावद् घातिकर्म्मद्रव्यरूपा, तेषामभावेऽपि सयोगिकेवलिनि लेश्याया सद्भावात् । नाऽप्यघातिकर्म्मरूपा, तत्सद्भावेऽप्ययोगिकेवलिनि लेश्याया अभावात् । तत पारिशेष्यात् योगान्तर्गतद्रव्यरूपा प्रत्येया, तानि च योगान्तर्गतानि द्रव्याणि यावत्कषायास्तावत्तेषामप्युदयोपबृंहकाणि भवन्ति, दृष्ट च योगान्तर्गताना द्रव्याणा कषायोदयोपबृंहणसामर्थ्यं यथा पित्तद्रव्यस्य तथाहि–पित्तप्रकोपविशेषादुपलक्ष्यते महान् प्रवर्धमान· कोप, अन्यच्च बाह्यान्यपि द्रव्याणि कर्म्मणामुदयक्षयोपशमादिहेतव उपलभ्यन्ते, यथा ब्राह्म्यौषधिर्ज्ञानावरणक्षयोपशमस्य, सुरापान ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्तायुक्तविवेकविकलतोपजायते, दधिभोजन निद्रारूपदर्शनावरणोदयस्य, तत्किं योगद्रव्याणि न भवन्ति ? तेन य स्थितिपाकविशेषो लेश्यावशादुपगीयते शास्त्रान्तरे, स सम्यगुपपन्न, यत स्थितिपाको नामानुभाग उच्यते, तस्य निमित्त कषायोदयान्तर्गतकृष्णादिलेश्यापरिणामा, ते च परमार्थत कषायस्वरूपा एव, तदन्तर्गतत्वात् । केवल योगान्तर्गतद्रव्यसहकारिकारणभेदवैचित्र्याभ्या ते कृष्णादिभेदैर्भिन्नास्तारतम्यभेदेन विचित्राश्चोपजायन्ते, तेन यद्भगवता कर्मप्रकृतिकृता शिवशर्माचार्येण शतकाख्ये ग्रन्थेऽभिहित 'ठिइअणुभाग कसायओ कुणइ' इति तदपि समीचीनमेव, कृष्णादिलेश्यापरिणामानामपि कषायोदयान्तर्गताना कषायरूपत्वात् ।" इति । तथैव लोकप्रकाशेऽपि निगदितम् । तथा च तद्ग्रन्थः ।

"द्रव्याण्येतानि योगान्तर्गतानीति विचिन्त्यताम् । सयोगित्वे तु लेश्यानामन्वयव्यतिरेकत ॥१॥" इति ।

मनोयोगाऽवष्टम्भजनितपरिणामो लेश्येति तु तत्त्वार्थवृत्तिकाराभिप्रायः । तथा चाऽत्र तत्त्वार्थवृत्तिः– 'लिश्यन्त इति लेश्या, मनोयोगावष्टम्भजनितपरिणाम आत्मना सह लिश्यते एकीभवतीत्यर्थ ।" इति ।

उत्तराध्ययनबृहद्वृत्तिकारेण वादिवेतालश्रीशान्तिसूरीश्वरैः योगपरिणामो लेश्येति प्रदर्श्य लेश्यायाः कर्मस्थितिहेतुता कर्मनिस्यन्दत्वं चेति गुरूणामभिप्राय इति प्रतिपादितम् । गुरुभिश्च योगपरिणामो लेश्या इति मतं प्रक्षिप्तम् । तथा चाऽत्रोत्तराध्ययनबृहद्वृत्तिः– "इह च कर्मद्रव्यलेश्येति सामान्याभिधानेऽपि शरीरनामकर्मद्रव्याण्येव कर्मद्रव्यलेश्या, यदुक्त प्रज्ञापनावृत्तिकृता–'योगपरिणामो लेश्या । कथ पुनर्योगपरिणामो लेश्या ? यस्मात् सयोगिकेवली शुक्ललेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तर्मुहूर्ते शेषे योगनिरोध करोति, ततोऽयोगित्वमलेश्यत्व च प्राप्नोति, अतोऽवगम्यते योग-

परिणामो लेश्येति । स पुनर्योग शरीरनामकर्मपरिणतिविशेष , यस्मादुक्त 'कर्म हि कार्मणस्य कार्यमन्येषा च कारण शरीराणा'मिति, तस्मादौदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेष काययोग , तथौदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतावाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो य , स वाग्योग , तथैवौदारिकादिशरी-रव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो य , स मनोयोग इति । ततो यथैव कायादिकरणयुक्त-स्यात्मनो वीर्यपरिणतिर्योग उच्यते, तथैव लेश्याऽपीति ।

गुरुवस्तु व्याचक्षते–कर्मनिस्यन्दो लेश्या, यत कर्मस्थितिहेतवो लेश्या , यथोक्तम्–'ता कृष्णनील-कापोत–तेजसी–पद्म–शुक्लनामान । श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्य ॥१॥" इति । योगपरिणामत्वे तु लेश्याना "योगा पयडिपएस ठिइअणुभाग कसायओ कुणति" त्ति वचनात्प्रकृति-प्रदेशबन्धहेतुत्वमेव स्यात् , न तु कर्मस्थितिहेतुत्व,कर्मनिस्यन्दरूपत्वे तु यावत्कषायोदयस्तावत्तन्निस्यन्द-स्यापि सद्भावात् कर्मस्थितिहेतुत्वमपि युज्यते एव । अत एवोपशान्तक्षीणकषाययो कर्मबन्धसद्भावेऽपि न स्थितिसम्भव , यदुक्तम् "त पढमसमये बद्ध बीयसमये वेइय ततियसमए निज्जिण्ण"ति । आह–यदि कर्म-निस्यन्दो लेश्या, तदा समुच्छिन्नक्रिय शुक्लध्यान ध्यायत कर्मचतुष्टयसद्भावे तन्निस्यन्दसम्भवेन कथ न लेश्यासद्भाव । उच्यते–नाय नियमो यदुत निस्यन्दवतो निस्यन्देन सदा भाव्य, कदाचिन्निस्यन्दवत्स्वपि वस्तुषु तथाविधावस्थाया तदभावदर्शनात् । यच्चोक्तम्–अयोगिनो योगपरिणामाभावे लेश्यापरिणामाभाव इति निश्चितम -'योगपरिणाम एव लेश्येति तदप्यसाधक यतो रश्म्यादय सूर्याद्यभावे न भवन्ति, न च ते तद्रूपा एव, यत उक्तम्–"यच्च चन्द्रप्रभाद्यत्र, ज्ञात तज्ज्ञातमात्रकम् । प्रभापुद्गलरूपा यत्तद्धर्मा नोपपद्यते ॥१॥"इति ।

कर्मनिष्यन्दो लेश्या,लेश्यायाश्च स्थितिबन्धहेतुतेत्यसौ पक्ष आराध्यपादश्रीमलयगिरि-सूरीश्वरैः प्रतिविहितः, उक्तं च तैः प्रज्ञापनावृत्तौ "तेन यदुच्यते कैश्चिद् योगपरिणामत्वे लेश्याना "जोगा पयडिपएस ट्ठिइअणुभाग कसायओ कुणइ" इति वचनात् प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुत्वमेव स्यान्न कर्म-स्थितिहेतुत्वमिति तदपि न समीचीन यथोक्तभावार्थाऽपरिज्ञानात् , अपि च न लेश्या स्थितिहेतव , किन्तु कषाया , लेश्यास्तु कषायोदयान्तर्गता अनुभागहेतव , अत एव च 'स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशे-षेण' इत्यत्रानुभागप्रतिपत्त्यर्थ पाकग्रहणम् , एतच्च सुनिश्चित कर्म्मप्रकृतिटीकादिषु, तत सिद्धान्तपरिज्ञान-मपि न सम्यक् तेषामस्ति, यदप्युक्तम्–'कर्म्मनिष्यन्दो लेश्या, निष्यन्दरूपत्वे हि यावत्कषायोदय , तावन्नि-ष्यन्दस्यापि सद्भावात् कर्म्मस्थितिहेतुत्वमपि युज्यते एव इत्यादि, तदप्यश्लील, लेश्यानामनुभागबन्धहेतुतया स्थितिबन्धहेतुत्वायोगात् । अन्यच्च कर्मनिष्यन्द किं कर्म्मकल्क उत कर्म्मसारः । न तावत्कर्म्मकल्क , तस्यासारतयोत्कृष्टानुभागबन्धहेतुत्वानुपपत्तिप्रसक्ते , कल्को ह्यसारो भवति, असारश्च कथमुत्कृष्टानुभाग-बन्धहेतु ? अथ चोत्कृष्टानुभागबन्धहेतवोऽपि लेश्या भवन्ति ।अथ कर्म्मसार इति पक्षस्तर्हि कस्य कर्मण सार इति वाच्यम् ? यथायोगमष्टानामपीति चेत, अष्टानामपि कर्मणा शास्त्रे विपाका वर्ण्यन्ते, न च कस्यापि कर्म्मणो लेश्यारूपो विपाक उपदर्शित । तत कथ कर्म्मसारपक्षमङ्गीकुर्म्महे ? तस्मात् पूर्वोक्त एव पक्ष श्रेयानित्यङ्गीकर्तव्य , तस्य हरिभद्रसूरिप्रभृतिभिरपि तत्र तत्र प्रदेशे अङ्गीकृतत्वादिति ।"

एवं लेश्यायाः कषायोदयान्तर्गतत्वादेकैककषायोदयस्थानेऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशमात्राणि रसबन्धाऽध्यवसायस्थानानि भवन्ति, तानि च लेश्यास्थानप्रयुक्तानि भवन्ति ।

आचाराङ्गवृत्तिकृदादयस्तु कषाययोगपरिणामविशेषसमुद्भूता लेश्येत्याहुः । तथा च तद्ग्रन्थः—लेश्या 'कृष्णादिभेदा अशुभाशुभाश्च कषाययोगपरिणामविशेषसमुत्था " **इति ।**

केचिदाहुः-कार्म्मणशरीरवत्पृथगेव कर्माष्टकात् कर्मवर्गणानिष्पन्नानि कर्मलेश्याद्रव्याणीति।

अन्ये पुनः प्राहुः-कर्माष्टकोदयाद्यदसिद्धत्वं तस्मिन्नेवाऽन्तर्भूता लेश्येति। उक्तं च **तत्त्वार्थवृत्तौ**-अपरे तु मन्यन्ते कर्माष्टकोदयादसिद्धत्वमेव लेश्या ग्राह्या। तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति।

तत्र कृष्णादिद्रव्यमात्रं द्रव्यलेश्या, कृष्णादिवर्णद्रव्यावष्टम्भजनितश्च परिणामविशेषो भावलेश्या, प्रत्येकं च षोढा वक्ष्यमाणकृष्णादिभेदात्।

'भवसम्मं' ति 'भव्यसम्यक्त्वं' भव्यश्च सम्यक्त्वं चेत्यनयोः समाहारः, भव्यसम्यक्त्वम्। तत्र भवति=मुक्तिपदयोग्यतामासादयतीति भव्यः। "भव्यगेयजन्यरम्यापात्याप्लाव्य नवा" (सिद्धहेम० ५-१-७) इत्यनेन कर्तरि यप्रत्ययः, यकारलोपश्च प्राकृतत्वात्, मुक्तिगमनार्ह इत्यर्थः।

भव्यग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूतो-ऽभव्योऽपि सूचितः।

भव्या आर्हतप्रवचने भवसिद्धिका अपि निगद्यन्ते, तेषामियं व्युत्पत्तिः-भविष्यतीति भवा, भवा=भाविनी सिद्धिर्येषाम्, ते भवसिद्धिकाः।

ननु भव्यानां मुक्तिगमनार्हत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽनन्तकालेन सकलभव्यानां सिद्धिसौधाऽधिष्ठाने लोको भव्यशून्यः प्रसज्येतेति चेत्, न, यतो मुक्तिगमनयोग्या अपि न सर्वे भव्याः सिध्यन्ति, सेत्स्यन्ति वा, प्रतिमायोग्यपाषाणकाष्ठादिवत्, यथा पाषाणकाष्ठादयो यद्यपि प्रतिमादियोग्या भवन्ति, तथापि न योग्यतामात्रेण प्रतिमादिरूपेण परिणमन्ति, किन्तु प्रतिमादिनिष्पत्तिसामग्रीसद्भावे सति प्रतिमादिरूपेण परिणमन्ति, तादृशसामग्रीविरहे तु न तद्रूपेण परिणमन्ति। न च तादृशसामग्रीसमवविरहमात्रेण प्रतिमादिविषयेऽयोग्यता तेषां युक्ता। एवमिहाऽपि भव्यानां मुक्तिगमनार्हत्वेऽपि तथाभव्यत्वपरिपाकादिरूपसिद्धिगमनसामग्रीसद्भाव एव तेषां मोक्षः। तथाभव्यत्वपरिपाकश्च न सर्वेषां भवति, तदभावात् सम्यक्त्वाभावः, तस्माच्च सिद्ध्यभावः। अतो न सर्वेषां भव्यानां मुक्तिप्रसङ्गः। न च तादृशसामग्रीविरहेण तेषामयोग्यत्वव्यपदेशो युक्तः, स्वरूपयोग्यकारणताव्यवहारलोपप्रसक्तेः।

यथा वा सुवर्णपाषाण-सुवर्णयोः सम्बन्धो वियोगयोग्यः, तथापि न सर्वोऽपि वियुज्यते, किन्तु स एव युज्यते, यस्य वियोगसामग्रीसम्प्राप्तिर्भवति, एवं कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भव्यानामेव, किन्तु न सर्वेषां भव्यानाम्, सकलानां सिद्धिगमनसामग्रीसम्प्राप्तिविरहात्। एतेन भव्याभव्ययोर्विशेषोऽपि दर्शितः, एकत्र सामग्रीभावाऽभावाभ्यां मुक्ति-तदभावसद्भावात्, अन्यत्र च योग्यताविरहेणैव मुक्त्यभावात्।

किंच नेयं व्याप्तिः-ये ये भव्याः, ते ते सर्वे सिध्यन्ति, किन्तु ये ये सिध्यन्ति, ते ते भव्या एव, नान्ये। यदुक्तं **श्रीजिनदासक्षमाश्रमणपूज्यैर्विशेषावश्यकभाष्ये-**
"भण्णइ भव्वो जोग्गो न य जोगत्तेण सिज्झइ सव्वो। जह जोगम्मि वि दलिए सव्वम्मि न कीरए पडिमा ॥१॥
जह वा स एव पासणकणगजोगो विओगजोग्गोऽवि। न वि जुज्जइ सव्वो च्चिय स विजुज्जइ जस्स संपत्ती॥२॥

किं पुण जा सपत्तीजोग्गस्सेव न उ अजोगस्स । तह जो मोक्खो णियमो सो भव्वाण न इयरेसिं ॥२॥" इति ।

भणितं च व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तावपि–

"भन्नइ भव्वो जोगो दारुय दलियत्ति चावि पज्जाया । जोगो वि पुण न सिज्झइ कोई रुक्खाइदिट्ठता ॥१॥
पडिमाईण जोगा बहवो गोसीसचदणदुमाई । सति अजोगा वि इहं अन्ने एरडभेडाई ॥२॥
न य पुण पडिमुप्पायणसपत्ती होइ सव्वजोगाण । जेसिं पि असपत्ती न य तेसि अजोग्गया होइ ॥३॥
किं पुण जा सपत्ती सा णियमा होइ जोग्गरुक्खाण । न य होइ अजोग्गाण एमेव य भव्वसिज्झणया ॥४॥
सिज्झिस्सति य भव्वा सव्वे वि त्ति भणिय चज पहुणा । त पि य एयाए च्चिय दिट्ठीए जयतिपुच्छाए॥५॥
भव्यानामेव सिद्धिरेत्येतया दृष्ट्या=मतेनेति" ।

अथ भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यत्वेऽपि न सर्वेषां परमपदावाप्तिरित्यत्र कालयुक्तिरुपन्यस्यते । तद्यथा–योऽतीतकालो व्यतिक्रान्तः, तस्मिन् काले सर्वजीवानामनन्तभागमात्रा जीवा मुक्तिपदवीं प्राप्तवन्तः, भविष्यत्कालश्चाऽतीतकालेन तुल्यः, तस्मिन्नप्येकाऽनन्ततमभागमात्रजीवाः सेत्स्यन्ति, उभावपि मिलिता अनन्तभागौ सर्वभव्यजीवानन्तभाग एव जायते, तेन सर्वभव्यजीवानामनन्तभागमात्रा जीवाः सिद्धिवधूभुजो जायन्ते । अतीतानागतकालयोस्तुल्यत्वमित्थ द्रष्टव्यम् । यथाऽनागतकालस्याऽन्तो नास्ति, तथाऽतीतकालस्यादिर्नास्तीति, न चाऽतीतकालतोऽनादिकालस्याऽनन्तगुणत्वेन कथं तयोर्मिथस्तुल्यत्वमुक्तमिति वाच्यम् , यतोऽतीतकालतोऽनागतकालोऽनन्तगुण इति मतान्तरम् , तत्रेयं युक्तिः–यदि अतीताद्धाऽनागताद्धा च मिथः समाने भवेताम् ,तर्हि मुहूर्तादौ व्यतिक्रान्तेऽतीताद्धा समधिका स्यात् , अनागताद्धा च हीना भवेत् , तेन तयोर्व्याहतं समत्वम् । एवं मुहूर्तादिभिः क्षीयमाणाऽप्यनागताद्धा न क्षीयते, अतोऽतीताद्धातोऽनागताद्धाऽनन्तगुणाऽवसीयते । उक्त च व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तौ—

'अहवा पडुच्च काल न सव्वभव्वाण होइ वोच्छित्ती । ज तीताणागयाओ अद्धाओ दो वि तुल्लाओ ॥१॥
तत्थातीताद्धाए सिद्धो एक्को अणतभागो सिं । काम तावइओ च्चिय सिज्झिहिइ अणागयद्धाए ॥२॥
ते दो अणतभागा होउ सो च्चिय अणतभागो सिं । एव पि सव्वभव्वाण सिद्धिगमण अणिद्दिट्ठ ॥३॥" इति ।
यत्पुनरिदमुच्यते–अतीताद्धातोऽनागताद्धाऽनन्तगुणेति तन्मतान्तर, तस्येद बीज–यदि द्वे अपि समाने स्याता तदा मुहूर्तादावतिक्रान्तेऽतीताद्धा समधिका अनागताद्धा च हीनेति हत समत्वम् । एव च मुहूर्तादिभिः प्रतिक्षण क्षीयमाणाऽप्यनागताद्धा यतो न क्षीयते, ततोऽवसित तत साऽनन्तगुणेति । यच्चोभयो. समत्व तदेव–यथाऽनागताद्धाया अन्तो नास्ति, एवमतीताद्धाया आदिरिति समतेति ।"

किञ्च यो बृहदनन्तकेनाऽनन्तभव्यराशिः, स षण्मासपर्यन्तेऽवश्यमेकस्य भव्यस्य सिद्धिगमने स्तोक स्तोकतयाऽपचीयमानोऽपि नोच्छिद्यते, यथा प्रतिसमय वर्तमानतापत्त्याऽपचीयमानोऽप्यनागतकालसमयराशिः । अतो न भव्यशून्यो लोकः प्रसज्यत इत्यलं विस्तरेण ।

भव्यत्व च जीवानामनादिसिद्धम् , न पुनः केनचित् कारणेन समुत्पद्यते ।

नन्वयं भव्यः, उत नेति कथमवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–केवलज्ञानिनस्तु प्रत्यक्षतो जानन्ति, सर्वभावविषयकत्वात्केवलज्ञानस्य; शेषास्त्वनुमानेन जानन्ति । तद्यथा–अह भव्यो वाऽभव्यो वा ?

इत्यारेका भव्यानामेव भवति, नेतरेषाम् । यदुक्तमाचाराङ्गवृत्तौ–"अभव्यस्य हि भव्याऽभव्याशङ्काया अभावादिति ।" प्रदर्शितशङ्कयाऽनुमीयते–अयं भव्य इत्यादि ।

सम्यक्शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा निपातः, सम्यग्=प्रशंसनीयः पूजनीयोऽविरुद्धो वा, व्युत्पत्तिपक्षाश्रयणे तु "अञ्चु गतौ" समञ्चति=गच्छति=व्याप्नोति सर्वान् द्रव्यभावानिति सम्यक् सम्पूर्वकादञ्चतेः क्विप् प्रत्ययः, जीव इत्यर्थः, तद्भावः सम्यक्त्वम्, भावे त्वप्रत्ययः, प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा प्रशमसंवेगनिर्वेदाऽनुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तो वा आत्मधर्म इति यावत्, उक्तं च पूज्य-भद्रबाहुस्वामिभिः–"से च सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे' इति। तच्च 'जं जिणेहिं पन्नत्तं तमेव सच्चं" इति श्रद्धानलिङ्गकम् । न चाऽपर्याप्तावस्थायां श्रद्धाभावेन सम्यक्त्वस्योत्कृष्टस्थितिर्द्विषट्षष्टी सागरोपमाणां कथं संगच्छेत ? इति वाच्यम्, न ह्येष नियमोऽस्ति–यत्र लिङ्गी, तत्र लिङ्गेन भाव्यमेव, वह्नितप्तायोगोलकादिषु व्यभिचारदर्शनात् । इदमुक्तं भवति–वह्निर्लिङ्गी भवति, धूमस्तु लिङ्गम् । यत्र यत्र धूमो भवति, तत्र तत्र वह्निर्भवत्येव, किन्तु यत्र वह्नितप्तायोगोलकादिषु लिङ्गी वह्निर्भवति, न तत्र लिङ्गं धूमो विद्यते । एवं मिथ्यात्वादिक्षयोपशमादिजन्यशुभात्मपरिणामरूपं सम्यक्त्वं लिङ्गि, श्रद्धानप्रशमसंवेगादिरूपं लिङ्गम्, तच्च यत्र भवति, तत्र सम्यक्त्वं भवत्येव । तथापि यत्राऽपर्याप्तावस्थायां लिङ्गं प्रशमादिरूपं न विद्यते, तत्राऽपि लिङ्गि सम्यक्त्वं न विरुध्यते, वह्नितप्तायोगोलकादिषु वह्निवत् ।

सम्यक्त्वोत्पत्तिस्तु तथाभव्यत्वपरिपाके सति जिनबिम्बादिदर्शनप्रवचनश्रवणादिसहकारिकारणतो निसर्गतो वा भवति ।

'सन्निआहारा' त्ति 'सञ्ज्याहारौ' संज्ञी चाऽऽहारश्च सञ्ज्याहारौ । तत्र संज्ञानं संज्ञा "उपसर्गादातः" (सिद्धहेम० ५-३-११०) इत्यनेन भावे अङ्प्रत्ययः, भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनमित्यर्थः, सा विद्यते येषाम्, ते सञ्ज्ञिनः, "शिखादिभ्य इन्" (सिद्धहेम० ७-२-४) इत्यनेन सूत्रेण इन्प्रत्ययः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानशालिन इत्यर्थः । यद्वा सञ्ज्ञायते=सम्यक् परिच्छिद्यते पूर्वोपलब्धो वर्तमानो भावी च पदार्थो यया, सा सञ्ज्ञा, "भिदादयः (सिद्धहेम० ५-३-१०८) इत्यनेन करणे अङ्प्रत्ययः, विशिष्टमनोवृत्तिः, इदं हितमहितम्, अस्य प्राप्तौ परिहारे च अयं गुणोऽयं दोष इत्याख्या ईहापोहयुक्ता गुणदोषविचारणात्मिका संप्रधारणेत्यर्थः, सा चेह प्रवचने दीर्घकालिकी सञ्ज्ञा भण्यते, सा विद्यते येषाम्, ते सञ्ज्ञिनः । उक्तं च **तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ**–"दीर्घकालिकी सञ्ज्ञैव सम्प्रधारणसञ्ज्ञोच्यते, तया च सञ्ज्ञिनः ।" इति । नन्वपर्याप्तावस्थायां निरुक्तसंज्ञा न सम्भवति, ततस्तदानीं सञ्ज्ञित्वव्यपदेशः कथं स्यात् । न च तदानीमप्याहारादिसंज्ञासद्भावात्संज्ञित्वोपपत्तिरिति वाच्यम्, आहारादिसञ्ज्ञामधिकृत्य सञ्ज्ञित्वव्यपदेशे सत्येकेन्द्रियादीनामपि संज्ञित्वप्रसङ्गात्, नाऽपि "भाविनि भूतवदुपचारः" इति न्यायेनाऽपर्याप्तावस्थायां संज्ञित्वव्यवहार उपपद्यत इति

वाच्यम्, लब्ध्यपर्याप्तसंज्ञिनां भावसंज्ञाया अप्यभावात्। अत्रोच्यते-कृतमिदं करोमीदं करिष्यामीदं शोभनमेतदासीत् वर्तते भविष्यतीत्यादिरूपा दीर्घकालिकी संज्ञा सुदीर्घकालत्रयगोचरविशिष्टमनोव्यापारवती, इयं च नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमसम्पन्नानां नारकगर्भजतिर्यङ्मनुष्यदेवानां बोद्धव्या, तेनैते कालत्रयगोचरयुक्तायुक्तविचारचतुरः प्रस्तुतसंज्ञया संज्ञित्वव्यपदेशं लभन्ते, लब्ध्यपर्याप्तानामपि नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमसद्भावात् संज्ञित्वव्यपदेशः सुघट एव। तद्विपरीताः सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयोऽसंज्ञिन उच्यन्ते।

संज्ञिग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूतोऽसंज्ञ्यपि गृह्यते।

ओजआहार-लोमाहार-कवलाहाराणामन्यतममाहारयतीत्याहारः 'अच्' (सिद्धहेम० ५-१ ४९) इत्यनेन कर्तरि अच् प्रत्ययः, आहारक इत्यर्थः, तत्र ओजः=उत्पत्तिदेशे स्वशरीरयोग्यः पुद्गलसंघातः, तस्य आहारः=ग्रहणमित्योजआहारः। यद्वा ओजः=तैजसशरीरम्, ओजसा=तैजसशरीरेण तत्सहचारिकार्मणेन च पूर्वशरीरपरित्यागे सति विग्रहेणाऽविग्रहेण वा स्वोत्पत्तिदेशं प्राप्तो जन्तुर्यत्प्रथमत औदा

इत्यारेका भव्यानामेव भवति, नेतरेषाम् । यदुक्तमाचाराङ्गवृत्तौ–"अभव्यस्य हि भव्याऽभव्याशङ्काया अभावादिति ।" प्रदर्शितशङ्कयाऽनुमीयते–अयं भव्य इत्यादि ।

सम्यक्शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा निपातः, सम्यग्=प्रशंसनीयः पूजनीयोऽविरुद्धो वा, व्युत्पत्तिपक्षाश्रयणे तु "अञ्चु गतौ" समञ्चति=गच्छति=व्याप्नोति सर्वान् द्रव्यभावानिति सम्यक् सम्पूर्वकादञ्चतेः क्विप् प्रत्ययः, जीव इत्यर्थः, तद्भावः सम्यक्त्वम्, भावे त्वप्रत्ययः, प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा प्रशमसंवेगनिर्वेदाऽनुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तो वा आत्मधर्म इति यावत्, उक्तं च पूज्यभद्रबाहुस्वामिभिः–"से च सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे' इति । तच्च 'ज जिणेहिं पन्नत्त तमेव सच्च" इति श्रद्धानलिङ्गकम् । न चाऽपर्याप्तावस्थाया श्रद्धाभावेन सम्यक्त्वस्योत्कृष्टस्थितिर्द्विषट्षष्टी सागरोपमाणा कथ सगच्छेत ? इति वाच्यम्, न ह्येष नियमोऽस्ति–यत्र लिङ्गी, तत्र लिङ्गेन भाव्यमेव, वह्नितप्तायोगोलकादिषु व्यभिचारदर्शनात् । इदमुक्तं भवति–वह्निर्लिङ्गी भवति, धूमस्तु लिङ्गम् । यत्र यत्र धूमो भवति, तत्र तत्र वह्निर्भवत्येव, किन्तु यत्र वह्नितप्तायोगोलकादिषु लिङ्गी वह्निर्भवति, न तत्र लिङ्गं धूमो विद्यते । एव मिथ्यात्वादिक्षयोपशमादिजन्यशुभात्मपरिणामरूप सम्यक्त्वं लिङ्गि, श्रद्धानप्रशमसंवेगादिरूपं लिङ्गम्, तच्च यत्र भवति, तत्र सम्यक्त्वं भवत्येव । तथापि यत्राऽपर्याप्तावस्थायां लिङ्गं प्रशमादिरूपं न विद्यते, तत्राऽपि लिङ्गि सम्यक्त्वं न विरुध्यते, वह्नितप्तायोगोलकादिषुव ह्निवत् ।

सम्यक्त्वोत्पत्तिस्तु तथाभव्यत्वपरिपाके सति जिनबिम्बादिदर्शनप्रवचनश्रवणादिसहकारिकारणतो निसर्गतो वा भवति ।

'**सन्निआहारा**' त्ति 'सञ्ज्याहारौ' संज्ञी चाऽऽहारश्च सञ्ज्याहारौ । तत्र संज्ञानं संज्ञा "उपसर्गादात" (सिद्धहेम० ५-३-११०) इत्यनेन भावे अङ्प्रत्ययः, भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनमित्यर्थः, सा विद्यते येषाम्, ते संज्ञिनः, "शिखादिभ्य इन्" (सिद्धहेम० ७-२-४) इत्यनेन सूत्रेण इन्प्रत्यय', विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानशालिन इत्यर्थः । यद्वा सज्ञायते=सम्यक् परिच्छिद्यते पूर्वोपलब्धो वर्तमानो भावी च पदार्थो यया, सा सज्ञा, "भिदादय (सिद्धहेम० ५-३-१०८) इत्यनेन करणे अङ्प्रत्ययः, विशिष्टमनोवृत्तिः, इद हितमहितम्, अस्य प्राप्तौ परिहारे च अय गुणोऽयं दोष इत्याख्या ईहापोहयुक्ता गुणदोषविचारणात्मिका सप्रधारणेत्यर्थः, सा चेह प्रवचने दीर्घकालिकी सज्ञा भण्यते, सा विद्यते येषाम्, ते संज्ञिनः । उक्त च **तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ**– "दीर्घकालिकी सज्ञैव सम्प्रधारणसज्ञोच्यते, तया च सज्ञिन ।" इति । नन्वपर्याप्तावस्थायां निरुक्तसंज्ञा न संभवति, ततस्तदानी सज्ञित्वव्यपदेशः कथ स्यात् । न च तदानीमप्याहारादिसज्ञासद्भावात्संज्ञित्वोपपत्तिरिति वाच्यम्, आहारादिसज्ञामधिकृत्य संज्ञित्वव्यपदेशे सत्येकेन्द्रियादीनामपि संज्ञित्वप्रसङ्गात्, नाऽपि "भाविनि भूतवदुपचार" इति न्यायेनाऽपर्याप्तावस्थाया संज्ञित्वव्यवहार उपपद्यत इति

वाच्यम्, लब्ध्यपर्याप्तसंज्ञिनां भावसंज्ञाया अप्यभावात् । अत्रोच्यते—कृतमिदं करोमीदं करिष्यामीदं शोभनमेतदासीत् वर्तते भविष्यतीत्यादिरूपा दीर्घकालिकी संज्ञा सुदीर्घकालत्रयगोचरविशिष्टमनोव्यापारवती, इयं च नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमसम्पन्नानां नारकगर्भजतिर्यङ्मनुष्यदेवानां बोद्धव्या, तेनैते कालत्रयगोचरयुक्तायुक्तविचारचतुरः प्रस्तुतसंज्ञया संज्ञित्वव्यपदेशं लभन्ते, लब्ध्यपर्याप्तानामपि नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमसद्भावात् संज्ञित्वव्यपदेशः सुघट एव । तद्विपरीताः सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयोऽसंज्ञिन उच्यन्ते ।

संज्ञिग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूतोऽसंज्ञ्यपि गृह्यते ।

ओजआहार-लोमाहार-कवलाहाराणामन्यतममाहारयतीत्याहारः 'अच्' (सिद्धहेम० ५-१.४९) इत्यनेन कर्तरि अच् प्रत्ययः, आहारक इत्यर्थः, तत्र ओजः=उत्पत्तिदेशे स्वशरीरयोग्यः पुद्गलसंघातः, तस्य आहारः=ग्रहणमित्योजआहारः । यद्वा ओजः=तैजसशरीरम्, ओजसा=तैजसशरीरेण तत्सहचारिकार्मणेन च पूर्वशरीरपरित्यागे सति विग्रहेणाऽविग्रहेण वा स्वोत्पत्तिदेशं प्राप्तो जन्तुर्यत्प्रथमत औदारिकादिपुद्गलजातम् आहारयति, यच्च द्वितीयादिसमयात्प्रभृति शरीरनिष्पत्तिं यावदौदारिकादिमिश्रकाययोगेनाहारयति, यदुक्तम्-"जोएण कम्मएण आहारेई अणतर जीवो. तेण पर मिसेण जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥१॥" इति । स सर्व ओजआहारः । स्पर्शनेन्द्रियेण स्पर्शे सति य आहारः शरीरोपष्टम्भकपुद्गलसमुदायः, स लोमाहारः, लोमभिः=लोमरन्ध्रैराहारो लोमाहार इति व्युत्पत्तेः । कवलाहारः पुनर्मुखे कवलप्रक्षेपरूपो बोध्यः, उक्तं च **कलिकालतमोदिवाकरैः श्रीमद्भिर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादैः**—

"सरीरेणोयाहारो तया य फासे य लोमआहारो । पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥१॥" इति ।

अन्ये तु यो घ्राणचक्षुःश्रवणैरुपलभ्यते, धातुभावेन च परिणमति, स ओजआहारः । यः पुनः स्पर्शनेन्द्रियेणैव गृह्यते, धातुभावेन च परिणमति, स लोमाहारः, यस्तु स्थूलो जिह्वेन्द्रियेण शरीरे प्रक्षिप्यते, स प्रक्षेपाहार इत्याहुः ।

अपर्याप्तावस्थायां सर्वे जीवा ओजआहारमेव आददति, अपर्याप्तास्त्विह शरीरपर्याप्त्या बोध्याः, न त्वाहारपर्याप्त्या, आहारपर्याप्त्याऽपर्याप्तकानामनाहारकत्वात् ।

पर्याप्तावस्थायां सर्वे जीवाः प्रतिसमयं लोमाहारमाहारयन्ति । एकेन्द्रियदेवनारकवर्जाश्च सर्वे जीवाः प्रक्षेपाहारे भजनीयाः, कदाचित्प्रक्षेपाहारमाहारयन्ति कदाचिन्नेत्यर्थः । पर्याप्तदेवास्तु मनोभक्षिणोऽपि भवन्ति । इयं व्युत्पत्तिः—मनसा=चिन्तयोपस्थितान् सकलेन्द्रियाह्लादकमनोज्ञपुद्गलान् भक्षयन्तीव भक्षयन्ति वैक्रियशरीरेणात्मसात्कुर्वन्तीत्येवंशीला मनोभक्षिण इति ।

उक्तं च **बृहत्संग्रहण्याम्**—

"ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा । पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होंति भइअव्वा ॥१॥
एगिंदियदेवाण नेरइयाण च नत्थि पक्खेवो । सेसाण जीवाण संसारत्थाण पक्खेवो ॥२॥

लोमाहारा एगिंदिया य नेरइअसुरगणा चेव । सेसाणं आहारो, लोमे पक्खेवओ चेव ॥३॥
ओयाहारा मणभक्खिणो य सव्वे वि सुरगणा होंति । सेसा हवंति जीवा लोमाहारा मुणेयव्वा॥४॥" इति ।

ओजआहारः सर्वेषामपर्याप्तजीवानामनाभोगत एव भवति, मनःपर्याप्तेरनिष्पन्नत्वेनाऽऽभोगासम्भवात् । लोमाहारस्त्वाभोगतोऽनाभोगतश्च भवति, प्रक्षेपाहारो मनोभक्षणं चाभोगतो भवति नारकाणां लोमाहारोऽमनोज्ञतया परिणमति, तथाविधाशुभकर्मोदयाद्, देवानां तु सुमनोज्ञतया, भवस्वभावतया तथाविधशुभकर्मोदयात् । यदुक्तम् —

"अपजत्ताण सुराणमणाभोगनिवत्तिओ उ आहारो । पज्जत्ताण मणभक्खेण आभोगनिम्माओ ॥१॥
"आभोगाणाभोगा सव्वेसिं होइ लोमआहारो । नेरइयाणऽमणुन्नो, परिणमइ सुराण सुमणुन्नो ॥२॥" इति ।

एकेन्द्रियप्रभृतिचतुरिन्द्रियाणा नारकाणां च जीवानां सकृदाहारे गृहीते भूय उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमाहारेच्छा जायते । ननु नारकाणा प्रक्षेपाहाराभावेन सकृदाहारे गृहीत उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमाहारेच्छा जायत इति कथमुच्यते, ? न तावदत्रौजआहार सभवति, तस्याऽपर्याप्तावस्थायामेव दर्शनात्, नापि लोमाहारः, तस्य प्रतिसमयं प्रवृत्तेः, नाऽपि देववद् मनोभक्षणाहारसम्भवः, नारकाणा तथाविधाशुभकर्मोदयवशेनाऽभ्यवहरणानन्तर तथाविधतृप्त्यभावात् सिद्धान्ते च मनोभक्षणाहारस्य निषिद्धत्वात् । उक्तं च **प्रज्ञापनायाम्** नेरइयाण भंते । किं ओयाहारा मणभक्खी ? गो० ओयाहारा णोमणभक्खी ॥" **तद्वृत्तिः**—"तत्र नैरयिका ओजआहारा भवन्ति, अपर्याप्तावस्थायामोजस एवाहारस्य सम्भवात्, मनोभक्षिणस्त्वेते न भवन्ति, मनोभक्षणलक्षणो ह्याहार स उच्यते, ये तथाविधशक्तिवशात मनसा स्वशरीरपुष्टिजनका पुद्गला अभ्यवह्रियन्ते, यदभ्यवहरणानन्तर तृप्तिपूर्वं परमसन्तोष उपजायते, न चैतन्नैरयिकाणामस्ति, प्रतिकूलकर्मोदयवशत तथारूपशक्त्यभावात् । इति, अत्रोच्यते—प्रतिसमय यल्लोमाहारो भवति, सोऽनाभोगनिर्वर्तितः, तदानीं त्वाभोगनिर्वर्त्तितः संभवति । यदुक्त श्रीमन् **यगिरिपादैः**—"नैरयिकाणा तु लोमाहार आभोगनिर्वर्तितोऽपि" इति ।

नन्वेवमेकेन्द्रियाणामप्याभोगनिर्वर्तितो लोमाहारो भवेदिति चेत्, उच्यते—एतत्समीचीनम्, किन्त्वतिस्तोकापटुमनोद्रव्यलब्धीनामेकेन्द्रियाणामाभोगमान्द्येन वस्तुतोऽनाभोगनिर्वर्तित एव लोमाहारः, यदुक्त**मागमे**— एगिंदिआण नो आभोगनिव्वत्तिए अणाभोगनिव्वत्तिते" इति ।

त्रिपल्योपमायुष्काणा तिरश्चा दिनद्वयादूर्ध्वं त्रिपल्योपमायुष्काणां च मनुष्याणां दिवसत्रयात्परमाहारेच्छोपजायते । अय च मनुष्यतिरश्चामाहाराभिलाषाऽन्तरपरिणामस्तपोविधिमन्तरेण रोगाद्यभावाद्वा स्वभावसमिद्धः प्रतिपत्तव्यः, तपःसमाचरणाऽभिलाषेण तु द्विमास त्रिमासादिकादूर्ध्वमवसेयः, एव रोगादिसत्त्वेऽपि ।

अन्तःसागरोपमप्रमाणायुष्काणा देवानां सकृदाहारे गृहीते भूयोऽहोरात्रपृथक्त्वमध्य आहारेच्छा जायते, शेषदेवाना यावत्सागरोपमप्रमिता आयुषः स्थितिः, तावत्सु वर्षसहस्रेष्वाहारेच्छा भवति । यदुक्त **बृहत्संग्रहण्यां पूज्यैर्जि भद्रगणिक्षमाश्रमणैः**—

"आहारो देवाणं सायरमज्झम्मि दिणपुहुत्तत्तो । सायरसखाए पुण वाससहस्सेहिं भणिओ य ॥१॥" इति ।

आहारकग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूतोऽनाहारकोऽपि गृह्यते। वक्ष्यते चाष्टत्रिंशत्तमगाथया ॥२७॥

भणिता मूलमार्गणाः, सम्प्रति तासामेवोत्तरभेदान् विभणिषुराह—

इइ मूलमग्गणा सिं सगचत्ताइगुणवीसबायाला ।
अट्ठारचउपणअडअडचउछदुसगदुदुगं भेआ ॥२८॥

(प्रे०) 'इइ' इत्यादि, इतिशब्दो मूलमार्गणेयत्ताप्रतिपत्तये, एताश्चतुर्दश मूलमार्गणा । ननु यद्येता मूलमार्गणाः, तर्हि तासामेकैकस्या कत्युत्तरमार्गणा भवन्ति ? इति परवचनमाशङ्क्य प्राह–'**सिं**' इत्यादि, 'तासाम्' चतुर्दशमूलमार्गणानां सप्तचत्वारिंशदादयः क्रमेण 'भेदाः' उत्तरमार्गणा इत्यन्वयः । इदमुक्तं भवति–गतिमार्गणायाः सप्तचत्वारिंशदुत्तरमार्गणाः, नरकगत्यादिभेदात् । इन्द्रियमार्गणाया एकोनविंशतिरुत्तरमार्गणाः, एकेन्द्रियादिभेदात् । कायमार्गणाया द्वाचत्वारिंशदुत्तरमार्गणाः, पृथ्वीकायादिभेदात् । योगमार्गणाया अष्टादशोत्तरमार्गणाः, मनोयोगादिविकल्पात् । वेदमार्गणायाश्चतस्र उत्तरमार्गणाः, स्त्रीवेदादिभेदात् । कषायमार्गणायाः पञ्चोत्तरमार्गणाः, क्रोधादिभेदतः । ज्ञानमार्गणाया अष्टौ उत्तरमार्गणा, मतिज्ञानादिभेदात् । संयममार्गणाया अष्टौ भेदाः, सयमसामान्यसामायिकादिविकल्पात् । दर्शनमार्गणाया उत्तरभेदाश्चतस्रः, नयनदर्शनादिभेदात् । लेश्यामार्गणायाः षडुत्तरमार्गणाः, कृष्णलेश्यादिविकल्पतः । भव्यमार्गणाया द्वौ भेदौ, भव्याभव्यभेदात् । सम्यक्त्वमार्गणायाः सप्त भेदाः; सम्यक्त्वौघक्षायिकादिभेदात् , संज्ञिमार्गणाया द्वौ विकल्पौ, संज्ञ्यसंज्ञिभेदात् । आहारकमार्गणाया द्वौ भेदौ, आहारकाऽनाहारकविकल्पात् ॥२८॥

अथ गत्यादिमार्गणानां भेदान् नामग्राहं निजिगदिषुरादौ तावद् गतेस्तद्वतां चाऽभेदविवक्षया गतिमतो नारकादीन् प्राह—

णिरयो भूभेआ सगणिरया तिरियो पणिंदितिरियो से ।
जोणिमई पज्जियरा एमेव चउव्विहा मणुसा ॥२९॥
देवभवणवइवंतरजोइसपढमाइबार प्पभवा ।
पढमाई गेविज्जा णव पंच अणुत्तरा णेया ॥३०॥

(प्रे०) '**णिरयो**' इत्यादि,' निरयः' 'अयमिष्टफल देव'इति वचनप्रामाण्याद् निर्गतम् अयम्= इष्टफलं सातवेदनीयादिरूपं यस्मात् , स निरयः, नरकावास इत्यर्थः, तेषूत्पन्नो जन्तुरपि निरय उच्यते, उपचारात् । यद्वा निरयो विद्यते यस्य, स निरयः' "अभ्रादिभ्य." (सिद्धहेम० ७-२-४६) इत्यनेन सूत्रेण अप्रत्ययः, अभ्रादेराकृतिगणत्वात् । अथवा हिंसादिष्वसदनुष्ठानेषु यो निरतो=व्यापृतः, स निरतो नारकजीव इत्यर्थः, प्राकृतत्वात् 'कगच०' (सिद्धहेम० ८-२-७७) इत्यनेन सूत्रेण तलोपः, ततः अल्लोपः । "अवर्णो यश्रुति" (सिद्धहेम० ८-१-१८०) इत्यनेन ेण यकारश्रुतिः ।

निरयो नरकोऽप्युच्यतेऽन्यत्र, 卐नरान् उपलक्षणात् तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायति=आह्वयतीति नरकः, "आतो डोऽह्वावाम" (सिद्धहेम० ५-१-७६) इत्यनेन सूत्रेण डप्रत्ययः, नरकावासः, तत्रोत्पन्नो जन्तुरपि नरकः, उपचाराद्, अभ्रादित्वाद् वा अप्रत्ययः।

निरया नित्यमशुभतरलेश्यादिमन्तो भवन्ति। यदुक्तं **श्रीमद्वाचकवर्यैः**—"नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया, परस्परोदीरितदुःखाश्च च।" मिथ्यादृष्टयो नारका विभङ्गज्ञानेन दूरादेव ज्ञात्वा, प्रत्यासन्ने तु परस्परालोकनात् परस्परं स्वविकृताऽसिवास्यादिभिः छेदनतक्षणभेदनादिप्रभृतीनि दुःखान्युत्पादयन्ति। सम्यग्दृष्टयस्तु परोदीरितदुःखानि सहन्ते, न चाऽन्येषामुदीरयन्ति, दृष्टविपाकत्वात्।

अथ निरयस्यावान्तरभेदान् दर्शयति—'भूभेआ' इत्यादि, 'भूभेदात्' रत्नप्रभा शर्कराप्रभा-वालुकाप्रभा--पङ्कप्रभा धूमप्रभा--तमःप्रभा-महातमःप्रभाख्यपृथ्वीभेदात् 'सप्तनिरयाः' सप्तविधा निरया भवन्ति, रत्नप्रभादिपृथ्वीनां सप्तविधत्वात् तदाधेया निरया अपि सप्तप्रकारा भवन्तीत्यर्थः। तत्र रत्नप्रभादीनामियं व्युत्पत्तिः—रत्नानि=वज्रवैडूर्यादीनि प्रभा=रूपं=स्वभावो यस्याः, सा रत्नप्रभा प्रथमा पृथ्वी। शर्करा=उपलखण्डानि प्रभा=स्वरूपं यस्याः, सा शर्कराप्रभा द्वितीया पृथ्वी। एवं शेषपृथ्व्योऽपि व्युत्पादनीयाः। तासां प्रतिष्ठान—बाहल्य—विष्कम्भादयस्तु **श्रीजीवाभिगमप्रभृतितः** पूज्यपादैः **गणिक्षमाश्रमणविरचितबृहत्संग्रहणीतो** वाऽवसेयाः। ग्रन्थगौरवभयान्नाऽत्र वितन्यन्ते।

तत्र प्रथमपृथिवीनारकाणां द्वितीयपृथिवीनारकाणां च कापोतलेश्या, किन्तु प्रथमपृथ्वीनारकतो द्वितीयपृथ्वीनारकाणामशुभतरा भवति, ततस्तृतीयपृथ्वीनारकाणां तीव्रतरा कापोता नीला च भवति, ततश्चतुर्थपृथ्वीनारकाणां तीव्रा नीला। पञ्चमपृथ्वीनारकाणां तीव्रतरा नीला तीव्रा च कृष्णा भवति। षष्ठपृथ्वीनारकाणां तीव्रतरा कृष्णा। सप्तमपृथ्वीनारकाणां च कृष्णा तीव्रतमा।

तथा प्रथमपृथिव्यादिनारकाणां भवधारणीयशरीरोच्चैस्त्वोत्तरशरीरोच्छ्रायवेदनाविक्रियादयस्तु ग्रन्थान्तरतोऽवसेयाः।

अथ तिर्यङ्मार्गणां स्वभेदप्रभेदसहितां कथयति—'**तिरियो**' त्ति 'तिर्यङ्' तिरो=वक्रम् अञ्चति=गच्छतीति क्विप्, तिर्यङ् 'तिरसस्तिर्यति' (सिद्धहेम० ३-२-१२४) इति सूत्रेण तिरसस्तिर्यादेशः, अस्यां च मार्गणायामेकेन्द्रियप्रभृतिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यवसाना जीवाः संगृह्यन्ते।

'**पणिदितिरियो**' त्ति 'पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्' पञ्च इन्द्रियाणि=स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्ररूपाणि यस्य, स पञ्चेन्द्रियः, स चाऽसौ तिर्यङ् चेति पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् महिषशूकरादिरूपः।

卐 धवलाकारस्तु "नरान्=प्राणिनः कायति=पातयति खलीकरोति इति नरकं कर्म, तस्य नरकस्याऽपत्यानि नारकाः × × × × ×। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्वन्योऽन्येषु च विरता नरता × × × × ×" इत्यपि वदन्ति।

अथ पञ्चेन्द्रियतिरश्च उत्तरभेदान् दर्शयति–'से' इत्यादि, 'तस्य' पञ्चेन्द्रियतिरश्च उत्तरभेदा 'योनिमती' योनिर्विद्यते यस्याः, सा योनिमती, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योषिदित्यर्थः, 'पर्याप्तेतरौ' पर्याप्त इतरश्च=अपर्याप्तश्च, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् चेत्यर्थः। तत्र पर्याप्तिस्वरूपं पर्याप्तनामकर्मव्याख्यानावसरे विस्तरतोऽभिहितम्। पर्याप्तयो विद्यन्ते येषाम्, ते पर्याप्ताः 'अभ्रादिभ्यः" सिद्धहेम० ७ २ ४६) इत्यनेन अप्रत्ययः, ते च द्विधा, लब्धिकरणभेदात्। तत्र ये स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि निष्पाद्य म्रियन्ते, नार्वाक्, ते लब्धिपर्याप्ताः। ये पुनः करणानि=शरीरेन्द्रियादीनि निर्वर्तितवन्तः, ते करणपर्याप्ताः, ये स्वयोग्यपर्याप्तिमसमाप्तिवन्तः, तेऽपर्याप्ताः। ते च द्विधा लब्धिकरणभेदात्। येऽपर्याप्ता एव सन्तो म्रियन्ते, न च स्वप्रायोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ति, ते लब्ध्यपर्याप्ताः, ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति, अथ चाऽवश्यं निर्वर्तयिष्यन्ति, ते करणापर्याप्ताः। इह चैवमागमप्रतिपादनम्–लब्ध्यपर्याप्ता अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते, नार्वाग्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः। तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तैरेव बध्यत इति।

स्वयोग्यपर्याप्तयस्त्वेकेन्द्रियाणामाहारादयश्चतस्रः, विकलेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पञ्च, संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य षट्। उक्तं च–

"[1]आहार[2]सरीरि [3]दियपज्जत्ती[4]आणपाण[5]भास[6]मणे। चत्तारि पंच छप्पिय एगिंदियविगलसन्नीण॥१॥" इति।

इदमत्र हृदयम्–पर्याप्तनामकर्मोदयाद् ये स्वयोग्यपर्याप्तीर्निर्वर्तितवन्तो निर्वर्तयिष्यन्ति वा, ते पर्याप्ताः, पर्याप्तनामकर्मोदयात्पर्याप्ता इत्यर्थः, तेऽस्मिन् ग्रन्थे पर्याप्तत्वेन ग्राह्याः। ये पुनरपर्याप्तनामकर्मोदयात्स्वयोग्यपर्याप्तीरनिर्वर्त्यैव मरिष्यन्ति, तेऽपर्याप्ताः, अपर्याप्तनामकर्मोदयादपर्याप्ता इत्यर्थः, तेऽत्र ग्रन्थेऽपर्याप्तत्वेन ग्राह्याः, यदुक्तं **शतकचूर्णावपि**–"एयाओ पज्जत्तीओ पज्जत्तणामकम्मोदएण णिव्वत्तिज्जंति त जेसिं अत्थि ते पज्जत्तगा। एयाओ चेव अपज्जत्तीओ अपज्जत्तणामकम्मोदएण णिव्वत्तिजंति त जेसिं अत्थि ते अपज्जत्तगा।" इति। प्रकृते ये पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्च आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनोलक्षणाः स्वयोग्याः षट् पर्याप्तीर्निर्वर्तितवन्तो निर्वर्त्यैव वा मरिष्यन्ति, ते पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः। ये तु संज्ञिनोऽसंज्ञिनो वा पञ्चेन्द्रियतिरश्चो यथायोग्यं पञ्च षड् वा स्वप्रायोग्यपर्याप्तीरपरिसमाप्य मरिष्यन्ति, तेऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः। इत्थं तिर्यग्गतिकाः पञ्चधा–तिर्यग्गतिसामान्यं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् चेति। उक्तं च **जीवसमासे**—

"तिरियगईआ पचिंदिया य पज्जत्तया तिरिक्खीओ। तिरिया य अपज्जत्ता मणुया य पज्जत्त इयरे य।" इति।

सम्प्रति मनुष्यमार्गणां तदुत्तरमार्गणाश्च दर्शयति–'**एमेव**' इत्यादि, 'एवमेव' एवशब्द उपमार्थकः, यथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्चतुर्धा, तथैव 'चतुर्विधाः' चतुष्प्रकारा मनुष्या भवन्ति, मनुष्यसामान्य मनुष्ययोनिमती=मानुषी पर्याप्तमनुष्योऽपर्याप्तमनुष्यश्चेति। तत्र मन्यन्ते=अवबुध्यन्ते नीति-

धर्ममिति मनुष्याः, यद्वा मनोरपत्यानि मनुष्याः, "मनोर्याणौ षश्चान्त" (सिद्धहेम० ६-१-९४) इत्यनेन सूत्रेण यप्रत्ययः षकारागमश्च । व्युत्पत्तिनिमित्तमेतद्, प्रवृत्तिनिमित्तं पुनः सार्धद्वीपद्वयप्रमितमनुष्यक्षेत्रजा उदितमनुष्यायुर्मनुष्यगतिका जीवा मनुष्या इति

अथ देवगतिमार्गणां तदुत्तरमार्गणाश्च प्रदर्शयितुकाम आह–'देव०' इत्यादि, 'देवभवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-प्रथमादिद्वादशकल्पभवाः' एते कृतद्वन्द्वाः प्रथमया निर्दिष्टाः । तत्र दिव्यन्ति=क्रीडन्तीति देवाः "लिहादिभ्य" (सिद्धहेम० ५-१-५०) इत्यनेन कर्तरि अच् प्रत्ययः, व्युत्पत्तिमात्रपरमिदम्, प्रवृत्तिनिमित्तं तूदितदेवायुष्कदेवगतिका जीवा देवा इति देवमार्गणा ।

अथ देवमार्गणाया उत्तरभेदाः–रत्नप्रभाया मध्ये भवन्तीति भवनानि=आवासाः, तेषां पतयः=स्वामिनो भवनपतयः, ते च दशधा भवन्ति, असुरकुमार–नागकुमार–विद्युत्कुमार-सुवर्णकुमार-वह्निकुमारा-ऽनिलकुमार-स्तनितकुमारोदधिकुमार-द्वीपकुमार-दिक्कुमारभेदात् । उक्तं च **तत्त्वार्थसूत्रे वाचकवर्यैः**–"भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ।" इति भवनपतिमार्गणा ।

विविधमन्तरमावासानां केचिद् शैलेऽन्ये विवरादिषु परे कन्दरायां वसन्तीत्येवरूपं येषाम्, ते व्यन्तराः । ते चाऽष्टविधा भवन्ति, पिशाच-भूत यक्ष-राक्षस किन्नर किंपुरुष-महोरग-गन्धर्वभेदात् । यदुक्तं **तत्त्वार्थसूत्रे**–"व्यन्तरा किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचा" इति व्यन्तरमार्गणा ।

ज्योतिः=तेजः, तद्विद्यते येषाम्, ते ज्योतिषाः, "अभ्रादिय"(सिद्धहेम०७ २-३६) अनेन मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । यद्वा द्योतन्त इति ज्योतींषि विमानानि, तान्यावासतया सन्त्येषामिति ज्योतिष्काः "व्रीह्यादिभ्यस्तौ" (सिद्धहेम० ७-२-५) इत्यनेन सूत्रेण इकप्रत्ययः, यद्वा भास्वररत्नशरीरत्वेन समस्तदिग्मण्डलं द्योतन्त इति ज्योतींषि=देवाः, ज्योतींष्येव वा ज्योतिष्काः । न चोक्तव्युत्पत्त्या चन्द्रादिभिन्नाः कल्पोपपन्नादयोऽपि देवा ज्योतिष्कत्वव्यपदेशं भजेयुरिति वाच्यम्, यतो रूढिविशेषात् चन्द्रादय एव देवा ज्योतिष्कत्वव्यपदेशमर्हन्ति । ते च पञ्चधा, सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-तारकभेदात् । इति ज्योतिष्कमार्गणा ।

एतर्हि चतुर्थनिकायमाश्रित्य देवभेदाः प्रतिपाद्याः । तत्र चतुर्थनिकाया वैमानिकाः, ते च द्विधा कल्पभवाः कल्पातीताश्च । अथादौ तावत् कल्पभवानां द्वादशभेदान् दर्शयति-'　　' त्ति 'प्रथमादिद्वादशकल्पभवाः' आदिशब्दात् द्वितीयप्रभृतिद्वादशपर्यवसाना　　ाः । तत्रेन्द्रादिदशतया कल्पनात् कल्पः, समुदायः सन्निवेशो विमानमात्रपृथिवीप्रस्तार इति पर्यायाः, कल्पाश्च द्वादश प्रख्याताः सौधर्मादयः । तत्र प्रथमकल्पः सौधर्मः, द्वितीय ऐशानः, तृतीयः सनत्कुमारः, चतुर्थो माहेन्द्रः पञ्चमो ब्रह्मलोकः, षष्ठो लान्तकः, सप्तमो महाशुक्रः, अष्टमः सहस्रारः, नवम आनतः, दशमः　　तः, एकादश आरणः, द्वादशश्चाऽच्युतः ।　　दिद्वादशसु सौधर्मादिकल्पेषु ये भवन्ति=उत्पद्यन्ते, ते

प्रथमादिद्वादशकल्पभवाः । एतेन कल्पभवदेवानाश्रित्य द्वादशमार्गणा दर्शिताः । तद्यथा–सौधर्मसुरमार्गणा ऐशानसुरमार्गणा सनत्कुमारसुरमार्गणा माहेन्द्रसुरमार्गणा ब्रह्मलोकसुरमार्गणा लान्तकसुरमार्गणा महाशुक्रसुरमार्गणा सहस्रारसुरमार्गणाऽऽनतसुरमार्गणा प्राणतसुरमार्गणा–ऽऽरणसुरमार्गणाऽच्युतसुरमार्गणा चेति ।

अथ कल्पातीतान् प्रतीत्य देवमार्गणाया भेदान् प्रदर्शयति–'पढमाई गेविज्जा' त्ति 'प्रथमादयः' आदिशब्देन द्वितीयप्रभृतिनवमपर्यवसाना ग्राह्याः । 'ग्रैवेयाः' ग्रीवा इव ग्रीवा लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेशरूपा, तस्यां भवा इति ग्रैवेयाः "ग्रीवातोऽण् च" (सिद्धहेम० ६-३ १२०) अनेन सूत्रेण एयण् प्रत्ययः, एते ग्रैवेयका अप्युच्यन्ते, एयकञ्प्रत्ययस्तु 'कुल कुक्षि ग्रीवाच्छाम्यलङ्कारे' (सिद्धहेम० ६ ३ १२) इत्यनेन सूत्रेण भवति ।

एवं ग्रीवायां भवा ग्रैवा ग्रैव्याश्चेत्येतावपि अण्यप्रत्ययाभ्यां व्युत्पादनीयौ, उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये–ग्रैवेयकास्तु लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेशविनिविष्टा ग्रीवाभरणभूता ग्रैवा ग्रैव्या ग्रैवेयका इति ।" कति ग्रैवेयकाः ? इत्यत आह–'णव' त्ति 'नव' नवसंख्याकाः (१) प्रथमग्रैवेयकदेवमार्गणा (२) द्वितीयग्रैवेयकदेवमार्गणा (३) तृतीयग्रैवेयकदेवमार्गणा (४) चतुर्थग्रैवेयकदेवमार्गणा (५) पञ्चमग्रैवेयकदेवमार्गणा (६) षष्ठग्रैवेयकदेवमार्गणा (७) सप्तमग्रैवेयकदेवमार्गणा (८) अष्टमग्रैवेयकदेवमार्गणा (९) नवमग्रैवेयकदेवमार्गणा चेति ।

'पञ्च' इत्यादि, 'पञ्च' पञ्चसंख्यकाः 'अनुत्तराः' न विद्यत उत्तरो येभ्यः, तेऽनुत्तराः सर्वप्रधाना विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धनामान इत्यर्थः । तत्र विजयादीनि विमानानि, तत्साहचर्याद् देवा अपि विजयादयः । ततः पञ्चानुत्तरमार्गणा नामत इमाः–विजयदेवमार्गणा, वैजयन्तदेवमार्गणा जयन्तदेवमार्गणाऽपराजितदेवमार्गणा सर्वार्थसिद्धदेवमार्गणा चेति । पञ्चाऽनुत्तरसुरमार्गणा नवग्रैवेयकमार्गणाश्चेति कल्पातीतानाश्रित्य सर्वसंख्यया चतुर्दशमार्गणा जाताः ।

एवं मूलगतिमार्गणायाः सप्तचत्वारिंशदुत्तरमार्गणा जाताः । तद्यथा–(१) निरयमार्गणा (२) प्रथमपृथ्वीनारकमार्गणा (३) द्वितीयपृथ्वीनारकमार्गणा (४) तृतीयपृथ्वीनारकमार्गणा (५) चतुर्थपृथ्वीनारकमार्गणा (६) पञ्चमपृथ्वीनारकमार्गणा (७) षष्ठपृथ्वीनारकमार्गणा (८) सप्तमपृथ्वीनारकमार्गणा च । इत्थं नरकमार्गणां तदुत्तरमार्गणाभेदांश्चाश्रित्याऽष्टौ मार्गणाः ।

(१) तिर्यङ्मार्गणा (२) पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणा (३) पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमतीमार्गणा (४) पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणा (५) अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणा च । एवं तिर्यङ्मार्गणां तदुत्तरमार्गणाभेदाश्च समाश्रित्य पञ्च मार्गणाः ।

(१) मनुष्यमार्गणा (२) योनिमतीमनुष्यमार्गणा (३) पर्याप्तमनुष्यमार्गणा (४) अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा चेति मनुष्यमार्गणां तदुत्तरमार्गणाभेदाश्च प्रतीत्य चतस्रो मार्गणाः ।

(१) देवमार्गणा (२) भवनपतिसुरमार्गणा (३) व्यन्तरदैवतमार्गणा (४) ज्योतिष्कविबुधमार्गणा (५) सौधर्मामरमार्गणा (६) ऐशानद्युसन्मार्गणा (७) सनत्कुमारसुपर्वमार्गणा (८) माहेन्द्रनिर्जरमार्गणा (९) ब्रह्मलोकऋभुमार्गणा (१०) लान्तकनाकिमार्गणा (११) महाशुक्रवृन्दारकमार्गणा (१२) सहस्रारत्रिदशमार्गणा (१३) आनतसुपर्वाभुङ्मार्गणा (१४) प्राणतगीर्वाणमार्गणा (१५) आरणसुमनसोमार्गणा (१६) अच्युतद्युसद्मार्गणा (१७) प्रथमग्रैवेयकदेवमार्गणा (१८) द्वितीयग्रैवेयकदेवमार्गणा (१९) तृतीयग्रैवेयकदेवमार्गणा (२०) चतुर्थग्रैवेयकदेवमार्गणा (२१) पञ्चमग्रैवेयकदेवमार्गणा (२२) षष्ठग्रैवेयकदेवमार्गणा (२३) सप्तमग्रैवेयकदेवमार्गणा (२४) अष्टमग्रैवेयकदेवमार्गणा (२५) नवमग्रैवेयकदेवमार्गणा (२६) विजयसुरमार्गणा (२७) वैजयन्तसुरमार्गणा (२८) जयन्तसुरमार्गणा (२९) अपराजितसुरमार्गणा (३०) सर्वार्थसिद्धसुरमार्गणा चेति देवमार्गणा तदुत्तरमार्गणाभेदांश्चाश्रित्य त्रिंशदुत्तरमार्गणाः ।

एतेन गतिमार्गणायाः सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशदुत्तरमार्गणा भवन्ति । न च गतिमार्गणायाश्चतस्र एवोत्तरमार्गणाः प्रतिपादिता दरिदृश्यन्ते ग्रन्थान्तरेषु, अत्र सप्तचत्वारिंशत् कुतः प्रतिपाद्यन्त इति वाच्यम्, विवक्षाभेदाश्रयणे दोषाभावात्, एकद्विप्रभृतित्रयःषष्ट्युत्तरपञ्चशतजीवभेदवत् । इदमुक्तं भवति–ग्रन्थान्तरेषु गतिमार्गणायाश्चतस्र उत्तरमार्गणाः प्रतिपाद्यन्ते, नरकगति तिर्यग्गति-मनुष्यगति-देवगतिभेदात् । अत्र तु नरकगत्यादयश्चतस्रो मार्गणास्तदुत्तरमार्गणाश्च विवक्षिताः, यथा कुत्रचिद् जीवस्यैक एव भेदो विवक्ष्यते, कुत्रचिद् द्वौ, कुत्रचित् त्रयः, अन्यत्र चतुर्दश, परत्र पुनस्त्रयःषष्ट्यधिकपञ्चशतानि भेदाः प्रतिपाद्यन्ते, तथैवाऽत्राऽपि बोध्यम् । नन्वस्त्वेवम्, किन्तु नरकगत्यादीनामुत्तरमार्गणाः प्रथमपृथ्वीनारकगत्यादयो गतिमार्गणाया उत्तरमार्गणात्वेन कथमुपादीयन्त इति वाच्यम्, वृक्षप्रशाखानां शाखात्वव्यपदेशवद् गतिमार्गणाया नरकगत्यादीनामुत्तरत्वेन तदुत्तरमार्गणानामपि गतिमत्कोत्तरमार्गणात्वे विरोधाभावात् ।

न च ग्रन्थान्तरेष्वनिर्दिष्टानां प्रथमपृथ्वीनारकादीना मार्गणात्वव्यपदेशः कथमर्हतीति वाच्यम्, व्युत्पत्त्या सिद्धत्वेन दोषाभावात् । तथाहि–मार्ग्यन्ते=अन्वीष्यन्ते बन्धादयः पदार्था यासु, ता मार्गणा इति व्युत्पत्तिर्मार्गणायाः प्राक्दर्शिता, गवेषिष्यन्ते च प्रथमपृथिवीनारकादिषु बन्धादयः पदार्थाः । तेन प्रथमपृथिवीनारकादीनां मार्गणात्वव्यपदेशो न विरुध्यते । ग्रन्थान्तरेषु तु संक्षेपेच्छया प्रथमपृथिवीनारकादीनां नरकगतिमार्गणाया सङ्गृहीतत्वात् कारणान्तराद्वैतावन्तो मार्गणाभेदा न प्रतिपादिताः । एवमग्रेऽपीन्द्रियादिमार्गणानां व्याख्यानावसरे वक्तव्यम् ॥२९,३०॥

इन्द्रियमार्गणा प्रधानतः पञ्चधा, एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियभेदात् । इह तु पर्याप्ताऽपर्याप्तादिविशेषभेदानाश्रित्यैकोनविंशतिविधा भवति, सम्प्रतीन्द्रियमार्गणायास्तानेकोनविंशतिभेदान् प्रदर्शयितुकामः प्राह—

एगिंदियो तहा से सुहुमियरा होंति ताण पज्जियरा ।
बितिचउपणिंदिया सिं पज्जत्ता तह अपज्जत्ता ॥२१॥

(प्रे०) '**एगिंदियो**' इत्यादि, 'एकेन्द्रियः' इन्द्रियशब्दः प्राग् व्याख्यातः, इन्द्रियाणि पञ्च, स्पर्शन रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्रभेदात्। पञ्चापि स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि द्विप्रकाराणि भवन्ति, द्रव्य-भावभेदात्। तत्राऽपि द्रव्येन्द्रियं द्विविधं निर्वृत्त्युपकरणविकल्पतः । तत्र निर्वर्त्यते=कर्मणा निष्पाद्यते या, सा निर्वृत्तिः 'स्त्रिया क्ति" (सिद्धहेम० ५-३ ९१) इत्यनेन कर्मणि क्तिप्रत्ययः, निर्वृत्तिश्च सेन्द्रियं च निर्वृत्तीन्द्रियम् । निर्वृत्तीन्द्रियाणि द्विविधानि बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्रोत्सेधाङ्गुला-ऽसख्येयभागप्रमितानां शुद्धजीवप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसस्थानेनावस्थिता या वृत्तिः, साऽभ्यन्तरा निर्वृत्तिः, चक्षुरादिविशिष्टाकारसंस्थिता उत्सेधाङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमितविशुद्धात्म-प्रदेशरूपाऽभ्यन्तरनिर्वृत्तिरित्यर्थः, प्रागुक्तोत्सेधाङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणविशुद्धात्मप्रदेशेष्विन्द्रिय-व्यपदेशार्हो नामकर्मजनितः प्रतिनियतसस्थानः कर्णशष्कुल्यादिविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्यनिर्वृत्ति-र्नाम । तत्र कदम्बकपुष्पाकारं श्रोत्रेन्द्रियम्, मसूरधान्यसंस्थानं चक्षुरिन्द्रियम्, घ्राणेन्द्रियं तु कलम्बुकापुष्पसंस्थानम्, अतिमुक्तकपुष्पाकारमित्यन्ये। जिह्वेन्द्रियं क्षुरप्रसंस्थानम्, स्पर्शनेन्द्रियं तु नानाकारम्, कदम्बपुष्पादीनामाकारवत् श्रोत्रेन्द्रियादीनामाकारो भवतीत्यर्थः। श्रोत्रेन्द्रियादीनामुक्ता-कारता सर्वेषां जीवानां भवति। यदुक्तं प्रथ ङ्कवृत्तौ–卐"निर्वृत्तिरभ्यान्तरबाह्यभेदात् द्विधैव, निर्वर्त्यते इति निर्वृत्ति । केन निर्वर्त्यते ? कर्म्मणा, तत्रोत्सेधाङ्गुलाऽसख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशाना प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसस्थानेनावस्थिता या वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्ति, तेष्वेवात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेश-भाक् य प्रतिनियतसस्थानो निर्म्माणनाम्ना पुद्गलविपाकिना वर्द्धकिसस्थानीयेन आरचित कर्णशष्कुल्यादि-

---

卐 तथैव धवलाकारैरपि निगदितम्–"तत्र लोकप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशाना प्रतिनियत-चक्षुरादीन्द्रियसस्थानेनावस्थितानामुत्सेधाङ्गुलस्यासख्येयभागप्रमितानां वा वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्ति । ××××तेष्वात्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाक्षु य प्रतिनियतसस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेष पुद्गल-प्रचय, स बाह्या निर्वृत्ति, मसूरिकाकारा अङ्गुलस्याऽसख्येयभागप्रमिता चक्षुरिन्द्रियस्य बाह्यनिर्वृत्ति । यवनालिकाकारा अङ्गुलस्याऽसख्येयभागप्रमिता श्रोत्रस्य बाह्या निर्वृत्ति । अतिमुक्तकपुष्पसस्थाना अङ्गुला-ऽसख्येयभागप्रमिता घ्राणनिर्वृत्ति, अर्धचन्द्राकारा क्षुरप्राकारा वाङ्गुलासख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्ति । स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियतसस्थाना ।" इति ।

एव राजवार्तिककारैरप्युक्तम्–"निर्वर्त्यते इति निर्वृत्ति, कर्मणा या निर्वर्त्यते=निष्पाद्यते, सा निर्वृत्ति-रित्युपदिश्यते । सा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्, सा=निर्वृत्तिर्द्वेधा, कुत ? बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्र विशुद्धा-त्मप्रदेशवृत्तिरभ्यन्तरा, उत्सेधाङ्गुलस्यासख्येयभागप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशाना प्रतिनियतचक्षुरादी-न्द्रियसस्थानमानावमानावस्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्ति । तत्र नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेष पुद्गलप्रचयो बाह्या, तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक् य प्रतिनियतसस्थान नामकर्मोदयापादिताव-स्थाविशेष पुद्गलप्रचय, स बाह्या निर्वृत्ति ।" इति

विशेष अङ्गोपाङ्गनाम्ना च निष्पादित इति बाह्या निर्वृत्ति । एतेषां श्रोत्रादीनां कदम्बकमसूरकलम्बुकापुष्पक्षुरप्रनानासंस्थानताऽवगन्तव्येति ।"

उपक्रियतेऽनेन निर्वृत्तीन्द्रियमित्युपकरणम् "करणाधारे" (सिद्धहेम० ५-३-१२९) इत्यनेन सूत्रेण अनट्प्रत्ययः, तच्चेन्द्रियकार्यरूपादिग्रहणसमर्थम्, सत्यामप्यनुपहतायां मसूराद्याकाररूपायां निर्वृत्ता उपकरणस्योपघाताद् न परिच्छिद्यते रूपादिकम् । तच्चोपकरणेन्द्रिय द्विधा बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्राभ्यन्तरोपकरणं कृष्णशुक्लमण्डलम्, बाह्य तु पत्रपक्ष्मद्वयादि । एवं शेषेन्द्रियेष्वपि भावनीयम् । यदुक्तमाचाराङ्गवृत्तौ श्रीमच्छीलाङ्गाचार्यपादैः-"तस्या एव निर्वृत्तेर्द्विरूपाया ★येनोपकार क्रियते, तदुपकरणम, तच्चेन्द्रियकार्यसमर्थ सत्यामपि निर्वृत्तावनुपहताया मसूराकृतिरूपाया निर्वृत्तौ तस्योपघातान्न पश्यति तदपि निर्वृत्तिवद् द्विधा, तत्राभ्यन्तरमक्ष्णस्तावत्कृष्णशुक्लमण्डल बाह्यमपि पत्रपक्ष्मद्वयादि । एव शेषेष्वप्यायोजनीयमिति ।" । तत्त्वार्थभाष्यकृतस्तु निर्वृत्तीन्द्रियस्य भेदद्वयं शब्दतो न प्रतिपादयन्ति, उपकरणं तु बाह्याभ्यन्तरभेदाद् द्विविधं प्ररूपयन्ति । तथा च तद्ग्रन्थः-"तत्र निर्वृत्तीन्द्रियमुपकरणेन्द्रिय च द्विविध द्रव्येन्द्रियम्, निर्वृत्तिरङ्गोपाङ्गनामनिर्वर्तितानीन्द्रियद्वाराणि कर्मविशेषसस्कृता शरीरप्रदेशा निर्माणनामाङ्गोपाङ्गप्रत्यया मूलगुणनिर्वर्तनेत्यर्थ, उपकरण बाह्यमभ्यन्तर च निर्वर्तितस्यानुपघातानुग्रहाभ्यामुपकरोतीति ।" तत्त्वार्थवृत्तिकारास्तु श्री त्सिद्धसेनसूरिपादा निर्वृत्तिं द्विधा व्याख्यान्ति, एवमुपकरणमपि । तत्र बाह्यनिर्वृत्तिर्मनुष्यपश्वादिजातिभेदादनेकधा भवतीति व्याहरन्तः कदम्बपुष्पाकारादिकां निर्वृत्तिमभ्यन्तरनिर्वृत्तितया विवर्णयन्ति । अक्षराणि त्वेवम्-"स्वरूपभेदाभ्या निर्वर्तन निर्वृत्ति, प्रतिविशि थानोत्पाद । ××× इन्द्रियशब्देन चात्र भावेन्द्रियमुपयोगरूप विवक्षितम्, तस्येन्द्रियस्य द्वाराण्यवधानप्रदानमार्गाः शष्कुल्यादिरूपा बहिरुपलभ्यमानाकारा निर्वृत्तिरेका, अपरा त्वभ्यन्तरनिर्वृत्ति, नानाकार कायेन्द्रियमसख्येयभेदत्वादस्य चाऽन्तर्बहिर्भेदो निर्वृत्तेर्न कश्चित्प्राय, प्रदीर्घत्र्यस्रसस्थित कर्णाटकायुध क्षुरप्रस्तदाकार रसनेन्द्रियम् । अतिमुक्तकपुष्पदलचन्द्रकाकार किञ्चित्सकेसरवृत्ताकारमध्यविनत घ्राणेन्द्रियम् । किञ्चित्समुन्नतमध्यपरिमण्डलाकार धान्यमसूरवच्चक्षुरिन्द्रियम्, पाथेयभाण्डकयवनालिकाकार श्रोत्रेन्द्रियम्, नालिकाकुसुमाकृति चावसेयम् । तत्राद्य स्वकायपरिमाण द्रव्यमनश्च, शेषाण्यङ्गुलाऽसख्येयभागप्रमाणानि सर्वजीवानाम् । तथा चागम -"फासिंदिए ण भते किसठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! नाणासठाणसठिते, जिब्भिन्दिए ण भंते । किंसठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! खुरप्पसठिते । घाणिंदिएण भते । किसठिए पण्णत्ते गोयमा ! अतिमुत्तयचदकसठिते चक्खुरिन्दिए ण भते ? किसठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! मसूरयचदसठिते पण्णत्ते, सोइदिए ण भते ! किसठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! कलबुयपुप्फसठिते पण्णत्ते ।" इति । अभ्यन्तरा निर्वृत्तिमङ्गीकृत्य सर्वाण्यमूनि सूत्राण्यधीतानि, बाह्या पुनर्निर्वृत्तिश्चित्राकारत्वान्नोपनिबन्द्धु शक्या, यथा मनुष्यस्य श्रोत्र भ्रूसम नेत्रयोरुभयपार्श्वत, अश्वस्य मस्तके नेत्रयोरुपरिष्टात् तीक्ष्णाग्रमित्यादिभेदाद् बहुविधाकारा । ×××××× । निर्वृत्तौ सत्या कृपाणस्थानीयायामुपकरणेन्द्रियमवश्यमपेक्षितव्यम्, तच्च स्वविषयग्रहणशक्तियुक्त खड्गस्येव धारा छेदनसमर्था, तच्छक्तिरूपमिन्द्रियान्तर, निर्वृत्तौ

★ उक्त च धवलाकारैरपि "येन निर्वृत्तेरुपकार क्रियते, तदुपकरणम् । तद्द्विविध बाह्याभ्यन्तरभेदात । तत्राभ्यन्तर कृष्णशुक्लमण्डलम्, बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि । एव शेषेन्द्रियेषु ज्ञेयम् ।" इति । एव राजवर्तिकाकारैरप्यभिहितम् ।

सत्यपि (सत्यामपि) शक्त्युपघाते विषय न गृह्णाति, तस्मान्निर्वृत्ते श्रवणादिसञ्ज्ञके द्रव्येन्द्रिये तद्गागादात्मनोऽनुपघातानुग्रहाभ्यां यदुपकारि, तदुपकरणेन्द्रिय भवति । तच्च बहिर्वर्ति, अन्तर्वर्ति च । निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रियापेक्षयाऽस्याऽपि द्वैविध्यमावेद्यते, यत्र निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रिय तत्रोपकरणेन्द्रियमपि न भिन्नदेशवर्ति, तदेवेति कथयति-तस्या स्वविषयग्रहणशक्तेर्निर्वृत्तिमध्यवर्तिनीत्वात् । एतदेव स्फुटयति-निर्वर्तितस्य=निष्पादितस्य स्वावयवविभागेन यदनुपहत्याऽनुग्रहेण चोपकरोति ग्रहणमात्मन स्वच्छतरपुद्गलजालनिर्मापित तदुपकरणेन्द्रियमध्यवस्यन्ति विद्वास ।" इति । **तत्त्वार्थवृत्तिकाराः श्रीमद्धरिभद्रसूरिपादास्तु** बाह्योपकरणं शष्कुल्यादि, अभ्यन्तरमुपकरणं शक्तिरूप, बाह्योपकरणोपघाते च नियमतः शक्त्युपघात इति प्रतिपादयन्ति । तथा च तद्ग्रन्थः-"उपक्रियतेऽनेन निर्वृत्तीन्द्रियमित्युपकरण बाह्योपकरण शष्कुल्यादीति, तत्र अभ्यन्तर खड्गस्थानीयाया निर्वृत्तेस्तद्धाराशक्तिकल्प स्वच्छतरपुद्गलजालनिष्पादित नदभिन्नदेशमेवेति, यदधिकृत्याह-'निर्वर्तितस्ये'त्यादि, निर्वर्तितस्य=निष्पादितस्य स्वावयवविभागेन निर्वृत्तीन्द्रियस्येति गम्यते 'अनुपघाताऽनुग्रहाभ्यामुपकारी' ति यदनुपहत्या उपग्रहेण चोपकरोति तदुपकरणेन्द्रियमिति । तथाहि-निर्वृत्तौ सत्यामपि शक्त्युपघाते न विषयग्रह , बाह्योपकरणघाते च नियमत शक्त्युपघात इति तत्प्राधान्यतो बाह्यमभ्यन्तर चेत्याह ।" इति ।

प्रज्ञापनावृत्तिकाराः श्रीमन्मलयगिरिसूरिपादास्त्वभ्यन्तरनिर्वृत्ति कदम्बपुष्पाद्याकृतिलक्षणा स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिकां बाह्यनिर्वृत्ति च श्रोत्रपर्पटिकादिरूपां मन्यमानाः स्पर्शननिर्वृत्तीन्द्रियस्य च द्वैविध्यं निषेधयन्त उपकरणेन्द्रियस्य द्विविधता नोदाहरन्ति, किन्तु कृपाणोपमाया बाह्यनिर्वृत्तेर्या खड्गधारातुल्याऽभ्यन्तरा निर्वृत्तिः, तस्याः शक्तिविशेषमुपकरणेन्द्रियमभ्युपगच्छन्ति, यदुक्तं तैः **श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ**-"तत्र निर्वृत्तिर्नाम प्रतिविशिष्ट संस्थानविशेष,, सापि द्विधा बाह्या अभ्यन्तरा च । तत्र बाह्या पर्पटिकादिरूपा, सा च विचित्रा, न प्रतिनियतरूपतयोपदेष्टु शक्यते, तथाहि-मनुष्यस्य श्रोत्रे नेत्रयोरुभयपार्श्वतो भाविनी, भ्रुवौ चोपरितनश्रवणबन्धापेक्षया समे, वाजिनो नेत्रयोरुपरि तीक्ष्णे चाग्रभागे इत्यादि, जातिभेदान्नानाविधा, अभ्यन्तरा तु निर्वृत्ति. सर्वेषामपि जन्तूना समाना, तामेव चाधिकृत्य वक्ष्यमाणानि संस्थानादिविषयाणि सूत्राणि, केवल स्पर्शेन्द्रियस्य निर्वृत्तेर्बाह्याभ्यन्तरभेदो न प्रतिपत्तव्य , पूर्वसूरिभिर्निषेधात् , अत एव च बाह्यसंस्थानविषयमेव तत्सूत्र वक्ष्यति फासिंदिए ण भते ! किंसठाणसठिए पण्णत्ते ? इति, उपकरण खड्गस्थानीयाया बाह्यनिर्वृत्तेर्या खड्गधारासमाना स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्तिस्तस्या. शक्तिविशेष । × × ×" इति । **तत्त्वार्थवृत्तिकारै**रपि प्रोक्तम्-आगमे उपकरणेन्द्रियस्य द्वैविध्यं प्रतिपादितं न दृश्यते, किन्तु सम्प्रदायात् प्रतिपाद्यत इति । तथा च तद्ग्रन्थः-"आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति ।" तदत्र तत्त्वं केवलिनो विदन्ति ।

कदम्बपुष्पाकारादिश्रोत्रेन्द्रियादीनां सर्वेषामिन्द्रियाणां बाहल्यमङ्गुलस्याऽसंख्येयभागः, पृथुलता तु श्रोत्रचक्षुर्घ्राणेन्द्रियाणामङ्गुलाऽसंख्येयभागमिता जिह्वेन्द्रियस्याङ्गुलपृथक्त्वप्रमिता स्पर्शेन्द्रियस्य च शरीरप्रमाणा । यदुक्त **प्रज्ञापनायाम्**-"सोइंदिए ण भते ! केवइय बाहल्लेण प०, गोयमा ! अगुलस्स असखेज्जइभागे बाहल्लेण प०, एव जाव फासिंदिए । सोतिंदिए ण भते केवइत पोहत्तेण

पण्णत्ते ? गोयमा ! अगुलस्स असखेज्जइभाग पोहत्तेण प०,एव चक्खिदिए वि, घाणिंदिए वि । जिब्भिदिए ण पुच्छा, गोयमा ! अगुलपुहुत्तेण प०, फासिदिए ण पुच्छा, गो० ! सरीरप्पमाणमेत्ते पोहत्तेण प० ।" इति ।

अथावगाहनापेक्षयाऽल्पबहुत्वम्—सर्वस्तोकप्रदेशावगाढं चक्षुरिन्द्रियम्, ततः सख्येयगुणप्रदेशावगाढं श्रोत्रेन्द्रियम्, प्रभूतेषु प्रदेशेषु तस्याऽवगाहनासद्भावात्, ततः सख्येयगुणप्रदेशावगाढं घ्राणेन्द्रियम्, ततोऽसंख्येयगुणप्रदेशावगाढं जिह्वेन्द्रियम्, तस्य पृथुताया अङ्गुलपृथक्त्वमात्रत्वात्, घ्राणेन्द्रियपृथुतायाश्चाङ्गुलाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । ततोऽपि संख्येयगुणप्रदेशावगाढं स्पर्शनेन्द्रियं भवति, तत्पृथुत्वस्य शरीरमानत्वात्, पूर्वपदस्य च पृथुताया अङ्गुलपृथक्त्वमात्रत्वोपलम्भात् । प्रदेशाल्पबहुत्व चेत्थम्—चक्षुषः सर्वस्तोकाः प्रदेशाः, ततः संख्येयगुणाः प्रदेशाः श्रोत्रेन्द्रियस्य, ततोऽपि 卐 घ्राणेन्द्रियस्य प्रदेशाः संख्येयगुणाः, ततो जिह्वेन्द्रियस्याऽसंख्येयगुणाः, ततः स्पर्शनेन्द्रियस्य प्रदेशाः सख्येयगुणाः । यदुक्त प्रज्ञापनायाम्-"सव्वत्थोवे चक्खिदिते ओगाहणट्ठयाते, सोतिंदिए ओगाहणट्ठयाते सखेज्जगुणे, घाणिंदिए ओगाहणट्ठयाते सखेज्जगुणे, जिब्भिदिए ओगाहणट्ठयाए असखेज्जगुणे, फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए सखेज्जगुणे । पदेसट्ठयाते सव्वत्थोवे चक्खिदिए पदेसट्ठयाए सोतिंदिए पएसट्ठाए सखेज्जगुणे, घाणिदिए पएसट्ठाए सखेज्जगुणे, जिब्भिदिए पएसट्ठाए असखेज्जगुणे, फासिंदिए पएसट्ठाए सखेज्जगुणे ।" इति ।

विषयादयस्तु विशेषावश्यकभाष्यप्रज्ञापनादितोऽवसेयाः । इति द्रव्येन्द्रियनिरूपणम् ।

भावेन्द्रियं द्वेधा, लब्ध्युपयोगभेदात् । यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते, सा तत्तद्रूपरसादिग्रहणपरिणत्यावारककर्ममतिज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमजनिता लब्धिरित्यर्थः । यदुक्त ❀तत्त्वार्थवृत्तौ—तदावरणीयकर्मक्षयोपशमजनिता चेति, तस्या खलु रूपादिग्रहणपरिणतेरावारणीयमावारकमाच्छादक बाहुलकात्कर्तरि व्युत्पत्ति, तदावरणीय च तत्कर्म च तदावरणीयकर्म मतिज्ञानदर्शनावरणकर्मेत्यर्थ, तस्योभयस्य क्षयोपशमोऽभिहितलक्षणस्तज्जनिता च तन्निष्पादिता चेत्यर्थ ।" इति । एव चाराङ्गवृत्तावप्युक्तम्—"लब्धिर्ज्ञानदर्शनावरणीयक्षयोपशमरूपा यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते ।" इति । न चाचाराङ्गवृत्ता अन्यत्र च क्षयोपशम एव लब्धिः प्रोक्ता, अत्र च तज्जनिता लब्धिरिति कथं न विरुध्यते ? इति वाच्यम्, "कारणे कार्योपचार" इति न्यायेनाचाराङ्गवृत्त्यादिषूक्तत्वात् । यदुक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ—"ननु च क्षयोपशम एव लब्धि-

---

卐धवलाकारै राजवार्तिककारैश्च विशेषाधिका प्रोक्ता, तथा राजवार्तिककारै स्पर्शनेन्द्रियस्य प्रदेशा अनन्तगुणा प्रोक्ता । तथा चात्र धवला-"सर्वत स्तोकाश्चक्षुष प्रदेशा, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशा सख्येयगुणा, घ्राणेन्द्रियप्रदेशा विशेषाधिका, जिह्वायामसख्येयगुणा, स्पर्शने सख्येयगुणा ।" इति । अथ राजवार्तिकम्-"सर्वत स्तोकाश्चक्षु प्रदेशा, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशा सख्येयगुणा, घ्राणेन्द्रिये विशेषाधिका, जिह्वायामसख्येयगुणा, स्पर्शनेऽनन्तगुणा इति" ।

❀ धवलाकारैस्तु ज्ञानावरणक्षयोपशम प्रोक्त, तथा च तद्ग्रन्थ —इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतु क्षयोपशमविशेषो लब्धि, यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते, स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते ।" इति ।

रुक्ता तेन जनिताऽन्या का भवेल्लब्धिः ? उच्यते–मतिज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमाऽवस्थानिर्वृत्तौ यो ज्ञानसद्भाव क्षायोपशमिक, सोऽत्र लब्धिरुच्यते । कथ कृत्वोक्त प्राक् क्षयोपशमो लब्धिरिति कारणे कार्योपचारमालम्ब्य नड्वलोदक पादरोगवदित्यभिहितमतो न दोषाय ।" इति ।

ननु **तत्त्वार्थभाष्ये** लब्धिर्नामकर्मजनिता क्षयोपशमजनितेन्द्रियाश्रयकर्मोदयनिर्वृत्ता चोक्ता, तथा च तद्ग्रन्थः-"लब्धिर्नाम गतिजात्यादिनामकर्मजनिता तदावरणीयकर्मक्षयोपशमजनिता च इन्द्रियाश्रयकर्मोदयनिर्वृत्ता च जीवस्य भवति ।" इति । तदत्र गत्यादिकर्मभिरिन्द्रियाश्रयकर्मोदयेन च जनिताऽपि कथं नोच्यते ? इति चेत्, उच्यते,–तत्र लब्धिजनकक्षयोपशमस्य कारणानि गति-जात्यादिनामकर्माणि लब्धिजनकत्वेनोपदिष्टानि । यदुक्त **तत्त्वार्थवृत्तौ**–"गतिजाती आदिर्यस्य, तद् गतिजात्यादि, गतिजात्यादि तन्नामकर्म च गतिजात्यादिनामकर्म तेन जनिता=निर्वर्तिता, मनुष्यगतिनामोदयान्मनुष्यस्तथा पञ्चेन्द्रियजातिनामोदयात्पञ्चेन्द्रिय इत्यतो मनुष्यत्वपञ्चेन्द्रियत्वादिलाभे प्रतिस्व तदावरणकर्मक्षयोपशमो निर्वर्त्यते, तस्य क्षयोपशमस्य गतिजातिप्रभृतिनामकर्मकारणत्वान्निर्दिष्टमाचार्येण, आदिग्रहणेन यत् तदत्र नान्तरीयक शरीरादिक्षयोपशमलब्धेर्नामान्त पाति तत्सकलमादीयते । अपरे स्वायुष्कमपि तदाश्रयत्वात् कारणमाचक्षते क्षयोपशमस्य, एव विदूरवर्तिकारणमुपदिश्याऽधुना प्रत्यासन्नकारणान्तरमाविष्करोति–तदावरणीयकर्मक्षयोपशमजनिता चेति ।" इति । इह ग्रन्थे तु लब्धिकारणक्षयोपशमहेतवो गत्यादिनामकर्माणि लब्धिकारणत्वेन न गृहीतानि, अप्रत्यासन्नत्वात् । क्षयोपशमलब्धिं वर्धयत इन्द्रियाश्रयनिर्माणाङ्गोपाङ्गप्रभृतिकर्मोदयस्य तु लब्धिकारणताऽस्मिन् ग्रन्थेऽपीष्टैव, तेन निर्माणाङ्गोपाङ्गादिकर्मोदयोऽपि लब्धिकारणत्वेनाऽत्र बोध्यः । यदुक्तं **तत्त्वार्थवृत्तौ**–"इन्द्रियाण्याश्रयोऽवकाशो येषा कर्मणा तानीन्द्रियाश्रयाणि कर्माणि यावन्ति कानिचिन्निर्माणाङ्गोपाङ्गादीनि, यैर्विना तानि न निष्पाद्यन्ते, तदुदयेन=तद्विपाकेन निर्वृत्ता=जनिताऽऽत्मनो लब्धिरुद्भवति, स्वच्छे हि दर्पणतले प्रतिबिम्बोदयो भवति, न मलिमसे, तथा निर्माणाङ्गोपाङ्गादिभिरत्यन्तविमलतद्योग्यपुद्गलद्रव्यनिर्मापितानीन्द्रियाणि तस्या क्षयोपशमलब्धेरतुल बलमुपयच्छन्ति कारणता बिभ्रतीति।"

केचत्तु अन्तरायकर्मक्षयोपशमापेक्षा इन्द्रियविषयोपभोगज्ञानशक्तिर्लब्धिरित्याहुः ।

स्वस्वविषये लब्धिनिमित्तक आत्मनो मनस्साचिव्यादर्थग्रहणं प्रति व्यापारः=प्रणिधानमुपयोग इति व्यपदिश्यते, यदुक्तम**आचाराङ्गवृत्तौ**–"तन्निमित्त आत्मनो मनस्साचिव्यादर्थं प्रति व्यापार उपयोग इति ।" न चैवमुपयोगस्येन्द्रियफलत्वादिन्द्रियत्वव्यपदेशो नोपपद्यत इति वाच्यम्, "कार्ये कारणोपचार" इति न्यायेनेन्द्रियत्वव्यपदेशस्याऽविरुद्धत्वात् । लब्धौ सत्यां निर्वृत्त्युपकरणोपयोगा भवन्ति, तदभावे च तेषामभावः । सत्या च निर्वृत्तावुपकरणोपयोगौ भवतः, सत्युपकरणे च उपयोग इति ।

यावन्त कालमिन्द्रियैरुपयुक्त आस्ते जीवः, तावान् काल इन्द्रियोपयोगकाल उच्यते, स च पञ्चविधः, स्पर्शन रसन-घ्राण-चक्षुः–श्रोत्रेन्द्रियोपयोगकालभेदात् । एकैकोऽपि पुनर्द्विविधः, जघन्योत्कृष्टभेदात् । इहेन्द्रियोपयोगकालमाश्रित्य दशपदानामल्पबहुत्वमभिधीयते–(१) चक्षुरिन्द्रियस्य जघन्योपयोगाद्धा स्तोका (२) ततः श्रोत्रेन्द्रियस्य जघन्योपयोगाद्धा विशेषाधिका भवति, (३) ततो घ्राणेन्द्रियस्य जघन्योपयोगाद्धा विशेषाधिका भवति (४) ततो रसनेन्द्रियस्य जघन्योपयोगाद्धा विशेषाधिका भवति (५) ततः स्पर्शनेन्द्रियस्य जघन्योपयोगाद्धा विशेषाधिका भवति ।

(६) ततश्चक्षुरिन्द्रियस्योत्कृष्टोपयोगाद्धा विशेषाधिका भवति । (७) ततः श्रोत्रेन्द्रियस्योत्कृष्टोपयोगाद्धा विशेषाधिका (८) ततो घ्राणेन्द्रियस्योत्कृष्टोपयोगाद्धा विशेषाधिका (९) ततो रसनेन्द्रियस्योत्कृष्टोपयोगाद्धा विशेषाधिका (१०) ततः स्पर्शनेन्द्रियस्योत्कृष्टोपयोगाद्धा विशेषाधिका भवति । यदुक्तं **प्रज्ञापनासूत्रे भगवताऽऽर्यश्यामेन**–"सव्वत्थोवा चक्खिदियस्स जहण्णिया उवयोगद्धा, सोतिंदियस्स जहण्णिया उवयोगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स जह० उव० विसे०, जिब्भिंदियस्स ज० उव० वि०, फासिंदियस्स जह० उव० वि० । फासिंदियस्स जहण्णियाहिंतो चक्खिदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसे०, सोतिंदियस्स उक्को० उ० वि०, घाणिंदियस्स उक्को० उव० वि०, जिब्भिदियस्स उक्को० उव० विसे०, फासिंदियस्स उक्कोसिया उव० विसे० ।" इति । यद्यप्यत्र दशानामपि कालोऽन्तर्मुहूर्तमेव, तथापि जघन्योपयोगकालत उत्कृष्टोपयोगकालस्य बृहत्तरत्वमिति प्रदर्शनायाऽल्पबहुत्वमुक्तम् ।

एकमिन्द्रियं स्पर्शनलक्षणं एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्तदावरणक्षयोपशमशमाच्च विद्यते यस्य, स एकेन्द्रियः, एकेन्द्रिया हि पृथ्वीजलानलवायुवनस्पतयः केवलस्पर्शनेन्द्रियवत्त्वात् । इदमुक्तं भवति–स्पर्शेन्द्रियावरणक्षयोपशमे शेषेन्द्रियाणां च सर्वघातिस्पर्धकोदय एकं स्पर्शनेन्द्रियं प्रादुर्भवति । अथैकेन स्पर्शनेन्द्रियविज्ञानेन संयुक्ता जीवा एकेन्द्रिया उच्यन्ते, एवं वक्ष्यमाणद्वीन्द्रियादयोऽपि व्याख्येयाः । यदुक्तं **श्रीमद्धरिभद्रसूरीश्वरपादैः प्रज्ञापनावृत्तौ**—"स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे शेषेन्द्रियाणां चावरणे वर्त्तमाना एकविज्ञानसंयुक्ता एकेन्द्रिया, स्पर्शनरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे शेषेन्द्रियावरणे च वर्त्तमाना द्विविज्ञानसंयुक्ता द्वीन्द्रिया, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमे शेषेन्द्रियावरणे च वर्तमानास्त्रिविज्ञानसंयुक्तास्त्रीन्द्रिया, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमे शेषेन्द्रियवरणे च वर्तमानाश्चतुर्विज्ञानसंयुक्ताश्चतुरिन्द्रिया, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमे वर्तमाना पञ्चेन्द्रिया ।" इति । एवं **शतकचूर्णावप्युक्तम्**–"एगिंदिया णाम फासिंदियावरणीयस्स कम्मुणो खओवसमे वट्टमाणा एक्कविन्नाणसंजुत्ता सेसिंदियसव्वावरणोदयसहिया जीवा सुत्तमत्तादिमनुष्यवत् ×××××× फासिन्दियजिब्भिन्दियावरणाण खओवसमे वट्टमाणा दुविन्नाणसंजुत्ता सेसिन्दियावरणसहिया जीवा बेइन्दिया, ते दुविहा पज्जत्तगा अपज्जत्तगा । फासिन्दियजिब्भिदियघाणिन्दियावरणाण खओवसमे वट्टमाणा तिविन्नाणसंजुत्ता सेसिन्दियसव्वविन्नाणावरणसहिया जीवा तेइन्दिया, ते दुविहा पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य । फासिन्दियजिब्भिन्दियघाणिन्दियचक्खिन्दियावरणाण खओवसमे वट्टमाणा चउविन्नाणसंजुत्ता सेससव्वविन्नाणावरणसहिया जीवा चउरइन्दिया, ते दुविहा पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य××××××××पञ्चिन्दिया णाम पञ्चण्हमिन्दियावरणाण खओवसमे वट्टन्ता पञ्चविन्नाणसंजुत्ता जीवा पञ्चिन्दिया ।" इति ।

उक्तं च धवलाकारैरपि–"कुत एतेषामाविर्भाव इति चेद्, वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे पञ्चेन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां पञ्चानामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेदिति, नेदं व्याख्यानमत्र प्रधानम् 'एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया भवन्ति, इति भावसूत्रेण सह विरोधात् । तत एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः । एषोऽर्थोऽत्रप्रधानं निरवद्यत्वात् ।"इति।

न च केवलज्ञानिनां क्षयोपशमाभावात् पञ्चेन्द्रियत्वव्यपदेशो न स्यादिति वाच्यम्, "भूतपूर्वकस्तद्वदुपचार" इति न्यायेन पञ्चेन्द्रियत्वव्यवहारोपपत्तेः, यद्वा भावेन्द्रियजनितद्रव्येन्द्रियगत्त्वेन हेतुहेतुमतोरभेदोपचारेण पञ्चेन्द्रियत्वव्यपदेशोपपत्तेः ।

अन्ये पुनराहुः–एकेन्द्रियाणां श्रोत्रादिद्रव्येन्द्रियाऽभावेऽपि सूक्ष्ममव्यक्तं लब्ध्युपयोगरूपं भावेन्द्रियं भवत्येव, तेनैकेन्द्रियाणां श्रोत्रादिलब्धीन्द्रियावरणक्षयोपशमोऽभ्युपगन्तव्यः, श्रोत्रादिलब्धीन्द्रियाणां सर्वघातिस्पर्धकोदये तु न किञ्चिदपि ज्ञान स्यादिति । साध्यते च तैर्महर्षिभिर्वनस्पत्यादिजीवेष्विन्द्रियपञ्चकज्ञानं कुसुमप्रसवादिलिङ्गैः । तथाहि–मत्तकामिनीमधुरगीतध्वनिश्रवणेन विरहकादिवृक्षेषु सद्यः कुसुमपल्लवप्रसवाच्छ्रवणेन्द्रियमनुमीयते, कमनीयकामिनीकमलकोमलदलकुमुदनाथधवललोचनकटाक्षप्रक्षेपेण तिलकादिपादपेषु कुसुमादिप्रादुर्भावाच्चक्षुरिन्द्रियज्ञानमवगम्यते, विविधसुगन्धिवस्तुमिश्रितविमलसलिलप्रक्षेपेण चम्पकादिशाखिषु प्रसूनादिसमुद्भवाद् घ्राणेन्द्रियज्ञानमवमीयते, तरुणभामिनीमुखप्रदत्तस्वच्छसुस्वादुसुरभिवारुणीगण्डूषास्वादनेन बकुलादिभूमिरुहेषु पुष्पादिप्रभवाद् रसनेन्द्रियज्ञानमवबुध्यते, कमनीयाङ्गकामिन्यङ्गस्पर्शनेन कुरबकादिद्रुमेषु प्रसूनोद्भवात् स्पर्शनेन्द्रियविज्ञानमधिगम्यते, यदुक्त **प्रज्ञापनावृत्तौ श्रीमन्मलयगिरिपादैः**–
"भावेन्द्रियाणि क्षयोपशमोपयोगरूपाणि, तानि चानियतानि, एकेन्द्रियाणामपि क्षयोपशमोपयोगरूपभावेन्द्रियपञ्चकसम्भवात् केषाचित्तत्फलदर्शनात्, तथाहि–बकुलादयो मत्तकामिनीगीतध्वनिश्रवणसविलासकटाक्षनिरीक्षण मुखक्षिप्तसुरागण्डूषगन्धाघ्राणरसास्वादस्तनाद्यवयवस्पर्शनत प्रमोदभावेनाऽकालक्षेपमुपलभ्यन्ते पुष्पफलानि प्रयच्छन्त, उक्त च–'ज किर बउलाईण दीसइ सेसिन्दिओवलम्भोऽवि। तेणत्थि तदावरणक्खओवसमसम्भवो तेसि ॥१॥" इति ।

न चैवं तेषामभिप्रायेणैकेन्द्रियाणामपि पञ्चेन्द्रियत्वव्यपदेशः स्यात्, इन्द्रियपञ्चकविज्ञानवत्त्वादिति वाच्यम्, यत एकेन्द्रियत्वव्यपदेशनिबन्धनं हि निर्वृत्त्युपकरणाख्यद्रव्येन्द्रिय भवति, एकेन्द्रियाणां चैकमेव स्पर्शनद्रव्येन्द्रियं भवति, तेनैकं बाह्यं द्रव्येन्द्रियं स्पर्शनलक्षणं येषाम्, ते एकेन्द्रिया इति व्युत्पत्तिः । न चैतत्स्वमनीषिकया विजृम्भितम्, अन्यत्राप्युक्तत्वात् । अक्षराणि त्वेवम्-
'पञ्चिदिओ वि बउलो नरोव्व सव्वविसयोवलम्भाओ। तह वि न भण्णइ पञ्चिन्दिओ त्ति बज्झिन्दियाभावा।'' इति ।

एव द्वे द्रव्येन्द्रिये स्पर्शरसनरूपे येषाम्, ते द्वीन्द्रियाः, त्रीणि द्रव्येन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणलक्षणानि येषाम्, ते त्रीन्द्रियाः, चत्वारि द्रव्येन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुराख्यानि येषाम्, ते चतुरिन्द्रियाः, पञ्च द्रव्येन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानानि येषाम्, ते पञ्चेन्द्रियाः, एतेन केवलज्ञानिना भावेन्द्रियाभावेऽपि द्रव्येन्द्रियसत्त्वात्पञ्चेन्द्रियत्वव्यवहारोऽप्युपपद्यते ।

अत्र कश्चिदाह–नन्वनिर्वर्तितद्रव्येन्द्रियाणामेकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियादित्वव्यपदेशो न स्यात्, द्रव्येन्द्रियाभावात् । न चापर्याप्तावस्थायां द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्त्यारम्भाद् विरोधाभाव इति वाच्यम्, विग्रहगतौ द्रव्येन्द्रियारम्भस्याप्यनुपलम्भादिति । अत्रोच्यते–एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयाज्जीवा एके-

न्द्रिया इति लक्षणं तु सर्वत्राऽदूषितमेव । उक्तं च **तत्त्वार्थवृत्तिकारैः**–एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रिय इति व्यपदिश्यते, एवं द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाज्जीवा द्वीन्द्रिया, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाज्जीवास्त्रीन्द्रिया चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रिया, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रिया ।" इति । एतेनाऽपि केवलज्ञानिनां भावेन्द्रियाभावेऽपि भूतपूर्वकन्यायानाश्रयणादेव पञ्चेन्द्रियत्वोपपत्तिः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयस्य सत्त्वात् ।

अथैकेन्द्रियस्य प्रभेदान् दर्शयति–'**सुहुमियरा**' त्ति 'सूक्ष्मेतरौ' सूक्ष्मश्च इतरश्च=बादरश्च सूक्ष्मेतरौ सूक्ष्मैकेन्द्रियो बादरैकेन्द्रियश्चेत्यर्थः, तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मैकेन्द्रियः, बादरनामकर्मोदयाच्च बादरैकेन्द्रियः । जीवेन सूक्ष्मनामकर्मोदयात् शरीरं सूक्ष्मं निर्वर्त्यते, बादरनामकर्मोदयाच्च बादरशरीरं निष्पाद्यते । तस्मात्तच्चर्याज्जीवा अपि सूक्ष्मा बादराश्च व्यवह्रियन्त इति भावः ।

ननु किं नाम सूक्ष्मत्वं बादरत्वं च येन जीवाः सूक्ष्मा बादराश्च व्यवह्रियन्ते ? किं (१) चक्षुर्ग्राह्यत्वं बादरत्वं चक्षुरग्राह्यत्वं च सूक्ष्मत्वम् (२) उतस्वित् परैरुपहन्यमानशरीरनिर्वर्तकत्वं बादरत्वम्, अप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकत्वं च सूक्ष्मत्वम् (३) आहोस्वित् शरीरावगाहनापेक्षया प्रभूतत्वं बादरत्वम्, अल्पत्वं च सूक्ष्मत्वमिति, न तावत्प्रथमपक्षः, बादरनामकर्मोदयवतामपि केषाञ्चिज्जीवानां चक्षुरग्राह्यत्वेन सूक्ष्मत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः, परैरनुपहन्यमानशरीरनिर्वर्तकत्वेन जीवानां सूक्ष्मत्वव्यपदेशे बादरजीवानां शरीरावगाहनाया असंख्येयगुणहीनत्वेन सूक्ष्मवदप्रतिघाताद् बादरजीवानामपि सूक्ष्मत्वव्यपदेशापत्तेः । नापि तृतीयविकल्पः, सूक्ष्मनामकर्मोदयवता शरीराऽवगाहनातो बादरोदयवतामपि केषाञ्चिच्छरीरावगाहनाया असंख्येयगुणहीनत्वात् । यदुक्तं **व्याप्रज्ञप्तौ** "(१) सव्वत्थोवा सुहुमनिओयस्स अपज्जत्तस्स जहन्निया ओगाहणा । (२) सुहुमवाउक्काइयस्स अपज्जत्तगस्स जह० ओगा० असंखेज्जगुणा, (३) सुहुमतेउअपज्जत्तस्स जह० ओगा० अस० (४) सुहुमआऊअपज्ज० जह० ओगा० अस० (५) सुहुमपुढविअपज्जत्त जह० ओगा० अस० (६) बादरवाउकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जह० ओगा० असंख० (७) बादरतेउअपज्जत्तजहन्निया ओगा० अस० (८) बादरआउअपज्जत्तजहन्निया ओगा० असंख०(९)बादरपुढवीकाइयअपज्जत्तजहन्निया ओगा० असंखे० (१०–११) पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयस्स बादरनिओयस्स (एएसि णं पज्जत्तगाण) एएसि णं अपज्जत्तगाण जह० ओगा० दोण्ह वि तुल्ला अस० (१२) सुहुमनिगोयस्स पज्जत्तस्स जह० ओगा० असंखे० ।" इति । अत्रोच्यते–नैष दोषः, सूक्ष्मजीवाना पर्याप्तापर्याप्तानामुत्कृष्टाऽवगाहनातोऽपर्याप्तबादरजीवानां शरीरस्य जघन्याऽवगाहनाया असंख्येयगुणहीनत्वेऽपि पर्याप्तबादरजीवाना जघन्याऽवगाहनायाः सूक्ष्मजीवोत्कृष्टाऽवगाहनातोऽसंख्येयगुणत्वात्, अपर्याप्तसूक्ष्मजीवजघन्याऽवगाहनातश्चाऽपर्याप्तबादरजीवजघन्यावगाहनाया असंख्येयगुणत्वात् । इत्थं दृश्यतेऽवगाहनाऽपेक्षया किञ्चित्तारम्यम् । यदुक्तं **व्याख्याप्रज्ञप्त्यां** प्रागुक्ताऽल्पबहुत्वस्याग्रे–"(१३) तस्सेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगा० विसेसा०, (१४) तस्सेव पज्जत्तगस्स उक्को० ओगा० विसेसा०, (१५) सुहुमवाउकाइयस्स पज्जत्तग० जह० ओगा० अस०, (१६) तस्स चेव अपज्जत्त० उक्को० विसे०, (१७) तस्स चेव पज्जत्त० उक्को० वि०, (१८-१९-२०) एवं सुहुमतेउकाइयस्स वि, (२१–२२–२३) एवं सुहुमआउकाइयस्स वि०, (२४–२५–२६) एवं सुहुमपुढविकाइयस्स वि (सेसा) (२७ २८-२९) एवं बादरवाउकाइयस्स वि, (३०–३१–३२) एवं बादरतेउकाइयस्स वि, (३३–३४–३५) एवं बादरआउकाइयस्स वि,

(३६-३७-३८) एव बादरपुढविकाइयस्स वि ×××××××××" इति । भवद्भिस्तु बादरस्यापर्याप्तस्य जघन्यावगाहना गृहीत्वा सूक्ष्मजीवस्य च पर्याप्तस्य जघन्यावगाहनामादाय विचारितम्, तेन दोषाय जातम् । इत्थं तृतीयविकल्पो न दोषाय भवति ।

एवं द्वितीयविकल्पोऽपि न सम्पद्यते दोषाय, पर्याप्तसूक्ष्मजीवोत्कृष्टावगाहनातोऽपर्याप्तसूक्ष्मजीवोत्कृष्टावगाहनातश्च यथाक्रमं पर्याप्तबादरजीवोत्कृष्टावगाहनाया अपर्याप्तबादरजीवोत्कृष्टावगाहनाया असंख्येयगुणत्वात् । वस्तुत इदं व्याख्यानं नातिक्षोदक्षमम् ।

सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मा जीवाः, बादरनामकर्मोदयाच्च जीवा बादरा इति प्राग्दर्शितव्याख्यान तु निर्दुष्टम् । तेन विग्रहगता औदारिकादिशरीराभावेऽपि सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मत्वव्यपदेशो बादरनामकर्मोदयाच्च बादरत्वव्यवहारो भवत्येव, न चैतत्स्वमनीषिकया विजृम्भितम् । यदुक्त **पूज्यहरिभद्रसूरीश्वरैः प्रज्ञापनावृत्तौ**–"इह च सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मा, बादरनामकर्मोदयाच्च बादरा, न त्वापेक्षिक बादरसूक्ष्मत्वमिति ।" एवं **शतकचूर्णिकारैरप्युक्तम्**–"ते दुविहा–बायरा सुहुमा, बादरणामकम्मोदयाओ बायरा, सुहुमणामकम्मोदयाओ सुहुमा। ण चक्खुग्गहण पइ बायरत्त सुहुमत्त वा, किंतु णामकम्माभिणिव्वत्त जीवपरिणाम पइ, जहा परमाणुरूव, ण हि परमाणुस्स चक्खुरिंदियगेज्झमिति रूवपरिणामो किंतु स्वाभाविको रूवपरिणामो, एव बायरसुहुमपरिणामो णामकम्मोदयाभिणिवत्ती। अहवा जीवविवाग किंचि कम्मसरीरे वि अभिवजयति बायरसुहुमत्त ।" इति । एवं **सूत्रकृताङ्गवृत्तिकारैरप्युक्तम्** ।

अथ सूक्ष्मबादरयोरेकैकस्य प्रभेदान् प्रदर्शयति–**'ताण'** इत्यादि, 'तयोः' सूक्ष्मबादरयोः पर्याप्तेतरौ द्वौ भेदा इत्यध्याहार्यम् । पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियोऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियश्च पर्याप्तबादरैकेन्द्रियोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियश्चेत्यर्थः । तत्र पर्याप्तः पर्याप्तनामकर्मोदयवान्, अपर्याप्तः पुनरपर्याप्तनामकर्मोदयवान् । इत्थमेकेन्द्रियमार्गणायाः सप्तमार्गणाः प्रतिपादिताः । तद्यथा—(१) एकेन्द्रियमार्गणा (२) सूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणा (३) बादरैकेन्द्रियमार्गणा (४) पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणा (५) अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणा (६) पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणा (७) अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणा च ।

सम्प्रतीन्द्रियमार्गणायाः शेषभेदान् दर्शयति–**'बिति०'** इत्यादि, 'द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाः' इन्द्रियशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति । तत्र द्वे इन्द्रिये=स्पर्शनरसनलक्षणे येषाम्, ते द्वीन्द्रियाः कृमिशङ्खाक्षप्रभृतयः, त्रीणि इन्द्रियाणि=स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि येषाम्, ते त्रीन्द्रियाः पिपीलिका कुन्थ्वादयः । चत्वारि इन्द्रियाणि=स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुराख्यानि येषाम्, ते चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयः, पञ्च इन्द्रियाणि=स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानि येषाम्, ते पञ्चेन्द्रिया नारकादयः । अथ द्वीन्द्रियादीनामुत्तरभेदान् प्रदर्शयति–**'सि'**

卐 धवलाकारैरप्युक्तम्–"न बादरशब्दोऽय स्थूलपर्याय, अपि तु बादरनाम्न कर्मणो वाचक, तदुदयसहचरितत्वाज्जीवोऽपि बादर ।" इति ।

इत्यादि, 'तेषाम्' द्वीन्द्रियादीनां प्रत्येकं पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च, पर्याप्तद्वीन्द्रिया अपर्याप्तद्वीन्द्रियाः पर्याप्तत्रीन्द्रिया अपर्याप्तत्रीन्द्रियाः पर्याप्तचतुरिन्द्रिया अपर्याप्तचतुरिन्द्रियाः पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाश्चेत्यर्थः ।

अथेन्द्रियमार्गणाया एकोनविंशतिभेदा नामग्राहं पठ्यन्ते–(१) एकेन्द्रियमार्गणा, (२) सूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणा, (३) पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणा, (४) अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणा, (५) बादरैकेन्द्रियमार्गणा, (६) पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणा, (७) अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणा, (८) द्वीन्द्रियमार्गणा, (९) पर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणा, (१०) अपर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणा, (११) त्रीन्द्रियमार्गणा, (१२) पर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणा, (१३) अपर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणा, (१४) चतुरिन्द्रियमार्गणा (१५) पर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणा, (१६) अपर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणा, (१७) पञ्चेन्द्रियमार्गणा, (१८) पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणा, (१९) अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणा चेति ॥३१॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तायाः कायमार्गणाया द्वाचत्वारिंशद्भेदान् व्याजिहीर्षुराह—

एगिंदियव्व पुढवीदगग्गिवाऊ हवंति सत्तविहा ।
वणकायो होइ दुहा पत्तेअणिगोअभेअत्तो ॥३२॥
पत्तेअवणो तस्स य पज्जत्तो तह भवे अपज्जत्तो ।
सत्तविहोऽत्थि णिगोओ पुहविव्व तसो पणिंदियव्व तिहा ॥३३॥(गीतिः)

(प्रे०) '**एगिं०**' इत्यादि, कायमार्गणा मुख्यभेदतः षड्विधा, पृथ्वीकाया-ऽप्काय तेजःकाय-वायुकाय-वनस्पतिकाय-त्रसकायभेदात् । इह तावदादौ पृथिवीकायाऽप्कायतेजःकायवायुकायान् सप्रभेदान् दर्शयति–'एकेन्द्रियवत्' यथाऽनन्तरपूर्वगाथायाम् इन्द्रियमार्गणाया भेदाऽवसरे एकेन्द्रियः स्वप्रभेदैः सहितः "एकेन्द्रियः सूक्ष्मैकेन्द्रियः" इत्याद्यभिधानेन सप्तविधो दर्शितः, तथा 'पृथिवी-दकतेजोवायवः' प्रक्रमात् कायशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजःकाय-वायुकायाः सप्तविधा भवन्ति । तद्यथा–पृथिवीकायः सूक्ष्मपृथिवीकायो बादरपृथिवीकायः पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायोऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायः पर्याप्तबादरपृथिवीकायोऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायश्च । एवमप्कायादयोऽपि वक्तव्याः । तत्र पृथिवी एव कायो यस्य, स पृथिवीकायः । न च विग्रहगता औदारिकशरीराभावेन पृथिवीकायव्यपदेशो न स्यादिति वाच्यम्, यतः विग्रहगतिवर्ती जीवो नियमत उत्पत्तिदेशं प्राप्तः पृथिवीशरीरं निर्वर्तयिष्यति, तेन "भाविनि भूतवदुपचारः" इति न्यायेन विग्रहगतावपि पृथिवीकायव्यपदेशो युज्यत एव । अथवा पृथिवीकायजातिनामकर्मोदयात्पृथिवीकायः, उक्तं च **तत्त्वार्थवृत्तौ**–"पृथिवीकायिकजातिनामोदयात् पृथिवीकायिकव्यपदेशः ।" इति । न च पृथिवी–

卐 धवलाकारा अप्याहु —"पृथिवीकायिकनामकर्मोदयवशीकृता पृथिवीकायिका इति ।"

नामकर्माऽसिद्धमिति वाच्यम्, यत एकेन्द्रियादिजातिनामकर्मव्याख्यानावसरे तत्त्वार्थभाष्यकारैरस्माभिश्चैकेन्द्रियजातेरवान्तरजातयः पृथिवीकायाप्कायादयोऽभिहिताः । नन्वेवं तर्हि शर्करावालुकोपलादीनामपि जातित्वप्रसङ्गः स्यादिति, नैष दोष इष्टत्वात् । इह तदुपदेशविरहस्तु जीवानां संक्षिप्तरुचित्वेन कारणान्तरेण वा पृथिवीकायिकादिजातिष्वेव तेषामन्तर्भावितत्वात् । तत्त्वार्थवृत्तिकारोक्तस्य पृथिवीकायिकशब्दस्य व्युत्पत्तिर्द्विधा भवति, पृथिवी एव कायो येषाम्, ते पृथिवीकायिकाः, स्वार्थिक इकप्रत्यय इत्येका व्युत्पत्तिः, अपरा तु पृथिव्येव कायः पृथिवीकायः, स एषामस्तीति पृथिवीकायाः, पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिकाः ।

सूक्ष्मनामकर्मोदयवशवर्तिनः सूक्ष्माः, बादरनामकर्मोदयवशवर्तिनः पुनर्बादराः, पर्याप्तनामकर्मोदयात्पर्याप्ता अपर्याप्तनामकर्मोदयाच्चापर्याप्ताः । एवमप्कायनामोदयादप्कायाः, तेजःकायनामकर्मोदयात्तेजःकायाः, वायुकायनामकर्मोदयाद्वायुकायाः, वनस्पतिकायनामकर्मोदयाद्वनस्पतिकाया इति व्याख्येया अप्कायादयः । एवं पृथिवीकायादिमार्गणानामष्टाविंशतिर्भेदाः प्रतिपादिताः । तथाहि–(१) पृथिवीकायमार्गणा, (२) सूक्ष्मपृथिवीकायमार्गणा, (३) पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायमार्गणा, (४) अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायमार्गणा, (५) बादरपृथिवीकायमार्गणा, (६) पर्याप्तबादरपृथिवीकायमार्गणा, (७) अपर्याप्तबादरपृथिवीकायमार्गणा, (८) अप्कायमार्गणा, (९) सूक्ष्माप्कायमार्गणा, (१०) पर्याप्तसूक्ष्माप्कायमार्गणा, (११) अपर्याप्तसूक्ष्माप्कायमार्गणा, (१२) बादराप्कायमार्गणा, (१३) पर्याप्तबादराप्कायमार्गणा, (१४) अपर्याप्तबादराप्कायमार्गणा (१५) तेजःकायमार्गणा, (१६) सूक्ष्मतेजःकायमार्गणा, (१७) पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकायमार्गणा (१८) अपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकायमार्गणा, (१९) बादरतेजःकायमार्गणा, (२०) पर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणा, (२१) अपर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणा, (२२) वायुकायमार्गणा, (२३) सूक्ष्मवायुकायमार्गणा, (२४) पर्याप्तसूक्ष्मवायुकायमार्गणा, (२५) अपर्याप्तसूक्ष्मवायुकायमार्गणा, (२६) बादरवायुकायमार्गणा, (२७) पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणा, (२८) अपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणा च, उक्तश्च **जीवाभिगमे**–

'एगिन्दियससारसमावण्णजीवपण्णवणा पञ्चविहा पन्नत्ता, त जहा–पुढविकाइया आउक्काइया तेउक्काइया वाउक्काइया वणस्सइकाइया । से कि त पुढविकाइया ? पुढविकाइया दुविहा पन्नत्ता, त जहा–सुहुमपुढविकाइया बादरपुढविकाइया च । से किन्त सुहुमपुढविकाइया ? २ दुविहा पण्णत्ता त जहा–पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया य अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइया । से त सुहुमपुढवीकाइया । कि त बादरपुढवीकाइया ? ×××××ते समासओ दुविहा पन्नत्ता त जहा–पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य । ×××××× ।

से कि त आउक्काइया ? आउक्काइया दुविहा पन्नत्ता, त जहा–सुहुमआउक्काइया य बादरआउकाइया य । से किं त सुहुमआउक्काइया ? सुहुमाउक्का० दुविहा पन्नत्ता, त जहा–पज्जत्तसुहुमआउकाइया य अपज्जत्तसुहुमआउकाइया य, से त सुहुमआउक्काइया । से कि त बादरआउकाइया ? ××××× ते समासओ दुविहा पण्णत्ता त० पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य । ×××× ।

से किं त तेऊकाइया ? २ दुविहा पन्नत्ता, त जहा–सुहुमतेऊकाइया य बादरतेऊकाइया य ।

से कि त सुहुमतेऊकाइया ? २ दुविहा पन्नत्ता, त जहा–पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, से त सुहुमतेऊकाइया। से कि त बादरतेऊकाइया ? ×××ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, त० पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। ××××।

से कि त वाउकाइया ? २ दुविहा पन्नत्ता, त जहा–सुहुमवाउकाइया य बादरवाउकाइया य। से किन्त सुहुमवाउकाइया ? २ दुविहा पण्णत्ता, त जहा–पज्जत्तगसुहुमवाउकाइया य अपज्जत्तगसुहुमवाउकाइया से त सुहुमवाउकाइया। से किन्त बादरवाउकाइया ? ×××ते समासओ दुविहा पन्नत्ता, त जहा—पज्जत्ता य अपज्जत्तगा य।" इति।

अथ वनस्पतिकायान् सप्रभेदान् व्याहर्तुकामः प्राह–'वणकाय०' त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् वनशब्देन वनस्पतिर्बोध्यः, 'वनस्पतिकायः' वनस्पतिर्वृक्षादिरूपः, स एव कायो यस्य, स वनस्पतिकायः, तस्य द्वैविध्यं दर्शयति–'होइ' इत्यादि, भवति 'द्विधा' द्विप्रकारः, कुतः ? इत्यत आह–'पत्तेय०' त्ति प्रत्येकनिगोदभेदात्।

अथ प्रत्येकवनस्पतिकाय तत्प्रभेदौ च वक्ति–'पत्तेय०' इत्यादि, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायः, तत्रैकैक प्रतिगतं प्रत्येकम्, प्रत्येक शरीरं यस्य, स प्रत्येकशरीरः प्रत्येकशरीरश्चासौ वनस्पतिकायश्च प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायो वृक्षलतादिरूपः, यस्यैकशरीरे एक एव जीवो भवति, स प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय इत्यर्थः, उक्तं च **जीवविचारप्रकरणे**-"एगसरीरे एगो जीवो जेसि तु ते उ पत्तेया। फलफुलछल्लिकट्ठा मूलगपत्ताणि बीयाणि ॥१॥" इति.। नन्वेवं तर्हि पृथिवीकायादीनामपि प्रत्येकशरीरविशेषणमुपादेयम्, तेषामपि प्रत्येकनामकर्मोदयेनैकशरीरवत्त्वादिति चेत् ? उच्यते–एतत्समीचीनम्, किन्तु तत्र व्यवच्छेद्याभावेन व्यर्थत्वादनुपादेयमुक्तविशेषणम्। वनस्पतिकायेषु पुनरनन्तजीवानामेकशरीरसद्भावात् प्रत्येकशरीरविशेषणेन व्यवच्छेद्याः सन्त्येव साधारणवनस्पतिकायाः। 'तस्य च' प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायस्य च पर्याप्त एकभेदः, तथा भवेद् द्वितीयभेदोऽपर्याप्तः। इदमुक्त भवति–प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणा पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणाऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणा चेति मार्गणात्रयम्। प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायाः पृथ्वीकायवत् सूक्ष्मा न भवन्तीति न तत्सूक्ष्मबादरभेदौ। न च केवलं बादरा एव ते सन्तीत्येतत् कथमवसीयत इति वाच्यम्, आगमे तथाविधविधानदर्शनात्, न ह्यागममृते परिच्छेत्तुं शक्यते–अय सूक्ष्मः, अयं बादर इति, बादराणामपि जघन्याऽवगाहनाया अङ्गुलाऽसंख्येयभागमात्रत्वेन तत्परिच्छेदस्य छद्मस्थाविषयत्वात्। तस्मात् साम्प्रतमतीन्द्रियपदार्थेष्वागममेव शरणम्। यदुक्तम्—

"आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम्। अतीन्द्रियाणामर्थाना सद्भावप्रतिपत्तये ॥१॥" इति।

एवं वक्ष्यमाणत्रसकायस्याऽपि सूक्ष्मभेदः प्रतिषेध्यः।

अथ निगोद साधारणशरीरवनस्पतिकायाऽपरपर्याय स्वप्रभेदसहित दर्शयति–'**सत्तविहो**'इत्यादि, 'सप्तविधः'सप्तप्रकारो भवति'पृथिवीवत्'पृथिवीकायवत्'निगोदः'अनन्ताना जन्तूना साधारणमेक शरीरं यत्, तद् निगोदः, तत्साहचर्याज्जीवोऽपि निगोदः, साधारणशरीरवनस्पतिकाय इत्यर्थः। तत्रैकनिगोद-

वासिनामनन्तानामपि जीवानामौदारिकमेकमेव शरीरम्, तैजसकार्मणे तु प्रतिजीवं पृथग् भवतः, यदुक्तम्–"जेसिमणताण तणु एगा साहारणा ते उ" इति। साधारणशरीरवनस्पतिकायलक्षण त्विदम्–
गूढसिरसन्धिपव्व समभगमहिरुग च छिन्नरुह। साहारण सरीर तव्विवरीअ च पत्तेय ॥१॥" इति ।
सर्वेषां साधारणशरीरवनस्पतिकायजीवानामाहारग्रहणं प्राणापानग्रहणं च साधारणम्। तद्यथा–एकस्मिन्नाहारवति सर्वेप्याहृतवन्तः, य आहार एकेन जीवेन गृहीतः, तमेवाहारं तत्समयोत्पन्नाः सर्वेऽपि गृह्णन्ति, तथैकस्मिन्नुच्छ्वसिते निःश्वसिते वा सर्वेप्युच्छ्वसितवन्तो निःश्वसितवन्तो वा जायन्ते ।

इदमुक्तं भवति–यथा पृथिवीकायमार्गणा स्वभेदसहिता सप्तविधा, तथैव साधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणाऽपि स्वप्रभेदसहिता सप्तविधा बोद्धव्या, तद्यथा–(१) साधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (२) सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (३) पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (४) अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (५) बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (६) पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (७) अपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा च ।

एते सर्वे पृथ्वीकायादय एकोनचत्वारिंशद्भेदभिन्नाः स्थावराः, इयं व्युत्पत्तिः–तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः स्थावराः "स्थेशभासपिसकसो वर" (सिद्धहेम० ५-२-८१) इत्यनेन वरप्रत्ययः। व्युत्पत्तिमात्रमेतद्, अन्यथा तेजकायः–वायुकायानां स्थावरत्वं न स्यात्, तेषां देशान्तरप्राप्तेः। ततः स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावराः।

सम्प्रति त्रसकायमार्गणां स्वप्रभेदसहितां दर्शयति—'तसो' इत्यादि, 'त्रसः' प्रस्तुतत्वात् कायशब्दः प्रत्येकं योज्यः, त्रसकायः, त्रस्यन्ति=उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, तेन तेजोवायूना न त्रसत्वम्, तेषां चलनस्योष्णादितापाऽप्रयुक्तत्वेन स्वाभाविकत्वात्। व्युत्पत्तिमात्रपरमेतत्। वस्तुतस्त्रसनामकर्मोदयात् त्रसाः, तेन सुषुप्ताद्यवस्थायामपि त्रसत्वं सिध्यति, त्रसाश्च द्वीन्द्रियादयः, यदुक्तं **जीवाभिगमे**–
"से किं तं ओराला तसा पाणा? चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा–बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पञ्चेंदिया"।
इति। तेषां कायः त्रसकायः, स च पञ्चेन्द्रियवत् त्रिधा भवति, एतदुक्तं भवति–यथा पञ्चेन्द्रियमार्गणा स्वप्रभेदसहिता त्रिविधा प्रोक्ता, तथैव त्रसकायमार्गणाऽपि त्रिप्रकारा भवति। तद्यथा–(१) त्रसकायमार्गणा (२) पर्याप्तत्रसकायमार्गणा (३) अपर्याप्तत्रसकायमार्गणा च। एवं प्रतिपादिता कायमार्गणा द्वाचत्वारिंशद्विधा ॥३३॥

सम्प्रति योगमार्गणामष्टादशभेदैः प्रपञ्चयितुकाम आह—

मणवयणा सिं भेआ चउरो सच्चियरमीसववहारा ।
कायो से सगभेआऽऽहारविउव्वुरलदुगकम्मा ॥३४॥

(प्रे०) 'मणवयणा' त्ति प्राकृतत्वात् "द्विवचनस्य बहुवचनम्" (सिद्धहेम० ८-३-१३०) इत्यनेन बहुवचनम्, 'वाऽक्षिवचनाद्या' (सिद्धहेम० ८-१-३३) इत्यनेन प्राकृतसूत्रेण पुंस्त्वम्। 'मनोवचने' प्रक्रमाद् योगशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, मनोयोगो वचनयोगश्च। इदमुक्तं भवति- योगमार्गणा मुख्यवृत्त्या त्रिधा भवति (१) मनोयोगो (२) वचनयोगः (३) काययोगश्चेति। तत्र मनोयोगवचनयोगयोरेकैकस्य चत्वार उत्तरभेदाः, काययोगस्य पुनः सप्त। योगशब्दो मूलमार्गणाव्याख्यानावसरे व्याख्यातः। मनोविषयो योगो मनोयोगः, अथवा मनसा योगो मनोयोगः, मनःप्रायोग्यवर्गणाभ्यः सर्वात्मप्रदेशैः काययोगेन गृहीतानि मनस्त्वेन परिणमितानि वस्तुचिन्ताप्रवर्तकानि द्रव्याणि मन उच्यन्ते, तैः सहकारिकारणभूतैर्योगो मनोयोग इत्यर्थः। यदुक्तं- आत्मना शरीरत्वेन सर्वप्रदेशैर्गृहीता मनोवर्गणायोग्यस्कन्धा शुभादिमननार्थं करणभावमवलम्ब्यन्ते तत्सम्बन्धादात्मन पराक्रमविशेषो योग।" इति। उक्तनिरुक्तेः केवलज्ञानिनामपि मनोयोगः सिध्यति, यतो भावमनसोऽभावेऽपि सुरादिपृष्टोत्तरप्रभृतिषु मनोवर्गणापुद्गलान् गृहीत्वा मनस्त्वेन च परिणम्य सहकारिभूतेन तन्मनसा केवलज्ञानिजीवाः प्रवर्तन्ते।

उच्यत इति वचनम्, भाषायोग्यवर्गणापुद्गलाः काययोगेन गृहीता वचनत्वेन च परिणता वचनम्, तद्विषयो योगो वचनयोगः। यद्वा वचनेन कारणभूतेन योगो वचनयोगः। एतेन व्याख्यानेन देशनादौ केवलज्ञानिनामपि वचनयोग उपपद्यत एव, कथम्? इति चेत्, उच्यते-वचनयोग्यपुद्गलान् गृहीत्वा भाषात्वेन च परिणम्य सहकारिभूतेन तद्वचनेन देशनादौ केवलज्ञानिनः प्रवर्तन्त इति तेषां वचनयोगो युक्तियुक्तो भवति।

अथ मनोयोगवचनयोगयोः प्रभेदान् दर्शयति-'सि' इत्यादि, 'तयोः' मनोयोगवचनयोगयोः 'भेदाः' उत्तरभेदाः 'चत्वारः' चतुःसंख्याः 'सत्येतरमिश्रव्यवहाराः' सत्या-ऽसत्य सत्यासत्याऽसत्यामृषरूपा भवन्ति। इदमुक्तं भवति-सत्यमनोयोगोऽसत्यमनोयोगः सत्यासत्यमनोयोगोऽसत्यामृषमनोयोगश्चेति मनोयोगस्य चत्वारो भेदाः, यथा मनोयोगस्य चत्वारो भेदाः, तथैव वचनयोगस्याऽपि। तद्यथा-सत्यवचनयोगोऽसत्यवचनयोगः सत्यासत्यवचनयोगोऽसत्यामृषवचनयोगश्च।

तत्र सन्तः=मुनयः प्रशस्ता वा गुणाः, अथवा जीवादयः पदार्थाः, तेषु यथाक्रमं मोक्षप्रापकत्वेन यथावस्थितवस्तुस्वरूपचिन्तनेन च साधुः सत्यः "तत्र साधु'," (सिद्धहेम० ७-१-१५) इत्यनेन यप्रत्ययः, अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापक इत्यादियथावस्थितवस्तुचिन्तनपर इत्यर्थः, सत्यश्चाऽसौ मनोयोगश्चेति सत्यमनोयोगः। न च योगः परिस्पन्दनक्रियारूप उक्तः, तस्य कथं सत्यत्वादिव्यपदेशः सम्भवतीति वाच्यम्, यतः सत्यमनोविज्ञानजनकत्वान्मनोयोगस्यापि सत्यत्वमुच्यते, "अन्नं प्राणा" इतिवत् कारणे कार्योपचारात्। यद्वा योगस्यैव प्राधान्यात् सत्यत्वव्यपदेशो भवति, यथा बाह्यकारणनिरपेक्षज्ञानपरिणामस्य तथ्यातथ्यव्यपदेशो भवति, एवमग्रेऽपि भावनीयम्। उक्तं च

शतकचूर्णौं–"मणोजोगस्स सच्चत्त मोमत्त सच्चमोसत्त असच्चमोसत्त वा णत्थि, किंतु णोइंदियावरण-खयोवसमेण मणणाणपरिणयस्स जीवस्स बलाधारभूयस्स जोगस्स सहचरित्तातो सच्चादिववदेसो, जहा बालस्स बलाधाणकारण अन्न पाणा इति । अहवा जोगस्सेव पाहन्नविवक्खया सच्चासच्चाइपरिणामो जहा बाहिरकारणनिरवेक्खो नाणपरिणामो सच्चासच्चववएसो भवति ।"इति ।

न सत्यः असत्यः, असत्यश्चासौ मनोयोगश्चेत्यसत्यमनोयोगः, नास्ति जीवः सर्वव्यापको-ऽपरिणामी एकान्तेन नित्योऽनित्यो वा सद्रूप एवा-ऽसद्रूप एवेत्याद्ययथावस्थितवस्तुविकल्पनपरः ।

सत्यश्चासावसत्यश्चेति सत्यासत्यः, विशेषणद्वयस्य कर्मधारयसमासः कृताकृतादिवत् । यद्वा सत्योपलक्षितमसत्यं यत्र, स सत्यासत्य इति बहुव्रीहिसमासमाश्रित्य व्युत्पादनीयः सत्यासत्य-शब्दः, सत्यासत्यश्चासौ मनोयोगश्च सत्यासत्यमनोयोगः । धवखदिरादिवृक्षमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षे-ष्वशोकवनमेवेदमित्यादि यदा विकल्पयति, तदा सत्यासत्यमनोयोगः, अशोकवृक्षाणा तत्र सत्त्वात् सत्यः, अन्येषामपि धवादीनां सद्भावाच्चाऽसत्य इति ।

न विद्यते सत्यं यत्र, सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र, सोऽमृषः, असत्यश्चाऽसा अमृषश्चेत्य-सत्यामृषः, विशेषणद्वयकर्मधारयसमासः, असत्यामृषश्चासौ मनोयोगश्चेत्यसत्यामृषमनोयोगः, तथाहि–देवदत्त ! गां देहि मह्यम् , घटमानयेत्यादिस्वरूपमात्रचिन्तनपरः साव्यवहारिकविकल्पो न सत्यः, न मृषा, नापि मिश्रः, किन्त्वसत्यामृष इति परिभाष्यते । अतो निरुद्धचिन्तनपरो सांव्यवहारिकमनोयोगः । एष चतुर्विधो मनोयोगो व्यवहारनयापेक्षया, शुद्धनयापेक्षया तु द्वितीय-तृतीयविकल्पौ विप्रतारणपूर्वका असत्येऽन्तर्भवतः, अन्यथा तु सत्ये ।

एवं वाग्योगोऽपि व्याख्येयः । तथाहि–अस्ति जीवः सदसन्नित्यानित्याद्यनेकधर्मोपेत इत्यादिकथनपरः सत्यवचनयोगः । नास्ति जीवः, एकान्तेन नित्योऽनित्य एव वेत्यादिप्रति-पादनपरोऽसत्यवचनयोगः, अशोकतरुषु बहुषु सत्स्वशोकवनमित्यादिभाषणपरः सत्यासत्यवचन-योगः, हे देवदत्त २ त्वं गच्छ, ग्राम गत्वा च बलिवर्दं विक्रीय, गामानय, यद्वा भो मुने ! स्वा-ध्यायं कुरु प्रतिकमण कुरु इत्यादिव्यवहारनयपतितामन्त्रणादिभेदभिन्नकथनपरोऽसत्यामृषवचन-योगः, शुद्धनयापेक्षया तु मनोयोगवद् द्वितीयतृतीयविकल्पौ विप्रतारणबुद्धौ सत्यामसत्ये, अन्यथा सत्येऽन्तर्भवतः । चतुर्षु मनोयोगेषु सामान्यरूपेण यो मनोयोगः, स पृथगेका मनोयोगमार्गणा । एव चतुर्षु वचनयोगेषु सामान्यरूपेण यो वचनयोगः, स पृथगेका वचनयोगमार्गणा । एतेन मार्गणादशकं प्रतिपादितम् । तथाहि–(१) मनोयोगमार्गणा (२) सत्यमनोयोगमार्गणा, (३) असत्यमनोयोगमार्गणा, (४) सत्यासत्यमनोयोगमार्गणा, (५) असत्यामृषमनोयोगमार्गणा, (६) वचनयोगमार्गणा, (७) सत्यवचनयोगमार्गणा, (८) असत्यवचनयोगमार्गणा, (९) सत्यासत्य-वचनयोगमार्गणा, (१०) असत्यामृषवचनयोगमार्गणा च ।

सम्प्रति काययोगमार्गणां तदुत्तरमार्गणाश्च प्रदर्शयितुकाम आह–'कायो' इत्यादि, 'कायः' प्रक्रमाद्योगशब्दः सम्बध्यते, काययोगः, चीयत इति कायः "चितिदेहावासोपसमाधाने कश्चादे (सिद्धहेम० ५-३-७९) इत्यनेन चेश्चकारस्य ककारो घञ्प्रत्ययश्च, कायः=औदारिकादिशरीरम्, तेन सहकारिकारणभूतेन योगः काययोगः। अथ तस्य सप्तविधत्वं प्रकटयति–'तस्स' इत्यादि, 'तस्य' काययोगस्य 'सत्त' सप्तसंख्या भेदाः, के ते? इत्यत आह–'हार०' इत्यादि "शेषं संस्कृतवत्सिद्धम्" (सिद्धहेम० ८-४-४४८) इत्येतत्सूत्रमवलम्ब्य 'समानानां तेन दीर्घः (सिद्धहेम० १-२-१) इत्यनेन सूत्रेणोभयस्थाने दीर्घो जातो विश्लेषे च आकारः प्राप्तः, 'आहारविउव्वुरलदुगकम्मा' त्ति, द्विकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, आहारकद्विकम् आहारका-ऽऽहारकमिश्ररूपं वैक्रियद्विकं वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणम् औदारिकद्विकम् औदारिकौदारिकमिश्राख्यं कार्मणश्च, काययोगशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् आहारककाययोग आहारकमिश्रकाययोगो वैक्रियकाययोगो वैक्रियमिश्रकाययोग औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगश्च।

तत्र आहारकशब्दः शरीरव्याख्यानावसरे प्राग्व्याख्यातः। 卐 यद्वा आह्रियन्ते=गृह्यन्ते तीर्थंकरादिसमीपे जीवादयः सूक्ष्मपदार्था अनेनेत्याहारकः। यदुक्तं शतकचूर्णौ–"आहारेइ अणेण सुहुमे अत्थे इति वा आहारगं।" इति। स च सूक्ष्मत्वाद् न दह्यतेऽग्निना, न प्रतिहन्यते पर्वतैः, न च्छिद्यते शस्त्रैः।

ननु जीवशरीरयोः सम्बन्धकृदायुः, तयोर्वियोगस्तु मरणम्, ततश्च यद्यौदारिकशरीरं त्यक्त्वा जीवप्रदेशा आहारकशरीरं सम्बध्नीरन्, तर्हि मरणं प्रसज्येत, जीवप्रदेशौदारिकशरीरवियोगात्। ततोऽन्तर्मुहूर्तकालेन पुनरौदारिकशरीरेण कथं सम्बध्नीरस्ते जीवप्रदेशाः, न हि मृत्युं प्राप्ता जीवा पुनस्तस्मिन्नेव शरीरे प्रविशन्तीति चेत्, उच्यते–न तावज्जीवप्रदेशानां शरीरतो वियोगो मरणम्, यतस्तुल्यन्यायेन जीवप्रदेशानां शरीरेण सह संयोग एवोत्पत्तिः स्यात्। तच्च नेष्टम्, त्यक्तपूर्वभवशरीराणामगृहीतोत्तरभवशरीराणामप्युत्पत्तिस्वीकारात्। नन्वस्तूत्पत्तिर्जीवशरीरयोः संयोगाभावेऽपि, मरणं तु जीवशरीरयोर्वियोग एवेति चेत्, अत्रोच्यते–सर्वात्मना जीवशरीरयोर्वियोगो मरणम्, न पुनरेकदेशीयवियोगः, हस्तादित उपसंहृतजीवप्रदेशानां छिन्नहस्तानां जीवानां जीवनोपलम्भात्। एवमिहाऽऽहारकशरीरं कुर्वाणो नहि जीवप्रदेशान् पूर्वशरीरतः सर्वात्मना वियुज्याऽऽहारकशरीरेण सम्बध्नाति, येन मरणं प्रसज्येत।

आहारक एव कायं आहारककायः, तेन योग आहारककाययोगः।

आहारको मिश्रो यत्र औदारिकेणेति गम्यते, स आहारकमिश्रः, यथा गुडमिश्रं दधि न

卐 धवलाकारैरप्युक्तम्–आहरदि अणेण मुणी सुहुमे अट्ठे सयस्स सदेहे गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारगो जोगो।" इति

गुडतया व्यपदिश्यते, नाऽपि दधितया, ताभ्यामपरिपूर्णत्वात् । एवमाहारकमिश्र औदारिकेण नाहारकतया व्यपदिश्यते, नाप्यौदारिकतया, अपरिपूर्णत्वादिति तस्याहारकमिश्रत्वव्यपदेशः ।

अथवाऽऽहारकशरीरकार्याकरणादपरिनिष्ठितघटवन्मिश्र इति व्यपदिश्यते, यथाऽपरिनिष्ठितघटो जलादिधारणासमर्थो घटव्यपदेश न लभते, तथाऽत्राऽऽहारकव्यपदेशं न लभत इत्याहारकमिश्र इति व्यपदिश्यते । स एव काय आहारकमिश्रकायः, तेन योग आहारकमिश्रकाययोगः, स च आहारकशरीरप्रारम्भकाले परित्यागकाले च भवतीति **कार्मग्रन्थिकाः**, **सैद्धान्तिकास्तु** परित्यागकाले आहारकमिश्रः प्रारम्भकाले चौदारिकमिश्र इत्याहुः । अय भावः–सिद्धप्रयोजनश्चतुर्दशपूर्वविदाहारकं परित्यज्यौदारिकोपादानाय यदा प्रवर्तते, तदौदारिकेण मिश्र आहारको भवति, आहारकस्य बहुव्यापारत्वेन तस्य प्राधान्याद् । तेन परित्यागकाले आहारकमिश्रः, प्रारम्भकाले त्वौदारिकमिश्र, तदानीमौदारिकस्य प्राधान्यात्, यदुक्तं **प्रज्ञापनावृत्तौ**–"तथा आहारकमपि शरीर यदा कश्चिदाहारकलब्धिमान् पूर्वधर करोति, तदा यद्यप्याहारकेण मिश्रत्वमौदारिकस्योभयनिष्ठ तथाप्यौदारिकमारम्भकतया प्रधानमिति तेन व्यपदेशप्रवृत्तिरौदारिकमिश्रमिति । ××××××× यदा आहारकशरीरीभूत्वा कृतकार्य पुनरप्यौदारिक गृह्णाति, तदा यद्यपि मिश्रत्वमुभयनिष्ठ तथाप्यौदारिके प्रवेश आहारकबलेनाहारकस्य प्रधानत्वात् तेन व्यपदेशो नौदारिकेणाहारकमिश्रमिति ।"

वैक्रियशब्दः प्राग् व्याख्यातः, वैक्रिय एव कायो वैक्रियकायः, वैक्रियकायेन योगो वैक्रियकाययोगः । केचित्तु प्राहुः–वैकुर्विककाययोग इति । तदेयं व्युत्पत्तिः–विकुर्व इति सिद्धान्तप्रसिद्धो धातुः, विकुर्वणं विकुर्वः, विविधा क्रियेत्यर्थः, तेन निर्वृत्तः, तत्र भवो वा वैकुर्विकः, स एव कायो वैकुर्विककायः, तेन योगो वैकुर्विककाययोग इति ।

शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां देवानां नारकाणा च वैक्रियकाययोगो भवति, तथा प्राप्तवैक्रियलब्धिमानां प्रारब्धवैक्रियशरीराणा मनुष्यतिरश्चामपि शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां वैक्रियकाययोगो भवति, किन्त्वस्मिन् ग्रन्थे वैक्रियकाययोगमार्गणा भवप्रत्ययवैक्रियशरीरमेवाऽऽश्रित्य विवक्षिता, न तु लब्धिप्रत्ययशरीर प्रतीत्य ।

वैक्रियो मिश्रो यत्र कार्मणेनेति गम्यते, स वैक्रियमिश्रः वैक्रियमिश्रश्चाऽसौ कायश्च वैक्रियमिश्रकायः, तेन योगो वैक्रियमिश्रकाययोगः, अय देवनारकाणामपर्याप्तावस्थाया भवति, यत उत्पत्तिप्रथमसमये कार्मणकाययोगेनाऽऽहारयति, ततो यावच्छरीरनिष्पत्तिर्न भवति, तावद्वैक्रियमिश्रेणाऽऽहारयति ।

पर्याप्तबादरवायुकायिकानां पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियशरीरप्रारम्भकाले कृतकार्याणा च परित्यागकाल औदारिकेण मिश्रो वैक्रियोऽवाप्यत इति तदानी वैक्रियमिश्रत्वव्यपदेशो भवतीति **कार्मग्रन्थिकाऽभिप्रायः** । **सैद्धान्तिकास्तु** पर्याप्तबादर-

वायुकायिकानां पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियपरित्यागकाल औदारिकं स्वीकुर्वतामौदारिकेण यो वैक्रियो मिश्रो भवति, स वैक्रियमिश्र इति व्यपदिशन्ति, यतः परित्याग-काले वैक्रियस्य बहुव्यापारत्वेन प्राधान्यात् तथैव व्यपदेशो भवति, प्रारम्भकाले त्वौदारिकस्य बहुव्यापारत्वेन तस्य प्राधान्यादौदारिकमिश्रव्यपदेशः । प्रकृतग्रन्थे तु वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणा देवनारकापेक्षया बोद्धव्या, लब्धिमता मनुष्यादीनां वैक्रियमिश्रस्याऽविवक्षणात् ।

उदारं=बृहत्, तत्र भव औदारिकः । ननु कथमौदारिकस्य बृहत्त्वम् ? तस्य प्रदेशापेक्षया वैक्रियतोऽसंख्येयगुणहीनत्वस्य मतान्तरेण चा-ऽनन्तगुणहीनत्वस्योपलम्भादिति चेत्, उच्यते—न ह्यत्र प्रदेशापेक्षया बृहत्त्वं विवक्षितम्, किन्त्ववगाहनापेक्षया, कथिता च वैक्रियत औदारिकस्याऽ-वगाहनाऽसंख्यगुणा, तथा चाऽत्र **प्रकृतिचूर्णिः**—"कम्मतिगसरीरवग्गणातो आढत्त जाव उरालि-यसरीरदव्ववग्गणा ताव असखगुणा ओगाहणट्ठाते भणियव्वातो ।" इति । एव **शतकचूर्णावपि**—'कहमुदारत्त ? भन्नइ—पदेसतो असखेज्जगुणहीणत्तातो ओगाहणातो असखेज्जगुणब्भहिअमिति ।"

अन्या अपि या व्युत्पत्तयः शरीरनामकर्मव्याख्यानावसरे दर्शिताः, तास्ततोऽवसेयाः ।

औदारिक एव काय औदारिककायः, तेन योग औदारिककाययोगः । अयं च पर्याप्तानां तिरश्चां मनुष्याणा च भवति ।

औदारिको मिश्रो यत्र कार्मणेनेति गम्यते, स औदारिकमिश्रः, औदारिक एवाऽपूर्णो मिश्र उच्यते । औदारिकमिश्रश्चासौ कायश्चेत्यौदारिकमिश्रकायः, तेन योग औदारिकमिश्रकाययोगः, उत्पत्तिदेश प्राप्तो जीवः कार्मणकायेनाहारयति, ततो मिश्रेण, यदुक्तं **नियुक्तिकृद्भिः**—"जोएण कम्मएण आहारेई अणतर जीवो । तेण पर मीसेण जाव सरीरस्स निप्फत्ती' ॥१॥ इति । एतेन मनुष्य-तिरश्चा शरीरपर्याप्त्याऽपर्याप्तानामौदारिकमिश्रो भवति । केवलिसमुद्घातावस्थायां पुनरयं द्वितीय-षष्ठसप्तमसमयेषु भवति । ननु मिश्रत्वमुभयनिष्ठम् । तथाहि—यथौदारिकः कार्मणेन मिश्रः, तथैवौ-दारिकेण कार्मणोऽपि मिश्रः, तस्मादौदारिकमिश्र एव कुतोऽभिधीयते, न कार्मणमिश्र इति चेत्, उच्यते—स एव व्यपदेशः कर्तव्यः, येन श्रोतृजनानामुपकारो भवेत् । कार्मणकायः खलु संसारे सर्वेषा जीवानां प्रतिनियत एव, तेन कार्मणमिश्र इत्युक्ते किं मनुष्यतिरश्चाम्, उत देवनारकाणा-मिति सन्देहः स्यात्, यतो देवनारकाणामपर्याप्तावस्थाया कार्मणो वैक्रियेण मिश्रो भवति, मनु-ष्यतिरश्चा चौदारिकेण । सन्देहपतिताना सन्देहव्यपगमनायोत्पत्त्यपेक्षयौदारिकस्य प्रधानत्वात् कादा-चित्कत्वाच्च निष्प्रतिपक्षविवक्षितार्थप्रतिपत्त्यर्थश्चौदारिकमिश्र इति व्यपदिश्यते ।

इह ग्रन्थे मनुष्यतिरश्चा भवप्रथमान्तर्मुहूर्तकाल केवलिसमुद्घातं च प्रतीत्यौदारिकमिश्र-काययोगो विवक्षितः, न तु सैद्धान्तिकवल्लब्धिजनिताऽऽहारकवैक्रियशरीरप्रारम्भकालमाश्रित्य ।

कार्मणशब्दः प्राग् व्याख्यातः शरीरनामकर्मव्याख्यावसरे । कार्मण एव कायः कार्मण-

कायः, तेन योगः कार्मणकाययोगः, कार्मणकाययोगोऽसौ विग्रहगतौ भवति "विग्रहगतो कर्मयोग" इति वचनप्रामाण्यात्, तथा केवलिसमुद्घातावस्थाया तृतीय–चतुर्थ–पञ्चमसमयेषु भवति । केवलिसमुद्घातस्वरूपं त्वस्मत्कृतस्वोपज्ञवृत्तियुक्तक्षपकश्रेणिग्रन्थतोऽवसेयम् विग्रहगतिव्याख्यानं त्वग्रेऽनाहारकमार्गणास्वरूपणाऽवसरे करिष्यते । न च तैजसकाययोगोऽष्टमः काययोगः कुतो नोक्त इति वाच्यम्, तैजसस्य कार्मणेन सहा–ऽव्यभिचारित्वेन तद्ग्रहणेन तस्यापि गृहीतत्वात् । विशेषार्थिना प्रज्ञापनाटीका विलोकनीया, तत्र केषां केषां जीवानां कति कति योगा भवन्तीत्यादि सविस्तरं दर्शितम् ।

एवं काययोगमार्गणया स्वोत्तरमार्गणाभिश्च मार्गणाष्टकं प्रतिपादितम् । तद्यथा–(१) काययोगमार्गणा, (२) आहारककाययोगमार्गणा, (३) आहारकमिश्रकाययोगमार्गणा, (४) वैक्रियकाययोगमार्गणा, (५) वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणा (६) औदारिककाययोगमार्गणा (७) औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणा (८) कार्मणकाययोगमार्गणा च ॥३४॥

एवं योगमार्गणाया अष्टादशभेदान् प्ररूप्य वेदकषायज्ञानमार्गणानां यथासंख्यं चतस्रः पञ्चाऽष्टावुत्तरमार्गणाः प्रतिपिपादयिषुराह—

थीपुमणपुमअवेआ य कोहमयमायलोहअकसाया ।
मइसुअऽवहिमणकेवलणाणं मइसुअअणाणविब्भंगा ॥३५॥ गीतिः)

(प्रे०) 'थी०' इत्यादि, 'स्त्रीपुंनपुंवेदाः' एते कृतेतरेतरद्वन्द्वाः प्रथमया निर्दिष्टाः । वेदशब्दश्चात्र प्रत्येकमभिसम्बध्यते, स्त्रीवेदः, पुंवेदः=पुरुषवेदः, नपुंवेदो=नपुंसकवेदोऽवेदश्च । तत्र स्तृणाति=आत्मानं परं च दोषैराच्छादयतीति स्त्री "स्त्री" (उणादि–४५०) इति सूत्रेण त्रट्प्रत्ययान्तः, टित्त्वाच्च ङीप्रत्ययः । स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः । यद्वा धातूनामनेकार्थत्वात् स्तृणाति=पुरुषं कामयत इति स्त्री पुंस्कामेत्यर्थः, ततः पूर्ववत् त्रट्प्रत्ययः, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः । यद्वा वेदन वेदः, स्त्रियो वेदः स्त्रीवेदः । पाति त्रिवर्गमिति पुमान्, पातेर्डुम्सु (उणादि–१००२) इत्यनेन डुम्सुप्रत्ययः, पुंसो वेदः पुंवेदः, यद्वा पुमांश्चासौ वेदश्च पुंवेदः । न स्त्री न पुमान्, 'नञाद्', (सिद्धहेम०६–३–७५) इति सूत्रेण निपातनाद् नपुंसकः, स चाऽसौ वेदश्च तस्य वा वेदो नपुंसकवेदः ।

स्त्रीवेदादयः प्रत्येकं द्विधा, द्रव्यभावभेदात् । तत्र स्त्रियाः पुंस्यभिलाषो भावतः स्त्रीवेदः, पुंसः स्त्रियामभिलाषो भावतः पुंवेदः, उभयाभिलाषश्च भावतो नपुंसकवेदः । निर्माणाङ्गोपाङ्गादिनामकर्मोदयेन योषितः स्तनयोन्यादिलक्षितदेहो द्रव्यतः स्त्रीवेदः । निर्माणाङ्गोपाङ्गादिनामकर्मोदयेन पुंसः श्मश्रुकूर्चमेहनादिलाञ्छितशरीरं द्रव्यतः पुंवेदः । निर्माणाङ्गोपाङ्गादिनामकर्मोदयेनोभयविलक्षणलिङ्गाङ्कितशरीरं द्रव्यतो नपुंसकवेदः । उक्तं चाऽन्यत्राऽपि—

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीवता स्तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावा-ऽभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधा प्राहुर्मोहानलसमन्वितम् ॥३॥" इति ।

नन्वपर्याप्ताऽवस्थायामेकेन्द्रियादिषु चाऽभिलापाभावाद् विग्रहगतौ च शरीराभावादुभयतोऽपि स्त्रीवेदादयः कथं घटन्ते ? इति चेत्, उच्यते-सत्यम्, किन्तु स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीवेदमार्गणास्थानम्, पुंवेदोदयात् पुंवेदमार्गणास्थानम्, नपुंसकवेदोदयाच्च नपुंसकवेदमार्गणास्थानमिति विवक्षणाददोषः । अत एवाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेभ्य ऊर्ध्वं वेदमार्गणाया अभावः ।

न विद्यते वेदः पुरुषवेदानामन्यतमो यस्य, सोऽवेदः, स चाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेषु गतेषु वेदस्योपशमनात् क्षयाद्वा भवति । एवमुक्ता वेदमार्गणायाश्चत्वार उत्तरभेदाः ।

अथ कषायमार्गणायाः पञ्चप्रभेदान् प्रकटयितुकामः प्राह-'कोह०' त्ति, 'क्रोध-मद-माया-लोभा-ऽकषायाः' तत्र क्रोधः=कोपः, क्रोधमोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेषः, एवमग्रेऽपि । मदो=मानः, माया=वञ्चना, लोभो=गृद्धिः । एतेषां स्वरूपं तु मोहनीयस्योत्तरप्रकृतिव्याख्यानावसरे विस्तरतो दर्शितम् । न विद्यते कषायः=क्रोधादीनामन्यतमो यस्य, स कषायः । सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादूर्ध्वं कषायस्योपशमनात् क्षयाद्वा-ऽकषायो व्यवह्रियते । एवमुक्ताः कषायमार्गणायाः पञ्चोत्तरभेदाः ।

सम्प्रति ज्ञानमार्गणाया अष्टौ भेदान् चिख्यासुरादौ तावद् ज्ञानस्य पञ्चविधत्वं दर्शयति-'**मइ०**'त्ति, 'मतिश्रुतावधिमनःकेवलम्' एते कृतसमाहारद्वन्द्वसमासाः प्रथमया निर्दिष्टाः, मनःशब्देन मनःपर्यायो गृह्यते, "भीमो भीमसेन" इति न्यायोपलम्भात् । ज्ञानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं चेति । मत्यादिस्वरूपं तूत्तरप्रकृतिविवेचनाऽवसरे सङ्क्षेपतः प्रतिपादितम् । विशेषार्थिना तु **विशेषावश्यकभाष्य-मलयगिरिटीका**-ऽवलोकनीया ।

अथाऽज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रपञ्चयति-'**मइ०**' त्ति, प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, 'मतिश्रुताज्ञान-विभङ्गानि' एतानि कृतद्वन्द्वानि प्रथमया निर्दिष्टानि, अज्ञानपदं च द्वाभ्यां सम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानं विभङ्गज्ञानञ्चेति । अत्र नञ्शब्दोऽप्राशस्त्यार्थवृत्तिर्ज्ञेयः, **यदुक्तम्**-
'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥" इति ।
अप्राशस्त्यं च मिथ्यात्वसाहचर्यकृतं बोध्यम् । न=अप्रशस्तं ज्ञानम् अज्ञानम्, अपशवोऽन्ये गोभ्य इतिवद् नञ्समासः, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्, एवं श्रुताऽज्ञानम्, विशब्दः कुत्सावृत्तिर्बोध्यः "वि नानार्थाऽपाया-ऽत्ययदूरभृशार्थकलहैश्वर्यवियोगमोहहर्षकुत्साप्रादुर्भावाभिमुख्यानवस्थानप्राभोजनसञ्ज्ञादाक्ष्यव्ययकृत्स्नाप्तिषु" इति वचनात् । वि=कुत्सितो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्,

तद् विभङ्गम्, मिथ्यात्वप्रयुक्तकुत्सितत्वविशिष्टा–ऽवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः। यद्वा ज्ञानविपर्ययः=अज्ञानम्, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्। एवं श्रुताज्ञानमपि व्युत्पादनीयम्। वि=विपरीतो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्, तद् विभङ्गज्ञानम्, विपर्यस्तमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः।

ननु यदेव ज्ञानं तदेव चाऽज्ञानमित्येकत्र विरुद्धधर्मद्वयस्य कथं समारोपः? न हि शीतत्वमुष्णत्वं चैकत्राधारयुगलभ्येते? इति, अत्रोच्यते–न वयं ब्रूमः–एकत्राऽधारे द्वयं ज्ञानमज्ञान चेति, किन्त्वन्यत्र ज्ञानमन्यत्र पुनरज्ञानम्। तथाहि–सम्यग्दृष्टौ योऽवबोधः, स ज्ञानम्, आधारान्तरे मिथ्यादृष्टौ पुनरज्ञानम्। एवं सम्यग्दर्शनेन परिगृहीतं मत्यादिकं ज्ञानमुच्यते, मिथ्यादर्शनेन पुनरज्ञानम्। नन्वेवं तर्हि यथा सम्यग्दृष्टिर्घटं घट इति रसं रस इति परिच्छिनत्ति, तथैव मिथ्यादृष्टिरपि, तत्कथमेकस्य ज्ञानमपरस्य त्वज्ञानम्? इति चेत्, उच्यते–मिथ्यादृष्टीनां मत्यादित्रयमज्ञानमेव, समग्रनयसामग्रीप्रत्ययाभावेनाऽयथार्थपरिच्छेदित्वात्। तथाहि–मिथ्यादृष्टय एकनयमतं समाश्रयन्ति, तत्समाश्रयणे च न सर्वतो वस्तुपरिच्छेदः, नयान्तरेणा-ऽन्यथाऽपि परिच्छेदात्। यथा ऋजुसूत्रनयवादी जलाहरणादिविशिष्टमेव घट प्रचष्टे, न पुनर्जलाहरणाद्यभावे। तन्मिथ्या, व्यवहारनयेन जलाहरणाद्यभावेऽपि घटव्यपदेशात्। सम्यग्दृष्टीनां तु मत्यादिज्ञानमेव, सर्वनयसमाश्रयणेन यथार्थपरिच्छेदित्वात्। एवमाधारस्य (मिथ्यादृष्टेः) दोषादाधेयस्य ज्ञानस्य दुष्टत्वं जायते। तदेवं मतिश्रुता–ऽवधिज्ञानान्येव मिथ्यात्वपङ्ककलुषिततया यथाक्रम मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानव्यपदेश भजन्ति। एवमुक्ता ज्ञानमार्गणा–ऽष्टधा ॥३५॥

वेदकषायज्ञानमार्गणाना प्रभेदानुक्त्वा सम्प्रति संयममार्गणाया अष्टौ दर्शनमार्गणायाश्च चतुरो भेदान् प्रचिकटयिषुराह—

संजमसामइआइं य छेओ परिहारसुहुमअहखाया।
देसअजयाणि णयणेयरोहिकेवलदरिसणाणि ॥३६॥

(प्रे०) 'संयम०' इत्यादि, संयमश्च सामायिकं च संयमसामायिके। तत्र संयमशब्दः प्राग् मूलभेदप्ररूपणाऽवसरे व्याख्यातः। सामायिकच्छेदोपस्थापनादयश्च तदुत्तरभेदाः। तत्र समानि=ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषु तेषा तैर्वा आयो=लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्, 'विनयादिभ्य' (सिद्धहेम० ७-२-१६९) इत्यनेन स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः। विनयादेराकृतिगणत्वात्। यद्वा साम=सर्वजीवेषु मैत्री, साम्नो वा साम्नि वा साम्ना वाऽऽयः सामायः, स एव सामायिकम्। यद्वा संशब्दः सम्यगर्थकः, सं=सम्यग् अयनं=वर्तनं समयः, समय एव सामयिकम्, स्वार्थिक इकण् प्रत्ययः, "अनुशतिकादय" (सिद्धहेम० ७-४-१०१) इत्यनेन सूत्रेणोभयपदवृद्धिः। यद्वा समस्य भावः साम्यम्, तस्य आयः सामायः, निपातनात्, स एव सामायिकम्।

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीबता स्तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावा-ऽभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधा प्राहुर्मोहानलसमन्वितम् ॥३॥" इति ।

नन्वपर्याप्ताऽवस्थायामेकेन्द्रियादिषु चाऽभिलापाभावाद् विग्रहगतौ च शरीराभावादुभयतोऽपि स्त्रीवेदादयः कथं घटन्ते ? इति चेत्, उच्यते–सत्यम्, किन्तु स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीवेदमार्गणास्थानम्, पुंवेदोदयात् पुंवेदमार्गणास्थानम्, नपुंसकवेदोदयाच्च नपुंसकवेदमार्गणास्थानमिति विवक्षणाददोषः । अत एवाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेभ्य ऊर्ध्वं वेदमार्गणाया अभावः ।

न विद्यते वेदः पुरुषवेदानामन्यतमो यस्य, सोऽवेदः, स चाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेषु गतेषु वेदस्योपशमनात् क्षयाद्वा भवति । एवमुक्ता वेदमार्गणायाश्चत्वार उत्तरभेदाः ।

अथ कषायमार्गणायाः पञ्चप्रभेदान् प्रकटयितुकामः प्राह–'**कोह०**' त्ति, 'क्रोध-मद-माया-लोभा-ऽकषायाः' तत्र क्रोधः=कोपः, क्रोधमोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेषः, एवमग्रेऽपि । मदो=मानः, माया=वञ्चना, लोभो=गृद्धिः । एतेषां स्वरूपं तु मोहनीयस्योत्तरप्रकृतिव्याख्यानावसरे विस्तरतो दर्शितम् । न विद्यते कषायः=क्रोधादीनामन्यतमो यस्य, स कषायः । सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादूर्ध्वं कषायस्योपशमनात् क्षयाद्वा-ऽकषायो व्यवह्रियते । एवमुक्ताः कषायमार्गणायाः पञ्चोत्तरभेदाः ।

सम्प्रति ज्ञानमार्गणाया अष्टौ भेदान् चिख्यासुरादौ तावद् ज्ञानस्य पञ्चविधत्वं दर्शयति–'**मइ०**'त्ति, 'मतिश्रुतावधिमनःकेवलम्' एते कृतसमाहारद्वन्द्वसमासाः प्रथमया निर्दिष्टाः, मनःशब्देन मनःपर्यायो गृह्यते, "भीमो भीमसेन" इति न्यायोपलम्भात् । ज्ञानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः–मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं चेति । मत्यादिस्वरूपं तूत्तरप्रकृतिविवेचनाऽवसरे संक्षेपतः प्रतिपादितम् । विशेषार्थिना तु **विशेषावश्यकभाष्य-मलयगिरीयटीका**-ऽवलोकनीया ।

अथाऽज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रपञ्चयति–'**मइ०**' त्ति, प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, 'मतिश्रुताज्ञान-विभङ्गानि' एतानि कृतद्वन्द्वानि प्रथमया निर्दिष्टानि, अज्ञानपदं च द्वाभ्यां सम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः–मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानं विभङ्गज्ञानञ्चेति । अत्र नञ्शब्दोऽप्राशस्त्यार्थवृत्तिर्ज्ञेयः, **यदुक्तम्**–
'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥" इति ।
अप्राशस्त्यं च मिथ्यात्वसाहचर्यकृतं बोध्यम् । न=अप्रशस्तं ज्ञानम् अज्ञानम्, अपशवोऽन्ये गोभ्य इतिवद् नञ्समासः, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्, एवं श्रुताऽज्ञानम्, विशब्दः कुत्सावृत्तिर्बोध्यः "वि नानार्था ऽपाया-ऽत्ययदूरभृशार्थकलहैश्वर्यवियोगमोहहर्षकुत्साप्रादुर्भावाभिमुख्यानवस्थानप्राभोजनसञ्ज्ञादाक्ष्यव्ययकृत्स्नाप्तिषु" इति वचनात् । वि=कुत्सितो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्,

तद् विभङ्गम्, मिथ्यात्वप्रयुक्तकुत्सितत्वविशिष्टा-ऽवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः। यद्वा ज्ञानविपर्ययः=अज्ञानम्, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्। एवं श्रुताज्ञानमपि व्युत्पादनीयम्। वि=विपरीतो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्, तद् विभङ्गज्ञानम्, विपर्यस्तमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः।

ननु यदेव ज्ञानं तदेव चाऽज्ञानमित्येकत्र विरुद्धधर्मद्वयस्य कथं समारोपः? न हि शीतत्वमुष्णत्वं चैकत्राधारयुगलभ्येते? इति, अत्रोच्यते-न वयं ब्रूमः-एकत्राऽधारे त्वयं ज्ञानमज्ञान चेति, किन्त्वन्यत्र ज्ञानमन्यत्र पुनरज्ञानम्। तथाहि-सम्यग्दृष्टौ योऽवबोधः, स ज्ञानम्, आधारान्तरे मिथ्यादृष्टौ पुनरज्ञानम्। एवं सम्यग्दर्शनेन परिगृहीतं मत्यादिक ज्ञानमुच्यते, मिथ्यादर्शनेन पुनरज्ञानम्। नन्वेवं तर्हि यथा सम्यग्दृष्टिर्घटं घट इति रसं रस इति परिच्छिनत्ति, तथैव मिथ्यादृष्टिरपि, तत्कथमेकस्य ज्ञानमपरस्य त्वज्ञानम्? इति चेत्, उच्यते-मिथ्यादृष्टीनां मत्यादित्रयमज्ञानमेव, समग्रनयसामग्रीप्रत्ययाभावेनाऽयथार्थपरिच्छेदित्वात्। तथाहि-मिथ्यादृष्टय एकनयमतं समाश्रयन्ति, तत्समाश्रयणे च न सर्वतो वस्तुपरिच्छेदः, नयान्तरेणा-ऽन्यथाऽपि परिच्छेदात्। यथा ऋजुसूत्रनयवादी जलाहरणादिविशिष्टमेव घटं प्रचष्टे, न पुनर्जलाहरणाद्यभावे। तन्मिथ्या, व्यवहारनयेन जलाहरणाद्यभावेऽपि घटव्यपदेशात्। सम्यग्दृष्टीनां तु मत्यादिज्ञानमेव, सर्वनयसमाश्रयणेन यथार्थपरिच्छेदित्वात्। एवमाधारस्य (मिथ्यादृष्टेः) दोषादाधेयस्य ज्ञानस्य दुष्टत्वं जायते। तदेवं मतिश्रुता-ऽवधिज्ञानान्येव मिथ्यात्वपङ्ककलुषिततया यथाक्रम मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानव्यपदेश भजन्ति। एवमुक्ता ज्ञानमार्गणा-ऽष्टधा ॥२५॥

वेदकषायज्ञानमार्गणाना प्रभेदानुक्त्वा सम्प्रति संयममार्गणाया अष्टौ दर्शनमार्गणायाश्च चतुरो भेदान् प्रचिकटयिषुराह—

संजमसामइआइं य छेओ परिहारसुहुमअहखाया।
देसअजयाणि णयणेयरोहिकेवलदरिसणाणि ॥२६॥

(प्रे०) 'सं० म०' इत्यादि, संयमश्च सामायिकं च संयमसामायिके। तत्र संयमशब्दः प्राग् मूलभेदप्ररूपणाऽवसरे व्याख्यातः। सामायिकच्छेदोपस्थापनादयश्च तदुत्तरभेदाः। तत्र समानि=ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषु तेषां तैर्वा आयो=लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्, 'विनयादिभ्य' (सिद्धहेम० ७-२-१६९) इत्यनेन स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः। विनयादेराकृतिगणत्वात्। यद्वा साम=सर्वजीवेषु मैत्री, साम्नो वा साम्नि वा साम्ना वाऽऽयः सामायः, स एव सामायिकम्। यद्वा संशब्दः सम्यगर्थकः, सं=सम्यग् अयनं=वर्तनं समयः, समय एव सामयिकम्, स्वार्थिक इकण् प्रत्ययः, "अनुशतिकादय" (सिद्धहेम० ७-४-१०१) इत्यनेन सूत्रेणोभयपदवृद्धिः। यद्वा समस्य भावः साम्यम्, तस्य आयः सामायः, निपातनात्, स एव सामायिकम्।

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीबता स्तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रु ? धृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावा-ऽभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसमन्वितम् ॥३॥" इति ।

नन्वपर्याप्ताऽवस्थायामेकेन्द्रियादिषु चाऽभिलाषाभावाद् विग्रहगतौ च शरीराभावादुभयतोऽपि स्त्रीवेदादयः कथं घटन्ते ? इति चेत्, उच्यते-सत्यम्, किन्तु स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीवेदमार्गणास्थानम्, पुंवेदोदयात् पुंवेदमार्गणास्थानम्, नपुंसकवेदोदयाच्च नपुंसकवेदमार्गणास्थानमिति विवक्षणाददोषः । अत एवाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेभ्य ऊर्ध्वं वेदमार्गणाया अभावः ।

न विद्यते वेदः पुरुषवेदानामन्यतमो यस्य, सोऽवेदः, स चाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेषु गतेषु वेदस्योपशमनात् क्षयाद्वा भवति । एवमुक्ता वेदमार्गणायाश्चत्वार उत्तरभेदाः ।

अथ कषायमार्गणायाः पञ्चप्रभेदान् प्रकटयितुकामः प्राह-'कोह०' त्ति, 'क्रोध-मद-माया-लोभा-ऽकषायाः' तत्र क्रोधः=कोपः, क्रोधमोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेषः, एवमग्रेऽपि । मदो=मानः, माया=वञ्चना, लोभो=गृद्धिः । एतेषां स्वरूपं तु मोहनीयस्योत्तरप्रकृतिव्याख्यानावसरे विस्तरतो दर्शितम् । न विद्यते कषायः=क्रोधादीनामन्यतमो यस्य, स कषायः । सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादूर्ध्वं कषायस्योपशमनात् क्षयाद्वा-ऽकषायो व्यवह्रियते । एवमुक्ताः कषायमार्गणायाः पञ्चोत्तरभेदाः ।

सम्प्रति ज्ञानमार्गणाया अष्टौ भेदान् चिख्यासुरादौ तावद् ज्ञानस्य पञ्चविधत्वं दर्शयति-**'मइ०'**त्ति, 'मतिश्रुतावधिमनःकेवलम्' एते कृतसमाहारद्वन्द्वसमासाः प्रथमया निर्दिष्टाः, मनःशब्देन मनःपर्यायो गृह्यते, "भीमो भीमसेन" इति न्यायोपलम्भात् । ज्ञानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं चेति । मत्यादिस्वरूपं तूत्तरप्रकृतिविवेचनाऽवसरे संक्षेपतः प्रतिपादितम् । विशेषार्थिना तु **विशेषावश्यकभाष्य-मन्वादिटीका**-ऽवलोकनीया ।

अथाऽज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रपञ्चयति-**'मइ०'** त्ति, प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, 'मतिश्रुताज्ञान-विभङ्गानि' एतानि कृतद्वन्द्वानि प्रथमया निर्दिष्टानि, अज्ञानपदं च द्वाभ्यां सम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानं विभङ्गज्ञानञ्चेति । अत्र नञ्शब्दोऽप्राशस्त्यार्थवृत्तिर्ज्ञेयः, यदुक्तं
"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥" इति
अप्राशस्त्यं च मिथ्यात्वसाहचर्यकृतं बोध्यम् । न=अप्रशस्तं ज्ञानम् अज्ञानम्, अपशवोऽन्ये गो इतिवद् नञ्समासः, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्, एवं श्रुताऽज्ञानम्, विशब्दः कुत्सावृ बोध्यः "वि नानार्था ऽपाया-ऽत्ययदूरभृशार्थकलहैश्वर्यवियोगमोहहर्षकुत्साप्रादुर्भावाभिमुख्यानवस्थान भोजनसज्ञाशाक्ष्यव्ययकृत्स्नाप्तिषु" इति वचनात् । वि=कुत्सितो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मि

तद् विभङ्गम्, मिथ्यात्वप्रयुक्तकुत्सितत्वविशिष्टा-ऽवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः। यद्वा ज्ञानविपर्ययः=अज्ञानम्, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्। एवं श्रुताज्ञानमपि व्युत्पादनीयम्। वि=विपरीतो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्, तद् विभङ्गज्ञानम्, विपर्यस्तमवधिज्ञान विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः।

ननु यदेव ज्ञानं तदेव चाऽज्ञानमित्येकत्र विरुद्धधर्मद्वयस्य कथं समारोपः? न हि शीतत्वमुष्णत्वं चैकत्राधारयुगलभ्येते? इति, अत्रोच्यते-न वयं ब्रूमः-एकत्राऽधारे त्रयं ज्ञानमज्ञान चेति, किन्त्वन्यत्र ज्ञानमन्यत्र पुनरज्ञानम्। तथाहि-सम्यग्दृष्टौ योऽवबोधः, स ज्ञानम्, आधारान्तरे मिथ्यादृष्टौ पुनरज्ञानम्। एवं सम्यग्दर्शनेन परिगृहीतं मत्यादिक ज्ञानमुच्यते, मिथ्यादर्शनेन पुनरज्ञानम्। नन्वेवं तर्हि यथा सम्यग्दृष्टिर्घटं घट इति रसं रस इति परिच्छिनत्ति, तथैव मिथ्यादृष्टिरपि, तत्कथमेकस्य ज्ञानमपरस्य त्वज्ञानम्? इति चेत्, उच्यते-मिथ्यादृष्टीनां मत्यादित्रयमज्ञानमेव, समग्रनयसामग्रीप्रत्ययाभावेनाऽयथार्थपरिच्छेदित्वात्। तथाहि-मिथ्यादृष्टय एकनयमतं समाश्रयन्ति, तत्समाश्रयणे च न सर्वतो वस्तुपरिच्छेदः, नयान्तरेणा-ऽन्यथाऽपि परिच्छेदात्। यथा ऋजुसूत्रनयवादी जलाहरणादिविशिष्टमेव घट प्रचष्टे, न पुनर्जलाहरणाद्यभावे। तन्मिथ्या, व्यवहारनयेन जलाहरणाद्यभावेऽपि घटव्यपदेशात्। सम्यग्दृष्टीनां तु मत्यादिज्ञानमेव, सर्वनयसमाश्रयणेन यथार्थपरिच्छेदित्वात्। एवमाधारस्य (मिथ्यादृष्टेः) दोषादाधेयस्य ज्ञानस्य दुष्टत्वं जायते। तदेवं मतिश्रुता-ऽवधिज्ञानान्येव मिथ्यात्वपङ्ककलुषिततया यथाक्रम मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानव्यपदेश भजन्ति। एवमुक्ता ज्ञानमार्गणा-ऽष्टधा ॥३५॥

वेदकषायज्ञानमार्गणाना प्रभेदानुक्त्वा सम्प्रति संयममार्गणाया अष्टौ दर्शनमार्गणायाश्च चतुरो भेदान् प्रचिकटयिषुराह—

संजमसामइआइं य छेओ परिहारसुहुमअहखाया।
देसअजयाणि णयणेयरोहिकेवलदरिसणाणि ॥३६॥

(प्रे०) ' म०' इत्यादि, संयमश्च सामायिकं च संयमसामायिके। तत्र संयमशब्दः प्राग् मूलभेदप्ररूपणाऽवसरे व्याख्यातः। सामायिकच्छेदोपस्थापनादयश्च तदुत्तरभेदाः। तत्र समानि=ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषु तेषा तैर्वा आयो=लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्, 'विनयादिभ्य' (सिद्धहेम० ७-२-१६९) इत्यनेन स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः। विनयादेराकृतिगणत्वात्। यद्वा साम=सर्वजीवेषु मैत्री, साम्नो वा साम्नि वा साम्ना वाऽऽयः सामायः, स एव सामायिकम्। यद्वा संशब्दः सम्यगर्थकः, सं=सम्यग् अयनं=वर्तन समयः, समय एव सामयिकम्, स्वार्थिक इकण् प्रत्ययः, "अनुशितकादय" (सिद्धहेम० ७-४-१०१) इत्यनेन सूत्रेणोभयपदवृद्धिः। यद्वा समस्य भावः साम्यम्, तस्य आयः सामायः, निपातनात्, स एव सामायिकम्।

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीबता स्तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रु ? धृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावा-ऽभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधा प्राहुर्मोहानलसमन्वितम् ॥३॥" इति ।

नन्वपर्याप्ताऽवस्थायामेकेन्द्रियादिषु चाऽभिलापाभावाद् विग्रहगतौ च शरीराभावादुभयतोऽपि स्त्रीवेदादयः कथं घटन्ते ? इति चेत्, उच्यते-सत्यम्, किन्तु स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीवेदमार्गणास्थानम्, पुंवेदोदयात् पुंवेदमार्गणास्थानम्, नपुंसकवेदोदयाच्च नपुंसकवेदमार्गणास्थानमिति विवक्षणाददोषः । अत एवाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेभ्य ऊर्ध्वं वेदमार्गणाया अभावः ।

न विद्यते वेदः पुरुषवेदानामन्यतमो यस्य, सोऽवेदः, स चाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेषु गतेषु वेदस्योपशमनात् क्षयाद्वा भवति । एवमुक्ता वेदमार्गणायाश्चत्वार उत्तरभेदाः ।

अथ कषायमार्गणायाः पञ्चप्रभेदान् प्रकटयितुकामः प्राह-'कोह०' त्ति, 'क्रोध-मद-माया-लोभा-ऽकषायाः' तत्र क्रोधः=कोपः, क्रोधमोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेषः, एवमग्रेऽपि । मदो=मानः, माया=वञ्चना, लोभो=गृद्धिः । एतेषां स्वरूपं तु मोहनीयस्योत्तरप्रकृतिव्याख्यानावसरे विस्तरतो दर्शितम् । न विद्यते कषायः=क्रोधादीनामन्यतमो यस्य, स कषायः । सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादूर्ध्वं कषायस्योपशमनात् क्षयाद्वा-ऽकषायो व्यवह्रियते । एवमुक्ताः कषायमार्गणायाः पञ्चोत्तरभेदाः ।

सम्प्रति ज्ञानमार्गणाया अष्टौ भेदान् चिख्यासुरादौ तावद् ज्ञानस्य पञ्चविधत्वं दर्शयति-'**मइ०**'त्ति, 'मतिश्रुतावधिमनःकेवलम्' एते कृतसमाहारद्वन्द्वसमासाः प्रथमया निर्दिष्टाः, मनःशब्देन मनःपर्यायो गृह्यते, "भीमो भीमसेन" इति न्यायोपलम्भात् । ज्ञानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं चेति । मत्यादिस्वरूपं तूत्तरप्रकृतिविवेचनाऽवसरे सङ्क्षेपतः प्रतिपादितम् । विशेषार्थिना तु **विशेषावश्यकभाष्य-मलयगिरीयटीका**-ऽवलोकनीया ।

अथाऽज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रपञ्चयति-'**मइ०**' त्ति, प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, 'मतिश्रुताज्ञान-विभङ्गानि' एतानि कृतद्वन्द्वानि प्रथमया निर्दिष्टानि, अज्ञानपदं च द्वाभ्यां सम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानं विभङ्गज्ञानञ्चेति । अत्र नञ्शब्दोऽप्राशस्त्यार्थवृत्तिर्ज्ञेयः, **यदुक्तम्-**
'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥" इति ।
अप्राशस्त्यं च मिथ्यात्वसाहचर्यकृतं बोध्यम् । न=अप्रशस्तं ज्ञानम् अज्ञानम्, अपशवोऽन्ये गोभ्य इतिवद् नञ्समासः, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्, एवं [illegible]ऽज्ञानम्, विशब्दः कुत्सावृत्तिर्बोध्यः "वि नानार्था-ऽपाया-ऽत्ययदूरभृशार्थकलहैश्वर्यवियोगमोहहर्षकुत्साप्रादुर्भावाभिमुख्यानवस्थानप्राभोजनसञ्ज्ञाऽऽशक्ष्यव्ययकृत्स्नाप्तिषु" इति वचनात् । वि=कुत्सितो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्,

तद् विभङ्गम्, मिथ्यात्वप्रयुक्तकुत्सितत्वविशिष्टा-ऽवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः। यद्वा ज्ञानविपर्ययः=अज्ञानम्, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्। एवं श्रुताज्ञानमपि व्युत्पादनीयम्। वि=विपरीतो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्, तद् विभङ्गज्ञानम्, विपर्यस्तमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः।

ननु यदेव ज्ञानं तदेव चाऽज्ञानमित्येकत्र विरुद्धधर्मद्वयस्य कथं समारोपः? न हि शीतत्वमुष्णत्वं चैकत्राधारयुगलभ्येते? इति, अत्रोच्यते-न वयं ब्रूमः-एकत्राऽधारे त्रयं ज्ञानमज्ञान चेति, किन्त्वन्यत्र ज्ञानमन्यत्र पुनरज्ञानम्। तथाहि-सम्यग्दृष्टौ योऽवबोधः, स ज्ञानम्, आधारान्तरे मिथ्यादृष्टौ पुनरज्ञानम्। एवं सम्यग्दर्शनेन परिगृहीतं मत्यादिकं ज्ञानमुच्यते, मिथ्यादर्शनेन पुनरज्ञानम्। नन्वेवं तर्हि यथा सम्यग्दृष्टिर्घटं घट इति रसं रस इति परिच्छिनत्ति, तथैव मिथ्यादृष्टिरपि, तत्कथमेकस्य ज्ञानमपरस्य त्वज्ञानम्? इति चेत्, उच्यते-मिथ्यादृष्टीनां मत्यादित्रयमज्ञानमेव, समग्रनयसामग्रीप्रत्ययाभावेनाऽयथार्थपरिच्छेदित्वात्। तथाहि-मिथ्यादृष्टय एकनयमतं समाश्रयन्ति, तत्समाश्रयणे च न सर्वतो वस्तुपरिच्छेदः, नयान्तरेणा-ऽन्यथाऽपि परिच्छेदात्। यथा ऋजुसूत्रनयवादी जलाहरणादिविशिष्टमेव घट प्रचष्टे, न पुनर्जलाहरणाद्यभावे। तन्मिथ्या, व्यवहारनयेन जलाहरणाद्यभावेऽपि घटव्यपदेशात्। सम्यग्दृष्टीनां तु मत्यादिज्ञानमेव, सर्वनयसमाश्रयणेन यथार्थपरिच्छेदित्वात्। एवमाधारस्य (मिथ्यादृष्टेः) दोषादाधेयस्य ज्ञानस्य दुष्टत्वं जायते। तदेवं मतिश्रुता-ऽवधिज्ञानान्येव मिथ्यात्वपङ्ककलुषिततया यथाक्रम मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानव्यपदेश भजन्ति। एवमुक्ता ज्ञानमार्गणा-ऽष्टधा ॥३५॥

वेदकषायज्ञानमार्गणाना प्रभेदानुक्त्वा सम्प्रति संयममार्गणाया अष्टौ दर्शनमार्गणायाश्च चतुरो भेदान् प्रचिकटयिषुराह—

संजमसामइआइं य छेओ परिहारसुहुमअहखाया।
देसअजयाणि णयणेयरोहिकेवलदरिसणाणि ॥३६॥

(प्रे०) ' म०' इत्यादि, संयमश्च सामायिकं च सयमसामायिके। तत्र सयमशब्दः प्राग् मूलभेदप्ररूपणाऽवसरे व्याख्यातः। सामायिकच्छेदोपस्थापनादयश्च तदुत्तरभेदाः। तत्र समानि=ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषु तेषां तैर्वा आयो=लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्, 'विनयादिभ्य' (सिद्धहेम० ७-२-१६९) इत्यनेन स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः। विनयादेराकृतिगणत्वात्। यद्वा साम=सर्वजीवेषु मैत्री, साम्नो वा साम्नि वा साम्ना वाऽऽयः सामायः, स एव सामायिकम्। यद्वा संशब्दः सम्यगर्थकः, सं=सम्यग् अयन=वर्तन समयः, समय एव सामयिकम्, स्वार्थिक इकण् प्रत्ययः, "अनुशितकादय" (सिद्धहेम० ७-४-१०१) इत्यनेन सूत्रेणोभयपदवृद्धिः। यद्वा समस्य भावः साम्यम्, तस्य आयः सामायः, निपातनात्, स एव सामायिकम्।

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीबता स्तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावा-ऽभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधा प्राहुर्मोहानलसमन्वितम् ॥३॥" इति ।

नन्वपर्याप्ताऽवस्थायामेकेन्द्रियादिषु चाऽभिलाषाभावाद् विग्रहगतौ च शरीराभावादुभयतोऽपि स्त्रीवेदादयः कथं घटन्ते ? इति चेत्, उच्यते-सत्यम्, किन्तु स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीवेदमार्गणास्थानम्, पुंवेदोदयात् पुंवेदमार्गणास्थानम्, नपुंसकवेदोदयाच्च नपुंसकवेदमार्गणास्थानमिति विवक्षणाददोषः । अत एवाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेभ्य ऊर्ध्वं वेदमार्गणाया अभावः ।

न विद्यते वेदः पुरुषवेदानामन्यतमो यस्य, सोऽवेदः, स चाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेषु गतेषु वेदस्योपशमनात् क्षयाद्वा भवति । एवमुक्ता वेदमार्गणायाश्चत्वार उत्तरभेदाः ।

अथ कषायमार्गणायाः पञ्चप्रभेदान् प्रकटयितुकामः प्राह-'**कोह०**' त्ति, 'क्रोध-मद-माया-लोभा-ऽकषायाः' तत्र क्रोधः=कोपः, क्रोधमोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेषः, एवमग्रेऽपि । मदो=मानः, माया=वञ्चना, लोभो=गृद्धिः । एतेषां स्वरूपं तु मोहनीयस्योत्तरप्रकृतिव्याख्यानावसरे विस्तरतो दर्शितम् । न विद्यते कषायः=क्रोधादीनामन्यतमो यस्य, स कषायः । सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादूर्ध्वं कषायस्योपशमनात् क्षयाद्वा-ऽकषायो व्यवह्रियते । एवमुक्ताः कषायमार्गणायाः पञ्चोत्तरभेदाः ।

सम्प्रति ज्ञानमार्गणाया अष्टौ भेदान् चिख्यासुरादौ तावद् ज्ञानस्य पञ्चविधत्वं दर्शयति-'**मइ०**'त्ति, 'मतिश्रुतावधिमनःकेवलम्' एते कृतसमाहारद्वन्द्वसमासाः प्रथमया निर्दिष्टाः, मनःशब्देन मनःपर्यायो गृह्यते, "भीमो भीमसेन" इति न्यायोपलम्भात् । ज्ञानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं चेति । मत्यादिस्वरूपं तूत्तरप्रकृतिविवेचनाऽवसरे सक्षेपतः प्रतिपादितम् । विशेषार्थिना तु **विशेषावश्यकभाष्य-नन्द्यादिटीका**-ऽवलोकनीया ।

अथाऽज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रपञ्चयति-'**मइ०**' त्ति, प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, 'मतिश्रुताज्ञान-विभङ्गानि' एतानि कृतद्वन्द्वानि प्रथमया निर्दिष्टानि, अज्ञानपदं च द्वाभ्यां सम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानं विभङ्गज्ञानञ्चेति । अत्र नञ्शब्दोऽप्राशस्त्यार्थवृत्तिर्ज्ञेयः, **यदुक्तम्**-
"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥" इति ।
अप्राशस्त्यं च मिथ्यात्वसाहचर्यकृतं बोध्यम् । न=अप्रशस्तं ज्ञानम् अज्ञानम्, अपशवोऽन्ये गोभ्य इतिवद् नञ्समासः, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्, एवं श्रुताऽज्ञानम्, विशब्दः कुत्सावृत्तिर्बोध्यः "वि नानार्था ऽपाया-ऽत्ययदूरभृशार्थकलहैश्वर्यवियोगमोहहर्षकुत्साप्रादुर्भावाभिमुख्यानवस्थानप्राभोजनसञ्ज्ञाऽऽक्ष्यव्ययकृत्स्नाप्तिषु" इति वचनात् । वि=कुत्सितो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्,

तद् विभङ्गम्, मिथ्यात्वप्रयुक्तकुत्सितत्वविशिष्टा-ऽवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः। यद्वा ज्ञानविपर्ययः=अज्ञानम्, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्। एवं श्रुताज्ञानमपि व्युत्पादनीयम्। वि=विपरीतो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्, तद् विभङ्गज्ञानम्, विपर्यस्तमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः।

ननु यदेव ज्ञानं तदेव चाऽज्ञानमित्येकत्र विरुद्धधर्मद्वयस्य कथं समारोपः? न हि शीतत्वमुष्णत्वं चैकत्राधारयुगलभ्येते? इति, अत्रोच्यते-न वयं ब्रूमः-एकत्राऽऽधारे द्वयं ज्ञानमज्ञान चेति, किन्त्वन्यत्र ज्ञानमन्यत्र पुनरज्ञानम्। तथाहि-सम्यग्दृष्टौ योऽवबोधः, स ज्ञानम्, आधारान्तरे मिथ्यादृष्टौ पुनरज्ञानम्। एवं सम्यग्दर्शनेन परिगृहीतं मत्यादिकं ज्ञानमुच्यते, मिथ्यादर्शनेन पुनरज्ञानम्। नन्वेवं तर्हि यथा सम्यग्दृष्टिर्घटं घट इति रसं रस इति परिच्छिनत्ति, तथैव मिथ्यादृष्टिरपि, तत्कथमेकस्य ज्ञानमपरस्य त्वज्ञानम्? इति चेत्, उच्यते-मिथ्यादृष्टीनां मत्यादित्रयमज्ञानमेव, समग्रनयसामग्रीप्रत्ययाभावेनाऽयथार्थपरिच्छेदित्वात्। तथाहि-मिथ्यादृष्टय एकनयमतं समाश्रयन्ति, तत्समाश्रयणे च न सर्वतो वस्तुपरिच्छेदः, नयान्तरेणा-ऽन्यथाऽपि परिच्छेदात्। यथा ऋजुसूत्रनयवादी जलाहरणादिविशिष्टमेव घटं प्रचष्टे, न पुनर्जलाहरणाद्यभावे। तन्मिथ्या, व्यवहारनयेन जलाहरणाद्यभावेऽपि घटव्यपदेशात्। सम्यग्दृष्टीनां तु मत्यादिज्ञानमेव, सर्वनयसमाश्रयणेन यथार्थपरिच्छेदित्वात्। एवमाधारस्य (मिथ्यादृष्टेः) दोषादाधेयस्य ज्ञानस्य दुष्टत्वं जायते। तदेवं मतिश्रुता-ऽवधिज्ञानान्येव मिथ्यात्वपङ्ककलुषिततया यथाक्रम मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानव्यपदेश भजन्ति। एवमुक्ता ज्ञानमार्गणा-ऽष्टधा ॥२५॥

वेदकषायज्ञानमार्गणानां प्रभेदानुक्त्वा सम्प्रति संयममार्गणाया अष्टौ दर्शनमार्गणायाश्च चतुरो भेदान् प्रचिकटयिषुराह—

संजमसामइआइं य छेओ परिहारसुहुमअहखाया।
देसअजयाणि णयणेयरोहिकेवलदरिसणाणि ॥२६॥

(प्रे०) 'सं० म०' इत्यादि, संयमश्च सामायिकं च सयमसामायिके। तत्र संयमशब्दः प्राग् मूलभेदप्ररूपणाऽवसरे व्याख्यातः। सामायिकच्छेदोपस्थापनादयश्च तदुत्तरभेदाः। तत्र समानि=ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषु तेषा तैर्वा आयो=लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्, 'विनयादिभ्य' (सिद्धहेम० ७-२-१६९) इत्यनेन स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः। विनयादेराकृतिगणत्वात्। यद्वा साम=सर्वजीवेषु मैत्री, साम्नो वा साम्नि वा साम्ना वाऽऽयः सामायः, स एव सामायिकम्। यद्वा संशब्दः सम्यगर्थकः, सं=सम्यग् अयनं=वर्तनं समयः, समय एव सामयिकम्, स्वार्थिक इकण् प्रत्ययः, "अनुशितकादय" (सिद्धहेम० ७-४-१०१) इत्यनेन सूत्रेणोभयपदवृद्धिः। यद्वा समस्य भावः साम्यम्, तस्य आयः सामायः, निपातनात्, स एव सामायिकम्।

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीबता स्तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावा-ऽभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसमन्वितम् ॥३॥" इति ।

नन्वपर्याप्ताऽवस्थायामेकेन्द्रियादिषु चाऽभिलापाभावाद् विग्रहगतौ च शरीराभावादुभयतो-ऽपि स्त्रीवेदादयः कथं घटन्ते ? इति चेत्, उच्यते-सत्यम्, किन्तु स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीवेदमार्गणास्थानम्, पुंवेदोदयात् पुंवेदमार्गणास्थानम्, नपुंसकवेदोदयाच्च नपुंसकवेदमार्गणास्थानमिति विवक्षणाददोषः । अत एवाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेभ्य ऊर्ध्वं वेदमार्गणाया अभावः ।

न विद्यते वेदः पुरुषवेदानामन्यतमो यस्य, सोऽवेदः, स चाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहु-संख्येयभागेषु गतेषु वेदस्योपशमनात् क्षयाद्वा भवति । एवमुक्ता वेदमार्गणायाश्चत्वार उत्तरभेदाः ।

अथ कषायमार्गणायाः पञ्चप्रभेदान् प्रकटयितुकामः प्राह-'कोह०' त्ति, 'क्रोध-मद-माया-लोभा-ऽकषायाः' तत्र क्रोधः=कोपः, क्रोधमोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेषः, एवम-ग्रेऽपि । मदो=मानः, माया=वञ्चना, लोभो=गृद्धिः । एतेषां स्वरूपं तु मोहनीयस्योत्तरप्रकृति-व्याख्यानावसरे विस्तरतो दर्शितम् । न विद्यते कषायः=क्रोधादीनामन्यतमो यस्य, स कषायः । सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादूर्ध्वं कषायस्योपशमनात् क्षयाद्वा-ऽकषायो व्यवह्रियते । एवमुक्ताः कषायमार्गणायाः पञ्चोत्तरभेदाः ।

सम्प्रति ज्ञानमार्गणाया अष्टौ भेदान् चिख्यासुरादौ तावद् ज्ञानस्य पञ्चविधत्वं दर्शयति-**'मइ०'** त्ति, 'मतिश्रुतावधिमनःकेवलम्' एते कृतसमाहारद्वन्द्वसमासाः प्रथमया निर्दिष्टाः, मनःशब्देन मनःपर्यायो गृह्यते, "भीमो भीमसेन" इति न्यायोपलम्भात् । ज्ञानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं चेति । मत्यादिस्वरूपं तूत्तरप्रकृतिविवेचनाऽवसरे सङ्क्षेपतः प्रतिपादितम् । विशेषार्थिना तु **विशेषावश्यकभाष्य-मन्यादिटीका**-ऽवलोकनीया ।

अथाऽज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रपञ्चयति-**'मइ०'** त्ति, प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, 'मतिश्रुताज्ञान-विभङ्गानि' एतानि कृतद्वन्द्वानि प्रथमया निर्दिष्टानि, अज्ञानपदं च द्वाभ्यां सम्बध्यते । ततश्चाऽ-यमर्थः-मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानं विभङ्गज्ञानञ्चेति । अत्र नञ्शब्दोऽप्राशस्त्यार्थवृत्तिर्ज्ञेयः, **यदुक्तम्-**
"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥" इति ।
अप्राशस्त्यं च मिथ्यात्वसाहचर्यकृतं बोध्यम् । न=अप्रशस्तं ज्ञानम् अज्ञानम्, अपशवोऽन्ये गोभ्य इतिवद् नञ्समासः, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्, एवं श्रुताऽज्ञानम्, विशब्दः कुत्सावृत्ति-र्बोध्यः "वि नानार्था-ऽपाया-ऽत्ययदूरभृशार्थकलहैश्वर्यवियोगमोहहर्षकुत्साप्रादुर्भावाभिमुख्यानवस्थानप्रा-भोजनसञ्ज्ञाशाक्ष्यव्ययकृत्स्नाप्तिषु" इति वचनात् । वि=कुत्सितो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्,

तद् विभङ्गम्, मिथ्यात्वप्रयुक्तकुत्सितत्वविशिष्टा-ऽवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः। यद्वा ज्ञानविपर्ययः=अज्ञानम्, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्। एवं श्रुताज्ञानमपि व्युत्पादनीयम्। वि=विपरीतो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्, तद् विभङ्गज्ञानम्, विपर्यस्तमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यत इत्यर्थः।

ननु यदेव ज्ञानं तदेव चाऽज्ञानमित्येकत्र विरुद्धधर्मद्वयस्य कथं समारोपः? न हि शीतत्वमुष्णत्वं चैकत्राधारयुग्लभ्येते? इति, अत्रोच्यते-न वयं ब्रूमः-एकत्राऽऽधारे त्रयं ज्ञानमज्ञान चेति, किन्त्वन्यत्र ज्ञानमन्यत्र पुनरज्ञानम्। तथाहि-सम्यग्दृष्टौ योऽवबोधः, स ज्ञानम्, आधारान्तरे मिथ्यादृष्टौ पुनरज्ञानम्। एवं सम्यग्दर्शनेन परिगृहीतं मत्यादिकं ज्ञानमुच्यते, मिथ्यादर्शनेन पुनरज्ञानम्। नन्वेवं तर्हि यथा सम्यग्दृष्टिर्घटं घट इति रसं रस इति परिच्छिनत्ति, तथैव मिथ्यादृष्टिरपि, तत्कथमेकस्य ज्ञानमपरस्य त्वज्ञानम्? इति चेत्, उच्यते-मिथ्यादृष्टीनां मत्यादित्रयमज्ञानमेव, समग्रनयसामग्रीप्रत्ययाभावेनाऽयथार्थपरिच्छेदित्वात्। तथाहि-मिथ्यादृष्टय एकनयमतं समाश्रयन्ति, तत्समाश्रयणे च न सर्वतो वस्तुपरिच्छेदः, नयान्तरेणा-ऽन्यथाऽपि परिच्छेदात्। यथा ऋजुसूत्रनयवादी जलाहरणादिविशिष्टमेव घटं प्रचष्टे, न पुनर्जलाहरणाद्यभावे। तन्मिथ्या, व्यवहारनयेन जलाहरणाद्यभावेऽपि घटव्यपदेशात्। सम्यग्दृष्टीनां तु मत्यादिज्ञानमेव, सर्वनयसमाश्रयणेन यथार्थपरिच्छेदित्वात्। एवमाधारस्य (मिथ्यादृष्टेः) दोषादाधेयस्य ज्ञानस्य दुष्टत्वं जायते। तदेवं मतिश्रुता-ऽवधिज्ञानान्येव मिथ्यात्वपङ्ककलुषिततया यथाक्रम मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानव्यपदेश भजन्ति। एवमुक्ता ज्ञानमार्गणा-ऽष्टधा ॥३५॥

वेदकषायज्ञानमार्गणानां प्रभेदानुक्त्वा सम्प्रति संयममार्गणाया अष्टौ दर्शनमार्गणायाश्च चतुरो भेदान् प्रचिकटयिषुराह—

संजमसामइआइं य छेओ परिहारसुहुमअहखाया।
देसअजयाणि णयणेयरोहिकेवलदरिसणाणि ॥३६॥

(प्रे०) '**संयम०**' इत्यादि, संयमश्च सामायिकं च संयमसामायिके। तत्र संयमशब्दः प्राग् मूलभेदप्ररूपणाऽवसरे व्याख्यातः। सामायिकच्छेदोपस्थापनादयश्च तदुत्तरभेदाः। तत्र समानि=ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषु तेषां तैर्वा आयो=लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्, 'विनयादिभ्य' (सिद्धहेम० ७-२-१६९) इत्यनेन स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः। विनयादेराकृतिगणत्वात्। यद्वा साम=सर्वजीवेषु मैत्री, साम्नो वा साम्नि वा साम्ना वाऽऽयः सामायः, स एव सामायिकम्। यद्वा समशब्दः सम्यगर्थकः, सं=सम्यग् अयनं=वर्तनं समयः, समय एव सामयिकम्, स्वार्थिक इकण् प्रत्ययः, "अनुशतिकादय" (सिद्धहेम० ७-४-१०१) इत्यनेन सूत्रेणोभयपदवृद्धिः। यद्वा समस्य भावः साम्यम्, तस्य आयः सामायः, निपातनात्, स एव सामायिकम्।

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीबता स्तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रु ? धृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावा-ऽभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधा प्राहुर्मोहानलसमन्वितम् ॥३॥" इति ।

नन्वपर्याप्ताऽवस्थायामेकेन्द्रियादिषु चाऽभिलाषाभावाद् विग्रहगतौ च शरीराभावादुभयतोऽपि स्त्रीवेदादयः कथं घटन्ते ? इति चेत्, उच्यते-सत्यम्, किन्तु स्त्रीवेदोदयात् स्त्रीवेदमार्गणास्थानम्, पुंवेदोदयात् पुंवेदमार्गणास्थानम्, नपुंसकवेदोदयाच्च नपुंसकवेदमार्गणास्थानमिति विवक्षणाददोषः । अत एवाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेभ्य ऊर्ध्वं वेदमार्गणाया अभावः ।

न विद्यते वेदः पुरुषवेदानामन्यतमो यस्य, सोऽवेदः, स चाऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकबहुसंख्येयभागेषु गतेषु वेदस्योपशमनात् क्षयाद्वा भवति । एवमुक्ता वेदमार्गणायाश्चत्वार उत्तरभेदाः ।

अथ कषायमार्गणायाः पञ्चप्रभेदान् प्रकटयितुकामः प्राह-'कोह०' त्ति, 'क्रोध-मद-माया-लोभा-ऽकषायाः' तत्र क्रोधः=कोपः, क्रोधमोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेषः, एवमग्रेऽपि । मदो=मानः, माया=वञ्चना, लोभो=गृद्धिः । एतेषां स्वरूपं तु मोहनीयस्योत्तरप्रकृतिव्याख्यानावसरे विस्तरतो दर्शितम् । न विद्यते कषायः=क्रोधादीनामन्यतमो यस्य, स कषायः । सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादूर्ध्वं कषायस्योपशमनात् क्षयाद्वा-ऽकषायो व्यवह्रियते । एवमुक्ताः कषायमार्गणायाः पञ्चोत्तरभेदाः ।

सम्प्रति ज्ञानमार्गणाया अष्टौ भेदान् चिख्यासुरादौ तावद् ज्ञानस्य पञ्चविधत्वं दर्शयति-**'मइ०'**त्ति, 'मतिश्रुतावधिमनःकेवलम्' एते कृतसमाहारद्वन्द्वसमासाः प्रथमया निर्दिष्टाः, मनःशब्देन मनःपर्यायो गृह्यते, "भीमो भीमसेन" इति न्यायोपलम्भात् । ज्ञानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं चेति । मत्यादिस्वरूपं तूत्तरप्रकृतिविवेचनाऽवसरे सक्षेपतः प्रतिपादितम् । विशेषार्थिना तु **विशेषावश्यकभाष्य-मन्यादिटीका**-ऽवलोकनीया ।

अथाऽज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रपञ्चयति-**'मइ०'** त्ति, प्राकृतत्वात् पुंस्त्वम्, 'मतिश्रुताज्ञान-विभङ्गानि' एतानि कृतद्वन्द्वानि प्रथमया निर्दिष्टानि, अज्ञानपदं च द्वाभ्यां सम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः-मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानं विभङ्गज्ञानञ्चेति । अत्र नञ्शब्दोऽप्राशस्त्यार्थवृत्तिर्ज्ञेयः, य‌ु‌क्त‌म्-
'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥" इति ।
अप्राशस्त्यं च मिथ्यात्वसाहचर्यकृतं बोध्यम् । न=अप्रशस्तं ज्ञानम् अज्ञानम्, अपशवोऽन्ये गोभ्य इतिवद् नञ्समासः, मतिश्च साऽज्ञानं च मत्यज्ञानम्, एवं श्रुताऽज्ञानम्, विशब्दः कुत्सावृत्ति-र्बोध्यः "वि नानार्थाऽपाया-ऽत्ययदूरभृशार्थकलहैश्वर्यवियोगमोहहर्षकुत्साप्रादुर्भावाभिमुख्यानवस्थानप्रा-भोजनसञ्ज्ञादाक्ष्यव्ययकृत्स्नाप्तिषु" इति वचनात् । वि=कुत्सितो भङ्गः=परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिन्,

चारिणस्तु पारिहारिकत्व भजन्ते, ततः षण्मासान् यावत् पारिहारिकत्व भजते वाचनाचार्यः, अष्टानां चाऽन्यतमो भवति वाचनाचार्यः, शेषास्तु सप्तानुपारिहारिकाः । एवमष्टादशमासैरयं कल्पः समाप्तिं याति। तत्समाप्तौ च केचित् जिनकल्पं स्वीकुर्वन्ति, ते यावत्कथिकाः, अन्ये गच्छमुपयान्ति, ते इत्वरिकाः। इह परिहारविशुद्धिकं चारित्र तीर्थङ्करसकाशात् प्रतिपद्यन्ते, यद्वा तीर्थङ्करसमीपासेवकस्य पार्श्वे प्रतिपद्यन्ते । उक्तं च नसारोद्धारे—

"परिहारियाण उ तवो जहन्न मज्झो तहेव उक्कोसो । सीउण्हवासकाले भणिओ धीरेहि पत्तेयं ॥१॥
तत्थ जहन्नो गिम्हे चउत्थ छट्ठ तु होइ मज्झिमओ । अट्ठममिहमुक्कोसो इत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥२॥
सिसिरे तु जहन्न तवो छट्ठाई दसमचरिमगो होइ। वासासु अट्ठमाई बारसपज्जतगो णेओ ॥३॥
पारणगे आयाम पचसु गहो दोसु भिग्गहो भिक्खे । कप्पठिया वि पइदिण करेति एमेव आयाम ॥४॥
एव छम्मासतव चरिउ परिहारिआ अणुचरति । अणुचरगे परिहारियपरिट्ठिए जाव छम्मासा ॥५॥
कप्पट्ठिओ वि एव छम्मासतव करेइ सेसाओ । अणुपरिहारियभाव वयति कप्पट्ठियत्त च ॥६॥
एव सो अट्ठारसमासपमाणो वण्णिओ कप्पो । सखेवओ विसेसो विसेससुत्ताउ नायव्वो ॥७०॥
कप्पसमत्तीए तय जिणकप्प वा उविंति गच्छ वा । पडिवज्जमाणगा पुण जिणस्सगासे पवज्जति ॥८॥
तित्थयरसमीवासेवगस्स पासे व नो व अन्नस्स । एएसि ज चरण परिहारविसुद्धिगं त तु ॥९॥ इति

इह सप्तैषणामध्य आद्ययोर्द्वयोरग्रह एव, पञ्चसु पुनर्ग्रहः । तत्राऽप्येकतरया भक्तमेकतरया च पानकमित्येवं द्वयोरभिग्रहोऽवगन्तव्यः ।

जघन्यतो जन्मनः प्रभृति देशोननववर्षाण्यतिक्रम्य प्रवज्यां प्रतिपद्यन्ते । ततो विंशतिवर्षाणि सिद्धान्तमधीत्या-ऽधीतदृष्टिवादाः परिहारविशुद्धिकं प्रतिपद्यन्ते । एवं जन्मनः प्रभृत्येकोनत्रिंशद्वर्षेषु व्यतिक्रान्तेषु संयमप्रतिपत्तितस्तु विंशतिवर्षेष्वपगतेषु परिहारविशुद्धिकं प्रतिपद्यमानानां जघन्यतो गृहस्थपर्याय एकोनत्रिंशद्वर्षाणि, तथा जघन्यतो यतिपर्यायो वर्षाणा विंशतिः । उत्कृष्टत उभावपि पर्यायौ देशोनपूर्वकोटिः । उक्तं ऽन्यत्राऽपि—

"एयस्स एस नेओ गिहिपरियाओ जहन्नि गुणतीसा । जइपरियाओ वीसा दोसु वि उक्कोसदेसूणा ॥१॥" इति

न च "गिहिपरियाओ जहन्नि गुणतीसा" इत्युक्ते जन्मनः प्रभृत्येकोनत्रिंशद्वर्षाणि जघन्यतो गृहवासं परिपाल्य ततः संयमं प्रतिपद्य यथागमं सूत्रमधीत्य ये परिहारविशुद्धिकं प्रतिपद्यन्ते, तेषां जघन्यगृहस्थपर्याय एकोनत्रिंशद्वर्षाणि भवतीति कुतो नोच्यत इति वाच्यम्, सिद्धान्ते वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानानां संयमप्रतिपत्तेरप्रतिषिद्धत्वात् । न च सामान्यतः संयमप्रतिपत्तेरप्रतिषिद्धत्वेऽपि परिहारविशुद्धिकं प्रतिपत्स्यमानानामष्टविंशतिवर्षाणामुपरि वर्तमानानां संयमप्राप्तिर्भवतीति वाच्यम्, देशोननववर्षेषु व्यतिक्रान्तेषु प्रव्रजिताना विंशतिवर्षप्रमाणचारित्रपर्यायाणा जीवानां

卐 धवलाकारास्तु त्रिंशद्वर्षाणि भोगमनुभूय तत सयम प्रतिपद्याऽधीतप्रत्याख्यानपूर्वा परिहारविशुद्धिकचारित्र प्रतिपद्यन्त इत्याहु । तथा च तद्ग्रन्थ –"त्रिंशद्वर्षाणि यथेच्छया भोगमनुभूय सामान्यरूपेण वा सयममादाय द्रव्यक्षेत्रकालभावगतपरिमिताऽपरिमितप्रत्याख्यानप्रतिपादकप्रत्याख्यानपूर्वं समधिगम्य व्यपगतसशयस्तपोविशेषात् समुत्पन्नपरिहारर्द्धिस्तीर्थंकरपादमूले परिहारशुद्धिसयममादत्ते इति ।"

अथवा सम्यगायः समायः, स एव सामायिकम्, यद्वा समायेन निर्वृत्तं समाये भव वेति सामायिकम्। यद्वा समो=रागद्वेषविमुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति, तस्य आयो=लाभः=प्राप्तिः समायः, स एव सामायिकम्, पूर्ववत् स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः। सर्वसावद्यविरतिरूप मूलगुणानामाधारभूत चारित्रमित्यर्थः। यदुक्त **वाचकवर्यैः**—

"सामायिक गुणानामाधार खमिव सर्वभावानाम्। न हि सामायिकविहीनाश्चरणगुणान्विता येन ॥१॥
तस्माज्जगाद भगवान् सामायिकमेव निरुपमोपायम्। शारीरमानसा-ऽनेकदु खनाशस्य मोक्षस्य ॥२॥" इति

यद्यपि सर्वमपि चारित्र सामायिकमेव, तथापि छेदादिपर्यायविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थतः शब्दतश्च नानात्व भजते।

प्रथमं तावच्चारित्र विशेषणविरहित सामायिक द्विधा—इत्वर यावत्कथिक च। तत्रेत्वरं भाविव्यपदेशान्तरभजनात् स्वल्पकालम्, तच्च भरतैरवतेषु प्रथमचरमतीर्थङ्करतीर्थे यावत् शैक्षकस्य महाव्रतानि नारोप्यन्ते, तावद् विज्ञेयम्। प्रव्रज्याग्रहणसमयादात्मनः कथा यावद् यद् आस्ते, तद् यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः, यावत्कथमेव यावत्कथिकम्, एतच्च भरतैरवतेषु प्रथमचरमवर्जमध्यमद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तर्गतसाधूनां महाविदेहतीर्थकरमुनीनां चाऽवसेयम्, तेषामुपस्थापनाया अभावात्।

'छेओ' त्ति, 'छेदः' पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यत्वात् छेदोपस्थापनम्, छेदेन=पूर्वपर्यायस्य उच्छेदेन=निरोधेन उपस्थापनम्=महाव्रतानामारोपण यस्मिश्चारित्रे, तत् छेदोपस्थापनम्। तच्च द्विविधम्, सातिचारनिरतिचारभेदात्। सातिचार मूलगुणघातिनः पुनर्महाव्रतोच्चारणम्। निरतिचारं पुनरित्वरसामयिकस्य शैक्षकस्य, तीर्थान्तर वा संक्रामतश्चतुर्महाव्रतधारिणः पञ्चमहाव्रतारोपणं केशिगणधरादिवद्।

'**परिहार०**' त्ति, प्राकृतत्वात् पु स्त्वम् 'परिहारसूक्ष्मा-ऽथाख्यातानि' पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यमानत्वात् परिहारविशुद्धक सूक्ष्मसम्परायमथाख्यात च।

तत्र परिहरणं परिहारः=तपोविशेषः, तेन विशुद्धिर्यस्मिश्चारित्रे, तत् परिहारविशुद्धिकम्। तच्च द्विविधम्, निर्विशमानकनिर्विष्टकायिकभेदात्। तत्र निर्विशमानकाः=विवक्षितचारित्रसेवकाः, निर्विष्टकायिकाः=आसेवितविवक्षितचारित्रकायिकाः, तद्भेदाच्चारित्रमपि तदेवमुच्यते। इह नवको गणः। तत्रैको वाचनार्यश्चत्वारो निर्विशमानकाश्चत्वारश्चाऽनुचारिणः। निर्विशमानकानां तपस्त्रिधा, ग्रीष्मशिशिरवर्षाकालभेदात्। एकैक पुनस्त्रिविधम् जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पात्, तद्यथा—ग्रीष्मकाले जघन्य चतुर्थ मध्यम षष्टमुत्कृष्टमष्टमम्, शीतकाले जघन्य षष्ठ मध्यममष्टममुत्कृष्टं दशभक्तम्, वर्षाकाले जघन्यमष्टम मध्यम दशभक्तमुत्कृष्ट पुनर्द्वादशभक्तम्, पारणके च सर्वत्राऽऽचाम्लम्। अनुचारिणो वाचनाचार्यश्चाचाम्लतपश्चरति। षण्मासान् यावत् तपश्चरित्वा पारिहारिका अनुचारित्व भजन्ते। अनु-

दव्वाई य अभिग्गह विचित्तरूवा न हुंति पुण केइ । एयस्स जाव कप्पो कप्पुच्चियमभिग्गहो तेण ॥२०॥
एयम्मि गोयराई नियया नियमेण निरववाया य । तप्पालण चिय पर एयस्स विसुद्धिठाण तु ॥२१॥
(इत्यभिग्रहद्वारम्)

पव्वावेइ ण एसो अण्ण कप्पट्ठिओ त्ति काउण । आणाउ तह पयट्टो चरमाणसणिव्व णिरविक्खो ॥२२॥
उवएस पुण विअरइ धुवपव्वाव विआणिउ कंचि । तपि जहाऽऽसणेण गुणओ ण दिसादविक्खाए ॥२३॥
(इति प्रव्रज्याद्वारम्)

मुंडावणा वि एत्र विण्णेआ एत्थ चोअगो आह । पव्वज्जाणतरमो णियमा एस त्ति कीस पुढो ॥२३॥
गुरुराईह ण णियमो पव्वइअस्स वि इमीएँ पडिसेहो । अजोग्गस्साइसई होइ जओ अओ पुढो दार ॥२४॥
(इति मुण्डापनद्वारम्)

आवण्णस्स मणेणऽवि अइआर निअमओ अ सुहुम पि । पच्छित्त चउगुरुगा एव्वजहण्ण तु णेअव्व ॥२५॥
जम्हा उत्तरकप्पो एसोऽभत्तट्ठमाइसरिसो उ । एगग्गयापहाणो तब्भगे गुरुअरो दोसो ॥२६॥
(इति प्रायश्चित्तविधिद्वारम्)

कारणमालबणमो त पुण नाणाइय सुपरिसुद्ध । एअस्स त न विज्जइ उचियं तवसाहणापाय ॥२७॥
सव्वत्थ य निरविक्खो आढविय सदढ समाणतो । वट्टइ एस महप्पा किलिट्ठकम्मक्खयनिमित्त ॥२८॥
(इति कारणद्वारम्)

निप्पडिकम्मसरीरो अच्छिमलाई वि नावणेइ सया । पाणतिए वि य तहा वसणमि न वट्टए बीए ॥२९॥
अप्पबहुत्ताए लोयणत्तिमयाईओ उ होइ एसो त्ति । अहवा सुहभावाओ बहुग पेय चिय इमस्स ॥३०॥
(इति निष्प्रतिक्रमणद्वारम्)

तइयाएँ पोरिसीए भिक्खा लो विहारकालो उ । सेसासु य उस्सग्गो पाय अप्पा य निद्दा वि ॥३१॥
जघावलम्मि खीणे अविहरमाणो वि न बीयमावज्जे । तत्थेव अहाकप्प गुणइ उ जोग महाभागो ॥३२॥
(इति भिक्षाद्वारम्)

विशेषार्थिना **श्रीबृहत्कल्पसूत्रवृत्तिरवलोकनीया** ।

इत्वराणां परिहारविशुद्धिकानामुपसर्गवेदनादयो न प्रादुःषन्ति, यावत्कथिकानां पुनः संभवन्त्यपि, जिनकल्पिकानां प्रवचन उपसर्गादिविधानात् । यदुक्तं **बृहत्कल्पसूत्रे**–

"इत्तरियाणुवसग्गा आतका वेयणा य न भवति । आवकहियाण भइया तहेव छग्गामभागा उ ॥१॥" इति ।

यद्वा यः परिहारतो मासिक चतुर्लघ्व्यादि तपश्चरति, तस्य पारिहारिकचारित्रलब्धिर्भवति, यदुक्तं **व्याख्याप्रज्ञप्तिकारैः**–"परिहारतो मासिक चतुर्लघ्व्यादि तपश्चरति, तस्य परिहारकचरित्रलब्धिर्भवतीति ।" इति ।

असौ छेदोपस्थानसंयमाभावेऽपि जीवस्य परिहारविशुद्धिकसंयमः संभाव्यते, **नन्दिसूत्रवृत्तौ** सामायिकपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातसंयतानां मुक्तिलाभप्रतिपादनात्, तथा चाऽत्र **नन्दिसूत्रवृत्ति**–'चारित्रद्वारे तद्भवा ऽनुभूतपूर्वचरणापेक्षया तु केचित्सामायिकपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रिण ।" इति ।

इद परिहारतपो यथा स्यात्, तथोच्यते–यः स्वगणवर्ती परगणाद्वा संपरिचितः प्रायश्चित्तायाऽऽगच्छति, तस्मा आचार्यो न पृच्छति परिचितत्वात् । यः पुनरपरिचितः परगणादायाति,

परिहारविशुद्धिकसंयमप्रतिपत्तेरभ्युपगमात् । तथा चाहुर्व्याख्या प्रवृत्तिकाराः-"देशोननव-वर्षजन्मपर्यायेण केनाऽपि पूर्वकोट्यायुष्केण प्रव्रज्या प्रतिपन्ना, तस्य च विंशतिवर्षप्रव्रज्यापर्यायस्य दृष्टि-वादोऽनुज्ञातस्ततश्चाऽसौ परिहारविशुद्धिक प्रतिपन्न ।" इति ।

तथा परिहारविशुद्धिकं चारित्रं [1]क्षेत्र-[2]कल्प-[3]लिङ्ग-[4]काल-[5]चारित्र- तीर्थ-[7]पर्याया-[8]ऽऽगम-[9]वेद-[10]लेश्या-[11]ध्यान-[12]गणा-[13]ऽभिग्रह- [14]प्रव्रज्या-[15]मुण्डापण-[16]प्रायश्चित्त-विधि-[17]कारण-[18]निष्प्रतिकर्म-[19]भिक्षाख्यैरेकोनविंशतिद्वारैः परिभावनीयम् । यदुक्तम्—

खित्ते दुहेहमग्गण जम्मणओ चेव सतिभावे य। जम्मणओ जहिं जाओ सतीभावो य जहिं कप्पो ॥१॥
खेत्ते भरहेरवएसु हुति स्माहरणवज्जिया नयमा। ठिइकप्पम्मि उ नियमा एमेव य दुविहलिंगे वि ॥२॥
सिज्जायरपिंडम्मि चाउयामे य पुरिसजेट्ठे । कियकम्मस्स य करण चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ॥३॥

(इति क्षेत्र-कल्प-लिङ्गद्वाराणि)

ओसप्पिणीए दोसु जम्मणओ तीसु सतिभावेण । उस्सप्पिणि विवरीओ जम्मणओ सतिभावेण ॥४॥

(इति कालद्वारम्)

तुल्ल जहन्ना ठाणा सजमठाणाइ पढमबितियाण । तत्तो असखलोए गतु परिहारियट्ठाणा ॥५॥
ते वि असखा लोगा अविरुद्धा चेव पढमबिइयाण । उवरि पि ततो असखा सजमट्ठाणा उ दोण्ह पि ॥६॥
सठाणे पडिवत्तअन्नेसु विहुज्ज पुव्वपडिवन्नो । तेसु वि वट्टतो सो तीतनय पप्प वुच्चइ उ ॥७॥

(इति चारित्रद्वारम्)

तित्थि त्ति नियमओ च्चिय होइ स तित्थमि न उण तदभावे । विगएऽणुप्पन्ने वा जाईसरणाइएहिं तु ॥८॥

(इति तीर्थद्वारम्)

एयस्स एस नेओ गिहिपरियाओ जहन्नगुणतीसा । जइपरियाओ वीसा दोसु वि उक्कोस देसूणा ॥९॥

(इति पर्यायद्वारम्)

अप्पुव्व नाहिज्जइ आगममेसो पडुच्च त कप्प । जमुचियपगहियजोगाराहणओ चेव कयकिच्चो ॥१०॥
पुव्वाहीय तु तय पाय अणुसरइ निच्चमेवेसो । एगग्गमणो सम्म विसोयसिगाइ खयहेऊ ॥११॥

(इत्यागमद्वारम्)

वेदो पवित्तिकाले इत्थीवज्जो उ होइ एगयरो। पुव्वपडिवन्नओ पुण होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥१२॥

(इति वेदद्वारम)

लेसासु विसुद्धासु पडिवज्जइ तीसु न उण सेसासु। पुव्वपडिवन्नओ पुण हुज्जा सव्वासु वि कहचि ॥१३॥
नच्च त सकिलिट्ठासु थोवकाल व हदि इयरेसु। चित्ता कम्माण गई तहा विरिअ फल देइ ॥१४॥

(इति लेश्याद्वारम्)

झाणमि वि धम्मेण पडिवज्जइ सो पवड्ढमाणेण। इयरेसु वि झाणेसु पुव्वपवन्नो न पडिसिद्धो ॥१५॥
एव अकुमलजोगे उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा । रद्दट्टेसु वि भावो इमस्स पाय निरणुबधो ॥१६॥

(इति ध्यानद्वारम ।)

गणओ तिन्नेव गणा जहन्नपडिवत्ति सयस उक्कोसा । उक्कोसजहन्नेण सयसुच्चिय पुव्वपडिवन्ना ॥१७॥
सत्तावीस जहन्ना सहस्समुक्कोसओ य पडिवत्ती। सयसो सहस्ससो वा पडिवन्नजहन्नउक्कोसा ॥१८॥
पडिवज्जमाणभइया इक्को वि य हुज्ज ऊण पक्खेवे । पुव्वपडिवन्नया वि य भइया एक्को पुहुत्ता वा ॥१९॥

(इति गणद्वारम्)

दव्वाई य अभिग्गह विचित्तरूवा न हुंति पुण केइ। एयस्स जाव कप्पो कप्पुच्चियमभिग्गहो तेण ॥२०॥
एयम्मि गोयराई नियया नियमेण निरववाया य। तप्पालण चिय पर एयस्स विसुद्धिठाणं तु ॥२१॥

(इत्यभिग्रहद्वारम्)

पव्वावेइ ण एसो अण्ण कप्पट्ठिओ त्ति काऊण। आणाउ तह पयट्टो चरमाणसणिव्व णिरविक्खो ॥२२॥
उवएस पुण विअरइ धुवपव्वाव विआणिउ कंचि। तपि जहाऽऽसणेण गुणओ ण दिसाइविक्खाए ॥२३॥

(इति प्रव्रज्याद्वारम्)

मुंडावणा वि एव विण्णेआ एत्थ चोअगो आह। पव्वज्जाणंतरमो णियमा एस त्ति कीस पुढो ॥२३॥
गुरुराहेह ण णियमो पव्वइअस्स वि इमीएँ पडिसेहो। अजोगस्साइसई होइ जओ अओ पुढो दार ॥२४॥

(इति मुण्डापनद्वारम्)

आवण्णस्स मणेणऽवि अइआर निअमओ अ सुहुम पि। पच्छित्त चउगुरुगा एव्वजहण्ण तु णेअव्व ॥२५॥
जम्हा उत्तरकप्पो एसोऽभत्तट्ठमाइसरिसो उ। एगग्गयापहाणो तब्भगे गुरुअरो दोसो ॥२६॥

(इति प्रायश्चित्तविधिद्वारम्)

कारणमालंबणमो त पुण नाणाइय सुपरिसुद्ध। एअस्स त न विज्जइ उचियं तवसाहणापाय ॥२७॥
सव्वत्थ य निरविक्खो आढविय सदढ णतो। वट्टइ एस महप्पा किलिट्ठकम्मक्खयनिमित्त ॥२८॥

(इति कारणद्वारम्)

निप्पडिकम्मसरीरो अच्छिमलाई वि नावणेइ सया। पाणतिए वि य तहा वसणम्मि न वट्टए बीए ॥२९॥
अप्पबहुत्ताए लोयणविसयाईओ उ होइ एसो त्ति। अहवा सुहभावाओ बहुग पेय चिय इमस्स ॥३०॥

(इति निष्प्रतिक्रमणद्वारम्)

तइयाएँ पोरिसीए भिक्ख लो विह लो उ। सेसासु य उस्सग्गो पाय अप्पा य निद्दा वि ॥३१॥
जघाबलम्मि खीणे अविहरमाणो वि न बी वज्जे। तत्थेव अहाकप्प गुणइ उ जोग महाभागो ॥३२॥

(इति भिक्षाद्वारम्)

विशेषार्थिना **श्रीबृहत्कल्पसूत्रवृत्तिरवलो ीया।**

इत्वराणा परिहारविशुद्धिकानामुपसर्गवेदनादयो न प्रादुःषन्ति, यावत्कथिकानां पुनः संभवन्त्यपि, जिनकल्पिकानां प्रवचन उप ादिविधानात्। यदुक्तं **बृहत्कल्पसूत्रे**–

"इत्तरियाणुवसग्गा आतंका वेयणा य न भवंति। आवकहियाण भइया तहेव छग्गामभागा उ ॥१॥" इति।

यद्वा यः परिहारतो मासिक चतुर्लघ्वादि तपश्चरति, तस्य पारिहारिकचारित्रलब्धिर्भवति, यदुक्त **व्याख्याप्रज्ञ त्तिकारैः**–"परिहारतो मासिक चतुर्लघ्वादि तपश्चरति, तस्य परिहारकचरित्रलब्धिर्भवतीति।" इति।

अमो छेदोपस्थानसंयमाभावेऽपि जीवस्य परिहारविशुद्धिकसंयमः संभाव्यते, **नन्द्यादिसूत्रवृत्तौ** सामायिकपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातसंयतानां मुक्तिलाभप्रतिपादनात्, तथा चाऽत्र **नन्दिसूत्रवृत्तिः**–"चारित्रद्वारे तद्भवा ऽनुभूतपूर्वचरणापेक्षया तु केचित्सामायिकपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रिण।" इति।

इद परिहारतपो यथा स्यात्, तथोच्यते–यः स्वगणवर्ती परगणाद्वा संपरिचितः प्रायश्चितायाऽऽगच्छति, तस्मा आचार्यो न पृच्छति परिचितत्वात्। यः पुनरपरिचितः परगणादायाति,

तस्मा आचार्यः पृच्छति परिहारतपोयोग्यतार्थम् । तद्यथा–कस्त्वं गीतार्थो वाऽ-गीतार्थो वा ? प्रायश्चित्तस्थानप्राप्तो ब्रूते--गीतार्थोऽहम् । ततः पुनराचार्यः पृच्छति–कस्त्वम् , आचार्यो वा ? उपाध्यायो वा ? वृषभो वा ? अन्यतरस्मिन् कथिते भूय आचार्यः पृच्छति–किं तपो वोढुमुत्महते ? तपोवहनसामर्थ्ये कथिते पुनर्गुरुः पृच्छति–किं स्थिरो वाऽस्थिरो वा ? स्थिरो नाम धृतिसंहननबलमंयुक्तः, यद्वा दर्शने प्रव्रज्यायां चाऽचलः । तद्विपरीतो–ऽस्थिरः । स प्रतिभापते–अहं स्थिरः, ततः पुनः पृच्छति–किं त्वया कर्कशतपोभिः कृतोऽभ्यासो न वा, यदि स भणति–कृतोऽभ्यास इति, तदा तस्मै परिहारतपो दीयते ।

यदुक्तं **व्यवहारसूत्रे**—

"सगणम्मि नत्थि पुच्छा अन्नगणा आगत तु ज जाणे । अण्णाय पुण पुच्छे परिहारतवस्स जोगट्ठा ॥१॥ गीयमगीतो गीतो अह ति कि वत्थु कासवसि (कस्स तवस्स) जोग्गो । अविगीए त्ति व भणिते थिरमथिर तवे कयजोग्गो ॥२॥" इनि

यस्मै परिहारतपो दीयते, म जघन्यतोऽपि नवमपूर्वसत्काचारसञ्ज्ञकतृतीयवस्तुन्यधीती । उत्कृष्टतोऽधीतदेशोनदशपूर्वो भवेत् । मम्पूर्णदशपूर्वधराय तु परिहारतपो न दीयते, यदुक्त **निशीथसूत्रे**–"णवमस्स ततियवत्थु , जहण्णउक्कोसऊण ग दसओ ।" इति । तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल भावभेदतोऽभिग्राहिणे रत्नावलि कनकावलि-मुक्तावलि–सिंहविक्रीडितादितपस्तप्ताय च परिहारतपो दीयते । यदुक्त **व्यवहारसूत्रे**–"सुत्तत्थाणि अभिग्गहदव्वादि तवो रयणमादि ॥ एवं **निशीथसूत्रे**ऽपि ।

परिहारतपोदानात् प्राग् आदौ कायोत्सर्गः क्रियते । कथम् ? इति चेत्, उच्यते–गुरुः पूर्वाभिमुख उत्तरदिशाऽभिमुखो वा चरन्तीदिगभिमुखो वा चैत्यानां वाऽभिमुखो भवति । एवं परिहारतपोयोग्योऽपि, नवर गुरोर्वामपार्श्वे ईषत्पृष्ठतो भवति । तत उभावपि भणतः "परिहारतववज्जणट्ठा करेमि काउसग्ग निरुवसग्गवत्तिआए सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए जाव वोसिरामि ।" इति । पञ्चविंशत्युच्छ्वासकालं शुभमध्यवस्यतः, यद्वा चतुर्विंशतिस्तव चिन्तयतः, ततो न रेण पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवमुच्चैर्भणतः ।

ननु कायोत्मर्गः ि र्थं क्रियते ? इति चेत् , उच्यते-साधूना परिज्ञानार्थम् । अथवा निरुपमर्गं परिहारतपः समाप्तिं यायादित्येवमथम् । यद्वा अन्यसाधूनां भयजननार्थं कायोत्सर्गः क्रियते, तद्यथा–अमुके दोषे सेविते गुरुः परिहारतपो दास्यत इति तादृशदोषो न सेवनीयः, यत्नतश्च रक्षणीयः ।

वक्ष्यमाणस्वरूपे कल्पस्थितेऽनुपारिहारिके च स्थापिते सति स पारिहारिकः कदाचिद्भीतो भवेत्–कथमहमालापनादिपरिवर्जितः सन्नुग्रं तपः करिष्यामीति, यतो गुरुरालापादिकं निषेत्स्यति । तस्माद् बिभ्यतस्तस्य भयाऽपहारः कर्तव्यः । यथा कस्मैचिद् राजा रुष्टः, ततः स भीतो–नूनमह मारयिष्ये राज्ञा । ततः सो–ऽन्यैराश्वास्यते–मा बिभस्त्वम् , वयं राजानं विज्ञा-

पयिष्यामः । न च राजाऽपन्यायं करोतीति, एवं पारिहारिकोऽप्याश्वासनीयः । तद्यथा–मा बिभेहि, अहं तव कल्पस्थितोऽस्मि । एष तवाऽनुपारिहारिकः, तपसा क्लान्तस्याऽसमर्थस्य तव साहाय्यं करिष्यतीत्यादिनाऽऽश्वास्यः, ततः स्वस्थं जातं तं तपसः प्रतिपत्तिं कारयति गुरुः ।

कायोत्सर्गकरणानन्तर तस्य परिहारतपः प्रतिपद्यमानस्य गुरोश्चा–ऽनुकूले शुभे तिथिकरण-मुहूर्तादिके शुभे ताराबले शुभे च चन्द्रबले परिहारतपो दीयते । उक्तं च **व्यवहारसूत्रे**—

'विउसग्गो जाणणट्ठा ठवणा तीरसु दोसु ठविएसु । अगडे नदीयरायादिट्टतो भीय आसत्थे ॥१॥

निरुवसग्ग निमित्त भयजणगट्ठाए सेसगाण च । तस्सप्पणो य गुरूणो य साहूए होइ पडिवत्ती॥२॥" इति ।

कायोत्सर्गकरणा–ऽनन्तरं पारिहारिकं गुरुर्ब्रूते–यावत् तव परिहारकल्पस्तावदहं तव कल्प-स्थितः, वन्दनवाचनादिषु कल्पभावे स्थितो, न तु परिहार्यः, शेषाः साधवः परिहार्याः । यद्वा एष साधुर्गीतार्थो दृढसंहननः पूर्वकृतपरिहारत्वेन सकलसामाचारीज्ञायकस्तवाऽनुपरिहारी । यत्र यत्र भिक्षादिनिमित्तं परिहारी गच्छति, तत्र तत्र अनु=पश्चात् पृष्टतो लग्नः सन् गच्छतीत्यनुपरिहारी भण्यते । यद्वा परिहारिणः अणु=स्तोकं प्रतिलेखनादिषु साहाय्य करोतीत्यणुपरिहारी । यदुक्तं **निशीथसूत्रे**—"कप्पट्ठिओ अह ते अणुपरिहारी य एस ते गीतो । पुव्वि कयपरिहारो तस्स–ऽसयियरो वि दढदेहो ॥१॥" इति । एवं **व्यवहारसूत्रे**–ऽपि ।

ततः समस्तगच्छमामन्त्र्य ब्रूत आचार्यः–एष साधुः परिहारतपः प्रतिपद्यते । असौ न किञ्चिदालापयिष्यति, यूयमपि मा एनमालापयिष्यथ । तथा आत्मन एव केवलस्य अर्थं=भक्तादि-लक्षण चिन्तयति, न पुनर्बालादीनामित्यात्मचिन्तकः, यद्वा आत्मार्थः–अतीचारमलीनस्या-ऽऽत्मनो यथोक्तेन प्रायश्चित्तविधिना निरतिचारकरणं=विशोधनम् , तं चिन्तयतीत्यात्मचिन्तकः, तस्य भवद्भिर्व्याघातो न कर्तव्यः ।

दशधा वर्ज्यते पारिहारिकः । तद्यथा–(१) एष परिहारतपः प्रतिपन्नो न किञ्चिदाला-पयिष्यति, युष्माभिरेष नालापयितव्यः । (२) सूत्रमर्थमन्यद्वा किञ्चिदेष न युष्मान् प्रक्ष्यति, युष्माभिरेष सूत्रादीनि न प्रष्टव्यानि । (३) युष्माभिः सह नैष सूत्रमर्थं वा परिवर्तयिष्यति, नापि युष्माभिरेनेन सह सूत्रादिक परिवर्तनीयम् । (४) कालवेलादिषु युष्मान्नोत्थापयिष्यति, युष्माभि-रप्येष नोत्थापयितव्यः । (५) न युष्माकं वन्दनं करिष्यति, नाऽपि युष्माभिर्वन्दनीय एषः । (६) उच्चार-प्रस्रवण-खेल-मात्रकाण्येष युष्मभ्य न दास्यति, नापि युष्माभिरेनस्मै दातव्यानि । (७) न किञ्चिदप्युपकरणं प्रतिलेखयिष्यत्येष, नाऽपि युष्माभिरुपकरणमेतस्य प्रतिलेखनीयम् । (८) नैष युष्माकं सङ्घाटकभाव यास्यति, न च युष्माभिरेतस्य सङ्घाटकैर्भवितव्यम् । (९) नैष भक्तं पानं वाऽऽनीय युष्मभ्य दास्यति, न च युष्माभिरानीयैतस्मै दातव्यम् । (१०) नाऽयं युष्माभिः सह भोक्ष्यते, नाऽपि युष्माभिरेतेन सह भोक्तव्यमिति दशभिः पदैर्गच्छ वर्जयत्येषः, गच्छेन च दशभिः पदैर्वर्जनीय एष इति । उक्तं च श्री**निशीथसूत्रे**—

"एस तव पडिवज्जति, न किंचि आलवति मा आलवह । अतट्ठचिंतगस्स वा घातो भे न कायव्वो ॥१॥
आलावणपडिपुच्छणपरियट्टट्ठाणवंदणगमुत्ते । पडिलेहणसंघाडगभत्तदाणसंभुंजणा चेव ॥२॥" इति ।

यदि पारिहारिको वन्दनकं गुरवे ददाति,तदा गुरुः प्रतीच्छति, एवमालोचनमपि प्रतीच्छति । प्रत्युषस्यपराह्णे च परिज्ञां=प्रत्याख्यानं तस्मै प्रयच्छति गुरुः । यदि सूत्रार्थौ पृच्छति पारिहारिकः, गुरुस्तस्मै प्रत्युत्तरं ददाति । पारिहारिक आगच्छन्तं गुरुं निरीक्ष्य विनयेनोपतिष्ठते । उदन्तं=शरीरवार्तामपि गुरुणा पृष्टः पारिहारिकः कथयति । उक्तं च **निशीथसूत्रे—**

किंतिकम्मं तु पडिच्छति परिण्णपडिपुच्छणं पि से देति । सो वि य गुरुमुवचिट्ठति उदन्तमवि पुच्छितो कहए ॥१॥" इति । तपो वहंश्च क्लमं गतो वीर्याचारमनिगूहन् यद्युत्थातुं न शक्नोति पारिहारिकः, ततो ब्रूते उत्तिष्ठासुरस्मीति । तदनन्तरं कुपितप्रियबान्धव इव तूष्णीको-ऽनुपारिहारिकः समागत्योत्थापयेत् । यदि निषदनं कर्तुमसमर्थो भवति, ततो वक्ति -निषिषत्सुरस्मीति । तदनन्तरं सत्वरमनुपारिहारिक आगत्य निषादयेत् । यदि भिक्षा गतः सन् ग्रहीतुं न शक्नोति, तदा भिक्षाग्रहणादिकं सर्वमनुपारिहारिकः करोति । अथ पारिहारिको भणति—भिक्षामेव हिण्डितुमसमर्थ इति, तदा-ऽनुपारिहारिकः केवलो भिक्षां हिण्डेत् ,एवं भण्डकप्रत्युपेक्षणे-ऽपि साहाय्यं करोति । समस्तं वा भाण्डकं प्रत्युपेक्षते । यदुक्तं **निशीथसूत्रे—**

"उट्ठेज्ज णिसीएज्जा भिक्ख हिण्डेज्ज भंडग सोहे । कुवियपियबंधवस्स व करेइ इतरो वि तुसिणीओ ॥१॥"इति ।

विशेषार्थिना तु **निशीथचूर्णिर्व्यवहारसूत्रवृत्तिर्वा**-ऽवलोकनीया ।

सम्परैति=पर्यटति संसारमनेनेति सम्परायः, सम्परापूर्वकाद् इधातोर्घञ् प्रत्ययः, क्रोधादिकषाय इत्यर्थः । **उक्तं च**—"कोहाइसंपराओ तेण जुओ संपरीति संसारं ॥" इति । सूक्ष्मः=किट्टिकृतः सम्परायः = संज्वलनलोभ उदयरूपेण यत्र चारित्रे,तत् सूक्ष्मसम्परायम् । तच्च द्वेधा, संक्लिश्यमानकविशुद्ध्यमानकभेदात् । तत्र श्रेणितोऽवरोहतः संक्लिश्यमानकमारोहतस्तु विशुद्ध्यमानकम् ।

अथाख्यातम् , अथ शब्दोऽत्र याथातथ्ये, आङ् अभिविधौ, यदुक्तं **विशेषावश्यकभाष्ये**—"अहसद्दो जाहत्थे आडोऽभिविहीए कहियमक्खायं ।" इति । अथ=यथातथ्येन आ=समन्तात् ख्यातम् अथाख्यातम् ,यद्वा कषायोदयाभावतो निरतिचारत्वात् पारमार्थिकरूपेण ख्यातमथाख्यातम् । यद्वा अथशब्दो यथार्थे, यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातम्, अथाख्यातम्, तच्च चारित्रञ्च अथाख्यातचारित्रम् ।

सामायिकादिचारित्राणां संयमस्थानानि, तेषां च तीव्रमन्दता**ऽस्मत्कृतोपशमनाकरणटीकायां** विस्तरतः प्रतिपादितानि, विशेषार्थिना ततः परिज्ञेयानि ।

अथ संयमस्यैकदेशभूतं प्रतिपक्षभूतं च मार्गणास्थानं दर्शयितुकामः प्राह—**'देश०'**त्ति, 'देशा ऽयते' पदैकदेशे पदसमुदायस्योपचाराद् देशयतमयतं च । तत्र यमनं यतम् 'क्लिबे"

(सिद्धहेम० ५-३-१०२) इत्यनेन भावे क्तप्रत्ययः, देशे=निरपराधत्रसवधविषये यतं=संयम इति देशयतम्, देशसंयम इत्यर्थः। न यतम्=संयम इत्ययतम्, असंयम इत्यर्थः। पर्यायस्य पर्यायितः पृथग् अनुपलम्भात् पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिद् भेदाभेदविवक्षया देशयतोऽविरतश्चेति व्याख्येयम्, यद्वा देशे=निरपराधत्रसवधविषये यतं=संयमो यस्य, स देशयतः, देशसयत इत्यर्थः; न विद्यते यतं=विरतं=विरतिर्यस्य, सोऽयतः, सर्वथा विरतिहीन इत्यर्थः। देशसंयत एकाद्यणुव्रतादिः, उत्कृष्टतोऽनुमतिमात्रप्रतिसेवको भवति। देशसंयतस्य विशेषोधिस्थानादीनि **कर्मप्रकृतिग्रन्थेऽस्मत्कृतोपशमनकरणटीकातो** विशेषार्थिनाऽवगन्तव्यानि।

अथ दर्शनमार्गणायाश्चतुरो भेदान् स्फुटयति-'णयणियर०' त्ति, 'नयनेतरा-ऽवधिकेवलदर्शनानि' दर्शनशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ततश्चा-ऽयमर्थः-नयनदर्शनम्=चक्षुर्दर्शनम्, इतरदर्शनम्=अचक्षुर्दर्शनम् अवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति। चक्षुषा=लोचनेन दर्शनं=सामान्यधर्मावबोधलक्षणं चक्षुर्दर्शनम्। अचक्षुर्भिः=चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियैर्दर्शनं=सामान्यधर्मा-ऽवबोधलक्षणम् अचक्षुर्दर्शनम्। यदुक्तं **तत्त्वार्थवृत्तौ**-"चक्षुर्दर्शनमित्यादि-चक्षुषा दर्शनं=उपलब्धिस्सामान्यार्थग्रहणं स्कन्धावारोपयोगवत्तद्दहर्जातदारकनयनोपलब्धिवद्वा व्युत्पन्नस्यापि, अचक्षुर्दर्शनं=शेषेन्द्रियैः श्रोत्रादिभिः सामान्यार्थग्रहणम्" इति।

ननु मतिज्ञानस्याष्टाविंशतिभेदेष्वर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहेहानामनाकारत्वेना-ऽर्थावग्रहमिहां चाश्रित्य द्वादशभेदैर्व्यञ्जनावग्रहं च प्रतीत्य चतुर्भेदैश्चक्षुर्दर्शनस्य षोडशविधत्वं मतिज्ञानभेदत्वेन समस्ति, किमन्यद् नाम चक्षुर्दर्शनम्? इति चेत्, उच्यते-अविवक्षयित्वा मतिज्ञानचक्षुरादिदर्शनयोर्भेदं मतिज्ञानमष्टाविंशतिविधमुच्यत इति प्राहुः सिद्धान्तपरिकर्मितमतयः सुधियः, यदुक्तं **व्याख्याप्रज्ञप्तिटीकायाम्**-"ननु अष्टाविंशतिभेदमानमाभिनिबोधिकज्ञानमुच्यते, यदाह अभिणिबोहियनाणे अट्ठावीसं हवंति पयडीओ" त्ति। इह च व्याख्याने श्रोत्रादिभेदेन षड्भेदतया अपायधारणयोर्द्वादशविधं मतिज्ञानं प्राप्तम्, तथा श्रोत्रादिभेदेनैव षड्भेदतया अर्थावग्रहेहयोर्व्यञ्जनावग्रहस्य च चतुर्विधतया षोडशविधं चक्षुरादिदर्शनमिति प्राप्तम् इति कथं न विरोधः? किन्तु सत्यमेतत्। अविवक्षयित्वा मतिज्ञानचक्षुरादिदर्शनयोर्भेदं मतिज्ञानं अष्टाविंशतिधोच्यते इति पूज्या व्याचक्षते।

अवधिना=रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनम्=सामान्यबोधलक्षणम् अवधिदर्शनम्।

★ **कार्मग्रन्थिकाः** विभङ्गज्ञानिनामवधिदर्शनं ना-ऽभ्युपगच्छन्ति, यदुक्तं **श्रीमच्छिवशर्मसूरिपादैर्बन्धशतके** "दोण्ह पञ्च" इति, मिथ्यात्वसास्वादनगुणस्थानकयोर्मत्यज्ञाना-ऽश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनलक्षणोपयोगपञ्चकमित्यक्षरार्थः। एवं **तत्त्वार्थवृत्तिकृता**ऽप्युक्तम्-

★ एवं षट्खण्डागमकारा अपि विभङ्गज्ञानिनामवधिदर्शनं न स्वीकुर्वन्ति, अवधिदर्शनमार्गणायां अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतिक्षीणकषायवीतरागछद्मस्थपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु प्रतिपादनात्। अक्षराणि त्वेवम् "ओधिदंसणी असंजयसम्माइट्ठि पहुडि जाव खीणकसायवीयराय-छदमत्था त्ति।"

'अवधिदृगावरणक्षयोपशमाद्विशेषग्रहणविमुखमवधिदर्शनमित्युच्यते, नियमतस्तु तत्सम्यग्दृष्टिस्वामिकम्।" इति । प्रकृतग्रन्थेऽपि विभङ्गज्ञानिनामवधिदर्शनं न स्वीकृतम् । **सैद्धान्तिकास्तु** विभङ्गज्ञानिनामप्यवधिदर्शनं स्वीकुर्वन्ति । न चोभयेषां मिथो विरोधः कथं नेति वाच्यम्, विवक्षाभेदात् । तथाहि–यद्यपि साकाराऽनाकारभेदेन विभङ्गज्ञानमवधिदर्शनात्पृथगस्ति, तथापि मिथ्यारूपेण विभङ्गाद् न सम्यग्वस्तुनिश्चयः, अनाकाररूपत्वेन चाऽवधिदर्शनादपि न सम्यक्पदार्थपरिच्छेदः । ततः किं पृथग् विवक्षितेनेति **कार्मग्रन्थिकानाम**भिप्रायः । **सैद्धान्तिका**स्त्ववधिदर्शनस्याऽनाकारत्वेन विभङ्गतः पृथक् विवक्षयन्ति । यदुक्तं **विशेषणवत्यां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः–**

"सुत्ते विब्भगस्स वि परूविय ओहिदसणं बहुसो । कीस पुणो पडिसिद्ध कम्मप्पयडीपगरणमि ॥१॥
विब्भगे वि दरिसण सामण्णविसेसविसयओ सुत्ते । त चऽविसिट्ठमणागारमेत्त तोऽवहिविभगाण ॥२॥
कम्मप्पयडिमय पुण सागारेयरविसेसभावम्मि । न विभगनाणदसणविसेसणमणिच्छितत्तणओ ॥३॥" इति

केवलेन=सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण दर्शनं=वस्तुसामान्यांशग्रहणं केवलदर्शनम्, भूतभवद्भाविवस्तुसामान्यांशग्राहकं केवलदर्शनमित्यर्थः ।

छद्मस्थानामादौ दर्शनम्, ततो ज्ञानम्, "दर्शनपूर्वं ज्ञानमिति छद्मस्थोपयोगदशाया प्रसिद्धम्, सामान्यमुपलभ्य हि पश्चात् सर्वो विशेषमुपलभ्यते" इति वचनप्रामाण्यात् ।

"केवली ण भते इम रयणप्पभ पुढविं आयारेहि पमाणेहिं हेऊहिं सठाणेहि परिवारेहि ज समय जाणइ णो त समय पासइ । हन्ता गोयमा ! केवलीण' इति **प्रज्ञापनासूत्रं** "सव्वस्स केवलिस्स वि जुगव दो नत्थि उवयोगा" इति **निर्युक्ति**वचनश्चालम्बमाना **जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादयः** केवलिनां क्रमेण केवलज्ञानोपयोगं केवलदर्शनोपयोग च मन्यन्ते, तत्राऽपि "सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स" इति वचनप्रामाण्याद् आदौ केवलज्ञानोपयोगः, ततः केवलदर्शनोपयोगः केवलिनाम् ।

श्रीमल्लवादिप्रभृतयस्तु केवलिना युगपत् केवलज्ञानोपयोगं केवलदर्शनोपयोगं च प्रतिपादयन्ति ।

महावादि**श्रीसिद्धसेनदिवाकराः** पुनर्यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमित्यभेदमभ्युपगच्छन्ति केवलज्ञान-केवलदर्शनयोः । यदुक्तम्–

"केइ भणति जुगव जाणइ पासइ य केवली नियमा । अण्णे एगतरिय इच्छन्ति सुओवएसेण॥१॥
अण्णे ण चेव वीसु दसणमिच्छति जिनवरिदस्स । ज चिय केवलणाणत चिय से दरिसण बिंति ॥२॥"इति ।

इह प्रथमगाथोक्तेन 'केचिदि'तिपदेन **श्रीमल्लवादिप्रभृतयः**, 'अन्ये'इतिपदेन **जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यादयः**, द्वितीयगाथोक्तेन 'अन्ये'इतिपदेन **श्रीसिद्धसेनदिवाकरप्रभृतयो** बोध्याः । यत्तु युगपदुपयोगवादित्व **सिद्धसेन** र्याणां **नन्दिसूत्रवृत्तौ** भणि-

तम्, तदभ्युपगमवादाभिप्रायेण, न तु स्वतन्त्रसिद्धान्ताभिप्रायेण, क्रमाक्रमोपयोगद्वयपर्यनुयोगानन्तर 'दंसणनाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वयरो । होज्ज व समओप्पाओ हंदि दुवे णत्थि उवओग ॥' इत्यादिगाथाभिः **सम्मतितर्के** अभेदपक्षस्योद्भावितत्वात् । तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति ।

अथ लेश्यादिमार्गणानामुत्तरभेदानाह—

किण्हा णीला काऊ असुहियरा तेउपम्हसुक्काओ ।
भविया ऽभविया सम्मं खाइयवेअगउवसमा य ॥३७॥
सासायणं च मीसं मिच्छं सण्णी तह असण्णी ।
आहाराणाहारा इइ उत्तरमग्गणा णेया ॥३८॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) 'किण्हा' इत्यादि, 'कृष्णा' कृष्णलेश्या 'नीला' नीललेश्या 'कापोता' कापोतलेश्या च । अथाद्यलेश्यात्रयस्याऽशुभत्वं दर्शयति–'असुह०' त्ति, "लुक्" (सिद्धहेम० ८-१-१०१) इत्यनेन प्राकृतलक्षणेन इकारे परे आकारो लुप्तः, विश्लेषे पुनः प्राप्तः 'असुहा' त्ति 'अशुभाः' अशुभपरिणामाः, आद्यास्तिस्रो लेश्याः, आत्मपरिणामस्याऽशुद्धिकारणत्वात्, प्रातिलोम्येन अशुभा-ऽशुभतराऽशुभतमा च भवन्तीत्यर्थः । इयराः=शुभाः=शुभपरिणामाः । काः ? इत्याह–'**तेउपम्हसुक्काओ**' त्ति, प्रक्रमाद् लेश्याशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्चाऽयमर्थः–तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चाऽऽनुलोम्येन शुभा शुभतरा शुभतमा च ।

इय षट्प्रकारा लेश्या जम्बूफलखादकपुरुषषट्कदृष्टान्ताद् ग्रामघातकचौरपुरुषषट्कदृष्टान्ताद्वा प्रवचनप्रसिद्धादवसेया ।

कृष्णादिलेश्याः प्रत्येकं द्विधा द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यलेश्या कृष्णादिद्रव्यमात्रम्, भावलेश्या पुनः कृष्णादिद्रव्यसाचिव्याद् य आत्मपरिणामविशेषः प्रागुक्तः, स मिथ्यात्वाऽसंयमकषायानुरक्तयोगप्रवृत्तिरूपो बोध्यः । न चैवं व्याख्यातायां भावलेश्यायां "लेश्या योगपरिणामः" इत्यावश्यकचूर्णिकारादिभिः "योगपरिणामश्च लेश्या" इत्यादि च [illegible]**पनावृत्तिकृद्भिः श्रीहरिभद्रसूरीश्वरैर्यदुक्तम्**, तन्नोपपद्येतेति वाच्यम्, मिथ्यात्वादीनां विशेषणत्वेन गौणत्वाद् योगपरिणामस्य च विशेष्यत्वेन प्राधान्यात् तस्य केवलस्याऽपि लेश्यात्वोपपत्तेः, तदुक्तं **शतकचूर्णिटिप्पनकारपूज्यमुनिचन्द्रसूरिभिः**—* भावलेश्या पुनर्द्रव्यलेश्याजनितो जीवपरिणामो मिथ्यात्वासंयमकषायानुरक्तयोगप्रवृत्तिरूपः कर्मपुद्गलादानहेतुः । एवं च योगपरिणामो लेश्या इत्यपि सूक्तमुक्तं योगपरिणामस्य प्राधान्येन लेश्यात्वात् मिथ्यात्वादीनां विशेषणत्वेन अप्रधानत्वात् तदभावेऽपि क्वचित् केवलस्यैव तस्य लेश्यात्वाभिधानात्, शुक्ललेश्यः सयोगिकेवलीति वचनप्रामाण्यादिति ।"

---

* धवलाकारैरप्युक्तम्–"मिच्छत्तासंजमकसायजोगजणिदो जीवससंकारो भावलेस्सा णाम" इति ।

तत्र कृष्णवर्णद्रव्यसाचिव्यात् जातो–ऽशुभा–ऽऽत्मपरिणामः कृष्णलेश्या। नीलवर्णद्रव्यसाचिव्याज्जात आत्मपरिणामो नीललेश्या, कपोतः=पारापतः पक्षिविशेषः, स एव कापोतः, तस्य वर्णेन तुल्यानि द्रव्याणि धूम्राणीत्यर्थः, तत्साहाय्याज्जात आत्मपरिणामः कापोतलेश्या। तेजः=अग्निज्वाला, तद्वर्णानि द्रव्याणि लोहितानीत्यर्थः, तत्साचिव्याज्जात आत्मपरिणामस्तेजोलेश्या, सा च शुभस्वभावा। पद्मगर्भवर्णानि द्रव्याणि पीतानीत्यर्थः, तत्साचिव्याज्जात आत्मपरिणामः पद्मलेश्या, सा च शुभतरा। शुक्लवर्णद्रव्यसाचिव्याज्जात आत्मपरिणामः शुक्ललेश्या, सा चाऽत्यन्तशुभेति।

इह द्रव्यलेश्यायाः कृष्णादिद्रव्यरूपत्वेऽपि सप्तमपृथिव्यां सम्यक्त्वप्राप्तिर्न विरुध्यते। एतदुक्तं भवति–शुभलेश्यात्रय एव सम्यक्त्वप्राप्तिर्भवतीति सिद्धान्तः, यदुक्तं **विशेषावश्यकभाष्ये**— "सम्मत्तस्स उ तिसु उवरिमासु पडिवज्जमाणओ होइ। पुव्वपडिवन्नओ पुण अण्णयरीए उ लेसाए ॥१॥" इति। सप्तमपृथिवीनारकाणां तूपरितन्यस्तेजोलेश्याप्रभृतयो न भवन्ति, तेषां कृष्णलेश्याया एव भावात्। ततः सप्तमाऽवनिनारकाणां सम्यक्त्वलाभः कथं स्यादिति कस्यचिदारेका। तं प्रतीत्थं समाधेयम्--कृष्णादिद्रव्यैर्य आत्मपरिणामः, स मुख्यवृत्त्या लेश्याशब्देनोच्यते। गौणवृत्त्या तु कारणे कार्योपचारात् कृष्णादिद्रव्याण्यपि लेश्याशब्देन व्यवह्रियन्ते, तानि च लेश्याद्रव्याणि सर्वदा देवनारकाणामवस्थितानि। **यदुक्तम्**–"सुरनारयाण ताओ अवट्ठिआ ×××" इति। देवनारकाणां तत्तल्लेश्याद्रव्याणि कृष्णादिरूपाणि शरीरनामकर्मद्रव्याणि सर्वदैवाऽवस्थितोदयानि भवन्तीत्यर्थः। देवनारकाणामेतानि कृष्णादिलेश्याद्रव्याणि लेश्यान्तरद्रव्याणि प्राप्य तदाकारभावेन तत्प्रतिबिम्बमात्रेण वा परिणमन्ति, तदा जीवस्य कृष्णादिद्रव्यसाचिव्येऽप्यागन्तुकलेश्याद्रव्यसाचिव्य इव शुभः परिणामो जायते, वैडूर्यमणिषु कृष्णादिसूत्रे प्रोते वैडूर्यमणेरस्पष्टकिञ्चित्तदाकारभाववद् जपाकुसुमोपरक्तस्फटिकस्य वा रक्ततावद्। न च कृष्णादिलेश्याद्रव्याण्यागन्तुकलेश्याद्रव्यसम्पर्के स्वस्वरूपं जहाति, किन्तु तदाकारभावमात्रं तत्प्रतिबिम्बता वा भजन्ति, न पुनस्तद्रूपताम्। न चैवमेककाले लेश्याद्रव्यद्वयसम्पर्के सति परस्परं विरुद्धपरिणामः स्यादिति वाच्यम्, अवस्थितकृष्णादिलेश्याद्रव्याणां सामर्थ्यप्रतिघातादागन्तुकलेश्यान्तरद्रव्यजन्यस्यैकस्यैव परिणामस्य भावात्। न च तथापि तदानीमागन्तुकलेश्यान्तरद्रव्यजन्यपरिणामोपलम्भाद् आगन्तुकद्रव्यलेश्या स्यादिति वाच्यम्, आगन्तुकद्रव्यलेश्याकालेऽप्यवस्थितलेश्याद्रव्याणि तदाकारमात्रमेव भजन्ति, न पुनः स्वस्वरूपं परित्यज्य रूपान्तरं प्रतिपद्यन्ते, येन तेषामवस्थितता विरुध्येत। एवं सप्तमपृथ्वीनारकेऽवस्थितकृष्णादिद्रव्याणि तेजोद्रव्याणि सम्प्राप्य तदाकारमात्रेण तत्प्रतिबिम्बमात्रेण वा युज्यन्ते। न चैतत्स्वमनीषिकया विजृम्भितम्, यदुक्तं **श्यामार्यश्यामपादैः**–"किण्णलेसा णं भंते! तेउलेसं पप्प नो तारूवत्ताए नो तावण्णत्ताए नो तागंधत्ताए णो तारसत्ताए नो ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, हंता गोयमा! किण्हलेसा तेउलेसं पप्प नो तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ।

से केणट्ठे ण भंते ! एव वुच्चइ ? किण्हलेसा तेउलेस पप्प नो तारूवत्ताए जाव परिणमइ। गोयमा ! आगारभावमायाए से सिया पलिभागमायाए वा सिया किण्हलेसा णं सा, नो खलु सा तेउलेसा तत्थ गया उस्सक्कइ।" इति। एवं सप्तमपृथिवीनारकस्य कृष्णलेश्याया अवस्थितत्वेऽपि तेजोद्रव्याणां सन्निधाने तदाकारमात्रभजनात् तत्प्रतिबिम्बमात्रप्रतिपत्तितो वा साक्षात् तेजोलेश्याद्रव्यसाचिव्य इव शुभपरिणामलाभेन सम्यक्त्वप्राप्तिर्न विरुध्यते। भावलेश्यापरावृत्तिस्तु भवत्येव नारकाणाम्, यदुक्तमुत्तराध्ययनसूत्रे–"भावपरावत्तीए पुण छ लेसाओ हवंति सव्वेसिं।" इति। एवं च तेजोलेश्याकस्य सङ्गमस्य त्रिभुवनगुरोरुपसर्गकारिणो भावकृष्णलेश्या न विरुध्यते।

"भावलेसं पडुच्च××××पडिवज्जमाणयं पडुच्च समत्तसुनाइ सव्वासु" इत्यावश्यकचूर्णिकारवचनाद् मतान्तरेण नारकाणां भावकृष्णादिलेश्यास्वपि सम्यक्त्वप्रतिपत्तिः सम्भवति।

नरतिरश्चां तु भवसङ्क्रान्तौ शेषकाले च लेश्याद्रव्याण्यन्यलेश्याद्रव्योपधाने विशुद्धवस्त्रमिव मञ्जिष्ठादिरागयोगे सर्वथा स्वरूपत्यागात्तद्रूपतयैव परिणमन्ति। विशेषार्थिना प्रज्ञापनासूत्रमवलोकनीयम्, तत्र भगवदार्यश्यामैः परिणामादिभिः पञ्चदशद्वारैर्लेश्या प्रतिपादिता। इयं च तत्रत्या द्वारगाथा–

"परिणामवन्नरसगंधसुद्धअपसत्थसंकिलिट्ठुण्हा। गतिपरिणामपदेसोगाढवग्गणठाणाणमप्पबहु ॥१॥"इति।

केचित्तु द्रव्यलेश्यौदारिकादिशरीरवर्णरूपेत्याहुः, उक्तं च व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तौ श्रीमदभयदेवसूरिपादैः प्रथमशतके नवमोद्देशके–"द्रव्यत कृष्णलेश्या औदारिकादिशरीरवर्ण" इति। तथैवाऽन्यत्राऽप्यभिहितम्–"इह लेश्याशब्देन भावलेश्या ग्राह्या, बाह्यद्रव्यलेश्या तु वर्णद्वारेणैवोक्ता" इति। एवम् आवश्यकचूर्णावप्युक्तम्–"परिणाम लेस्सा, सा दुविहा–दव्वतो भावतो य, तत्थ वण्णादि णोद्रव्ये सश्लेष परिणता तेण सा दव्वलेसा।"卐 इति।

कृष्णादयो वर्णाः पञ्चाऽप्येकस्मिन् कृष्णादिद्रव्ये भवन्ति। अथ कृष्णादिलेश्याद्रव्येषु कियन्तः कृष्णगुणाः ? कियन्तो लोहितगुणाः ? कियन्तो नीलगुणाः ? कति हारिद्रगुणाः ? कियन्तः शुक्लगुणाः ? इति निश्चयार्थमल्पबहुत्वमुच्यते। गुणो भागः अंश इत्येकार्थाः।

तत्र कृष्णलेश्याद्रव्ये (१) शुक्लगुणाः स्तोका भवन्ति। (२) ततोऽनन्तगुणा हारिद्रगुणाः। (३) ततोऽनन्तगुणा लोहितगुणाः। (४) ततोऽनन्तगुणा नीलगुणाः। (५) ततोऽप्यनन्तगुणाः कृष्णगुणा भवन्ति, कृष्णस्य प्राधान्यात्।

卐 धवलाकारा अपि द्रव्यलेश्याकृष्णादिवर्णरूपा भवतीति मन्यन्ते, तथा च तद्ग्रन्थ – 'तव्वदिरित्तदव्वलेस्सा पोग्गलखधाण चक्खिदियगेज्झो वण्णो।" इति।

अथ नीललेश्याद्रव्ये (१) शुक्लगुणाः स्तोका भवन्ति, (२) ततो हारिद्रगुणा अनन्तगुणाः, (३) ततोऽनन्तगुणा लोहितगुणाः, (४) ततोऽनन्तगुणाः कृष्णगुणाः (५) ततोऽनन्तगुणा नीलगुणा भवन्ति, नीलस्य प्राधान्यात् ।

कापोतलेश्याद्रव्ये त्रयो विकल्पाः । तत्रायं प्रथमो विकल्पः-(१) सर्वस्तोकाः शुक्लगुणाः, (२) ततोऽनन्तगुणा हारिद्रगुणाः, (३) ततोऽनन्तगुणाः कृष्णगुणाः, (४) ततोऽनन्तगुणा लोहितगुणाः, (५) ततश्चानन्तगुणा नीलगुणा इति ।

अथ द्वितीयविकल्पः—(१) सर्वस्तोकाः शुक्लगुणाः (२) ततोऽनन्तगुणाः कृष्णगुणाः, ततोऽनन्तगुणा हारिद्रगुणाः, (४) ततोऽनन्तगुणा नीलगुणाः (५) ततश्चाऽनन्तगुणा लोहितगुणा इति ।

अथ तृतीय विकल्पः-(१) सर्वस्तोकाः कृष्णगुणाः (२) ततोऽनन्तगुणाः शुक्लगुणाः, (३) ततोऽनन्तगुणा नीलगुणाः (४) ततोऽनन्तगुणा हारिद्रगुणाः, (५) ततश्चाऽनन्तगुणा लोहितगुणा इति ।

तेजोलेश्याद्रव्ये (१) स्तोकाः कृष्णगुणाः, (२) ततोऽनन्तगुणा नीलगुणाः, (३) ततोऽनन्तगुणाः शुक्लगुणा (४) ततोऽनन्तगुणा हारिद्रगुणाः (५) ततोऽपि लोहितगुणा अनन्तगुणाः, तैजसस्य प्राधान्यात् ।

पद्मलेश्याद्रव्ये त्रयो विकल्पाः । तथाहि–प्रथमविकल्पस्तावदयम्–(१) सर्वस्तोकाः कृष्णगुणाः, (२) ततोऽनन्तगुणा नीलगुणाः, (३) ततोऽनन्तगुणाः शुक्लगुणाः, (४) ततोऽनन्तगुणा लोहितगुणाः । (५) ततोऽपि हारिद्रगुणा अनन्तगुणा इति ।

अथ द्वितीयविकल्पः-(१) कृष्णगुणाः सर्वस्तोकाः, (२) ततोऽनन्तगुणा नीलगुणाः, (३) ततो लोहितगुणा अनन्तगुणाः, (४) ततोऽनन्तगुणाः शुक्लगुणाः, (५) ततोऽपि हारिद्रगुणा अनन्तगुणा इति ।

एतर्हि तृतीयविकल्पः-(१) कृष्णगुणाः सर्वस्तोकाः, (२) ततो नीलगुणा अनन्तगुणाः, (३) ततो लोहितगुणा अनन्तगुणाः, (४) ततो हारिद्रगुणा अनन्तगुणाः, (५) ततोऽपि शुक्लगुणा अनन्तगुणा इति ।

शुक्ललेश्याद्रव्ये (१) कृष्णगुणाः सर्वाल्पाः, (२) ततो नीलगुणा अनन्तगुणाः, (३) ततो लोहितगुणा अनन्तगुणाः, (४) ततो हारिद्रगुणा अनन्तगुणाः, (५) ततोऽपि शुक्लगुणाः पद्मापेक्षया बृहत्तराऽनन्तगुणाः ।

भावलेश्याऽऽत्मपरिणामरूपा, तस्याः स्थानानि षट्स्थानपतितान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति, **यदुक्तम् उत्तराध्य सूत्रे**–

'असखेज्जाणोसप्पिणीण उसप्पिणीण जे समया । सखाईया लोगा लेसाण हुति ठाणाइ ॥१॥" इति ।

अथाऽल्पबहुत्वमुच्यते–कापोतलेश्याया लेश्यास्थानानि स्तोकानि, ततो नीललेश्याया असख्येयगुणानि भवन्ति, ततः कृष्णलेश्याया असख्येयगुणानि, ततस्तेजोलेश्याया असंख्येयगुणानि, ततः पद्मलेश्याया असख्येयगुणानि, ततोऽपि शुक्ललेश्याया असंख्येयगुणानि भवन्ति ।

अथ नरतिर्यगपेक्षया कृष्णादिलेश्यानां तीव्रमन्दतामाश्रित्याऽल्पबहुत्वमभिधीयते । कृष्णलेश्या-नीललेश्या कापोतलेश्यानां प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेषु लेश्यास्थानेषु यत् सर्वमन्दानुभागकं लेश्यास्थानं भवति, तद् जघन्यमित्युच्यते, यत्तु तीव्रानुभागकं भवति, तदुत्कृष्टमिति । तत्राऽप्यशुभालेश्यानामशुभानुभागकं शुभानां च शुभानुभागकं बोध्यम् । (१) कापोतलेश्यायाः जघन्यस्थानं स्तोकं भवति । (२) ततो नीललेश्याया जघन्यस्थानमनन्तगुण भवति, संक्लिष्टतरत्वात् (३)ततोऽपि कृष्णलेश्याया जघन्यस्थानमनन्तगुणं भवति, संक्लिष्टतमत्वात् , (४)ततस्तेजोलेश्याया जघन्यस्थानमनन्तगुण भवति (५)ततः पद्मलेश्याया जघन्यस्थानमनन्तगुणं भवति, विशुद्धतरत्वात् । (६) ततोऽपि शुक्ललेश्याया जघन्यस्थानमनन्तगुण भवति, विशुद्धतमत्वात् । (७) ततः कापोतलेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणं भवति । (८)ततो नीललेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणं भवति । (९) ततः कृष्णलेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणं भवति ।(१०) ततस्तेजोलेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणं भवति । (११) ततः प [illegible] श्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणं भवति ।(१२) ततोऽपि शुक्ललेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणं भवति ।

अथ लेश्यानां [illegible] उच्यते । इदमुक्तं भवति—कृष्णादिलेश्याकः क्लिश्यकत्वेन परिणमतीत्येतद् विस्तरेणाऽभिधीयते । इदं त्ववधेयम्—अशुभलेश्यायां वर्तमानः संक्लिष्टो भूत्वा षट्स्थानपतितवृद्धया स्वस्थाने=आत्मीयस्थाने संक्रामति, अथवाऽनन्तगुणवृद्धया तदनन्तराशुभतरायां लेश्याया संक्रामति, विशुद्धयमानः पुनः षट्स्थानपतितहान्या स्वस्थाने संक्रामति, अनन्तरशुभतरलेश्यायां च अनन्तगुणहान्या संक्रामति । शुभलेश्यायां वर्तमानः संक्लिष्टः सन् षट्स्थानपतितहान्या स्वस्थाने सक्रामति, अनन्तगुणहान्या तु स्वा ऽधस्तनलेश्यायां संक्रामति । विशुद्धयमानश्च षट्स्थानपतितवृद्धया स्वस्थाने संक्रामति, शु [illegible] रलेश्यायां त्वनन्तगुणवृद्धया संक्रामति, नवरं कृष्णलेश्याकः सक्लिष्टः शुक्ललेश्याकः पुनः विशुद्धयमानः स्वस्थान एव सक्रामति, न तु परत्र संक्रामति, यथाक्रमशुभतरस्य शुभतरस्य च पतद्ग्रहस्याभावात् ।

एतदेव सुविस्तरेणाऽभिधीयते—कृष्णलेश्याकः संक्लिश्यमानोऽन्यत्र न संक्रामति, नान्यलेश्यां लभत इत्यर्थः, किन्तु स्वस्थानतोऽनन्तभागाऽधिके वाऽसंख्येयभागाधिके वा संख्येयभागाधिके वा सख्येयगुणाभ्यधिके वाऽसंख्येयगुणाभ्यधिके वाऽनन्तगुणाधिके वा कृष्णलेश्यास्थाने संक्रामति, तादृशं लेश्यास्थानं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

विशुद्धयमानः पुनः कृष्णलेश्याकः स्वस्थानतोऽनन्तभागहीनेऽसंख्येयभागहीने सख्येयभागहीने सख्येयगुणहीनेऽसंख्येयगुणहीनेऽनन्तगुणहीने वा कृष्णलेश्यास्थाने सक्रामति, तादृशकृष्णलेश्यास्थानमामादयतीत्यर्थः । अथवा—ऽनन्तगुणहान्या नीललेश्यास्थाने संक्रामति । इत्थं सक्लिश्यमानः कृष्णलेश्याकः षट्स्थानवृद्धया वृद्धे कृष्णलेश्यास्थाने संक्रामति । विशुद्धयमानस्तु षट्स्थानहान्या हीने कृष्णलेश्यास्थाने संक्रामति, अथवाऽनन्तगुणहान्या नीललेश्यास्थाने सक्रामति ।

संक्लिश्यमानो नीललेश्याकः षट्स्थानपतितवृद्धया नीललेश्यास्थाने संक्रामति, अथवाऽनन्तगुणवृद्धया कृष्णलेश्यास्थाने संक्रामति । विशुद्धयमानस्तु षट्स्थानपतितहानिक्रमेण स्वस्थाने (नीललेश्यास्थाने) संक्रामति, यद्वा-ऽनन्तगुणहान्या कापोतलेश्यास्थाने संक्रामति ।

संक्लिश्यमानस्तेजोलेश्याकः षट्स्थानपतितहान्या स्वस्थाने संक्रामति, यद्वाऽनन्तगुणहान्या कापोतलेश्यास्थाने संक्रामति । विशुद्धयमानस्तु षट्स्थानवृद्धया स्वस्थाने(तेजोलेश्यास्थाने) संक्रामति, अथवा-ऽनन्तगुणवृद्धया पद्मलेश्यास्थाने संक्रामति ।

पद्मलेश्याकः संक्लिश्यमानः षट्स्थानपतितहान्या पद्मलेश्यास्थाने संक्रामति, अनन्तगुणहान्या तेजोलेश्यास्थाने संक्रामति. अनन्तगुणवृद्धया च शुक्ललेश्यास्थाने संक्रामति ।

शुक्ललेश्याकः संक्लिश्यमानः षट्स्थानपतितहान्या शुक्ललेश्यास्थाने संक्रामति, अनन्तगुणहान्या च पद्मलेश्यास्थाने संक्रामति । विशुद्धयमानस्तु षट्स्थानपतितवृद्धया स्वस्थान एव संक्रामति, न त्वन्यत्र संक्रामति, ततो विशुद्धतराऽन्यलेश्याया अभावात् ।

उक्तं चैतत्सर्वं संक्षेपतः **श्रीशतकचूर्णिटिप्पने श्रीमुनिचन्द्रसूरिपादैः**–"लेश्याना गुणगुणिनोरभेदोपचारात् लेश्यावता जीवाना परिणामोऽपरापरपर्यायान्तरगमनागमनलेश्यापरिणाम । तत्र कृष्णलेश्यावान् संक्लिश्यमानस्तामेव कृष्णलेश्या षट्स्थानपतित संक्रामति, विशुद्धयमानश्च षट्स्थानहान्या ता वा प्राप्नोति, अनन्तगुणशुद्धतया नीललेश्या चेति । एव नीलादिलेश्यावतामपि सक्लेशतो विशुद्धितश्च परिणामो ज्ञेय । परं संक्लिश्यमाना नीललेश्यादय षट्स्थानानुगतस्थानपरिणामा स्युरनन्तगुणाऽनन्तरलेश्यास्थानपरिणताविति, विशुद्धयन्तश्च षट्स्थानविशुद्धयो वा अनन्तगुणविशुद्धोत्तरलेश्यास्थानविशुद्धयो वा भवेयुरिति । शुक्ललेश्यस्तु विशुद्धयन् स्वस्थानविशुद्धिरेव ।" इति ।

अथ संक्रमपतद्ग्रहस्थानानां तीव्रमन्दतामाश्रित्याल्पबहुत्वमुच्यते–यतो लेश्यास्थानात् अन्यलेश्यायां संक्रामति, तत् संक्रमस्थानमुच्यते । विवक्षितलेश्यातो यस्मिन् लेश्यान्तरस्थाने संक्रामति. तत् पतद्ग्रहस्थानमुच्यते । एकैकस्या लेश्याया असख्येयानि संक्रमस्थानानि पतद्ग्रहस्थानानि च भवन्ति ।

तीव्रमन्दतामाश्रित्य कृष्णलेश्या-नीललेश्ययोर्जघन्योत्कृष्टस्थानसंक्रमस्थानपतद्ग्रहस्थानानामल्पबहुत्वमुच्यते–(१) नीललेश्याया जघन्यं स्थान स्तोकम् (२) ततोऽनन्तगुणं नीललेश्याया जघन्यं पतद्ग्रहस्थान भवति । इदमुक्त भवति–कृष्णलेश्यातो जघन्येन यस्मिन् नीललेश्यास्थानेऽनन्तगुणहान्या संक्रामति, तद् नीललेश्याया जघन्यपतद्ग्रहस्थानं व्यवह्रियते । तच्च पूर्वपदतोऽनन्तगुण भवति । (३,४) ततः कृष्णलेश्याया जघन्यस्थानं जघन्यसंक्रमस्थानं चाऽनन्तगुणे, परस्पर च तुल्ये । जघन्यस्थानं प्राग् व्याख्यातम् । तच्च पूर्वपदतोऽनन्तगुण भवति, तथा कृष्णलेश्याया जघन्येन यस्माद् लेश्यास्थानतोऽनन्तगुणहान्या नीललेश्यास्थाने संक्रामति, तत् कृष्णलेश्याया जघन्यसंक्रमस्थानमुच्यते, तच्च नीललेश्याजघन्यपतद्ग्रहस्थानतोऽनन्तगुण भवति, कृष्णलेश्यातो नीललेश्यायामऽनन्तगुणहान्यैव

न्तिसत्त्वेन द्वितीयपदतोऽस्याऽनन्तगुणत्वात् । (५) ततो नीललेश्याया जघन्यं संक्रमस्थानमनन्तगुणं भवति । (६) : कृष्णलेश्याया जघन्यं पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति, नीललेश्याकः स्वलेश्यातो जघन्येन यस्मिन् कृष्णलेश्यास्थानेऽनन्तगुणवृद्ध्या सक्रामति, तत् कृष्णलेश्याया जघन्यं पतद्ग्रहस्थानमुच्यते । तच्च पूर्वतोऽनन्तगुणं भवति, नीललेश्यातः कृष्णलेश्यास्थानेऽनन्तगुणवृद्ध्यैव सक्रान्तिसद्भावात् । (७) ततो नीललेश्याया उत्कृष्ट पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम् , कृष्णलेश्याक उत्कृष्टतो यस्मिन् नीललेश्यास्थानेऽनन्तगुणहान्या संक्रामति, तद् नीललेश्याया उत्कृष्टं पतद्ग्रहस्थानमुच्यते, तच्च पूर्वपदतोऽनन्तगुणं भवति । (८) ततः कृष्णलेश्याया उत्कृष्टं संक्रमस्थानमनन्तगुणं भवति, अनन्तगुणहान्या एव नीललेश्यायां संक्रान्त्युपलम्भात् । (९,१०) ततो नीललेश्याया उत्कृष्टस्थानं उत्कृष्टं च संक्रमसंस्थानं चानन्तगुणे, परस्परं च तुल्ये । (११) ततः कृष्णलेश्यायाः पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति, अनन्तगुणवृद्ध्यैव नीललेश्यास्थानतः कृष्णलेश्यास्थाने संक्रान्तिदर्शनात् । (१२) तत उत्कृष्ट कृष्णलेश्यास्थानमनन्तगुणं भवति ।

एवं नीललेश्या-कापोतलेश्ययोरपि जघन्योत्कृष्टस्थान–संकमस्थान–पतद्ग्रहस्थानानां तीव्रमन्दता दर्शयितव्या, तथाहि–(१)कापोतलेश्याया जघन्यस्थानं स्तोकं भवति । (२) ततोऽनन्तगुण कापोतलेश्याया जघन्य पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम् । (३,४) ततो नीललेश्याया जघन्यस्थानं जघन्यमंक्रमस्थानं चाऽनन्तगुणे, परस्परं च तुल्ये, अनन्तगुणहान्यैव नीललेश्यातः कापोतलेश्यास्थाने संक्रान्तिदर्शनात् । (५) : कापोतलेश्याया जघन्यसंक्रमस्थानमनन्तगुणं भवति । (६) ततोऽनन्तगुणं नीललेश्याया जघन्यं पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति, कापोतलेश्यातो नीललेश्यायामनन्तगुणवृद्ध्यैव तिदर्शनात् । (७) ततः कापोतलेश्य उत्कृष्टं पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति । (८) ततो नीललेश्याया उत्कृष्टं संक्रमस्थानमनन्तगुणं भवति, नीललेश्यातः कापोतलेश्यायामनन्तगुणहान्यैव संक्रान्तिदर्शनात् । (९,१०) ततः कापोतलेश्याया उत्कृष्टं सक्रमस्थानमुत्कृष्टस्थानं चाऽनन्तगुणे, मिथस्तु समाने । (११) ततो नीललेश्याया उत्कृष्टं पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति, कापोतलेश्यातो नीललेश्यास्थानेऽनन्तगुणवृद्ध्यैव न्तिभवनात् । (१२) ततो नीललेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणं भवति ।

अथ कापोतलेश्या-तेजोलेश्ययोर्जघन्यस्थानादीनां तीव्रमन्दता दर्श्यते–(१,२) कापोतलेश्याया जघन्यसक्रमस्थानं जघन्यस्थानं च स्तोके परस्परं च तुल्ये । (३,४) ततोऽनन्तगुणे तेजोलेश्याया जघन्यस्थानं जघन्यसक्रमस्थानं च, मिथस्तु तुल्ये । (५) ततः पोतलेश्याया जघन्यं पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति । (६) ततस्तेजोलेश्याया जघन्यपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति । (७) ततः कापोतलेश्याया उत्कृष्टसक्रमस्थानमनन्तगुणं भवति । (८) ततस्तेजोलेश्याया उत्कृष्टसंक्रमस्थानमनन्तगुणं भवति । (९) ततः कापोतलेश्याया उत्कृष्टपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं ति । (१०)

ततस्तेजोलेश्याया उत्कृष्टपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति । (११) ततः कापोतलेश्याया उत्कृष्ट-स्थानमनन्तगुणं भवति । (१२) ततोऽपि तेजोलेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणम् ।

अथ तीव्रमन्दतामाश्रित्य तेजोलेश्या पद्मलेश्ययोर्जघन्यस्थानादीनामल्पबहुत्वमुच्यते–(१)तेजो-लेश्याया जघन्यस्थानं स्तोकम् , (२) ततः पद्मलेश्यातस्तेजोलेश्यायां संक्रान्तस्य तेजोलेश्याया जघन्यं पतद्ग्रहस्थाननमनन्तगुणं भवति, (३,४) ततो पद्मलेश्याया जघन्यं स्थानं जघन्यं च संक्रमस्थान-मनन्तगुणम् , अनन्तगुणहानौ सत्यामेव पद्मलेश्यातस्तैजस्यां संक्रान्तिदर्शनात् । (५) ततस्तेजो-लेश्याया जघन्यं संक्रमस्थानमनन्तगुण भवति, (६) ततः पद्मलेश्याया जघन्य पतद्ग्रहस्थानमनन्त-गुण भवति, तेजोलेश्याया अनन्तगुणवृद्धौ सत्यामेव पद्मलेश्यायां संक्रान्त्युपलम्भात् । (७) तत-स्तेजोलेश्याया उत्कृष्ट पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति । (८) ततः पद्मलेश्याया उत्कृष्टसंक्रम-स्थानमनन्तगुण भवति, पद्मलेश्याकस्याऽनन्तगुणहान्यां सत्यामेव तैजस्यां संक्रान्तिसद्भावात् । (९;१०)ततस्तेजोलेश्याया उत्कृष्टस्थानमुत्कृष्टं च संक्रमस्थानमनन्तगुण भवति । (११) ततः पद्मलेश्याया उत्कृष्टपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति, तेजोलेश्याकस्याऽनन्तगुणवृद्ध्या पद्मलेश्यायां संक्रान्तिसद्भावात् । (१२)ततः पद्मलेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणं भवति ।

साम्प्रतं तीव्रमन्दतामाश्रित्य पद्मलेश्या-शुक्ललेश्ययोर्जघन्यस्थानादीनामल्पबहुत्वं निगद्यते–(१) पद्मलेश्याया जघन्यस्थानं स्तोकम् । (२) ततोऽनन्तगुण पद्मलेश्याया जघन्यपतद्ग्रहस्थानम् । (३,४) ततः शुक्ललेश्याया जघन्यस्थानं जघन्यसंक्रमस्थानं चाऽनन्तगुणे, मिथस्तु तुल्ये, शुक्लले श्याया अनन्तगुणहान्या पद्मलेश्यायां संक्रान्तिभवनात् , (५) ततः पद्मलेश्याया जघन्यं सं - स्थानमनन्तगुणम् , (६) ततः शुक्ललेश्याया जघन्यपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम् , (७) ततः पद्म-लेश्याया उत्कृष्टं पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति । (८) ततः शुक्ललेश्याया उत्कृष्टं संक्रमस्थान-मनन्तगुण भवति, शुक्ललेश्याया अनन्तगुणहान्या सत्यामेव पद्मलेश्यायां संक्रान्त्युपलम्भात् । (९,१०) ततः पद्मलेश्याया उत्कृष्टस्थानमुत्कृष्ट च सक्रमस्थानमनन्तगुणे, मिथस्तु तुल्ये । (११) ततः शुक्ललेश्याया उत्कृष्टं पतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणं भवति, पद्मलेश्याया अनन्तगुणवृद्धौ सत्या-मेव शुक्ललेश्याया संक्रान्तिदर्शनात् । (१२) ततः शुक्ललेश्याया उत्कृष्टं स्थानमनन्तगुणं भवति ।

अथ षड्लेश्यानां द्वापञ्चाशत्पदेभ्यस्त्रिशत्पदानामल्पबहुत्वं भण्यते–(१,२) कापोतलेश्याया जघन्यस्थान तेजोलेश्याऽपेक्षया च जघन्यसंक्रमस्थानं च सर्वस्तोके मिथश्च तुल्ये । (३) ततः कापोतलेश्याया नीललेश्याऽपेक्षया जघन्यपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम् । (४,५) ततो नीललेश्याया जघन्य स्थानं कापोतलेश्यापेक्षया च जघन्यसक्रमस्थानमनन्तगुणे मिथश्च तुल्ये । (६) ततो नीललेश्यायाः कृष्णलेश्यापेक्षया जघन्यपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम् । (७,८) ततः कृष्णलेश्याया जघन्यस्थान जघन्यं च संक्रमस्थानमनन्तगुणे परस्परं च तुल्ये (९,१०) ततस्तेजोलेश्याया जघन्यस्थान कापोतलेश्यापेक्षया च जघन्यसक्रमस्थानमनन्तगुणे परस्पर च तुल्ये (११) ततस्तेजो-

लेश्यायाः पद्मलेश्यापेक्षया जघन्यपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम् (१२,१३) ततः पद्मलेश्याया जघन्यस्थानं तेजोलेश्यापेक्षया च जघन्यसंक्रमस्थानमनन्तगुणे मिथश्च तुल्ये भवतः। (१४) ततः पद्मलेश्यायाः शुक्ललेश्याऽपेक्षया जघन्यपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम्। (१५,१६) ततः शुक्ललेश्याया जघन्यस्थानं जघन्यं च संक्रमस्थानमनन्तगुणे परस्परं च तुल्ये। (१७,१८) ततः कापोतलेश्याया नीललेश्याऽपेक्षयोत्कृष्टसंक्रमस्थानमुत्कृष्टं च स्थानमनन्तगुणे परस्परं च तुल्ये । (१९) ततो नीललेश्यायाः कापोतलेश्याऽपेक्षयोत्कृष्टपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम्। (२०,२१) ततो नीललेश्याया उत्कृष्टस्थानं कृष्णलेश्याऽपेक्षया चोत्कृष्टसंक्रमस्थानमनन्तगुणे मिथश्च तुल्ये भवतः। (२२) ततः कृष्णलेश्याया उत्कृष्टपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम्। (२३) ततः कृष्णलेश्याया उत्कृष्टं स्थानमनन्तगुणम् । (२४,२५) ततस्तेजोलेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणं पद्मलेश्यापेक्षया चोत्कृष्टसंक्रमस्थानमनन्तगुणे मिथश्च तुल्ये। (२६) ततः पद्मलेश्यायास्तेजोलेश्याऽपेक्षयोत्कृष्टपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम् । (२७,२८) ततः पद्मलेश्याया उत्कृष्टस्थानं शुक्ललेश्याऽपेक्षया चोत्कृष्टसंक्रमस्थानमनन्तगुणे परस्परं च तुल्ये । (२९) ततः शुक्ललेश्याया उत्कृष्टपतद्ग्रहस्थानमनन्तगुणम्। (३०) ततः शुक्ललेश्याया उत्कृष्टस्थानमनन्तगुणम् ।

अल्पबहुत्वगतपदानां स्थापना

७ ८　　　　　　　　२२ २३
❀ . . . . ❀❀
कृष्णलेश्यास्थानानि

४ ५ ६　　　　　　१९ २० २१
❀❀ . . . . ❀❀
नीललेश्यास्थानानि

१ २ ३　　　　१७ १८
❀❀ . . . . ❀
कापोतलेश्यास्थानानि

९ १० ११　　　　२४ २५
❀❀ . . . . . . ❀
तेजोलेश्यास्थानानि

१२ १३ १४　　　　२६ २७ २८
❀❀ . . . . . ❀❀
पद्मलेश्यास्थानानि

१५ १६　　　　२९ ३०
❀ . . . . ❀❀
शुक्ललेश्यास्थानानि

अथ कृष्णादिलेश्यासु परिणतस्य जीवस्य लक्षणमुच्यते—हिंसादिभिः पञ्चाश्रवैः प्रमत्तो मनोवाक्कायगुप्तिरहितः पृथ्वीकायादिभ्योऽविरतस्तीव्रारम्भपरिणतः कार्पण्ययुक्तः साहसिकश्चौर्यादिकृदैहिकामुत्रिकापायशङ्काविकलपरिणामः परपीडाऽनपेक्षपरिणामो नृशंसः परप्रशंसारहितोऽनिगृहीतेन्द्रियो जीवः कृष्णलेश्याकत्वेन परिणमति ।

यदुक्तमुत्तराध्ययनसूत्रचतुस्त्रिंशत्तमेऽध्ययने—

"पचासवप्पमत्तो तीहिं अगुत्तो छसू अविरओ य। तिव्वारभपरिणओ खुद्दो साहस्सिओ नरो ॥१॥
निद्धंसधसपरिणामो, निस्ससो अजिइंदियो। एयजोगसमाउत्तो कण्हलेस तु परिणमे ॥२॥" इति।

पञ्चाश्रवप्रमत्तत्वादिभिर्भावकृष्णलेश्यायाः सद्भावोपदर्शनादमीषां लक्षणत्वमुच्यते, यद् हि यत्सद्भाव एव भवति, तत् तस्य लक्षणम्, यथोऽष्णत्वमग्नेः। एवमुत्तरत्राऽपि लक्षणभावना कार्या।

परगुणाऽसहनशीलोऽभिनिवेशी तपोरहितोऽविद्यो मायावी निर्लज्जो विषयाभिलाषी शठः प्रद्वेषी जात्यादिमदसेवनात् प्रमत्तो रसलोलुपः सुखस्य गवेषकः प्राण्युपमर्दनादविरतो जीवो नीललेश्याकत्वेन परिणमति, **यदुक्तमुत्तराध्ययने—**

"इस्सा अमरिस अतवो, अविज्ज माया अहीरिया। गेद्धी पओसे य सढे रसलोलुए सायगवेसए य ॥१॥
आरंभा अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो। एयजोगसमाउत्तो नीललेस तु परिणमे ॥२॥" इति।

वचसा वक्रः क्रियया वक्रसमाचारो मनसा निकृतिमान् अनृजुकः स्वदोषाणां प्रच्छादको व्याजेन प्रवर्तमानो मिथ्यादृष्टिरनार्यो मत्सरी उत्प्रासकदुष्टवादी जीवः कापोतलेश्याकत्वेन परिणमति, **यदुक्तमुत्तराध्ययने—**

"वके वकसमायारे नियडिल्ले अणुज्जए। पलिउंचग ओवहिए, मिच्छादिट्ठि अणारिए ॥१॥
उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे अवि य मच्छरी। एयजोगसमाउत्तो काउलेसु तु परिणमे ॥२॥" इति।

कायमनोवाग्भिरनुत्सिक्तोऽचपलोऽमायावी कुतूहलरहितः स्वभ्यस्तगुर्वाद्युचितप्रतिपत्तिरिन्द्रियदमेन दान्तो विहितशास्त्रोपचारः प्रियधर्माऽङ्गीकृतव्रतादिनिर्वाहकः पापभीरुर्मुक्तिगवेषकः परहितचेता हिंसाद्याश्रवरहितो जीवस्तेजोलेश्याकत्वेन परिणमति, **यदुक्तमुत्तराध्ययने—**

"नीआवित्ती अचवले अमाई अकुऊहले। विणीयविणए दंते जोगव उवहाणव ॥१॥
पियधम्मे दढधम्मे वज्जभिरू हिए सए। एगजोगसमाउत्तो तेउलेस तुप रिणमे ॥२॥" इति।

स्वल्पक्रोधमानस्तनुमायालोभः प्रशान्तचित्तो दान्तः स्वल्पभाषी उपशान्ताकृतिर्वशीकृतेन्द्रियो जीवः पद्मलेश्याकत्वेन परिणमति, **यदुक्तमुत्तराध्ययने—**

'पयणुक्कोहमाणो य, मायालोभे य पयणुए। पसतचित्ते दतप्पा जोगव उवहाणव ॥१॥
तहा य पयणुवाई य, उवसते जिईदिए। एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेस तु परिणमे ॥२॥' इति।

धर्मशुक्लध्यानध्यायी प्रशान्तचित्तो दान्तः पञ्चभिः समितिभिः समितस्तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः सरागो वीतरागो वा जितेन्द्रियो निर्दोषव्यापारो जीवः शुक्ललेश्याकत्वेन परिणमति। **यदुक्तमुत्तराध्ययने—**

'अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि साहए। पसतचित्ते दतप्पा समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥१॥
सरागे वीयरागे वा, उवसते जिइदिए। एयजोगसमाउत्तो सुक्कलेस तु परिणमे ॥२॥' इति।

अथ भव्यमार्गणाभेदप्रख्यापनाय प्राह—'**भवियाभविया**' त्ति, 'भव्याभव्यौ' भव्यश्चाऽभव्यश्च। तत्र भव्यमार्गणा प्राग्मूलमार्गणाप्ररूपणाऽवसरे विस्तरेण व्याख्याता, तद्विपरिताऽभव्यमार्गणा।

अथ सम्यक्त्वमार्गणां सप्रभेदां व्याचष्टे–'सम्मं' इत्यादि, तत्र 'सम्मं' त्ति, भावनिर्देशात् सम्यक्त्वम्=सम्यक्त्वमार्गणा, सा च गतार्था, मूलमार्गणा-ऽवसरे व्याख्यातत्वात्। तदुत्तरभेदान् दर्शयति–'खाइय०' इत्यादि, 'क्षायिकवेदकोपशमाश्च' चकारः समुच्चयार्थकः, सम्यक्त्वशब्दः प्रत्येकं योज्यः प्रक्रमात्, ततश्चाऽयमर्थः–क्षायिकसम्यक्त्वं वेदकसम्यक्त्व=सम्यक्त्वमोहनीयस्य पुद्गलवेदनाद् वेदकं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमित्यर्थः, उपशमसम्यक्त्वम्=औपशमिकसम्यक्त्वं च ।

एतदुक्तं भवति–यद् दर्शनत्रिकस्य क्षयेण निर्वृत्तम्, तत् क्षायिकं सम्यक्त्वम्। तत्रादौ तावदनन्तानुबन्धिनां क्षयो भवति, ततो यथाक्रमं दर्शनत्रिकस्य सर्वात्मना क्षपणा जायते । विशेषार्थिना प्रकृतिग्रन्थेऽस्मत्कृतोपशमनाकरणटीकातोऽनन्तानुबन्धिविसंयोजना दर्शनत्रिकक्षपणा चा–ऽवसेया ।

उदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेणाऽनुदीर्णस्य चोपशमेन विष्कम्भितोदयस्वरूपेणाऽपनीतमिथ्यात्वस्वभाव(सम्यक्त्वमोहनीयरूपतापत्ति)लक्षणेन च निर्वृत्तं क्षायोपशमिकम्, यदुक्तं **विशेषावश्यकभाष्यकृद्भिः–**

"मिच्छत्तं जमुइण्णं तं खीणं अणुइयं च उवसंतं । मीसीभावपरिणयं वेइज्जंतं खओवसमं ॥१॥" इति ।

उपशमेन=दर्शनमोहनीयस्य विपाकोदयस्य प्रदेशोदयस्य च विष्कम्भेण निर्वृत्तम्=औपशमिकम्, तच्च द्विधा प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वं श्रेणिगतौपशमिकसम्यक्त्वं चेति । तत्र मिथ्यादृष्टिः करणत्रयपूर्वकं प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वमश्नुते, श्रेणिगतमौपशमिकसम्यक्त्वं तूपशमश्रेणिमारुरुक्षुः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिरासादयति, दर्शनत्रिकस्योपशमात् । विशेषार्थिनाऽस्मत्कृतोपशमनाकरणटीकाऽवलोकनीया, तत्र दर्शनत्रिकोपशमनायाः सविस्तरं प्ररूपितत्वात् ।

औपशमिकसम्यक्त्वं पर्याप्तजीवस्य भवति । कथमेतदवसीयते? इति चेत्, उच्यते–न तावदपर्याप्तावस्थायां कश्चिदपि करणत्रयं कृत्वौपशमिकसम्यक्त्वमश्नुते, तथाविधविशुद्धेरभावात् । न च पूर्वप्रतिपन्न औपशमिकसम्यग्दृष्टिर्मृत्वा गत्यन्तरं उत्पद्यते, एतदुक्तं भवति–यो मिथ्यादृष्टिः प्रथमतयौपशमिकसम्यक्त्वं लभते, स तद्भावं प्राप्तः कालं न करोति । **यदुक्तम्–**

"अणबंधोदयमाउगबंधं कालं च सासणो कुणइ । उवसमसम्मद्दिट्ठी चउण्हमेक्कं पि नो कुणइ ॥१॥" इति ।

उपशमश्रेणौ कालं कृत्वा देवत्वेनोत्पन्नस्य तु प्रथमसमये सम्यक्त्वपुद्गलोदयादौपशमिकसम्यक्त्वं न भवति, यदुक्तं **बृहच्चूर्णौ**–"जो उवसमसम्मद्दिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ, सो पढमसमये चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलियाए छोढुण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ।" इति । इत्थमपर्याप्तकस्यौपशमिकसम्यक्त्वं न भवति ।

अन्ये त्वपर्याप्तस्याऽप्यौपशमिकसम्यक्त्वं स्वीकुर्वन्ति । तथाहि–**सप्ततिकाचूर्णौ** गुणस्थानकेषु नामकर्मणो बन्धोदयादिचिन्तावसरेऽविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थाने देवनारकानधिकृत्य पञ्चविंशत्यु-

क्षय: सप्तविंशत्युदयश्च प्रोक्तः, तत्र नारकाः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयश्च, देवास्तु त्रिविधसम्यक्त्वभाजः। तथा च तद्ग्रन्थः– 'पणुवीसमत्तावीसोदया देवनेरइए×××××पङ्क्च, नेरइगो खइगवेयगसम्मद्दिट्ठी देवो तिविहो सम्मद्दिट्ठी वि।'' इति। पञ्चविंशत्युदयश्च शरीरपर्याप्तिं निर्वर्तयतो जीवस्य भवति, सप्तविंशत्युदयश्च शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य शेषपर्याप्तिभिश्चाऽपर्याप्तस्य भवति। तेन सप्ततिकाचूर्णिकारादीनामभिप्रायेणा-ऽपर्याप्तस्याऽपि देवस्यौपशमिकसम्यक्त्वं भवत्येव। तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति। प्रकृतग्रन्थे द्वितीयमतमेवाऽऽश्रितम्।

औपशमिकसम्यक्त्वक्षायोपशमिकसम्यक्त्वयोर्विशेषः—औपशमिकसम्यक्त्वे सति दर्शनमोहनीयं प्रदेशोदयरूपेणाऽपि नाऽनुभूयते, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसद्भावे तु मिथ्यात्वमोहनीयमिश्रमोहनीये प्रदेशोदयेना-ऽनुभूयेते, सम्यक्त्वमोहनीयं च वेद्यते विपाकोदयेन, तद्रसस्पर्धकानां च देशघातित्वेन न सम्यक्त्वक्षतिरित्यौपशमिकक्षायोपशमिकयोर्विवेकः कर्तव्यः। दर्शितश्चाऽयं **विशेषावश्यकभाष्यवृत्तौ**–

"यदुदीर्णमुदयमागत मिथ्यात्व तद्विपाकोदयेन वेदितत्वात् क्षीण निर्जीर्णम्, यच्च शेष सत्तायामनुदयागत वर्तते, तदुपशान्तम्। उपशान्त नाम विष्कम्भितोदयभावमपनीतमिथ्यात्वस्वभाव च शेषमिथ्यात्व, मिथ्यात्वमिश्रपुञ्जावाश्रित्य विष्कम्भितोदय शुद्धपुञ्जमाश्रित्य पुनरपनीतमिथ्यात्वस्वभावमित्यर्थ। आह–यद्येव अशुद्धमिश्रपुञ्जद्वयरूपस्य विष्कम्भितोदयस्यैवोपशान्तस्यानुदीर्णता युज्यते, न तु शुद्धपुञ्जलक्षणस्यापनीतमिथ्यात्वस्वभावस्य, तस्य विपाकोदयेन साक्षादनुभूयमानत्वादिति, भवद्भिस्तु 'अणुइय च उवसत' इति वचनात् द्विस्वभावमप्युपशान्तमनुदीर्णमुक्तम् इति, तदेतत् कथम्? अत्रोच्यते-सत्यमेतत्, किन्त्वपनीतमिथ्यात्वस्वभावत्वात् स्वरूपेणा–ऽनुदयात् तस्या–ऽप्यनुदीर्णतोपचार क्रियते। अथवा अनुदीर्णत्वमविशुद्धमिश्रपुञ्जद्वयरूपस्य मिथ्यात्वस्यैव युज्यते, न तु सम्यक्त्वस्य, तस्याऽपनीतमिथ्यात्वस्वभावत्वलक्षणमुपशान्तत्वमेव युज्यते इत्यर्थ। कथमिति चेत्, उच्यते–मिथ्यात्व यदुदीर्णमुदयागत तत् क्षीण शेष त्वविशुद्धमिश्रपुञ्जद्वयलक्षण मिथ्यात्वमनुदीर्ण 'अणुइय च' इति चशब्दस्य व्यवहितप्रयोगात्, शुद्धपुञ्जलक्षण तदुपशान्त चेति–अपनीतमिथ्यात्वस्वभावमित्यर्थ, इत्येव सर्व सुस्थ भवति। तदेवमुदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षय अनुदीर्णस्य च उपशम, एतत्स्वभावद्वयस्य योऽसौ मिश्रीभाव एकत्र मिथ्यात्वलक्षणधर्मिनि भवनरूपस्तमापन्न मिश्रीभावपरिणत वेद्यमानमनुभूयमानं त्रुटितरस शुद्धपुञ्जलक्षण मिथ्यात्वमपि क्षयोपशमाभ्या निर्वृत्तत्वात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमुच्यते। शोधिता हि मिथ्यात्वपुद्गला अतिस्वच्छवस्त्रमिव दृष्ट्यर्थथावस्थिततत्त्वरुच्यध्यवसायरूपस्य सम्यक्त्वावारका न भवन्ति। अतस्तेऽप्युपचारत सम्यक्त्वमुच्यत इति। अत्राह–ननूदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षये, अनुदीर्णस्य चोपशमे क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिहोक्तम्, प्रागुक्तमौपशमिकमपि एवंविधमेव, तत् को–ऽनयोर्विशेष? तदेतदसमीक्षिता–ऽभिधानम्, यतो 'मीसीभावपरिणय वेइज्ज त खओवसम' इति वचनादत्र क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे शुद्धपुद्गलवेदनमुक्तम्, औपशमिके तु तत् सर्वथैव नास्ति, इति महान् विशेष। किञ्चौपशमिकसम्यक्त्वे मिथ्यात्व प्रदेशोदयेनाऽपि न वेद्यते, अत्र तु प्रदेशोदयेन तदपि वेद्यते। इत्यल प्रसङ्गेनेति।"

यद्वा सर्वघातिस्पर्धकानामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य देशघातित्वेन स्थापनं क्षयः, देशघातिस्पर्धकानां च स्वरूपेणा–ऽवस्थानम् उपशमः, ताभ्यां निर्वृत्तम् क्षायोपशमिकम्।

संक्षेपतः दर्शनसप्तकक्षयाज्जातं क्षायिकसम्यक्त्वम्, दर्शनमोहनीयोपशमाद् औपशमिकसम्यक्त्वं सम्यक्त्वमोहनीयवेदनाच्च क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिति व्याख्येयम्, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहवृत्तौ** "सम्यग्दृष्टित्वं चाऽस्य पूर्वव्यावर्णितान्तरकरणकालसम्भविनि औपशमिकसम्यक्त्वे, विशुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयसम्भविनि क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे वा, सर्वदर्शनमोहनीयक्षयसमुत्थक्षायिकसम्यक्त्वे वा सति द्रष्टव्यम्।" इति।

'सासायणं च' त्ति, 'सास्वादनं च' चकारः समुच्चये, आस्वादः आस्वादनम्, भावेऽनट् प्रत्ययः। सह आस्वादनेन=सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनम्, यथाहि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तपुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथाऽत्राऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्वमतस्तद्रसास्वादो भवतीति कृत्वा सास्वादनमुच्यते। अथवा सासादनमिति पदसंस्कारः कार्यः। तत्र आयम्=औपशमिकसम्यक्त्वलक्षणं लाभं सादयति=अपनयतीत्यासादनम्=अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् "पृषोदरादय" (सिद्धहेम० ३-२-५५) इत्यनेन शाब्दिकसूत्रेण यलोपः, "रम्यादिभ्य कर्तरि" (सिद्धहेम० ५-३-१२६) इत्यनेन च सूत्रेण अनट् प्रत्ययः, सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेणोत्कर्षतश्च षड्भिरावलिकाभिरपगच्छति। ततः सहाऽऽसादनेन वर्तत इति सासादनम्।

अथ सम्यक्त्वप्रतिपक्षभूतं मार्गणाद्वयमाचष्टे–**'मिस्सं'** इत्यादि, 'मिश्रम्' औपशमिकसम्यक्त्वेनौषधिविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीयं मिथ्यात्वं त्रिधा करोति, शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्धं च। तत्र शुद्धं सम्यक्त्वमोहनीयम्, अर्धविशुद्धं मिश्रमोहनीयम्, अविशुद्धं च मिथ्यात्वम्। अर्धविशुद्धपुञ्जोदयात् प्राणी जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्धाति, नाऽपि निन्दति। उक्तं च **बृहच्छतकबृहच्चूर्णौ**–"जहा नालिकेरदीववासिस्स अइच्छुहियस्स वि पुरिसस्स इत्थ ओयणाइए अणेगहा वि ढोइए, तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा।" इत्यादि।

'मिच्छं' त्ति, भावनिर्देशाद् मिथ्यात्वम्=अदेवदेवबुद्ध्यगुरुगुरुबुद्ध्यतत्त्वतत्त्वबुद्धिलक्षणम्। तद्विशेषस्वरूपं त्वग्रे वक्ष्यामः।

एवमुक्ता सम्यक्त्वमार्गणा सप्रभेदा सप्तधा, [1]सम्यक्त्व–[2]क्षायिकसम्यक्त्वौ[3]पशमिकसम्यक्त्व–[4]क्षायोपशमिकसम्यक्त्व–[5]सास्वादन–[6]मिश्र–[7]मिथ्यात्वभेदात्।

अथ संज्ञिमार्गणास्थानस्य द्वौ भेदौ समर्थयन्नाह–**'सण्णी'** इत्यादि, 'संज्ञी' विशिष्टस्मरणादिमनोविज्ञानभाक् संज्ञी, स च मूलमार्गणाप्ररूपणाऽवसरे विस्तरेण व्याख्यातः 'तथा' तथाशब्दः समुच्चयार्थकः, 'असंज्ञी' संज्ञिभिन्नोऽसंज्ञी, सर्वोऽप्येकेन्द्रियादिः।

साम्प्रतमाहारकमार्गणाया भेदद्वयं प्रतिपादयति-'आहा०' त्ति, 'आहारा-ऽनाहारौ' आहारश्च=आहारकश्च अनाहारश्च=अनाहारकश्चेत्याहाराऽनाहारौ । तत्राऽहारकमार्गणा विस्तरेण मूलमार्गणाप्ररूपणावसरे प्रपञ्चिता । तद्विपरीता-ऽनाहारकमार्गणा । तस्या इदं विस्तरव्याख्यानम्-अनाहारकाश्चतुर्धा विग्रहगतिप्राप्ताः केवलिसमुद्घातापन्ना अयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च । यदुक्तं बृहत् ˙ हण्याम्-

"विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य । सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥१॥" इति ।

इह विग्रहगतिप्राप्ताः केवलिसमुद्घातापन्नाश्चात्र विविच्यन्ते, शेपास्त्वग्रे व्याख्यास्यन्ते । तत्र विग्रहो वक्रोऽनृजुरित्येकार्थाः । जीवस्य मरणस्थानादग्रेतनभवोत्पत्तिस्थानप्राप्तिहेतुका गतिर्द्विधा ऋजुगतिर्वक्रगतिश्चेति । यदा जीवो मरणस्थानात् पारभविकस्थानं समश्रेण्यैकेनैव समयेन प्राप्नोति, तदा ऋजुगतिरुच्यते । अस्यां च नियमादाहारको भवति, परित्याज्यशरीरे गृहीताऽऽहारानन्तरं परभवप्रथमसमय आहारग्रहणेनाऽऽहरणीयपुद्गलानां व्यवच्छेदाभावात् । यदा मरणस्थानमुत्पत्तिस्थान च किञ्चिद् वक्रं भवति, तदा जीवो विग्रहगत्योत्पद्यते । तस्या इय व्युत्पत्तिः-विग्रहा च=वक्रा चा-ऽसौ गतिश्च विग्रहगतिः, यद्वा विग्रहेण=कौटिल्येन गतिर्विग्रहगतिः, अथवा वि=विशिष्टो :=विशिष्टस्थानप्राप्तिः, तद्हेतुभूता गतिर्विग्रहगतिः, यद्वा वि=विरुद्धो ग्रहः=पुद्गलादानं विग्रहः पुद्गलाग्रहणमित्यर्थः, विग्रहेण=औदारिकादिपुद्गलाग्रहणेन गतिर्विग्रहगतिः । अथवा वि=विविधान् औदारिकादिशरीरनामकर्मोदयात् स्वनिर्वर्तनसमर्थान् पुद्गलान् गृह्णातीति विग्रहः "अच्" (सिद्धहेम० ५-१-५१) इत्यनेन कर्तरि अच् प्रत्ययः । यद्वा विगृह्यतेऽसा इति विग्रहः "युवर्णवृद्वशरणगमृद्ग्रहः" (सिद्धहेम० ५-३-१५) इत्यनेन सूत्रेण कर्मणि अल्प्रत्ययः, शरीरमित्यर्थः, यदुक्त रकोशे-"गात्रं वपु सहनन शरीर वर्ष्म विग्रह ।" इति । ततो विग्रहाय गतिर्विग्रहगतिः, रूढिवशाद् वक्रगत्या शरीरग्रहणार्था गतिर्विग्रहगतिरुच्यते ।

यदा कश्चिन्मत्स्यादिर्भरतस्य पूर्वभागादैरवतपश्चिमभाग उत्पद्यते, तदैकसमयेन भरतस्य पूर्वभागात् तत्पश्चिमभागं व्रजति, जीवस्याऽनुश्रेणिगमनात् । ततो द्वितीयेन समयेनैरवतपश्चिमभागे समुत्पद्यते । एवमेकेन वक्रेणोत्पद्यते । यदा कश्चिन्मत्स्यादिर्भरतस्य पूर्वभागादैरवतपश्चि ागस्याऽधस्तान्नरकेषूत्पद्यते, तदा द्वाभ्यां वक्राभ्यामुत्पद्यमानः समयत्रयेण स्वोत्पत्तिस्थानं लभते । समयद्वयभावना तु प्राग्वत्, नवरं द्वितीयसमय ऐरवतपश्चिम ˙ प्राप्य तृतीयसमय ऐरवतपश्चिमभागतोऽधोऽवतीर्य नरकेषूत्पद्यते । यदा कश्चित् त्रसन । बहिरधोलोके विदिशि व्यवस्थित ऊर्ध्वलोके त्रसनाड्या बहिः पूर्वादिदिशि समुत्पद्यते, स त्रिभिर्वक्रैरुत्पद्यमानः समयचतुष्टयेन स्वोत्पत्तिस्थानं लभते । तथाहि-त्रसन बहिर्म्रियमाण एकसमयेन विदिशातो दिशामधिगच्छति, ततो द्वितीये समये त्रसनाडी प्रविशति । ततस्तृतीयसमय ऊर्ध्वलोक गच्छति । चतुर्थसमये तु त्र । बहिर्निष्क्रम्योत्पद्यते । इत्थमेकविग्रहा द्विसामयिकी, द्विविग्रहा त्रिसामयिकी, त्रिवि च चतुःसामयिकी

भवति। तत्र द्विसामयिकी कूर्परवक्रगतिः, त्रिसामयिकी लाङ्गलविग्रहगतिश्चतुःसामयिकी च गोमूत्रिकाविग्रहगतिः, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहमूलवृत्तौ**-"त्रिविधा वक्रगति, द्विसामयिकी कूर्परवक्रगति, त्रिसामयिकी लाङ्गुलवक्रगति, चतु सामयिकी गोमूत्रिकावक्रगति।" इति।

तत्र चैकविग्रहगत्या द्वाभ्यां समयाभ्यां समुत्पद्यमानः प्रथमसमयेऽनाहारको भवति, द्वितीयसमये त्वाहारकः। यदा द्वाभ्यां विग्रहगतिभ्यां समयत्रयेण समुत्पद्यते, तदा प्रथमे द्वितीये च समयेऽनाहारको भवति, तृतीये त्वाहारकः। यदा त्रिभिर्वक्रैश्चतुर्भिस्समयैरुत्पद्यते, तदा-ऽऽद्ये समयत्रयेऽनाहारकश्चतुर्थसमये त्वाहारकः। अन्ये त्वाहुः-यदा विदिशि त्रसनाड्या बहिर्व्यवस्थितो विदिशि त्रसनाड्या बहिरेवोत्पद्यते, तदा वक्रचतुष्टयमपि सम्भवतीति। तद्भावना तु समयचतुष्कवत् कार्या, नवरं चतुर्थसमये त्रसनाड्या बहिर्निर्गत्य पूर्वादिदिशां चाऽधिगत्य पञ्चमसमये विदिशि स्वोत्पत्तिस्थानं लभत इति बोध्यम्। उक्तं च-"विदिसाउ दिस पढमे बीए पइसरइ लोयनाडीए। तइए उप्पिं धावइ चउत्थए नीइ बाहिं तु ॥१॥ पंचमए विदिसीए गंतुं उप्पज्जए उ एगिंदि त्ति"।

इत्थं चतुर्वक्रभवनात् चतुरः समयान् यावदनाहारकत्वं संभवति, किन्तु पञ्चसामयिकविग्रहगतिः सम्भवमात्रमाश्रित्य प्रोक्ता, आगमेषु प्रायेण त्रिभिर्वक्रैरेव बहुलतयोत्पत्तिर्दर्श्यते, तेन न त्रसनाड्या बहिर्दिशातो विदिशायामुत्पत्तिः। यदुक्तं **व्याख्याप्रज्ञप्तौ**-"अपज्जत्तगसुहुमपुढविकाइएणं भंते! अहोलोगखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समोहणित्ता जे भविए उड्ढलोयखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए। से णं भंते! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा? गो०! तिसमइएण वा चउसमए वा विग्गहेणं उववज्जेजा।" इति। एवं **व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तावपि**-"अन्ये त्वाहुः-वक्रचतुष्टयमपि सम्भवति, यदा हि विदिशो विदिश्येवोत्पद्यते, तत्र समयत्रयं प्राग्वत्, चतुर्थे समये तु नाडीतो निर्गत्य समश्रेणिं प्रतिपद्यते, पञ्चमे तूत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति, तत्र चाद्ये समये वक्रचतुष्टयं स्यात्, तत्रा-ऽनाहारक इति। इदं च सूत्रे न दर्शितं प्रायेणेत्थमनुत्पत्तेरिति।" इति।

यद्वाऽल्पत्वादिहेतुना न विवक्षिता पञ्चसामयिकी चतुर्विग्रहा, यदुक्तं **विशेषणवत्याम्**-
"सुत्ते चउसमयाओ नत्थि गई उ परा विणिद्दिट्ठा। जुज्जइ य पंचसमया जीवस्स इमा गई लोए ॥१॥
जो तमतमविदिसाए समोहओ बंभलोगविदिसाए। उववज्जेइ गईए सो नियमा पंचसमयाए ॥२॥
उज्जुयायतेगवंका दुहओवंका गई विणिद्दिट्ठा। जुज्जइ य ति चउवंका वि नाम चउपंचसमयाए ॥३॥
उववायाभावो न पंचसमया-ऽहवा न संता वि। भणिया जह चउसमया महल्लबंधे न संता वि ॥४॥" इति।

ननु भवता यदुक्तम्-विग्रहगतौ उत्कृष्टतस्त्रीन् समयान् यावदनाहारको भवतीति, तत्कथं सङ्गच्छते, यतो ग्रन्थान्तरेषु द्वौ समयौ यावदानाहारकत्वं प्रतिपाद्यते। यदुक्तं **तत्त्वार्थसूत्रे**-"एकं द्वौ वा-ऽनाहारक" इति। तथैव **तद्भाष्येऽपि**-'विग्रहगतिसमापन्नो जीव एकं वा द्वौ वा समयावनाहारको भवति, शेषं कालमनुसमयमाहारयति।" इति चेत्, उच्यते-सत्यमेतत्, किन्त्वेकत्रनिश्चयनयसमाश्रयणादन्यत्र पुनर्व्यवहारनयाश्रयणाद् मतद्वयमपि न परस्परं विरुद्धयते, उभयनयात्मकत्वाज्जिन-

मतस्य । तथाहि–पूर्वभवशरीरमस्मिन्नाद्यसमये मुच्यमानं मुक्तमशरीरीभूतमित्यनाहारको-ऽयम् , अत्र क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदनिश्चयनयमतमाश्रीयते । तेन त्रीन् समयाननाहारक इति सुघटते । **तत्त्वार्थसूत्रभाष्यवृत्तिकृदादयस्तु**–आद्यसमयेऽनाहारकोऽसौ न भवति, पूर्वशरीरं ह्यत्र मुच्यमानं न मुक्तम् , अत एवा ऽय पूर्वभवचरमसमयः, न तु परभवप्रथमसमयः, पूर्वशरीरस्याद्यापि सद्भावे च कथमसावनाहारक इति वक्तुं शक्यते, तेन विग्रहत्रये द्वौ समया अनाहारको भवति, क्रियाकालनिष्ठाकालयोर्भेदवादिव्यवहारनयसमाश्रयणादित्यभिप्रायेण प्राहुः । केचित्तु **तत्त्वार्थसूत्रो**-क्तवाशब्दात् त्रीन् समयान् अनाहारक इति व्याख्यान्ति, यदुक्तं **श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्तौ श्रीहरिभद्रसूरीश्वरपादैः**–"एकाद्यास्त्रीन् समयान् विग्रहगतिमापन्ना अनाहारका, उक्तं च' एकं द्वौ वानाहारक" इति (तत्त्वार्थधिगमसूत्र २-३१) वाशब्दात्त्रिसमयग्रह ।" इति । प्रकृतग्रन्थे तु त्रिसामयिको-ऽनाहारको विवक्षित इति ध्येयम् ।

केवलिसमुद्घातं समाश्रित्या-ऽप्यानाहारकमार्गणा त्रिसामयिकी भवति, यतः केवलिसमुद्घातस्य तृतीयसमये चतुर्थसमये पञ्चमे च समये केवली भगवाननाहारको भवति । यदुक्तं **प्रशमरतिप्रकरणे**—

"कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥१॥', इति

केवलिसमुद्घातस्वरूप तु **त्वस्मत्कृतस्वोपज्ञक्षपकश्रेणिटीकातो**ऽवसेयं विशेषार्थिना, ग्रन्थगौरवभयान्ना-ऽत्र वितन्यते ।

सम्प्रति निगमयन्नाह–'इइ' इत्यादि, 'इति' इतिशब्द इयत्ताऽवधारणार्थकः 'उत्तरमार्गणाः' मूलमार्गणानां भेदप्रभेदसहिता उत्तरमार्गणाश्चतुःसप्तत्यधिकशतसंख्याकाः (१७४) 'ज्ञेयाः' बोध्याः । विशेषार्थिना मूलोत्तरमार्गणास्वरूपाऽवबोधार्थमस्मद्गुरुचरणविरचित**मार्गणाद्वारग्रन्थो**–ऽवलोकनीयः, तत्र न्यक्षेण प्रावर्णितत्वात् ॥३७,३८॥



संक्षेपतः दर्शनसप्तकक्षयाज्जातं क्षायिकसम्यक्त्वम्, दर्शनमोहनीयोपशमाद् औपशमिकसम्यक्त्वं सम्यक्त्वमोहनीयवेदनाच्च क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिति व्याख्येयम्, यदुक्तं पञ्चसंग्रह-वृत्तौ "सम्यग्दृष्टित्वं चाऽस्य पूर्वव्यावर्णितान्तरकरणकालसम्भविनि औपशमिकसम्यक्त्वे, विशुद्धदर्शनमोह-पुञ्जोदयसम्भविनि क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे वा, सर्वदर्शनमोहनीयक्षयसमुत्थक्षायिकसम्यक्त्वे वा सति द्रष्टव्यम्।" इति ।

'सासायणं च' त्ति, 'सास्वादनं च' चकारः समुच्चये, आस्वाद आस्वादनम्, भावेऽनट् प्रत्ययः। सह आस्वादनेन=सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनम्, यथाहि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तपुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथाऽत्राऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्वमतस्तद्रसास्वादो भवतीति कृत्वा सास्वादनमुच्यते। अथवा सासादनमिति पदसंस्कारः कार्यः। तत्र आयम्=औपशमिकसम्यक्त्वलक्षणं लाभं सादयति=अपनयतीत्यासादनम्=अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् "पृषोदरादय" (सिद्धहेम० ३-२-५५) इत्यनेन शाब्दिकसूत्रेण यलोपः, "रम्यादिभ्य कर्तरि" (सिद्धहेम० ५-३-१२६) इत्यनेन च सूत्रेण अनट् प्रत्ययः, सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेणोत्कर्षतश्च षड्भिरावलिकाभिरपगच्छति। ततः सहाऽऽसादनेन वर्तत इति सासादनम्।

अथ सम्यक्त्वप्रतिपक्षभूतं मार्गणाद्वयमाचष्टे-'मि' इत्यादि, 'मिश्रम्' औपशमिकसम्यक्त्वेनौषधिविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीयं मिथ्यात्वं त्रिधा करोति, शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्धं च। तत्र शुद्धं सम्यक्त्वमोहनीयम्, अर्धविशुद्धं मिश्रमोहनीयम्, अविशुद्धं च मिथ्यात्वम्। अर्धविशुद्ध-पुञ्जोदयात् प्राणी जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्दधाति, ना-ऽपि निन्दति। उक्तं च बृहच्छतक-बृहच्चूर्णौ-"जहा नालिकेरदीववासिस्स अइच्छुहियस्स वि पुरिसस्स इत्थ ओयणाइए अणेगहा वि ढोइए, तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा।" इत्यादि।

'मिच्छं' त्ति, भावनिर्देशाद् मिथ्यात्वम्=अदेवदेवबुद्धयगुरुगुरुबुद्धयतत्त्वतत्त्वबुद्धिलक्षणम्। तद्विशेषस्वरूपं त्वग्रे वक्ष्यामः।

एवमुक्ता सम्यक्त्वमार्गणा सप्रभेदा सप्तधा, [१]सम्यक्त्व- [२]क्षायिकसम्यक्त्वौ[३]पशमिकसम्यक्त्व-[४]क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-[५]सास्वादन-[६]मिश्र-[७]मिथ्यात्वभेदात्।

अथ संज्ञिमार्गणास्थानस्य द्वौ भेदौ समर्थयन्नाह-'सण्णी' इत्यादि, 'संज्ञी' विशिष्टस्मरणादिमनोविज्ञानभाक् संज्ञी, स च मूलमार्गणाप्ररूपणा-ऽवसरे विस्तरेण व्याख्यातः 'तथा' तथा-शब्दः समुच्चयार्थकः, 'असंज्ञी' संज्ञिभिन्नोऽसंज्ञी, सर्वोऽप्येकेन्द्रियादिः।

साम्प्रतमाहारकमार्गणाया भेदद्वयं प्रतिपादयति–'आहा०' त्ति, 'आहारा-ऽनाहारौ' आहारश्च=आहारकश्च अनाहारश्च=अनाहारकश्चेत्याहाराऽनाहारौ । तत्राऽऽहारकमार्गणा विस्तरेण मूलमार्गणाप्ररूपणावसरे प्रपञ्चिता । तद्विपरीता-ऽनाहारकमार्गणा । तस्या इदं विस्तरव्याख्यानम्–अनाहारकाश्चतुर्धा विग्रहगतिप्राप्ताः केवलिसमुद्घातापन्ना अयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च । यदुक्तं **बृहत्संग्रहण्याम्**–

"विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य । सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥१॥" इति ।

इह विग्रहगतिप्राप्ताः केवलिसमुद्घातापन्नाश्चात्र विविच्यन्ते, शेषास्त्वग्रे व्याख्यास्यन्ते । तत्र विग्रहो वक्रोऽनृजुरित्येकार्थाः । जीवस्य मरणस्थानादग्रेतनभवोत्पत्तिस्थानप्राप्तिहेतुका गतिर्द्विधा ऋजुगतिर्वक्रगतिश्चेति । यदा जीवो मरणस्थानात् पारभविकस्थानं समश्रेण्यैकेनैव समयेन प्राप्नोति, तदा ऋजुगतिरुच्यते । अस्यां च नियमादाहारको भवति, परित्याज्यशरीरे गृहीताऽऽहारानन्तरं परभवप्रथमसमय आहारग्रहणेनाऽऽहरणीयपुद्गलानां व्यवच्छेदाभावात् । यदा मरणस्थानमुत्पत्तिस्थानं च किञ्चिद् वक्रं भवति, तदा जीवो विग्रहगत्योत्पद्यते । तस्या इयं व्युत्पत्तिः–विग्रहा च=वक्रा चा-ऽसौ गतिश्च विग्रहगतिः, यद्वा विग्रहेण=कौटिल्येन गतिर्विग्रहगतिः, अथवा वि=विशिष्टो ग्रहः=विशिष्टस्थानप्राप्तिः, तद्हेतुभूता गतिर्विग्रहगतिः, यद्वा वि=विरुद्धो ग्रहः=पुद्गलादानं विग्रहः पुद्गलाग्रहणमित्यर्थः, विग्रहेण=औदारिकादिपुद्गलाग्रहणेन गतिर्विग्रहगतिः । अथवा वि=विविधान् औदारिकादिशरीरनामकर्मोदयात् स्वनिर्वर्तनसमर्थान् पुद्गलान् गृह्णातीति विग्रहः "अच्" (सिद्धहेम० ५-१-५१) इत्यनेन कर्तरि अच् प्रत्ययः । यद्वा विगृह्यतेऽसौ इति विग्रहः "युवर्णवृदृवशरणगमृद्ग्रहः" (सिद्धहेम० ५-३-२९) इत्यनेन सूत्रेण कर्मणि अल्प्रत्ययः, शरीरमित्यर्थः, **यदुक्तममरकोशे**–"गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः ।" इति । ततो विग्रहाय गतिर्विग्रहगतिः, रूढिवशाद् वक्रगत्या शरीरग्रहणार्था गतिर्विग्रहगतिरुच्यते ।

यदा कश्चिन्मत्स्यादिर्भरतस्य पूर्वभागादैरवतपश्चिमभाग उत्पद्यते, तदैकसमयेन भरतस्य पूर्वभागात् तत्पश्चिमभागं व्रजति, जीवस्याऽनुश्रेणिगमनात् । ततो द्वितीयेन समयेनैरवतपश्चिमभागे समुत्पद्यते । एवमेकेन वक्रेणोत्पद्यते । यदा कश्चिन्मत्स्यादिर्भरतस्य पूर्वभागादैरवतपश्चिमभागस्याऽधस्तान्नरकेषूत्पद्यते, तदा द्वाभ्यां वक्राभ्यामुत्पद्यमानः समयत्रयेण स्वोत्पत्तिस्थानं लभते । समयद्वयभावना तु प्राग्वत्, नवरं द्वितीयसमय ऐरवतपश्चिमभागं प्राप्य तृतीयसमय ऐरवतपश्चिमभागतोऽधोऽवतीर्य नरकेषूत्पद्यते । यदा कश्चित् त्रसनाड्या बहिरधोलोके विदिशि व्यवस्थित ऊर्ध्वलोके त्रसनाड्या बहिः पूर्वादिदिशि समुत्पद्यते, स त्रिभिर्वक्रैरुत्पद्यमानः समयचतुष्टयेन स्वोत्पत्तिस्थानं लभते । तथाहि–त्रसनाड्या बहिर्म्रियमाण एकसमयेन विदिशातो दिशामधिगच्छति, ततो द्वितीये समये त्रसनाडीं प्रविशति । ततस्तृतीयसमय ऊर्ध्वलोकं गच्छति । चतुर्थसमये तु त्रसनाड्या बहिर्निष्क्रम्योत्पद्यते । इत्थमेकविग्रहा द्विसामयिकी, द्विविग्रहा त्रिसामयिकी, त्रिविग्रहा च चतुःसामयिकी

भवति । तत्र द्विसामयिकी कूर्परवक्रगतिः, त्रिसामयिकी लाङ्गुलविग्रहगतिश्चतुःसामयिकी च गोमूत्रिकाविग्रहगतिः, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहमूलवृत्तौ**–"त्रिविधा वक्रगति, द्विसामयिकी कूर्परवक्रगति, त्रिसामयिकी लाङ्गुलवक्रगति, चतु सामयिकी गोमूत्रिकावक्रगति ।" इति ।

तत्र चैकविग्रहगत्या द्वाभ्यां समयाभ्यां समुत्पद्यमानः प्रथमसमयेऽनाहारको भवति, द्वितीयसमये त्वाहारकः । यदा द्वाभ्यां विग्रहगतिभ्यां समयत्रयेण समुत्पद्यते, तदा प्रथमे द्वितीये च समयेऽनाहारको भवति, तृतीये त्वाहारकः । यदा त्रिभिर्वक्रैश्चतुर्भिस्समयैरुत्पद्यते, तदा-ऽऽद्ये समयत्रयेऽनाहारकश्चतुर्थसमये त्वाहारकः । अन्ये त्वाहुः–यदा विदिशि त्रसनाड्या बहिर्व्यवस्थितो विदिशि त्रसनाड्या बहिरेवोत्पद्यते, तदा वक्रचतुष्टयमपि संभवतीति । तद्भावना तु समयचतुष्कवत् कार्या, नवरं चतुर्थसमये त्रसनाड्या बहिर्निर्गत्य पूर्वादिदिशां चाऽधिगत्य पञ्चमसमये विदिशि स्वोत्पत्तिस्थानं लभत इति बोध्यम् । उक्तं च–"विदिसाउ दिस पढमे वीए पइसरइ लोयनाडीए । तइए उप्पि धावइ चउत्थए नीइ बाहिं तु ॥१॥ पचमए विदिसीए गतु उप्पज्जए उ एगिंदि त्ति " ।

इत्थं चतुर्वक्रभवनात् चतुरः समयान् यावदनाहारकत्वं संभवति, किन्तु पञ्चसामयिकविग्रहगतिः सम्भवमात्रमाश्रित्य प्रोक्ता, आगमेषु प्रायेण त्रिभिर्वक्रैरेव बहुलतयोत्पत्तिर्दर्श्यते, तेन न त्रसनाड्या बहिर्विदिशातो विदिशायामुत्पत्तिः । यदुक्तं **व्याख्याप्रज्ञप्तौ**–"अपज्जत्तगसुहुमपुढविकाइएण भंते ! अहोलोगखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समारोहेए समारोहणित्ता जे भविए उड्ढलोयखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए । से ण भंते ! कतिसमइएण विग्गहेण उववज्जेज्जा ? गो० ! तिसमइएण वा चउसमए वा विग्गहेण उववज्जेज्जा ।" इति । एवं **व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तावपि**–"अन्ये त्वाहु –वक्रचतुष्टयमपि सभवति, यदा हि विदिशो विदिश्येवोत्पद्यते, तत्र समयत्रय प्राग्वत्, चतुर्थे समये तु नाडीतो निर्गत्य समश्रेणि प्रतिपद्यते, पञ्चमे तूत्पत्तिस्थान प्राप्नोति, तत्र चाद्ये समये वक्रचतुष्ट्य स्यात्, तत्रा-ऽनाहारक इति । इद च सूत्रे न दर्शित प्रायेणेत्थमनुत्पत्तेरिति ।" इति ।

यद्वाऽल्पत्वादिहेतुना न विवक्षिता पञ्चसामयिकी चतुर्विग्रहा, यदुक्तं **विशेषणवत्याम्**–
"सुत्ते चउसमयाओ नत्थि गई उ परा विणिद्दिट्ठा । जुज्जइ य पचसमया जीवस्स इमा गई लोए ॥१॥
जो तमतमविदिसाए समोहओ बभलोगविदिसाए । उववज्जेइ गईए सो नियमा पचसमयाए ॥२॥
उजुआयतेगवक्का दुहओवका गई विणिद्दिट्ठा । जुज्जइ य ति चउवका वि नाम चउपचसमयाए ॥३॥
उववायाभाओ न पचसमया-ऽहवा न सता वि । भणिया जह चउसमया महल्लबधे न सता वि ॥४॥" इति ।

ननु भवता यदुक्तम्–विग्रहगतौ उत्कृष्टतस्त्रीन् समयान् यावदनाहारको भवतीति, तत्कथं सङ्गच्छते, यतो ग्रन्थान्तरेषु द्वौ समयौ यावदानाहारकत्व प्रतिपाद्यते । यदुक्त **तत्त्वार्थसूत्रे**–"एकं द्वौ वा-ऽनाहारक "इति । तत्रैव **तद्भाष्येऽपि**–'विग्रहगतिसमापन्नो जीव एक वा द्वौ वा समयावनाहारको भवति, शेष कालमनुसमयमाहारयति ।" इति चेत्, उच्यते–सत्यमेतत्, किन्त्वेकत्रनिश्चयनयसमाश्रयणादन्यत्र पुनर्व्यवहारनयाश्रयणाद् मतद्वयमपि न परस्पर विरुद्धयते, उभयनयात्मकत्वाज्जिन-

मतस्य । तथाहि–पूर्वभवशरीरमस्मिन्नाद्यसमये मुच्यमान मुक्तमशरीरीभूतमित्यनाहारको-ऽयम् , अत्र क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदनिश्चयनयमतमाश्रीयते । तेन त्रीन् समयाननाहारक इति सुघटते । **तत्त्वार्थसूत्रभाष्यवृत्तिकृदादयस्तु**–आद्यसमयेऽनाहारकोऽसौ न भवति, पूर्वशरीरं ह्यत्र मुच्यमानं न मुक्तम् , अत एवा ऽयं पूर्वभवचरमसमयः, न तु परभवप्रथमसमयः, पूर्वशरीरस्याद्यापि सद्भावे च कथमसावनाहारक इति वक्तं शक्यते, तेन विग्रहत्रये द्वौ समया अनाहारको भवति, क्रियाकालनिष्ठाकालयोर्भेदवादिव्यवहारनयसमाश्रयणादित्यभिप्रायेण प्राहुः । केचित्तु **तत्त्वार्थसूत्रो**क्तवाशब्दात् त्रीन् समयान् अनाहारक इति व्याख्यान्ति, यदुक्तं **श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्तौ श्रीहरिभद्रसूरीश्वरपादैः**–"एकान्यास्त्रीन् समयान् विग्रहगतिमापन्ना अनाहारका उक्तं च' एकं द्वौ वानाहारक" इति (तत्त्वार्थधिगमसूत्र२-३१) वाशब्दात्त्रिसमयग्रह ।" इति । प्रकृतग्रन्थे तु त्रिसामयिको-ऽनाहारको विवक्षित इति ध्येयम् ।

केवलिसमुद्घातं समाश्रित्या-ऽप्यानाहारकमार्गणा त्रिसामयिकी भवति, यतः केवलिसमुद्घातस्य तृतीयसमये चतुर्थसमये पञ्चमे च समये केवली भगवाननाहारको भवति । यदुक्तं **प्रशमरतिप्रकरणे**—

"कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥१॥', इति

केवलिसमुद्घातस्वरूपं तु **त्वस्मत्कृतस्वोपज्ञक्षपकश्रेणिटीकातो**ऽवसेयं विशेषार्थिना, ग्रन्थगौरवभयान्ना-ऽत्र वितन्यते ।

सम्प्रति निगमयन्नाह–'इइ' इत्यादि, 'इति' इतिशब्द इयत्ताऽवधारणार्थकः 'उत्तरमार्गणाः' मूलमार्गणानां भेदप्रभेदसहिता उत्तरमार्गणाश्चतुःसप्तत्यधिकशतसंख्याकाः (१७४) 'ज्ञेयाः' बोध्याः । विशेषार्थिना मूलोत्तरमार्गणास्वरूपाऽवबोधार्थमस्मद्गुरुचरणविरचित**मार्गणाद्वारग्रन्थो**–ऽवलोकनीयः, तत्र न्यक्षेण प्रावर्णितत्वात् ॥३७,३८॥



१७४ उत्तरमार्गणानां यन्त्रम् (गाथा २९-३८)

संख्यया	मार्गणास्थानानि
↓	गति (४७) [गाथा २९, ३०]
१	नरकगतिसामान्यम्,
७	रत्नप्रभादिपृथिवीभेदात्,
१	तिर्यग्गतिसामान्यम्,
१	तिरश्ची,
१	पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्यम्,
१	पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्,
१	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्,
१	मनुष्यगतिसामान्यम्,
१	मानुषी,
१	पर्याप्तमनुष्य,
१	अपर्याप्तमनुष्य,
१	देवगतिसामान्यम्,
३	भवन-व्यन्तर-ज्योतिष्का,
१२	सौधर्मादिकल्पापपन्नभेदात्,
९	नवग्रैवेयकभेदात्,
५	पञ्चानुत्तरभेदात्,
	इन्द्रियम् (१९) [गाथा ३१]
❀७	एकेन्द्रिये,
★३	द्वीन्द्रिये,
★३	त्रीन्द्रिये,
★३	चतुरिन्द्रिये,
★३	पञ्चेन्द्रिये,

संख्यया	मार्गणास्थानानि
↓	काय (४२) [गाथा ३२, ३३]
❀७	पृथिवीकाये,
❀७	अप्काये,
❀७	तेज काये,
❀७	वायुकाये,
१	वनस्पतिकायसामान्यम्,
★३	प्रत्येकवनस्पतिकाये,
❀७	साधारणवनस्पतिकाये,
★३	त्रसकाये,
	योग (१८) [गाथा ३४]
—५	मनोयोगे,
—५	वचोयोगे,
१	काययोगसामान्यम्
१	औदारिक,
१	औदारिकमिश्र,
१	वैक्रिय,
१	वैक्रियमिश्र,
१	आहारक,
१	आहारकमिश्र,
१	कार्मण,
	वेद (४) [गाथा ३५]
१	स्त्रीवेद,
१	पुरुषवेद,
१	नपुंसकवेद,
१	अपगतवेद,

संख्यया	मार्गणास्थानानि
↓	कषाय (५) [गाथा ३५]
१	क्रोध,
१	मान,
१	माया,
१	लोभ,
१	अकषाय,
	ज्ञानम् (८) [गाथा ३५]
१	मतिज्ञानम्,
१	श्रुतज्ञानम्,
१	अवधिज्ञानम्,
१	मन पर्यवज्ञानम्,
१	केवलज्ञानम्,
१	मत्यज्ञानम्
१	श्रुताज्ञानम्
१	विभङ्गज्ञानम्,
	संयम (८) [गाथा ३६]
१	संयमसामान्यम्,
१	सामायिक,
१	छेदोपस्थापन,
१	परिहारविशुद्धिक,
१	सूक्ष्मसम्पराय,
१	यथाख्यात,
१	देशसंयम,
१	असंयम,
	दर्शनम् (४) [गाथा ३६]
१	चक्षुर्दर्शनम्,
१	अचक्षुर्दर्शनम्,
१	अवधिदर्शनम्,
१	केवलदर्शनम्,

संख्यया	मार्गणास्थानानि
↓	लेश्या ६ [गाथा ३७]
१	कृष्णलेश्या,
१	नीललेश्या,
१	कापोतलेश्या,
१	तेजोलेश्या,
१	पद्मलेश्या,
१	शुक्ललेश्या,
	भव्य (२) [गाथा ३७]
१	भव्य,
१	अभव्य,
	सम्यक्त्वम् (७) [गाथा ३७,३८]
१	सम्यक्त्वसामान्यम्,
१	क्षायिकम्,
१	क्षायोपशमिकम्,
१	औपशमिकम्,
१	सासादनम्,
१	मिश्रम्,
१	मिथ्यात्वम्,
	संज्ञी (२) [गाथा ३८]
१	संज्ञी,
१	असंज्ञी,
	आहारक (२) [गाथा ३८]
१	आहारक,
१	अनाहारक,

❀ [1]सामान्य–[2]सूक्ष्मसामान्य–[3]सूक्ष्मपर्याप्त–[4]बादरसामान्य–[6]बादरपर्याप्त–[7]बादरापर्याप्तभेदात् सप्त।

★ [1]सामान्य–[2]पर्याप्ता–[3]अपर्याप्तभेदात् त्रीणि।

— [1]सामान्य–[2]सत्या–[3]ऽसत्य–[4]सत्यासत्या–[5]ऽसत्यामृषभेदात् पञ्च।

मतस्य । तथाहि–पूर्वभवशरीरमस्मिन्नाद्यसमये मुच्यमान मुक्तमसारीभूतमित्यनाहारको-ऽयम् , अत्र क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदनिश्चयनयमतमाश्रीयते । तेन त्रीन् समयाननाहारक इति सुघटते । **तत्त्वार्थसूत्रभाष्यवृत्तिकृदादय**स्तु–आद्यसमयेऽनाहारकोऽसौ न भवति, पूर्वशरीरं ह्यत्र मुच्यमानं न मुक्तम् , अत एवा ऽय पूर्वभवचरमसमयः, न तु परभवप्रथमसमयः, पूर्वशरीरस्याद्यापि सद्भावे च कथमसावनाहारक इति वक्तुं शक्यते, तेन विग्रहत्रये द्वौ समया अनाहारको भवति, क्रियाकालनिष्ठाकालयोर्भेदवादिव्यवहारनयसमाश्रयणादित्यभिप्रायेण प्राहुः । केचित्तु **तत्त्वार्थसूत्रो**क्तवाशब्दात् त्रीन् समयान् अनाहारक इति व्याख्यान्ति, यदुक्त **श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्तौ श्रीहरिभद्रसूरीश्वरपादैः**–"एकाद्यास्त्रीन् समयान् विग्रहगतिमापन्ना अनाहारका उक्त च' एक द्वौ वानाहारक" इति (तत्त्वार्थधिगमसूत्र २-३१) वाशब्दात्त्रिसमयग्रह ।" इति । प्रकृतग्रन्थे तु त्रिसामयिको-ऽनाहारको विवक्षित इति ध्येयम् ।

केवलिसमुद्घातं समाश्रित्या-ऽप्यानाहारकमार्गणा त्रिसामयिकी भवति, यतः केवलिसमुद्घातस्य तृतीयसमये चतुर्थसमये पञ्चमे च समये केवली भगवाननाहारको भवति । यदुक्तं **प्रशमरतिप्रकरणे**—

"कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥१॥', इति

केवलिसमुद्घातस्वरूप तु **त्वस्मत्कृतस्वोपज्ञक्षपकश्रेणिटीकातो**ऽवसेयं विशेषार्थिना, ग्रन्थगौरवभयान्ना-ऽत्र वितन्यते ।

सम्प्रति निगमयन्नाह–'इइ' इत्यादि, 'इति' इतिशब्द इयत्ताऽवधारणार्थकः 'उत्तरमार्गणाः' मूलमार्गणानां भेदप्रभेदसहिता उत्तरमार्गणाश्चतुःसप्तत्यधिकशतसंख्याकाः (१७४) 'ज्ञेयाः' बोध्याः । विशेषार्थिना मूलोत्तरमार्गणास्वरूपाऽवबोधार्थमस्मद्गुरुचरणविरचित**मार्गणाद्वारग्रन्थो**–ऽवलोकनीयः, तत्र न्यक्षेण प्रावर्णितत्वात् ॥३७,३८॥



१७४ उत्तरमार्गणानां यन्त्रम् (गाथा २९-३८)

गति (४७) [गाथा २९, ३०]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	नरकगतिसामान्यम्,
७	रत्नप्रभादिपृथिवीभेदात्,
१	तिर्यग्गतिसामान्यम्,
१	तिरश्ची,
१	पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्यम्,
१	पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्,
१	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्,
१	मनुष्यगतिसामान्यम्,
१	मानुषी,
१	पर्याप्तमनुष्य,
१	अपर्याप्तमनुष्य,
१	देवगतिसामान्यम्,
३	भवन-व्यन्तर-ज्योतिष्का,
१२	सौधर्मादिकल्पोपपन्नभेदात्,
९	नवग्रैवेयकभेदात्,
५	पञ्चानुत्तरभेदात्,

इन्द्रियम् (१६) [गाथा ३१]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
❀७	एकेन्द्रिये,
★३	द्वीन्द्रिये,
★३	त्रीन्द्रिये,
★३	चतुरिन्द्रिये,
★३	पञ्चेन्द्रिये,

काय (४२) [गाथा ३२, ३३]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
❀७	पृथिवीकाये,
❀७	अप्काये,
❀७	तेज काये,
❀७	वायुकाये,
१	वनस्पतिकायसामान्यम्,
★३	प्रत्येकवनस्पतिकाये,
❀७	साधारणवनस्पतिकाये,
★३	त्रसकाये,

योग (१८) [गाथा ३४]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
—५	मनोयोगे,
—५	वचोयोगे,
१	काययोगसामान्यम्
१	औदारिक,
१	औदारिकमिश्र,
१	वैक्रिय,
१	वैक्रियमिश्र,
१	आहारक,
१	आहारकमिश्र,
१	कार्मण,

वेद (४) [गाथा ३५]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	स्त्रीवेद,
१	पुरुषवेद,
१	नपुंसकवेद,
१	अपगतवेद,

कषाय (५) [गाथा ३५]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	क्रोध,
१	मान,
१	माया,
१	लोभ,
१	अकषाय,

ज्ञानम् (८) [गाथा ३५]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	मतिज्ञानम्,
१	श्रुतज्ञानम्,
१	अवधिज्ञानम्,
१	मनःपर्ययज्ञानम्,
१	केवलज्ञानम्,
१	मत्यज्ञानम्
१	श्रुताज्ञानम्
१	विभङ्गज्ञानम्,

संयम (८) [गाथा ३६]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	संयमसामान्यम्,
१	सामायिक,
१	छेदोपस्थापन,
१	परिहारविशुद्धिक,
१	सूक्ष्मसम्पराय,
१	यथाख्यात,
१	देशसंयम,
१	असंयम,

दर्शनम् (४) [गाथा ३६]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	चक्षुर्दर्शनम्,
१	अचक्षुर्दर्शनम्,
१	अवधिदर्शनम्,
१	केवलदर्शनम्,

लेश्या ६ [गाथा ३७]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	कृष्णलेश्या,
१	नीललेश्या,
१	कापोतलेश्या,
१	तेजोलेश्या,
१	पद्मलेश्या,
१	शुक्ललेश्या,

भव्य (२) [गाथा ३७]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	भव्य,
१	अभव्य,

सम्यक्त्वम् (७) [गाथा ३७,३८]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	सम्यक्त्वसामान्यम्,
१	क्षायिकम्,
१	क्षायोपशमिकम्,
१	औपशमिकम्,
१	सासादनम्,
१	मिश्रम्,
१	मिथ्यात्वम्,

संज्ञी (२) [गाथा ३८]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	संज्ञी,
१	असंज्ञी,

आहारक (२) [गाथा ३८]

सङ्ख्यया	मार्गणास्थानानि
१	आहारक,
१	अनाहारक,

❀ [१]सामान्य–[२]सूक्ष्मसामान्य–[३]सूक्ष्मपर्याप्त–[५]बादरसामान्य–[६]बादरपर्याप्त–[७]बादरापर्याप्तभेदात् सप्त ।

★ [१]सामान्य–[२]पर्याप्ता–[३]ऽपर्याप्तभेदात् त्रीणि ।

— [१]सामान्य–[२]सत्या–[३]ऽसत्य–[४]सत्यासत्या–[५]ऽसत्यामृषभेदात् पञ्च ।

मूलप्रकृतिबन्धग्रन्थे पञ्चाऽधिकाराः

"एक्केक्को उण दुविहो मूलुत्तरपयडिभेअत्तो" इत्यनेन गाथांशेन प्रकृतिबन्धो द्विविधः प्रतिपादितो मूलप्रकृतिबन्ध उत्तरप्रकृतिबन्धश्चेति । सम्प्रति मूलप्रकृतिबन्धं विशेषतः प्रतिपिपादयिषुरादौ तावद् मूलप्रकृतिबन्धाधिकारनामानि तद्गतद्वारसङ्ख्यां च प्राह—

मूलपयडिबंधे पण अहिगारा पढमठाणभूगारा ।
पयणिक्खेवो वड्ढी जहाकमेणं मुणेयव्वा ॥३९॥
तेसुं पढमाईसुं अहिगारेसुं हवन्ति दाराणि ।
पणरस चउदस तेरस तिण्णि य तेरस जहाकमसो ॥४०॥

(प्रे०) "मूल०" इत्यादि, 'मूलप्रकृतिबन्धे' उक्तनिरुक्तीनां ज्ञानावरणादिरूपाणामष्टसङ्ख्यकानां मूलप्रकृतीनां यो बन्धः, तत्प्रतिपादके ग्रन्थे 'पञ्च' पञ्चसङ्ख्यका 'अधिकाराः' मूलप्रकृतिबन्धविषयप्रतिपादनपराः प्रकरणविशेषाः सन्तीत्युपस्कारः । अथ नामग्राहं तान् भणति—' ०' इत्यादि, 'प्रथमस्थानभूयस्काराः' यत्र सत्पद-स्वामित्व-साद्यादिपञ्चदशद्वाराण्यधिकृत्य "इह पढमे अहिगारे' इत्यादिगाथाभिर्मूलप्रकृतिबन्धश्चिन्तयिष्यते, स सर्वप्रथमतो वक्तव्यत्वात् प्रथमाधिकारः । द्वितीयः स्थानाधिकारः, यत्रा-ऽष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मक षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानानि स्वामित्वादिचतुर्दशद्वाराण्यधिकृत्य "बीये" इत्यादिगाथाभिर्विचारयिष्यन्ते, स स्थानाधिकारः । तृतीयो भूयस्काराधिकारः, यत्र स्वामित्वादित्रयोदशद्वाराण्यधिकृत्य "तइए भूओगारे अहिगारम्मि' इत्यादिगाथाभिर्भूयस्काराल्पतराऽवस्थिताऽवक्तव्याः प्रतिपादयिष्यन्ते, स भूयस्काराधिकारः, अस्मिन्नधिकारे प्रतिपाद्यमानत्वेनाऽल्पतरादीनां सत्त्वेऽपि लाघवार्थमधिकाराऽभिधानप्रस्तावे भूयस्कारस्यैव ग्रहणं कृतम् । "पयणिक्खेवो' त्ति, 'पदनिक्षेपः' चतुर्थः पदनिक्षेपाधिकारः, यत्र भूयस्कारप्रकृतिबन्धादीनां जघन्योत्कृष्टवृद्धिहानिपदानि सत्पदस्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वाख्यानि त्रीणि द्वाराणि प्रस्तुत्य "तुरिए पयणिक्खेवो" इत्यादिगाथाभिः [illegible]पादयिष्यन्ते, स पदनिक्षेपाधि[illegible]रः ।

'वड्ढी' त्ति, 'वृद्धिः' पञ्चमो वृद्ध्यधिकारः, यत्र भूयस्कारप्रकृतिबन्धादीनां संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिरुपलक्षणत्वाच्च संख्येयभागहानिः सख्येयगुणहानिश्च सत्पदादित्रयोदशद्वाराण्यधिकृत्य "णेयाणि वड्ढिबधो" इत्यादिगाथाभिर्निरूपयिष्यन्ते, स वृद्ध्यधिकारः । पदनिक्षेपाधिकारे वृद्धिहानिश्च जघन्योत्कृष्टरूपेण प्ररूपयिष्येते, इह वृद्ध्यधि[illegible]रे तु सख्येयभागादिरूपेण निरूपयिष्येते इत्युभयोर्विवेकः ।

अथ प्रथमादिपञ्चाधिकाराणां द्वारसङ्ख्यामभिधित्सुराह—'तेसु" इत्यादि, 'तेषु प्रथमादिषु' अनन्तरोक्तेषु प्रथम-स्थान-भूयस्कार-पदनिक्षेप-वृद्धिरूपेषु पञ्चाधिकारेषु 'यथाक्रमशो' यथाक्रमं पञ्चदश चतुर्दश त्रयोदश त्रीणि त्रयोदश च द्वाराणि भवन्ति । एतानि द्वाराणि तत्तदधिकारप्रारम्भे द्वारगाथावृत्तौ नामग्राहं व्याख्यास्यन्ते ।३९,४०।

अथ प्रथमाधिकारः

"यथोद्देश निर्देश" इति न्यायेनादौ तावत् प्रथमाधिकारो व्याख्येयः। तेन यानि द्वाराणि समाश्रित्य प्रथमाधिकारं प्रतिपादयिष्यति, तानि द्वाराणि नामग्राहं प्राह–

अह आइमाहिगारे पण्णरह दुआरगाणि संतपयं ।
सामित्तसाइआइं कालंतरसण्णियासा य ॥४१॥
भंगविचयो उ भागो परिमाणं खेत्तफोसणा कालो ।
अंतरभावऽप्पबहू विण्णेयाइं जहाकमसो ॥४२॥

'अह' इत्यादि, 'अथ' अथशब्द आनन्तर्यार्थकः, अधिकारनामानन्तरम् 'आदिमाधिकारे' प्रथमाधिकारे 'पञ्चदश' पञ्चदशसख्याकानि द्वाराणि बोध्यानीति शेषः। एतैः पञ्चदशभिर्द्वारैर्मूलप्रकृतिबन्धस्य विस्तराऽधिगमो भवतीति कृत्वैतावन्ति द्वाराण्यभिहितानि।

अथाद्यद्वार प्राह–'**संतपयं**' ति, 'सत्पद' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सत्पदप्ररूपणम्, तत्र भावप्रधाननिर्देशात् सत्ताऽभिधायक पद सत्पदम्, तस्य प्ररूपणं सत्पदप्ररूपणम्, यद्वा सदर्थविषयं पदं सत्पदम्, तस्य प्ररूपणं सत्पदप्ररूपणम्। इदमुक्तं भवति–इह घटपटादीनि पदानि सदर्थविषयाणि दृश्यन्ते, खरशृङ्गव्योमकुसुमादीनि पुनरसदर्थविषयकाणि। बाह्यार्थेषु हि सत्सु घटपटादीनि पदानि प्रवर्तन्ते, खरविषाणादिपदानि त्वसत्स्वपि बाह्यार्थेषु। इह प्रथम तावत् पर्यालोचनीयम्–किं मूलप्रकृतिबन्धपद सदर्थविषयम्, उत खरविषाणादिवदसदर्थविषयमिति। सत एव हि पदस्याऽर्थस्य स्वामित्वादीनि प्रतीत्य चिन्ता युज्यते, अतस्तस्यादौ वचनम्।

अथ सत्पदादिद्वारैरधिगमो यथा जायते, तथा किञ्चिद् द ते–किं मूलप्रकृतिबन्धोऽस्ति? उच्यते–अस्ति। केषामस्ति? इति चेत्, भण्यते–जीवानामस्ति, अजीवानां च नास्ति। किं सर्वजीवानां समस्ति? न तावत् सर्वजीवानाम्, किं तर्हि? उच्यते–सयोगिकेवलिपर्यवसानानां जीवानामस्ति, अयोगिनां सिद्धानां च नास्ति।

किं सर्वमूलप्रकृतिबन्धः सयोगिकेवलिपर्यवसानानां जीवानां समस्ति? न तावत् सर्वेषां सयोगिकेवलिपर्यवसानानाम्, किं तर्हि? उच्यते–मिश्रदृष्टिवर्जानामप्रमत्तपर्यवसानानां जीवानां सप्तप्रकृतिबन्धो नियतोऽस्ति, आयुर्बन्धस्तु भाज्यः, मिश्रा-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाख्यगुणस्थानकत्रयवर्तिनां सप्तमूलप्रकृतिबन्धो नियतोऽस्ति, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकवर्तिजीवानां षट्प्रकृतिबन्धोऽस्ति, शेषाणामेकप्रकृतिबन्धोऽस्ति, इत्थमेव शेषद्वाराण्यप्यधिकृत्य भावनीयो मूलप्रकृतिबन्धः। एवमादेशतोऽपि नरकगत्यादिषु मूलप्रकृतिबन्धः सत्पदादिद्वारैः पर्यालोचनीयः।

'**सामित्तसाइआइं**' त्ति, 'स्वामित्वसाद्यादि' कृतसमाहारद्वन्द्वौ एतौ प्रथमया निर्दिष्टौ, प्रकृतत्वाच्च द्वारशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, स्वामित्वद्वारं साद्यादिद्वारं च। तत्र स्वमस्त्यस्येति स्वामी,

"स्वान्मिन्नीशे" (सिद्धहेम० ७ २ ४१) इत्यनेन सूत्रेण स्मिन् प्रत्ययः, प्रभुरित्यर्थः, तस्य भावः स्वामित्वम् "भावे त्वतल्" (सिद्धहेम० ७-१-५५) इत्यनेन सूत्रेण त्वप्रत्ययः, आधिपत्यमित्यर्थः, मिथ्यादृष्ट्यादिषु के जीवा ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनां बन्धकाः, के पुनर्नेति स्वामित्वद्वारेण सविस्तरं प्रतिपादयिष्यते।

सह आदिना=प्रारम्भेण वर्तत इति सादिः, सादिरादौ यस्य द्वारस्य, तत् साद्यादि, यद्वा सादिरादिर्यस्य द्वारस्य, तत् साद्यादि। आदिशब्दाद् अनादिध्रुवोऽध्रुवश्च गृह्यन्ते। अनेन द्वारेण मूलप्रकृतिबन्धः सादिरनादिर्वा, ध्रुव आहोस्विद् अध्रुव इत्योघतो गत्यादिमार्गणासु च चिन्तयिष्यते।

'**कालान्तरसण्णियासा य**' त्ति, 'काला-ऽन्तर-सन्निकर्षाश्च' तत्र "कलण सङ्ख्याने" कल्यते= परिच्छिद्यतेऽसौ अनेन वेति काल इति कर्मसाधनः करणसाधनो वा कालशब्दः, यद्वा कलानां समयादिरूपाणां समूहः कालः "श्वादिभ्योऽञ्" (सिद्धहेम० ६-२ २६) इत्यनेनाऽञ् प्रत्ययः, श्वादेराकृतिगणत्वात्। कालश्च समयाऽऽवलिका-मुहूर्ता-ऽहोरात्र-पक्ष मास-वर्ष पूर्वाङ्ग पूर्व-पूर्वकोटी-पल्योपम-सागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणी-पुद्गलपरावर्त्तादिरूपः। तद्यथा—सर्वसूक्ष्मो निर्विभागः कालांशः समयः, जघन्ययुक्ता-ऽसंख्यातप्रमाणैः समयैरावलिका भवति, यदुक्तम**नुयोगद्वारे**—"असंखिज्जाणं समयाण समुदयसमितिसमागमेण सा एगा आवलिआ त्ति वुच्चइ" इति। षोडशाधिकद्विशतोत्तरसप्तसप्ततिसहस्रोत्तरैककोटिप्रमाणाभिः(१६७७७२१६)आवलिकाभिरेको मुहूर्त्तो भवति, यदुक्तं **नवतत्त्वग्रन्थे**-"एगा कोडी सतसट्ठिलक्खा सत्तहुत्तरीसहस्सा य। दो य सया सोलहिआ आवलिआ इगमुहुत्तम्मि॥१॥" इति। तथा षट्पञ्चाशदधिकद्विशतावलिकाभिः (२५६) एकक्षुल्लकभवो भवति, षट्त्रिंशदधिकपञ्चशतोत्तरपञ्चषष्टिसहस्रैः (६५५३६) क्षुल्लकभवैरेको मुहूर्तो भवति। त्रिंशता(३०)मुहूर्त्तैरहोरात्रः, तैः पञ्चदशभिः (१५) पक्षो भवति, पक्षद्वयेन (२) च मासः, उक्तं चा**ऽनुयोगद्वारे**—"एएणं मुहुत्तपमाणेण तीस मुहुत्ता अहोरत्तं पण्णरस अहोरत्ता पक्खो, दो पक्खा मासो।" इति। द्वादशमासैः (१२) वर्षः, चतुरशीत्या वर्षशतसहस्रैः (८४०००००) एकं पूर्वाङ्गम्, चतुरशीत्या पूर्वाङ्गशतसहस्रैः (८४०००००) एकं पूर्वम्। पूर्वं कोट्या गुण्यते, तदा पूर्वकोटिः। असंख्यातपूर्वकोटिवर्षैरद्धापल्योपमम्, तद्विशेषस्वरूपं त्वनुयोगद्वारादिवृत्तितो-ऽवसेयम्। दशकोटीकोट्यद्धापल्योपमैरेकः सागरोपमो भवति, दशकोटीकोटीसागरोपमैरेकाऽवसर्पिणी, तावत्प्रमाणैरेव सागरोपमैरुत्सर्पिणी। अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः पुद्गलपरावर्तः। यद्यपि ग्रन्थान्तरेषु पूर्वतः परं त्रुटिताङ्गप्रभृतिशीर्षप्रहेलिका ऽवसानपदैरपि कालः प्रतिपाद्यते, तथापीह ग्रन्थे त्रुटिताङ्गादीनां प्रयोजना-ऽभावान्नाऽत्र तानि निरूप्यन्ते।

अथ प्रकृतं प्रस्तुमः—ओघेन जघन्यतः कियन्तं समयादिलक्षणं मूलप्रकृतिबन्धो भवति, उत्कृष्टतः पुनः कियन्तं कालम्? एवं गत्यादिमार्गणास्वपि जघन्यत उत्कृष्टतश्च कालश्चिन्तयिष्यते।

अन्तं रातीति अन्तरम्, अन्तरशब्दो-ऽनेकार्थकः, तथाहि–क्वचिद् अवकाशे वर्तते. यथा–निषीदतोरनयोरन्तरं नास्ति=अवकाशो नास्तीत्यर्थः, क्वचिद् भेदे, यथा–घटपटयोः किमन्तरम्? को भेद इत्यर्थः, क्वचिद् मध्ये, यथा–अन्तरे निपधं नीलं च निदेशाः, क्वचित् छिद्रे, यथा–सान्तरो घटः, येन जलं प्रच्यवते, सच्छिद्र इत्यर्थः, क्वचिदन्यत्वे, यथा–"भावा न भावान्तरज्ञेयरूपा" इति। क्वचिद् बहिर्योगे, यथा–अन्तरायां पुरि, बाह्यायामित्यर्थः। क्वचिदुपसंख्याने, यथा–अन्तरे शाटकाः, क्वचिद् विरहे, यथा–अनभिप्रेतश्रोतृजनान्तरे मन्त्रयते, तद्विरहे मन्त्रयत इत्यर्थः, क्वचिच्चान्तरात्मनि, यथा–अन्तरेण आलोचयितव्यः, अन्तरात्मना-ऽऽलोचयितव्य इत्यादि, इह तु मध्यविरहयोरन्यतरस्मिन् वर्तते. तेन मूलप्रकृतिबन्धपरित्यागे सति पुनस्तत्प्राप्तेर्विरहः, मूलप्रकृतिबन्धपरित्यागतत्प्राप्त्योर्मध्यो वा अन्तरालकालो वेहाऽन्तरमुच्यते। तच्चौघतो गत्यादिमार्गणासु चैकैकमूलप्रकृतिबन्धस्य कियत्? इत्यनेन द्वारेण विमर्शयिष्यते।

सन्निकर्षणं सन्निकर्षः, सन्निपूर्वकात् कृष्धातोर्भावे घञ् प्रत्ययः, संयोगः सम्बन्ध इत्यनर्थान्तरम्, यदुक्तं च **ज्ञातासूत्रे**–"संजोग सन्निगासो पडुच्च सबंध एगट्ठा" इति। यदा ज्ञानावरणं बध्यते, तदा शेषाः काः काः बध्यन्ते, यदा दर्शनावरणं बध्यते, तदा शेषाः काः का बध्यन्त इत्यादि सन्निकर्षद्वारेण चिन्तयिष्यते। मूलगाथायां चकारः समुच्चये। एवमग्रेऽपि।

'भंगविचयो उ' त्ति, 'भङ्गविचयस्तु' भज्यन्ते=विकल्प्यन्त इति भङ्गाः, 'भञ्ज्' धातोर्घञ् प्रत्ययः, विकल्पा इत्यर्थः, विचयन विचयः "युवर्णवृदृवशरण०" (सिद्धहेम० ५-२ १५) इत्यनेन सूत्रेण अल्प्रत्ययः, पर्यालोचनमित्यर्थः। भङ्गानां विचयो भङ्गविचयः। तुशब्दो विशेषार्थद्योतकः, स चेहेतः प्रभृति द्वाराणि नानाजीवानाश्रित्य बोद्धव्यानीति द्योतयति। नानाजीवानाश्रित्य किं मूलप्रकृतीनां सर्वे बन्धका भवन्ति? उत किमेको बन्धकोऽनेके चाऽबन्धकाः, उता-ऽनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक आहोस्विद् अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धकाः, इत्यादि भङ्गविचयद्वारेण चिन्तयिष्यते।

'भागो' त्ति, भागोंऽश इत्येकार्थौ, मूलप्रकृतीनां बन्धकाऽबन्धकानां कतिभागे बन्धका वर्तन्ते? इत्यादि भागद्वारेण प्ररूपयिष्यते। न च बन्धचिन्तायां बन्धकचिन्ता-ऽसङ्गतेति वाच्यम्, पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदेन विरोधाऽभावात्। एवमग्रेऽपि बोध्यम्।

'परिमाणं' ति, 'परिमाणं' परिमीयते=परिच्छिद्यतेऽनेनेति परिमाणमियत्तेत्यर्थः। तच्च परिमाणमेकप्रभृत्युत्कृष्टसंख्यातपर्यवसानलक्षणं संख्येयम्, ततो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नमसंख्येयम्, ततो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदत्रया-ऽनुगतमनन्तम्। संख्येया-ऽसंख्येयाऽनन्तस्वरूपं तु विशेषार्थिना-**ऽनुयोगद्वारतो**-ऽवसेयम्। ओघतो गत्यादिमार्गणासु च कियन्तो मूलप्रकृतीनां बन्धकाः? इत्यादि प्रश्ना अनेन द्वारेण प्रतिवक्ष्यन्ते।

अन्तं रातीति अन्तरम् , अन्तरशब्दो-ऽनेकार्थकः, तथाहि–क्वचिद् अवकाशे वर्तते. यथा–निषीदतोरनयोरन्तरं नास्ति=अवकाशो नास्तीत्यर्थः, क्वचिद् भेदे, यथा–घटपटयोः किमन्तरम् ? को भेद इत्यर्थः, क्वचिद् मध्ये, यथा–अन्तरे निपर्थं नीलं च निदेहाः, क्वचित् छिद्रे, यथा–सान्तरो घटः, येन जलं प्रच्यवते, सच्छिद्र इत्यर्थः, क्वचिदन्यत्वे, यथा–"भावा न भावान्तरज्ञेयरूपा" इति । क्वचिद् बहिर्योगे, यथा–अन्तरायां पुरि, बाह्यायामित्यर्थः । क्वचिदुपसख्याने, यथा–अन्तरे शाटकाः, क्वचिद् विरहे, यथा–अनभिप्रेतश्रोतृजनान्तरे मन्त्रयते, तद्विरहे मन्त्रयत इत्यर्थः, क्वचिच्चान्तरात्मनि, यथा–अन्तरेण आलोचयितव्यः, अन्तरात्मना-ऽऽलोचयितव्य इत्यादि, इह तु मध्यविरहयोरन्यतरस्मिन् वर्तते. तेन मूलप्रकृतिबन्धपरित्यागे सति पुनस्तत्प्राप्तेर्विरहः, मूलप्रकृतिबन्धपरित्यागतत्प्राप्त्योर्मध्यो वा अन्तरालकालो वेहाऽन्तरमुच्यते । तच्चौघतो गत्यादिमार्गणासु चैकैकमूलप्रकृतिबन्धस्य कियत् ? इत्यनेन द्वारेण विमर्शयिष्यते ।

सन्निकर्षणं सन्निकर्षः, सन्निपूर्वकात् कृष्धातोर्भावे घञ् प्रत्ययः, सयोगः सम्बन्ध इत्यनर्थान्तरम् , यदुक्तं च **ज्ञातासूत्रे**–"सजोग सन्निगासो पडुच सवध एगट्ठा" इति । यदा ज्ञानावरणं बध्यते, तदा शेषाः काः काः बध्यन्ते, यदा दर्शनावरणं बध्यते, तदा शेषाः काः का बध्यन्त इत्यादि सन्निकर्षद्वारेण चिन्तयिष्यते । मूलगाथायां चकारः समुच्चये । एवमग्रेऽपि ।

'**भंगविचयो उ**' त्ति, 'भङ्गविचयस्तु' भज्यन्ते=विकल्प्यन्त इति भङ्गाः, 'भञ्ज् धातोर्घञ् प्रत्ययः, विकल्पा इत्यर्थः, विचयन विचयः "युवर्णवृद्वशरण०"(सिद्धहेम० ५-२ १५)इत्यनेन सूत्रेण अल्प्रत्ययः, पर्यालोचनमित्यर्थः । भङ्गानां विचयो भङ्गविचयः । तुशब्दो विशेषार्थद्योतकः, स चेहेतः प्रभृति द्वाराणि नानाजीवानाश्रित्य बोद्धव्यानीति द्योतयति । नानाजीवानाश्रित्य किं मूलप्रकृतीनां सर्वे बन्धका भवन्ति ? उत किमेको बन्धकोऽनेके चाऽबन्धकाः, उता-ऽनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक आहोस्विद् अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धकाः, इत्यादि भङ्गविचयद्वारेण चिन्तयिष्यते ।

'**भागो**' त्ति, भागोंऽश इत्येकार्थौ, मूलप्रकृतीनां बन्धकाऽबन्धकानां कतिभागे बन्धका वर्तन्ते ? इत्यादि भागद्वारेण प्ररूपयिष्यते । न च बन्धचिन्तायां बन्धकचिन्ता-ऽसङ्गतेति वाच्यम् , पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदेन विरोधाऽभावात् । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ।

'**परिमाणं**' ति, 'परिमाणं' परिमीयते=परिच्छिद्यतेऽनेनेति परिमाणमियत्तेत्यर्थः । तच्च परिमाणमेकप्रभृत्युत्कृष्टसंख्यातपर्यवसानलक्षणं संख्येयम् , ततो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नमसंख्येयम् , ततो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदत्रया-ऽनुगतमनन्तम् । संख्येया-ऽसंख्येयाऽनन्तस्वरूपं तु विशेषार्थिना-**ऽनुयोगद्वारतो**-ऽवसेयम् । ओघतो गत्यादिमार्गणासु च कियन्तो मूलप्रकृतीनां बन्धकाः ? इत्यादि प्रश्ना अनेन द्वारेण प्रतिवक्ष्यन्ते ।

"स्वाम्निन्नीशे" (सिद्धहेम० ७ २ ४९) इत्यनेन सूत्रेण स्मिन् प्रत्ययः, प्रभुरित्यर्थः, तस्य भावः स्वामित्वम् "भावे त्वतल्" (सिद्धहेम० ७-१-५५) इत्यनेन सूत्रेण त्वप्रत्ययः, आधिपत्यमित्यर्थः, मिथ्यादृष्ट्यादिषु के जीवा ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनां बन्धकाः, के पुनर्नेति स्वामित्वद्वारेण सविस्तरं प्रतिपादयिष्यते।

सह आदिना=प्रारम्भेण वर्तत इति सादिः, सादिरादौ यस्य द्वारस्य, तत् साद्यादि, यद्वा सादिरादिर्यस्य द्वारस्य, तत् साद्यादि। आदिशब्दाद् अनादिध्रुवोऽध्रुवश्च गृह्यन्ते। अनेन द्वारेण मूलप्रकृतिबन्धः सादिरनादिर्वा, ध्रुव आहोस्विद् अध्रुव इत्योघतो गत्यादिमार्गणासु च चिन्तयिष्यते।

'कालान्तरसण्णियासा य' त्ति, 'काला-ऽन्तरसन्निकर्षाश्च' तत्र "कलण सख्याने" कल्यते=परिच्छिद्यतेऽसौ अनेन वेति काल इति कर्मसाधनः करणसाधनो वा कालशब्दः, यद्वा कलानां समयादिरूपाणां समूहः कालः "श्वादि+योऽञ्" (सिद्धहेम० ६-२-२६) इत्यनेनाऽञ् प्रत्ययः, श्वादेराकृतिगणत्वात्। कालश्च समया-ऽऽवलिका-मुहूर्ता-ऽहोरात्र-पक्ष मास-वर्ष पूर्वाङ्ग पूर्व-पूर्वकोटी-पल्योपम-सागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणी-पुद्गलपरावर्त्तादिरूपः। तद्यथा—सर्वसूक्ष्मो निर्विभागः कालांशः समयः, जघन्ययुक्ता-ऽसंख्यातप्रमाणैः समयैरावलिका भवति, यदुक्तमनुयोगद्वारे—"असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमेण सा एगा आवलिआ त्ति वुच्चइ" इति। षोडशाधिकद्विशतोत्तरसप्तसप्ततिसहस्रोत्तरैककोटिप्रमाणाभिः(१६७७७२१६)आवलिकाभिरेको मुहूर्तो भवति, यदुक्त नवतत्त्वग्रन्थे-"एगा कोडी सतसट्ठिलक्खा सत्तहत्तरीसहस्सा य। दो य सया सोलहिआ आवलिआ इगमुहुत्तम्मि ॥१॥" इति।

तथा षट्पञ्चाशदधिकद्विशतावलिकाभिः (२५६) एकक्षुल्लकभवो भवति, षट्त्रिंशदधिकपञ्चशतोत्तरपञ्चषष्टिसहस्रैः (६५५३६) क्षुल्लकभवैरेको मुहूर्तो भवति। त्रिंशता(३०)मुहूर्त्तैरहोरात्रः, तैः पञ्चदशभिः (१५) पक्षो भवति, पक्षद्वयेन (२) च मासः, उक्तं चाऽनुयोगद्वारे—"एएणं मुहुत्तपमाणेण तीसं मुहुत्ता अहोरत्तं पण्णरस अहोरत्ता पक्खो, दो पक्खा मासो।" इति। द्वादशमासैः (१२) वर्षः, चतुरशीत्या वर्षशतसहस्रैः (८४०००००) एकं पूर्वाङ्गम्, चतुरशीत्या पूर्वाङ्गशतसहस्रैः (८४०००००) एकं पूर्वम्। पूर्वं कोट्या गुण्यते, तदा पूर्वकोटिः। असंख्यातपूर्वकोटिवर्षैरद्धापल्योपमम्, तद्विशेषस्वरूपं त्वनुयोगद्वारादिवृत्तितो-ऽवसेयम्। दशकोटीकोट्यद्धापल्योपमैरेकः सागरोपमो भवति, दशकोटीकोटीसागरोपमैरेकाऽवसर्पिणी, तावत्प्रमाणैरेव सागरोपमैरुत्सर्पिणी। अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः पुद्गलपरावर्तः। यद्यपि ग्रन्थान्तरेषु पूर्वतः परं तुटिताङ्गप्रभृतिशीर्षप्रहेलिकाऽवमानपदैरपि कालः प्रतिपाद्यते, तथापीह ग्रन्थे तुटिताङ्गादीनां प्रयोजना-ऽभावान्नाऽत्र तानि निरूप्यन्ते।

अथ प्रकृतं प्रस्तुमः—ओघेन जघन्यतः कियन्तं समयादिलक्षणं कालं मूलप्रकृतिबन्धो भवति, उत्कृष्टतः पुनः कियन्तं कालम्? एवं गत्यादिमार्गणास्वपि जघन्यत उत्कृष्टतश्च कालश्चिन्तयिष्यते।

अन्तं रातीति अन्तरम्, अन्तरशब्दोऽनेकार्थकः, तथाहि–कचिद् अवकाशे वर्तते, यथा–निषीदतोरनयोरन्तरं नास्ति=अवकाशो नास्तीत्यर्थः, कचिद् भेदे, यथा–घटपटयोः किमन्तरम् ? को भेद इत्यर्थः, क्वचिद् मध्ये, यथा–अन्तरे निपथं नीलं च निदेहाः, कचित् छिद्रे, यथा–सान्तरो घटः, येन जलं प्रच्यवते, सछिद्र इत्यर्थः, क्वचिदन्यत्वे, यथा–"भावा न भावान्तरज्ञेयरूपा" इति । क्वचिद् बहिर्योगे, यथा–अन्तरायां पुरि, बाह्यायामित्यर्थः । क्वचिदुपसंख्याने, यथा–अन्तरे शाटकाः, क्वचिद् विरहे, यथा–अनभिप्रेतश्रोतृजनान्तरे मन्त्रयते, तद्विरहे मन्त्रयत इत्यर्थः, क्वचिच्चान्तरात्मनि, यथा–अन्तरेण आलोचयितव्यः, अन्तरात्मना-ऽऽलोचयितव्य इत्यादि, इह तु मध्यविरहयोरन्यतरस्मिन् वर्तते, तेन मूलप्रकृतिबन्धपरित्यागे सति पुनस्तत्प्राप्तेर्विरहः, मूलप्रकृतिबन्धपरित्यागतत्प्राप्त्योर्मध्यो वा अन्तरालकालो वेहाऽन्तरमुच्यते । तच्चौघतो गत्यादिमार्गणासु चैकैकमूलप्रकृतिबन्धस्य कियत् ? इत्यनेन द्वारेण विमर्शयिष्यते ।

सन्निकर्षणं सन्निकर्षः, सन्निपूर्वकात् कृष्धातोर्भावे घञ् प्रत्ययः, संयोगः सम्बन्ध इत्यनर्थान्तरम्, यदुक्तं च **ज्ञातासूत्रे**–"संजोग सन्निगासो पडुच संबंध एगट्ठा" इति । यदा ज्ञानावरणं बध्यते, तदा शेषाः काः काः बध्यन्ते, यदा दर्शनावरणं बध्यते, तदा शेषाः काः का बध्यन्त इत्यादि सन्निकर्षद्वारेण चिन्तयिष्यते । मूलगाथायां चकारः समुच्चये । एवमग्रेऽपि ।

'भंगविचयो उ' त्ति, 'भङ्गविचयस्तु' भज्यन्ते=विकल्प्यन्त इति भङ्गाः, 'भञ्ज्' धातोर्घञ् प्रत्ययः, विकल्पा इत्यर्थः, विचयनं विचयः "युवर्णवृदृवशरण०"(सिद्धहेम० ५-२ १५)इत्यनेन सूत्रेण अल्प्रत्ययः, पर्यालोचनमित्यर्थः । भङ्गानां विचयो भङ्गविचयः । तुशब्दो विशेषार्थद्योतकः, स चेहेतः प्रभृति द्वाराणि नानाजीवानाश्रित्य बोद्धव्यानीति द्योतयति । नानाजीवानाश्रित्य किं मूलप्रकृतीनां सर्वे बन्धका भवन्ति ? उत किमेको बन्धकोऽनेके चाऽबन्धकाः, उताऽनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक आहोस्विद् अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धकाः, इत्यादि भङ्गविचयद्वारेण चिन्तयिष्यते ।

'भागो' त्ति, भागोंऽश इत्येकार्थौ, मूलप्रकृतीनां बन्धकाऽबन्धकानां कतिभागे बन्धका वर्तन्ते ? इत्यादि भागद्वारेण प्ररूपयिष्यते । न च बन्धचिन्तायां बन्धकचिन्ताऽसङ्गतेति वाच्यम्, पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदेन विरोधाऽभावात् । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ।

'परिमाणं' ति, 'परिमाणं' परिमीयते=परिच्छिद्यतेऽनेनेति परिमाणमियत्तेत्यर्थः । तच्च परिमाणमेकप्रभृत्युत्कृष्टसंख्यातपर्यवसानलक्षणं संख्येयम्, ततो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नमसंख्येयम्, ततो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदत्रयाऽनुगतमनन्तम् । संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तस्वरूपं तु विशेषार्थिना-ऽनुयोगद्वारतोऽवसेयम् । ओघतो गत्यादिमार्गणासु च कियन्तो मूलप्रकृतीनां बन्धकाः ? इत्यादि प्रश्ना अनेन द्वारेण प्रतिवक्ष्यन्ते ।

'खेत्तफोसणा' त्ति, 'क्षेत्रस्पर्शने' क्षियन्ति=निवसन्ति यत्र जीवादिद्रव्याणि, तत् क्षेत्रम्=आकाशम्, मूलप्रकृतीनां बन्धकैरबन्धकैश्चाऽऽकाशं कियद् व्याप्तं भवतीत्यादि क्षेत्रद्वारेण प्रतिपादयिष्यते ।

आकाशप्रदेशैः सह स्पर्शनं स्पर्शना, कियदाकाशं मूलप्रकृतीनां बन्धकैरबन्धकैश्च स्पृश्यते इत्येतत् स्पर्शनाद्वारेण विमृक्ष्यते । ननु क्षेत्रस्पर्शनयोः कः प्रतिविशेषः ? इति चेत्, उच्यते—वर्तमानविषयं क्षेत्रम्, अतीतकालविषया च स्पर्शना । तेन क्षेत्रतः स्पर्शना भिद्यते, यदुक्तं **जीवसमासे**—*"सपइ काले खेत्त तु फोसणा होइ समईए" इति । एव**मस्मिन् ग्रन्थेऽपि** "काल तु वट्टमाण पडुच्च खेत्ते परूवणा णेया । आसिज्ज अईअद्ध परूवणा उण फरिसणा ॥" इति गाथया वक्ष्यते ।

'कालो' त्ति, 'कालः' कालशब्दः प्राग् व्याख्यातः । अभिप्राया-ऽनभिज्ञः कश्चिद् भणति-ननु कालद्वारं पुनः कुत उपादीयते ? इति, उच्यते—नानाजीवानाश्रित्य इदं कालद्वारम्, प्राक् त्वेकजीवमाश्रित्य कालद्वारमभिहितम् । कथमेतदवमीयते ? इति चेत्, उच्यते—भङ्गविचयादीनि द्वाराणि नानाजीवान् प्रतीत्य प्ररूपितानि, सूचितं चैतद् विशेषार्थकेन तुशब्देन । "साहचर्यात् सदृशस्यैव ग्रहणम् ।" इति न्यायेनेदमपि द्वारं नानाजीवानाश्रित्य बोद्धव्यम्, ततः परिशेषाऽनुमानेन प्रागुक्तकालद्वारमेकजीवं प्रतीत्या-ऽवगन्तव्यम् । एवमनुपद वक्ष्यमाणमन्तरद्वारमपि बोध्यम् ।

'अन्तरभावप्पबहु' त्ति, 'अन्तरभावा-ऽल्पबहुत्वानि' तत्रा-ऽन्तरद्वारं निगदसिद्धं व्याख्यातत्वात्, इदन्त्ववधेयम्—नानाजीवानाश्रित्येदमन्तरद्वारम् ।

भवनं=जीवानां तेन तेन रूपेण परिणमनं भावः, परिणाम इत्यर्थः, स चौपशमिकादिः । मूलप्रकृतिबन्ध औपशमिकादीनां कस्मिन् भावे भवति ? इति भावद्वारेण परिभावयिष्यते ।

अल्पं च=स्तोकं च, तद् बहु च=प्रभूतं च अल्पबहु, तस्य भावः अल्पबहुत्वम्, ज्ञानावरणादिबन्धकाः किं मिथस्तुल्यसख्याकाः ? उत तेषु के स्तोकाः ? के पुनः प्रभूताः ? इत्याद्यल्पबहुत्वद्वारेण विचारयिष्यते ।

नन्वेतेषां सत्पदप्ररूपणादिद्वाराणा क्रमः किं सहेतुक उत निर्हेतुकः ? सहेतुक इति ब्रूमः तथाहि—सत एव स्वामित्वादिविशेषचिन्ता युज्यते, अतः प्रथमं सत्पदप्ररूपणद्वारम् ।

बन्धस्याऽस्तित्वे ज्ञाते कस्तस्य स्वामी भवतीति द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ।

स्वामित्वे निश्चिते किं तस्य बन्धोऽनादिकालतो भवति ? उत विवक्षितकालतः ? किं सर्वदा भविष्यति, आहोस्विद् व्यवच्छेदं यास्यतीति भवति हि जिज्ञासा, तेन तृतीय साद्यादिद्वारम् ।

बन्धस्य साद्यादित्वे चिन्तिते यदि सादिः, तर्हि कियन्तं काल निरन्तरं भविष्यति बन्ध इत्युपतिष्ठत आरेका, तन्समाधानाय चतुर्थं कालं द्वारम् ।

---

* उक्त च धवलाकारैरपि–'वट्टमाणफास वण्णेदि खेत्त । फोसण पुण अदीद वट्टमाण च वण्णे।

बन्धस्य काले विचारिते, कालद्वारेण नोदनाद् भवति हीयं शङ्का–यदि बन्ध एतावन्त निरन्तरकाल भवति, तर्ह्यन्तरं भवति नवा ? भवति चेत् , तर्हि कियद् ? इति, तत्समाधानाय पञ्चममन्तरद्वारम् ।

निर्ज्ञाते चाऽन्तरे किमष्टानामपि मूलकर्मणां बन्धस्या-ऽन्तरं युगपद्भवति ? उत नेति निर्णयार्थमन्तरद्वारसमनन्तरं षष्ठ सन्निकर्षद्वारम् ।

सन्निकर्षद्वारेणैकजीवं प्रतीत्य प्रकृतीनां बन्धाऽबन्धचिन्ता कृता, अथैकैकप्रकृतिमाश्रित्य नानाजीवानां बन्धका-ऽबन्धकत्वचिन्तास्मृतिपथमवतरति, तेन सप्तमं भङ्गविचयद्वारम् ।

निर्णीते च बन्धका-ऽबन्धकसद्भावे बन्धकाऽबन्धकानां कतिभागे बन्धका भवन्ति, कतिभागे पुनरबन्धका इति शङ्कापरिहारार्थमष्टमं भागद्वारम् ।

अधिगते च भागेऽपि किं ते बन्धका अबन्धकाश्च संख्येया भवन्ति, उता-ऽसंख्येया भवन्ति ? आहोस्विदनन्ता भवन्ति ? इतीयत्ता-ऽवधाराणार्थं नवमं परिमाणद्वारम् । किञ्चैकेन्द्रियवर्जनिजमख्यागुणितायामवगाहनायां क्षेत्रं प्राप्यते, तेन क्षेत्रप्ररूपणातोऽर्वाक् परिमाणद्वारं प्ररूपणीयम् ।

निश्चितपरिमाणानां च निवासप्रतिपत्त्यर्थं परिमाणद्वारा-ऽनन्तरं दशमं क्षेत्रद्वारमावश्यकम् । किञ्च क्षेत्रस्य वर्तमानविषयकत्वेन स्पर्शनातोऽर्वाक् तत्प्रतिपादनं युक्तिसहम् ।

निर्ज्ञाते च वर्तमानक्षेत्रेऽतीतवर्तमानक्षेत्रं कियद् भवेदित्यारेकाविघटनायैकादशं स्पर्शनाद्वारम् । स्पर्शनायां निश्चितायां निरन्तरं बन्धका अबन्धकाश्च कियत्कालमवतिष्ठन्त इति शङ्कासमाधानाय द्वादशं कालद्वारम् ।

कालाऽन्तरयोः परस्परं विरुद्धत्वात् कालाऽनन्तरं त्रयोदशमन्तरद्वारम् ।

ज्ञातेऽप्यन्तरद्वारे बन्धकानां बन्धहेतुभूत औपशमिकादिरूपः परिणामो न निश्चीयते, तेना-ऽन्तरद्वारानन्तर चतुर्दशं भावद्वारम् ।

यद्यपि परिमाणद्वारेणेद ज्ञायते–संख्यातादिष्वन्यतमा बन्धका इति, तथापि न ज्ञायते किमायुषो बन्धकाः स्तोकाः, उत मोहनीयस्येत्यादि, तेन पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वारम् । अल्पबहुत्वद्वारेणाऽऽयुर्बन्धकाः स्तोकाः, तेभ्यश्च मोहनीयस्य बहव इति निर्णीयते ॥४१-४२॥

"यथोद्देश निर्देश" इति न्यायेनादौ सत्पदप्ररूपणद्वारेण प्रकृतिबन्धं विवर्णयिषुराह—

अट्ठण्ह अत्थि बंधो आउगवज्जाण उण विउवमीसे ।
कम्मणगयवेएसु उवसममीसे अणाहारे ॥४३॥

(प्रे०) 'अट्ठण्ह' इत्यादि, 'अष्टानां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीया-ऽऽयुर्नाम-गोत्रा-ऽन्तरायरूपाणामष्टसंख्याकानां मूलकर्मणां 'बन्धः' प्राङ्निरूपितशब्दार्थः 'अस्ति' विद्यते । तदेव कृतं ओघत सत्पदप्ररूपणम् ।

सम्प्रति विशेषत आह–'आउग०' इत्यादि, 'आयुर्वर्जानां पुनः' पुनःशब्दो वाक्यभेदे, आयुःकर्मविरहितानां शेषाणां सप्तानां ज्ञानावरणादिकर्मणामित्यर्थः, बन्धो 'वैक्रियमिश्रे' वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां 'कार्मणगतवेदयोः' कार्मणकाययोगमार्गणास्थानेऽपगतवेदमार्गणायां च 'उपशममिश्रे' कृतसमाहारद्वन्द्वौ सप्तम्या निर्दिष्टौ, उपशमे=औपशमिकसम्यक्त्वभेदे मिश्रे=सम्यङ्मिथ्यात्वमार्गणायां च 'अनाहारे' अनाहारकमार्गणायां चा-ऽस्ति, चशब्दाभावेऽपि समुच्चयार्थो गम्यते "अहरहर्नयमानो" इत्यादिवत् । इदमुक्तं भवति–"अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम् । वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी ॥१॥" इत्यस्मिन् श्लोके चशब्दमन्तरेणाऽपि नयनक्रियायां गवादीनां बहूनां समुच्चीयमानतया समुच्चयार्थप्रतीतिर्भवति, तथैवाऽत्राऽपि समुच्चयार्थः प्रतीयते ।

वैक्रियमिश्रादिषु षट्सु मार्गणास्थानेषु यथासम्भवमपर्याप्ताऽवस्था विशुद्धिप्रकर्षगुणस्थाननिबन्धनत्वाद् न भवत्यायुर्बन्धः । इदमुक्तं भवति–वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामपर्याप्ता देवनारका भवन्ति, तेषां च नाऽऽयुर्बन्धसम्भवः, शरीरपर्याप्त्याऽपर्याप्तानामायुर्बन्धायोगात् । किञ्च देवनारकाणां स्वायुष्कात् षण्मासमात्राच्छेषादर्वाग् नायुर्बन्धः, तेन वैक्रियमिश्रमार्गणायामायुर्बन्धो न सम्भवति ।

कार्मणकाययोगो विग्रहगतौ केवलिसमुद्घाते च भवति । तत्र विग्रहगत्यामपर्याप्ता-ऽवस्थासद्भावादेवाऽऽयुर्न बध्यते, केवलिसमुद्घाते पुनर्गुणस्थानकनिबन्धत्वाद् न बध्यते, अप्रमत्तगुणस्थानकादूर्ध्वं सिद्धान्त आयुर्बन्धाभावप्रतिपादनाद् अन्तर्मुहूर्तेन च सिद्ध्यमानानामायुर्बन्धाऽसम्भवात् । एवमनाहारकमार्गणायामपि भावनीयम् ।

तथाऽपगतवेदमार्गणायामनिवृत्तिबादरसम्परायादिका भवन्ति । तेषां च क्षपकोपशमकाना विशुद्धिप्रकर्षाद् गुणस्थानकनिबन्धनत्वाच्चाऽऽयुर्बन्धो न भवति ।

तथास्वाभाव्यादौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामायुर्न बध्यते, यदुक्तं **बन्धस्वामित्वद्वारे श्रीमद्देवेन्द्रसूरिपादैः**–

"परमुवसमिवट्टता आउ न बधति तेण अजयगुणे । देवमणुआउहीणो देसाइसु पुण सुराउविणा ॥१॥" इति ।

सम्यङ्मिथ्यात्वमार्गणायामप्यायुर्बन्धो न भवति, तद्गुणस्थानकमाहात्म्यात् । आह च–'सम्मामिच्छदिट्ठी आउयबध पि न करेइ ।" इति ॥४३॥

अथाऽकषायादिशेषमार्गणाः संगृह्य सत्पदप्ररूपणमाह—

अकसायकेवलदुगाऽहक्खायेऽत्थि तइअस्स चिअ बंधो ।
मोहाउगवज्जाणं सुहुमे अट्ठण्ह सेसासुं ॥४४॥

(प्रे०) **'अकसाय०'** इत्यादि, अकषायादयः कृतसमाहारद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, 'अकषायकेवलद्विकयथाख्याते' अकषायमार्गणायां केवलद्विके=केवलज्ञानकेवलदर्शनमार्गणास्थानलक्षणे यथाख्याते=यथाख्यातसंयममार्गणायां च 'तृतीयस्य' ग्रन्थक्रमप्रामाण्याद् वेदनीयस्यैव बन्धोऽस्ति, उक्तमार्गणास्थानानां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादूर्ध्वं लाभेन मिथ्यात्वादिबन्धहेतुत्रयाभावात् केवलयोगस्य च सत्त्वात् । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः, न शेषाणा कर्मणां बन्धोऽस्तीत्यर्थः ।

सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां सत्पद प्ररूपयति–**'मोहा०'** इत्यादि, 'मोहायुष्कवर्जानां' मोहनीया-ऽयुषी विना शेषाणां ज्ञानावरणादीनां षण्णां बन्धः 'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्थानेऽस्ति, प्रस्तुतमार्गणास्थानस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके लाभादायुर्बन्धस्य च प्रागेव स्थगितत्वाद् मोहनीयस्य पुनरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकान्ते व्यवच्छिन्नत्वात्, यदुक्तं श्रीदेवेन्द्रसूरिपादैः **षडशीतिग्रन्थे**–"बंधइ छ सुहुमो ।" इति ।

अथ शेषमार्गणास्थानेषु सत्पदप्ररूपणं विभणिषुराह–**'अट्ठण्ह'** इत्यादि, अष्टाना ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं बन्धः 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु त्रयःषष्ट्यधिकशत(१६३)निरयगत्यादिमार्गणास्वस्ति, कर्माष्टकस्य बन्धा ऽध्यवसायस्थानसद्भावात् । ननु शेषमार्गणान्तर्गतौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामायुर्बन्धस्तु न संभवति, शरीरपर्याप्त्यपर्याप्तानामायुर्बन्धाभावात् शरीरपर्याप्तौ च समाप्तायामौदारिककाययोगभावात् । तथा चोक्तं **श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ मूलटीकाकारैः** "जेणोरालियाईण तिण्ह सरीराण काययोगे वट्टमाणो आउयबंधगो, न कम्मए ओरालियाइमिस्से वा ।" इति । न च शरीरादिपर्याप्तेरूर्ध्वमौदारिकमिश्रकाययोगः स्वीक्रियताम्, इन्द्रियाणादीनामनिष्पत्त्या सम्पूर्णस्वव्यापाराभावात्, इन्द्रियादिरूपशरीरस्य च सम्पूर्णत्वविरहेण कार्मणस्य व्याप्रियमाणत्वेनौदारिकमिश्रत्वलाभादिति वाच्यम्, योगस्य शरीराऽधीनत्वेन शरीरनिष्पत्त्या तस्या-ऽपि निष्पत्तेर्विवक्षणेन शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वमौदारिककाययोगस्यैव न्याय्यत्वात् । इदं तु बोध्यम्–विशिष्टौदारिककाययोगस्तु शरीरेन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तस्य भवति, यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ श्रीमन्मलयगिरिपादैः**–औदारिकादिकाययोगश्च विशिष्टो भवति शरीरेन्द्रियपर्याप्त्या, न केवल शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य।" इति । अत्रोच्यते–केचिदाचार्यपादाः **शीलाङ्काचार्यप्रभृतयः** शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं पर्याप्तापर्याप्तसर्वजीवानामौदारिककाययोगमेव मन्यन्ते । तन्मतमाश्रित्य **श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ** तथाऽभिहितमिति संभवति, अन्ये पुनः **शतकचूर्णिकारादयः** शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वमप्यपर्याप्तकजीवानामौदारिकमिश्रकाययोगमेव मन्यन्ते, तथा चात्र **शतकचूर्णिः**–लद्धिए करणेण य अपज्जत्तगाण सव्वेसिं ओरालियमिस्सकायजोगो चेव ।" इति । एव **स्वसंग्रहेऽप्युक्त श्रीचन्द्रमहत्तरर्षिभिः**–"लद्धीए करणेहि य ओरालियमीसगो अपज्जत्ते ।" इति । तदेवं लब्ध्यपर्याप्तकानामौदारिकमिश्रकाययोग एव भवति । न चैते पारभविकाऽऽयु-

स्वद्ध्वा म्रियन्ते, तेनौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामायुर्बन्धो न विरुध्यते, यदुक्तं **बन्धस्वामि-त्वाख्ये ग्रन्थे-**

"मणवइजोगचउक्के ओघो उरलेऽपि ओघनरभगो। निरतिगसुराउआहारदुग हिच्चा उ तम्मीसे॥" इति।

न ह्यत्र गाथायां तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्बन्धो निषिध्यते, नरकत्रिकादिप्रकृतिषट्कस्यैव प्रतिषेधात्। लब्धिपर्याप्तानां तु शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वमौदारिककाययोगः प्राग् दर्शित एव।

तदेव कृतं सत्पदप्ररूपणाभिधं प्रथम द्वारम् ॥४४॥

सम्प्रति क्रमप्राप्त स्वामित्वद्वारम्। इह तावत् प्रथमतो मिथ्यादृष्ट्यादयो जीवाः प्ररूपणीयाः, अन्यथा बन्धस्वामित्वप्ररूपणाया "वेअस्स बंधगा खलु सजोगिअंता" इत्यादिगाथाभिः सयोग्यन्ता इत्यादिबन्धस्वामिकथनेन स्पष्टतरो बोधो न स्यात्, कस्मादारभ्य सूक्ष्मसम्परायपर्यवसाना ग्राह्या इति, प्ररूपितेषु पुनर्मिथ्यादृष्टिसास्वादनप्रभृतिषु जीवेषु भविष्यति स्वामित्वा-ऽवबोधः स्पष्टतर इति मनस्यवधाय पञ्चदशविधान् जीवान् दर्शयति—

जीवा णेया मिच्छादिट्ठी सासाणमीसदिट्ठी य।
अविरयसम्मादिट्ठी देसपमत्ताऽपमत्तजई ॥४५॥
तह-ऽपुव्वकरणवत्ती अणियट्टी सुहुमसंपराया य।
उवसंतखीणमोहा य सजोगिअजोगिणो सिद्धा ॥४६॥

(प्रे०) '`वा' इत्यादि, 'जीवाः' आत्मानः 'ज्ञेयाः' पञ्चदशसंख्याकत्वेन ज्ञानविषयी-कर्तव्याः। अथ पञ्चदशभेदान् नामग्राह पठति-**'मिच्छादिट्ठी'** इत्यादि, मिथ्या=विपर्यस्ता दृष्टिः=अर्हत्प्रणीतजीवाजीववस्तुप्रतिपत्तिर्येषाम्, ते मिथ्यादृष्टयः सिताधिकरणकपीतप्रतिपत्तिवद्भ-क्षितधत्तूरपुरुषवत्।

यद्वा मिथ्या अलिकमतथ्यमित्येकार्थाः, तत्र दृष्टिः=श्रद्धानं येषाम्, ते मिथ्यादृष्टयः।

तत्र मिथ्यात्व सामान्यतो विपरीतबोधस्वभावतयैकविधमेव, व्यक्तिविवक्षया तु त्रिविध वा पञ्चविध वा त्रिषष्ट्यधिकत्रिशतविध वा-ऽपरिमितभेद वा। इह सांशयिकाऽऽभिग्रहिका-ऽनाभिग्र-हिकभेदात् त्रिविधम्। तत्राऽर्हता जीवादितत्त्व यदुक्तम्, तन्न जाने किं तथैव स्यादुता-ऽन्यथेति सांशयिकमिथ्यात्वम्। येन कुदर्शनानामन्यतममभिगृह्णाति, तदाभिग्रहिकम्। अनाभिग्रहिकमज्ञाना-ज्ञत्वादीनामथवा ईषन्माध्यस्थ्यादनभिगृहीतदर्शनविशेषा सर्वदर्शनानि शोभनानीत्येवरूपा प्रतिपत्ति-रिति, उक्त च **शतकचूर्णौ-**

'त मिच्छत्त जमसद्दहण तच्चाण जाण अत्थाण। ससइयमभिग्गहिय अणभिग्गहिअ च त तिविह॥१॥" इति।

पञ्चविधं तु मिथ्यात्वमेकान्त वैनयिक-साशयिक मूढ-विपरीतभेदात्। उक्तं च **शतकचूर्णौ-**
एगतमिच्छत्त वेणइतमिच्छत्त ससयमिच्छत्त मूढमिच्छत्त विवरीयमिच्छत्तमिति।"

तत्रा-ऽनन्तधर्मात्मके वस्तून्येकांशा-ऽवधारणमेकान्तमिथ्यात्वम्, यथा अस्त्येव जीवः, नास्त्येव, नित्यमेव, अनित्यमेवेत्यादि। ऐहिका-ऽऽमुष्मिकसुखानि सुरनृपादिविनयवानेव लभते, न ज्ञानदर्शनोपवासब्रह्मचर्यादिकष्टकलापचर इत्यभिनिवेशो वैनयिकमिथ्यात्वम्। सांशयिकमिथ्यात्वं तु पूर्वोक्तमेव। मूढानां=तत्त्वा-ऽतत्त्वादिविचारा-ऽक्षमाणां पृथिवीकायादीनां मिथ्यात्वं मूढमिथ्यात्वम्। विपरीतो=विपर्यस्तवस्त्वध्यवसायो हिंसाऽब्रह्मसेवादीनां वस्तुतो दुःखहेतुत्वेऽप्येत एव तत्त्वतः सुखरूपा इत्यभिनिवेशो विपरीतमिथ्यात्वम्, यदाहुरेके–

"सत्य वच्मि हित वच्मि सार वच्मि पुन पुन। अस्मिन्नसारे ससारे सार सारङ्गलोचना॥१॥
प्रियादर्शनमेवास्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरै। प्राप्यते येन निर्वाण सरागेणापि चेतसा॥२॥" इत्यादि।

"जावइया णयवाया तावइया चेव होंति परसमया। जावइया परसमया तावइया चेव मिच्छत्ता।"

इति वचनात् मिथ्यात्वमपरिमितभेदं भवति।

मिथ्यात्वोदयाज्जीवा मिथ्यादृष्टयः। ते च प्रमाणतः सर्वजीवराशेरनन्ततमभागरहिताः।

' **णमोसदिट्ठी य**' त्ति, 'स दनमिश्रदृष्टयश्च' चकारः समुच्चयार्थकः "देवदत्तो देवो" इति न्यायेन यद्वाच्यस्या-ऽर्थस्य पदैकदेशेनाप्यभिधानदर्शनात् सासादनसम्यग्दृष्टयो मिश्रदृष्टयश्च। तत्र आयम्=औपशमिकसम्यक्त्वलाभं सादयति=अपगमयतीत्यासादनम्=अनन्तानुबन्धिवेदनमित्यर्थः, पृषोदरादित्वाद् यलोपः, "बहुलम्" (सिद्धहेम० ५-१-२) इत्यनेन कर्तरि अनट् प्रत्ययः, सति ह्यस्मिन्ननन्तानुबन्धिकषायवेदनेऽनन्तसुखफलदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयेनोत्कृष्टतः पुनः षडावलिकाभिरपगच्छति। सह आसादनेन=अनन्तानुबन्धिवेदनेन वर्तन्त इति सासादनाः, सासादनाश्च ते सम्यग्दृष्टयश्च सासादनसम्यग्दृष्टयः। न च सम्यक्त्वघातिनामनन्तानुबन्धिना यात् कथं ते सम्यग्दृष्टय इति वाच्यम्, उपशमाद्धाया विद्यमानत्वेन मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽनुदयात् "भूतपूर्वकस्तद्वदुपचार" इति न्यायोपलम्भाच्च।

यद्वा सास्वादनसम्यग्दृष्टय इति पदसंस्कारः कार्यः। ततश्चेयं व्युत्पत्तिः–सह आस्वादनेन=औपशमिकसम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तन्त इति सास्वादनाः, ते च ते सम्यग्दृष्टयश्च सास्वादनसम्यग्दृष्टयः, यथा भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचेतसः पुरुषास्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयन्ति, तथैव तेऽपि मिथ्यात्वाऽभिमुखाः सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्ताः सम्यक्त्वमुद्वमन्तस्तद्रसमास्वादयन्ति, यदुक्त **शतकचूर्णौ**–

'उवसामगो उ सव्वो णिव्वाघाएण तह णिरासाणो। उवसते सासाणो णिरसाणो होइ खीणम्मि॥१॥
एसो सामणसम्मो सम्मत्तद्धाएँ वट्टमाणो उ। आसायणाएँ सहिओ सासणसम्मो त्ति णायव्वो॥२॥"इति।

सास्वादनसम्यग्दृष्टयस्तु समयात्प्रभृत्युत्कृष्टत आवलिकषट्केन मिथ्यात्वं नियमतो गच्छन्ति। उक्तं च **गुणस्थानक्रमारोहे**–

'एकस्मिन्नुदिते मध्यान्छान्तानन्तानुबन्धिनाम्। आद्यौपशमिकसम्यक्त्वशैलमौले परिच्युत॥१॥
समयादावलीषट्क यावन्मिथ्यात्वभूतलम्। नासादयति जीवोऽय तावत्सास्वादनो भवेत्॥२॥" इति।

अथवा साशातनसम्यग्दृष्टय इति पदसंस्कारः कर्तव्यः। ततश्चायमर्थः–आ समन्तात् शातयति=स्फोटयत्यौपशमिकसम्यक्त्वमित्याशातनम् अनन्तानुबन्धिवेदनमित्यर्थः, तेन सह वर्तन्त इति साशातनाः, साशातनाश्च ते सम्यग्दृष्टयश्च साशातनसम्यग्दृष्टयः।

एते सास्वादनसम्यग्दृष्टय उत्कृष्टतोऽसंख्येया भवन्ति, जघन्यतस्त्वेकः।

सम्यक् च मिथ्या चेत्येवं मिश्रा दृष्टिर्येषाम्, ते मिश्रदृष्टयः। इदमुक्तं भवति–लब्धेनौषधिविशेषकल्पेनौपशमिकसम्यक्त्वेन मदनकोद्रववदशुद्धं मिथ्यात्वमोहनीयं शोधयित्वा त्रिधा करोति, शुद्धमर्धशुद्धमशुद्धं चेति। एतेषां त्रयाणां पुञ्जानां मध्ये यदाऽर्धविशुद्धः पुञ्ज उदेति, तदा जीवा मिश्रदृष्टयो भवन्ति। उक्तं च **शतकचूर्णौ**–

"सम्मत्तगुणेण तओ विसोहए कम्ममेस मिच्छत्त। सुज्झन्ति कोद्दवा जह मदणा ते ओसहेणेव ॥१॥
त सव्वहा विसुद्ध, त चेव य भवइ कम्म सम्मत्त। मिस्स अद्धविसुद्ध भवे असुद्ध च मिच्छत्त ॥२॥
तिव्वाणुभावजोगो भवइ हु मिच्छत्तवेयणिज्जस्स। सम्मत्ते अइमन्दो मिस्से मिस्साणुभावो य ॥३॥
मयणकोद्दवभोजी अणप्पवसया णरो जहा जाइ। सुद्धाई उ ण मुज्झइ मिस्सगुणा वा वि मिस्साई ॥४॥
सद्दहणासद्दहण जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु। विरयाविरएण समो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो॥५॥" इति।

यथा गुडमिश्रितदधि विलक्षणं द्रव्यान्तरं भवति, तथैव मिश्रदृष्टयोऽपि मिथ्यादृष्टितः सम्यग्दृष्टितश्च विलक्षणा भवन्ति, यदुक्त **शतकभाष्ये**–
"*जह गुडदहीणि विसमाणि भावरहियाणि होन्ति मिस्साणि। भुजतस्स तहोभय तद्दिट्ठी मीसदिट्ठी य॥१॥
इति। एते सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽपि व्यवह्रियन्ते, सम्यङ्मिथ्यात्ववेदनात्, यदुक्तं **शतकचूर्णौ**-
"सम्म च मिच्छा च सम्ममिच्छा, सम्ममिच्छा दिट्ठी जेसि जीवाण, ते सम्मामिच्छदिट्ठी विरयाविरयव्व।

उत्कृष्टतो मिश्रदृष्टयोऽसंख्येया एव भवन्ति, जघन्यतस्त्वेकः। तथा जघन्यत उत्कृष्टतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं मिश्रदृष्टयः मिथ्यात्वं सम्यक्त्व वा नियमतो गच्छन्ति। उक्तं च–
"मिच्छाओ सकती अविरुद्धा होइ सम्ममीसेसु। मीसाओ वा दोसु सम्मा मिच्छ न पुण मीसे ॥१॥" इति।

अस्यामार्याया सम्यक्त्वतो मिश्र न गच्छतीति यदभिहितम्, तत्तु **सैद्धान्तिका**भिप्रायेण, [illegible]
नि[illegible]ाभिप्रायेण पुनः सम्यग्दृशां मिश्रे गमन न निषिध्यते, **यदुक्तम्**–कोऽपि मिच्छत्ताओ सम्मत्त गओ छावट्ठिसागरोवमा सम्मत्तकालो, तओ अतोमुहुत्त सम्मामिच्छत्त गओ पुणो सम्मत्त पडिवन्नो छावट्ठिं सागरोवमाइ अणुपालेइ।" इत्यादि। ये मिश्रदृष्टयः सम्यक्त्व लभन्ते, तेऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकमेव प्राप्नुवन्ति, न पुनः सयमं सम्यक्त्वं च युगपत्, यदुक्त **कर्मप्रकृतिवृत्तौ**–
"सम्यङ्मिथ्यादृष्टिर्युगपत् सम्यक्त्व सयम च न प्रतिपद्यते, तथाविशुद्धेरभावात्, किन्तु केवल सम्यक्त्वमेवेति कृत्वा तदेव केवलमुक्तम्।" इति। मिश्रदृष्टयः परभवायुर्न बध्नन्ति, न च म्रियन्ते, उक्तं च **गुणस्थानक्रमारोहे**–

---

* धवलाकारैरप्युक्तम्–
"जह गुडदहि गुडमिव वा मिस्स पुढभाव णेव कारिदु सक्क। एव मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो॥१॥इति।

"आयुर्बध्नाति नो जीवो मिश्रस्थो म्रियते नवा। सद्दृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा, भूत्वा मरणमश्नुते ॥१॥" इति।

"**अविरय ादिट्ठी**" त्ति, 'अविरतसम्यग्दृष्टयः' विरमन्ति स्म=सावद्ययोगेभ्यो निवर्तन्ते स्मेति विरताः "गत्यर्थाकर्मकपिबभुजे" (सिद्धहेम० ५-१-११) इत्यनेन कर्तरि क्तप्रत्ययः, यद्वा विरमणं विरतं "क्लिबे क्त" (५ ३-१२३) इत्यनेन सूत्रेण भावे क्तप्रत्ययः, सावद्ययोगप्रत्याख्यानमित्यर्थः, तद् नास्ति येषाम्, तेऽविरताः, समीची=अविपर्यस्ताऽर्हत्प्रणीतजीवाऽजीववस्तुप्रतिपत्तिर्येषाम्, ते सम्यग्दृष्टयः, अविरताश्च ते सम्यग्दृष्टयश्च अविरतसम्यग्दृष्टयः। ते च त्रिधा क्षायिकौपशमिकक्षायोपशमिकभेदात्। तद्यथा–दर्शनसप्तकस्य क्षयात् क्षायिकसम्यग्दृष्टयः, दर्शनमोहनीयस्योपशमादौपशमिकसम्यग्दृष्टयः, सम्यक्त्वमोहनीयस्य वेदनात् पुनर्वेदकसम्यग्दृष्टयः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयो वा। तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टयो न कदाचिदपि मिथ्यात्वं गच्छन्ति, मिथ्यात्वबीजस्य दग्धत्वात्। औपशमिकसम्यग्दृशस्तु परिणामप्रच्यवनाद् मिथ्यात्वमपि गच्छन्ति, सास्वादनं वा प्रतिपद्यन्ते, सम्यग्मिथ्यात्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं वा प्रतिपद्यन्ते। क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयस्तु परिणामप्रतिपाताद् मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं वा व्रजन्ति, केचित् पुनः क्षायिकमौपशमिकसम्यक्त्वं वाऽश्नुवते, न पुनः सास्वादनं लभन्ते।

सम्यग्दृष्टयो जीवा जिनेन्द्रप्रणीतपदार्थान् श्रद्दधते, असद्भूतमपि शास्त्रं स्वाऽज्ञानवशाद् गुरुनियोगात् श्रद्दधते, यदुक्तं क ° कृतौ–

"सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयण तु सद्दहदि। सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो गुरुनियोगा ॥१॥" इति।

अविरतसम्यग्दृष्टयो जीवा आर्हतभक्ता अविरतिहेतुकं दुरन्तनरकादिदुःखफलकर्मबन्धं सावद्ययोगविरतिं च परममुनिप्रणीतसिद्धिसौधाऽध्यारोहणनिःश्रेणिकल्पां जानन्तोऽप्यप्रत्याख्यानावरणोदयाद् न विरतिमभ्युपगच्छन्ति, नाऽपि तत्पालनाय यतन्ते, उक्तं च **शतकचूर्णौ**–

'सद्दहिऊण य सच्चे इच्छन्तो णेव्वुइ परमसोक्खं। घेत्तूण णवपयाइ अरिहाइसु णिच्च भत्तिजुत्तो ॥१॥
बन्ध अविरइहेउ जाणन्तो रागदोसदुक्खं च। विरइसुह इच्छन्तो विरइ काउ च असमत्थो ॥२॥
एस असजयसम्मो णिन्दन्तो पावकम्मकरणं च। अभिगयजीवाजीवो अचलियदिट्ठी चलियमोहो ॥३॥" इति।

विशेषार्थिनाऽस्मद्गुरुचरणकृतः ' **मकरणनामधेयो ग्रन्थोऽवलोकनीयः**, तत्र न्यक्षेण सम्यक्त्वस्य प्ररूपितत्वात्।

अविरतसम्यग्दृष्टयो जीवाः सर्वदैवाऽसंख्येया एव भवन्ति परिमाणतः।

'**देसपमत्ताऽपमत्तजई**' त्ति, 'देशप्रमत्ताऽप्रमत्तयतयः' यतिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्चाऽयमर्थः–देशयतयः प्रमत्तयतयोऽप्रमत्तयतयश्च। तत्र 'यमू उपरमे' यमनं यतिः 'स्त्रिया क्ति', (सिद्धहेम० ५ ३-९१) इत्यनेन भावे क्तिप्रत्ययः। देशे=सर्वसावद्ययोगस्यैकदेशभूते एकादिव्रतविषये स्थूलप्राणातिपातादिसर्वव्रतविषयाऽनुमतिवर्जसर्वसावद्याने यतिः=विरमणं येषाम्, ते देशय-

तयः, यद्वा कर्तृसाधनो यतिशब्दः, तथाहि–सर्वसावद्येभ्यो देशतो यच्छन्ति=विरमन्ति, ते देशयतयः, सर्वसावद्ययोगविरतिस्त्वेषां नास्ति, प्रत्याख्यानावरणविघ्नितत्वात् , समर्थितं च **जीवसमासवृत्तौ**
"सम्मद्द सणसहिओ गिण्हंतो विरइमप्पसत्तीए । एगव्वयाइ चरिमो अणुमइमित्ते त्ति देसयई ॥१॥
परिमियमुवसेवंतो अपरिमियमणंतय परिहरंतो । पावइ परम्मि लोए अपरिमियमणंतय सोक्ख ॥२॥" इति ।

अप्रत्याख्यानावरणकषायाणां क्षयोपशमाज्जीवा देशयतयो भवन्ति । ते च परिमाणतः सर्वदाऽसंख्येया भवन्ति । देशविरतलब्धिस्थानादीनि **त्वस्मत्कृतोपशमनाकरणटीकातोऽवसेयानि** ।

तथा प्रमदन प्रमत्त "क्लिबे क्त" (सिद्धहेम० ५ ३ १२) इत्यनेन सूत्रेण भावे क्तप्रत्ययः, संज्वलनकषायोदयादिजनित-मदिराविषयकषायनिद्राविकथालक्षणप्रमाद इत्यर्थः, प्रमत्तमस्त्येषामिति प्रमत्ताः "अभ्रादिभ्य" (सिद्धहेम ७ १-४०) इत्यनेन सूत्रेण मत्वर्थीयः अप्रत्ययः, प्रमादवन्त इत्यर्थः । यद्वा प्रमाद्यन्ति स्म =सज्वलनकषायाद्युदयान्मद्यविषयकषायनिद्राविकथालक्षणैः प्रमादस्थानैः सर्वैरन्यतरेण वा संयमयोगेषु सीदन्ति स्मेति प्रमत्ताः, 'गत्यार्थाऽकर्मकपिबभुजे" (सिद्धहेम० ५-१-११) इत्यनेन कर्तरि क्तप्रत्ययः । प्रमत्ताश्च ते यतयश्च प्रमत्तयतयः । अत्र मुग्ध. प्रश्नयति–यदि प्रमत्ताः, तर्हि कथं यतयः ? यदि चात्मस्वरूपसवेदनाद् यतयः, तर्हि कथ प्रमत्ताः ? प्रमादाऽभाव एव सयमस्य भावादिति । अत्रोच्यते–नाऽत्र संयमघातिप्रमादो विवक्षितः, किं तर्हि ? सज्वलनकषायोदयात् सयमाप्रतिघाती प्रमाद इष्टः । अत एव व्युत्पत्तौ 'संज्वलनकषायोदयाद्' इति पदं निवेशितम् । उक्तं च–

"विकहा कसाय विकडे इन्दिय-णिद्दापमादपञ्चविहो । एएसामन्नतरे जुतो विरओऽवि हु पमत्तो ॥१॥
जह रागेण पमत्तो ण सुणइ दोस गुण च बहुय पि । गुत्तीसमिइपमत्तो पमत्तविरओ त्ति णायव्वो ॥२॥"इति ।

एत उत्कृष्टतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वप्रमाणा भवन्ति, मनुष्याणामेव संयमलाभात् । उक्तं च **पञ्चसंग्रहे**–
'सासायणाइ चउरो होंति असखा अणतया मिच्छा । कोडिसहस्सपुहुत्त पमत्त इयरे उ थोवयरा ॥१॥" इति ।

संयमश्चैतेषां प्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमाद् भवति । विशुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदोऽत्र बोध्यः, तद्यथा–देशविरतेभ्यो विशुद्धिप्रकर्षोऽविशुद्ध्यप्रकर्षः, अप्रमत्तसयता-ऽपेक्षया तु विपर्ययः । एवमन्येष्वपि पूर्वोत्तरापेक्षया विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षापकर्षयोजना कार्या ।

न प्रमत्त विद्यते येषाम् , तेऽप्रमत्ताः, यद्वा न प्रमत्ता अप्रमत्ताः, यथोक्तमदिराविषयादिप्रमादरहिता इत्यर्थः, **यदुक्तम्**–
विकहादयो पमाया तस्सहिओ सो पमत्तविरओ उ । सव्वप्पमायरहिओ विरओ सो अप्पमत्तो उ ॥१॥" इति ।

अप्रमत्तसयताश्च प्रमत्तसयतापेक्षयाऽतीव विशुद्ध्यमाना-ऽध्यवसाया भवन्ति । तेषां विशोधिस्थानानि पुनस्त्रिकालमाश्रित्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिमात्राणि भवन्ति, यदुक्त **तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ** "निर्ज्ञाता एव तथा, विशोधयोऽसङ्ख्यलोकमात्रास्ता । तरतमयुक्ता या अधितिष्ठन् यतिरप्रमत्त स्यात्" इति

विशुद्धयां प्रवर्धमानानां धर्मध्यानादितपोयोगैः कर्माणि क्षपयतां विशोधिस्थानानि चाऽऽरोहतामेतेषां मनःपर्यवज्ञानादयोऽपि ऋद्धयो प्रादुर्भवन्ति, यदुक्तं **तत्त्वार्थवृत्तौ**–

"अवगाहते स च श्रुतजलधिं प्राप्नोति चाऽवधिज्ञानम् । मानसपर्याय वा ज्ञान कोष्ठाग्निबुद्धिर्वा ॥१॥ चारणवैक्रियसर्वौषधताद्याश्चाऽपि लब्धयस्तस्य । प्रादुर्भवन्ति गुणतो बलानि वा मानसादीनि ॥२॥" इति ।

एकजीवमाश्रित्य प्रमत्ताऽप्रमत्तयोः कालो जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतश्चाऽन्तर्मुहूर्तम् । उभयोः समुदितः पुनर्देशोनपूर्वकोटीवर्षमात्रः, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहे**–

समयाओ अंतमुहू पमत्तअपमत्तय भयति मुणी । देसूणपुव्वकोडिं अन्नोन्न चिट्ठहि भयन्ता ॥१॥" इति ।

अथा ऽष्टमजीवभेदमाह–'**तह-ऽपुव्वकरणवत्ती**' त्ति, तथा-ऽपूर्वकरणवर्तिनः' तथाशब्दः समुच्चयार्थकः, एवमुत्तरत्राऽपि, अपूर्वम्=अभिनवम्=अनन्यसदृशं करणं=स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रमा-ऽपूर्वस्थितिबन्धानां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यत्र, तदपूर्वकरणम् । तत्र ज्ञानावरणादि-कर्मणां बृहत्प्रमाणायाः स्थितेरपवर्तनाकरणेन घातनम्=अल्पीकरणं स्थितिघातः, रसस्य बहु-नन्तभागानामपवर्तनाकरणेन घातनं=खण्डनं रसघातः, एतौ द्वावपि पूर्वगुणस्थानकेषु विशुद्धेरल्पत्वाद् अल्पौ कृतौ, इतः पुनर्विशुद्धेरतीवप्रकृष्टत्वादपूर्वौ इमौ क्रियेते । तथा विशुद्धिवशादुपरितनस्थि-तेरपवर्तनाकरणेना-ऽवतारितस्य दलिकस्योदयसमयादन्तर्मुहूर्तं यावत् क्षिप्रतरक्षपणाया अनुसमयं गुणेन=असंख्येयगुणवृद्धया या रचना, सा गुणश्रेणिः । सा च पूर्वगुणस्थानकेष्वविशुद्धत्वात् कालतो द्राघीयसी, अप्रथीयसी च दलिकं प्रतीत्य जायते स्म, अल्पदलिकस्या ऽपवर्तितत्वात् । इह तु विशुद्धत्वादपूर्वा कालतो ह्रस्वतरा दलिक विरचनमाश्रित्य पुनः पृथुतरा विरच्यते । बध्यमान-शुभप्रकृतिष्वबध्यमाना-ऽशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिसमयं गुणेन=असंख्येयगुणवृद्धया विशुद्धिवशात् संक्रमणं=सञ्चारणं=नयन गुणसंक्रमः, स चेहा-ऽपूर्वः क्रियते । तथा प्रागविशुद्धत्वाद् द्राघीयसी कर्मणां स्थितिर्बध्यते स्म, इह पुनर्विशुद्धत्वात् सैवा-ऽपूर्वा पल्योपमसंख्येयभागेन हीना हीनतरा बध्यते । अपूर्वकरणे वर्तन्त इति अपूर्वकरणवर्तिनः, यद्वा करणानि परिणामविशेषाः, यतः "करणमिति परिणाम-विशेष "इत्यु**पशमनाकरणमलयगिरीयवृत्तौ** उक्तम् , अपूर्वाणि=उत्तरोत्तरसमये-ऽप्राप्तस्वरू-पाणि च तानि करणानि च=परिणामविशेषाश्च अपूर्वकरणानि । तत्र वर्तन्त इति अपूर्वकरण-वर्तिनः । इदमुक्तं भवति–येऽपूर्वकरणगुणस्थानकप्रथमसमयं प्रतिपन्नाः प्रतिपद्यन्ते प्रतिपत्स्यन्ते च, तान् सर्वानाश्रित्य जघन्यादीन्युत्कृष्टपर्यवसानान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसाय-स्थानानि भवन्ति । न च कालत्रयवर्तिनामेतद्गुणस्थानकप्रथमसमयप्रतिपत्तॄणामानन्त्यात् परस्पर-मध्यवसायस्थानानां च नानात्वादनन्तान्यध्यवसायस्थानानि कुतो न भवन्ति ? इति वाच्यम् ,बहू-नामेकाऽध्यवसायस्थानभावात् । इदमुक्तं भवति–स्यादेतत् , यदि सर्वेषां तत्प्रतिपत्तॄणां पृथक् पृथग् भिन्नान्येवा-ऽध्यवसायस्थानानि भवेयुः, न च तदस्ति, बहूनामेकाध्यवसायस्थानवर्तित्वात् , यथा कश्चिचारित्रिणां शतं दशस्वध्यवसायस्थानेषु वर्तते, दशानां दशानामेकाध्यवसायस्थानवर्तित्वात् ,

तथैवेहाऽप्यनन्तानां तत्प्रतिपत्तृणामसंख्येयाऽध्यवसायस्थानवर्तित्वं भावनीयमिति। द्वितीयसमये पुनस्तदन्यान्यपूर्वाण्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति। नन्वध्यवसायस्थानानां वृद्धौ किं कारणमिति चेत्, उच्यते–प्रतिसमयं विशुद्धिमासादयन्तः खल्विह प्रतिपत्तारः स्वभावत एव बहवो भिन्नाऽध्यवसायस्थानेषु वर्तन्ते। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। ततोऽपि तृतीयसमये तदन्यान्यपूर्वाण्यधिकतराणि। एवं तावद्वक्तव्यानि, यावच्चरमसमयः। इत्थमुत्तरोत्तरसमये ऽध्यवसायस्थानान्यपूर्वाणि भवन्ति, यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–"अपुव्वकरणस्स पढमसमए जाणि विसोहिट्ठाणाणि बिइयसमए ततो अपुव्वाणि त्ति तम्हा विसोहिपरिणामट्ठाणाणि अपुव्वाणि त्ति वुच्चन्ति। ताणि अपुव्वाणि विसोहिपरिणामट्ठाणाणि पविट्ठा अपुव्वकरणपविट्ठा×××।" इति 卐।

केचित् पुनरपूर्वकरणस्य सञ्ज्ञान्तरं निवृत्तिरिति भणन्ति, यदुक्तं "नियट्टित्ति" इति। तेन निवृत्तिवर्तिनः। तत्रेय व्युत्पत्तिः-निवृत्तिः=नानाजीवाश्रिताऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशमात्राध्यवसायस्थानोपलम्भात् तत्तत्समयेऽध्यवसायस्थानानां परस्परं व्यावृत्तिः=भेदः, यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–"बिइय नियट्टिणो त्ति परोप्पर परिणाम णियट्टि त्ति नियट्टिणो जातो तेसिं समए समए असङ्खेज्जलोगागासपएसमेत्ताणि विसोहीठाणाणि भवन्ति। तत्थ पढमसमए यदि वट्टन्ता विसरिसपरिणामा किं अपुव्वकरण कह वा पवेसो भवइ त्ति, त भन्नइ, अपुव्वकरणट्ठाणाणि असखेज्जलोगासपएसमे त्ताणि विसोहिट्ठाणाणि।" इति। तत्र वर्तन्त इति निवृत्तिवर्तिनः। तेषां प्रथमसमयजघन्याऽध्यवसायस्थानात् प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यवसायस्थामनन्तगुणविशुद्धं भवति, प्रथमसमयोत्कृष्टाऽध्यवसायस्थानाद् द्वितीयसमयजघन्याऽध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम्। एवंक्रमेण तावद् वाच्यम्, यावद् द्विचरमसमयोत्कृष्टाऽध्यवसायस्थानाच्चरमसमयजघन्या-ऽध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम्। एकसमयगतानि पुनरध्यवसायस्थानानि परस्परमनन्तभागवृद्धा ऽसंख्यातभागवृद्ध-संख्यातभागवृद्ध संख्येयगुणवृद्धा ऽसंख्येयगुणवृद्ध-ऽनन्तगुणवृद्धरूपषट्स्थानपतितानि भवन्ति।

अपूर्वकरणवर्तिनश्च द्विधा, क्षपकोपशमकभेदात्। तत्र मोहनीयकर्मणः क्षपणार्हत्वात् क्षपकाः, तस्यैव पुनरुपशमनार्हत्वादुपशमकाः, राजाऽर्हकुमारा राजवद्, न पुनरेते क्षपयन्त्युपशमयन्ति वा। यद्वा "भाविनि भूतवदुपचार" इति न्यायबलादपूर्वकरणवर्तिनः क्षपका उपशमकाश्चेति व्यपदिश्यन्ते। न चोक्तन्यायेन क्षपकव्यपदेशो न विरुद्ध्यते, नियमतस्तज्जीवेन मोहस्य क्षपयिष्यमाणत्वात्, किन्तूपशमकव्यपदेशो न घटामटाट्यते, कस्यचिदपूर्वकरण एव मरणादिति वाच्यम्, प्रतिबन्धकाभावस्य सर्वत्र कार्यप्रयोजकत्वात्। इदमुक्तं भवति–असति मरणात्मके प्रतिबन्धके नियमत उपशमयिष्यन्तीति उपशमका व्यवह्रियन्ते। उपचारतः पुनर्मरिष्यमाणानामप्युपशमकसंज्ञा न विरुध्यते। उपशमका इव उपशमका इति। क उपमार्थः? उच्यते–यथा नियमतो

卐 उक्त च श्रीधवलायामपि–
"एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिस समयट्ठिएहि जीवेहि। पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणाम।" इति।

ये उपशमयिष्यन्ति, ते स्थितिघातादिकं कुर्वन्ति, तथैवैतेऽपि। उक्त च शतकचूर्णौ–"तेसु अपुव्वकरणपविट्ठेसु अत्थि उवसामगा खवगा य। उवसमइस्सन्ति त्ति उवसामगा। खवइस्सन्ति त्ति खवगा। ण इयाणि उवसमयन्ति त्ति खवयन्ति त्ति वा, किंतु अभिमुहभावेणेयमभिहिय निल्लेवणयाए पयडिं न खवयति। ठिइघाय पुण करोति। उक्त च—

सो अणुभागठिईण घायमपुव्व करेइ ठिइबन्ध। अणुभाग च विसोहिं उदीरणा उदयगुणसेढी ॥१॥
तम्हा अपुव्वकरणो विरओ सद्धम्मभाणसयरागो। सो उवसामगखवगो दुविहो उवसमणखवणरिहो ॥२॥
जह रायारिहो कुमारो राया इति।
अत्थ जहा वयसी विनियट्ठियइन्दियत्थुविसयगणो। सुविसुद्धभावलेसो सुक्कज्झाणो णिरुद्धतणु ॥१॥
ण य उवसमेइ कम्म खवेइ तम्मि य अपुव्वकरणम्मि। करिहिइ उवसमखवण जह घयकुम्भो तहा सो वि ॥२॥"
इति।

अथ नवमभेद दिदर्शयिषुराह–'अणियट्टी' त्ति, 'अनिवृत्तयः' "देवदत्तो देव" इत्यादिवत् पदवाच्यस्या-ऽर्थस्य पदैकदेशेनाऽप्यभिधानदर्शनाद् अनिवृत्तयः=अनिवृत्तिबादरसम्परायाः, न विद्यते निवृत्तिः=युगपत्प्रविष्टानां नानाजीवानामप्यन्योऽन्याऽध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिर्येषाम्, तेऽनिवृत्तयः, बादरः=स्थूलः सम्परायः=कषायो येषाम्, ते बादरसम्परायाः, अनिवृत्तयश्च ते बादरसम्परायाश्च अनिवृत्तिबादरसम्परायाः, तेषां हि सर्वेषां तुल्यकालप्रविष्टानामेकमेवा-ऽध्यवसायस्थानं भवति, तथाहि–येऽनिवृत्तिकरणबादरसम्परायगुणस्थानकं प्रतिपन्नाः, ये च प्रतिपद्यन्ते, ये पुनः प्रतिपत्स्यन्ते, तेषां सर्वेषामप्येकमेवाऽध्यवसायस्थानं भवति। यद्भाणि शतकचूर्णौ–

'इतरेतरपरिणाम ण य अइवट्टन्ति बायरकसाया। सव्वेवि एगसमए तम्हा अणियट्टिनामा ते ॥१॥"
अथवा प्रकृष्टा उत्कृष्टपरिणामा भावओ वा अणियट्टी उक्त च–
"एक्केक्को परिणामो उक्कोसजहन्नओ जओ णत्थि। तम्हा णत्थि णियट्टणमओ वि अणियट्टिणामा ते ॥१॥"

इति। ते च द्विधा क्षपकोपशमकभेदात्। तत्र क्षपका मोहनीयस्य विंशतिप्रकृतीः स्त्यानर्द्धित्रिकं त्रयोदशनामप्रकृतीश्च क्षपयन्ति, कथम्? इति चेत्, उच्यते–प्रथमं तावदनिवृत्तिकरणे प्रत्याख्यानावरणा-ऽप्रत्याख्यानावरणरूपकर्माष्टकं क्षपयितुमारभन्ते, तस्मिन्नर्धक्षपितेष्वेवातिविशुद्धिवशादन्तराल एव स्त्यानर्द्धित्रिक-नरकद्विक-तिर्यग्द्विकैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजात्यातपोद्योत-स्थावरसाधारणसूक्ष्मरूपाः षोडशप्रकृतीर्निःशेषं क्षपयन्ति, ततः कषाया-ऽष्टक सर्वात्मना क्षपयन्ति।

मतान्तरेण पुनरादौ प्रोक्तषोडशप्रकृतीः क्षपयितुमुपक्रमन्ते, अन्तराले कषायाऽष्टकं निःशेषं क्षपयित्वा प्रकृतिषोडशक क्षपयन्ति। ततो नपुंसकवेदं क्षपयन्ति, ततः स्त्रीवेदं तदनन्तर च हास्यषट्क क्षपयन्ति, ततोऽश्वकर्णकरणाद्धा प्रविष्टाः संज्वलनचतुष्कस्याऽपूर्वस्पर्धकानि कुर्वाणाः पुरुषवेद निःशेष क्षपयन्ति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तं गत्वा संज्वलनस्य किट्टीर्निर्वर्तयन्ति, तत ऊर्ध्वं संज्वलनक्रोध ततो मान ततो माया क्षपयन्तीत्येव मोहस्य विंशति प्रकृतीः क्षपयन्ति, बादरलोभमपि त एव क्षपयन्ति, सूक्ष्मलोभ तु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके क्षपयिष्यन्ति। दर्शनसप्तकं तु प्रागेवाऽविरताद्यप्रमत्तान्ताऽवस्थायां क्षपितम्। तथा चोक्तं शतकचूर्णौ—

"भाव न णियट्टेई विसुद्धलेसो णिरुद्धमयरागो। किट्टीकरणपरिणओ बायररागो मुणेयव्वो ॥१॥
सो पुव्वफड्डगाण हेट्ठा अण्णाणि फड्डगाइ तु। पकरेइ अपुव्वाइ अणन्तगुणहीयमाणाइ ॥२॥
तत्तो अपुव्वफड्डगहेट्ठा वहुगा करेइ किट्टीओ। पुव्वाओ य अपुव्वेहितो वोकड्ढिय पएसे ॥३॥
तो बायरकिट्टीओ वेएमाणो करेइ सुहुमाओ। बायरकिट्टीहेट्ठा किट्टीओ सुद्धलेसाओ ॥४॥
वेएइ बायराओ किट्टीओ तेण बायरो णाम। कम्माणि उवसमन्तो उवसमगो खवणओ खवगो ॥५॥
णासेइ तओ खवओ लोभ मोत्तूण मोहवीसमवि। अह थीणगिद्धितिगमवि तेरस णामा वि एत्थेव ॥६॥"

इति। स्थानाऽशून्यार्थं क्षपणा संक्षेपत इहाऽभिहिता, विशेषार्थिनाऽ**स्मत्कृतस्वोपज्ञवृत्तियुक्त-क्षपकश्रेणिग्रन्थो**ऽवलोकनीयः, तत्र न्यक्षेण क्षपणाविधेरभिहितत्वात्।

उपशमकास्त्वेता एव विंशतिप्रकृतीरुपशमयन्ति। तद्यथा—अनिवृत्तिबादरसम्परायस्य बहु-संख्येयभागेषु गतेषु नपुंसकवेदमुपशमयन्ति, ततः स्त्रीवेदम्, ततो हास्यषट्कम्, ततः पुरुषवेदमुपशम-यन्ति, ततो युगपदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानक्रोधौ, ततः संज्वलनक्रोधम्, ततो युगपदप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणौ मानौ, ततः सज्वलनमानम्, ततो द्वितीयमायातृतीयमाये, ततः संज्वलनमायाम्, ततो द्वितीयतृतीयौ लोभौ, ततो बादरं संज्वलनलोभमुपशमयन्ति। तत ऊर्ध्वं सूक्ष्मसम्पराये सूक्ष्मं सज्वलनलोभमुपशमयन्ति। उपशमयन्ति नाम संक्रमादिकरणा—ऽयोग्यत्वेन व्यवस्थापयन्ति। इदमुक्तं भवति—सर्वोपशमना मोहनीयस्यैव भवति, यदुक्तं **श्रीमच्छिवशर्मसूरिपादैः**—"सव्वोवसमणा मोहस्सेव" इति। तत्र मोहनीयकर्म यदुपशान्तम्, न तदपवर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां हीनं कुर्वन्ति, न पुनरुदयेन वेदयन्ति, उदीरणाया उदयाऽविनाभावित्वाद् नोदीरणायां ददति, न च बध्यमानसजातीयरूपायां परप्रकृतौ सक्रमयन्ति, न चोद्वर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां वृद्धिं गमयति, यदुक्तं **चूर्णौ**—

"उवसत ज कम्म ण।य ओकड्ढइ ण देइ उदए वि। ण य गमयइ परपगइ ण चेव ओकड्ढते त तु ॥१॥" इति।

देशोपशमनानिधत्तिनिकाचनकरणाना व्यवच्छित्तिस्त्वनिवृत्तिकरणप्रथमसमय एव जाता। इद चारि-त्रमोहनीयमाश्रित्य बोध्यम्, दर्शनत्रिकाऽपेक्षया तु संक्रमकरणमपवर्तनाकरणं च प्रवर्तेते एव, यदुक्तं **कर्मप्रकृतिग्रन्थे**— "उवसता य अकरणा सकमणोवट्टणा य दिट्ठितिगे"। इति। विशेषार्थिना त्वस्मत्कृतोपशमनाकरणटीकाऽवलोकनीया।

अथ दशमभेद प्रकटयन्नाह—'**सुहुमसंपरायः य**' त्ति, 'सूक्ष्मसम्परायाश्च' चकारः समु-च्चये, एवमग्रेऽपि। सूक्ष्मः=किट्टिकृतः सम्परायो=लोभकषायो येषाम्, ते सूक्ष्मसम्परायाः, तेऽपि द्विधा क्षपका उपशमकाश्च। तत्र क्षपकाः सूक्ष्मलोभ क्षपयन्ति, उपशमकास्तूपशमयन्ति, यदुक्तं **शतकचूर्णौ**—

'बायररागेण कया सुहुमो वेएइ सुहुमकिट्टीओ। तम्हा सुहुमकसायो सुहुमो सुद्धप्पयोगप्पा ॥१॥
उवसमगो उवसमयइ खवगो णासेइ सुहुमकिट्टीओ। ते पुण विशुद्धभावा जन्ति दुवे दुविहसेढीओ ॥२॥" इति

अथैकादशद्वादशभेदौ व्याजिहीर्षुराह—'**उवसंतखीणमोहा य**' त्ति, 'उपशान्तक्षीणमोहाश्च' मोहशब्दः प्रत्येकमभियुज्यते, "भीमो भीमसेन" इति न्यायश्चाऽऽश्रयितव्यः। तत्र प[illegible]'—उप-

शान्तमोहवीतरागच्छद्मस्थाः क्षीणमोहवीतरागच्छद्मस्थाश्च, उपशान्तः=अन्तर्भूतण्यन्तनिर्देशाद् उपशमितः संक्रमोद्वर्तनादिकरणविपाकप्रदेशोदयाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थापितो मोहः=मोहनीयं यैः, त उपशान्तमोहाः, यद्वा उपशान्तः संक्रमादिकरणा-ऽयोग्यतामापन्नो मोहो येषाम्, त उपशान्तमोहाः, वीतः=विगतो रागो=मायालोभकषायोदयरूपः, उपलक्षणत्वादस्य द्वेषोऽपि क्रोधमानोदयरूपो येषाम्, ते वीतरागाः, उपशान्तमोहाश्च ते वीतरागाश्च उपशान्तमोहवीतरागाः, आत्मनो ज्ञानादिकगुणं छादयतीति छद्म=ज्ञानावरणादिकर्मित्यर्थः, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः, "स्थापास्नात्र कः" (सिद्धहेम० ५-१-१४२) इत्यनेन कप्रत्ययः। उपशान्तमोहवीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्चोपशान्तमोहवीतरागच्छद्मस्थाः। ननूपशान्तमोहग्रहणेनैव वीतरागत्वं सिध्यति, पुनस्तद्ग्रहणमनर्थकमिति चेत्, नैवम्, हेतुहेतुमद्भावज्ञापनार्थं तदुपन्यासात्। तथाहि–उपशान्तमोहत्वं हेतुः, वीतरागत्व हेतुमत्। किञ्चाऽधस्तनगुणस्थानकेष्वपि कियतांचित् कषायमोहनीयानामुपशान्तत्वदर्शनात् तेषामप्युपशान्तमोहत्वव्यपदेशः स्यात्, तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणमावश्यकम्। न च वीतरागग्रहणमस्तु, उपशान्तमोहग्रहणं मा भवत्विति वाच्यम्, तस्योपरितनगुणस्थानकव्यवच्छेदार्थत्वात्।

ननूपशान्तमोहवीतरागग्रहणेनैवेष्टसिद्धौ छद्मस्थग्रहणं निरर्थकं व्यवच्छेद्याभावात्, न ह्यच्छद्मस्थानां केवलिनामुपशान्तमोहत्वं सम्भवति, येन तेषां छद्मस्थग्रहणेन व्यवच्छेदः स्यादिति चेत्, उच्यते–छद्मस्थविशेषणं नाऽन्यव्यवच्छेदार्थम्, किन्तु स्वरूपकथनार्थं लोहितस्तक्ष इतिवद्, यद्यपि लोहित एव सर्पस्तक्ष उच्यते, तथापि स्वरूपबोधनार्थं लोहित इति विशेषणं युज्यते। एवमत्राऽपि बोध्यम्।

तथा क्षीणः=अपुनरुद्भावेनाऽभावमापन्नो मोहो=मोहनीय येषाम्, ते क्षीणमोहाः, क्षीणमोहाश्च ते वीतरागाश्च क्षीणमोहवीतरागाः, क्षीणमोहवीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च क्षीणमोहवीतरागच्छद्मस्थाः। इह वीतरागग्रहणं "निमित्ताऽभावे नैमित्तिकस्याऽप्यभाव" इति न्यायबोधनार्थम्। मोहनीयकर्म निमित्तम्, रागस्तु नैमित्तिकः कार्यमिति यावत्। किञ्चाऽधस्तनगुणस्थानेष्वपि कियताञ्चिदनन्तानुबन्धिप्रभृतीनां कषायमोहनीयानां क्षपणादर्शनात् तेषां व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम्। क्षीणमोहग्रहणं तूपशान्तमोहव्यवच्छेदार्थम्। क्षीणमोहवीतरागत्वं च केवलिनामप्यस्ति, तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थपद सार्थकम्।

ननूपशान्तमोहानां क्षीणमोहानां च कः प्रतिविशेषः? इति चेत्? उच्यते-उपशान्तकलुषसलिलतुल्या उपशान्तमोहाः, अपगतकलुषजलोपमाः पुनः क्षीणमोहा भवन्ति, यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–
"जलमिव पसन्तकलुस पसतमोहो भवे उवसतो। गयकलुस जह तोय गयमोहो खीणमोहो वि॥" इति।

साम्प्रत त्रयोदशं चतुर्दशं च भेदं ख्यापयितुकाम आह–'**सजोगिअ** '**गिणो**' त्ति, 'सयोग्ययोगिनः' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सयोगिकेवलिनोऽयोगिकेवलिनश्च। तत्र योगः प्राग् व्याख्यातः। स च त्रिविधः, मनोवाक्कायभेदात्। त्रिविधोऽपि योगो भगवतां

सयोगिकेवलिनां सम्भवति । तद्यथा–मनोयोगस्तावन्मनःपर्यायज्ञान्यादिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा जीवादितत्त्वस्य किञ्चिन्मनसा पृष्टस्य मनसैव प्रत्युत्तरे भवति, वाग्योगः सामान्येन देशनादौ, काययोगस्तु चङ्क्रमणोन्मेषादौ, मनोवाक्कायलक्षणेन त्रिविधेन योगेन सह वर्तन्त इति सयोगिनः । यद्वा योगो=वीर्यं=परिस्पन्दः । तेन सह वर्तन्त इति सयोगा मनोवाक्काया इत्यर्थः, त येषा सन्ति, ते सयोगिनः । केवलम्=अमिश्रं सम्पूर्णज्ञेयग्राहित्वाद्, यद्वा केवलं=सम्पूर्णज्ञानमस्ति येषाम्, ते केवलिनः । सयोगिनश्च ते केवलिनश्च सयोगिकेवलिनः । एते सयोगकेवलिनोऽप्युच्यन्ते । उक्त च **शतकवृत्तौ श्रीमन्मलधारिहेमचन्द्रसूरिपादैः**– 'तदनेन त्रिविधेन योगेन सह वर्तते इति सयोग सयोगीति वा, "सर्वधनादे' राकृतिगणत्वेन मत्वर्थीयेन्विधानादिति । केवल वक्ष्यमाणस्वरूपमस्याऽस्तीति केवली, सयोगश्चाऽसौ केवली च सयोगी वा चासौ केवली च, तस्य गुणस्थानमिति प्राग्वदिति ।"

तथा न विद्यते योगो येषाम्, तेऽयोगिनः । अयोगिनश्च ते केवलिनश्च अयोगिकेवलिनः, शैलेश्यवस्थाया सर्वथा समुच्छिन्नमनोवाक्कायव्यापारा इत्यर्थः, सयोग्ययोगिना स्वरूपं विस्तरतः **"क्षपकश्रेणिवृत्ति"**ग्रन्थतोऽधिगन्तव्यम्, प्रसङ्गसङ्गतिसत्त्वेऽपि ग्रन्थबाहुल्यसंभवान्नाऽत्राऽभिधीयते ।

एवं चतुर्दशगुणस्थानान्याश्रित्य चतुर्दश जीवभेदाः प्ररूपिताः । ननु किं नाम गुणस्थानम् ? इति चेत्, उच्यते–ज्ञानादयो गुणास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानम् । गुणानां स्थानं गुणस्थानम्, मिथ्यादृष्टेर्गुणस्थानं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् । एव सास्वादनसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानान्यपि वाच्यानि । ननु कथं मिथ्यादृष्टेर्गुणस्थानसम्भवः ? यतो विपर्यस्तायां दृष्टौ सत्यां कथं मिथ्यादृष्टेर्गुणा भवेयुः, गुणाना हि ज्ञानदर्शनचारित्ररूपत्वादिति चेत्, उच्यते–इह यद्यपि तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणात्मगुणघातिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयविपाकोदयवशाद्वस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिः प्राणिनां विपर्यस्ता भवति, तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिः, अन्ततो निगोदाऽवस्थायामपि तथाभूताऽव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवति, यथा अतिबहलघनपटलसमाच्छादितायामपि चन्द्रार्कप्रभायां काचित् प्रभा भवति, नैकान्ततो तन्नाशः, दिनरजनीविभागाऽभावप्रसङ्गात् । एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्ताऽपि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसम्भवः । न च तया तस्य सम्यग्मिथ्यादृष्टित्व भवेदिति वाच्यम्, जिनेन्द्रप्रणीतप्रवचनपदाक्षरस्याऽरोचनाद् मिथ्यादृष्टित्वाऽभिधानात् प्रागुक्तनालियरद्वीपजनदृष्टान्तेन च साम्याभावे सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वाभावात् ।

अयोगिजीवेषु सिद्धा अपि संगृहीता ग्रन्थान्तरेषु, योगाभावसाधर्म्यात्, यदुक्तं **जीव**ॆ–
"दुविहा होन्ति अजोगी सभवा अभवा निरुद्धजोगी य । इह सभवा अभवा उण सिद्धा जे सव्वभवमुक्का ॥ १॥
इति । इह ग्रन्थे तु सावशेषभवोपग्राहिकर्मयुक्तान् निरुद्धयोगान् केवलिनोऽयोगित्वेनाऽभिधाय सिद्धान् पृथग् विभणिषुराह–'**सिद्धा**' त्ति, 'सिद्धाः' निष्ठिताः कृतकृत्या इति यावत्, ते च कर्माष्टक-

विमुक्ता अष्टगुणयुक्ता लोकाग्रे स्वचरमभवदेहत्रिभागन्यूना-ऽवगाहनया तिष्ठन्ति, तत ऊर्ध्वं धर्मास्तिकायाद्यभावात्, उक्तं च गुणस्थान मारोहे—

"नृलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा। ऊर्ध्वं तस्या क्षिते सिद्धा लोकान्ते समवस्थिता ॥१॥
कालावसरसस्थाना या मूषागतसिक्थका। तत्रस्थाकाशसङ्काशा-ऽऽकारा सिद्धा-ऽवगाहना ॥२॥
रोऽखिलतत्त्वानां द्रष्टारश्चैकहेलया। गुणपर्याययुक्तानां त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् ॥३॥
अनन्त केवलज्ञान ज्ञानावरणसक्षयात्। अनन्त दर्शन चैव दर्शनावरणक्षयात् ॥४॥
शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे क्षायिके मोहनिग्रहात्। अनन्ते सुखवीर्ये च वेद्यविघ्नक्षयात् क्रमात् ॥५॥
आयुष क्षीणभावत्वात् सिद्धानामक्षया स्थिति। नामगोत्रक्षयादेवाऽमूर्ता-ऽनन्ता-वगाहना ॥६॥" इति

विशेषार्थिना सिद्धप्राभृतादिग्रन्था अवलोकनीयाः। तदेवमोघत उक्ताः पञ्चदश जीवभेदाः ॥४५,४६॥

सम्प्रति गत्यादिमार्गणाभेदेषु जीवभेदान् वक्तुकाम आदौ तावद् नरकगत्यादिषु प्राह—

सव्वणिरयभेएसुं सुरगेविज्जंतदेवविउवेसुं।
अजया-ऽहलेसासुं मिच्छाई होन्ति सम्मंता ॥४७॥

(प्रे०) '**सव्व**'० इत्यादि, 'सर्वनिरयभेदेषु' निरयगति रत्नप्रभापृथ्वी-शर्कराप्रभापृथिवी-वालुकाप्रभापृथ्वी-पङ्कप्रभापृथ्वी-धूमप्रभापृथिवी-तमःप्रभापृथ्वी-महातमःप्रभापृथ्वीलक्षणेष्वष्टसु नरकमार्गणाभेदेषु 'सुरग्रैवेयान्तदेववैक्रियेषु' देवगति भवनपति-व्यन्तर ज्योतिष्क-सौधर्मैशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारा-ऽऽनत प्राणता ऽऽरणा-ऽच्युत-नवग्रैवेयक-वैक्रियकाययोगरूपेषु षड्विंशतिमार्गणास्थानेषु (२६) 'अयता-ऽशुभलेश्यासु' अयते=अविरतमार्गणायाम्, अशुभलेश्यासु=कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्यारूपासु तिसृषु लेश्यामार्गणासु, 'मिथ्यादयः' पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् मिथ्यादृष्ट्यादयः, 'सम्यक्त्वान्ताः' अविरतसम्यग्दृष्टिपर्यवसानाश्चत्वारो जीवभेदा भवन्ति, कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, उच्यते—देवनारकेषु देशविरतादयो न लभ्यन्ते, अवश्यं हि तेषामप्रत्याख्यानावरणकषायोदयसद्भावेन विरतेर्देशतोऽप्यसम्भवादिति कृत्वाऽष्टसु नारकभेदेषु पञ्चविंशतौ पुनर्देवभेदेषु चत्वार एव जीवभेदाः प्राप्यन्ते। इह ग्रन्थे मनुष्यतिरश्चां वैक्रियकाययोगस्य विवक्षा नास्ति, भवप्रत्ययादेव वैक्रियकाययोगस्यैव विवक्षणात्। तेन देवनारकवद् वैक्रियकाययोगेऽपि चत्वारो जीवभेदाः।

कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्यासु देशविरतादयो न वर्तन्ते, तेषां विशुद्धत्वात् कृष्णलेश्यादिषु च तथाविधसंक्लेशसद्भावेन विरतेरभावात्। ननु श्रीव्याख्याप्रज्ञप्त्यादौ सामायिकसंयत छेदोपस्थापनसंयतयोः लेश्याषट्कप्रतिपादनात् प्रमत्तसंयतगुणस्थानं यावदशुभलेश्यात्रय सम्भवति, आद्यलेश्यात्रयस्या-ऽशुभत्वेऽपि प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा-ऽध्यवसायस्थानयुक्तत्वाद् मन्दसङ्क्लेशे तथाविधविरतिरप्यविरुद्धा, तथा चा-ऽत्र व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्—'सामाइयसजय

ण भंते ! कइ लेसासु हुइज्जा ? गोयमा ! छस्सु लेसासु होज्जा एव छेओवट्ठाणियसंजए वि।" इति। एवं **षडशीति** ग्रन्थेऽप्यशुभलेश्यात्रय आद्यषड्गुणस्थानकानि निगदितानि । तथा चात्र **षडशीतिः** "पढमतिलेसासु छच्च" । इति । तदत्र चत्वारो जीवभेदाः कथं घटामृच्छन्तीति चेत् , उच्यते–सत्यमेतत् , किन्त्वन्येषां मतेनाद्यलेश्यात्रये चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति, यदुक्तं **जीवसमासे**–"किण्हा नीला काऊ अविरयसम्मत×××। इति । मतद्वयमपि दर्शितं **शतकचूर्णौ**, अक्षराणि त्वेवम्–मिच्छद्दिट्ठीप्पभिई जाव असंजओ त्ति सव्वेवि छसु लेसासु संजयासंजय पमत्तापमत्ता य तेउआइ उवरिल्लतिगलेसासु । केइ भणन्ति संजयासंजयपमत्तविरया य छसु लेसासु वट्टन्ति, अन्ने भणन्ति अन्नयरसंकिलिट्ठस्स वयभावो णत्थि, अन्ने भणन्ति ववहारओ भवइ ।" इति । प्रस्तुतग्रन्थे तु **जीवसमा**दिग्रन्थाननुसृत्य चत्वारो जीवभेदा दर्शिताः ॥४७॥ अथ तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु जीवभेदान् प्राह—

मिच्छाई देसविरयअंता तिरियतिपणिंदितिरियेसुं ।
मिच्छादिट्ठीया चिअ असमत्तपणिंदितिरियमणुसेसुं ॥४८॥(गीतिः)
सव्वेसुं एगिंदियविगलिंदियपंचकायभेएसुं ।
असमत्तपणिंदियतसअभवियमिच्छत्तअमणेसुं ॥४९॥

(प्रे०) '**मिच्छाई**' इत्यादि, तत्र 'तिर्यक्त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु' तिर्यगादयः कृतद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, तिरश्चि=तिर्यक्सामान्यमार्गणायाम् , त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु=अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चो वक्ष्यमाणत्वात् तिर्यक्सामान्यस्य चोक्तत्वात् तिर्यग्योनिमती-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणेषु च 'मिथ्यादयः' पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् मिथ्यादृष्ट्यादयो 'देशविरतान्ताः' देशविरतपर्यवसानाः पञ्च जीवभेदा भवन्ति, भवप्रत्ययादेव तत्र चरणपरिणामाभावेन प्रमत्तसंयतप्रभृतिजीवानामभावात् , यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–'तिरिएसु जाण पचेव' त्ति तिरियगईए पंचगुणट्ठाणाणि मूलिल्लाणि, तेसु सव्वा विरई णत्थि त्ति काउ उवरिल्लाणि ण सम्भवन्ति ।" इति । एवं **षडशीति**ग्रन्थादिष्वप्यभिहितम् ।

अथ यासु मार्गणासु केवलमिथ्यादृष्टिजीवभेदो लभ्यते, ताः सङ्गृह्य व्याहरति–'**मिच्छा०**' इत्यादि, तत्र 'असमाप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्येषु' एते कृतेतरेतरद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, एवमग्रेऽपि, असमाप्तपदं प्रत्येकं सम्बध्यते, "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इति न्यायोपलम्भात् । ततश्चाऽयमर्थः–अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायामपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां च '**सव्वे**' इत्यादि, 'सर्वेष्वेकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चकायभेदेषु' सर्वशब्दस्य प्रत्येकं विशेषणाद् भेदशब्दस्य च प्रत्येकं योजनात् , सर्वैकेन्द्रियभेदेषु=एकेन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणेषु तथा सर्वेषु विकलेन्द्रियभेदेषु=द्वीन्द्रियसामान्य-पर्याप्तद्वीन्द्रियाऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियसामान्य-पर्याप्तत्रीन्द्रियाऽपर्या-

प्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियसामान्य-पर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियरूपनवमार्गणास्थानेषु सर्वेषु पञ्चकायभेदेषु=त्रसकायस्य पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् सप्तपृथिवीकायभेद-सप्ताऽप्कायभेद-सप्ततेजस्कायभेद-सप्तवायुकायभेदैकादशवनस्पतिकायभेदेषु 'असमत्त०' ति, 'असमाप्तपञ्चेन्द्रियत्रसाऽभव्यमिथ्यात्वामनस्सु' असमाप्तविशेषणं द्वाभ्यामभिसम्बध्यते, असमाप्तपञ्चेन्द्रिये=अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणास्थाने, असमाप्तत्रसे=अपर्याप्तत्रसमार्गणायाम् , अभव्ये=अभव्यमार्गणास्थाने, मिथ्यात्वे=मिथ्यात्वमार्गणायाम् , अमनसि=असंज्ञिमार्गणायां च मिथ्यादृष्टय एव भवन्ति ।

उक्तद्वाषष्टिमार्गणाभेदेषु (६२) केवलं मिथ्यादृष्टयो भवन्ति, न शेषाः, तथाविधविशुद्धेरभावात् , मिथ्यात्वाऽभव्यमार्गणावर्तिनां च स्वभावतः सम्यक्श्रद्धाभावात् । ननु सप्ततेजःकाय-वायुकायमार्गणासु, तथा यासु केवलं सूक्ष्मजीवा निगोदजीवाश्च लभ्यन्ते तासु, सर्वास्वपर्याप्तमार्गणासु च मिथ्यात्वाऽभव्यमार्गणयोश्च सर्वसंख्यया त्रयश्चत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु (४३) मिथ्यादृष्टय एव सन्तु, यतः सूक्ष्मेषु तथा तेजोवायुनिगोदजीवेषु लब्ध्यपर्याप्तजीवेषु च सास्वादनभावोपपन्नानामुत्पादाऽभावः, यदुक्तं **सप्ततिकाचूर्णौ**– मेसु अपज्जत्तेसु य सासणो न उववज्जइ त्ति××× सासणो साहारण-सुहुमतेउ-वाउसु न उववज्जइत्ति ।" मिथ्यात्वा-ऽभव्यमार्गणयोश्च तथास्वाभाव्यादेव गुणस्थानकान्तराऽसंभवः । शेषासु पुनरेकेन्द्रियबादरैकेन्द्रियप्रभृतिष्वेकोनविंशतिमार्गणास्थानेषु (१९) लब्धिपर्याप्ता बादरैकेन्द्रियादयो जीवा लभ्यन्ते, तासु मिथ्यादृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्च सम्भवन्ति, करणा ऽपर्याप्तानां तेषां सास्वादनगुणस्थानकस्या-ऽपि प्रतिपादनदर्शनात् , यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–"बादरेगिंदिय बितिचउअसन्निपचिंदिएसु लद्धीपज्जत्तगेसु करणेण अपज्जतगेसु, सन्निपंचिन्दिएसु करणपज्जत्तीए पज्जत्तगा पज्जत्तगेसु सासायणसम्मदिट्ठी लब्भइ लद्धिअपज्जतगेसु सव्वत्थ णत्थि। ×××× बादरपुढविआउपत्तेयवणस्सइकाइगेसु लद्धिपज्जत्तगेसु करणअपज्जत्तगकाले चेव सासणो लब्भइ, तेसु उववज्जति त्ति काउ। ×××× मिच्छद्दिट्ठी सासायणा य असन्निम्मि वि(ति)वट्टन्ति । एवं **षडशीत्यादावप्युक्तमिति** चेत् , उच्यते–**सैद्धान्तिकाभिप्रायेण** पृथिवीकायादिष्वेकेन्द्रियभेदेष्वेकमेव मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं स्वीकृतम् , करणा-ऽपर्याप्तानां लब्धिपर्याप्तानां विकलेन्द्रियाणां च गुणस्थानकद्वयमिति तन्मतेन न विरुध्यते । तथा चाऽत्र–**व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्**–"एगिंदिया ण भंते किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नो नाणी नियमा अन्नाणी । ××× बेइन्दिया ण भंते ! किं नाणी ? अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि अन्नाणी वि ।" इत्यादि । अत्र ज्ञानित्वमेकेन्द्रियादिषु निषिद्धम् , तेन ज्ञायते तत्र सास्वादनभावो नास्ति, सिद्धान्ते सास्वादनानां ज्ञानित्वेन व्यवहारात् ।

शतकचूर्णि–बन्धस्वामित्व– **शीतिप्रभृतिग्रन्थकारादीनामभिप्रायेण** त्वेकेन्द्रियेषु विकलेन्द्रियेष्वसंज्ञिषु लब्धिपर्याप्तेषु करणतः पुनरपर्याप्तेष्वाद्यगुणस्थानकद्वयं भवति । अन्येषु ग्रन्थेषु पुनरेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिया-ऽसंज्ञिजीवानां सास्वादनगुणस्थानकस्य स्वल्पकालभावित्वात् क्वचित् कारणान्तराद्वा न तद् विवक्षितम् । तथा चाऽत्र **जीवसमासप्रकरणम्**–

"एगिंदिया य बायरसुहुमा पज्जत्तया अपज्जत्ता । बिय-तिय-चउरिंदिय दुविहभेय पज्जत्त इयरे य ॥१॥
पचिंदिया असण्णी सण्णी पज्जत्तया अपज्जत्ता । पचिंदिएसु चोद्दस मिच्छद्दिट्ठी भवे सेसा ॥२॥
पुढविदगअगणिमारुय साहरणकाइया चउद्धा य । पत्तेय तसा दुविहा चोद्दश तस सेसिया मिच्छा ॥४॥" इति ।

प्रस्तुतग्रन्थे **जीवसमासादि**ग्रन्थाऽपेक्षयैकेन्द्रियादिषु मिथ्यादृष्टय एव प्रोक्ताः ॥४९॥

तिर्यग्गत्यादिषु जीवभेदानभिधाय मनुष्यगतिसामान्यादिमार्गणासु त्रिभणिपुस्तुल्यजीवभेदा अन्या अपि मार्गणा सङ्कलय्य प्राह–

मिच्छाइअजोगंता तिमणुसदुपणिंदिदुतसभवियेसु ।
सम्मादिट्ठीया चिअ पणऽणुत्तरदेवभेएसु ॥५०॥

(प्रे०) '**मिच्छा०**' इत्यादि, 'मिथ्याद्ययोगान्ताः' मिथ्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्दृष्टि-सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत प्रमत्ता–ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणवर्त्यनिवृत्तिबादरसम्पराय–सूक्ष्मसम्परायोपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थ क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थ–सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनश्चतुर्दश जीवभेदा भवन्ति, क्व ? इत्याह–'**तिमणुस०**' त्ति, त्रिमनुष्यादयः कृतद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, तत्र त्रिमनुष्येषु=अपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया उक्तत्वाद् मनुष्यगतिसामान्य-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यरूपेषु द्विपञ्चेन्द्रिययोः=अपर्याप्तस्याऽभिहितत्वात् पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-मार्गणास्थानलक्षणयोः, द्वित्रसयोः=अपर्याप्तस्योक्तत्वात् त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायाख्ययोः, भव्ये=भव्यमार्गणायां च, पञ्चेन्द्रियादीनां मार्गणास्थानाना मनुष्यगतावप्युपलम्भेन तत्र मोहनीयादिक्षयतदुपमशमादेरपि संभवाद् मिथ्यादृष्ट्यादयश्चतुर्दश जीवभेदा लभ्यन्त इत्यर्थः, न सिद्धाः, तेषां पञ्चेन्द्रियादिनामकर्मणामुदयाभावाद् नोभव्या नोऽभव्या इति व्यपदेशभाक्त्वाच्च ।

अथानुत्तरदेवेषु प्रकृतं वक्तुमनाः प्राह–**सम्मा०** इत्यादि, 'सम्यग्दृष्टयः'अविरतसम्यग्दृष्टय एव 'पञ्चाऽनुत्तरभेदेषु' विजय–वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजित-सर्वार्थसिद्धदेवमार्गणास्थानेषु भवन्तीत्युपस्कारः । उक्तञ्च **जीवस** [illegible] –"विशेषचिन्तायां त्वनुत्तरसुरेष्वेकमेवा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान लभ्यते ।" इति

तदेवं गतीन्द्रियकायमार्गणासु जीवभेदा भाविताः, प्रसङ्गतश्चान्यास्वपि निर्दिष्टाः ॥५०॥

सम्प्रति क्रम [illegible] योगमार्गणास्वभिधातुकामस्ताभिः सहाऽन्यानपि [illegible] णाभेदान् सङ्गृह्य भणति–

तिमणवयणकाये [illegible] ओरालम्मि सुइलाअ आहारे ।
मिच्छादिट्ठिप्पभिई होअंति सजोगिपज्जंता ॥५१॥

(प्रे०) '**तिमण०**' इत्यादि, 'त्रिमनोवचनकायेषु' त्रिशब्दो द्वाभ्यां सह युज्यते, ततश्चाऽयमर्थः–त्रिमनस्सु=मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगरूपेषु त्रिवचनेषु=वचनयोगसामान्य सत्यवचनयोगा-ऽसत्यामृषवचनयोगाख्येषु [illegible] =काययोगसामान्ये च, औदारिके= औदारिककाययोगमार्गणाया च, 'शुक्लायां' शुक्ललेश्यामार्गणायां च 'आहारे' [illegible] च

सर्वसंख्यया दशसु (१०) मार्गणाभेदेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः 'सयोगिपर्यन्ताः' सयोगिकेवलिपर्यवसानास्त्रयोदश जीवभेदा 'भवन्ति' विद्यन्ते । अयोगिकेवलिनां सर्वथा योग लेश्ययोरभावादनाहारकत्वाच्च सयोगिकेवलिपर्यन्ता इहोक्ताः, सयोगिकेवलिना चाऽसत्य-सत्यासत्यौ वाग्योगमनोयोगौ न सम्भवतः, रागद्वेषरहितत्वात् सर्वज्ञत्वाच्च, अत एव मध्यममनोयोगद्वये मध्यमवचनयोगद्वये च न त्रयोदश जीवभेदाः प्रोक्ताः ॥५१॥

अथ शेषयोगमार्गणा अन्याश्च मार्गणाः सङ्गृह्णन्नाह–

दुमणवयणजोगेसुं णयणेयरदरिसणेसु सण्णिम्मि ।
मिच्छादिट्ठीयाई णायव्वा खीणमोहंता ॥५२॥

(प्रे०) 'दुमण०' इत्यादि, 'द्विमनोवचनयोगेषु' द्विशब्दो योगशब्दश्च प्रत्येकं युज्यते, द्विमनोयोगयोः=असत्यमनोयोग–सत्यासत्यमनोयोगमार्गणयोः, द्विवचनयोगयोः=असत्यवचनयोग-सत्यासत्यवचनयोगमार्गणयोः 'नयनेतरदर्शनयोः' दर्शनशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् नयनदर्शने=चक्षुर्दर्शनमार्गणायां तदितरदर्शने=अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां च 'संज्ञिनि' सञ्ज्ञिमार्गणाभेदे 'मिथ्यादृष्ट्यादयः' मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः 'क्षीणमोहान्ताः' क्षीणमोहवीतरागच्छद्मस्थपर्यवसानाः=मिथ्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्दृष्टि-मिश्रदृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत-प्रमत्तसंयता-ऽप्रमत्तसंयताऽपूर्वकरणवर्त्यनिवृत्तिबादरसम्पराय–सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोह-क्षीणमोहा द्वादश जीवभेदा 'भवन्ति' विद्यन्ते । तत्राऽसत्य-सत्यासत्यौ वाङ्मनोयोगौ रागद्वेषाऽज्ञानाऽनाभोगवतामेव संभवतः, ते च रागादयः सयोगिकेवलिनः सर्वथा व्यवच्छिन्ना इति सयोगिनो विमुच्य क्षीणमोहपर्यन्ता एव निर्दिष्टाः । नन्वेवमपि मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रमत्तान्तेष्वेव प्रस्तुतयोगौ संभवतः, तेषामविशुद्धत्वात् । ये त्वप्रमत्तादयः क्षीणमोहान्ताः, तेषामतीव विशुद्धविशुद्धतरविशुद्धतमत्वात् कथमेतयोर्योगयोः संभवः, अविशुद्धावेव ह्यसत्यतायाः सम्भवात्? इति चेत् , उच्यते–सत्यमेतत् , किन्त्वप्रमत्तादीनां ज्ञानावरणाद्युदयोऽप्यस्त्येव, तदुदये चा ऽनाभोगादयः संभवन्ति, तेषु चाऽसत्यताऽवश्यम्भाविनी, अतः क्षीणमोहेऽप्यसत्यता संभवति, किं पुनः शेषे । अतः प्रस्तुतयोगौ न विरुध्येते अप्रमत्तादिक्षीणमोहान्तानाम् , यदुक्तम्–

"नहि नामा–ऽनाभोगच्छद्मस्थस्येह न भवति स्खलितम् । कर्मणि ज्ञानावरणे ज्ञानावरणस्वभावो हि ॥१॥"

इति । सयोगिकेवलिनां तु ज्ञानावरणादीनां सर्वथाऽभावः, तदभावाच्च नाऽसत्यताप्रसङ्गः, तेन नेह गृहीताः सयोगिकेवलिन इत्यलं प्रपञ्चेन ।

तथा सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनां न चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शने संभवतः, "अतीन्द्रिया केवलिन" इति वचनाद् , अतो न ते गृहीताः । तेन क्षीणमोहपर्यन्ताश्चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणयोरभिहिताः । इदन्त्ववसेयम्–केवलिनां चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनविरहेऽपि चक्षुषी तु भवत एव, अतः प्रतिमादिषु तन्न्यास आवश्यकः ।

क्षीणकषायगुणस्थानकं यावज्जीवानां मनोलब्धिसम्पन्नत्वात् संज्ञिमार्गणायां मिथ्यादृष्टि-प्रभृतिक्षीणमोहपर्यवसाना जीवभेदा भवन्ति । केवलिनस्तु नोसञ्ज्ञिनो नोऽसंज्ञिनः, तेन सयोगि-केवल्ययोगिकेवलिनो नेह गृहीताः । तद्यथा–इह संज्ञा मनोव्यापारपूर्वका-ऽतीतार्थस्मरणा-ऽनागतार्थस्मरणा-ऽनागतार्थचिन्ताद्यालिङ्गितदीर्घकालिक मतिश्रुतविमर्शात्मिका, सा च केवलिनां भगवतां नास्ति, निःशेषावरणक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानस्य साक्षात् प्रतिसमयाऽवभासितसमस्तवस्तुस्तोमत्वेन मनोविकल्पस्मरणचिन्तामतिश्रुतव्यापारातीतत्वात् । एवं संज्ञातीतत्वात् केवलिनां न सञ्ज्ञित्वव्यपदेशः । आह च–

'सन्ना सरणमणागयचिन्ता य न सा जिणेसु सभवइ । मइवावारविमुक्का सन्नाईया इमे तम्हा ॥'' इति ।

असञ्ज्ञित्वव्यपदेशमपि केवलिनो नार्हन्ति, मनःपर्याप्तियुक्तत्वात् । तदेव केवलिनो नोसंज्ञिनो नोऽसंज्ञिनः, यदुक्तं **जीवसमासप्रकरणे**–''असंसणि अमणपचिंदियंत सण्णो उ समण छउमत्था । नोसण्णि नोअसण्णी केवलनाणी उ विण्णेयो ॥१॥'' इति । एवं **शतकचूर्णावप्युक्तम्**–''सन्नि त्ति मिच्छादिट्ठियादि जाव खीणकसाओ सव्वे वि सन्निम्मि×××××सजोगी अजोगी य णोसन्नि णोअसन्नि, जओ केवलणाणिणो ।'' इति ।

एवं **पञ्चसंग्रहे**-ऽप्यभिहितम् ।

ग्रन्थान्तरेषु पुनः संज्ञिमार्गणायामयोगिकेवलिपर्यवसानाश्चतुर्दशाऽपि जीवभेदाः प्रतिपाद्यन्ते, केवलिनां मनोविज्ञाना-ऽभावेऽपि मनःकरणसद्भावात्, यदुक्तं **सप्ततिकाचूर्णौ**–''मणकरण केवलिणो वि अत्थि तेण सण्णिणो । मणोविण्णाण पडुच्च ते सन्निणो न भवति ।'' इति । एवं **षडशीतिक**ग्रन्थेऽप्युक्तम्–''पण तिरि चउ सुरनरए नरसनिपणिंदिभवतसि सव्वे ।'' इति, अत्र 'सव्वे' इत्यनेन संज्ञिमार्गणायां चतुर्दश जीवभेदाः प्रतिपादिताः ॥५२॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगे कार्मणकाययोगे च जीवभेदान् प्रचिकटयिषुराह—

मिच्छत्ती सासाणा सम्मादिट्ठी सजोगिकेवलिणो ।
ओरालमीसजोगे कम्मणजोगे य होअन्ति ॥५३॥

(प्रे०) '**मिच्छत्ती**' इत्यादि, '**मिथ्यात्विनः**' मिथ्यादृष्टयः 'सास्वादनाः' पदैकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वात् सास्वादनसम्यग्दृष्टयः, एवमग्रेऽपि, सम्यग्दृष्टयः=अविरतसम्यग्दृष्टयः सयोगिकेवलिनश्च चत्वारो जीवभेदाः, क ? इत्याह–'**ओराल०**' इत्यादि, 'औदारिकमिश्र-योगे' औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां 'कार्मणयोगे' कार्मणकाययोगमार्गणायां च 'भवन्ति' वर्तन्ते, अपर्याप्ता-ऽवस्थाया समुद्घाते च प्रस्तुतयोगद्वयस्य लभ्यमानत्वात् । इदमुक्तं भवति–प्रत्यासन्नीकृतनिर्वाणः कश्चित् सयोगिकेवली भगवान् वेदनीयादिकमायुषा सह समं कर्तुं समुद्घात-मारभते, तं च समयाष्टकेन समाप्नोति । तत्र द्वितीयषष्ठसप्तमरूपेषु त्रिषु समयेष्वौदारिकमिश्र-काययोगो भवति, तृतीयचतुर्थपञ्चमलक्षणेषु च त्रिषु समयेषु कार्मणकाययोगो भवति, यदुक्तं **वाचकमुख्यैः प्रशमरतिप्रकरणे**–

"औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्ट । मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥१॥
कार्म्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥२॥" इति ।

तदेवं सयोगिकेवलिनस्त्रिषु समयेषु कार्मणकाययोग औदारिकमिश्रयोगश्च भवति । सयोगिकेवलिनो विहाय विग्रहगतावेव कार्मणकाययोगो भवति, औदारिकमिश्रस्त्वपर्याप्ता-ऽवस्थायाम् । विग्रहगतावपर्याप्ता-ऽवस्थायां च देशविरतादयो न संभवन्ति, देशविरत्यादिभिः सह गत्यन्तर उत्पत्त्यभावात् पर्याप्ता-ऽवस्थायां चैव तत्प्राप्तेः, नाऽपि सम्यङ्मिथ्यादृष्टयः संभवन्ति, "न सम्मा मिच्छो कुणइ काल।" इति वचनप्रामाण्येन मरणप्रतिषेधात् पर्याप्ता-ऽवस्थायामेव तद्भावाच्च ।

मिथ्यादृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयश्च विग्रहगत्यामपर्याप्ता ऽवस्थाया च लभ्यन्ते, तद्भावेन गत्यन्तरे समुत्पत्तिसद्भावात्, यदुक्तं **प्रवचनसारोद्धारे**–
"मिच्छे सासणे वा अविरयसम्मम्मि अहिगए अहवा । जंति जिया परलोए सेसेक्कारसगुण मोत्तुं ॥१॥"
इति । तेन कार्मणकाययोग औदारिकमिश्रकाययोगे च त्रयोऽपि जीवभेदाः प्राप्यन्ते । न चोत्तर-वैक्रियशरीरं कुर्वतां लब्धिमतां देशविरतानां सर्वविरताना च वैक्रियमाहारकं च शरीरं निर्वर्तयतामारम्भकाल औदारिकमिश्रस्य लाभात् कुतस्ते न निर्दिश्यन्ते ? इति वाच्यम्, उत्तरवैक्रियमाहारकं च कुर्वतामिहा-ऽविवक्षणात् । न चैतासु मार्गणासु चत्वारो जीवभेदाः स्वमनीषिकया समर्थिताः, **बन्धस्वामित्वादिग्रन्थे** प्रोक्तमार्गणा अधिकृत्य चतुर्ष्वेव गुणस्थानकेषु बन्धाऽभिधानात् । तथा चात्र **बन्धस्वामित्वग्रन्थः**–"XXXमणवयजोगे ओहो, उरले नरभगु तम्मिस्से ॥१॥ आहारगछग विणोहे चउदससउ मिच्छि जिनपणगहीण । सासणि चउनवइ विणा । तिरिअनरा ऊसुहुमतेर ॥ग॥ अणचउ-विसाइ विणा, जिणपणजुअ सम्मि जोगिणो साय ॥२॥ विणु तिरिनराऊ कम्मेXXXX॥३॥" इति ॥५३॥

अथ शेषकाययोगमार्गणासु जीवभेदान् व्याहरन्नाह—

विक्रियमीसे हुन्ते मिच्छा सासायणा य सम्मत्ती ।
णेया पमत्तजइणो आहाराहारमीसेसुं ॥५४॥

(प्रे०) '**विहि ०**' इत्यादि, '**वैक्रियमिश्रे**' वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां '**मिच्छ**' त्ति, मिथ्यादृष्टयः '**सास्वादनाः**' सास्वादनसम्यग्दृष्टयः, चकारः समुच्चयार्थो व्यवहितसम्बन्धश्च, स चोत्तरत्र योज्यः '**सम्यक्त्विनः**' अविरतसम्यग्दृष्टयश्च भवन्ति, देवनारकाणा वैक्रियमिश्र-काययोगस्याऽपर्याप्तावस्थायां सद्भावेन वैक्रियमिश्रमार्गणायां सम्यङ्मिथ्यादृष्टीनामसम्भवात् ।

आहारकतन्मिश्रमार्गणयोर्जीवभेदं दर्शयति–'**णेया**' इत्यादि, '**ज्ञेयाः**' बोद्धव्याः '**प्रमत्त-यतयः**' प्रमत्तसयताः '**आहारा-ऽऽहारमिश्रयोः**' आहारककाययोगमार्गणायामाहारकमिश्रकाययोग-...र्गणाया च । अय भावः–लब्ध्युपजीवनौत्सुक्यसम्भवेन प्रमादबहुलत्वात् प्रमत्ता एव चतुर्दशपूर्व-विद आहारकशरीर निष्पादयितुमुपक्रमन्ते, न पुनरप्रमत्ताः । **आह च**–"आहारग तु पमत्तो उप्पाएइ न

अपमत्त।" इति ❀। निष्पादिताहारकशरीरा अप्यप्रमत्तगुणस्थानकं नासादयन्ति, नाऽपि परित्यागकालेऽप्रमत्तगुणस्थानकं गच्छन्ति, तेनाहारककाययोग आहारकमिश्रकाययोगश्च प्रमत्तानामेव भवति, यदुक्तं **प्राचीनबन्धस्वामित्वग्रन्थे**–"तेवट्ठाहारदुगे जहा पमत्तस्स।" इति। एवं **नव्यबन्धस्वामित्वाऽवचूर्णावप्युक्तम्**– "तत आहारकद्विके आहारकशरीरतन्मिश्रलक्षणे योगद्वये ओघ कर्मस्तवोक्त प्रमत्तगुणस्थानवर्ती त्रिषष्टिप्रकृतिबन्धरूप। एतत्काययोगद्वय हि लब्ध्युपजीवनात् प्रमत्तस्यैव, न त्वप्रमत्तस्य।" इति।

ननु ग्रन्थान्तरेष्वाहारकशरीरनिष्पत्तिसमनन्तरं जीवो ऽप्रमत्तगुणस्थानकं प्रतिपद्यत इति पठ्यते, तथा चाऽत्र **तत्त्वार्थसूत्रवृत्तिः**–"आहारकस्यापि प्रमत्तो निष्पादक निष्पत्त्युत्तरकालतु नियमत एवा-ऽप्रमत्तो भवतीत्यस्मात् स्वामिविशेषाद् वक्ष्यमाणान्न लब्धिद्वयमेकस्यैकदेति आहारकलब्धिमुपजीवन्नपि शुभाऽध्यवसायत्वादप्रमत्त इति।" एव **सप्ततिकाचूर्णावप्युक्तम्**–××× 'एत्थ एगुणतीसा पमत्तसजओ आहारग वेउव्विय वा उप्पाएत्तु तस्स अते अपमत्तभाव गच्छइ त्ति।" तदेवमाहारककाययोगेऽप्रमत्तसयता अपि लभ्यन्त एव, तत्कथं प्रमत्ता एव निदिश्यन्ते? इति चेत्, उच्यते–सत्यमेतत्, किन्तु मतद्वयं सिद्धान्ते प्रसिद्धम्, केषांचिद् मतेनाऽऽहारककाययोग आहारकमिश्रकाययोगे चप्रमत्तसंयता एव भवन्ति, केषाञ्चिदभिप्रायेण पुनराहारकशरीरं प्रमत्ता एवारभन्ते, लब्ध्युपजीवनौत्सुक्यसद्भावात्। आहारकशरीरनिष्पत्तौ त्वौत्सुक्यनिवृत्तेरप्रमत्तभावमपि प्रतिपद्यन्त इति। न चैतद् मतद्विक स्वमनीषिकया विजृम्भितम्, शतकादिग्रन्थेषु संगृहीतत्वात्। तथा चाऽत्र **श्रीमच्छिवशर्मसूरिभिर्विरचितं शतकम्**–

"तिसु तेरस एगे दस नव जोगा होन्ति सत्तसु गुणेसु। एक्कारस य पमत्ते सत्त सजोगे अजोगिक्क॥ १॥
तेरस चउसु दसेगे पचसु नव दोसु होन्ति एक्कारा। एक्कम्मि सत्त जोगा अजोगिठाण हवइ एक्कं॥२॥"

इति। अत्र प्रथमार्याया "नवजोगा होन्ति सत्तसु गुणेसु" इत्यनेन सप्तगुणस्थानकेषु नवयोगकथनाद् देशविरता-ऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणप्रभृतिक्षीणमोहपर्यवसानानामष्टौ वाङ्मनोयोगा औदारिककाययोगश्च भवन्तीति प्रतिपादितम्। द्वितीयार्याया "दोसु हुति एक्कारा" इत्यनेन देशसयता-ऽप्रमत्तसयतयोरेकादशयोगप्रतिपादनाद् देशविरतस्य वैक्रियतन्मिश्रलक्षणद्विकेन सहिता एकादश भवन्ति, अप्रमत्तसंयतस्य त्वाहारकवैक्रियलक्षणद्विकेन सहैकादश भवन्तीत्येव मतान्तरेणा ऽप्रमत्तानामप्याहारककाययोगः सिद्धान्ते स्वीकृतः। तथा चाऽत्र **शतकवृत्तिः**–"आहारकमप्रमत्तस्य किमिति न भवतीति चेत्, उच्यते–अस्मिन् मते आहारकस्या-ऽऽरम्भे समाप्तौ च प्रमत्त एव भवति, लब्ध्युपजीवनादिति नाऽ-

---

❀ उक्त च षट्खण्डागमे-ऽपि–"आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कम्हि चेव पमत्तसजदट्ठाणे।" तट्टीका–'अप्रमादिना सयताना किमित्याहारकाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने निमित्ताभावात् तदुत्थापने कि निमित्तमिति चेदाज्ञाकनिष्ठताया समुत्पन्नप्रमाद असयमबहुलतोत्पन्नप्रमादश्च।' इति।

प्रमत्तस्या-ऽऽहारकद्विकसम्भवः ××××अप्रमत्तसंयतस्य तु नव योगाः पूर्वोक्ता एव आहारकवैक्रियकाययोग-सहितास्ते एवैकादश भवन्ति । इदमत्र हृदयम्-वैक्रियमाहारकं वा कुर्वन् प्रारम्भसमये लब्ध्युपजीवनौत्सुक्य-सम्भवात् प्रमत्त एव सम्भवतीति अप्रमत्तस्य वैक्रियाऽऽहारकमिश्रकाययोगौ न सम्भवतः, तत्समाप्तौ पुन-रौत्सुक्यनिवृत्तेरप्रमत्तोऽप्यस्मिन् मते सम्भवतीति वैक्रियाऽऽहारककाययोगावस्य लभ्येते ।" इति ।

प्रकृतग्रन्थे तु प्राचीनबन्धस्वामित्वकर्मस्तवादिवत् प्रथममतमाश्रितमित्यदोषः ।

तदेवमष्टादशभेदभिन्नायां काययोगमार्गणायां जीवभेदा गताः ॥५४॥

सम्प्रति वेदमार्गणायां कषायमार्गणायां च जीवभेदान् दिदर्शयिषुराह—

वेअकसायतिगे खलु मिच्छत्ताइअणियट्टिपज्जंता ।
अणियट्टिबायराई सिद्धन्ता अत्थि गयवेए ॥५५॥

(प्रे०) 'वेअ०' इत्यादि, 'वेदकषायत्रिके खलु' त्रिकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्चा-ऽयमर्थः-वेदत्रिके=स्त्रीवेदमार्गणायां पुरुषवेदमार्गणायां नपुंसकवेदमार्गणायां च कषायत्रिके=लोभ-स्य वक्ष्यमाणत्वात् क्रोधमार्गणायां मानमार्गणायां मायामार्गणायां च, खलुर्वाक्यालङ्कारे, मिथ्या-त्वाद्यनिवृत्तिपर्यन्ता नव जीवभेदा वर्तन्ते, अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानस्य बहुसंख्येयभागेषु गतेषु वेदत्रयस्य कषायत्रिकस्य चोपशान्तत्वाद्वा क्षीणत्वाद्वा । इदमुक्तं भवति-ये जीवा उपशम-श्रेणिं प्रतिपद्यन्ते, तेऽनिवृत्तिबादरसम्परायबहुसंख्येयभागेषु गतेषु यथाकालं वेदत्रयं कषायत्रिकं चोपशमयन्ति, क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नास्तु सर्वात्मना क्षपयन्ति । ततः परं तेषां वेद-कषाययोरुदयो न सम्भवति, उपशान्तत्वेनोदयायोग्यत्वात्, क्षपकापेक्षया तु क्षीणत्वेनोदयाऽसम्भवात्, तदेवं मिथ्या-दृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसाना नव जीवभेदा उक्तषण्मार्गणासु प्राप्यन्ते, यदुक्तं **शतक-चूर्णौ**-मिच्छादिट्ठीप्पभिइ जाव अणियट्टिअद्धाए संखेज्जतिभागमेत्तं सेसं त्ति ताव तिसु वि वेएसु लब्भन्ति । हेट्ठिल्ला सव्वे सवेयगा, उवरिल्ला अवेयगा । ×××कसाय त्ति-मिच्छादिट्ठीप्पभिइ जाव अनियट्टि-अद्धाए संखेज्जइभागमेव सेसं त्ति, हेट्ठिल्ला सव्वे वि कोहमाणमायासु लब्भंति, उवरिल्ला अप्पकसाइणो सव्वे ।" इति । न च श्रेणिं प्रतिपन्नानां संयतानां कथं वेदकषाययोरुदयसम्भव इति वाच्यम्, अव्यक्तोदयस्य तत्राऽपि सत्त्वात् ।

साम्प्रतमपगतवेदमार्गणायां जीवभेदान् दर्शयति-'**अणियट्टिबायराई**' इत्यादि, 'गत-वेदे' अपगतवेदमार्गणायाम् "अनिवृत्तिबादरादयः" पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् अनिवृत्तिबादर-सम्परायादयः 'सिद्धान्ताः' सिद्धपर्यन्ता अनिवृत्तिबादरसम्परायसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोह-सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिसिद्धलक्षणाः सप्त जीवभेदा भवन्ति, अनिवृत्तिबादरसम्परायस्य बहुसंख्येय-भागेषु गतेषु वेदस्योपशान्तत्वेन वा क्षीणत्वेन वोदया-ऽभावात् । एवं गताश्चतुर्विधायां वेदमार्ग-णायां त्रिविधकषायमार्गणायां च जीवभेदाः ॥५५॥

सम्प्रति लोभाऽकषायमार्गणयोर्जीवभेदान् प्ररूपयिषुराह–

मिच्छाई सुहुमंता हवन्ति लोहम्मि हुन्ति अकसाये ।
उवसंतखीणमोहा य सजोगिअजोगिणो सिद्धा ॥५६॥

(प्रे०) 'मिच्छाई' इत्यादि, 'मिथ्यादयः' मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः 'सूक्ष्मान्ताः' सूक्ष्मसम्पराय-पर्यवसाना दश जीवभेदा भवन्ति, क ? इत्याह–'लोहम्मि' त्ति, 'लोभे' लोभमार्गणायाम् , कथमेत-दवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–आऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकं बादरलोभस्य सूक्ष्मसम्पराय-गुणस्थानके च सूक्ष्मलोभस्योदयसत्त्वाद् मिथ्यादृष्ट्यादयः सूक्ष्मसम्परायपर्यवसाना जीवभेदा लोभ-मार्गणायां भवन्ति ।

अथ कषायप्रतिपक्षभूताऽकषायमार्गणायां जीवभेदान् प्ररूपयति–'हुन्ति' इत्यादि, 'भवन्ति' वर्तन्ते 'अकषाये' अकषायमार्गणास्थाने 'उपशान्तक्षीणमोहाः' मोहस्य प्रत्येकं योजनाद् उपशान्तमोहाः=उपशान्तमोहवीतरागच्छद्मस्थाः क्षीणमोहाः=क्षीणमोहवीतरागच्छद्मस्थाश्च, चकारः समुच्चयार्थो व्यवहितसम्बन्धश्च, स चोत्तरत्र सिद्धाश्चेत्येवं योजनीयः, 'सयोग्ययोगिनः' सयो-गिनः=सयोगिकेवलिनः, अयोगिनः=अयोगिकेवलिनश्च सिद्धाश्च सर्वसंख्यया पञ्च जीवभेदाः, उप-शान्तमोहानां कषायाणामुपशान्तत्वेन शेषाणां जीवभेदाना तेषां क्षीणत्वेनोदयाभावात् , यदुक्तं श -चूर्णौ–लोभम्मि जाव सुहुमरागस्स चरिमसमओ त्ति ताव हेट्ठिल्ला सव्वे वि लब्भति, सेसा अकसाइणो।" इति ।

तदेवं प्ररूपिता जीवभेदाः पञ्चविधाया कषायमार्गणायाम् ॥५६॥

सम्प्रति ज्ञानत्रिकादिमार्गणासु जीवभेदान् भावयितुमनाः प्राह–

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्माई होन्ति खीणमोहंता ।
होअन्ति पमत्ताई मणणाणे खीणमोहंता ॥५७॥
केवलदुगे सजोगी अजोगिसिद्धाऽत्थि मिच्छसासाणा ।
अण्णाणतिगे हुंति अजोगंता संजमे पमत्ताई ॥५८॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, 'ज्ञानत्रिके' मनःपर्यवज्ञानकेवलज्ञानयोर्वक्ष्यमाणत्वाद् मतिज्ञान-श्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमार्गणालक्षणे अवधौ=अवधिदर्शनमार्गणायां च अविरतसम्यग्दृष्ट्यादयः 'क्षीण-मोहान्ताः' क्षीणमोहवीतरागच्छद्मस्थपर्यवसाना नव जीवभेदा भवन्ति । भावार्थः पुनरयम्–"नट्ठमि उ छाउमत्थिए नाणे ।" इति वचनप्रामाण्याद् मतिज्ञानश्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानानि केवलिना न भवन्ति, अतः क्षीणमोहपर्यवसाना नव जीवभेदा उक्तमार्गणासु निर्दिष्टाः । मिथ्यादृष्टीनां सम्यग्ज्ञाना-भावात् परित्यक्तास्ते । ये विशिष्टश्रुतविदः कुतश्चिदभिप्रायाद् मिथ्यादृष्टीनामवधिदर्शनं नेच्छन्ति,

तन्मतमाश्रित्याऽत्रापि तत् तेषां न स्वीकृतम् , यदुक्तं **षडशीतिग्रन्थे**–"केवलदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे।" इति।

अन्यैस्तु मिथ्यादृष्टयादीनामप्यवधिदर्शनं स्वीक्रियते, सूत्रेऽवधिदर्शनिनामज्ञानित्वेनाऽपि प्रतिपादनात् , यदुक्तं **व्याख्याप्रज्ञप्तौ**–"ओहिदसणअणागारोवउत्ता ण भन्ते ! कि नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि, जे य नाणी ते अत्थेगइआ तिनाणी अत्थेगइआ चउनाणी, जे तिनाणि ते आभिणिबोहियनाणी सुअनाणी ओहीनाणी, जे चउ नाणी, ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी। जे अन्नाणी, ते नियमा मतिअन्नाणी सुयअन्नाणी विभङ्गनाणी।" इति।

तेनैतेषां मतेन मिथ्यादृष्टयादिक्षीणमोहपर्यवसाना द्वादश जीवभेदा अवधिदर्शनमार्गणायां संभवन्ति, यदुक्तं **शतकवृत्तौ** **मन्मलधारिहेमचन्द्रसूरिपादैः**–"अत्र ये अज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति मिथ्यादृष्टीनामप्यवधिदर्शनमत्र सूत्रे प्रोक्तम्। एव यदा विभङ्गज्ञानी सास्वादनत्वे मिश्रत्वे वा वर्तते, तदा सास्वादनमिश्रयोरप्यवधिदर्शनं लभ्यत इत्यवधिदर्शनेऽपि क्षीणमोहान्तानि द्वादश गुणस्थानानि प्रतिपादयन्त्यमी।" इति।

अथ मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां जीवभेदान् व्याहरति–'**होअन्ति**' इत्यादि, तत्र 'मनोज्ञाने' मनःपर्यायज्ञानमार्गणायां 'प्रमत्तादयः' प्रमत्तसंयतप्रभृतयः 'क्षीणमोहान्ताः' क्षीणमोहवीतरागच्छद्मस्थपर्यवसानाः सप्त जीवभेदा 'भवन्ति' सन्ति, मनःपर्यवज्ञानस्य संयमप्रत्ययत्वेन मिथ्यादृष्टयादिदेशविरतान्तानां तदभावात् केवलिनां पुनश्छद्मस्थज्ञानाभावात्। न च मनःपर्यवज्ञानस्य संयमहेतुकत्वात् सर्वेषां संयतानां मनःपर्यायज्ञानेन भवितव्यमिति वाच्यम्, मनःपर्यायज्ञानोत्पत्तौ विशिष्टसंयमस्य हेतुत्वात् , केषाञ्चिदेव च संयतानामेतत्सद्भावेन शेषाणां संयमे तादृशवैशिष्ट्यविरहेण मनःपर्यायज्ञानोत्पत्तेरभावात्।

'**केवलदुगे**' इत्यादि, 'केवलद्विके' केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणे मार्गणाद्वये 'सयोगिनः' सयोगिकेवलिनः 'अयोगिसिद्धाः' अयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च त्रयो जीवभेदाः सन्ति।

अथ प्रतिपक्षमार्गणासु प्रकृत प्राह–**मिच्छ०'** इत्यादि, 'अज्ञानत्रिके' मत्यज्ञान श्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणे मार्गणात्रये 'मिथ्या' एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वाद् मिथ्यादृष्टयः, 'सास्वादनाः' सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्च 'ज्ञातव्याः' बोद्धव्याः।

इदमुक्तं भवति–उक्ता-ऽज्ञानत्रये मिथ्यादृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्चैव भवन्ति। ननु **व्याख्याप्रज्ञप्त्यावश्यकादिषु** सास्वादनसम्यग्दृष्टीनां ज्ञानस्याऽभ्युपगमाद् न घटन्ते ते मत्यज्ञानादिमार्गणासु, तथा चाऽत्र **व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्**–"वेइन्दियाण भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि अन्नाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुनाणी अभिणिबोहियनाणी सुयनाणी। जे ××अन्नाणी ते वि नियमा दुअन्नाणी, त जहा–मइअन्नाणी सुयअन्नाणी।" इति। इह सूत्रे द्वीन्द्रियादीनां ज्ञानित्वमभिहितम्, तच्च सास्वादनाऽपेक्षयैव, नाऽन्यसम्यक्त्वाऽपेक्षया, असम्भवादिति चेत्, उच्यते–सैद्धान्तिकैः सास्वादने ज्ञानमुररीकृतम् , **कार्मग्रन्थिकैः** पुनस्तत्राऽज्ञानमभ्युपगतम् , मिथ्यात्वा-

भिमुखत्वाद् अनन्तानुबन्धिनां चोदयेन सम्यक्त्वस्य मलीमसत्वेन तन्निबन्धनस्य ज्ञानस्याऽपि मलीमसत्वाद् तत्रा-ऽज्ञानोपपत्तेः, यदुक्तं शतकभाष्ये-"सपइ गुणठाणेसु वि उवओगा दोण्ह पचगाहाए। भावत्थोऽय तत्थ उ उवओगा मिच्छसासाणे ॥१॥ अन्नाणाइ मइसुयविभगाणि ××××॥२॥" इति ।

मिश्रदृष्टीनां तु मिश्रोपयोगो भवति, न केवलो ज्ञानोपयोगो नाऽप्यज्ञानोपयोगः । तेना-ऽज्ञानमार्गणात्रये ते नोपात्ताः, उक्त च शतकभाष्ये-"इय छक्क एय चिय मिस्सगुणे मिस्सय मुणेयव्व ।" इति । अय भावः-मिश्रदृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टय इति व्यवह्रियन्ते । ततश्च यावतांऽशेनाऽत्र सम्यक्शब्दः प्रवर्तते, तावतांऽशेन ज्ञानमपि तेषां प्रतिपत्तव्यम्, अतो मतिश्रुतावधिज्ञानैर्विमिश्रतस्तेषामुपयोगो द्रष्टव्यः । मिश्रत्वाच्च कदाचित् सम्यक्त्वबाहुल्याद् ज्ञानबहुलता, कदाचित् पुनर्मिथ्यात्वप्राचुर्यादज्ञानबाहुल्यम्, समकक्षायां तूभयांशसमतेति ज्ञानांशसद्भावतो न मिश्रदृष्टयो-ऽज्ञानत्रिके सभवन्तीत्येतन्मतमाश्रित्य प्रकृतग्रन्थे मिश्रदृष्टयोऽज्ञानत्रिके न दर्शिताः ।

अन्ये पुनराहुः-"मिस्समि वामिस्सा" इति वचनाद् यद्यपि ज्ञानमिश्रिताऽज्ञानानि मिश्रदृष्टीनां भवन्ति, न शुद्धाऽज्ञानानि, तथापि तान्यज्ञानान्येव, शुद्धसम्यक्त्वमूलकज्ञानस्य विरहात् । अन्यथा हि यद्यशुद्धसम्यक्त्वस्याऽपि ज्ञानमुररीक्रियते, तदा सास्वादनस्याऽपि ज्ञानाभ्युपगमो भवेत्, न चासौ कार्मग्रन्थिकानां सम्मतः, यदुक्त शतकभाष्ये-

"सम्मत्ते सुद्धे सइ इह नाण सम्मय पुण सत्ते । सासायणमाईण वि नाण अगीकय नत्थि ॥१॥
इह नत्थि तस्सणतरमवुत्ताता अओ उ अन्नाण । एव च ठिएऽत्थत्थ तत्त पुण केवली मुणइ ॥ २ ॥"

इति । एतन्मताऽपेक्षयाऽज्ञानत्रिके मिश्रदृष्टयोऽपि सम्भवन्ति ।

मतद्वयमपि सङ्गृहीतं प्राचे अशीति ग्रन्थे । तथा च तद्ग्रन्थः-"× × ×तिण्णि दो व पढसा अनाणतिगे ।" इति ।

सैद्धान्तिकास्तु मिश्रदृष्टीनामज्ञानमेव ब्रुवन्ति, यदुक्तमन्यत्र-"सैद्धान्तिकाभिप्रायेण त्वत्रा-ऽज्ञानत्रिके मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्वात्मकमेव गुणस्थानद्वय तन्मते सासादनभावे ज्ञानाभ्युपगमात् मिश्रे चाऽज्ञानाभ्युपगमात् ।" इति । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति ।

अथ संयममार्गणायां जीवभेदानभिधत्ते-'अजोगंता' इत्यादि, 'संयमे' संयमसामान्यमार्गणायां 'प्रमत्तादयः' प्रमत्तसंयतादयः 'अयोगान्ताः' अयोगिकेवलिपर्यवसाना नव जीवभेदा भवन्ति ॥५८॥

अथ सयममार्गणायाः प्रभेदेषु प्रकृतं भावयन्नाह-

अणियट्टिबायरंता समइअछेएसु अप्पमत्तंता ।
परिहारे देसजई देसे सुहुमा उ सुहुमम्मि ॥५९॥

(प्रे०) 'अणि०' इत्यादि, 'पमत्ताई'त्ति पदं पूर्वतो ऽनुवर्तते 'अनिवृत्तिबादरान्ताः' प्रमत्तसयतादयोऽनिवृत्तिबादरसम्परायान्ताश्चत्वारो जीवभेदाः 'सामयिकच्छेदयोः' पदैकदेशे पदसमुदायो-

पश्चात् सामायिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां च भवन्ति, ततः परं सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यातसंयमयोरेव सद्भावात् ।

'अप्पमत्तंता' इत्यादि, 'अप्रमत्तान्ताः' प्रमत्तसंयतादयो-ऽप्रमत्तसंयतान्ताः प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतरूपा उभयाः 'परिहारे' परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणास्थाने भवन्ति, अपूर्वकरणवर्तिप्रभृतीनां श्रेणावेवोपलम्भात् श्रेणिद्वयारोहणस्य च परिविशुद्धिकचारित्रिणां प्रतिषेधात् ।

'देशयतयः' देशविरता 'देशे' देशसंयममार्गणायां भवन्ति, 'सूक्ष्मास्तु' तुशब्दो वाक्यभेदे, सूक्ष्माः=सूक्ष्मसम्परायाः 'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां वर्तन्ते, यदुक्तं **शतकचूर्णौ**—

'सजयासजयो एक्कमि चेव सजयासजयट्ठाणे, सामाइयछेओवट्ठावणसजमेसु पमत्तसजमप्पभिई जाव अणियट्टि त्ति सव्वे वि । परिहारविसुद्धिसजमे पमत्तापमत्तसजया, सुहुमसपराइओ एक्कमि सुहुमसम्पराइयसजमट्ठाणे ।" इति ॥५९॥

अथ संयममार्गणाया लेश्यामार्गणायाश्च शेषभेदेषु प्रकृतं प्रचिकटयिषुराह—

उवसंतखीणमोहा सहजोगअजोगिणो अहक्खाये ।
तेउपउमासु णेया मिच्छाई अप्पमत्तंता ॥६०॥

(प्रे०) 'उवसंत०' इत्यादि, उपशान्तक्षीणमोहाः' मोहशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च 'सहयोगायोगिनः' सह योगेन वर्तन्त इति सहयोगाः "सहस्य सोऽन्यार्थे" (सिद्धहेम ३-२ १४३) इत्यनेन विकल्पतः सहशब्दस्य सकारादेशाद् न सभावः, सयोगिकेवलिन इत्यर्थः, अयोगिनः=अयोगिकेवलिनश्च 'यथाख्याते' यथाख्यातसंयममार्गणायां भवन्ति, तेषां कषायाभावात्, यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–"उवसताइ जाव अजोगि त्ति सव्वे अहक्खायसजमट्ठाणे ।" इति । तदेवमुक्ताः सयममार्गणायां जीवभेदाः ।

दर्शनमार्गणायाश्चतुरोऽपि भेदान् यथायोग्यमन्यमार्गणाभिः सह सगृह्य तेषु जीवभेदाः प्राक् प्ररूपिता लाघवार्थिना ।

अथ लेश्यामार्गणायां प्रकृतं भावयितुकामः समानवक्तव्यत्वाद् यथायोग्यमन्यमार्गणाभिः सह कृष्णलेश्या-नीललेश्या कापोतलेश्या-शुक्ललेश्यासु जीवभेदान् भावयित्वा तेजोलेश्या-पद्मलेश्ययोस्तान् दर्शयति-'तेउ०' इत्यादि, 'तेजःपद्मयोः' तेजोलेश्यामार्गणास्थाने पद्मलेश्यामार्गणास्थाने च 'मिथ्यादयः' एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वाद् मिथ्यादृष्ट्यादयः 'अप्रमत्तान्ताः' अप्रमत्तसयतान्ताः सप्त जीवभेदा भवन्ति, शुक्ललेश्यां विना अन्यलेश्यायाः क्षपणश्रेणावुपशमश्रेणौ चाऽभावेनाऽपूर्वकरणवर्त्यादीनामभावाद्, यदुक्तं **बन्धस्वामित्वग्रन्थे**–' तिसु दुसु सुक्काइगुणा चउ सग तेर त्ति बधसामित्त ॥" इति, अक्षरगमनिका त्वेवम्–तिसृषु = कृष्णनीलकापोतरूपासु लेश्यासु 'चउ' इत्यादिना यथाक्रम सम्बन्धात् चत्वारि मिथ्यात्व-सास्वादन-मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणान्याद्यानि गुणस्थानकानि प्राप्यन्ते, तेजोलेश्या-पद्मलेश्ययोर्मिथ्यात्व-सास्वादन मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-

देशविरत-प्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयतरूपाणि सप्त गुणस्थानकानि लभ्यन्ते, शुक्ललेश्यायां तु मिथ्यात्वप्रभृतीनि त्रयोदशगुणस्थानकानि लभ्यन्त इति । तदेवं भाविता लेश्यासु जीवभेदाः ।

भव्याभव्यमार्गणयोर्जीवभेदाः प्राग् दर्शिताः ॥६०॥

सम्प्रति सम्यक्त्वमार्गणायां जीवभेदान् भावयितुकाम आह—

सम्माई सिद्धंता सम्मे खइए य अप्पमत्तंता ।
वेअगसम्मे णेया उवसंतंता उवसमम्मि ॥६१॥

(प्रे०) 'सम्माई' इत्यादि, 'सम्यक्त्वादयः' अविरतसम्यग्दृष्ट्यादयः 'सिद्धान्ताः' सिद्धपर्यवसाना द्वादश जीवभेदाः 'सम्यक्त्वे' सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां 'क्षायिके' क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणाया च वर्तन्ते । ननु किं सम्यक्त्वसामान्यमिति चेत् , उच्यते—परस्परभिन्नेषु क्षायिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषु यः साधारणोंऽशः, तत् सामान्यम् , किमसौ साधारणोंऽशः ? भण्यते-निःशङ्कितायाचारशमसंवेगादिलिङ्गाभिव्यङ्ग्य आत्मपरिणामविशेषः ।

'अप्पमत्तंता' इत्यादि, 'अप्रमत्तान्ताः' अविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽप्रमत्तसंयतपर्यवसानाः 'वेदकसम्यक्त्वे' क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां 'ज्ञेयाः' जीवभेदा बोध्याः । भावार्थः पुनरयम्-वेद्यते—अनुभूयते सम्यक्त्वमोहनीयपुद्गला अस्मिन्निति वेदकं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमित्यर्थः, औपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वयोः पुद्गलवेदनस्य सर्वथैवाऽभावादिदमेव क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं वेदकमभिधीयते, अत एव क्षप्यमाणसम्यक्त्वपुद्गलचरमग्रासलक्षण यदन्यत्र वेदकं सम्यक्त्वमुक्तम् , तदिह ग्रन्थे पृथग् नोक्तम् , पुद्गलवेदनस्य समानत्वेन क्षायोपशमिकसम्यक्त्व एवाऽन्तर्भावात् । क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामप्रमत्तानामुपरितना अपूर्वकरणवर्त्यादयो न लभ्यन्ते, श्रेण्यामौपशमिकसम्यक्त्वक्षायिकसम्यक्त्वयोरन्यतरस्यैव सद्भावात् । तेनाऽप्रमत्तान्ताः कथिताः ।

'उवसंतंता उवसमम्मि' त्ति, 'उपशान्तान्ताः' पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् 'उपशान्तमोहान्ताः' अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्युपशान्तमोहवीतरागछद्मस्थपर्यवसाना जीवभेदा 'उपशमे' औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां भवन्ति, ततः पर क्षीणमोहत्वेन क्षायिकसम्यक्त्वस्यैव भावात् ॥६१

साम्प्रतं सास्वादन मिश्राऽनाहारकलक्षणेषु त्रिषु मार्गणाभेदेषु जीवभेदान् भणितुकाम आह

सासाणे सासाणा मीसे मीसा तहा अणाहारे ।
मिच्छा सासणसम्मा सहजोगअजोगिणो सिद्धा ॥६२॥

(प्रे०) ' साणे' इत्यादि, 'सास्वादने' सास्वादनमार्गणायां 'सास्वादनाः' सास्वादनसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । 'मिश्रे' मिश्रमार्गणाया 'मिश्राः' सम्यग्मिथ्यादृष्टयो भवन्ति ।

सञ्ज्ञिमार्गणाया तत्प्रतिपक्षमार्गणायां च प्राग्भाविताः जीवभेदाः । सम्प्रत्याहारकमार्गणाया अवसरः । तत्राऽप्याहारकमार्गणाया त्रयोदश जीवभेदाः प्राग् निरूपिताः । अथ तत्प्रतिपक्ष

भूतायामनाहारकमार्गणायां जीवभेदान् चिन्तयति-'तहा अणाहारे' इत्यादि, तथाशब्द उपक्रमार्थः, 'अनाहारे' अनाहारकमार्गणायां 'मिथ्या' मिथ्यादृष्टयः 'सास्वादनसम्यग्दृष्टयः' पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यमानत्वात् सास्वादनपदेन सास्वादनसम्यग्दृष्टयः, सम्यग्दृष्टिपदेन चाऽविरतसम्यग्दृष्टयः 'सहजोगअजोगिणो' त्ति, 'सहयोगा-ऽयोगिनः' सह योगेन वर्तन्त इति सहयोगाः सयोगिकेवलिन इत्यर्थः, अयोगिनः=अयोगिकेवलिनः 'सिद्धाः' अष्टकर्मरहिताः कृतकृत्याः सर्वसंख्यया षड्जीवभेदा भवन्ति । केवलिनो विहाय शेषास्त्रयो जीवभेदा विग्रहगतावेवाऽनाहारका भवन्ति, विग्रहगतौ च सम्यग्मिथ्यादृष्टिदेशविरतादयो न भवन्ति, तद्भावयुक्तानां गत्यन्तर उत्पत्त्यभावात् । तेन विग्रहगतिमाश्रित्य मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टयोऽनाहारकमार्गणायामुपलभ्यन्ते । सयोगिकेवलिनस्तु समुद्घाताऽवस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वनाहारका भवन्ति, अयोगिकेवलिनः सिद्धाश्चा-ऽनाहारका एवेति कृत्वा षड् जीवभेदा अनाहारकमार्गणायां लभ्यन्ते । तदेवं भाविता मार्गणास्थानेषु जीवभेदाः ॥६२॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

सम्प्रति मूलप्रकृतिबन्ध स्वामित्वद्वारेण विवर्णयितुमना ओघतो मूलप्रकृतीनां बन्धकाऽबन्धकान् प्राह—

वेअस्स बंधगा खलु सजोगिअंता हवंति मोहस्स ।
अणियट्टिबायरंता मीसूणाऽऽउस्स अप्पमत्तंता ॥६३॥ (गीतिः)
सेसाणं पंचण्हं सुहुमंता एत्थ मग्गणासु च ।
सेसाऽऽउगवज्जाणं अबंधगाऽऽउस्स सव्वे वि ॥६४॥

(प्रे०) 'वेअ ' इत्यादि, 'वेद्यस्य' वेदनीयकर्मणो 'बन्धकाः' बन्धस्य निर्वर्तकाः खलु 'सयोग्यन्ताः' मिथ्यादृष्ट्यादयः सयोगिकेवलिपर्यवसानास्त्रयोदश जीवभेदा भवन्ति, वेदनीयस्य योगप्रत्ययत्वेनोत्तरत्र च योगाभावेन सयोगिकेवलिगुणस्थानकचरमसमये वेदनीयस्य बन्धविच्छेदात् । इह यद्यप्यादिर्नोक्तः, तथापि पूर्वमोघतो जीवभेदान् दर्शयता ग्रन्थकारेण पञ्चचत्वारिंशत्तम्यां षट्चत्वारिंशत्तम्यां च गाथायां "जीवा णेया मिच्छादिट्ठी' इत्यादि कथितम्, तेन सामर्थ्याद् मिथ्यादृष्ट्यादयोऽनुक्ता अपि गृह्यन्ते, इत्थमादेशतोऽपि यासु यासु मार्गणासु यदादयो जीवभेदाः प्रागुक्ताः, तासु तासु मार्गणासु तदादयो जीवभेदा बन्धकत्वेन बोध्याः, यथा वक्ष्यमाणाऽपगतवेदमार्गणायामोघवत् पञ्चकर्मणां बन्धका वक्ष्यन्ते, तत्राऽनिवृत्तिबादरसम्परायादयो ज्ञातव्याः, न पुनर्मिथ्यादृष्ट्यादयः, तत्राऽनिवृत्तिबादरसम्परायादीनां प्रतिपादितत्वात् ।

अथ मोहनीयमाश्रित्य बन्धस्वामित्वं प्ररूपयति-'मोहस्स' इत्यादि, 'मोहस्य' मोहनीयकर्मणो बन्धका 'अनिवृत्तिबादरान्ताः' मिथ्यादृष्टिप्रभृतयोऽनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसाना नव जीव-

भेदाः, मोहनीयबन्धस्य बादरकषायप्रत्ययत्वेनोत्तरत्र च तदभावेनाऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकचरमसमये तद्विच्छेदात् ।

अथाऽऽयुषो बन्धकान् प्राह–'**मीसूणाऽऽउस्स**' इत्यादि, आयुष्कर्मणो बन्धकाः 'मिश्रोनाः' सम्यङ्मिथ्यादृष्टिविरहिता 'अप्रमत्तान्ताः' अप्रमत्तसंयतपर्यवसाना=मिथ्यादृष्टि सास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत-प्रमत्तसंयता जीवभेदा भवन्ति, 'सम्माभिच्छद्दिट्ठी आउबंधं पि न करेइ' इति वचनप्रामाण्येन मिश्रदृष्टीनामायुर्बन्धाभावात् ,शेषाणां पुनरतिविशुद्धत्वात् केवलित्वाच्चाऽऽयुर्बन्धाऽसम्भवात् । अय भावः–मिश्रदृष्टय आयुष्कं न बध्नन्ति, मिश्रगुणस्थानके आयुष्कबन्धप्रतिषेधात् । अप्रमत्तसंयतादयश्चाऽऽयुर्बन्धं नारभन्ते, अतीव विशुद्धत्वाद् घोलनापरिणामेनाऽऽयुर्बन्धमङ्गाच्च, केवलिनां पुनस्तद्बन्धाऽसम्भवात् । किन्तु यैः प्रमत्तगुणस्थानके आयुर्बन्ध आरब्धः, ते केचिदप्रमत्तगुणस्थानकमपि समागत्य तं निष्ठां गमयन्ति, यदुक्तं **कर्मस्तवटीकायाम्**–"'गुणसट्ठि' त्ति एकोनषष्टिरप्रमत्ते बध्यते इति शेषः । कथमित्याह– सुरायुर्बध्नन् प्रमत्ते किंचित् सावशेषे सुरायुर्बन्धेऽप्रमत्तेऽप्यागच्छेत् । अत्र च सावशेषं सुरायुर्निष्ठां नयति ।" इति । तदेवमप्रमत्तसंयतैरायुर्बन्धो न प्रारभ्यते, पूर्वारब्धोऽप्यप्रमत्तगुणस्थानाद्धायाः संख्येयभागं यावत् प्रवर्तते,ततोऽवश्यं व्यवच्छेदं गच्छति,यदुक्तं **शतकचूर्णौ**-"एगा पगई देवाउगं अप्पमत्तद्धाए संखेज्जइमे भागे ठाई ।" इति । तथैव **शतकवृत्तावपि**– "अप्रमत्तयतिसम्बन्धिना हि संयमेनाहारकद्विकं बध्यते इत्युक्तम् । स चेह लभ्यत इति पूर्वापनीताहारकद्विकस्यात्र प्रक्षेपः । एतां चैकोनषष्टिमसौ स्वगुणस्थानकालस्य संख्येयभागमेव यावद् बध्नाति । ततः परं देवायुषो बन्धे व्यवच्छिन्नेऽस्याऽप्यभिहितसमये समर्थयते, न पुनः स्वयमारभत इति द्रष्टव्यम् ।" इति । तदेवमप्रमत्ताः स्वकालसंख्येयभागं यावदायुष्कस्य बन्धका भवन्ति, तेन मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताः स्वकालसंख्येयभागवर्तिनश्चाऽप्रमत्ता आयुष्कस्य बन्धकाः प्रोक्ताः ।

अथ ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां बन्धकान् प्राह–'**सेसाणं**' इत्यादि, 'शेषाणाम्' उक्तोद्धरितानां पञ्चानां ज्ञानावरण दर्शनावरण नाम गोत्राऽन्तरायाणां बन्धकाः 'सूक्ष्मान्ताः' मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः सूक्ष्मसम्परायपर्यवसाना भवन्ति । एतदुक्तं भवति–मिथ्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्दृष्टि-सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत-प्रमत्तसंयता-ऽप्रमत्तसंयताऽपूर्वकरणवर्त्यनिवृत्तिबादरसम्पराय- सूक्ष्मसम्परायाः दश जीवभेदाः प्रोक्तज्ञानावरणादीनां बन्धका भवन्ति, उक्तकर्मणां यहेतुत्वेनोत्तरत्र च तदभावेन सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये बन्धव्यवच्छेदात् ।

लाघवार्थमोघप्ररूप सहैवादेशप्ररूपणयाऽप्यबन्धकान् प्राह–'**एत्थ**' इत्यादि, ' ' ओघप्ररूपणायां 'मार्गणासु च' आदेशतश्च निरयगत्यादिमार्गणासु 'आयुर्वर्जानाम्' आयुष्करहितानां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां कर्मणामबन्धकाः 'शेषाः' उक्तशेषाः,ओघप्ररूपणायामादेशप्ररूपणायाञ्चोभयत्र ज्ञानावरणादीनां सप्त ं । बन्धकान् वर्जयित्वा शेषास्तास्ता ंणा भजमाना जीवभेदा अबन्धका बो-या इत्यर्थः । तथाहि-ओघतो वेदनीयस्याऽबन्धका अयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च, मोहनीयस्याऽब-

न्धकाः सूक्ष्मसम्परायप्रभृतिसिद्धपर्यवसानाः, ज्ञानावरणादीनां च पञ्चानां कर्मणामबन्धका उपशान्त-मोहप्रभृतिसिद्धान्ता जीवभेदाः । आदेशतस्तु विस्तरेण वृत्तौ यथास्थानं दर्शयिष्यन्ते ।

आयुष ओघत आदेशतश्चाऽबन्धकाः 'सर्वेऽपि' तत्तन्मार्गणामासेवमानाः सर्वेऽपि जीवभेदा भवन्ति । एतदुक्तं भवति–ओघत आयुषोऽबन्धका मिथ्यादृष्टिप्रभृतिसिद्धपर्यवसानाः पञ्चदशाऽपि जीवभेदाः, आयुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वेन मिथ्यादृष्टि सास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयताऽप्रमत्तगुणस्थानकसंख्येयभागवर्तिनामायुर्बन्धविरहकाले तद्बन्धाभावादप्रमत्तसंख्येया-भागाच्चोर्ध्वं स्थितानां तथा मिश्रदृष्टीनामायुर्बन्धाभावात् । आदेशतस्त्वायुषोऽबन्धका विस्तरेण यथास्थानमग्रे वक्ष्यन्ते । तदेवमोघतो मूलप्रकृतीनां बन्धस्वामित्वं निरूपितम् ॥६३,६४॥

सम्प्रति गत्यादिमार्गणासु तत्प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदायुर्वर्जसप्तकर्मणां बन्धस्वामित्वं मनुष्यादिमार्गणास्वतिदिशति—

तिमणुसदुपणिंदियतसकायेसु अवेअसंजमेसु तहा ।
भविसम्मखाइए ाउगवज्जाण बंधगोघव्व ॥६५॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**तिमणु०**' इत्यादि, 'त्रिमनुष्यद्विपञ्चेन्द्रियत्रसकायेषु' त्रिमनुष्यादयः कृतद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, द्विशब्दो द्वाभ्यामभिसम्बध्यते । ततश्चाऽयमर्थः–त्रिमनुष्येषु "व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्ति" इति न्यायेन मनुष्यगतिसामान्य-मानुषी-पर्याप्तमनुष्यलक्षणेषु मार्गणास्थानेषु द्विपञ्चेन्द्रि-ययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपयोर्मार्गणास्थानयोः, द्वित्रसकाययोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायाख्ययोर्मार्गणयोः 'अवेदसंयमयोः' अवेदे=अपगतवेदमार्गणायां संयमसामान्यमार्ग-णायां च 'तथा' तथाशब्दः समुच्चये, 'भव्यसम्यक्त्वक्षायिकेषु' भव्यमार्गणायां सम्यक्त्व-सामान्यमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने च सर्वसंख्यया द्वादशमार्गणास्थानेषु (१२) 'आयुष्कवर्जानाम्' आयुष्करहितानां=ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धका ओघवद् भवन्तीति गम्यते, प्रोक्तमार्गणासु मनुष्याणामपि प्रवेशात् ।

भावार्थः पुनरयम्–मनुष्यगतिसामान्य मानुषी-पर्याप्तमनुष्यलक्षणमार्गणात्रिके मिथ्यादृष्टि-प्रभृतिसूक्ष्मसम्परायपर्यवसाना ज्ञानावरण-दर्शनावरण नाम गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धकाः, शेषाश्चो-पशान्तमोहाद्ययोगिकेवलिपर्यवसाना अबन्धका भवन्ति, मनुष्यगतिमार्गणायां सिद्धानामभावात् । तथा वेदनीयस्य बन्धका मिथ्यादृष्ट्यादयः सयोगिकेवल्यन्ताः, अबन्धकास्त्वयोगिकेवलिनः, मोहनीयस्य मिथ्यादृष्ट्यादयो-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाऽन्ता बन्धकाः, अबन्धकास्तु सूक्ष्मसम्प-रायप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यवसानाः । एवं पञ्चेन्द्रिसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य-पर्याप्त-त्रसकाय-भव्यरूपपञ्चमार्गणस्थानेष्वपि भावना कर्तव्या । अपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरण दर्श-नावरण नाम गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धका अनिवृत्तिबादरसम्परायाः सूक्ष्मसम्परायाश्च, शेषास्तूपशा-

न्तमोहप्रभृतिसिद्धपर्यवसाना अबन्धकाः । वेदनीयस्य बन्धका अनिवृत्तिबादरसम्परायादिसयोगिकेवलिपर्यवसानाः, अबन्धकास्त्वयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च । मोहनीयस्य बन्धका अनिवृत्तिबादरसम्परायान्ताः । ननु "ओघव्व" इत्यनेनाऽतिदेशेना-ऽपगतवेदमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धका अनिवृत्तिबादरसम्परायान्ताः प्राप्ताः, पर तस्यां न सम्भवन्त्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्ताः, पूर्वमन्यस्मिन् सति अन्तव्यपदेशस्य न्याय्यत्वात्, अपगतवेदमार्गणायां चाऽपूर्वकरणवर्त्यादीनामलाभेनाऽनिवृत्तिबादरसम्परायभिन्नानामदर्शनादिति चेत्, मैवम्, यतः "आद्यन्तवदेकस्मिन्" इति न्यायेनाऽनिवृत्तिबादरसम्पराया अप्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तत्वेन व्यवह्रियन्ते, यथा यस्यैक एव पुत्रो भवति, तस्य स एव पुत्र आदिरुच्यते, स एव च चरम उच्यते, एवमिहा-ऽपि । तेनाऽपगतवेदमार्गणायां मोहनीयस्याऽनिवृत्तिबादरसम्पराया बन्धकाः, सूक्ष्मसम्परायादयस्तु सिद्धपर्यवसाना अबन्धकाः ।

संयमसामान्यमार्गणायां प्रमत्तसंयतादयः सूक्ष्मसम्परायपर्यवसाना ज्ञानावरण-दर्शनावरण नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धकाः, शेषास्तूपशान्तमोहप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यवसाना अबन्धकाः । वेदनीयस्य बन्धकाः प्रमत्तसंयतादयः सयोगिकेवल्यन्ताः, अयोगिकेवलिनश्चाऽबन्धकाः । मोहनीयस्य प्रमत्तसंयतप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्ता बन्धकाः, शेषास्तु सूक्ष्मसंपरायप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यन्ता अबन्धकाः । एवं सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां च भावनीयाः, नवरमविरतसम्यग्दृष्टीनादौ कृत्वा बन्धका वक्तव्याः, अबन्धकाः पुनः सिद्धानन्ते व्यवस्थाप्य कथनीयाः ॥६५॥

अथ मनोयोगादिमार्गणाभेदान् सङ्कल्य तेषु बन्धस्वामिनो विभावयिषुर्गाथाद्वयमाह—

पणमणवयकायेसुं उरालचउणाणओहिचक्खूसुं ।
अणयणसुक्कासु तहा उवसमसण्णीसु आहारे ॥६६॥
तइयस्स हुन्ति सव्वे छण्होघव्वुरलमीसकम्मेसुं ।
तइयस्स हुन्ति सव्वे सजोगिवज्जाऽत्थि उण छण्हं ॥६७॥

(प्रे०) 'पण०' इत्यादि, 'पञ्चमनोवचःकायेषु' एते कृतद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, एवमुत्तरत्राऽपि, पञ्चशब्दो द्वाभ्यां सम्बध्यते । ततश्चायमर्थः—पञ्चमनस्सु=मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगलक्षणेषु 'पञ्चवचस्सु' वचनयोगसामान्य-सत्यवचनयोगा ऽसत्यवचनयोग-सत्यासत्यवचनयोगा ऽसत्यामृषवचनयोगरूपेषु काये=काययोगसामान्ये 'औदारिकचतुर्ज्ञानावधिचक्षुष्षु' औदारिके=औदारिककाययोगमार्गणायां चतुर्ज्ञानेषु=केवलज्ञानस्य वक्ष्यमाणत्वान्मति-श्रुता ऽवधि-मनःपर्यवज्ञानरूपासु चतसृषु ज्ञानमार्गणासु अवधौ=अवधिज्ञानस्य ज्ञानचतुष्के सङ्गृहीतत्वाद् अवधिदर्शनमार्गणायां चक्षुषि=चक्षुर्दर्शनमार्गणायां 'अनयनशुक्लयोः' अनयने=अचक्षुर्दर्शनमार्गणाया शुक्लायां = शुक्ललेश्यामार्गणायां च 'तथा' तथाशब्दः समुच्चये 'औपशमिक-

संज्ञिनोः' औपशमिके=औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने संज्ञिनि=संज्ञिमार्गणायां च 'आहारे' आहारकमार्गणायां च सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिमार्गणासु (२३) 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धकाः 'सर्वे' तत्तन्मार्गणां भजमाना निखिला जीवभेदा भवन्ति, न कोऽप्यबन्धकः, अयोगिकेवलि-सिद्धानां प्रोक्तमार्गणास्वप्रवेशात् । 'षण्णाम्' आयुषो वक्ष्यमाणत्वाद् वेदनीयस्य चोक्तत्वाद् ज्ञाना-वरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणाम् ओघवद् बन्धका ज्ञेया इत्युपस्कारः । इदमत्र हृदयम्—मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगेषु, एवं त्रिविधेषु वचनयोगेष्वौदा-रिककाययोगमार्गणायां काययोगसामान्यमार्गणायां शुक्ललेश्यायामाहारकमार्गणायां च सर्वसंख्यया दशसु मार्गणासु मिथ्यादृष्टिप्रभृतिसयोगिकेवलिपर्यवसाना वेदनीयस्य बन्धका भवन्ति, अबन्ध-कास्तु न विद्यन्ते, अयोगिकेवलिसिद्धानां प्रोक्तमार्गणास्वप्रवेशात् । एवं शेषास्वपि मार्गणासु वेद-नीयस्य बन्धका भावनीयाः, नवरं क्षीणमोहपर्यवसाना वक्तव्याः, तथा मतिश्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणास्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो ज्ञातव्याः, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां पुनः प्रमत्तसंयत-प्रभृतयो बोध्याः; तथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामविरतसम्यग्दृष्ट्यादय उपशान्तमोहपर्यवसाना जीवभेदा वेदनीयस्य बन्धकाः ।

वेदनीयायुर्वर्जज्ञानावरणादीनां बन्धकानां भावना मनोयोगादित्रयोविंशतिमार्गणास्वोघवत् कार्या, नवरं मतिज्ञानश्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनौपशमिकसम्यक्त्वरूपेषु पञ्चसु मार्गणास्था-नेष्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो वक्तव्याः, मनःपर्यवज्ञाने च प्रमत्तसंयतादयो निश्चेतव्याः । अबन्धक-भावनाऽपि त्रयोविंशतिमार्गणास्वोघवत्कार्या, नवरं मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा ऽसत्या-मृषमनोयोग-वचनयोगसामान्य-सत्यवचनयोगा ऽसत्यामृषवचनयोगौदारिककाययोग-काययोगसामा-न्य-शुक्ललेश्या-ऽऽहारकमार्गणासु सयोगिकेवलिपर्यवसाना अबन्धका ज्ञातव्याः, औपशमिकसम्य-क्त्वमार्गणायामुपशान्तमोहा-ऽवसाना अबन्धकाः, शेषासु च द्वादशसु मार्गणासु क्षीणमोहपर्यन्ता अबन्धका भणनीयाः ।

अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणकाययोगमार्गणास्थाने च बन्धस्वामिनं बोध-यति-'उरल०' इत्यादि, 'औदारिकमिश्रकार्मणयोः' कृतद्वन्द्वौ सप्तम्या निर्दिष्टौ, औदारिकमिश्रे= औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणे=कार्मणकाययोगमार्गणास्थाने च 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य 'सर्वे' मिथ्यादृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयो-ऽविरतसम्यग्दृष्टयः सयोगिकेवलिनश्चेत्येते चत्वारोऽपि जीवभेदा बन्धकाः, न कश्चिदप्यबन्धकः । अथ षण्णां कर्मणां बन्धकान् प्रोक्तमार्गणयोर्भावयति-'सव्वे' इत्यादि, 'सयोगिवर्जाः पुनः' सयोगिकेवलिनो विना-ऽन्ये मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-सम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टय इत्यर्थः, पुनः 'षण्णां' वेदनीयस्योक्तत्वादायुष्कस्य च वक्ष्यमाणत्वाद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धका भवन्ति, तेषामबन्धकास्तु सयो गिकेवलिनो भवन्ति, तेषां तद्बन्धहेतुभूतमोहाभावात् ॥६६॥

साम्प्रतं लोभादिमार्गणाः सङ्कलय्य तासु सप्तकर्मणां बन्धस्वामिनो विभणिषुराह–

मोहस्स सुहुमवज्जा लोहे सव्वे वि छण्ह अकसाये।
केवलदुगेऽहखाये तइयस्स सजोगिपज्जंता ॥६८॥

(प्रे०) '**मोहस्स**' इत्यादि, 'मोहस्य' मोहनीयकर्मणः 'सूक्ष्मवर्जाः' सूक्ष्मसम्परायान् विना 'सव्वे' इति गाथोक्तपद "देहलीदीपक" न्यायेना-ऽत्रापि सम्बध्यते, 'सर्वे' मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्ता बन्धकाः, क्व ? इत्याह–'लोहे' त्ति, 'लोभे' लोभमार्गणायां भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायास्त्वबन्धकाः, 'सर्वेऽपि' लोभमार्गणां भजमानाः समस्ता अपि मिथ्यादृष्टिप्रभृति-सूक्ष्मसम्परायपर्यवसाना लोभमार्गणायां षण्णा कर्मणा बन्धका भवन्ति, नैकोऽपि जीवभेदोऽबन्धकः।

अथा-ऽकषायप्रभृतिमार्गणास्थानेषु प्रकृतमाविष्करोति–'**अकसाये**' इत्यादि, 'अकषाये' अकषायमार्गणाया 'केवलद्विके' केवलज्ञान केवलदर्शनलक्षणमार्गणाद्वये 'यथाख्याते' यथाख्यात-सयममार्गणाया च 'तृतीयस्य' 'सर्व वाक्य सावधारणम्" इति न्यायेन वेदनीयस्यैव बन्धकाः '**सयोगिपर्यन्ताः**' सयोगिकेवलिपर्यवसाना जीवभेदा भवन्ति, तत्राऽकषाय-यथाख्यातसंयमयोरुप-शान्तमोहप्रभृतिमयोगिकेवल्यन्ता भवन्ति, केवलद्विके तु सयोगिकेवलिन एव भवन्ति, "आद्यन्त-वदेकस्मिन्" इति न्यायेना-ऽन्तत्वं भावनीयमत्र। इदमत्र हृदयम्–अकषायमार्गणायामुपशान्तमोह-प्रभृतिसयोगिकेवल्यन्ता वेदनीयस्य बन्धका भवन्ति, अयोगिकेवलिनः सिद्धाश्चाऽबन्धकाः, एव यथाख्यातसंयममार्गणायामपि वक्तव्याः। नवरमबन्धका अयोगिकेवलिन एव। तथा केवलज्ञान-मार्गणायां केवलदर्शनमार्गणायां च सयोगिकेवलिनो वेदनीयस्य बन्धकाः, तथाऽयोगिकेवलिनः सिद्धाश्चाऽबन्धकाः ॥६८॥

सम्प्रत्यनाहारकमार्गणा-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः शेषेषु च त्रिशदधिकशतमार्गणास्थानेषु बन्धस्वामिनो भावयति—

मिच्छा सासणसम्मा-ऽणाहारे छण्ह ते सजोगी य।
तइयस्स छण्ह सुहुमे सव्वे सेसा सत्तण्हं ॥६९॥

(प्रे०) '**मिच्छा**' इत्यादि, मिथ्यादृष्टयः 'सास्वादन-सम्यग्दृष्टयः' सास्वादनसम्यग्दृष्टिशब्दौ .. द्वन्द्वौ प्रथमया निर्दिष्टौ, सास्वादनाः=सास्वादनसम्यग्दृष्टयः, सम्यग्दृष्टयः=अविरतसम्यग्दृष्टयश्च ' .. हारे' अनाहारकमार्गणायां 'षण्णां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धकाः, अवशेषाः सयोगिकेवलिनोऽयो[illegible]वलिनः सिद्धाश्चा-ऽबन्धकाः। 'ते' तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपराम-र्शित्वाद् मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टयः परामृश्यन्ते तेन। ततश्चायमर्थः-मिथ्या-दृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टयः 'सयोगिनश्च' सयोगिकेवलिनः, चकारः समुच्चया[illegible]ः,

प्रस्तुतत्वाद् बन्धकाः कस्य ? इत्याह–'तइयस्स' त्ति, 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य, मिथ्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिसयोगिकेवलिनो-ऽनाहारकमार्गणाभेदे वेदनीयस्य बन्धका भवन्ति, शेषास्त्वयोगिकेवलिनः सिद्धाश्चाऽबन्धका भवन्तीति फलितार्थः ।

अथ सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां प्रकृतं भावयति–'छण्ह' इत्यादि 'षण्णां' मोहायुषोर्बन्धस्य प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् तद्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां षट्प्रकृतीनां बन्धकाः सूक्ष्मसम्परायमार्गणाया 'घण्टालोला' न्यायेन सर्वशब्दोऽत्रोत्तरत्र च योज्यते, 'सर्वे' तत्तन्मार्गणामासेवमानाः सर्वे सूक्ष्मसम्परायसंयताः षण्णां कर्मणां बन्धका भवन्ति, न कोऽप्यबन्धकः । तदेवमुक्ताश्चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणास्थानेषु (४४) बन्धस्वामिनः ।

सम्प्रति शेषासु त्रिंशदधिकशतमार्गणास्थानेषु (१३०) तान् प्रकटयितुकाम आह–'सव्वे' इत्यादि, सर्वे तत्तन्मार्गणागताः सर्वे जीवभेदाः 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु 'सप्तानाम्' आयुषो वक्ष्यमाणत्वाद् तद्वर्जानां शेषाणां सप्तानां ज्ञानावरणादीनां कर्मणां बन्धका भवन्ति, न कोऽप्यबन्धकः, प्रोक्तमार्गणासु सूक्ष्मसम्परायादिजीवानामलभ्यमानत्वात् । तथाहि–निरयगतिसामान्यसहितास्वष्टसु नरकमार्गणासु पञ्चानुत्तरवर्जेषु स्वप्रभेदयुक्तेषु पञ्चविंशति-सुरमार्गणास्थानेषु वैक्रियकाययोगे कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्यास्वयतमार्गणायां च मिथ्या-दृष्टिप्रभृत्यविरतसम्यग्दृष्टिपर्यन्ताः सप्त [illegible]णां बन्धकाः, अबन्धकास्तु न सन्ति । पञ्चा-ऽनुत्तरेष्वविरत-सम्यग्दृष्टयः सप्तकर्मणां बन्धकाः, अबन्धकास्तु न भवन्ति । एवं शेषमार्गणास्वपि भावनीयाः । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः–स्वभेदसहिता अष्टौ नरकगतिमार्गणाः स्वभेदसहिताः पञ्चतिर्यग्ग-तिमार्गणा अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा स्वभेदप्रभेदयुक्तास्त्रिंशद् देवगतिभेदाः, पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्या-प्तपञ्चेन्द्रियवर्जाः सप्तदश इन्द्रियभेदाः, त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकायौ विना चत्वारिंशत्कायभेदाः, वैक्रिय-काययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगाः, वेदत्रिकं लोभवर्जकषाय-त्रिकम् , अज्ञानत्रिकम् , संयमसामान्य-यथाख्यात-सूक्ष्मसम्परायवर्जपञ्चसंयममार्गणाभेदाः, शुक्ल-वर्जलेश्यापञ्चकम् अभव्यमार्गणा क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-मिश्र-मिथ्यात्वमार्गणा असंज्ञि-मार्गणा चेति । एतासु त्रिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तचत्वारिंशत्तमगाथाप्रभृतिषु ये जीवभेदा उक्ताः, ते सर्वे बन्धका एव भवन्ति, न कश्चिदप्यबन्धकः । तदेवं गत्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धस्वा-मिनश्चिन्तिताः ॥६९॥

सम्प्रत्यायुषो बन्धकान् भावयितुमनाः प्राह–

णिरये पढमाईसुं छसु णिरयेसुं तहा तिरिक्खम्मि ।
तिपणिंदियतिरियेसुं रगेविज्जंतदेवेसुं ॥७०॥

विउवाऽजतकिण्हासुं णीलाए काउतेउपउमासुं ।
आउस्स जाणियव्वा मीसूणा बन्धगा सव्वे ॥७१॥

(प्रे०) 'णिरये' इत्यादि. 'निरये' नरकगतिसामान्यमार्गणायां 'प्रथमादिषु षट्सु निरयेषु' रत्नप्रभाद्यासु षट्सु नरकगतिमार्गणासु 'तथा' तथाशब्दः समुच्चये 'तिरश्चि' तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायां 'त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु' अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जासु तिसृषु=पञ्चेन्द्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियतिरश्ची पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणासु मार्गणासु 'सुरग्रैवेयान्तदेवेषु' सुरे=देवगतिसामान्यमार्गणास्थाने ग्रैवेयान्तदेवेषु=भवनपतिप्रभृतिनवमग्रैवेयकान्तेषु चतुर्विंशतिमार्गणास्थानेषु 'वैक्रियाऽयताकृष्णासु' वैक्रिये=वैक्रियकाययोगमार्गणायाम् अयते=अविरतमार्गणाया कृष्णाया=कृष्णलेश्यामार्गणास्थाने च 'नीलाया' नीललेश्यामार्गणायां 'कापोततेजःपद्मासु' कापोतलेश्या-तेजोलेश्या पद्मलेश्यारूपमार्गणासु च सर्वसंख्यया त्रयश्चत्वारिंशन्मार्गणास्वायुषो 'बन्धकाः' बन्धस्य निर्वर्तकाः 'मिश्रोनाः' मिश्रदृष्टिरहिताः 'सर्वे' तत्तन्मार्गणां भजमानाः सर्वे ज्ञातव्याः, अबन्धकास्तु तत्तन्मार्गणावर्तिनः सर्वे जीवभेदा भवन्ति । इदमुक्तं भवति–निरयगतिसामान्य रत्नप्रभादिपृथ्वीषट्कपञ्चानुत्तरवर्जसर्वदेवभेदा ऽशुभलेश्यात्रय-वैक्रियकाययोगा ऽविरतलक्षणेषु सप्तत्रिंशन्मार्गणाभेदेषु मिथ्यादृष्टि सास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टय आयुषो बन्धकाः, अबन्धकास्तु मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यविरतसम्यग्दृष्टिपर्यवसानाः । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जशेषासु चतसृषु तिर्यग्मार्गणासु मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरता आयुषो बन्धकाः, अबन्धकाः पुनर्मिथ्यादृष्ट्यादिदेशविरतान्ताः । तेजोलेश्या-पद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्ता आयुषो बन्धकाः, अबन्धकास्तु मिथ्यादृष्ट्यादयोऽप्रमत्तसयतान्ताः । तदेवमभिहिता नरकगत्यादिमार्गणास्वायुर्बन्धस्वामिनः ॥७०-७१॥

सम्प्रति सप्तमपृथिव्यौदारिकमिश्रकाययोगलक्षणमार्गणाद्विके मनुष्यगत्यादिषु द्वात्रिंशन्मार्गणास्थानेषु चाऽऽयुषो बन्धकान् प्रकटयितुकामः प्राह—

मिच्छादिट्ठीया चिअ सत्तमणिरयुरलमीसजोगेसुं ।
ओघव्व जाणियव्वा तिमणुसदुपणिंदियतसेसुं ॥७२॥

पणमणवयजोगेसुं कायुरल तिवेअचउकसायेसुं ।
णयणेयरसुक्कासुं भविये सण्णिम्मि आहारे ॥७३॥

(प्रे०) 'मिच्छा०'इत्यादि, मिथ्यादृष्टय एव प्रकृतत्वाद् आयुषो बन्धकाः 'सप्तमनिरयौदारिकमिश्रयोगयोः' सप्तमनिरये=सप्तमपृथ्वीनरकगतिमार्गणायामौदारिकमिश्रकाययोगे च, एवकारोऽ-

मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीणकषायपर्यवसानाश्चाऽबन्धकाः । एवमेव वेदत्रिके कषायचतुष्के मिश्रदृष्टिवर्जा-ऽप्रमत्तसंयता बन्धका वक्तव्याः, अबन्धकास्तु वेदत्रये क्रोधमानमायालक्षणकषायत्रये च मिथ्यादृष्टिप्रभृतयोऽनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसाना बोध्याः,लोभे च सूक्ष्मसम्परायपर्यन्ता ज्ञातव्याः । भावना त्वोघवत् कर्तव्या ॥७२-७३॥

अथ शेषासु मतिज्ञानादिमार्गणस्वायुषो बन्धकान् दर्शयितुमनाः प्राह—

चउणाणसंजमेसुं समइअछेओहिसम्मखइएसुं ।
णेया अपमत्तंता सव्वे वि हवन्ति सेसासुं ॥७४॥

(प्रे०) 'चउणाण०'इत्यादि, 'चतुर्ज्ञानसंयमेषु' चतुर्ज्ञानेषु=केवलज्ञानमार्गणायामायुर्बन्धस्य सत्पदप्ररूपणा-ऽवसरे प्रतिषिद्धत्वाद् मति-श्रुताऽवधिमनःपर्यवलक्षणेषु चतुर्षु ज्ञानमार्गणास्थानेषु सयमे=सयमसामान्यमार्गणाया 'सामायिकच्छेदाऽवधिसम्यक्त्वक्षायिकेषु' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सामायिकसयममार्गणायां छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायाम् अवधौ=अवधिज्ञानस्योक्तत्वाद् अवधिदर्शनमार्गणाया सम्यक्त्वे=सम्यक्त्वसामान्यमार्गणाया क्षायिके=क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां च सर्वसख्यया दशमार्गणासु 'अप्रमत्तान्ताः' अप्रमत्तसयतपर्यवसाना आयुषो बन्धका 'ज्ञेयाः' बोद्धव्याः, तत्तन्मार्गणायोग्यान् जीवभेदान् आदौ कृत्वा ज्ञातव्या इति विशेषः,यथा मतिज्ञानादिमार्गणास्वविरतसम्यग्दृष्टीनादौ कृत्वा वक्तव्याः,मनःपर्यवज्ञानसयमादिमार्गणासु पुनः प्रमत्तसंयतानादौ व्यवस्थाप्य कथनीयाः । तथाहि—मतिश्रुताऽवधिज्ञानमार्गणास्थानेष्ववधिदर्शनमार्गणायां चाऽविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तपर्यवसाना आयुषो बन्धकाः, अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतयश्च क्षीणमोहपर्यवसाना आयुषोऽबन्धकाः, एव सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वाख्यमार्गणाद्विके-ऽपि, नवरमबन्धकाः सिद्धपर्यवसाना वक्तव्याः । सयमसामान्यमार्गणायामायुषो बन्धकाः प्रमत्तसंयता अप्रमत्तसंयताश्च, अबन्धकास्तु प्रमत्तसयतप्रभृतयोऽयोगिकेवल्यान्ता भणितव्याः, एवं सामायिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणाया मनःपर्यवज्ञाने च भणनीयाः, नवरमबन्धका उक्तसंयमद्वयेऽनिवृत्तिबादरसम्परायान्ता निगदितव्याः, मनःपर्यवज्ञाने पुनः क्षीणमोहपर्यवसाना वाच्याः ।

'**सव्वे**' इत्यादि, तत्र 'शेषासु'सप्ताशीतिमार्गणानामार्यापञ्चकेनोक्तत्वाद् वैक्रियमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेदा-ऽकषाय-केवलज्ञान—सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यातसंयम-केवलदर्शनौपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रा-ऽनाहारकेषु चायुर्बन्धस्य सत्पदप्ररूपणावसरे प्रतिषिद्धत्वाद् अवशिष्टासु षट्सप्ततिमार्गणास्थानेषु (७६) आयुषो बन्धका सर्वेऽपि=तत्तन्मार्गणाभाजः सर्वेऽपि जीवभेदा भवन्ति । तत्रा—ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चि अपर्याप्तमनुष्ये पञ्चेन्द्रियसामान्य—पर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियभेदेषु त्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकाय च ऋते चत्वारिंशत्कायभेदेष्वभव्यमार्गणाया मिथ्यात्वमार्गणायामसञ्ज्ञिमार्गणाया च सर्वसख्यया द्वाषष्टिमार्गणासु (६२) मिथ्यादृष्ट्य

आयुषो बन्धकाः "अबन्धकाऽऽउस्स सव्वे 'वि" इति वचनाद् अबन्धका अपि मिथ्यादृष्टयो भवन्ति । पञ्चानुत्तरमार्गणास्वायुषो बन्धका अबन्धकाश्चाऽविरतसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। आहारककाययोगमार्गणायामाहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां च प्रमत्तसंयता आयुषो बन्धकाः, अबन्धका अपि त एव । अज्ञानत्रिके मिथ्यादृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्चायुषो बन्धका अबन्धकाश्च । परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां प्रमत्तसंयता अप्रमत्तसयताश्चायुषो बन्धका अबन्धकाश्च। देशविरतमार्गणायां देशविरता आयुषो बन्धका अबन्धकाश्च । क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तसंयतान्ता बन्धका अबन्धकाश्च । सास्वादनमार्गणायां सास्वादनसम्यग्दृष्टय आयुषो बन्धका अबन्धकाश्च तदेवं गतं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥७४॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे द्वितीय स्वामित्वद्वार समाप्तम् ॥



अशीत्यधिकशततमादिपृष्ठस्थयन्त्रगतसङ्केतसूचिः—

१=मिथ्यादृष्टय ।	६=प्रमत्तसयता ।	११=उपशान्तमोहवीतरागच्छद्मस्थ.
२=सास्वादनसम्यग्दृष्टय ।	७=अप्रमत्तसयता ।	१२=क्षीणमोहवीतरागच्छद्मस्था ।
३=मिश्रदृष्टय ।	८=अपूर्वकरणवर्तिन· ।	१३=सयोगिकेवलिन ।
४=अविरतसम्यग्दृष्टय ।	९=अनिवृत्तिबादरसम्परायाः ।	१४=अयोगिकेवलिनः ।
५=देशविरता ।	१०=सूक्ष्मसम्परायाः ।	१५=सिद्धा ।

'—' एतच्चिह्नेन वामपार्श्वस्थाऽङ्कत प्रभृति दक्षिणपार्श्वस्थाऽङ्क यावद् अङ्का बोध्याः ।

॥ अथ तृतीयं साद्यादिद्वारम् ॥

सम्प्रति प्रथमाधिकारागतेन तृतीयेन साद्यादिद्वारेण मूलप्रकृतिबन्धं विवर्णयितुकाम आदौ तावदोघतः साद्यादिकं भणति—

वेआउगवज्जाणं बंधो खलु साइणाइधुवअधुवो ।
तइअस्स साइरहिओ णेयो आउस्स दुविगप्पो ॥७५॥

(प्रे०) 'वेआ०' इत्यादि, 'वेद्यायुष्कवर्जाना' वेदनीयाऽऽयुष्कवर्जानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामित्यर्थः, बन्धः 'खलु' खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, 'साद्यनादिध्रुवाऽध्रुवः' 'विशेषण विशेष्येणार्थं कर्मधारयश्च (सिद्धहेम० ३ १ १०१) इत्यनेन खञ्जकूटवद् विशेषणचतुष्टयसमासः वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणां बन्ध सादिरनादिर्ध्रुवो ऽध्रुवश्चेत्यर्थः । इयमत्र भावना—इह यो बन्धः पूर्वं व्यवच्छिन्न., पश्चात् पुनरपि जायते, स बन्धः सादिरुच्यते, सह आदिना=प्राथम्येन वर्तते इति कृत्वा । यः पुनरनादिकालतो सन्ततिभावेन प्रवृत्तो न कदाचिदपि व्यवच्छेदं गतः, सो ऽनादिरिति व्यपदिश्यते । यस्त्वायतिकाले न कदाचिदपि व्यवच्छेदं प्राप्स्यति, स ध्रुवः, सकलकालाऽवस्थायीत्यर्थः । यः पुनर्भविष्यत्काले व्यवच्छेदं लप्स्यते, सो ऽध्रुवः । तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरण मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धः साद्यादिभेदैश्चतुर्विधो लभ्यते, कथमिति चेत्, उच्यते—ज्ञानावरण दर्शनावरण-नाम-गोत्रा ऽन्तरायाणां बन्धका मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः सूक्ष्मसम्परायपर्यवसाना जीवभेदाः प्राक् प्रतिपादिताः । तत्रोपशमश्रेणिमारोहतो जीवस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमये प्रोक्तज्ञानावरणादीनां पञ्चानां बन्धो व्यवच्छिद्यते । तेनोपशान्तमोहगुणस्थानके प्रोक्तकर्मणां बन्धो न भवति । तत उपशान्तमोहगुणस्थानकेऽबन्धको भूत्वा योऽद्धाक्षयेण भवक्षयेण वा प्रतिपतति, स सूक्ष्मसम्परायोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्वा भूत्वा भूयो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धको जायते, इत्थं पञ्चकर्मणां बन्धः सादिः, व्यवच्छेदे सति पुनः प्रथमतया लाभात् । तथा मोहनीयस्य बन्धका मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यन्ताः प्रागुक्ताः । तत्र यः कश्चिदुपशमश्रेणिं समारोहति, तस्याऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये मोहस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते, ततः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक उपशान्तमोहगुणस्थानके च न भवति मोहनीयबन्धः । सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकेऽबन्धको भूत्वा य आयुःक्षयेण प्रच्यवते, सोऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके पुनर्मोहनीयं बध्नातीति तस्य मोहनीयबन्धः सादिर्भवति, यद्वोपशान्तमोहं स्पृष्ट्वाऽद्धाक्षयेण प्रच्युतः क्रमेणाऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके भूयो मोहनीय बध्नातीति कृत्वा मोहनीयबन्धो सादिर्भवति, व्यवच्छेदे सति पुनः प्रथमतया लाभात् । यैर्जीवैः सूक्ष्मसम्परायाऽवस्था न प्राप्ता, तेषां मोहनीयबन्धो-ऽनादिः, अनादिकालतो मोहनीयस्य निरन्तर बध्यमानत्वेन बन्धव्यवच्छेदाभावेन तद्बन्धस्यादेरभावात् । एव यैरुपशान्तमोहावस्था न लब्धा, तेषां ज्ञानावरणा-

दीनां पञ्चानां प्रकृतीनां बन्धोऽनादिः, अनादिकालतस्तासां सततं बध्यमानत्वेन बन्धव्यवच्छित्त्य-भावेन तद्बन्धस्याऽऽदेरभावात् । अभव्यानाश्रित्य ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धो ध्रुवः, अभव्यानां सम्यक्त्वादिप्राप्तेरभावेन सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोह-प्राप्त्यसंभवात् प्रोक्तकर्मणां बन्धस्या-ऽऽयत्यामपि व्यवच्छेदाऽनुपपत्तेः । भव्यान् प्रतीत्य ज्ञानावरणा-दिषट्कर्मणां बन्धोऽध्रुवः, भव्यानाश्रित्याऽभिहितज्ञानावरणादिकर्मणां बन्धव्यवच्छेदस्याऽवश्य-भावात् । ननु ये भव्या अतीतकाले न सम्यक्त्वं प्राप्तवन्तः, तथाऽनागतकाले कदाचनाऽपि सम्य-क्त्वं न प्राप्स्यन्ति, जातिभव्यत्वात्, तेषां प्रोक्तकर्मणां बन्धो न व्यवच्छेदं यास्यति, तत्कथं तान् भव्यानाश्रित्य नियमतो व्यवच्छेदं लप्स्यते, ततश्च "भव्यानाश्रित्याऽभिहितज्ञानावरणादि-कर्मणा बन्धव्यवच्छेदस्याऽवश्यम्भावा"दिति कथनं कथं युज्यते ? इति चेत्, उच्यते—व्यवच्छे-दशक्तिमाश्रित्य भव्यत्वं विवक्षणीयम्, तेन सहकारिसामग्र्यभावेन बन्धव्यवच्छेदाभावेऽपि जाति-भव्यानां बन्धव्यवच्छेदशक्तिसद्भावेन भव्यानां प्रस्तुतकर्मषट्कबन्धव्यवच्छेदकथनं न विरुध्यते, स्वरूपयोग्यतामाश्रित्य बन्धव्यवच्छेदस्योपपत्तिरिति भावः, यथाऽरण्यस्थो विवक्षितदण्डो न घटहेतु-र्जातः, नवा-ऽनागते काले भविष्यति, तथापि स्वरूपयोग्यतामाश्रित्य घटकारणमुच्यते, तथैवेहापि स्वरूपयोग्यतामाश्रित्या-ऽवश्य व्यवच्छेद उच्यते । न च भव्याना प्रोक्तकर्मणां नियमेन व्यवच्छेदः स्वमनीषिकयैव प्रोक्तः, **शतकचूर्णिकारणादिभिरप्युक्तत्वात्** । अक्षराणि त्वेवम्—"अधुवो भवि-याण बन्धवोच्छेओ नियमा होहित्ति काऊ ।" इति

अथ वेदनीयस्य बन्ध साद्यादिद्वारेण चिन्तयति—'**तइयस्स**' इत्यादि, 'तृतीयस्य' वेदनीय-स्य बन्धः 'सादिरहितः' सादिवर्जस्त्रिविकल्पो भवति, वेदनीयस्य बन्धोऽनादिर्ध्रुवोऽ-ध्रुवश्च भवतीत्यर्थः । इयमत्र भावना—बन्धो हि सकृद् व्यवच्छिन्नो भूत्वा पुनर्जायमनो सादिर्व्यपदिश्यते । न च वेदनीयस्य बन्धो व्यवच्छेदं गत्वा भूयो जायते, यतो वेदनीयस्य बन्धका मिथ्यादृष्टिप्रभृति-सयोगिकेवलिनः प्रोक्ताः, तेन सयोगिकेवलिचरमसमय एव वेदनीयबन्धो व्यवच्छिद्यते, नार्वाक् । तेनाऽयोगिकेवलिनां तद्बन्धाभाव उपलभ्यते,अयोगिकेवलिनश्च न प्रतिपतन्ति, तेन वेदनीयस्य बन्धो व्यवच्छेदमवाप्य न भूयो जायत इति कृत्वा वेदनीयस्य बन्धः सादिर्न भवति । अप्राप्ता-ऽयोगिकेवलि-गुणस्थानकानां च सर्वससारिजीवानां वेदनीयबन्धोऽनादिः, अनादिकालतो निरन्तरं वेदनीयस्य बध्यमानत्वेनाऽऽदेरभावात् । अभव्यानां पुनर्ध्रुवः,अयोगिकेवलिगुणस्थानप्राप्त्यसंभवेनाऽनागतकाले कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात् । अध्रुवो भव्यानाम्, अनागतकाले तद्बन्धव्यवच्छेदसंभवात् ।

सम्प्रत्यायुर्बन्धः परिभाव्यते—'**णेयो**' इत्यादि, तत्र 'आयुषः' आयुष्कस्य बन्धः 'द्विविकल्पः' द्वौ विकल्पौ यस्य, स द्विविकल्पः, आयुर्बन्धः सादिरध्रुवश्चेति द्विभेद इत्यर्थः, 'ज्ञेयः' ज्ञातव्यः । कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, उच्यते-आयुष्कं वेद्यमानायुष्कत्रिभागादौ शेषे प्रतिनियतकाले बध्यते, तेन न संभवत्यायुर्बन्धस्याऽनादित्वम् । आयुर्बन्धाद्धा चोत्कृष्टतो-ऽन्तर्मुहूर्तमात्री, तेनाऽ-

ऽन्तमुहूर्तात्परमायुर्बन्धोऽवश्यमेवोपरमत इति कृत्वा न संभवति ध्रुवत्वं तस्य । इह स्वभवायुष्कत्रिभागादिशेष आयुर्बन्धमारभत इति कृत्वाऽऽयुर्बन्धः सादिः, आयुर्बन्धश्चाऽन्तमुहूर्तं समर्थ्य निष्ठां गमयति, तेनाऽध्रुव आयुर्बन्धः, उक्तं च श्रीबन्धशतके श्रीमच्छिवशर्मसूरिपादैः—

"साइ अणाई धुव अद्धुवो य बंधो य कम्मछक्कस्स । तइए सा-इसेसो, अणाइधुवसेसओ आऊ ॥१॥" इति ।

अष्टाना कर्मणा बन्धस्य साद्यादिभेदैः सर्वसंख्ययैकोनत्रिंशद् भङ्गा भवन्ति । तथाहि—वेदनीयायुर्वर्जाना षण्णा बन्धः साद्यादिभेदैश्चतुर्धा, तेन चतुर्भिः षट्कर्मसु गुणितेषु चतुर्विंशतिभङ्गा लभ्यन्ते । वेदनीयस्य पुनस्त्रयो भङ्गा आयुषश्च द्वौ विकल्पौ । प्राक् प्रतिपादितायां चतुर्विंशतौ पञ्च भङ्गाः प्रक्षिप्यन्ते, तदैकोनत्रिंशद् भङ्गा लभ्यन्ते । भङ्गोपदर्शना त्वेव कार्या—ज्ञानावरणस्य बन्धः (१) सादिः (२) अनादिः (३) ध्रुवः (४) अध्रुवः, दर्शनावरणस्य बन्धः (५) सादिः (६) अनादिः (७) ध्रुवः (८) अध्रुवः, वेदनीयस्य बन्धः (९) अनादिः (१०) ध्रुवः (११) अध्रुवः, मोहनीयस्य बन्धः (१२) सादिः (१३) अनादिः (१४) ध्रुवः (१५) अध्रुवः, आयुषो बन्धः (१६) सादिः (१७) अध्रुवः, नाम्नो बन्धः (१८) सादिः (१९) अनादिः (२०) ध्रुवः (२१) अध्रुवः, गोत्रस्य बन्धः (२२) सादिः (२३) अनादिः (२४) ध्रुवः (२५) अध्रुवः, अन्तरायस्य बन्धः सादिः (२७) अनादिः (२८) ध्रुवः (२९) अध्रुवश्चेति । गाथोक्तं बन्धपदमुत्तरत्राऽप्यनुवर्तते । तदेवमोघतो मूलप्रकृतिबन्धः साद्यादिद्वारेण चिन्तितः, ॥७५॥

सम्प्रति गत्यादिमार्गणासु मूलप्रकृतिबन्धं भावयितुकाम आयुषो द्विविकल्पं शेषाणां च सापवादमतिदिदिक्षुराह—

सव्वासु दुविगप्पो आउस्सोघव्व आउवज्जाणं ।
अणयणभवियेसु णवरि भविये ण भवे धुवो बंधो ॥७६॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, 'सर्वासु' एकादशमार्गणास्वायुषो बन्धाभावात् त्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणासु 'आयुषः' आयुष्कस्य बन्धो 'द्विविकल्पः' द्विभङ्गकः सादिरध्रुवश्चेति भवतीत्यर्थः । भावना तु ओघवत् कार्या, विशेषाभावात् ।

ओघवद् 'आयुर्वर्जाना' सप्तकर्मणा बन्धः 'अनयनभव्ययोः' अनयने = अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्ये = भव्यमार्गणायां भवति । सामान्येनातिदिश्याऽपवादमाह—'णवरि' इत्यादि, नवरं भव्ये= भव्यमार्गणायां 'न भवेत्' न स्यात् ध्रुवो बन्धः, भव्यमार्गणागतानां जीवानां मोक्षगमनार्हत्वेन क्षपकश्रेण्युपशमश्रेणिसमारोहणसम्भवेन ज्ञानावरणादीना बन्धव्यवच्छेदाद् ध्रुवत्वाऽनुपपत्तेः । अचक्षुर्दर्शनमार्गणाया त्वभव्या अपि जीवाः प्रविष्टाः, तेन घटत एव तत्र तानाश्रित्य सप्ताना कर्मणां बन्धस्य ध्रुवत्वम् । इदमुक्तं भवति—अचक्षुर्दर्शनमार्गणाया ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणा बन्धः सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । वेदनीयस्य पुनरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च, भावना

त्वोघवत् कार्या,नवरमचक्षुर्दर्शनमार्गणायां सयोगिकेवलिगुणस्थानकं न भवतीति कृत्वा सयोगिकेवलि-गुणस्थानकप्राप्त्या प्रस्तुतमार्गणाया उच्छेदमाश्रित्य वेदनीयबन्धस्या-ऽध्रुवत्वं वाच्यम् । भव्य-मार्गणायां वेदनीयाऽऽयुर्वर्जानां कर्मणां बन्धः सादिरनादिर्ध्रुवश्च, वेदनीयस्य पुनरनादिर्ध्रुवश्च, भावना त्वोघवत् कार्या ॥७६॥

अथ शेषेषु द्वासप्तत्युत्तरशतमार्गणाभेदेष्वायुर्वर्जानां कर्मणां बन्धं साद्यादिद्वारेण भावयति—

अण्णाणदुगे अजए मिच्छे साई अणाइधुवअधुवो ।
अभवम्मि अणाइधुवो सेसासु साइ अधुवोऽत्थि ॥७७॥

(प्रे०) '**अण्णाणदुगे**' इत्यादि, 'अज्ञानद्विके' मतिश्रुताऽज्ञानलक्षणे 'अयते' अविरतमार्गणायां 'मिथ्यात्वे' मिथ्यात्वमार्गणायां च आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां बन्धः 'सादिरनादिध्रुवा-ऽध्रुवः' सादिरनादिर्ध्रुवो ऽध्रुवश्च, कुतः ? इति चेत् , उच्यते—एकजीवमाश्रित्य प्रोक्तमार्गणाचतुष्कमपि चतुर्विधं साद्यनादिध्रुवाध्रुवभेदात् । तथाहि—यः कश्चिज्जीवः सम्यक्त्वं प्राप्य परिणामप्रतिपाताद् मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते, तदपेक्षया मिथ्यात्वमार्गणा सादिः, येना-ऽद्यापि सम्यक्त्वं न प्राप्तम् , तद-पेक्षया-ऽनादिः, अभव्यापेक्षया ध्रुवा, कदाचिदपि सम्यक्त्वाऽप्राप्तेः, भव्यापेक्षया-ऽध्रुवा, आयत्यां सम्यक्त्वलाभात् । एवं मत्यज्ञानमार्गणा श्रुताऽज्ञानमार्गणा च भावनीया,नवरं सास्वादनप्राप्त्याऽपि तयोः सादित्वं सिद्ध्यति । एवमेवा-ऽयतमार्गणा-ऽपि भावनीया, नवरं देशविरत्यपेक्षया सर्वसंयमा-ऽपेक्षया वा सादित्वादिकं व्याख्येयम् ।

अथाऽभव्यमार्गणायां प्रकृतं दर्शयति—'**अभवम्मि**' इत्यादि, 'अभव्ये' अभव्यमार्गणाया-मायुर्वर्जाना ज्ञानावरणादीनां सप्तानां कर्मणां बन्धः 'अनादिध्रुवः' अनादिर्ध्रुवश्च, कुतः ? इति चेत् , उच्यते—अभव्या जीवा न कदाचिदपि सम्यक्त्वादिक लभन्ते, तदलाभाच्च न श्रेणिं प्रति-पद्यन्ते, श्रेण्यभावाच्च न ज्ञानावरणादीनां बन्धोच्छेदः, बन्धोच्छेदाभावाच्च नाऽध्रुवत्वं बन्धस्य । अपि च बन्धोच्छेदाभावाद् न सादित्वम् , बन्धोच्छेदे हि सति पुनः प्रवृत्तस्य सादित्वलाभात् । तेनाऽभव्यमार्गणायामायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां कर्मणां बन्धोऽनादिर्ध्रुवश्च भवति ।

अथ शेषासु सप्तषष्ट्यधिकशतमार्गणासु प्रकृतं कथयति-'से ' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धु-रितासु सप्तषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः, आयुर्वर्जानां कर्मणां बन्ध. 'साद्यध्रुवः' सादिरध्रुवश्च 'अस्ति' भवति, एकजीवापेक्षया तासां मार्गणानां साद्यध्रुवत्वोपलम्भात् । तथाहि—यद्यपि नाना-जीवापेक्षया बहूनि नरकगत्यादिमार्गणास्थानान्यनादीनि ध्रुवाणि च भवन्ति, तथाप्येकजीवापेक्षया सादीन्यध्रुवाणि च । तद्यथा—कश्चिदपि जीवो नरकत्वेन परिणत उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि व्यतिक्रम्य तिर्यक्त्वेन परिणमति,तावत्याः कायस्थितेर्वक्ष्यमाणत्वात् । एवं शेषमार्गणा अपि वक्ष्य-माणकायस्थितिमाश्रित्य भावनीयाः । ननु यद्येवम् , तर्ह्यज्ञानद्विकाऽविरतमिथ्यात्वलक्षणानि चत्वारि

मार्गणास्थानान्यप्येकजीवमाश्रित्य सादीन्यध्रुवाणि च भवितुमर्हन्ति । तत्कथं तत्र सप्तकर्मणां बन्धश्चतुर्विधो घटामटेत् ? इति चेत्, उच्यते–यद्यपि सम्यक्त्वप्रतिपतितभव्यानाश्रित्याऽज्ञानद्विकादिमार्गणाचतुष्कस्य साद्यध्रुवत्वम्, तथाप्यभव्यानामपि तत्र प्रवेशात् तानाश्रित्य घटन्तेऽपि तानि मार्गणास्थानान्यनादीनि ध्रुवाणि च । न च नरकगत्यादिमार्गणास्थानेष्वप्यभव्यानां प्रवेशात् तासामनादिध्रुवत्वं स्यादिति वाच्यम्, वक्ष्यमाणत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमादिकायस्थितेरभव्यापेक्षयाऽपि तथात्वेना-ऽभव्यानामपि नरकगत्यादिपर्यायपरित्यजनात् ।

न च तथापि शेषमार्गणाऽन्तर्गतानां तिर्यग्गत्यादिमार्गणानामप्यनादिध्रुवत्वमव्यवहारराशिजीवानाश्रित्य संभवति, तत् कथं साद्यध्रुवतैव भण्यते ? इति वाच्यम्, व्यवहारराशिजीवापेक्षया प्रकृतग्रन्थे प्रतिपादितत्वात् ।

इदन्त्ववधेयम्–मत्यज्ञानादिकभावं तु न कदाचिदपि जहत्यभव्याः, नरकगत्यादिकं तु कायस्थितेरूर्ध्वमवश्य परित्यजन्ति । तेन नरकगत्यादिकानि साद्यध्रुवाणि ।

शेषमार्गणान्तर्गतासु पुनर्यासु मार्गणासु सास्वादनसम्यग्दृष्ट्यादय एव जीवा लभ्यन्ते, तासां सादित्वमध्रुवत्वं च सुघटम् । तथाहि–सम्यक्त्वादिप्राप्तौ तासां लाभेन सादित्वम्, वक्ष्यमाणकायस्थितौ च व्यतिक्रान्तायां तत्तन्मार्गणायाः परित्यागादध्रुवत्वम् । तदेवं गतं तृतीयं साद्यादिद्वारम् ।।७६।७७।।

अष्टमूलकर्मणां साद्यादिबन्धप्रदर्शकं यन्त्रम्

		भङ्ग	भङ्ग	भङ्ग	भङ्ग	गाथाङ्क
ओघत	वेद्यस्य बन्ध	×	अनादि	ध्रुव	अध्रुव	७५
,,	आयुषो ,,	सादि	×	×	अध्रुव	,,
,,	शेषाणा ,,	,,	अनादि	ध्रुव	अध्रुव	,,
१६३ मार्गणासु	आयुषो बन्ध	सादि	×	×	अध्रुव	७६
भव्येऽचक्षुर्दर्शने च	सप्ताना ,,	ओघवत्, नवर भव्ये ध्रुवभङ्गो नास्ति ।।				७७
मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानाऽविरत-मिथ्यात्वेषु	सप्तानां बन्ध	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव	७७
अभव्ये	,, ,,	×	,,	,,	×	७७
• १६७ शेषमार्गणासु	स्वप्रायोग्यना कर्मणा बन्ध	सादि	×	×	अध्रुव	७७

।। इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे तृतीय साद्यादिद्वार समाप्तम् ।।

॥ अथ चतुर्थं कालद्वारम् ॥

सम्प्रति 'काल०' इत्यनेनोद्दिष्टेनैकजीवमाश्रित्य कालद्वारेण मूलप्रकृतिबन्धः प्ररूपयितव्यः। तेनादौ तावदोघत आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतिबन्धस्य तद्भावा-ऽपरित्यागविषयं काल प्ररूपयिषुर्गाथाद्वयमाह—

वेआउगवज्जाणं अणाइणंतो अणाइसंतो य ।
साइसपज्जवसाणो तइओ हस्सो मुहुत्तंतो ॥७८॥
परमो देसूणऽद्धो परिअट्टो पोग्गलाण णायव्वो ।
तइयस्सऽणाइणंतो अणाइसंतो भवे दुविहो ॥७९॥

(प्रे०) 'वेआ०' इत्यादि, 'वेद्यायुष्कवर्जानां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां प्रस्तुतत्वादेकजीवमाश्रित्य बन्धकालः 'अनाद्यनन्तः' अनाद्यपर्यवसितः 'अनादिसान्तश्च' अनादिसपर्यवसितः, चकारः समुच्चयार्थको भिन्नक्रमश्च, स चोत्तरत्र योजनीयः। 'सादिसपर्यवसानः' सादिसान्तश्च। इयमत्र भावना—अभव्यो जीवः कदाचिदपि सम्यक्त्वं न प्राप्स्यति, तदभावे च श्रेणिं नाऽधिगमिष्यति, तमाश्रित्य प्रोक्तषट्कर्मणामेकजीवाश्रितो बन्धकालो-ऽनाद्यनन्तः, अनादिकालतो बन्धस्य प्रवृत्तत्वात् श्रेण्यारोहणाऽभावेन चोक्तकर्मणां बन्धोच्छेदानुपपत्तेः, ।

येन भव्येन श्रेणिर्ना ऽऽरूढा-ऽद्यापि, किन्त्वायत्यामवश्यमेवाऽऽरोक्ष्यते, तमाश्रित्य ज्ञानावरणादिषट्कर्मणां बन्धकालो-ऽनादिसान्तः, अनादिकालतः प्रवृत्तत्वादागामिनि च काले श्रेणौ तदुच्छेदोपलम्भात् ।

येन भव्येन पूर्वमुपशमश्रेणिमारुह्योपशान्तमोहगुणस्थानकं लब्धम् , तमाश्रित्य ज्ञानावरणादिषट्कर्मणा बन्धकालः सादिसपर्यवसितः। तद्यथा—उपशमश्रेण्यारोहणे बन्धव्यवच्छेदो जातः, तत उपशान्तमोहतः प्रच्युतेन जीवेन ज्ञानावरणादीनां बन्धः पुनः प्रारभ्यत इति कृत्वा सादिः, आगामिनि काले पुनरुशमश्रैणौ क्षपकश्रेणौ वा बन्धो व्यवच्छेत्स्यते, सादितायां हि सत्यामुत्कर्षतो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तपर्यन्ते क्षपकश्रेणिप्रतिपत्त्या नियमेन बन्धोच्छेदादिति कृत्वा षट्कर्मणां बन्धकालः सादिसान्तः ।

अथ तृतीयभङ्गो जघन्यत उत्कृष्टतश्च कियन्मानो भवति ? इत्यत आह-'**तइओ**' इत्यादि, 'तृतीयः' सादिसपर्यवसानलक्षणो ज्ञानावरणादीनां बन्धकालः 'ह्रस्वः' जघन्यो 'मुहूर्तान्तः' मुहूर्तस्य अन्तर्=मध्ये अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः, 'परमः' उत्कृष्टः 'देशोनार्धः परावर्तः पुद्गलानां' किञ्चिन्न्यूनार्धपुद्गलपरावर्तो 'ज्ञातव्यः' बोध्यः। इयमत्र भावना—यः कश्चिदुपशमश्रेणिमधिगत्याऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये मोहनीयबन्धं व्यवच्छेदयति, सूक्ष्मसम्परायचरमसमये च ज्ञानावरणादीनां बन्धं व्यव-

च्छेदयति, तत उपशान्तमोहगुणस्थानकतोऽद्धाक्षयेण प्रतिपतति, पतित्वा च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने च यथाक्रमं ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां मोहस्य च बन्धमारभते। ततोऽनिवृत्तिबादरसम्परायादिगुणस्थानकानि स्पृष्ट्वा शीघ्रमन्तर्मुहूर्तेन क्षपकश्रेणिमारोहति, श्रेणिं चाऽऽरोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये मोहस्य,सूक्ष्मसम्परायचरमसमये च ज्ञानावरणादिपञ्चकर्मणां बन्धं व्यवच्छेदयतीति जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं मोहनीयस्य ज्ञानावरणादीनाञ्चैकजीवाश्रयो बन्धकाल आसाद्यते, इहैकस्मिन् भवे श्रेणिद्वयं कार्मग्रन्थिकैः समनुज्ञातम्, यदुक्तं कर्मप्रकृतिवृत्तौ श्रीमलयगिरिपादैः-"यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, स तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिं न प्रतिपद्यते। यस्त्वेकवारमुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, तस्य भवेदपि तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणि। एष कार्मग्रन्थिकाऽभिप्राय, आगमाभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकैव श्रेणिर्न तु द्वे अपि।" इति। द्वितीयवारमुपशमश्रेणिमपहाय क्षपकश्रेणेः कथनं जघन्यकालप्रतिपत्त्यर्थम्, उपशमश्रेण्यामपूर्वकरणादीनां कालतः क्षपकश्रेण्यामपूर्वकरणादीनां कालस्य स्तोकत्वात्

तथा कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरपार्धपुद्गलपरावर्तशेषसंसारो यथाप्रवृत्तादिकरणत्रयेणौपशमिकसम्यक्त्वेन सहैव संयमं प्रतिपद्यते। ततोऽन्तर्मुहूर्तं व्यतिक्रम्य लब्धक्षायोपशमिकसम्यक्त्वः पुनरपि करणत्रयेण श्रेणिगतमौपशमिकसम्यक्त्वं प्राप्य यथागममुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते। उपशमश्रेणिं च समधिगत्योपशान्तमोहो भूत्वाऽद्धाक्षयेण प्रच्यवते। प्रच्युतश्चाऽसौ सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये ज्ञानावरणादीनामनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये च मोहनीयस्य बन्धं सादिं कृत्वा प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् क्रमशः प्रतिपतति। ततो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तं यावत् संसारे परिभ्रमति। तदन्ते च चरमभवेऽन्तर्मुहूर्तायुष्के शेषे क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य च मोहस्य ज्ञानावरणादीनां च पञ्चानां कर्मणां बन्धं यथासंख्यमनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये सूक्ष्मसम्परायचरमसमये च व्यवच्छेदयति, तदेवं ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामुत्कृष्टबन्धकालो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः प्राप्यते। न चोपशान्तमोहगुणस्थानकस्योत्कृष्टान्तरस्याऽपि तावन्मात्रत्वेन पर्यन्ते उपशमश्रेणिः कुतो नाऽऽरोह्यते? इति वाच्यम्, उत्कृष्टबन्धकालस्य प्रस्तुतत्वेन भावितकालाऽपेक्षया हीनत्वप्रसङ्गात्। तथाहि-य उपशमश्रेणिमारोहेत्, स क्रमेण पतित्वोत्कृष्टतो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तपर्यन्ते क्षपकश्रेणिमारोक्ष्यति, सकृत्सम्यक्त्वादिप्राप्तौ सत्यां देशोनार्धपुद्गलपरावर्तपर्यवसाने नियमतः परमपदावाप्तेः। यद्युपशमश्रेण्यन्तरमुत्कृष्टबन्धकालत्वेनाऽभिधीयेत, तर्हि भावितकालापेक्षया न्यूनः कालः स्यात्,क्षपकश्रेणिप्राप्तेरुत्कृष्टदेशोनार्धपुद्गलपरावर्तपर्यन्ततः प्रागुपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः सम्भवात्। ननु मोहनीयस्योत्कृष्टबन्धकाललाभाय सूक्ष्मसम्परायद्वितीयसमये ज्ञानावरणादीनां चोत्कृष्टबन्धकाललाभायोपशान्तमोहद्वितीयसमये म्रियत इति कुतो नोच्यते, यतः श्रेणौ मृतोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्भूत्वोक्तकर्मणां प्रथमसमय एव बन्धमारभते, बन्धारम्भे च सति भावितकालापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तेनाधिकः कालः संभवतीति चेत्, मैवम्, श्रेणौ मृताना देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तनभ्रमणाभावात्।

अथ वेदनीयस्य बन्धकालमभिधित्सुराह–'तइयस्स' इत्यादि, 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो 'बन्धकालः' एकजीवाश्रितो बन्धकालः 'अनाद्यनन्तः' अनाद्यपर्यवसितः 'अनादिसान्तः' अनादिसपर्यवसितश्च भवति, एतदुक्तं भवति–यः सयोगिकेवलिगुणस्थानकचरमसमयं कदाचिदपि न प्राप्स्यति, तस्य वेदनीयबन्धकालोऽनाद्यपर्यवसितः, अधस्तनगुणस्थानकेषु वेदनीयबन्धस्य व्यवच्छेदाऽसम्भवात् । यस्तु सयोगिकेवलिगुणस्थानकचरमसमयं लप्स्यते, तस्य वेदनीयबन्धकालोऽनादिसपर्यवसितः, सयोगिकेवलिगुणस्थानकचरमसमये वेदनीयबन्धस्य व्यवच्छेदात् ॥७८,७९॥

सम्प्रत्यायुषो बन्धकालमोघतः प्रतिपिपादयिषुरल्पवक्तव्यत्वादादेशतोऽपि प्राह—

आउस्स मुहुत्तंतो दुहेवमखिलासु परमणू समयो ।
पणमणवयकायउरलविउवाहारदुगचउकसायेसु ॥८०॥

(प्रे०) 'आउस्स' इत्यादि, 'आयुषः' आयुष्ककर्मण एकजीवाश्रितो बन्धकालो 'द्विधा' जघन्यत उत्कृष्टतश्च 'मुहूर्त्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवति, सकृदायुर्बन्धे प्रारब्धेऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतो निवृत्तेः । 'एवमेव' यथौघत आयुषो जघन्योत्कृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं प्रोक्तः, तथैव 'अखिलासु' एकादशमार्गणास्वायुर्बन्धस्य प्रतिषेधात् त्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणासु (१६३) एकजीवाश्रित आयुष्कस्य जघन्योत्कृष्टबन्धकालो बोध्यः । सामान्येनाऽतिदिश्याऽतिप्रसक्तिं निवारयति–'पर०' इत्यादि, 'पर' नवरं 'पञ्चमनोवचःकायौदारिकवैक्रियाऽऽहारकद्विकचतुष्कषायेषु' पञ्चमनस्सु=मनोयोगसामान्यसत्यमनोयोगाऽसत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगेषु पञ्चवचस्सु=वचनयोगसामान्य सत्यवचनयोगाऽसत्यवचनयोग-सत्यासत्यवचनयोगा-ऽसत्यामृषवचनयोगेषु औदारिके=औदारिककाययोगे वैक्रिये=वैक्रियकाययोगे आहारकद्विके=आहारककाययोगतन्मिश्रलक्षणे योगद्वये चतुष्कषायेषु=क्रोध-मान माया-लोभेषु सर्वसङ्ख्ययैकोनविंशतिमार्गणास्थानेषु 'अणुः' आयुष एकजीवाश्रितजघन्यबन्धकालः 'समयः' एकसमयो भवति, उक्तमार्गणास्वायुर्बन्धे प्रारब्धे द्वितीयसमये तन्मार्गणापरावृत्तेः, मार्गणास्थानान्तरे वा-ऽऽयुर्बन्धे निष्पादित आयुर्बन्धचरमसमये प्रोक्तमार्गणासु प्रवेशेन तत्समनन्तरमायुर्बन्धविच्छेदात् । एतदुक्तं भवति–कश्चिद् मनोयोगमार्गणास्थान आयुर्बन्धं प्रारभ्य समयान्तरे मार्गणान्तरं प्राप्नोति, यद्वा मार्गणान्तरेऽन्तर्मुहूर्तं यावदायुर्बन्धं निष्पाद्या ऽऽयुर्बन्धाद्धाचरमसमये मनोयोगमार्गणायां प्रविशति, ततश्चाऽऽयुर्बन्धो व्यवच्छेदं गच्छति, आयुर्बन्धाद्धायाः समाप्तेः । तदा मनोयोगमार्गणायामायुषो जघन्यबन्धकाल एकसमयो लभ्यते, एवं शेषमार्गणास्वपि भावनीयः ॥८०॥

सम्प्रत्यादेशतः सप्तकर्मणामेकजीवाश्रितं जघन्योत्कृष्टबन्धकालं निभणिषुराह—

सव्वासु गुरू कालो सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
सगसगगुरुकायठिई लहू ससजहण्णकायठिई ॥८१॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, 'सर्वासु' निरयगत्यादिसर्वमार्गणासु 'आयुर्वर्जानाम्' आयुष्कवर्जानां 'स्वप्रायोग्यानां' सत्पदप्ररूपणाऽवसरे तत्तन्मार्गणाया प्रतिपादितानां ज्ञानावरणादीना 'गुरुः' उत्कृष्ट एकजीवाश्रितो बन्धकालः 'स्वस्वगुरुकायस्थितिः' निरयगत्यादीनां तत्तन्मार्गणानां स्वकीया स्वकीया गुरुः=उत्कृष्टा कायस्थितिर्बोध्यः, ज्ञानावरणादीना ध्रुवबन्धित्वेन तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं यावदुत्कृष्टतो निरन्तरं बन्धात् । तथा 'लघुः' एकजीवाश्रितो जघन्यो बन्धकालः 'स्वस्वजघन्यकायस्थितिः' निरयगत्यादिमार्गणाना स्वकीया स्वकीया जघन्यकायस्थितिर्ज्ञेयः । स्वप्रायोग्यकथनाद् यत्र सूक्ष्मसम्परायसंयमादिमार्गणासु या मोहनीयादयः प्रकृतयो न बध्यन्ते, ता वर्जयित्वा शेषा ग्राह्याः, तासामेव तत्तन्मार्गणायोग्यत्वात् । आयुर्वर्जाश्च स्वप्रायोग्यप्रकृतयः सत्पदप्ररूपणद्वारतोऽवसेयाः, तत्र न्यक्षेण निरूपितत्वात् । इहायुर्वर्जपदोपादानं तु स्पष्टप्रतिपत्तये, अन्यथा आयुषोऽनन्तरगाथायां प्रतिपादितत्वेन तदुपादानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गः स्यात् । जघन्योत्कृष्टबन्धकालस्य भावना तु वक्ष्यमाणकायस्थितिवत् कर्तव्या, नवरं या मार्गणा उपशमश्रेणितः प्रतिपतता जीवेन देवगतावपर्याप्तावस्थायां न लभ्यन्ते, तासु ज्ञानावरणादीना षण्णां जघन्यबन्धकालो मरणसमनन्तरं देवलोक उत्पन्नजीवाऽपेक्षयाऽपि भावयितुं शक्यते । तथाहि—कश्चिज्जीवः श्रेणितः प्रच्यवमानः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये पूर्वप्रवृत्ते मनोयोगसामान्ये ज्ञानावरणादिकं बद्ध्वाऽनन्तरसमये मृतो वैक्रियमिश्रकाययोगी जायते, तदा ज्ञानावरणादीनां पञ्चाना कर्मणा जघन्यबन्धकालो मनोयोगमार्गणायामेकसमयः प्राप्यते । यस्तु पूर्वप्रवृत्तमनोयोगसामान्ये मोहनीयं बद्ध्वाऽनिवृत्तिबादरसम्परायद्वितीयसमये म्रियते, तमाश्रित्य मोहनीयस्य जघन्यबन्धकाल एकः समय आसाद्यते, अत्र मनोयोगसामान्यमार्गणाया अवस्थानकालस्याऽन्तमुहूर्तमात्रत्वेऽपि तस्यां षण्णां बन्धकालो जघन्यत एकसमयो लब्धः, बन्धप्रारम्भतो द्वितीयसमये मार्गणाया उच्छेदात् । एवं सत्यादिमनोयोगचतुष्क-पञ्चवचनयोगाऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणास्वपि भावनीयः । तथा या मार्गणा अनिवृत्तिबादरसम्पराये सूक्ष्मसम्पराये च परावर्तनयोग्याः, तासु षण्णां कर्मणां जघन्यबन्धकालो मरणाभावेऽपि भावयितुं शक्यते । तथाहि—कश्चिज्जीवोऽनिवृत्तिबादरसम्परायस्य सूक्ष्मसम्परायस्य च द्विचरमसमयं यावद् योगान्तरमापन्नश्चरमसमये मनोयोगपञ्चकवचनयोगपञ्चककाययोगसामान्यौदारिककाययोगानामन्यतम पूर्वयोगतो भिन्नं योगं लब्ध्वा यथाक्रमं मोहनीयं ज्ञानावरणादिपञ्चक च बद्ध्वा बन्ध व्यवच्छेदयति, तदाऽपि मनोयोगादिषु षण्णा कर्मणा जघन्यबन्धकाल एकसमयो लभ्यते, योगस्य प्रवर्तमानत्वेऽपि बन्धोच्छेदात् । यद्वोपशमश्रेणितोऽवतरन् मनोयोगादीनामन्यतमे वर्तमानः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयेऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये च यथाक्रम ज्ञानावरणादिकं मोहनीय च बद्ध्वाऽनन्तरसमये

योगान्तरं भजते, तदा-ऽपि पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगकाययोगसामान्यौदारिककाययोगमार्गणासु ज्ञानावरणादीनां षण्णां जघन्यबन्धकाल एकसमयः प्राप्यते, बन्धस्य प्रवर्तमानत्वेऽपि मार्गणानामेवोच्छेदात् । इह यद्यपि कतिपयनिरयगतिप्रभृतिमार्गणासु यत्प्रमाणा जघन्योत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, तत्प्रमाण एव ज्ञानावरणादीनां जघन्योत्कृष्टबन्धकालस्तासु मार्गणासु भवति, तथापि मतिज्ञानप्रभृतिषु मार्गणासु ज्ञानावरणादीनां कर्मणामुत्कृष्टबन्धकालः कायस्थितितो-ऽन्तर्मुहूर्तेन न्यूनो भवति, क्षीणमोहैस्तेषां बन्धाभावात् । अन्तर्मुहूर्तकालस्य च स्वल्पत्वात् सामान्येन कायस्थितिरतिदिष्टा ॥८१॥

सम्प्रति यासु मार्गणासु कायस्थितेरतिदेशेन ज्ञानावरण दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धकालो न घटते, ता मार्गणाः संगृह्य प्राह-

णवरि तइअवज्जाणं तिमणुसकायमणज्जवेसुं च ।
संजमआहारेसुं हस्सो समयो मुणेयव्वो ॥८२॥
तिखणूणो खुड्डभवो उरालमीसे अचक्खुभवियेसुं ।
ओघव्व भवे दुविहो गुरू अवेए मुहुत्तंतो ॥८३॥

(प्र०) 'णवरि'इत्यादि, नवरं 'त्रिमनुष्यकायमनःपर्यवेषु च' त्रिमनुष्यादयः कृतद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, त्रिमनुष्येषु=मनुष्यसामान्य-मानुषी-पर्याप्तमनुष्यलक्षणेषु त्रिषु मनुष्यभेदेषु प्रत्येकं काये=काययोगमार्गणायां मनःपर्यवे=मनःपर्यवमार्गणायां च, गाथोक्तश्चकारः समुच्चयार्थको भिन्नक्रमश्च, स च संयमाहारयोश्चेत्युत्तरत्र योज्यः, 'संयमा-ऽऽहारयोः' संयमे=संयमसामान्यमार्गणायाम्, आहारे=आहारकमार्गणायां च 'तृतीयवर्जानाम्' अतिदेशे-ऽप्यायुषः परित्यक्तत्वाद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायरूपाणां षण्णां कर्मणां 'ह्रस्वो' जघन्यो बन्धकालः 'समयः'एकसमयो 'ज्ञातव्यो' बोद्धव्यः, कथमेतदवसीयते ? इति चेद्, उच्यते, यद्यपि मनुष्यसामान्यमार्गणायाः क्षुल्लकभवप्रमाणाऽष्टाधिकशततमगाथया, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोश्च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणा दशाधिकशततमगाथया, आहारकमार्गणायाश्च जघन्यकायस्थितिस्त्रिसमयहीनक्षुल्लकभवमिता नवोत्तरशततमगाथया वक्ष्यते, मनःपर्यवज्ञान-संयमयोर्मतान्तरेणा-ऽऽन्तर्मौहूर्तिकी जघन्यकायस्थितिः षोडशाधिकशततमगाथया वक्ष्यते, तथाप्युपशमश्रेण्यपेक्षया प्रोक्तसप्तमार्गणासु वेदनीयायुर्वर्जज्ञानावरणादीनां षण्णां कर्मणां जघन्यबन्धकाल एकसमयो लभ्यते । तथाहि-कश्चिन्मनुष्य उपशमश्रेणिमारुह्य ज्ञानावरणादीनामबन्धको भूत्वा-ऽद्धाक्षयेण प्रतिपतितः सूक्ष्मसम्परायस्य प्रथमसमये ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायरूपपञ्चकर्माणि बध्नाति, द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते, तदा मनुष्यमार्गणायां ज्ञानावरणादीना पञ्चानां कर्मणां जघन्यबन्धकाल एकसमयः

प्राप्यते, द्वितीयसमये मनुष्यमार्गणाया एवा-ऽपगमात् । यस्तूपशमश्रेणितोऽवतरन्ननिवृत्तिबादर-सम्परायद्वितीयसमये कालं करोति, तं प्रतीत्य मनुष्यमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धकालो जघन्यत एकसमयो लभ्यते, द्वितीयसमये मार्गणाया एव उच्छेदात् । एवं पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मनःपर्यव-ज्ञान-संयमा-ऽऽहारकमार्गणासु षण्णां कर्मणां जघन्यबन्धकालो भावनीयः, नवरमाहारकमार्गणायां षण्णां जघन्यबन्धकाललाभाय देवलोके द्विसामयिक्या विग्रहगत्योत्पादयितव्यः । काययोगमार्ग-णायां तु प्रकृतबन्धकालो मरणाभावेनोपपादनीयः, मृतौ सत्यामपि काययोगस्याऽपायाभावात् । एतदुक्तं भवति—कश्चिदुपशमश्रेणितस्तथा-ऽवतरति, यथा सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये काययोगाद्धाया एकसमय एवा-ऽवशिष्यते,ततश्च सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये काययोगमार्गणायामेकं समयं ज्ञानावरणा-दीनि कर्माणि बद्ध्वा द्वितीयसमये मनोयोग वचनयोगं वा भजते, एवं काययोगमार्गणायां ज्ञाना-वरणादीनां पञ्चाना कर्मणां जघन्यबन्धकाल एकसमय आसाद्यते। यस्तु काययोगाद्धायामेकसमय-शेषायामनिवृत्तिबादरसम्पराय प्राप्नोति, स तत्र प्रथमसमये मोहनीयं बद्ध्वा द्वितीयसमये मनोयोग-मार्गणायां वचनयोगमार्गणायां वा मोहनीयं बध्नाति, तेन काययोगमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धकाल एकसमयोऽवाप्यते । मृतौ सत्यां तु कार्मणकाययोगवैक्रियमिश्रकाययोगयोरन्यतरस्या-ऽवश्यभावात् काययोगमार्गणायां प्रोक्तकर्मणां जघन्यबन्धकाल एकसमयो न प्राप्यते ।

'तिखणूणो' इत्यादि, "तइअवज्जाण" ति पद पूर्वतोऽनुवर्तते, तृतीयवर्जानां—ज्ञानावरण-दर्शना-वरण-मोहनीय नाम गोत्रा ऽन्तरायाणामेकजीवाश्रयो बन्धकालः 'त्रिक्षणोनः' त्रिसमयन्यूनः 'क्षुल्लक-भवः' षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशता-ऽऽवलिकाप्रमाणकालः 'औदारिकमिश्रे' औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां भवति, किमुक्त भवति ? इति चेद् , उच्यते—औदारिकमिश्रकाययोगस्य जघन्यकायस्थितिः समु-द्घातापन्नसयोगिकेवलिनमाश्रित्यैकसामयिकी वक्ष्यते, ज्ञानावरणादयस्तु तत्र न बध्यन्ते, ततश्च तेषां जघन्यबन्धकालः संसारिजीवैः प्राप्यते, स च त्रिसमयन्यूनक्षुल्लकभवप्रमाणः, तथाहि—कश्चिद् जीवो बद्धक्षुल्लकभवायुष्कश्चतुस्सामयिक्या विग्रहगत्या लब्ध्यपर्याप्तत्वेनोत्पन्नः, तस्य जीवस्य भव-स्याऽऽद्येषु त्रिषु समयेषु कार्मणकाययोगो भवति, ततश्चतुर्थसमयादारभ्य स्वभवचरमसमयं याव-दौदारिकमिश्रकाययोगो विद्यते, तद्भवतश्च च्युत्वा यदा द्विसामयिक्या विग्रहगत्योत्पद्यते, तदौदारिक-मिश्रकाययोगमार्गणायां ज्ञानावरणादीनां षण्णां जघन्यबन्धकालस्त्रिसमयोनक्षुल्लकभवः प्राप्यते ।

अथाऽचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोरपवादमाह—'अचक्खु०' इत्यादि, 'अचक्षुर्भव्ययोः' अचक्षु-र्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां च ज्ञानावरणादीनां षट्कर्मणां 'द्विविधः' एकजीवा-श्रितो जघन्य उत्कृष्टश्च बन्धकाल 'ओघवद् भवेद्, वेदनीयस्याऽनाद्यपर्यवसितोऽनादि-सपर्यवसानश्च, शेषाणामनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः सादिसपर्यवसितश्च । तत्राऽपि तृतीयभङ्गो जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतश्च देशानार्द्धपुद्गलपरावर्त इत्येवंरूपो भवति, कायस्थितिस्त्वेतयोर्मार्ग-णयोरनाद्यपर्यवसिताऽनादिसपर्यवसिता च वक्ष्यते '

अथाऽपगतवेदमार्गणायामपवादमाह—'गुरू' इत्यादि, 'गुरुः' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामुत्कृष्टो बन्धकालः 'अवेदे' अपगतवेदमार्गणायां 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवति । किमुक्तं भवति ? इति चेद् , उच्यते-यद्यपि कायस्थितिप्ररूपणावसरे बन्धक्रमाश्रित्या-ऽपगतवेदमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिर्देशोनपूर्वकोटिवर्षमात्री वक्ष्यते, सा च प्राधान्येन सयोगि-केवलिनमाश्रित्य भणिष्यते, केवलिनां च ज्ञानावरणादीनां बन्धाभावाद् अपगतवेदमार्गणायां ज्ञाना-वरणादीनां तावान् बन्धकालो न घटते, किन्त्वन्तर्मुहूर्तम् । तथाहि—कश्चिज्जीव उपशमश्रेणि-मारूढः, तेनाऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य संख्येयतमे भागे शेषे वेदोदयो व्यवच्छिद्यते, ततः प्रभृत्यनिवृत्तिकरणचरमसमयं यावद् मोहनीयं बध्यते, ज्ञानावरणादयश्च पञ्च प्रकृतयः सूक्ष्मसम्प-रायचरमसमयं यावद् बध्यन्ते, तेना-ऽपगतवेदमार्गणायां मोहनीयस्योत्कृष्टो बन्धकाल उपशम-काऽनिवृत्तिक संख्येयतमभागप्रभृत्यनिवृत्तिकरणचरमसमयपर्यवसानोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञानावर-णादीनां च पञ्चानामुपशमका-ऽनिवृत्तिकरणसंख्येयतमभागप्रभृतिसूक्ष्मसम्परायचरमसमयपर्यन्तो-ऽन्तर्मुहूर्तप्रमितो लभ्यते । यद्यपि क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यमाना उपशमश्रेणितश्च प्रतिपतिता अपगत-वेदमार्गणायामन्तर्मुहूर्तं यावद् ज्ञानावरणादिकं प्रकृतिषट्कं बध्नन्ति, तथापि क्षपकाणामुपश्रेणितश्चा-ऽवतरतां जीवानां सूक्ष्मसम्पराया-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायकालस्य स्वल्पत्वादुपशमकमाश्रित्य भावितः प्रकृतकालः ॥८२,८३॥



अष्टकर्मणामेकजीवाश्रितजघन्योत्कृष्टबन्धकालप्रदर्शियन्त्रम्

मूल-मार्गणा	आयुर्वर्जसप्त कर्मणामुत्कृष्टबन्ध-काल उत्कृष्टकाय-स्थिति	षण्णामुत्कृष्ट-बन्धकालोऽन्त र्मुहूर्तम् वेद्यस्य गुरुकायस्थिति	षण्णां जघ-न्यबन्धकाल ओघवत्	वेदनीयस्य जघ-न्यबन्धकालो जघ-न्यकायस्थिति	वेदनीयायुर्वर्जानां जघन्यबन्धकाल: 1 समय	त्रिसमयहीन क्षुल्लकभव	जघन्यकायस्थिति	आयुषो बन्धकाल: उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम्	जघन्यत १ समय	जघन्यतोऽन्त र्मुहूर्तम्
गति	सर्वमार्गणा ४७			सवमार्गणा ४७	अपर्याप्तवर्जा ३ मनुष्यभेदा		सवमार्गणा ४४	सर्वमार्गणा ४७	..	सर्वमा० ४७
इन्द्रियम्	,, १९			,, १९	—		,, १३	,, १९		,, १९
काय	,, ४२		...	,, ४२	—	.	,, ४२	,, ४२	.	,, ४२
योग	,, १८			,, १८	काययोग १	औदारिकमिश्र	शेषा १६	,, १६(कार्मणवर्जा	मार्गणा १५	औदारिक-मिश्र०
वेद	अवेदवर्जा ३	अवेद० १		,, ४	—		सर्वमार्गणा ४	सवमार्गणा ३ (अवेदमृते)		सर्वमा० ३
कषाय	सर्वमार्गणा ५		.	,, ५	—	.	अकषायमृते मा ४	सर्वमा० ४(अकषायमृते)	४ कषाय,	
ज्ञानम्	,, ८		...	,, ८	मनःपर्यव० १	...	केवल विना शेषा ६	सर्वमा० ७ (केवलज्ञान विना)		सर्वमा० ७
संयमः	,, ८			,, ८	संयमसा० १		यथा वर्जा शेषा ६	सर्वमा० ६ (सूक्ष्मस० यथाख्यातवर्जा)	.	, ६
दर्शनम्	,, ४		अचक्षुर्दर्शन० १	शेषा ३	—		केवलमृते शेषा २	सर्वमा० ३ (केवलदर्शन विना)		,, ३
लेश्या	,, ६			सर्वमार्गणा ६	—		सर्वमार्गणा ६	सर्वमा० ६	....	,, ६
भव्यः	भव्याभव्यौ २		भव्य १		—			भव्याभव्यौ २		भव्याभव्यौ २
सम्यक्त्वम्	सवमार्गणा ७			सर्वमार्गणा ७	—	.	सर्वमार्गणा ७	सर्वमा० ५ ★	-	सर्व०५
सञ्ज्ञी	सञ्ज्यसञ्ज्ञिनौ २		...	सञ्ज्यसञ्ज्ञि० २	—		सञ्ज्यसञ्ज्ञि० २	सञ्ज्यसञ्ज्ञि० २		सञ्ज्यसञ्ज्ञि० २
आहारक	आहारानाहारौ २			आहारानाहारौ २	आहार० १		अनाहार० १	आहारक० १		आहारक० १
सर्वा	१७३	१	२	१७१	७	१	१५९	१६३	१९	१४४
गाथाङ्क	८१	८३	८३	८१	८२	८३	८१	८०	८०	८०

सर्वमार्गणासु सप्तकर्मणां जघन्य उत्कृष्टश्च बन्धकालो यथाक्रमं स्वकीया स्वकीया जघन्योत्कृष्टा च कायस्थितिः प्रोक्ता, सा च प्रमाणतः कियती भवति ? इति जिज्ञासानोदित आदौ तावद् नर त्यादिमार्गणानां कायस्थितिं प्राह—

कायठिई उक्कोसा णिरयसुराणं विभंगणाणस्स ।
किण्हसुइलखइयाणं तेत्तीसा सागरा णेया ॥८४॥

(प्रे०) 'कायठिई' इत्यादि, 'कायस्थितिः' काय इह पर्यायः परिगृह्यते, काय इव काय इत्युपमानात् । स च द्विविधः, सामान्यरूपो विशेषरूपश्चेति, तत्र सामान्यरूपो निर्विशेषणो जीवत्वलक्षणः, विशेषरूपस्तु नैरयिकत्वादिलक्षणः । तस्य स्थितिः=अवस्थान कायस्थितिः । सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा पर्यायेणाऽऽदिष्टस्य जीवस्य याऽव्यवच्छेदेन वृत्तिः, सा कायस्थितिरित्यर्थः, यथा जीवत्वरूपेण सामान्यपर्यायेण नैरयिकत्वकृष्णलेश्यादिरूपविशेषपर्यायेण वाऽऽदिष्टस्य जीवस्य याऽव्यवच्छेदेन वृत्तिः सर्वाद्धालक्षणा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमादिरूपा च, सा कायस्थितिः, यतो जीवो न कदाचिदपि जीवत्वपर्यायं जहाति, मुक्तावस्थायामपि ज्ञानादिभावप्राणसद्भावेन जीवत्वोपपत्तेः । नैरयिकत्वकृष्णादिलेश्यापर्यायं तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमादिप्रमाणकालमनुभूय जहाति ।

सा च कायस्थितिर्द्विधा जघन्योत्कृष्टभेदात् । तत्र नैरयिकत्वादिपर्याया-ऽऽदिष्टस्य जीवस्या-ऽव्यवच्छेदेनोत्कृष्टतस्तत्तत्पर्यायेणऽवस्थानम् उत्कृष्टा कायस्थितिः, नैरयिकत्वादिपर्यायाऽऽदिष्टस्य जीवस्या-ऽव्यवच्छेदेन जघन्यतस्तत्तत्पर्यायेणाऽवस्थानं जघन्यकायस्थितिः । इहादौ तावदेकजीवमाश्रित्योत्क ायस्थितिं निरूपयितुकामो नरकगत्यादिमार्गणाः संगृह्य प्राह—'**उक्कोस्सा**' इत्यादि, उत्कृष्टा 'सुरनिरयोः' सुरस्य=देवगतेः, निरयस्य=नरकगतेश्च 'विभङ्गज्ञानस्य' विभङ्गज्ञानमार्गणायाः 'कृष्णशुक्लक्षायिकाणां' कृष्णलेश्या-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणानां मार्गणानां सर्वसंख्यया षण्णां मार्गणानां 'त्रयस्त्रिंशत्' त्रयस्त्रिंशत्सख्याकाः 'सागराः' महत्त्वसाम्यात् सागरोपमाः 'ज्ञेया' बोद्धव्या । इयमत्र भावना—नारकास्तथास्वाभाव्यात् स्वकीयभवाच्च्युत्वा तदनन्तरं न पुनर्नारकत्वेन समुत्पद्यन्ते, तस्मात् कारणात् सप्तमपृथिवीनारकाणां चोत्कृष्टायुष्कस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोममात्रत्वादुत्कृष्टकायस्थितिरपि तावन्मात्र्येव भवति , उक्तं चाऽऽ**र्यश्यामपादैः प्रज्ञापनासूत्रे**—
"नेरइए ण भंते । नेरइए त्ति कालओ केच्चिर होइ ? गोयमा ! जहन्नेण दसवाससहस्साइ उक्कोसेण तेत्तीस सागरोवमाइ ।" इति ।

एवमेकजीवमाश्रित्य देवगतेरपि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाण्युत्कृष्टकायस्थितिर्निश्चेतव्या, देवभवतश्च्युत्वाऽनन्तरभवे देवत्वेना-ऽनुत्पादाद् अनुत्तरसुरस्य चोत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकायुष्कत्वात् ।

कृष्णलेश्या-शुक्ललेश्ययोरुत्कृष्टकायस्थितिर्यथासख्य नारकत्रिदशौ समाश्रित्य सामान्येन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, विशेषतः पुनरन्तर्मुहूर्ताभ्याधिकानि, **प्रज्ञापनादिसूत्रेषु** तथोक्तत्वात् , तथा चात्र

श्रीप्रज्ञापनासूत्रम्–"कण्हलेसे ण भंते । कण्हलेसे त्ति कालतो केवचिर होइ ? गो०? जह० अंतो० उक्को० तेत्तीस सागरोवमाइ अंतोमुहूत्तमब्भहियाइ । ××× सुक्कलेसे ण पुच्छा०, गो० । जह० अंतो०, उक्को० तेत्तीस सागरोवमाइ अंतोमुहूत्तमब्भहियाइ ।" इति । भावना त्वित्थं कार्या–कश्चिद् मनुष्यस्तिर्यङ् वाऽन्तर्मुहूर्तं कृष्णलेश्यया परिणतो जीवः सप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकनारकत्वेनोत्पन्नः, स स्वायुः परिपाल्य नारकस्तिर्यक्षूत्पद्यते, तत्र प्रथमाऽन्तर्मुहूर्तं कृष्णलेश्याकत्वेन तिष्ठति । ततो लेश्यान्तरं लभते । इत्थं पूर्वोत्तरभवगतमन्तर्मुहूर्तद्वयं नारकाणां चाऽवस्थितलेश्याकत्वाद् नारकभवस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, अन्तर्मुहूर्तकालस्य त्वसंख्येयभेदभिन्नत्वेनाऽन्तर्मुहूर्तद्वयस्याऽप्यन्तर्मुहूर्तत्वाद् अन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि कृष्णलेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिः । शुक्ललेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुत्तरसुरमाश्रित्य भावनीया, अनुत्तरसुराणां शुक्ललेश्याकत्वात् तेषां चोत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकत्वात् ।

विभङ्गज्ञानस्योत्कृष्टकायस्थितिर्नैरयिकाणामुत्कृष्टभवस्थितिप्राधान्येन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भणिता, किन्तु तत्तन्मतानुसारेण यथागमं विबुधजनैर्हीनाऽधिका परिभावनीया । तथाहि-**प्रज्ञापनासूत्रकारमतेन** देशोनपूर्वकोटिवर्षाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि विभङ्गज्ञानस्योत्कृष्टकायस्थितिः । अक्षराणि त्वेवम्–"विभंगणाणी ण भंते । पुच्छा, गो० । जहण्णेण एगं समयं उक्कोसेण तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणाते पुव्वकोडीते अब्भहिताइं ।।" इति । भावना त्वित्थं कार्या-कश्चिन्मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यस्तिर्यङ् वा पूर्वकोट्यायुष्कः कतिपयवर्षातिक्रमे विभङ्गज्ञानी जायते, जातश्चा-ऽप्रतिपतितविभङ्गज्ञान एवाऽविग्रहगत्या सप्तमनरकपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकनैरयिकत्वेनोत्पद्यते, तदा भवति यथोक्तमुत्कृष्टं मानम् । तत ऊर्ध्वं तु सम्यक्त्वलाभेना–ऽवधिज्ञानोत्पत्तितः सर्वथा वाऽपगमात् तद्विभङ्गज्ञानं व्यवच्छिद्यते ।

इदमत्राऽवधेयम्– **प्रज्ञापनावृत्त्यभिप्रायेणा**ऽप्रतिपतितविभङ्गज्ञाना जीवा मनुष्यतिर्यञ्चः सप्तमपृथविनारकेषु संजायन्ते, नारकाः पुनस्तिर्यक्षूत्पद्यन्त इति । नन्वेवं तर्हि विभङ्गज्ञानस्य कायस्थितिः किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिद्वयाधिकत्रयस्त्रिंशत्सारोपमप्रमाणा स्यात् ? इति चेत्, न, देशोनपूर्वकोट्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमत ऊर्ध्वमवश्य सम्यक्त्वप्राप्त्या सर्वथा वाऽपगमेन विभङ्गज्ञानाभावात् ।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्राऽभिप्रायेण तु स्वभवपरित्यागकाले नारको विभङ्गज्ञानं जहाति । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–विभङ्गज्ञानी नारको नोद्वर्तते=न परिच्यवते, यदुक्तं **व्याख्याप्रज्ञप्तौ**–"विभंगनाणी ण उववट्टति ।" इति । किञ्च **पञ्चसंग्रहादिकारै**र्विभङ्गज्ञान औदारिकमिश्रकाययोगो निषिद्धः, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहे**–

'मणनाणविभगेसु मीस उरल वि नारयसुरेसु। केवलथावरविगले वेउव्विदुगं न सभवइ ॥१॥" इति।

तेन नरकत उत्पद्यमानानां जीवानां मनुष्यतिरश्चां विभङ्गज्ञानं न भवतीति सिद्ध्यति।

अन्ये पुनराहु:—अप्रतिपतितविभङ्गज्ञानो जीवो नरकतोऽन्यत्राऽन्यतो वा नरके न समुत्पद्यत इति। कथमेतदवसीयते? इति चेत्, उच्यते—**पञ्चसंग्रहमूलटीकाकारेण** कार्मणकाययोगं विवर्णयता विभङ्गज्ञाने कार्मणकाययोगः प्रतिषिद्धः, तत्र हेतुस्तु विभङ्गज्ञानस्य तद्भविकत्वमित्युपन्यस्तः। तथा च **तद्ग्रन्थः**—××××चक्षुर्दर्शन-मन पर्यायज्ञान-विभङ्गाहारकद्वारेषु न भवति, कथ? विग्रहगतौ कार्मणशरीरसद्भावात् तत्र चक्षुर्दर्शनाभावात्। यद्यपि लब्धिमङ्गीकृत्य तद्विद्यते, तथापि न तदाद्रियते यतो लब्ध्यपर्याप्तकानामुपयोगत्रयमेवोक्तम्। मन पर्यायज्ञान तु सुसाधुषु भवति, तत्र तस्याऽसद्भाव एव, विभङ्गस्य तु तद्भविकत्वात् आहारककार्मणयोर्विरोधात् कार्मणशरीर न भवति।" इति।

किञ्च प ग्रहमूलकारेणाऽपि विभङ्गज्ञान एक एव पर्याप्तजीवभेदो दर्शितः। तथा च **तद्ग्रन्थः**—"एक मणनाणकेवल विभङ्गे" इति। तदेवं सिद्ध्यति—अपर्याप्ता-ऽवस्थायां मनःपर्यायकेवलज्ञानवद् विभङ्गज्ञानमपि न भवतीति। ततश्च सप्तमनरकपृथिव्यामपर्याप्ता-ऽवस्थाप्रथमा-ऽन्तर्मुहूर्तं व्यतिक्रम्य जीवो विभङ्गज्ञानी भवति, स च विभङ्गज्ञानमाभवं परिपालयति। इत्थमन्तर्मुहूर्तन्यूनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टकायस्थितिरन्येषां मतेन संभवति, नारकतदितरलक्षणभवद्वयस्याऽपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानाभावात्। यत्पुनः **पञ्चसंग्रहमूलवृत्तिकृता** उपयोगद्वारेऽनाहारकमिथ्यादृष्टेर्विभङ्गज्ञानं दर्शितम्, तथा **तद्ग्रन्थः**-"अनाहारकस्य मिथ्यादृष्टेश्चत्वारस्त्रय प्रागवत्, विभङ्ग कालसौकर्यस्येव।" इति। विभङ्गज्ञाने च कार्मणकाययोगो निषिद्धो योगद्वारे। तत्कि **वृत्तिकृता** मतद्वयसंग्रहार्थं द्वारान्तरे भिन्नमुक्तम्, उताऽभिप्रायान्तरेण, तत्त्वं केवलिनो बहुश्रुता वा विदन्ति।

क्षायिकसम्यक्त्वस्योत्कृष्टकायस्थितिस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि किञ्चिन्न्यूनमनुष्यभवद्वयाधिकानि द्रष्टव्या। भावना त्वित्थम्—कश्चित् चतुर्विंशतिमोहनीयसत्कर्मा सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः क्षायिकसम्यक्त्वं लब्धवान्, ततः संयमं प्रतिपद्य क्रमेण च स्वायुः परिपाल्या-ऽनुत्तरेषूत्पद्यते, ततोऽनुत्तरदेवतो मनुष्यत्वेन समुत्पद्यते। मनुष्यभवे स्वक्षपकश्रेणिप्रतिपत्तियोग्यजघन्यकालमात्र आयुष्के शेषे क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, प्रतिपन्नश्च क्रमेण सयोगिकेवलिगुणस्थानकं प्राप्याऽयोगिकेवलिगुणस्थानकं लभते। तदेवं किञ्चिन्न्यूनमनुष्यभवद्वयेनाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि कायस्थितिर्लभ्यते नन्वयोगिकेवलिगुणस्थानकप्राप्तौ सत्यामप्ययोगिकेवलिनां सिद्धाना च क्षायिकसम्यक्त्वस्याऽविनाशात् क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिः साद्यनन्तकालो लभ्यत इति, तत्कथं सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकाल उच्यते? इति चेत्, भण्यते, मा त्वरिष्ठाः, इयं कायस्थितिः प्रकृतिबन्धमाश्रित्य प्रोक्ता, प्रकृतिबन्धश्च सयोगिकेवलिगुणस्थानकादूर्ध्वं न भवति। बन्धकनिरपेक्षा

त्वग्रे वक्ष्यते "साइअणंता" इत्यादिना । एवमन्यत्राऽपि यथास्थानं प्रकृतिबन्धमाश्रित्य बोधनीया मार्गणानां कायस्थितिः ॥८४॥

सम्प्रति नरकगतेरवान्तरभेदानामेकजीवाश्रितामुत्कृष्टकायस्थितिं वक्तुकाम आह—

पढमाइगनिरयाणं कमसो एगो य तिण्णि सत्त दस।
सत्तरह य बावीसा तेत्तीसा सागरा णेया ॥८५॥

(प्रे०) 'पढमाइ०' इत्यादि, 'प्रथमादिनिरयाणां' प्रथम आदौ येषाम् , ते प्रथमादिकाः, ते च ते निरयाश्च प्रथमादिकनिरयाः,, तेषाम्, रत्नप्रभा–शर्कराप्रभा-वालुकाप्रभा-पङ्कप्रभा-धूमप्रभा-तमःप्रभा-महातमःप्रभागतानां सप्तानां निरयभेदानामित्यर्थः, 'क्रमशः' क्रमेण एकः; चकारः पादपूर्त्यै, एवमग्रेऽपि, त्रयः, सप्त दश सप्तदश द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशत् 'सागराः' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सागरोपमाः, 'ज्ञेया" प्रस्तुतत्वाद् एकजीवाश्रयोत्कृष्टा कायस्थितिर्बोध्या । इदमुक्तं भवति–प्रथमपृथिवीनरकस्यैकजीवविषयोत्कृष्टकायस्थितिरेकः सागरोपमः, "अर्थवशाद् वचनविपरिणाम" इति न्यायेन बहुवचनान्तसागरोपमशब्दस्यैकवचनान्तत्वेन विपरिणामः, द्वितीयपृथिवीनरकस्य त्रिसागरोपमाः, तृतीयपृथिवीनरकस्य सप्तसागरोपमाः, चतुर्थपृथिवीनरकस्य दशसागरोपमाः, पञ्चमपृथिवीनरकस्य सप्तदश सागरोपमाः, षष्ठपृथ्वीनरकस्य द्वाविंशतिः सागरोपमाः, सप्तमपृथिवीनरकस्य च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः, यतो नारकाणां तद्भवतश्च्युत्वा-ऽनन्तरभवे नारकत्वेना-ऽनुत्पादादुत्कृष्टभवस्थितिरेवोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति । उत्कृष्टभवस्थितिश्च रत्नप्रभादिषु जीवानां **वाचकमुख्यैस्तत्त्वार्थसूत्रे** यथोक्तप्रमाणैवा-ऽभिहिता । तथा च **तद्ग्रन्थः**–"तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वाना परा स्थिति ।" इति । अत्र 'तेषु'=रत्नप्रभादिनरकेषु । इयं तूत्कृष्टकायस्थितिरेकजीवाश्रिता सामान्यत उक्ता । विशेषतः पुनस्तत्तत्पृथिवीप्रस्तटेषु भिन्ना भिन्ना नारकाणामुत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, उत्कृष्टभवस्थितेस्तथात्वाद् नारकाणां च भवस्थितेरेव कायस्थितित्वात् । एतदुक्तं भवति–प्रथमपृथिव्यां त्रयोदश (१३) नरकप्रस्तटाः; द्वितीयस्यां पृथिव्यामेकादश (११), तृतीयस्यां नव (७) । ततो द्वाभ्यां द्वाभ्यां हीनास्तावद् वक्तव्याः, यावत् सप्तमी नरकपृथिवी । तस्यां तु त्वेक एव प्रस्तटः । उक्तं श्रीजि **भद्रगणिक्षमाश्रमणैः**–

"तेरिक्कारस नव सत्त पंच तिन्नेव हुंति इक्को य । पत्थडसंखा एसा, सत्तसु वि कमेण पुढवीसु ॥१॥" इति

तत्र प्रथमपृथिव्या रत्नप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकस्योत्कृष्टकायस्थितिर्नवतिर्वर्षसहस्राणि (९०,०००)द्वितीयप्रस्तटे वर्षाणां नवतिर्लक्षाः, (९००००००)तृतीये 卐 प्रस्तटे पूर्वकोटिर्वर्षाणाम्

卐 धवलाकारास्तु प्राहुरसंख्येयपूर्वकोटीप्रमाणामुत्कृष्टकायस्थिति प्रथमनरकतृतीयप्रस्तटे । अक्षराणि त्वेवम्–"तदियपत्थडे ×××× उक्कोस्समसंखेज्जाओ पुव्वकोडीओ ।" इति ।

चतुर्थे प्रस्तट एकः सागरोपमस्य दशभागः (१/१०) पञ्चमे प्रस्तटे द्वौ सागरोपमस्य दशभागौ (२/१० × १ सा) षष्ठे प्रस्तटे त्रयः सागरोपमस्य दशभागाः (३/१० × १ सा) सप्तमे प्रस्तटे चत्वारः सागरोपमस्य दशभागाः (४/१० × १) अष्टमे प्रस्तटे पञ्च सागरोपमस्य दशभागाः (५/१० × १ सा) नवमे प्रस्तटे षट् सागरोपमस्य दशभागाः (/१० × १ सा) दशमे प्रस्तटे सप्त सागरोपमस्य दशभागाः (७/१० × १ सा) एकादशे प्रस्तटेऽष्ट सागरोपमस्य दशभागाः, (८/१० × १) द्वादशे प्रस्तटे नव सागरोपमस्य दशभागाः (९/१० × १ सा), त्रयोदशे प्रस्तट एकं सागरोपमं भवति, यतो नारकाणां पुनरनन्तरभवे नारकत्वेनाऽनुत्पादादुत्कृष्टभवस्थितिरेवोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, तत्तत्प्रस्तटस्थानां च नारकाणामुत्कृष्टभवस्थितिश्च यथोक्तप्रमाणा, यदुक्त **श्रीमज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादैर्बृहत्संग्रहण्याम्—**

"दस नउई य सहस्सा, पढमे पयरम्मि ठिइ जहन्नियरा । सा सयगुणिआ बिइए, तइयम्मि पुणो इमा होइ ॥१॥
नउई लक्ख जहन्ना, उक्कोसा पुव्वकोडि निद्दिट्ठा । आईल्लपुव्वकोडी दसभागो सायरस्सियरा ॥२॥
दसभागो पचमए दो दसभागा य होइ उक्कोसा । एगुत्तरवुड्ढीए दसेव भागा भवे जाव ॥३॥" इति ।

द्वितीयादिनरकपृथिवीषु पुनः पूर्वपृथिवीगतोत्कृष्टस्थितिः स्वोत्कृष्टस्थितितो विशोधयितव्या । विशोधने च कृते यदवशिष्यते, तत् स्वप्रस्तटैर्विभज्यते, तदा यद् लभ्यते, तदिष्टप्रस्तटमानेन गुण्यते, गुणिते च सति यदागच्छति, तेन सहिता पूर्वपृथिवीगतोत्कृष्टस्थितिस्तत्प्रस्तट उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । यथा शर्कराप्रभायामुत्कृष्टस्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि, तेभ्यो रत्नप्रभोत्कृष्टस्थितिरेकसागरोपमप्रमिता विशोध्यते । तदा द्वे सागरोपमे अवशिष्येते । ते च शर्कराप्रभागतैरेकादशप्रस्तटैर्विभज्येते, तदा लभ्येते द्वौ सागरोपमस्यैकादशभागौ (२/११), तौ चेष्टप्रस्तटमानेनैकेन गुण्यते, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति तावेव द्वौ सागरोपमस्यैकादशभागौ जातौ, ताभ्यां च सहिता पूर्वपृथिवीलक्षणरत्नप्रभागतोत्कृष्टस्थितिः शर्कराप्रभायाः प्रथमे प्रस्तट उत्कृष्टस्थितिरेकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ । यदि पुनर्द्वितीयप्रस्तट उत्कृष्टस्थितिर्ज्ञातुमिष्यते, तर्हि तौ द्वौ सागरोपमस्यैकादशभागौ द्वाभ्यां गुण्येते, जाताश्चत्वारः सागरोपमस्यैकादशभागाः, तैर्युक्ता रत्नप्रभापृथिव्युत्कृष्टस्थितिः शर्कराप्रभाया द्वितीयप्रस्तट उत्कृष्टस्थितिश्चतुर्भिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकसागरोपमं भवति । एवमग्रेऽपि भावनीयम् । अनेन कारणेन शेषपृथिवीनां प्रस्तटेषूत्कृष्टस्थितिर्निश्चेतव्या । तथाहि—शर्कराप्रभायाः प्रथमप्रस्तट उत्कृष्टा स्थितिरेकजीवाश्रिता एकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ (१ २/११), द्वितीयप्रस्तटे चतुर्भिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ ४/११), तृतीय एकं सागरोपमं षट्सागरोपमस्यैकादशभागाः (१ ६/११), चतुर्थ एकं सागरोपममष्टौ च सागरोपमस्यैकादशभागाः (१ ८/११), पञ्चम एकं सागरोपमं दश च सागरोपमस्यैकादशभागाः (१ १०/११), षष्ठ एकेन सागरोपमस्यैकादशभागेनाऽधिके द्वे सागरोपमे (२ १/११), सप्तमे त्रिभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे सागरोपमे (२ ३/११), अष्टमे पञ्चभिः

सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे (२ ५/११) सागरोपमे, नवमे सप्तभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे (२ ७/११) सागरोपमे, दशमे नवभिः सागरोपमस्यैकादशभागैर्युक्ते द्वे (२ ९/११) सागरोपमे, एकादशे च प्रस्तटे त्रीणि (३) सागरोपमाणि परिपूर्णानि ।

वालुकाप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य नवभागाः (३ ४/९), द्वितीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाण्यष्टौ च सागरोपमस्य नवभागाः (३ ८/९), तृतीये प्रस्तटे चत्वारि सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य नवभागाः (४ ३/९) चतुर्थे सप्तभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि (४ ७/९) सागरोपमाणि, पञ्चमे द्वाभ्यां सागरोपमस्य नवभागाभ्यामधिकानि पञ्च (५ २/९) सागरोपमाणि, षष्ठे प्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्य नवभागैर्युक्तानि पञ्च (५ ६/९) सागरोपमाणि, सप्तमे प्रस्तट एकेन सागरोपमस्य नवभागेन युतानि षट् (६ १/९) सागरोपमाणि, अष्टमे पञ्चभिः सागरोपमस्य नवभागैर्युक्तानि षट् सागरोपमाणि (६ ५/९) नवमे प्रस्तटे सप्त सागरोपमाणि (७) परिपूर्णानि ।

चतुर्थपृथिव्याः पङ्कप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकस्योत्कृष्टस्थितिस्त्रिभिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि सप्त (७ ३/७) सागरोपमाणि, द्वितीयप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरभ्यधिकानि सप्त (७ ६/७) सागरोपमाणि, तृतीयप्रस्तटे द्वाभ्या सागरोपमस्य सप्तभागाभ्यामधिकान्यष्टौ (८ २/७) सागरोपमाणि, चतुर्थप्रस्तटे पञ्चभिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकान्यष्ट (८ ५/७) सागरोपमाणि, पञ्चमे प्रस्तट एकेन सागरोपमस्य सप्तभागेनाऽधिकानि नव (९ १/७) सागरोपमाणि, षष्ठे प्रस्तटे चतुर्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि नव (९ ४/७) सागरोपमाणि, सप्तमे प्रस्तटे परिपूर्णानि दश (१०) सागरोपमाणि ।

धूमप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकस्योत्कृष्टा स्थितिर्द्वाभ्यां सागरोपमस्य पञ्चभागाभ्यामधिकान्येकादश (११ २/५) सागरोपमाणि, द्वितीयप्रस्तटे चतुर्भिः सागरोपमस्य पञ्चभागैरधिकानि द्वादश (१२ ४/५) सागरोपमाणि, तृतीयप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य पञ्चभागेन युक्तानि चतुर्दश (१४ १/५) सागरोपमाणि, चतुर्थे प्रस्तटे त्रिभिः सागरोपमस्य पञ्चभागैरधिकानि पञ्चदश (१५ ३/५) सागरोपमाणि, पञ्चमप्रस्तटे सप्तदश (१७) सागरोपमाणि परिपूर्णानि ।

षष्ठपृथिव्यास्तमःप्रभाया प्रथमप्रस्तटे द्वाभ्यां सागरोपमस्य त्रिभागाभ्यामधिकान्यष्टादश (१८ २/३) सागरोपमाणि, द्वितीयप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य त्रिभागेनाधिकानि विंशतिः (२० १/३) सागरोपमाणि, तृतीयप्रस्तटे द्वाविंशतिः सागरोपमाणि (२२) परिपूर्णानि ।

सप्तमपृथिव्या महातमःप्रभायामेक एव प्रस्तटः । तत्रोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि (३३) भवति । नारकाणां चाऽनन्तरभवे नारकत्वेनोत्पत्तेरयोगादुत्कृष्टकायस्थितिरपि यथोक्तप्रमाणैव । तदेवं प्रसङ्गतो नरकगतेः प्रस्तटेषूत्कृष्टकायस्थितिर्व्याख्याता, तद्व्याख्याने च समाप्ते नरकगतेरुत्कृष्टकायस्थितेर्व्याख्यानं परिसमाप्तं भवति ॥८५॥

सम्प्रति तिर्यग्गतेरेकजीवाश्रयां कायस्थितिं प्ररूपयितुकामो वक्तव्यतासाम्यादेकेन्द्रियादि-मार्गणा अपि संगृह्य प्राह—

णेया उ असंखेज्जा परियट्टा पुग्गलाण तिरियस्स ।
एगिंदियहरिआणं कायणपुंसगअसण्णीणं ॥८६॥

(प्रे०) '**णेया**' इत्यादि, 'ज्ञेया' एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिर्बोध्या, कियती ? इत्याह-'**असं खेज्जा**' इत्यादि, 'असंख्येयाः' असख्याताः 'परावर्ताः पुद्गलानां' पुद्गलपरावर्ताः 'तिरश्चः' तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणाया 'एकेन्द्रियहरितयोः' एकेन्द्रियस्य=एकेन्द्रियसामान्यमार्गणाया हरितस्य=वनस्पतिसामान्यमार्गणायाश्च, 'कायनपुंसकाऽसंज्ञिनां' कायस्य=काययोगसामान्यमार्गणाया नपुंसकवेदमार्गणाया असंज्ञिनः=असंज्ञिमार्गणायाश्च । गाथायाः प्रथमपादे प्रोक्तस्तुकारो विशेषार्थः । स चावलिकाया असंख्येयतमभागे यावन्तः समयाः, तावत्प्रमाणा असंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता बोध्या इति विशिनष्टि । अयं भावः-कश्चिज्जीवः मृत्वा पुनः पुनस्सामान्येन तिरश्च्येवोत्पद्यमानः क्षेत्रत आवलिका-ऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणपुद्गलपरावर्तान् यावदवतिष्ठते, कालतः पुनरनन्तानन्तोसर्पिण्यवसर्पिणीलक्षण कालं यावदवतिष्ठते, परतोऽवश्यं गत्यन्तरे समुत्पद्यते, तेन यथोक्ता कायस्थितिर्लभ्यते । एवमेकेन्द्रियादीनामपि कायस्थितेर्भावना कर्तव्या, यदुक्तं **प्रज्ञापनासूत्रे**-"तिरिक्खजोणिए ण भंते ! तिरिक्खजोणिए त्ति कालओ केवचिर होइ ? गोयमा ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण अणतं कालं अनंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणता लोगा असंखेज्जपोग्गलपरियट्टा, ते ण पुग्गलपरियट्टा, आवलियाए असंखिज्जइभागे । × × × × × ×—एगिंदिए ण भंते ! एगिंदिए त्ति कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण अणतं कालं वणस्सइकालो । × × × × वणस्सइकाइया ण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण अणतं कालं अणताओ उस्सप्पिणिअवसप्पिणिओ कालओ, खेत्तओ अणता लोगा असंखेज्जा पुग्गलपरियट्टा, ते ण पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो । × × × × कायजोगी ण भंते ! काल० ? गो० ! जहन्नेण अंतो० उक्को० वणप्फइकालो । × × × नपुंसगवेए ण भंते ? नपुंसगवेदे त्ति पुच्छा, गो० ! ज० एग समय, उक्को० वणस्सइकालो ।" इति । अत्र साव्यवहारिकजीवान् समाश्रित्य कायस्थितिर्बोध्या, अन्यथाऽसांव्यवहारिकजीवान् प्रतीत्य तु तिर्यग्गति-वनस्पतिकायादीनां भूयो भूयो निगोदत्वेनोत्पद्यमानानां कायस्थितिरनाद्यपर्यवसानाऽनादिसान्ता चा-ऽपि स्यात् । इदमुक्तं भवति-निगोदा-ऽवस्थात उद्वृत्य पृथिवीकायिकादिषु ये वर्तन्ते, ते लोकेषु दृष्टिपथमागताः सन्तः पृथिवीकायिकादिव्यवहार लभन्त इति सांव्यवहारिका उच्यन्ते । ये पुनर्निगोदा-ऽवस्थामुपगता एवा-ऽवतिष्ठन्ते, ते व्यवहारपथा-ऽतीतत्वादसांव्यवहारिका भण्यन्ते । तत्रा-ऽपि येऽसांव्यवहारिका जीवा जातु कदाचिदपि सांव्यवहारिकराशौ न पतिष्यन्ति, तानाश्रित्य तिर्यग्गतेः कायस्थितिरनाद्यपर्यवसाना सम्पद्यते, एवमेकेन्द्रियादीनामपि, निगोदावस्थायामेकेन्द्रियजाति-काययोग-नपुंसकवेदाऽसंज्ञित्वानामुपलम्भात् । ये-ऽसांव्यवहारिका जीवा

आगामिनि काले सांव्यवहारिकराशौ आगमिष्यन्ति, तान् समाश्रित्य तिर्यग्गत्यादीनां कायस्थितिरनादिसान्ता बोध्या। असांव्यवहारिकतः सांव्यवहारिकत्वेनोत्पत्तिस्तु सूत्रसिद्धा, पूर्वमहर्षिभिरुक्तत्वात्, तथा चोक्तं **श्रीमज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः**—

सिज्झन्ति जत्तिया किर इह सववहारजीवरासीओ। एंति अणाइवणस्सइरासीओ तत्तिया तम्मि॥१॥" इति।

इह प्रकृतग्रन्थे तु सांव्यवहारिकजीवराशिमधिकृत्य तिर्यग्गत्यादीनामसंख्येयपुद्गलपरावर्ता उत्कृष्टकायस्थितिरुक्ता ॥८६॥

तिर्यग्गतिमार्गणायाः प्रभेदानामेकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिं विभणिषुस्तत्साम्यतोऽन्या अपि मार्गणाः संगृह्य प्राह—

तिपणिंदियतिरियाणं तिणराणं च पलिओवमा तिण्णि।
अब्भहिया पुव्वाणं कोडिपुहुत्तेण णायव्वा ॥८७॥

(प्रे०) **'तिपणिंदिय०'** इत्यादि 'त्रिपञ्चेन्द्रियतिरश्चाम्' अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणाया अनन्तरगाथया वक्ष्यमाणत्वात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्य-पञ्चेन्द्रियतिरश्ची-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणानां तिसृणां मार्गणाना 'त्रिनराणाम्' अपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया अनन्तरगाथया निरूपयिष्यमाणत्वाद् मनुष्यगतिसामान्य-मानुषी-पर्याप्तमनुष्यरूपाणां त्रयाणां मार्गणास्थानानां च प्रत्येकं पूर्वाणा कोटीपृथक्त्वेनाऽभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि 'ज्ञातव्या' एकजीवविषयोत्कृष्टकायस्थितिर्बोध्या। कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, उच्यते—पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्तत्रैव तिर्यक्षु, मनुष्यास्तु मनुष्येष्वेव पुनः पुनरुत्पद्यमाना उत्कृष्टतो निरन्तरं सप्ता-ऽष्टौ वा भवान् गृह्णन्ति, नाधिकान्, "नरतिरियाण सगट्ठभवा"। इति **पञ्चसङ्ग्रहकारवचनप्रामाण्यात्**। तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च पूर्वकोटिस्थितिकेषूत्कृष्टतः सप्तसु भवेषूत्पद्यन्ते, ततोऽष्टमे भवे तिर्यञ्चस्तिर्यक्षु, मनुष्यास्तु मनुष्येषु त्रिपल्योपमस्थितिकेषु देवकुर्वादिक्षेत्रे समुत्पद्यन्ते, ततो देवेषु, कुतः ? इति चेत्, उच्यते—संख्येयवर्षायुष्कमभवग्रहणमनन्तरं यदि तिर्यञ्चस्तिर्यक्त्वेन मनुष्याश्च मनुष्यत्वेन समुत्पद्यन्ते, तर्हि नियमादसंख्येयवर्षायुष्केषु, ततश्च च्युत्वा नियमाद् देवेषूत्पद्यन्ते, युगलिकधर्माणां जीवानां देववर्जगत्यन्तरे समुत्पत्त्यभावात्। तेन भवति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाया मनुष्यमार्गणायाश्चैकजीवाश्रितोत्कृष्टा कायस्थितिः सप्तपूर्वकोट्यधिकत्रिपल्योपममात्री, 卐 यदुक्त च **जीवसमासप्रकरणे**—

卐 धवलाकारास्तु—"अपणिदिएहिंतो आगतूण पचिंदियतिरिक्ख-पचिंदियतिरिक्खपज्जत्त-पचिंदियतिरिक्खजोणिणीसु उप्पज्जिय जहाकमेण पचाणउदि सत्तेत्तालीस-पण्णारसपुव्वकोडीओ परिभमिय दाणेण दाणाणुमोदणेण वा तिपलिदोवमाउट्ठिदिएसु तिरिक्खेसु उप्पज्जिय सगभाउट्ठिदिमच्छिय देवेसु उप्पण्णस्स एत्तियमेत्तकालस्सुवलभादो। ×××× अणप्पिदेहिंतो आगतूण अप्पिदमणुसेसुववज्जिय सत्तेतालीस-तेवीस सत्तपुव्वकोडीओ जहाकमेण परिभमिय दाणेण दाणाणुमोदेण वा त्तिपलिदोवमाउट्ठिदिमणुस्सेसुप्पण्णस्स तदुवलभादो।" इति वदन्ति।

आगामिनि काले सांव्यवहारिकराशौ आगमिष्यन्ति, तान् समाश्रित्य तिर्यग्गत्यादीनां कायस्थितिरनादिसान्ता बोध्या । असांव्यवहारिकतः सांव्यवहारिकत्वेनोत्पत्तिस्तु सूत्रसिद्धा, पूर्वमहर्षिभिरुक्तत्वात्, तथा चोक्तं **श्रीमज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः—**

सिज्झन्ति जत्तिया किर इह संववहारजीवरासीओ । एंति अणाइवणस्सइरासीओ तत्तिया तम्मि॥१॥" इति ।

इह प्रकृतग्रन्थे तु सांव्यवहारिकजीवराशिमधिकृत्य तिर्यग्गत्यादीनामसंख्येयपुद्गलपरावर्ता उत्कृष्टकायस्थितिरुक्ता ॥८६॥

तिर्यग्गतिमार्गणायाः प्रभेदानामेकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिं विभणिषुस्तत्साम्यतोऽन्या अपि मार्गणाः संगृह्य प्राह—

तिपणिंदियतिरियाणं तिणराणं च पलिओवमा तिण्णि ।
अब्भहिया पुव्वाणं कोडिपुहुत्तेण णायव्वा ॥८७॥

¹(प्रे०) 'तिपणिंदिय०' इत्यादि 'त्रिपञ्चेन्द्रियतिरश्चाम्' अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणाया अनन्तरगाथया वक्ष्यमाणत्वात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्य-पञ्चेन्द्रियतिरश्ची-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणाना तिसृणां मार्गणाना 'त्रिनराणाम्' अपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया अनन्तरगाथया निरूपयिष्यमाणत्वाद् मनुष्यगतिसामान्य-मानुषी-पर्याप्तमनुष्यरूपाणां त्रयाणां मार्गणास्थानानां च प्रत्येकं पूर्वाणां कोटीपृथक्त्वेनाऽभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि 'ज्ञातव्या' एकजीवविषयोत्कृष्टकायस्थितिर्बोध्या । कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, उच्यते—पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्तत्रैव तिर्यक्षु, मनुष्यास्तु मनुष्येष्वेव पुनः पुनरुत्पद्यमाना उत्कृष्टतो निरन्तरं सप्ताऽष्टौ वा भवान् गृह्णन्ति, नाधिकान्, "नरतिरियाण सगट्ठभवा" । इति **पञ्चसङ्ग्रहकारवचनप्रामाण्यात्** । तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च पूर्वकोटिस्थितिकेषूत्कृष्टतः सप्तसु भवेषूत्पद्यन्ते, ततोऽष्टमे भवे तिर्यञ्चस्तिर्यक्षु, मनुष्यास्तु मनुष्येषु त्रिपल्योपमस्थितिकेषु देवकुर्वादिक्षेत्रे समुत्पद्यन्ते, ततो देवेषु, कुतः ? इति चेत्, उच्यते—संख्येयवर्षायुष्कभवग्रहणमनन्तरं यदि तिर्यञ्चस्तिर्यक्त्वेन मनुष्याश्च मनुष्यत्वेन समुत्पद्यन्ते, तर्हि नियमादसंख्येयवर्षायुष्केषु, ततश्च च्युत्वा नियमाद् देवेषूत्पद्यन्ते, युगलिकधर्माणां जीवानां देववर्जगत्यन्तरे समुत्पत्त्यभावात् । तेन भवति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाया मनुष्यमार्गणायाश्चैकजीवाश्रितोत्कृष्टा कायस्थितिः सप्तपूर्वकोट्यधिकत्रिपल्योपममात्री, 卐 यदुक्तं च **जीवसमासकरणे—**

---

¹ धवलाकारास्तु—"अपणिदिएहितो आगतूण पचिंदियतिरिक्ख-पचिंदियतिरिक्खपज्जत्त-पचिंदियतिरिक्खजोणिणीसु उप्पज्जिय जहाकमेण पचाणउदि सत्तेत्तालीस-पण्णारसपुव्वकोडीओ परिभमिय दाणेण दाणाणुमोदणेण वा तिपलिदोवमाउट्ठिदिएसु तिरिक्खेसु उप्पज्जिय सगआउट्ठिदिमच्छिय देवेसु उप्पण्णस्स एत्तियमेत्तकालस्सुवलभादो । xxxx अणप्पिदेहितो आगतूण अप्पिदमणुसेसुववज्जिय सत्तेतालीस-तेवीस सत्तपुव्वकोडीओ जहाकमेण परिभमिय दाणेण दाणाणुमोदेण वा त्तिपलिदोवमाउट्ठिदिमणुस्सेसुप्पण्णस्स तदुवलभादो ।" इति वदन्ति ।

तिण्णि य पल्ला भणिया कोडिपुहुत्तं च होइ पुव्वाण। पचिंदियतिरियनराणमेव उक्कोसकायठिई ॥१॥' इति

एवं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियतिरश्ची-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणानामपि कायस्थिति-र्भावनीया, उत्कृष्टतो निरन्तरं सप्ताष्टभवग्रहणात्। ननु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चः पर्याप्तमनुष्यस्य चोत्कृ-ष्टकायकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तन्यूनानि त्रिपल्योपमानि **प्रज्ञापनासूत्रे** प्रोक्ता, तथा च तद्ग्रन्थः "तिरिक्खजोणियपज्जत्तए णं भंते ! तिरिक्खजोणियपज्जत्तए त्ति कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तोणाइं, xxxx एवं मणुस्से वि।" इति। तस्मात् प्रकृतग्रन्थोक्तकायस्थितिः कथं न विरुध्यते ? इति चेत्, उच्यते-विवक्षा-भेदाद् न कश्चिद् विरोधः। तथाहि-श्रीप्रज्ञापनासूत्रे करणपर्याप्ताः पर्याप्तत्वेन विवक्षिताः, अत्र तु पर्याप्तनामकर्मोदयात् पर्याप्ता गृहीताः, करणापर्याप्ता अपि लब्धिपर्याप्ताः पर्याप्तत्वेन विवक्षिता इत्यर्थः, तेन **प्रज्ञापनासूत्रोक्ता** कायस्थितिरन्तर्मुहूर्तन्यूनानि त्रिपल्योपमानि भवति, भवप्रथमा-न्तर्मुहूर्तकालस्या-ऽपर्याप्तावस्थायां व्यतिक्रान्तत्वात्। भाविता च **तद्वृत्तिकारैरेवमेव श्रीमन्मलय-गिरिपादैः**—'तिर्यक्सूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तभावना प्रागिव, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमान्यन्तर्मुहूर्तोनानि, एतच्चोत्कृष्टायुषो देवकुर्वादिभाविन. तिरश्चोऽधिकृत्य वेदनीय, अन्येषामेतावत्प्रमाणाया पर्याप्ता ऽवस्थाया अविच्छेदेनाऽप्राप्यमाणत्वात्। अत्रा-ऽप्यन्तर्मुहूर्तोनत्वमन्तर्मुहूर्तस्याऽऽद्यस्यापर्याप्ताऽवस्थाया गतार्थत्वात्।" इति। इह ग्रन्थे तु पर्याप्तनामकर्मोदयवतां पर्याप्तत्वेन ग्रहणात् करणा-ऽपर्याप्ताऽवस्था न वर्ज्यते, यतः पर्याप्तनामकर्मोदयः संख्येयवर्षायुष्केषु सप्तभवेष्वसंख्येयवर्षायुष्केषु चैकस्मिन् तिर्यग्भवे मनुष्यभवे वा निरन्तरं प्राप्यते, तेन यथोक्तप्रमाणा कायस्थितिर्लभ्यते। अनया रीत्या **प्रज्ञापनासूत्रेण** सहा-ऽस्य ग्रन्थस्य न विरोध उद्भावनीयो नवा मतान्तरम्, किन्तु विवक्षाभेद एवेत्यलं विस्तरेण ॥८७॥

सम्प्रत्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादीनामेकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिं वक्तुकामस्तत्समानत्वात् सर्वाऽपर्याप्तमार्गणा अन्याश्च पर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायादिमार्गणाभेदान् संकलय्य निगदति—

सव्वापज्जत्ताणं समत्तबायरणिगोअकायस्स।
पज्जत्तगसुहुमाणं पणमणवयउरलमीसाणं ॥८८॥
वेउव्वदुगस्स तहा आहारदुगस्स चउकसायाणं।
सुहुमुवसममीसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वा ॥८९॥

(प्रे०) '**सव्वापज्जत्ताण**' इत्यादि, 'सर्वा-ऽपर्याप्तानां' सर्वेषां=निखिलानाम् अपर्याप्त-नामकर्मोदयवशवर्तिनाम्=अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या--ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरै-केन्द्रिया-ऽपर्याप्तविकलेन्द्रियत्रिका--ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकाया--ऽपर्याप्तबादरपृथ्वी-कायाऽपर्याप्तसूक्ष्माप्कायाऽपर्याप्तबादराऽप्काया -ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया-ऽपर्याप्तबादरतेजःकाया-ऽपर्या-प्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधा-

रणशरीरवनस्पतिकाया- ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तत्रसकायलक्षणानां विंशतिसंख्यानां (२०) मार्गणाभेदानां प्रत्येकं 'समाप्तबादरनिगोदकायस्य' समाप्तस्य=पर्याप्तस्य बादरनिगोदकाय-स्य=बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायस्य 'पर्याप्तकसूक्ष्माणां' पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवी-काय -पर्याप्तसूक्ष्माऽप्काय पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय -पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पति-कायरूपाणां षड्मार्गणास्थानानां(६)प्रत्येकं 'पञ्चमनोवचऔदारिकमिश्राणा' पञ्चशब्दस्य द्वाभ्यां सहा-ऽभिसम्बन्धात् पञ्चमनसा=मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा ऽसत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगानां प्रत्येकम् , एवं पञ्चवचनयोगानां प्रत्येकम् , 'औदारिकमिश्रस्य' औदारिक-मिश्रकाययोगस्य 'वैक्रियद्विकस्य' वैक्रियकाययोग-तन्मिश्रकाययोगरूपस्य प्रत्येकं तथाशब्दः समुच्चये 'आहारकद्विकस्य' आहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगरूपस्य प्रत्येकं 'चतुष्कषायाणां' क्रोधमानमायालो-भलक्षणानां प्रत्येकं 'सूक्ष्मोपशममिश्राणां' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सूक्ष्मस्य=सूक्ष्मसम्परायस्य उपशमस्य=औपशमिकसम्यक्त्वस्य मिश्रस्य=सम्यङ्मिथ्यात्वमार्गणायाश्च प्रत्येकं 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्त-र्मुहूर्तं 'ज्ञातव्या' प्रस्तुतत्वादेकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिः प्रतिपत्तव्या ।

तत्र विंशतिसंख्याकाऽपर्याप्तमार्गणानां प्रत्येकमुत्कृष्टतो-ऽपि कायस्थितिरेकजीवविषया-ऽन्त-र्मुहूर्तमेव भवति, यतो व्यापकभूतस्या-ऽपर्याप्तसामान्यस्याऽपि नानाभवैर्लभ्यमानोत्कृष्टकायस्थिति-रन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, यदुक्तं **प्रज्ञापनासूत्रे**–"अपज्जत्तए णं भंते ! अपज्जत्तए त्ति कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।" इति । तेन व्याप्यभूतापर्याप्तपञ्चे-न्द्रियतिर्यगादीनामन्तर्मुहूर्ततोऽधिका कायस्थितिर्न सम्भवति ।

पर्याप्तबादरनिगोदत्वपर्यायविशिष्टोऽविच्छेदेनोत्कृष्टतो नानाभवैरप्यन्तर्मुहूर्तकालमवतिष्ठते, परतो नियमेन पर्यायान्तरं भजते, तेन पर्याप्तबादरनिगोदस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्त-प्रमाणा लभ्यते, यदुक्तं श्री **[प्रज्ञा]पनासूत्रे**–'निगोयपज्जत्तते बादरनिगोदपज्जत्तते, बादरनिगोदपज्ज-त्तए पुच्छा, गो० । दोण्ह वि० ज० अन्तो० उक्को० अंतो० ।" इति ।

यद्यपि निर्विशेषणानां सूक्ष्मपृथिवीकायादीनामेकैकस्योत्कृष्टकायस्थितिरसंख्येयलोका वक्ष्यते, तथापि पर्याप्तत्वविशेषणविशिष्टानां सूक्ष्मकायिकानां=पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायादि-लक्षणानां षण्णां प्रत्येकं नानाभवैरुत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तमेव भवति, परतो-ऽवश्यं तदन्यत्वेनो-त्पादात्, यदुक्तं **श्रीप्र[ज्ञा]पनासूत्रे**–"सुहुमे णं भंते ! अपज्जत्तए त्ति पुच्छा, गो० ज० उ० अंतो-मुहुत्तं, पुढविकाइय-आउकाय तेउकाय वाउकाय-वणप्फइकाइयाण य एवं चेव, पज्जत्तियाण वि एवं चेव×××।" इति । अत्र 'पर्याप्तानामप्येवं चैव' इति कथनेन पर्याप्तसूक्ष्माणां पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायादीनां च ग्रहणम् ।

मनोयोगसामान्यस्य वचनयोगसामान्यस्य चोत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवोत्कृष्टकायस्थितिः, यतस्तथाजीवस्वाभाव्यादेव मनोयोग्यवर्गणागतपुद्गलानादाय मनस्त्वेन परिणम्य परित्यजन् मनो-योगी भाषायोग्यवर्गणागतपुद्गलांश्च गृहीत्वा वचनत्वेन परिणमय्य विसृजन् वचनयोग्यु-

त्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं नियमेन तादृशग्रहणमोक्षत उपरमते, यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे– "मणजोगी णं भंते ! मणजोगो त्ति कालतो० ? गो० ! ज० एक्कं समयं, उक्को० अं तो० एवं वइजोगी वि।" इति । तदेव मनोयोगसामान्यस्य वचनयोगसामान्यस्य चोत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तत्वेन तद्व्याप्यभूतानां सत्यादियोगानामन्तर्मुहूर्ततोऽधिका कायस्थितिर्न संभवति, व्यापकं विना व्याप्यस्याऽदर्शनात् वह्निमृते धूमाऽदर्शनवत् ।

इदमत्राऽवधेयम्–सत्यमनोयोगस्य कायस्थितिः स्वल्पा, ततोऽसत्यमनोयोगस्य संख्येयगुणा, ततः सत्यासत्यमनोयोगस्य संख्येयगुणा, ततोऽसत्यामृषमनोयोगस्य सख्येयगुणा, ततो मनोयोगसामान्यस्य विशेषाधिका । एवं पञ्चवचनयोगानामप्युत्कृष्टकायस्थितेरल्पबहुत्वं वाच्यम् ।

औदारिकमिश्रकाययोगः करणा-ऽपर्याप्तजीवाना लब्ध्यपर्याप्तजीवानां च भवति । तत्र करणाऽपर्याप्तजीवानामन्तर्मुहूर्तेन शरीरपर्याप्तिनिष्पत्त्यौदारिककाययोगः सम्पद्यते, लब्ध्यपर्याप्तकजीवानां तूत्कृष्टतः कायस्थितिरप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा श्रीप्रज्ञापनासूत्रे-ऽभिहिता । तेनौदारिकमिश्रकाययोगस्योत्कृष्टैकजीवविषया कायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवति ।

वैक्रियद्विकाहारकद्विकलक्षणेषु चतुर्षु योगेषु प्रत्येकं मरणादिव्याघाताभावेऽपि तथास्वाभाव्यादुत्कर्षेणा-ऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं जीवा ना-ऽवतिष्ठन्ते । तेन कायस्थितिर्यथोक्तप्रमाणैव लभ्यते ।

चतुष्कषायाणां क्रोधादीनां प्रत्येकमुत्कृष्टकायस्थितिरेकजीवाश्रिताऽन्तर्मुहूर्तमानैव भवति, उत्कर्षेणाऽपि क्रोधादीनामेकैकस्योदयस्याऽन्तर्मुहूर्तभावित्वात् । इहोदयमाश्रित्यैव क्रोधादीनां कायस्थितिरुक्तप्रमाणा, अन्यथा सत्तामधिकृत्य सदैव क्रोधाद्युपलब्धेरनाद्यपर्यवसाना-ऽनादिसपर्यवसिता च स्यात् ।

सूक्ष्मसम्परायमार्गणायाः श्रेणा एव लाभेन तस्या उत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तमेव, उक्तं च पञ्चसंग्रहे–"समयाओ अंतमुहू अपुव्वकरणाउ जाव उवसंतो।" इति ।

मिथ्यात्वतः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वत औपशमिकसम्यक्त्वतो वा-ऽऽगतः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिजीवस्तद्भाव उत्कृष्टतोऽविच्छेदेना-ऽन्तर्मुहूर्तमवतिष्ठते, परतस्तथाजीवस्वाभाव्याद् मिथ्यात्वरूपं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणं वा भावान्तरं प्रतिपद्यते, उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–"सम्मामिच्छादिट्ठीण पुच्छा,गो० ! जह० अं तो० उक्को० अं तो० ।" इति । तेन मिश्रस्योत्कृष्टकायस्थितिरेकजीवाश्रिता-ऽन्तर्मुहूर्तमात्री समुपपद्यते ।

औपशमिकसम्यक्त्वमुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तमवतिष्ठते जीवः, परतो भावान्तरं भजते, तेनौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया अन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टकायस्थितिर्लभ्यते, यदुक्तं पञ्चसंग्रहे–"मीसुवसम अंतमुहू" इति । तदेव निगदिता तिर्यग्गतिभेदानामुत्कृष्टकायस्थितिः, तत्समानत्वाच्चाऽन्यासामपि मार्गणानाम् ॥८८,८९॥

सम्प्रति देवगतिमार्गणाया उत्तरभेदानामेकजीवाश्रयामुत्कृष्टकायस्थितिं वक्तुकामो गाथात्रयमाह—

भवणस्स साहियुदही पल्लं वंतरसुरस्स विण्णेया।
पलिओवममब्भहिअं जोइसदेवस्स णायव्वा ॥९०॥
सोहम्माईण कमा अयरा दो साहिया दुवे सत्त।
अब्भहिया सत्त य दस चउदस सत्तरह णायव्वा ॥९१॥
एत्तो एगेग-ऽहिया णायव्वा जाव एगतीसुदही।
उवरिमगेविज्जस्स उ तेत्तीसा-ऽणुत्तराण भवे ॥९२॥

(प्रे०) '**भवणस्स**' इत्यादि, 'भवनस्य' पदवाच्यार्थस्य पदैकदेशेनाऽप्यभिधानदर्शनाद् भवनपतिसुरस्य'साधिकोदधिः' सातिरेकसागरोपमम् उत्कृष्टकायस्थितिरेकजीवाश्रया भवति। कथम्? इति चेत्, उच्यते—देवाः पुनर्देवत्वेन नोत्पद्यन्ते, उक्तं च "नो देवो देवेसु उववज्जइ।" इति। तेन भवनपतिदेवानां यद् भवस्थितेः प्रमाणम्, तदेव कायस्थितेरपि, भवस्थितिश्च यथोक्तप्रमाणा। इदमत्रावधेयम्—इहोक्तकायस्थितिरुत्तरार्धाधिपतिबलीन्द्राख्या-ऽसुरकुमारतत्सामानिकदेवापेक्षया द्रष्टव्या। इदमुक्तं भवति-भवनपतयो दशविधाः, असुरकुमारा नागकुमाराः सुवर्णकुमारा विद्युत्कुमारा अग्निकुमारा द्विपकुमारा उदधिकुमारा दिक्कुमाराः पवनकुमाराः स्तनितकुमाराश्चेति। ते च प्रत्येकं द्विधा मेरोर्दक्षिणदिग्भागवर्तिन उत्तरदिग्भागवर्तिनश्चेति। तथा-ऽसुरकुमारवर्जानां नागकुमारादीनां नवानां दक्षिणदिग्भागवर्तिनामुत्कृष्टा भवस्थितिः सार्धपल्योपममात्री, तद्देवीनां त्वर्धं पल्योपमम्। उत्तरदिग्वर्तिनां पुनर्नागकुमारादीनामुत्कृष्टस्थितिर्देशोनपल्योपमद्वयम्, तद्देवीनां देशोनं पल्योपमं भवति। दक्षिणदिग्भाविनामसुरकुमाराणामिन्द्रश्चमरः, तस्योत्कृष्टस्थितिः सागरोपमं भवति, तद्देवीना तु सार्धपल्योपमत्रयम्। उत्तरदिग्भाविनामसुरकुमाराणामिन्द्रो बलीन्द्रः तस्य तत्सामान्यदेवानां चोत्कृष्टस्थितिः सातिरेकसागरोपमप्रमाणा, तद्देवीनां तु त्वर्धपञ्चमपल्योपमानि, उक्तं च **बृहत्संग्रहण्यां श्रीमज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः**—

"चमर बलि सारमहिअ सेसाण सुराण आउअ वुच्छ। दाहिणदिवड्ढपलिअ दो देसूणुत्तरिल्लाण ॥१॥
अद्धुट्ठअद्धपंचमपलिओवम असुरजुयलदेवीण। सेसवणदेवयाण य देसूणद्धपलियमुक्कोस ॥२॥"

इति। एवं **प्रज्ञापनासूत्रकारादिभिरप्युक्तम्**। इह भवनपतिसुरस्योत्कृष्टकायस्थितेः प्रस्तुतत्वादुत्तरदिग्वर्तिनामसुरकुमाराणामिन्द्रं बलीन्द्रं तत्सामानिकदेवांश्चाश्रित्य सातिरेकसागरोपमं प्रकृतकायस्थितिर्वक्तव्या, उत्तरदिग्वर्त्यसुरकुमारेन्द्रतत्सामानिकदेवानामेव भवनपतिषु सर्वोत्कृष्टभवस्थितिकत्वात्, देवाना चानन्तरभवे देवत्वेनाऽनुत्पादात्।

'पल्लं' इत्यादि, 'पल्यं' पल्योपमं 'व्यन्तरसुरस्य' व्यन्तरदेवमार्गणाया 'विज्ञेया' एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिर्निश्चेतव्या, देवानामनन्तरभवे देवत्वेना-ऽनुत्पादाद् व्यन्तराणाञ्चोत्कृष्टभवस्थितेः पल्योपममात्रत्वात् । इदन्त्ववधेयम्–व्यन्तरदेवीनां तु भवस्थितिरर्धपल्योपमं भवति । तेन व्यन्तरीणां कायस्थितिरपि तावन्मात्री बोध्या ।

अथ ज्योतिष्कस्योत्कृष्टकायस्थितिं दर्शयति–'**पलि०**' इत्यादि, तत्र 'ज्योतिष्कस्य' ज्योतिष्कसुरमार्गणायाः पल्योपममभ्यधिकं लक्षवर्षैरिति व्याख्यानाद् गम्यते, ज्योतिष्काणामुत्कृष्टभवस्थितेस्तावन्मात्रत्वात् , तदुक्तं **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"जोइसियाण देवाण पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेण पलिओवमट्ठभागो, उक्कोसेण पलिओवम वाससयसहस्समब्भहियं ।" इति । इयञ्चोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्योतिष्केषु चन्द्रापेक्षया ज्ञातव्या, यतः सूर्यस्योत्कृष्टस्थितिर्वर्षसहस्रेणाधिकं पल्योपमम् , ग्रहाणां पल्योपमम् , नक्षत्राणामर्धपल्योपमम् , तारकाणां च पल्योपमस्य चतुर्भागः, चन्द्रसूर्यग्रहदेवीना चोत्कृष्टस्थितिर्देवापेक्षया-ऽर्धम् , नक्षत्रतारकदेवीनां तु साधिकमर्धम् । तथाचोक्तं **बृहत्संग्रहण्याम्**–

"पलिय वाससहस्स आइच्चाण ठिई वियाणिज्जा । पलिअ च सयसहस्स चदाण वि आउय जाण॥१॥
पलिओवमं गहाण नक्खत्ताण च जाण पलियद्ध । ताराण चउ जहन्नट्ठमो य देवीण विन्नेओ ॥२॥
पन्नाससहस्साइ पलियद्ध पचवाससयमहियं । ससिरविगहदेवीणं पलिअद्ध चउ जहन्नेण ॥३॥
पलिअचउत्थ जहण्णुक्कोस सविसेस होइ नक्खत्ते । तारट्ठभाग सविसेस जहण्णुक्कोसग अहवा ॥४॥" इति ।

सम्प्रति वैमानिकदेवानामुत्कृष्टकायस्थितिमेकजीवविषयां वक्तुमनाः प्राह– '**सोहम्माईण**' इत्यादि, 'सौधर्मादीना' सौधर्मप्रभृतिसप्तकल्पसुराणां 'क्रमात्' क्रमेण 'अतरौ द्वौ' द्वौ सागरोपमौ साधिकौ । 'सप्त' "डमरूकमणि "न्यायेन 'अयरा' इत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धात् सप्तसंख्याकाः सागरोपमाः, 'अभ्यधिकाः सप्त' पल्योपमाऽसंख्येयभागाधिकसप्तसागरोपमाः, चकारः समुच्चयार्थो व्यवहितसम्बधश्च, स च सप्तदश चेत्युत्तरत्र योज्यः, । 'दश' दशसंख्याकाः सागरोपमाः, चतुर्दश सागरोपमाः, सप्तदश च सागरोपमाः 'ज्ञेया' एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिर्बोध्या, देवानामनन्तरभवे देवत्वेनानुत्पादादुक्तसुराणां चोत्कृष्टभवस्थितेर्यथोक्तप्रमाणत्वात् । इदमुक्तं भवति–सौधर्मसुरस्य द्वे (२) सागरोपमे उत्कृष्टा भवस्थितिः, ऐशानसुरस्य साधिके द्वे (२) सागरोपमे, सनत्कुमारदेवस्य सप्त (७) सागरोपमाणि, माहेन्द्रसुरस्य साधिकानि सप्त (७) सागरोपमाणि, लोकसुरस्य दश (१०) सागरोपमाणि, लान्तकदेवस्य चतुर्दश (१४) सागरोपमाणि, महाशुक्रदेवस्य च सप्तदश (१७) सागरोपमाणि, यदुक्तं **जीवसमासे**–"दो साहि सत्त साहिय दस चउदस सत्तरेवxxxx ।" इति । देवानां च स्वभवप्रच्यवनादनन्तरभवे देवत्वेनानुत्पादादनन्तरोक्तोत्कृष्टभवस्थितिरेवैकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति ।

सम्प्रति सहस्रारादिसुराणां कायस्थितिप्रख्यापनाय प्राह–'**एत्तो**' इत्यादि 'इतः' महाशुक्रदेवस्योत्कृष्टकायस्थितिभणनादूर्ध्वम् 'एकैकाऽधिकाः' 'एकैकेन सागरोपमेण अधिकाः–वृद्धाः

सागरोपमाः 'ज्ञातव्या' यत्तदोर्मिथः सापेक्षत्वादुत्तरत्र यावच्छब्दोपादानात् तावद् एकजीवाश्रयोत्कृष्ट-कायस्थितिर्बोध्या, यावद् 'एकत्रिंशदुदधयः' एकत्रिंशत्सागरोपमाणि 'उपरितनग्रैवेयकस्य' सर्वेषा-मुपरि स्थितस्य नवमस्याऽऽदित्याख्यस्य ग्रैवेयकसुरस्योत्कृष्टकायस्थितिः। अयं भावः–महाशुक्रसुरा-ऽपेक्षया सहस्रारसुरस्यैकेन सागरोपमेणा-ऽधिकानि सप्तदशसागरोपमाण्यष्टादशसागरोपमाणीत्यर्थः, एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, अनया रीत्या-ऽऽनतदेवस्यैकोनविंशतिः (१९) सागरो-पमाणि, प्राणतत्रिदशस्य विंशतिः (२०) सागरोपमाणि, आरणसुपर्वण एकविंशतिः (२१), अच्युता-ऽमरस्य द्वाविंशतिः (२२)। सुदर्शनाख्य-प्रथमग्रैवेयकसुरस्य त्रयोविंशतिः (२३), सुप्रति-बद्धा-ऽभिधानद्वितीयग्रैवेयकदेवस्य चतुर्विंशतिः (२४), मनोरमनामतृतीयग्रैवेयकसुपर्वणः पञ्चविंशतिः (२५), सर्वभद्राख्यचतुर्थग्रैवेयकदेवस्य षड्विंशतिः (२६), विशालाख्यपञ्चमग्रैवेयकविबुधस्य सप्तविंशतिः (२७), सुमनसा-ऽभिधषष्ठग्रैवेयकत्रिदशस्या-ऽष्टाविंशतिः (२८), सौमनसाख्यसप्तमग्रैवेयकसुरस्यै-कोनत्रिंशत् (२९), प्रीतिकरनामाऽष्टमग्रैवेयकसुरस्य त्रिंशत् (३०), आदित्या-ऽभिधाननवमग्रैवेयकगी-र्वाणस्य चैकत्रिंशत् (३१) सागरोपमाणि, यतो देवानामानन्तरभवे देवत्वेना-ऽनुत्पादाद् भवस्थितिरेव कायस्थितिर्भवति। भवस्थितिश्चैतावती **बृहत्संग्रहण्यां श्रीमज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपा-दैरभिहिता**–"सोहम्मा जा सुक्को तदुवरि इक्किक्कमारोवे।" इति।

अथाऽनुत्तराणां प्रस्तुतकायस्थितिं भणति–'तेत्तीसा०' इत्यादि, 'अनुत्तराणां' बहुवचननिर्दे-शात् पञ्चानामनुत्तरसुराणां=विजय-वैजयन्त-जयन्ता ऽपराजित सर्वार्थसिद्धसुराणां प्रत्येकमेकजीवाश्रयो-त्कृष्टकायस्थितिः 'त्रयस्त्रिंशत्' 'अयरा' इत्यनुवर्तते, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति, भवस्थितेस्ता-वन्मात्रत्वात्। उत्कृष्टभवस्थितिश्च **श्रीप्रज्ञापनादिसूत्रेषु** यथोक्तप्रमाणा समर्थिता **आर्यश्या-मपादादिभिः**। तथा चात्र **श्रीप्रज्ञापनासूत्रम्**– "विजय वेजयंत-जयंत अपराजितेसु णं भंते! देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरो-वमाइं। सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते! केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता? गोयमा! अजहन्नमणुक्कोसं तेत्तीसं सागरो-वमाइं ठिई पन्नत्ता।" इति। गाथोक्तस्तुशब्दो-ऽधिकार्थसंसूचकः, स चाऽत्र **तत्त्वार्थसूत्र-तद्भा-ष्यकारादीनामभिप्रायेणा**ऽऽद्यानां चतुर्णां विजयादिसुराणामुत्कृष्टभवस्थितेर्द्वात्रिंशत्सागरोपम-प्रमाणत्वाद् आद्यानां चतुर्णामनुत्तरसुराणां कायस्थितिरपि **तत्त्वार्थसूत्रकारादीनाम**भिप्रायेण तावती वक्तव्येति संसूचयति। तथा चात्र **श्रीतत्त्वार्थसूत्रम्**–"आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेय-केषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च।" इति। तथैव **तद्भाष्ये**ऽप्युक्तम्–"विजयादिषु चतुर्ष्वप्येकेना-ऽधिका द्वात्रिंशत्, साप्येकेनाधिका सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदिति।" इति।

अनन्तरोक्ता कायस्थितिः सामान्येन सौधर्मादिदेवाना बोध्या, विशेषतः पुनः सौधर्मकल्पे-ऽपि प्रथमप्रस्तटस्थसुराणामुत्कृष्टकायस्थितिर्द्वे सागरोपमे न भवति, किन्तु द्वौ सागरोपमस्य त्रयोद-

शभागौ (२/१३ सा०), द्वितीयप्रस्तटस्थसुराणां चत्वारः सागरोपमस्य त्रयोदशभागाः (४/१३ सा०) भवति, एवं शेषप्रस्तटस्थसुराणामपि वक्तव्या, ऐशानादिकल्पानामपि तत्तत्प्रस्तटस्थाना देवानामुत्कृष्टा कायस्थितिभिन्ना भिन्ना वाच्या, न तु तत्तत्कल्पोक्ता । तथाहि–सौधर्मैशानयोः समभूमिकयोरेकवलयाकारकतया त्रयोदश प्रस्तटाः । इह यद्यपि सौधर्मे ऐशाने च कल्पे प्रत्येकं त्रयोदश प्रस्तटाः, तथापि सौधर्मैशानकल्पौ एकवलयाकारतया व्यवस्थितौ इति तयोर्द्वयोः समुदितयोरपि त्रयोदश प्रस्तटाः, एवमग्रेऽपि सनत्कुमारमाहेन्द्रयोरानतप्राणतयोरारणाऽच्युतयोश्च प्रस्तटभावना कार्या । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्द्वादश प्रस्तटाः, ब्रह्मलोके षट् . लान्तके पञ्च, महाशुक्रकल्पे चत्वारः, सहस्रारे चत्वारः, आनतप्राणतयोः समुदितयोश्चत्वारः, आरणाच्युतयोश्च समुदितयोश्चत्वारः । ग्रैवेयकेषु प्रत्येकमेकैकः प्रस्तटः, समुदितेषु पञ्चा-ऽनुत्तरेष्वेकः प्रस्तटः । तदेव सर्वसंख्यया द्वाषष्टिः प्रस्तटा भवन्ति, यदुक्तं **बृहत्संग्रहण्यां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादैः**–
दुसु तेरस दुसु बारस छप्पण चउ चउ दुगे दुगे य चऊ । गेविज्जाइसु दसग बावट्ठी उड्ढलोगम्मि ॥१॥" इति।

तत्र सौधर्मकल्पतत्तत्प्रस्तटे सुराणामुत्कृष्टकायस्थितिपरिज्ञानायेद करणम्–सौधर्मकल्पसुरस्योत्कृष्टकायस्थितिः सागरोपमद्वयमिता त्रयोदशप्रस्तटैर्विभज्यते, तदा यद् लभ्यते, तत् , इच्छया= यतिसंख्यप्रस्तटस्थसुराणामुत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञातुमिष्यते तत्संख्ययैकद्व्यादिरूपया गुण्यते, गुणिते चेष्टप्रस्तटस्थसुराणामुत्कृष्टा कायस्थितिर्लभ्यत इति । अनेन करणेन सौधर्मकल्पे प्रथमप्रस्तटे सुराणामुत्कृष्टकायस्थितिर्द्वौ सागरोपमस्य त्रयोदशभागौ (२/१३), द्वितीयप्रस्तटसुराणा चत्वारः सागरोपमस्य त्रयोदशभागाः (४/१३), तृतीयप्रस्तटे षट् सागरोपमस्य त्रयोदशभागाः (६/१३), चतुर्थप्रस्तटे देवानामष्ट सागरोपमस्य त्रयोदशभागाः (८/१३), पञ्चमप्रस्तटे दश सागरोपमस्य त्रयोदशभागाः (१०/१३), षष्ठप्रस्तटे द्वादश सागरोपमस्य त्रयोदशभागाः (१२/१३), सप्तम एकं सागरोपममेकश्च सागरोपमस्य त्रयोदशभागः (१ १/१३), अष्टमे सागरोपमं त्रयश्च सागरोपमस्य त्रयोदशभागाः (१ ३/१३) नवमे पञ्चभिः सागरोपमस्य त्रयोदशभागैरधिकमेकं (१ ५/१३), सागरोपमम् ,दशमे सप्तभिः सागरोपमस्य त्रयोदशभागैरधिकमेक (१ ७/१३) सागरोपमम् , एकादशे नवभिः सागरोपमस्य त्रयोदशभागैरधिकमेकं (१ ९/१३) सागरोपमम् , द्वादशे प्रस्तट एकादशभिः सागरोपमस्य त्रयोदशभागैरधिकमेकं (१ ११/१३) सागरोपमम् , त्रयोदशे द्वे (२) सागरोपमे परिपूर्णे । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–देवानामनन्तरभवे देवत्वेनाऽनुत्पादादुत्कृष्टभवस्थितिरेवोत्कृष्टकायस्थितिः, भवस्थितिश्चैतावती बृहत्संग्रहण्यादौ समर्थिता पूज्यवरैः । तथा चाऽत्र **बृहत्संग्रहणी**—

"पलिओवम अहन्ना दो तेरसभागा उदहिनामस्स । उक्कोसठिई भणिया सोहम्मे पत्थडे पढमे ॥१॥
एव दुगवुड्ढीए नेअव्व जाव अंतिम पयरं । भागेहिं तओ करण जा तेरसमे दुवे अयरा ॥२॥" इति ।

एवमैशानकल्पप्रस्तटेष्वप्येकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्वाच्या, नवरं किञ्चित्समधिका प्रतिपाद्या, तेषां भवस्थितेः समधिकत्वात् ।

अथ सौधर्मैशानयोर्देवीनामुत्कृष्टकायस्थितिरभिधीयते,शेषकल्पेषु देवीनामुत्पत्त्यभावात् । देव्यः खलु द्विविधाः परिगृहीता अपरिगृहीताश्चेति । तत्र कुलभार्यादेश्याः परिगृहीताः,गणिकासमानाश्चेतराः। सौधर्मे परिगृहीतानां देवीनामुत्कृष्टकायस्थितिरेकजीवाश्रिता सप्त (७)पल्योपमानि, अपरिगृहीतानां च पञ्चाशत् (५०)पल्योपमानि । ऐशानकल्पे परिगृहीतानां नव (९) पल्योपमानि,अपरिगृहीतानां च देवीनां पञ्चपञ्चाशत् (५५) पल्योपमानि, यत उत्कृष्टभवस्थितिस्तावन्मात्री, उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे– सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाण देवीण पुच्छा,गोयमा ! जहन्नेण पलिओवम उक्कोसेण सत्त पलिओवमाइ । ××××× सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाण देवीण पुच्छा गोयमा ! जहन्नेण पलिओवम उक्कोसेण पन्नास पलिओवमाइ । ×××× ईसाणकप्पे परिग्गहियाण देवीण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण साइरेग पलिओवम उक्कोसेण नव पलिओवमाइ । ×××× ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियदेवीण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण साइरेग पलिओवम उक्कोसेण पणपन्नाइ पलिओवमाइ । इति ।

सनत्कुमारप्रस्तटस्थसुराणामुत्कृष्टकायस्थिति ज्ञातुमिद करणम्–या सौधर्म उत्कृष्टा कायस्थितिः, सा सनत्कुमारदेवानामुत्कृष्टकायस्थितितो विशोधयितव्या, विशोधने च कृते यद् लभ्यते, तत् सनत्कुमारप्रस्तटैर्विभज्यते, विभक्ते च तस्मिन् यद् लभ्यते, तद् इच्छया=यतिसंख्ये सनत्कुमार प्रस्तट उत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञातुमिष्यते, तत्संख्यया गुणयितव्यम् , गुणिते च यद् लभ्यते, तत् सौधर्मदेवोत्कृष्टकायस्थित्या सहितं तत्तत्प्रस्तटे सनत्कुमारसुराणामुत्कृष्टस्थितिर्भवति। अनेन करणेन सनत्कुमारस्य प्रथमप्रस्तटे सुराणामुत्कृष्टकायस्थितिर्द्वे सागरोपमे पञ्च च सागरोपमस्य द्वादशभागाः (२$\frac{५}{१२}$), द्वितीये प्रस्तटे द्वे सागरोपमे दश च सागरोपमस्य द्वादशभागाः (२$\frac{१०}{१२}$) तृतीये त्रीणि सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य द्वादशभागाः (३$\frac{३}{१२}$), चतुर्थे त्रीणि सागरोपमाण्यष्टौ च सागरोपमस्य द्वादशभागाः (३$\frac{८}{१२}$), पञ्चमे चत्वारि सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य द्वादशभागः (४$\frac{१}{१२}$), षष्ठे चत्वारि सागरोपमाणि षट् च सागरोपमस्य द्वादशभागाः(४$\frac{६}{१२}$), सप्तमे चत्वारि सागरोपमाण्येकादश च सागरोपमस्य द्वादशभागाः (४$\frac{११}{१२}$), अष्टमे पञ्च सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य द्वादशभागाः (५$\frac{४}{१२}$), नवमे पञ्च सागरोपमाणि नव च सागरोपमस्य द्वादशभागाः (५$\frac{९}{१२}$), दशमे द्वाभ्यां सागरोपमस्य द्वादशभागाभ्यामधिकानि षट् (६$\frac{२}{१२}$) सागरोपमाणि, एकादशे सप्तभिः सागरोपमस्य द्वादशभागैरधिकानि षट् (६$\frac{७}{१२}$) सागरोपमाणि, द्वादशे च परिपूर्णानि सप्त (७) सागरोपमाणि । एव माहेन्द्रकल्पेऽपि प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिर्वाच्या, नवरं किञ्चित्समधिका वाच्या ।

अथाऽनन्तरोक्तकरणेन लोककल्पेऽपि प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिः साध्या, नवरं सौधर्मस्थाने सनत्कुमारकल्पो वक्तव्यः, सनत्कुमारस्थाने च लोको वक्तव्यः । अनेन करणेन या लभ्यते, सा सविस्तरमभिधीयते–ब्रह्मलोकस्य प्रथमप्रस्तट उत्कृष्टकायस्थितिः सप्त सागरोपमाणि त्रयश्चसागरोपमस्य षड्भागाः (७$\frac{३}{६}$), द्वितीयप्रस्तटेऽष्टौ (८)सागरोपमाणि, तृतीये त्रीभिः

सागरोपमस्य षड्भागैरधिकान्यष्टौ (८$\frac{३}{६}$) सागरोपमाणि, चतुर्थे नव (९) सागरोपमाणि, पञ्चमे नव सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य षड्भागाः (९$\frac{३}{६}$), षष्ठे च दश (१०) सागरोपमाणि ।

अतः परं लान्तकप्रभृतिकल्पसुराणां प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिं ज्ञातुं वक्ष्यमाणं करणमुपयोजनीयम्—पूर्वपूर्वकल्पस्योत्कृष्टकायस्थितिरुत्तरोत्तरकल्पकायस्थितितो विशोध्येत, विशोधने च कृते यल्लभ्यते, तद् उत्तरकल्पप्रस्तटैर्विभज्यते, विभक्ते च सति यल्लभ्यते, तद् इच्छया=यतिसंख्ये प्रस्तट उत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञातुमिष्यते, तत्संख्यया गुण्यते । गुणिते च यल्लभ्यते, तत् पूर्वकल्पोत्कृष्टकायस्थित्यामहितमिष्टप्रस्तटे देवानामुत्कृष्टकायस्थितिर्भवति । अनेन करणेन लान्तकस्य प्रथमप्रस्तटे सुराणामुत्कृष्टकायस्थितिर्दश सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य पञ्चभागाः (१०$\frac{४}{५}$), द्वितीयप्रस्तटे त्रिभिः सागरोपमस्य पञ्चभागैरधिकानि एकादश (११$\frac{३}{५}$) सागरोपमाणि, तृतीये द्वाभ्यां सागरोपमस्य पञ्चभागाभ्यामधिकानि द्वादश (१२$\frac{२}{५}$) सागरोपमाणि, चतुर्थे त्रयोदशसागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य पञ्चभागः (१३$\frac{१}{५}$), पञ्चमे च सम्पूर्णानि चतुर्दश (१४) सागरोपमाणि ।

तथा महाशुक्रे प्रथमप्रस्तटे सुराणामुत्कृष्टकायस्थितिश्चतुर्दश सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य चतुर्भागाः (१४$\frac{३}{४}$), द्वितीयप्रस्तटे पञ्चदश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य चतुर्भागौ (१५$\frac{२}{४}$), तृतीयप्रस्तटे षोडश सागरोपमाण्येकेन सागरोपमस्य चतुर्भागेनाधिकानि (१६$\frac{१}{४}$), चतुर्थप्रस्तटे सम्पूर्णानि सप्तदश (१७) सागरोपमाणि ।

तथा सहस्रारे प्रथमप्रस्तटे सुराणामुत्कृष्टकायस्थितिः सप्तदश सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य चतुर्भागः (१७$\frac{१}{४}$), द्वितीयप्रस्तटे सप्तदश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य चतुर्भागौ (१७$\frac{२}{४}$), तृतीयप्रस्तटे सप्तदश सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य चतुर्भागाः (१७$\frac{३}{४}$), चतुर्थे चाऽष्टादश (१८) सागरोपमाणि परिपूर्णानि ।

तथा-ऽऽनतकल्पस्य प्रथमप्रस्तटे सुराणामुत्कृष्टकायस्थितिरष्टादशसागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य चतुर्भागः (१८$\frac{१}{४}$), द्वितीयप्रस्तटे-ऽष्टादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य चतुर्भागौ (१८$\frac{२}{४}$), तृतीये त्रिभिः सागरोपमस्य चतुर्भागैरधिकान्यष्टादश (१८$\frac{३}{४}$) सागरोपमाणि, चतुर्थे एकोनविंशतिः (१९) सागरोपमाणि परिपूर्णानि ।

तथा प्राणतकल्पस्य प्रथमप्रस्तटे एकोनविंशतिसागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य चतुर्भागः (१९$\frac{१}{४}$), द्वितीयप्रस्तटे द्वाभ्यां सागरोपमस्य चतुर्भागाभ्यामधिकान्येकोनविंशतिसागरोपमाणि, (१९$\frac{२}{४}$) तृतीयप्रस्तटे त्रिभिः सागरोपमस्य चतुर्भागैरधिकान्येकोनविंशतिसागरोपमाणि (१९$\frac{३}{४}$), चतुर्थप्रस्तटे विंशतिः (२०) सागरोपमाणि परिपूर्णानि ।

तथा-ऽऽरणकल्पस्य प्रथमप्रस्तटे विंशतिः सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य चतुर्भागः (२०$\frac{१}{४}$), द्वितीयप्रस्तटे द्वाभ्यां सागरोपमस्य चतुर्भागाभ्यामधिकानि विंशतिसागरोपमाणि (२०$\frac{२}{४}$)

तृतीयप्रस्तटे त्रिभिः सागरोपमस्य चतुर्भागैरधिकानि विंशतिसागरोपमाणि (२०$\frac{3}{4}$) । चतुर्थ-प्रस्तटे चैकविंशतिः (२१) सागरोपमाणि परिपूर्णानि ।

तथाऽच्युतकल्पस्य प्रथमप्रस्तट एकविंशतिः सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य चतुर्भागः, द्वितीयप्रस्तट एकविंशतिसागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य चतुर्भागौ (२१$\frac{2}{4}$), तृतीयप्रस्तट एक-विंशतिसागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य चतुर्भागाः (२१$\frac{3}{4}$), चतुर्थप्रस्तटे च द्वाविंशतिः (२२) सागरोपमाणि ।

नवसु ग्रैवेयकेषु प्रत्येकमेकैक एव प्रस्तटो भवति, तेन तत्र पूर्वोक्तैव त्रयोविंशतिसागरोपमा-दीन क्रमेणोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति ।

पञ्चानुत्तराणां तु समुदितानामेकप्रस्तटत्वात् तेषां सर्वेषामुत्कृष्टकायस्थितिस्त्रयस्त्रिंशत् (३३) सागरोपमाणि भवति । तदेवमभिहिता देवगतेरेकोनत्रिंशतो भेदानामेकजीवाश्रितोत्कृष्टकाय-स्थितिः, प्रसङ्गतश्च टीकायां सैव प्रतिप्रस्तटं निरूपिता ॥८९-९१॥

सम्प्रतीन्द्रियमार्गणाया भेदप्रभेदानामुत्कृष्टकायस्थितिर्निरूपणीया । तत्रैकेन्द्रियसामान्यमार्ग णायाः प्रागभिहिता, तेन बादरैकेन्द्रियमार्गणायाः सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां च तां वक्तुकामः समान-वक्तव्यत्वादन्या अपि मार्गणाः संगृह्य आह—

अंगुलअसंखभागो बायरएगिंदियस्स सुहुमाणं ।
तह पुढवाइचउण्हं णेया लोगा असंखेज्जा ॥९२॥

(प्रे०) 'अंगुल०' इत्यादि, 'अङ्गुलासंख्यभागः' क्षेत्रतोऽङ्गुलस्याऽसंख्येयभागो 'बादरै-केन्द्रियस्य' बादरैकेन्द्रियमार्गणाया एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति । इदमत्र तात्पर्यम्—अङ्गुल-मात्रक्षेत्रस्या-ऽसंख्येयतमे भागे य आकाशप्रदेशाः, तेषां प्रतिसमयमेकैकप्रदेशाऽपहारे क्रियमाणे यावन्त्यो-ऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो व्यतिक्रामन्ति, उत्कृष्टतस्तावतीरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीर्यावद् बादरनामकर्मोदयवर्ती एकेन्द्रियजीवः पुनः पुनर्बादरैकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानोऽवतिष्ठते, ततः परं तद्भावं परित्यज्य भावान्तरं भजते । न चाऽङ्गुला-ऽसंख्येयतमभागस्य प्रतिसमयमेकैकप्रदेशा-ऽप हारे-ऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कुतो व्यतिक्रामन्तीति वाच्यम्, क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात्, उक्तं च "सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरयं हवइ खित्तं" इत्यादि । न चैतावत्युत्कृष्टकायस्थितिर्बादरै-केन्द्रियमार्गणायाः स्वमनीषिकयाऽभिहिता, श्रीजी **मासादावभिहितत्वात्**, तथा चात्र **जीव-समासः**—'अंगुलअसंखभागो बादरएगिंदियतरूण' इति । **तदवचूरिः**—तथाङ्गुलासंख्येयभागप्रदेशा-पहरणकालं यावद् बादरैकेन्द्रियस्तरुपर्यवसानं तद्भावमपरित्यजन्तास्ते असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्युक्तं भवति ।

'**सुहुमाणं**' इत्यादि, '**सूक्ष्माणां**' "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् ।" इति न्यायेन षण्णां सूक्ष्मसामान्यानां=पर्याप्ताऽपर्याप्तत्वविशेषणविरहितानां सूक्ष्मैकेन्द्रिय सूक्ष्मपृथिवीकाय-सूक्ष्माऽप्काय-सूक्ष्मतेजःकाय-सूक्ष्मवायुकाय सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायानामित्यर्थः, 'तथा' तथाशब्दः समुच्चये, 'पृथिव्यादिचतसृणाम्' अविवक्षितपर्याप्ता-ऽपर्याप्तत्वभेदानां सूक्ष्मबादरविशेषणविरहितानां च पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजःकाय-वायुकायलक्षणचतुर्मार्गणानां प्रत्येकं 'ज्ञेया' एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्बोध्या, कियती ? इत्याह– '**लोका असंखेज्जा**' त्ति, '**लोका असंख्येयाः**' क्षेत्रतोऽसंख्येयलोकाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशा-ऽपहारेणा-ऽपह्रियमाणेषु यावत्यो ऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो व्यतिक्रामन्ति, तावतीर्यावत् सूक्ष्मैकेन्द्रियादयो जीवाः पुनः पुनस्तत्रैवोत्पद्यमानास्तद्भावममुञ्चन्तो-ऽवतिष्ठन्ते, यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**– "सुहुमे णं भंते ! सुहुमे त्ति कालतो केवचिरं होति ? गो० ! जह० अंतो०, उ० असंखेज्जकालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणितो ओसप्पिणीओ कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा, सुहुमपुढविकाइते सुहुमआउका० सुहुमतेउका० सुहुमवायुका० सुहुमवणप्फइकाइते० सुहुमनिगोदे वि ज० अंतोमुहुत्तं उक्को० असंखेज्जं कालं असंखिज्जा लोगा । xxxx पुढविकाइएणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जकालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणितो ओसप्पिणीओ कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा, एवं आउ-तेउ-वाउकाइया वि ।" इति । इह यद्यपि पर्याप्तसूक्ष्माणामपर्याप्तसूक्ष्माणां चैकेन्द्रियाणां प्रत्येकमुत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तमिता प्रागुक्ता, तथापि कृष्णशुक्लपक्षाभ्यां यथा वर्षादयो निष्पद्यन्ते, तथैव सूक्ष्मपर्याप्ततः सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तेषु सूक्ष्मा-ऽपर्याप्ततश्च सूक्ष्मपर्याप्तेषु च पुनः पुनरुत्पद्यमानाः सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवा उत्कृष्टतोऽसंख्येयलोकान् यावत् सूक्ष्मभावं न परित्यजन्ति । एवं सूक्ष्मपृथिवीकायादीनामपि प्रस्तुतकायस्थितिर्भावनीया, नवरं पृथिवीकायादिसामान्यमार्गणानां बादरत्वमाश्रित्याऽपि कायस्थितेर्भावना कार्या ॥९२॥

सम्प्रति पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणाया एकजीवाश्रयामुत्कृष्टकायस्थितिमभिधातुकामस्तत्साम्यादन्या अपि मार्गणाः संगृह्य प्राह—

बायरपज्जेगिंदिय-भू-दग-पत्तेअ-वाउ-विगलाणं ।
संखेज्जसहस्ससमा समत्तबेइंदियस्स संखसमा ॥९३॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**बायर०**' इत्यादि, 'बादरपर्याप्तैकेन्द्रिय-भू-दग-प्रत्येक-वायु-विकलानाम्' एते कृतद्वन्द्वाः षष्ठ्या निर्दिष्टाः, बादरपर्याप्तविशेषणं वाय्वन्तैः पञ्चभिः सह युज्यन्ते । तत्राऽपि प्रत्येकवनस्पतिकायस्य यद् बादरत्वं विशेषणम्, तत् स्वरूपदर्शनपरम्, प्रत्येकवनस्पतिकायजीवानां सूक्ष्मत्वाभावात्, ततश्चा ऽयमर्थः–बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्य=पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणाया बादरपर्याप्तभुवः=पर्याप्तबादरपृथिवीकायमार्गणाया बादरपर्याप्तदकस्य=पर्याप्तबादराऽप्कायमार्गणास्थानस्य बादरपर्याप्तप्रत्येकस्य=बादरविशेषणस्य स्वरूपदर्शनपरत्वात् पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणाया बादरपर्याप्तवायोः=पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणाया विकलानां=विकलेन्द्रियाणाम्, विकलानि=असम्पूर्णानि इन्द्रि-

याणि येषाम् ; ते विकलेन्द्रियाः=द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, तेषा पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणवियुक्तानां प्रत्येक-मित्यर्थः, 'संख्येयवर्षसहस्रसमाः' संख्येयानि वर्षसहस्राण्येकजीवाश्रयोत्कृष्टा कायस्थितिर्ज्ञेया ।

एतदुक्त भवति–पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्तद्भावमपरित्यजन्नुत्कृष्टतः संख्येयसहस्रवर्षाणि याव-दुत्पद्यते, परतो भावान्तर भजते, उक्तं च पञ्चसग्रहवृत्तौ–"बादरपर्याप्तानामेकेन्द्रियाणा भूयो भूय पर्याप्तबादरैकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानाना कायस्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं उत्कर्षत सख्येयानि वर्षसहस्राणि । उक्त च-"बादरेगिंदियपज्जत्तएण भते ! बादरेगिदियपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिर होइ ? गोयमा जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण सखेज्जाइ वाससहस्साइ ।।" इति ।

इयं च बादरपर्याप्तैकेन्द्रियकायस्थितिचिन्ता बादरपर्याप्तैकेन्द्रियत्वं सामान्यमात्रमधिकृत्य कृता । अथ विभागतो बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकत्वाद्यधिकृत्य कायस्थितिश्चिन्त्यते, बादरपर्याप्तपृथि-वीकायिकस्य भूयो भूयः पर्याप्तबादरपृथिवीकायिकत्वेनोत्पद्यमानस्योत्कर्षतश्च संख्येयानि वर्षसह-स्राणि गच्छन्ति । एवं बादरपर्याप्ताप्कायिकप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिकानामपि भाव्योत्कृष्टकाय-स्थितिः, बादरपर्याप्ततेजःकायिकानां पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतश्च संख्येयानि रात्रिदिनानि । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनायाम्–"बायरपुढविकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिर होइ ? गोयमा ! जह-न्नेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण सखेज्जाइ वाससहस्साइ, एव आउकाए वि । बायरतेउकाइयपज्जत्तए ण भते ! बायरतेउकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिर होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण सखेज्जाइ राइ दियाइ । वाउकाइए पत्तेयसरीरबादरवणप्फइकाइये पुच्छा, गो० ! ज० अतो०, उ० सखे ज्जाइ वाससहस्साइ ।" इति ।

तथा विकलेन्द्रियाणा द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियरूपाणां प्रत्येकं कायस्थितिरुत्कर्षतः सख्येयानि वर्षसहस्राणि । तथा चोक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–"बेइ दिये ण भते ! बेइ दिए त्ति कालओ केवचिर होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण सखेज्जाइ काल, एव तेइ दियचउरिदिए वि । इति ।" एव पञ्चसङ्ग्रहेऽप्युक्तम्–बायरपज्जेगिदियविगलाण य वाससहस्ससखेज्जा ।" इति ।

पर्याप्ता ऽपर्याप्तनामकर्मोदयविरहिताना विकलेन्द्रियाणां कायस्थितिरभिहिताऽस्यामेव गाथा-याम् ,अपर्याप्तनामकर्मोदयवर्तीनां तु"सव्वापज्जताण"इत्यादि गाथाद्वयेनाऽभिहिता । सम्प्रति पर्याप्तना-मकर्मोदयविशेषितानां विकलेन्द्रियाणां ता वक्तुकाम आदौ तावत् पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य भणति-'समत्त०' इत्यादि, 'समाप्तद्वीन्द्रियस्य' पर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणायाः 'सख्यसमाः' सख्यातवर्षाण्येकजीवाश्रितोत्कृ-ष्टकायस्थितिः, उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–"बेइ दियपज्जत्तए ण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अतो-मुहुत्त उक्कोसेण सखेज्जा वासाइ" इति ।।९३।।

एतर्हि पर्याप्तत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणाश्च प्रस्तुतकायस्थिति भणि-तुकाम आह—

पज्जत्तगतेइंदियबायरतेऊण होइ संखेज्जा ।
दिवसा सखियमासा समत्तचउइंदियस्स भवे ।।९४।।

(प्रे०) 'पज्जत्त०' इत्यादि, 'पर्याप्तकत्रीन्द्रियबादरतेजसोः' पर्याप्तस्य प्रत्येकं योजनात् पर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणायाः पर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणायाश्च 'संख्येयाः' सख्याताः 'दिवसाः' अहोरात्राः 'भवति' एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः सम्पद्यते, यदुक्त श्रीप्रज्ञापनासूत्रे-"तेइ दियपज्जत्तए ण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण सखेज्जाइ राइ दियाइ । ×××× तेउकाइयपज्ज० पुच्छा, गो० ! ज० अतो०, उ० सखेज्जाइ राइ दियाइ ।" इति ।

अथ पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य प्रकृतकायस्थितिं भणति– सखिय०' इत्यादि, 'संख्यमासाः' संख्यातमासाः 'समाप्तचतुरिन्द्रियस्य' पर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणास्थानस्य 'भवेत्' एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिः स्यात् , उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्र आर्यश्यामपादैः-"चउरिंदियपज्जत्तए ण भते ! पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण सखेज्जा मासा ।" इति ॥९५॥

सम्प्रति पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्थानानामेकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिं वक्तुकामः प्राह—

पचिंदियचक्खूण-ऽहियुदहिसहस्सं तसस्स तं दुगुणं ।
पज्जपणिंदितसपुरिससण्णीणा-ऽयरसयपुहुत्तं ॥९६॥

(प्रे०) 'पंचिंदिय०' इत्यादि, 'पञ्चेन्द्रियचक्षुषोः' पञ्चेन्द्रियसामान्यमार्गणायाश्चक्षुर्दर्शनमार्गणायाश्च प्रत्येकम् 'अधिकोदधिसहस्र' पूर्वकोटिपृथक्त्वेनाऽधिकम् उदधीनां=सागरोपमाणां सहस्रमेकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–'पचिंदिए ण भते ! पचिंदिए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण सागरोवमसहस्स साइरेग । ×××× चक्खुदसणी ण भते ! पुच्छा, गो० ! जह० अतो० उक्कोसेण सागरोवमसहस्स सातिरेग ॥" इति ।

'तसस्स' इत्यादि, 'त्रसस्य' पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविशेषणरहितस्य त्रसकायसामान्यमार्गणास्थानस्य 'तत्' तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शित्वात् साधिकसागरोपमसहस्रं द्विगुणं, साधिकं सागरोपमसहस्रद्वयमित्यर्थः, एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिरिति गम्यते । साधिकत्वं च सख्येयवर्षैर्बोध्यम् , उक्त च प्रज्ञापनासूत्रकायस्थितिपदे-"××× तसकाइए त्ति कालओ केवचिर होइ ? गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण दो सागरोवमसहस्साइ सखेज्जवास-ऽब्भहियाइ ।" इति ।

'पज्ज'० इत्यादि, 'पर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसपुरुषसञ्ज्ञिनां' कृतद्वन्द्वा एते षष्ठ्या निर्दिष्टाः, पर्याप्तशब्दस्य च द्वाभ्यामभिसम्बन्धात् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियस्य=पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायाः पर्याप्तत्रसस्य=पर्याप्तत्रसकायमार्गणायाः पुरुषस्य=पुरुषवेदमार्गणायाः संज्ञिनः=संज्ञिमार्गणायाश्च प्रत्येकम् 'अतरशतपृथक्त्वं' सागरोपमशतपृथक्त्वमेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, उक्तं च प्रज्ञापनासूत्रे-"पचिंदियपज्जतए त्ति कालतो केवचिर होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण सागरोवमसयपुहुत्त ।" इति । इह पर्याप्तत्रसकायादिमार्गणानां तु सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं वक्तव्यं ग्रन्थान्तरेषु तथोक्तत्वात् । तथा चात्र प्रज्ञापनासूत्रम्–

"तसकाइयपज्जत्तए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अ तोमुहुत्त, उक्कोसेण सागरोवमसयपुहुत्त सातिरेग" ×××× 卐 पुरिसवेदे ण भते ! गो० ! जह० अ तो०, उक्को० सागरोवमसतपुहुत्त सातिरेग। ×××× सण्णी ण भते ! पुच्छा, गो० ज० अ तो०, उ० सागरोवमसयपुहुत्त सातिरेग।" इति। एवं जीवसमासेऽपि 'पुरिसत्त सण्णित्त च सयपुहुत्त च उयहीण ॥१॥' इति। तदेवमभिहिता इन्द्रियमार्गणाया अन्यासां च कियतीनाञ्चित् कायभेदादिमार्गणानामेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः ॥९६॥

सम्प्रत्यवशिष्टानां कायभेदानामेकजीवाश्रयामुत्कृष्टकायस्थितिं वक्तुकाम आह—

अद्धतइअपरिअट्टा भवे णिगोअस्स होइ कम्मठिई ।
बायरपुहवाइचउगणिगोअपत्तेअहरिआणं ॥९७॥

(प्रे०) 'अद्धतइअ०' इत्यादि, 'अर्धतृतीयपरावर्ताः' पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यमानत्वात् परावर्तशब्देन पुद्गलपरावर्तस्य ग्रहण कर्तव्यम्, अर्धस्तृतीयो येषाम्, तेऽर्धतृतीयाः, अर्धतृतीयाश्च ते पुद्गलपरावर्ताश्च अर्धतृतीयपुद्गलपरावर्ताः=सार्धपुद्गलपरावर्तद्वयमित्यर्थः, 'निगोदस्य' साधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणायाः प्रक्रमाद् एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः 'भवेत्' स्यात्। साधारणशरीरवनस्पतिकायत्वेन पुनः पुनरुत्पद्यमानस्तद्भावमपरित्यजन्नुत्कृष्टतोऽर्धतृतीयान् पुद्गलपरावर्तान् यावदवतिष्ठते, ततः परमन्यत्राऽवश्यमुत्पद्यत इति तात्पर्यम्, यदुक्तं श्रीप्रज्ञापना कायस्थिति पदे—"निगोदे ण भते ! निगोए त्ति केवचिर होति ? गो० ! जह० अ तो०, उक्कोसेण अणताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालतो, खेत्ततो अड्ढाइज्जा पोग्गलपरियट्टा।" इति।

ननु साधारणवनस्पतिकायस्योत्कृष्टकायस्थितिर्यथोक्तप्रमाणा भवति, तर्हि निगोदसामान्यतः पृथग्भूताना बादरनिगोदानां कियती भवति सा ? इति शङ्काऽपनोदाय बादरसाधारणवनस्पतिकायस्य प्रस्तुतकायस्थिति वक्तुकामो ऽन्या अपि मार्गणाः सगृह्य प्राह–'होइ' इत्यादि, 'भवति' विद्यते एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिः 'कर्मस्थितिः' कर्मशब्देनाऽत्र मोहनीयं विवक्षितम्, तेन मोहनीयकर्मणो योत्कृष्टा स्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमिता, सा 'बादरपृथिव्यादिचतुष्कनिगोदप्रत्येकहरितानां' बादरविशेषण प्रत्येकं योज्यम्, नवरं प्रत्येकहरितेन सह न योज्यम्, व्यभिचाराभावात्, ततश्चाऽयमर्थः–बादरपृथिव्यादिचतुष्कस्य=बादरपृथिवीकाय बादराप्काय-बायरतेजःकाय-बादरवायुकायलक्षणस्य प्रत्येकं बादरनिगोदस्य=बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणाभेदस्य प्रत्येकहरितस्य=पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणरहितस्य प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायसामान्यमार्गणास्थानस्य च। बादरपृथिवीकायादयः प्रत्येकं स्वस्वकाये पुनः पुनरुत्पद्यमानाः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीर्यावदासते, ततः परमन्यत्रोत्पद्यन्त इति भावः, यदुक्त [illegible]पनासूत्रे–"बादर-

---

卐 षट्खण्डागमे तु–'पुरिसवेदा केवचिर कालादो होंति, जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कस्सेण सागरोपमसदपुधत्त ××× सण्णियाणुवादेण सण्णी केवचिर कालादो होंति। जहण्णेण खुद्दाभवग्गहण उक्कस्सेण सागरोपमसदपुधत्त।" इत्युक्तम्।

पुढविकाइए ण भंते ! पुच्छा, बायरपुढविकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण सत्तरि सागरोवमकोडाकोडीओ, एवं बादरआउक्काइए वि जाव बायरतेउक्काइए वि, बादरवाउक्कायइए वि। xxxx पत्तेयसरीरबायरवणप्फइकाइए ण भंते ! पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण सत्तरि सागरोवमकोडाकोडीओ । बादरनिगोदे ण भंते ! बायरनिगोए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण सत्तरि सागरोवमकोडाकोडीतो ।'' इति । तदेवं भणिता कायमार्गणाभेदाना कायस्थितिस्तत्साम्याच्चान्यासामपि मार्गणानाम् ॥९७॥

सम्प्रत्यवशिष्टानां योगमार्गणानां स्त्रीवेदमार्गणायाश्च कायस्थितिं वक्तुकाम आह–

बावीससहस्ससमा देसूणुरलस्स तिसमया णेया ।
कम्माणाहाराणं पल्लसयपुहुत्तमित्थीए ॥९८॥

(प्रे०) '**बाव० ०**' इत्यादि, 'द्वाविंशतिसहस्रसमा देशोनाः' अन्तर्मुहूर्तन्यूना द्वाविंशतिसहस्रवर्षा '**औदारिकस्य**' औदारिककाययोगस्योत्कृष्टकायस्थितिर्भवति । इयमत्र भावना–कश्चिद् द्वाविंशतिसहस्रवर्षस्थितिकखरबादरपृथिवीकायिकेषूत्पद्यते, पृथिवीकायिकस्योत्कृष्टतो भवस्थितेर्द्वाविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणत्वात् , यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–"पुढविकाइया ण भंते केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण बावीसं वाससहस्साइं" इति । उत्पादकाले चाऽन्तर्मुहूर्तं यावत् करणा-ऽपर्याप्ता-ऽवस्थायां तस्यौदारिकमिश्रकाययोगो भवति, ततः परमाजीवनमौदारिककाययोगो भवति, मरणानन्तरं चौदारिकमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगो वा सम्पद्यते, तेनौदारिककायस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तन्यूनद्वाविंशतिसहस्रवर्षाणि लभ्यते ।

न चा-ऽसंख्येयवर्षायुष्कान् नरतिरश्चो-ऽधिकृत्यौदारिककाययोगस्योत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तन्यूनत्रिपल्योपमाणि कुतो न लभ्यते, तेषां भवस्थितेस्तावन्मात्रत्वादिति वाच्यम् , तेषां प्रत्यन्तर्मुहूर्तं योगपरावृत्तेः । तथाहि–असंख्येयवर्षायुष्काणां जीवानां स्वपर्याप्तिषु पूरितासूत्कृष्टतो ऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमौदारिककाययोगतो मनोयोगो वचनयोगो वा भवति, मनोयोगत औदारिककाययोगो वचनयोगो वा भवति, एवं वचनयोगतो योगान्तरं भवति । इत्थमसंख्येयवर्षायुषां जीवाना मनोयोगवचनयोगयोरपि सद्भावादुत्कृष्टत औदारिककाययोगस्योत्कृष्टकालो देशोनत्रिपल्योपमानि न लभ्यते, किन्त्वन्तर्मुहूर्तम् । एकेन्द्रियाणां तु मनोवचनयोगाभावात् केवल औदारिककाययोगो देशोनद्वाविंशतिसहस्रवर्षाणि यावदवतिष्ठते ।

'**तिसमया**' इत्यादि, त्रिसमयाः 'ज्ञेया' एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिः, कयोः ? इत्याह–'**कम्माणाहाराणं**' ति, 'कार्मणाऽऽनाहारयोः' कार्मणकाययोगमार्गणाया अनाहारकमार्गणायाश्च प्रत्येकम् । ननु सिद्धानाश्रित्या-ऽनाहारकमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिः साद्यपर्यवसिता लभ्यते, तत्कथं त्रिसमयप्रमाणैवोच्यत इति वाच्यम् , इह प्रकृतिबन्धस्य प्रस्तुतत्वेन तमेवाश्रित्य कायस्थितेरुक्तत्वात् , सिद्धाना च प्रकृतिबन्धाऽभावात् । सयोगिकेवलिनः समाश्रित्या-

ऽनाहारककार्मणकाययोगमार्गणयोस्त्रिसामयिककालः समुद्घातावस्थायां लभ्यते, छद्मस्थान् प्रतीत्य तु विग्रहगतौ लभ्यते, चतुःसामयिक्या विग्रहगतेः प्रकृतग्रन्थे विवक्षितत्वात् । सा च विवक्षा-ऽनाहारकमार्गणाप्ररूपणा ऽवसरे दर्शिता, नाऽत्र भूयो गीयते ।

अथ स्त्रीवेदस्योत्कृष्टकायस्थितिं भणति–'पल्ल०' इत्यादि, पल्योपमशतपृथक्त्वं 'स्त्रियः' स्त्रीवेदमार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति , यदुक्त **जीवसमासे**–"इत्थिण पल्लसय-पुहुत्त तु ।" इति । स्त्रीवेदकायस्थितेर्निरूपणमनेकधा ग्रन्थान्तरेषु दृश्यते । तद्यथा-"द्रव्यस्त्रीवेदोदय पल्योपमशतपृथक्त्व यावदुत्कृष्टतो भवति ।" इति **पञ्चसंग्रहमूलवृत्तौ**,एवं **श्रीशीलाचार्यकृतजीव-समासवृत्तावपि । पञ्चसग्रहमलयगिरीयवृत्तौ** तु"तथा'थी पलियसयपुहुत्त' त्ति स्त्रीवेदो जघन्यत एक समय, उत्कर्षतः पल्योपमशत पूर्वकोटिपृथक्त्व च ।" इति । सिद्धान्ते पुनः **प्रज्ञापन सूत्रे** स्त्री-वेदस्योत्कृष्टकायस्थितिचिन्तायाम**ार्यश्यामपादैः** पञ्चादेशाः प्ररूपिताः । तथाहि–"इत्थिवेदे ण भंते ! इत्थिवेदे त्ति काल० ? गो० ! एगेण आदेसेण जह० एक्क समय, उक्को० दसुत्तर पलिओवमसत पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहिय ॥१॥ एगेण आदेसेण जह० एग समय, उक्को० अट्ठारसपलितोवमाइ पुव्वकोडि-पुहुत्तमब्भहियाइ ॥२॥ एगेण आदेसेण ज० एग समय, उक्को० चउद्दस पलिओवमाइ पुव्वकोडिपुहुत्त-मब्भहियाइ ॥३॥ एगेण आदेसेण ज० एग समय, उक्को० पलिओवमसत पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहिय ॥४॥ एगेण आदेसेण जह० एग समय, उक्को० पलितोवमपुहुत्तं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहिअ ॥५॥" इति । इह केवलिनामतिशयज्ञानिनां चैक एवादेशः प्रमाणम् ,अतिशयज्ञानशक्तिविकलानां स्थ तु पञ्चा-ऽपि, यतोऽनन्तरोक्तपञ्चानामादेशाना मध्ये-ऽन्यतमादेशसमीचीनतानिर्णयः केवलज्ञानिभिर्विशिष्ट-श्रुतलब्धिसम्पन्नैर्वा कर्तुं शक्यते । तेन शेमुषीशालिभिर्विद्वज्जनैः स्त्रीवेदस्य प्रस्तुतकायस्थिति-रेकजीवाश्रिताऽऽगमा-ऽविरोधेन परिभावनीया ॥९८॥

सम्प्रत्यपगतवेदमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थिति भणितुकामो-ऽन्या अपि मार्गणाः संगृह्य प्राह–

देसूणपुव्वकोडी अवेअअकसायकेवलदुगाणं ।
मणणाणसंजमाणं सामइआईण पंचण्हं ॥९९॥

(प्रे०) '**देसूण**०'इत्यादि, 'देशोनपूर्वकोटिः'देशेन=एकदेशेन ऊना=न्यूना पूर्वकोटिः'अवेदा-ऽकषायकेवलद्विकानाम्' अवेदस्य=अपगतवेदमार्गणाया अकषायस्य=अकषायमार्गणास्थानस्य केवलद्वि-कस्य=केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणस्य च 'मनोज्ञानसंयमयोः' मनोज्ञानस्य=मनःपर्यवज्ञानमार्गणा-स्थानस्य सयमस्य=संयमसामान्यमार्गणाभेदस्य च 'सामायिकादीनां पञ्चाना' सूक्ष्मसम्परायस्योक्त-त्वेनाऽविरतमार्गणायाश्च वक्ष्यमाणत्वेनाऽत्राऽऽदिशब्देन छेदोपस्थानीयसयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-यथाख्यातसंयम-देशसयमानां ग्रहणात् सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिक-संयम-यथाख्यातसंयम देशसंयमानां चैकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्भवतीति गम्यते । इयमत्र

भावना-देवगतितो नरकगतितो वा कश्चित् क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्मनुष्येषु पूर्वकोटिवर्षायुष्कत्वेनोत्पद्यते। ततः सातिरेकवर्षाष्टकं व्यतिक्रम्य शीघ्रं क्षपकश्रेणिमारोहति, अनिवृत्तिकरणस्य बहुसङ्ख्येयभागादूर्ध्वमवेदभावं प्राप्य सूक्ष्मसम्परायाच्चोर्ध्वमकषायभावं यथाख्यातसंयमञ्चामाद्य सयोगिकेवलिगुणस्थानके केवलद्विकं लब्ध्वा स्वायुष्कचरमान्तर्मुहूर्तं यावत् सयोगिकेवलित्वेन विहरति, तं जीवमाश्रित्याऽपगतवेदा-ऽकषाय-केवलद्विक-यथाख्यातसंयमलक्षणानां पञ्चानां मार्गणानामेकजीवविषयोत्कृष्टकायस्थितिः सातिरेकाऽष्टवर्षन्यूनपूर्वकोटिवर्षाणि लभ्यते। सयोगिकेवलिगुणस्थानकादूर्ध्वं तु प्रकृतिबन्धाभावाद् नेहोपरितनकालः प्रस्तुतः।

तथा यः पूर्वकोटिवर्षायुष्को वर्षाष्टकस्योपरि सर्वसंयममासादयति, तत आस्वभवचरमसमयमप्रतिपतितसंयमः संयतत्वेना-ऽवतिष्ठते, मृत्वा च देवलोकं गच्छति, तमाश्रित्य संयमसामान्यमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिरेकजीवाश्रिता सातिरेकाष्टवर्षन्यूनपूर्वकोटिवर्षप्रमाणा लभ्यते। एवं सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-मनःपर्यवज्ञान-देशविरतिमार्गणानामप्युत्कृष्टकायस्थितिर्भाव्या। परिहारविशुद्धिकसंयमस्य प्रकृतकायस्थितिरेकोनत्रिंशद्वर्षन्यूना पूर्वकोटिवर्षाणा बोध्या, जघन्यतो-ऽपि परिहारविशुद्धिकस्य यतिपर्यायस्य विंशतिवर्षमात्रत्वस्वीकारात्, यदुक्तम्-"परिहारविसुद्धिए णं भंते! परिहारविसुद्धिए त्ति कालओ केच्चिरं होइ? गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणाए एगुणतीसाए वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडी।" इति ॥९९॥

सम्प्रत्यज्ञानादिमार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितिं भणितुकाम आह—

दुअणाणा-ऽजयमिच्छाणऽणाइणंता अणाइसंता य।
साइसपज्जवसाणा तइया हीणद्धपरियट्टो ॥१००॥

(प्रे०) 'दुअणाणा०' इत्यादि, 'द्व्यज्ञाना-ऽयतमिथ्यात्वानाम्' एते कृतद्वन्द्वाः षष्ठ्या निर्दिष्टाः, द्व्यज्ञानयोः=मत्यज्ञानमार्गणा-श्रुताज्ञानमार्गणयोः, अयतस्य=अविरतमार्गणास्थानस्य मिथ्यात्वस्य =मिथ्यात्वमार्गणायाश्चैकजीवाश्रिता कायस्थितिः 'अनाद्यनन्ता' अनाद्यपर्यवसिता 'अनादिसान्ता' अनादिसपर्यवसिता, चकारो व्यवहितसम्बन्धः समुच्चयार्थकश्च, स चोत्तरत्र सादिसपर्यवसाना चेति योजनीयः 'सादिसपर्यवसाना च' सादिसान्ता चेति त्रिविधा भवति। तत्रा-ऽभव्यमाश्रित्या ऽज्ञानद्वयमिथ्यात्वमार्गणानां प्रथमविकल्पः, सम्यक्त्वप्राप्त्यसंभवेन कदाचिदप्युक्तमार्गणाऽपरित्यजनात्। येन भव्येनाऽद्यापि सम्यक्त्वं नासादितम्, तमाश्रित्य द्वितीयविकल्पः, आगामिनि काले सम्यक्त्वप्राप्त्या प्रोक्तमार्गणास्थानानामुच्छेदात्। तृतीयविकल्पस्तु सम्यक्त्वतः प्रतिपतितं जीवं प्रतीत्य सम्भवति, यतः सम्यक्त्वतः पतितस्य प्रोक्तमार्गणानां कायस्थितेः सादित्वम्, उत्कर्षतो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तपर्यन्तेऽवश्यं सम्यक्त्वप्राप्त्या कथितमार्गणानां विच्छेदात् सान्तत्वम्,

एवमविरतिमार्गणाया अपि कायस्थितिर्भावनीया, नवरं तत्र देशसंयम-सर्वसंयमयोरन्यतरस्य प्राप्त्या घटना कार्या, न तु केवलसम्यक्त्वप्राप्त्या ।

इह प्रथमविकल्प आदित्वा-ऽन्तत्वाभावाद् द्वितीयविकल्पे चाऽऽदित्वाभावाद् न संभवति जघन्योत्कृष्टा च कायस्थितिः, तृतीये तु संभवति, सादित्वे सति सान्तत्वात् , तेन मत्यज्ञानादिमार्गणानामुत्कृष्टकायस्थिति भणति-'तइया' इत्यादि, 'तृतीया' सादिसान्तलक्षणा एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिः, 'हीनार्धपुद्गलपरावर्तः' एकदेशेन हीनोऽर्धपुद्गलपरावर्तो=देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणा भवतीत्यर्थः । इयमत्र भावना—कश्चिदनादिमिथ्यादृष्टिर्जीवोऽपार्धपुद्गलपरावर्तमात्रशेषसंसारः करणत्रयेणौपशमिकसम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, ततः षडावलिकाशेषायामौपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां सास्वादनं प्रतिपद्यते । ततः प्रभृत्यज्ञानद्विकस्य सादित्वम् । ततो मिथ्यात्वं गच्छति । ततः संसारचक्रे देशोनार्धपुद्गलपरावर्तं यावत् परिभ्रम्या-ऽन्तर्मुहूर्तमात्रशेषसंसारः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तमाश्रित्याऽज्ञानद्विकस्योत्कृष्टकायस्थितिः सादिसान्तविकल्पपतिता किञ्चिन्न्यूनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणा, अयमत्र विशेषः—इह देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः क्षेत्रतो ग्राह्यः, 'अत्र क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो गृह्यते' इति वचनात् । एवं मिथ्यात्वस्याऽपि प्र^c कायस्थितिर्भावनीया, नवरं सम्यक्त्वतः पतित्वा मिथ्यात्वं गतस्य मिथ्यात्वमार्गणायाः कायस्थितेः सादित्वं वाच्यम् । एवमेवाऽविरतमार्गणाया अपि कायस्थितिर्विवेचनीया, नवरं प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वेन सहैव देशविरतिं सर्वसंयमं वा प्राप्नोति, ततो देशविरतितः सर्वविरतितो वा श्च्युत्वा-ऽविरतिमभ्युपगम्य संसारकानने परिभ्राम्यतीति वाच्यम् , यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे—

"मिच्छादिट्ठी णं भंते ! पुच्छा०, गो० ! मिच्छादिट्ठी तिविधे प० त०-अणाइए अपज्जवसिए वा अणादीए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए, तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिते, से जह० अंतो०, उक्को० अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो, खेत्ततो अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । xxxxxxxxx अण्णाणी मतिअण्णाणी सुतअण्णाणी पुच्छा, गो० अण्णाणी मइअण्णाणी सुयअण्णाणी तिविधे प०, त० अणाइए वा अपज्जवसिए, अणादीए वा सपज्जवसिते, सादीए वा सपज्जवसिते, तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिते, से जह० अंतो० उक्को० अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो, खेत्तओ अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं । xxxxx असंजते णं भंते ! असंजए त्ति पुच्छा, गो० ! असंजते तिविधे प०, त०-अणातीए वा अपज्जवसिते अणातीए वा सपज्जवसिते सातीए वा सपज्जवसिते, तत्थ णं जे से सातीए सपज्जवसिते, से जह० अं० उक्को० अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं ।" इति ॥१००॥

सम्प्रति मतिज्ञानादिमार्गणानामेकजीवाश्रितामुत्कृष्टकायस्थितिं विभणिषुराह—

साहिअछसट्ठिजलही तिणाणसम्मत्तवेअगोहीणं ।
दुविहा अणाइणंता अणाइसंता अचक्खुस्स ॥१०१॥

(प्रे०) 'साहिअ०' इत्यादि, तत्र 'त्रिज्ञान-सम्यक्त्व-वेदका-ऽवधीनाम्' एते कृतद्वन्द्वाः षष्ठ्या निर्दिष्टाः, त्रिज्ञानानां=केवलज्ञानमार्गणा मनःपर्यवज्ञानमार्गणयोरुक्तत्वाद् मतिज्ञान श्रु

धिज्ञानलक्षणानां त्रयाणां मार्गणास्थानानां सम्यक्त्वस्य=सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायाः 'वेदकस्य= क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया अवधेः=अवधिज्ञानस्या-ऽनन्तरमेवोक्तत्वाद् अवधिदर्शनमार्गणायाश्च प्रत्येकं 'साधिकषट्षष्टिजलधयः' सातिरेकाणि षट्षष्टिसागरोपमाण्येकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थिति-र्भवति । तथाहि–कश्चिन्मनुष्यः सम्यक्त्वेन सहैव मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानवान् भूत्वा देशोन-पूर्वकोटिं यावज्जीवित्वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकेषु विजयाद्यनुत्तरेपूत्पद्यते, ततो निर्गत्य पुनर्मनु-ष्यजन्मन्यप्रतिपतितसम्यक्त्वप्रस्तुतज्ञानत्रयः पूर्वकोटिं जीवित्वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकेष्वनुत्त-रेषु पुनरुत्पद्यते, ततोऽप्रतिपतितसम्यक्त्वप्रकृतज्ञानत्रयो भूयो मनुष्येषु समुत्पन्नः पूर्वकोटीं जीवित्वा सिद्ध्यतीत्येवं पूर्वकोटित्रयप्रमाणेन त्रिमनुष्यभवायुष्केणा-ऽधिकानि षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यक्त्व-सामान्य-मतिज्ञान श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञानमार्गणानामेकजीवाश्रयोत्कृष्टा कायस्थितिर्भवति, परतस्तु स जीवो मुक्तिमासादयति । अथवाऽप्रतिपतितसम्यक्त्वप्रस्तुतज्ञानत्रयो यो मनुष्यत्वेन देशोनपूर्वकोटीं यावद् जीवित्वा द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकेष्वच्युतदेवेषु क्रमेण पूर्वकोट्यायुष्कभवद्वयेनाऽन्तरयित्वा वारत्रयमुत्पद्यते, ततश्चरमभवे पूर्ववत् पूर्वकोट्यायुष्कभवे समुत्पद्यते, तं जीवमाश्रित्य देशोनपूर्वकोटि-चतुष्केणाधिकानि षट्षष्टिसागरोपमाणि मतिज्ञानादीनामुत्कृष्टकायस्थितिर्भवति । उक्तं च **विशेषा-ऽऽवश्यकभाष्ये**–××××××××××××××××अह सागरोवमाइं छावट्ठि सातिरेगाइं ॥१॥

दो वारे विजयाईसु गयस्स तिन्नच्चुए अहव ताइं । अइरेग नरभविय नाणाजीवाण सव्वद्धं ॥२॥" इति ।

उक्तं च **श्रीप्रज्ञापनासूत्रेऽपि**–"सम्मद्दिट्ठी दुविहे प० त०–सादीए वा अपज्जवसिते, सादीए वा सपज्जवसिते । तत्थ ण जे से सादीए सपज्जवसिते । से जह० अ तो० उक्को० छावट्ठिं सागरोवमाइं साइरेगाइं । ×××× णाणी ण भते ! णाणि त्ति काल०, गो० ! णाणी दुविधे प०, त०–सातीते वा अपज्जवसिते साइए वा सपज्जवसिते, तत्थ ण जे से सादीए सपज्जवसिते, से जहण्णेण अ तो० उक्को० छावट्ठिं सागरोवमाइं साइरेगाइं । अभिनिबोहियणाणी ण पुच्छा, गो० एव चेव, एवं सुयणाणी वि, ओहिनाणी वि एव चेव ।

अवधिदर्शनस्योत्कृष्टकायस्थितिः **सैद्धान्तिकाभिप्रायेण** तु सातिरेके द्वे षट्षष्टी सागरोप-माणां भवति, विभङ्गज्ञानिनामपि अवधिदर्शनस्वीकारात् , यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"ओहिदंसणी ण पुच्छा, गो० जह० एग समय, उक्को० दो छावट्ठीओ सागरोवमाण साइरेगाओ ।" इति । भावना तु **श्रीप्रज्ञापनावृत्तितो**–ऽवसेया । **मंग्रन्थिकाः** पुनराहुः–यद्यपि साकारेतरविशेषभावेन विभङ्गज्ञानतोऽवधिदर्शनं पृथगस्ति , तथापि न सम्यग्निश्चयो जायते विभङ्गज्ञानेन , मिथ्यात्वसमिश्रत्वात् , नाऽप्यवधिदर्शनेन, तस्यानाकारमात्रत्वात् , अतः किं तेन पृथग् विवक्षितेना-ऽपीति । इत्थं **का न्थिकाभिप्रायेण** न विभङ्गावस्थायामवधिदर्शनम् । तस्मात् तन्मतेऽवधिज्ञानवदवधिदर्शनस्या-ऽपि कायस्थितिः सातिरेकाणि षट्षष्टिसागरो-पमाणि लभ्यते । एवं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वस्याऽपि कायस्थितिर्भावनीया । उक्तं च **श्री सम्यक्त्वप्रकरणे**–"× × × साहियतित्तीससायर, खइओ दुगुणो खओवसमो ॥१॥" इति । तथा च

तदवचूरिः—"क्षायोपशमिकस्य तु द्वादशदेवलोके द्वाविंशतिसागरस्थितौ वाऽत्रयगमनापेक्षया ज्ञेयम्, साधिकत्व तु नरभवायु प्रक्षेपात ।' इति । मतान्तरेण पुनः 卐 क्षायोपशमिकसम्यक्त्वस्योत्कृष्टकायस्थितिः सागरोपमाणां षट्षष्टिर्भवति, कथमेतदवगीयते ? इति चेत्, उच्यते—**श्रीकर्मप्रकृतिचूर्णिकारै**र्मिथ्यात्वस्याऽन्तरप्ररूणायां सम्यक्त्वस्य कालः षट्षष्टिसागरोपमप्रमाणो उद्भावितः, तथा चाऽत्र **श्री कर्मप्रकृतिचूर्णिः**—"को-ऽवि मिच्छत्ताओ सम्मत्त गओ छावट्ठिसागरोवमा सम्मत्तकालो, तओ अंतोमुहुत्त सम्मामिच्छत्त गओ, पुणो सम्मत्त पडिवन्नो छावट्ठि सागरोवमाइ अणुपालेइ, तयंते य सिज्झइ, मिच्छत्त वा पडिवज्जइ, एवमुक्कोसेण अंतोमुहुत्ताऽभहियाओ दो छावट्ठीओ सागरोवमाण मिच्छत्तस्स अंतरकालो हवइ त्ति ।" इति ।

साम्प्रतमचक्षुर्दर्शनमार्गणायाः कायस्थितिं भणति—'दुविहा' इत्यादि, तत्र 'अचक्खुस' अचक्षुर्दर्शनमार्गणायाः 'द्विविधा' द्विप्रकारा एकजीवाश्रिता कायस्थितिः । अथ द्वैविध्यं दर्शयति—'**अणाइणंता अणाइसंता**' त्ति, 'अनाद्यनन्ता' अनाद्यपर्यवसिता 'अनादिसान्ता' अनादिसपर्यवसिता च । अभव्यमाश्रित्य प्रथमविकल्पः, कथमिति चेत्, उच्यते—अभव्यः कदाचना-ऽपि केवलज्ञानं न यास्यति, सम्यक्त्वप्राप्तेरभावात् । केवलज्ञाना-ऽप्राप्त्या च तस्य जीवस्या-ऽचक्षुर्दर्शन न व्यवच्छेद प्राप्स्यति, केवलिनामेव तद्व्यवच्छेदोपलम्भात् । तदेवमचक्षुर्दर्शनस्य कायस्थितेर्नाऽन्तता,अनादिकालतः पुनस्पर्शनेन्द्रियमपेक्ष्याऽचक्षुर्दर्शनलब्धेः प्रवृत्तत्वात् तत्कायस्थितेरनादिताऽपि । भव्यमाश्रित्य-ऽनादिसान्ता, कथम् ? इति चेत्, उच्यते—भव्यो हि आगामिनि काले केवलज्ञानं लप्स्यते, तल्लब्धौ च सत्यां "नट्ठम्मि उ छउमत्थिए णाणे" इति वचनप्रामाण्याद् अचक्षुर्दर्शनं व्यवच्छेदमधिगमिष्यति, तेन तं जीवमाश्रित्याऽचक्षुर्दर्शनस्य कायस्थितेः सान्तता, स्पर्शनेन्द्रियाऽपेक्षया चाऽचक्षुर्दर्शनलब्धेरनादिता, उक्तं च श्री**प्रज्ञापनासूत्रे**—अचक्खुदसणी ण भंते । अचक्खुदसणि त्ति काल० गो० ! अचक्खुदसणी दुविहे प०, त०—अणादीए वा अपज्जवसिते, अणादीए वा सपज्जवसिए ।" इति । अचक्षुर्दर्शनमार्गणायाः कायस्थितिः सादिपर्यवसिता तु न सभवति, केवलज्ञानतः प्रतिपाताऽभावात् ॥१०१॥

सम्प्रति लेश्याभव्यमार्गणयोरवसरः । तत्रा-ऽपि कृष्णलेश्याशुक्ललेश्ययोरुत्कृष्टा कायस्थितिः प्रागुक्ता । तेन नीलादिलेश्याना भव्या ऽभव्ययोश्चैकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिं भणितु कामः प्राह—

णीलाइचउण्ह कमा अयरा दस तिण्णि दोण्णि अट्ठार ।
भवियस्स-ऽणाइसंता अभवस्स अणाइणंता उ ॥१०२॥

卐 षटखण्डागमकारैरपि क्षायोपशमिकसम्यक्त्वस्यकाल षट्षष्टिसागरोपमप्रमाण कथित । तथा च तद्ग्रन्थ —वेदगसम्माइट्ठी केवचिर कालादो होंति ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कस्सेण छावट्ठिसागरोवमाणि ।" इति ।

(प्रे०) 'णी इ०' इत्यादि, 'नीलादिचतसृणां' लेश्यानामिति गम्यते, क्रमाद् दश त्रयो द्वौ अष्टादश 'अतराः' सागरोपमा एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, सुगममेतद्, नवरं नीललेश्या-कापोतलेश्या तेजोलेश्यानां यथोक्तकायस्थितिः पल्योपमा-ऽसंख्येयभागेना-ऽभ्यधिका वक्तव्या, **प्रज्ञापनादिसूत्रे** तथोक्तत्वात्, तथा चाऽत्र **श्रीप्रज्ञापनासूत्रम्**–नीललेसे त्ति पुच्छा गो० ! जह० अतो० उक्को० दस सागरोवमाइ पलितोवमासखेज्जइभागमब्भहियाइ, काउलेसे ण पुच्छा, गो० ! जह० अतो० उक्को० तिण्णि सागरोवमाइ पलितोवमासखिज्जतिभागमब्भहियाइ । तेउलेसे ण पुच्छा, गो० ? जह० अतोमुहुत्त उक्को० दो सागरोवमाइ पलितोवमासखिज्जतिभागमब्भहियाइ ।" इति । **एवमुत्तराध्ययनेऽप्युक्तम्** ।

"दसवास सहस्साइ काऊइ ठिई जहण्णिया होइ । तिन्नोदही पलियअसखेज्जभाग च उक्कोसा ॥१॥
तिण्णुदही पलिओवममसखभागो जहन्न नीलठिई । दस उदही पलिओवममसखभाग च उक्कोसा ॥२॥"

इति । भावना त्वित्थं कार्या–कश्चिज्जीवो धूमप्रभायां प्रथमप्रस्तटे पल्योपमा-ऽसंख्येयभागाधिकदश-सागरोपमस्थितिकनीललेश्याकनारकत्वेन समुत्पद्यते, तत्र नीललेश्याया अपि सत्त्वात्, "पचमियाए मीसा" इति वचनप्रामाण्यात् । तस्य च पूर्वभवचरमा-ऽन्तर्मुहूर्ते तथोत्तरभवप्रथमा ऽन्तर्मुहूर्तेऽपि नीललेश्या भवति, यतो मृत्युकाले-ऽन्तर्मुहूर्तशेषे भाविभवलेश्यया जीवा परिणमन्ति, एवमतीतभव-लेश्यायामुत्पत्तिकालप्रथमा-ऽन्तर्मुहूर्तमवतिष्ठन्ते, उक्तं **चोत्तराध्ययनसूत्रे**–

"अतमुहुत्तमि गए अ तमुहुत्तमि सेसए चेव । लेसाहिं परिणयाहिं जीवा गच्छन्ति परलोय ॥१॥" इति ।

ते च द्वेऽन्तर्मुहूर्ते पल्योपमा-ऽसंख्येयभागे एवाऽन्तर्गते, तेन न पृथग् विवक्षिते । तदेवं नीललेश्याया एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिः पल्योपमाऽसंख्येयभागाधिकदशसागरोपमप्रमाणा ।

कापोतलेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिस्तृतीयनरकपृथिव्यपेक्षया भावनीया, वालुकाप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे कापोतलेश्याया अपि सद्भावात् ।

तैजस्या उत्कृष्टकायस्थितिरैशानदेवलोकसुरा-ऽपेक्षया वेदयितव्या, ऐशानसुराणां तेजोलेश्याकत्वात् ।

पद्मलेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिरष्टादशसागरोपमाणि सहस्रारसुरापेक्षया बोध्या । ननु "पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु" इति **तत्त्वार्थसूत्रेण** लोककल्पान्तसुराणां पद्मलेश्या विधीयते, ततश्चा-ऽन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि दशसागरोपमाणि पद्मलेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिर्लभ्यते, उक्तं च **प्रज्ञापनासूत्रे**–"पम्हलेसे ण पुच्छा, गो० ! जह० अ तो०, उक्को० दस सागरोवमाइ अंतोमुहुत्तमब्भहियाइ" इति तत्कथं प्रस्तुतगाथोक्तोत्कृष्टकायस्थितिर्घटामृच्छति ? इति चेत्, उच्यते–सत्यमेतत्, किन्तु मतान्तरापेक्षया गाथोक्तकायस्थितिरपि न विरुध्यते । कथमिति चेत्, उच्यते–सहस्रारकल्पदेवानां तिर्यगायुर्बन्धो **बन्धस्वामित्वग्रन्थे** विहितः, आनतादिदेवेषु शुक्ललेश्याया च निषिद्धः, तथा च **तद्ग्रन्थः**–रयणुव्वसणंकुमाराइ आणयाई उज्जोयचउरहिया । ×××× ॥ तेऊ

णिरयणवूणा, उज्जोयचउनरयबार विणु सुक्का । विणु नरयबार पम्हा अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥" इति।
तदेवं सहस्रारकल्पदेवानां तिर्यगायुर्बन्धोपलम्भात् तेषां पद्मलेश्या संभाव्यते, अन्यथा शुक्ल-लेश्यायां तिर्यगायुर्बन्धः कथं स्यात् । न चैतत्स्वमनीषिकया मतान्तरं संभावितम् , श्रीमद्-जय-सोमसूरीश्वरैर्बन्धस्वामित्वस्तबके-ऽर्थतः संभावितत्वाद् । सहस्रारदेवानाञ्चोत्कृष्टस्थितिर-ष्टादश सागरोपमाणि सुप्रतीता । तेन पूर्वोत्तरभवगता-ऽन्तर्मुहूर्तद्वयेनाऽधिकान्यष्टादश सागरोप-माणि पद्मलेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिरेकाजीवाश्रया मतान्तरेण सभवति, सम्यग्दृष्टीनां भाविभवा-ऽतीतभवयोर्लेश्याया अन्तर्मुहूर्तं यावत् सद्भावे विरोधाभावात् । ग्रन्थे त्वन्तर्मुहूर्तद्वयेनाधिकानि नोक्तानि, स्वल्पत्वात् ।

'भविय ' इत्यादि 'भव्यस्य' भव्यमार्गणाया 'अनादिसान्ता' अनादिमपर्यवसिता एकजीवाश्रया कायस्थितिर्भवति, अनादिकालतो हि भव्यत्वस्य प्रवृत्तत्वाद् भव्यमार्गणायाः काय-स्थितेरनादिता,सिद्धि यियासोरयोगिकेवलिगुणस्थानके भव्यत्वस्य निवर्तिष्यमाणत्वात् सान्तता ।

'अभवस्स' इत्यादि,'अभव्यस्य' अभव्यमार्गणायाः 'अनाद्यनन्ता' अनाद्यपर्यवसानैकजीवाश्र-योत्कृष्टा कायस्थितिरिति गम्यते, अनादिकालादभव्यत्वस्य प्रवृत्तत्वात् सिद्धिगमनायोग्यत्वेन व्यवच्छेदाभावात् , उक्तं च **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"भवसिद्धिए ण पुच्छा, गो० अणादीए सपज्जवसिते अभवसिद्धिए ण पुच्छा, गो० ! अणादीए अपज्जवसिते ।" इति ॥१०२॥

अथा-ऽवशिष्टयोः सास्वादनमार्गणा-ऽऽहारकमार्गणयोरेकजीवाश्रयामुत्कृष्टकायस्थितिं वक्तु-कामः प्राह—

सासाणस्सावलिआ छ भवे आहारगस्स णायव्वा ।
अंगुलअसंखभागो त्ति पडुच्चा बंधगं उत्ता ॥१०३॥

(प्रे०) **'सा ०'** इत्यादि, 'सास्वादनस्य' सास्वादनमार्गणायाः षडावलिका एकजीवाश्र-योत्कृष्टकायस्थितिः 'भवेत् , स्यात् । औपशमिकसम्यक्त्वतः पतितः सास्वादनभावं गत उत्कृष्टत आवलिकाषट्कं यावत्सास्वादनभावं भजते, परतो ऽवश्य मिथ्यात्वं गच्छति, उक्त च **श्रीजीव-समासप्रकरणे**–"सासायणेगुजीविय एकसमयाइ जाव छावलिया ×××× ॥१॥" इति ।

'आहारगस्स' इत्यादि, 'आहारकस्य' आहारकमार्गणाया 'अङ्गुला ऽसंख्यभागः' अङ्गुल-क्षेत्रस्याऽसंख्येयभागे ये आकाशप्रदेशा भवन्ति, तेषा प्रतिसमयमेकैकप्रदेशाऽपहारे यावत्यो-ऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो गच्छन्ति, तावतीर्यावदुत्कृष्टत अविग्रहगत्या जीव उत्पद्यते, परतो द्व्यादिविग्रहगत्या समुत्पद्यते, तत्र चानाहारकत्वाद् आहारकमार्गणाया यथोक्तप्रमाणा एकजीवा-श्रितोत्कृष्टा कायस्थितिः, उक्त च **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"छउमत्थआहारए ण भते ! [illegible] त्ति काल० ? गो० ! ××××× उक्को० असखेज्जं काल असखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पि

खेत्तो अंगुलस्स असंखेज्जतिभाग।" इति। इतिशब्दः प्रकारार्थद्योतकः, अनेन प्रकारेण चतुरशीतितमगाथातः प्रभृति त्र्यधिकशततमगाथां यावद् 'बन्धकं' बध्नाति=कार्मणवर्गणापुद्गलान् क्षीरनीरवद् आत्मना सहात्मसात्करोतीति बन्धकः, तम्, एकवचननिर्देशाद् एकं बन्धकजीवं 'प्रतीत्य' आश्रित्य 'उक्ता' उत्कृष्टकायस्थितिर्विहिता, न तु बन्धकनिरपेक्षा, क्षायिकसम्यक्त्वादीनां तस्याः साद्यनन्तत्वोपम्भलात्। सा च वक्ष्यते षडधिकशततमगाथायाम् ॥१०३॥

अथ मतान्तरेण कासाञ्चिद् मार्गणानां बन्धकमाश्रित्य कायस्थितिमाह—

केइ पुण बिंति हवए संखसहस्सवरिसा समत्ताणं।
बेइंदियतेइंदियचउइंदियबायरऽग्गीणं ॥१०४॥
दो सागरा सहस्सा समत्ततसचक्खुदंसणाण भवे।
सत्तरह सत्त अयरा होइ कमा नीलकाऊणं ॥१०५॥

(प्रे०) 'केइ' इत्यादि, केचित्=एके आचार्यपादाः पुनः 'ब्रुवन्ति' पठन्ति, किम्? इत्याह- 'हवए' इत्यादि, 'संख्यसहस्रवर्षाः' संख्यातसहस्राणि वर्षाणि 'समाप्तानां' पर्याप्तानां द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-बादराग्नीनां प्रत्येकं 'भवति' एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिरस्ति। भावार्थः पुनरयम्-पर्याप्तनामकर्मोदयविशेषितो द्वीन्द्रियजीवो भूयो भूयः पर्याप्तद्वीन्द्रियत्वमपरित्यजन्नुत्पद्यमान उत्कृष्टतो वर्षाणां संख्येयसहस्राणि यावदवतिष्ठते, तेनैकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिः पर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणायाः संख्यातसहस्रवर्षाणि लभ्यते, एवं पर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणा-पर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणयोः पर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणायाश्च कायस्थितिर्भावनीया, उक्तं च **पञ्चसंग्रहे**—बायरपज्जेगिंदियविगलाण य वाससहस्ससंखेज्जा।" इति। तथैव **तन्मूलवृत्तावप्युक्तम्**-"बादराणां पर्याप्तकनामविशेषितानां संख्येया वर्षसाहस्रय प्रत्येक पृथिवीजलाग्निवायुवनस्पतिप्रत्येकैकेन्द्रियाणां संख्येया वर्षसाहस्रय कायस्थिति, विकलानामपि द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येक संख्येयवर्षसाहस्रय कायस्थिति'।" इति। तथा चोक्तं **जीवसमासे** तदीयायां च **श्रीशीलाचार्यकृतवृत्तावपि**-"बायरपज्जत्ताण वियलसपज्जत्तइंदियाण च। उक्कोसा कायठिई, वाससहस्सा उ संखेज्जा ॥१॥" इति, बायरेत्यादि पृथिव्यादीनां बादरपर्याप्तकानां विकलेन्द्रियपर्याप्तकानाम् 卐 तथा सकलेन्द्रियाणां संख्येयवर्षायुषां पर्याप्तकानां चोत्कृष्टकायस्थिति संख्येयानि वर्षसहस्राणि।" इति। प्राक् चतुर्नवतितमगाथया **प्रज्ञापनादिसूत्राभिप्रायेण** पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य संख्यातवार्षिकी, पञ्चनवतितमगाथया च पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य संख्यातदिवसमात्री पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य संख्यातमासप्रमाणा-ऽभिहिता, मतान्तरेण त्वऽनन्तरोक्तप्रमाणा बोध्या।

'दो' इत्यादि, द्वे सहस्रे सागराः=सागरोपमाः 'समाप्तत्रसाऽचक्षुर्दर्शनयोः' समाप्तशब्दो-

---

卐 षट्खण्डागमेऽप्युक्तम्-"बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदियपज्जत्ता केवचिरं कालादो होंति? ××× उक्कस्सेण संखेज्जाणि वाससहस्साणि। ×××× बादरतेउकाय ×××× पज्जत्ता केवचिरं कालादो होन्ति ××× उक्कस्सेण संखेज्जाणि वाससहस्साणि" इति।

ऽत्र पर्याप्ता-ऽभिधायी, तेन पर्याप्तत्रसस्य=पर्याप्तत्रसमार्गणायाः, चक्षुर्दर्शनस्य=चक्षुर्दर्शनमार्गणायाश्च 'भवेत्' एकजीवाश्रयोत्कृ ायस्थितिः स्यात् । तत्र यः कश्चिद् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियतो निर्गत्य चतुरिन्द्रियादिषु भूयो भूय उत्पद्यमानो द्वे सागरोपमाणां सहस्रे व्यतिक्रमते, तत एकेन्द्रियादिषूत्पद्यते, तमाश्रित्य चक्षुर्दर्शनस्योत्कृष्टकायस्थितिर्द्विसहस्रसागरोपमाणि, उक्तं च जीवसमासे-×××× चक्खुस्सुदहीण वे सहस्साइ ॥१॥ इति तदीयायां शीलाचार्यकृतवृत्तावप्यभिहितम्-"चक्षुर्दर्शनी चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियो वा, स तद्भावममुञ्चन् , एत्र पर्याप्तत्रसकायस्थोऽपि प्रकृतकायस्थितिविषये सागरोपमसहस्रद्वय यावदास्ते, तस्य चक्षुर्दर्शनमेतावन्त काल भवति ।" इति ॐ । एवं पर्याप्तत्रसकायस्यापि ग्रन्थान्तरसंवादो द्रष्टव्यः ।

अथ मतान्तरेण नीललेश्या-कपोतलेश्ययोः कायस्थितिं भणति-'सत्तरह' इत्यादि, तत्र 'नीलकापोतयोः' नीललेश्यायाः कापोतलेश्यायाश्च क्रमात् 'सप्तदश' सप्तदशसंख्याकानि 'सप्त' सप्तसंख्यकानि अतराः=सागरोपमा 'भवति' एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिरस्ति । एतदुक्तं भवति-नीललेश्याकानां जीवानां सप्तदशसागरोपमस्थितिकेषु नारकेषूत्पत्तिर्व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तौ सप्तमशतके तृतीयोद्देशके श्रीमदभयदेवसूरिभिर्विहिता । तथा च तद्ग्रन्थः-"पञ्चमपृथिव्या सप्तदशसागरोवमस्थितिर्नारको नीललेश्य समुत्पन्न ×××× ।" इति ★ । तेन न विरुध्यते नीललेश्याया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्यथोक्तप्रमाणा ।

तथा वालुकाप्रभाया नवमप्रस्तटं यावत् कापोतलेश्याकानां जीवानामुत्पत्ति स्वीकुर्वता महाबन्धकारादीनां मतेन कापोतलेश्यायाः सप्तसागरोपमाण्युत्कृष्टकायस्थितिर्भवति ।

इह नीललेश्याकापोतलेश्ययोर्यथाक्रमं सप्तदशसागरोपमाणि सप्तसागरोपमाणि चाऽन्तर्मुहूर्तद्वयेना-ऽधिकानि ज्ञातव्यानि, पूर्वोत्तरभवयोर्यथाक्रमं चरमे प्रथमे चा-ऽन्तर्मुहूर्तकाले तत्तल्लेश्यायाः सत्त्वात् । तदेवमभिहिता बन्धकमाश्रित्य गत्यादिमार्गणानामेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः ॥१०४, १०५॥

इहाऽपगतवेदादिमार्गणानां बन्धकापेक्षया देशोनपूर्वकोट्यादिप्रमाणा कायस्थितिरभिहिता, किन्तु केषाञ्चिद् मन्दमेधसां जनानां व्यामोहः स्यात्-ग्रन्थान्तरेष्वपगतवेदादीनां कायस्थितिः साद्यनन्ताऽपि प्रतिपादिता दृश्यते । इह ग्रन्थे तथाविधा कुतो न प्रोक्तेति प्रस्तुतेऽनुपयोगिनीमपि बन्धकनिरपेक्षां कायस्थितिमाह—

साइअणंता बंधगनिरवेक्खा खइअकेवलदुगाणं ।
सम्मअकसायगयवेअअणाहाराण साइसंतावि ॥१०६॥ (गीतिः)

ॐ एव षट्खण्डागमेऽप्युक्तम्-"दसणाणुवादेण चक्खुदसणी केवचिर कालादो होंति ? जहण्णेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण वे सागरोवमसहस्साणि ।" इति ।

★षट्खण्डागमेऽप्युक्तम्-लेस्साणुवादेण किण्हलेस्सिय-णीललेस्सिय-काउलेस्सिया केवचिरं कालादो होंति ? जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कस्सेण तेत्तीस-सत्तरस-सत्तसागरोवमाणि सादिरेयाणि ।" इति ।

(प्रे०) 'साइअणंता' इत्यादि, तत्र 'क्षायिककेवलद्विकयोः' क्षायिकस्य=क्षायिकसम्यक्त्व-मार्गणायाः केवलद्विकस्य=केवलज्ञान केवलदर्शनलक्षणस्य मार्गणाद्वयस्य प्रत्येकं बन्धकनिरपेक्षा कायस्थितिः 'साद्यनन्ता' साद्यपर्यवसिता भवति, क्षायिकसम्यक्त्व-केवलज्ञान-केवलदर्शनानां प्रतिपाताभावात्. उक्तं च **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"केवलणाणी णं पुच्छा, गो० ! सातिए अपज्जवसिते । ××××केवलदंसणी ण पुच्छा, गो० सातीए अपज्जवसिते ।" इति । एवं क्षायिकसम्यक्त्वेऽपि ग्रन्थान्तर-संवादो बोध्यः ।

(०) इत्यादि, 'सम्यक्त्वा-ऽकषायगतवेदानाहाराणां' सम्यक्त्वस्य=सम्यक्त्वसामान्य-मार्गणाया अकषायस्य=अकषायमार्गणास्थानस्य गतवेदस्य=अपगतवेदमार्गणाया अनाहारस्य=अनाहारकमार्गणायाश्च प्रत्येक कायस्थितिः 'सादिसान्ताऽपि' सादिसपर्यवसिता, अपिशब्दस्य समुच्चयार्थकत्वेन साद्यपर्यव च, एतासु मार्गणासु सिद्धानां प्रविष्टत्वेनाऽपर्यवसितत्वोपपत्तेः सम्यक्त्व-सामान्यमार्गणायामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनाम् ; अकषाया-ऽपगतवेदयो-रुपशान्तमोहानाम् , अनाहारकमार्गणायां च विग्रहगतिवर्तिनां समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनां प्रवि-ष्टत्वेन सान्तत्वघटनात् । इदमत्राऽवधेयम्–सम्यक्त्वसामान्यस्य सादिसपर्यवसिता कायस्थिति-रुत्कृष्टतः सातिरेका षट्षष्टिः सागरोपमाणाम् , अनाहार र्गणायाश्च त्रयः समया बोध्या, सा च प्रागुक्तैव । अवेदा-ऽकषाययोश्च सादिसान्ता कायस्थितिरुत्कृष्टतोऽन्तमुहूर्तप्रमाणा ज्ञातव्या, उपशमश्रेणौ लाभात् , यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"अवेदए ण भते अवेदए त्ति पुच्छा, गो० ! अवेदे दुविधे प० त०--सादीए वा अपज्जवसिए साइए वा सपज्जवसिते, तत्थ ण जे से साइए सपज्जवसिते, से जहन्नेण एग समय उक्को० अतो ×××××। अकसाई ण भते अकसादि त्ति काल० ? गो० ! अकसादि दुविहे प० त०--सादीए वा अपज्जवसिते सादीए वा सपज्जवसिते, तत्थ ण जे से सादीए सपज्जवसिते से जह० एगं समय उक्को० अतो० । ××××सम्मद्दिट्ठी ण भते ! सम्मद्दि० काल० ? गो० ! सम्मद्दिट्ठी दुविहे प०, त०--सादीए वा अपज्जवसिते सादीए वा सपज्जवसिते । तत्थ ण जे से सादीए सपज्जवसिते, से जह० अतो० उक्को० छावट्ठि सागरोवमाइ । एवमाहारकमार्गणायामपि ग्रन्थान्तरसंवादो योज्य ।।१०६।।

सम्प्रत्येकजीवाश्रयां जघन्यकायस्थिति वक्तुकाम आह—

कायठिई णायव्वा जहण्णगा दससहस्सवासाणि ।
णिरयपढमणिरयाणं देवभवणवंतराणं च ।।१०७।।

(प्रे०) '**कायठिई**' इत्यादि, ' स्थितिः' उक्तशब्दार्थैकजीवाश्रिता 'जघन्यका' सर्व-जघन्या दशसहस्रवर्षाणि, कासां मार्गणानाम् ? इत्याह–'**णिरय०**' इत्यादि, 'निरय-प्रथमनिरयोः-नरकगतिसामान्यमार्गणाया रत्नप्रभानरकमार्गणायाश्च 'देवभवनव्यन्तराणां च' देवगतिसामान्य-मार्गणायाः, "समुदायेषु प्रवृत्ता शब्दा अवयवेष्वपि दृश्यन्ते" इति न्यायेन भवनशब्देन भवनपते ग्रहणम् , भवनपतिमार्गणाया व्यन्तरसुरमार्गणायाश्च प्रत्येकं 'ज्ञातव्या' बोद्धव्या, यतो देवनारका अनन्तरभवे देवनारकत्वेन नोत्पद्यन्ते, नरकसामान्यादीनां च जघन्यभवस्थितिर्यथोक्तप्रमाणा, उक्तं

च श्रीतत्त्वार्थसूत्रे—"दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्, भवनेषु च, व्यन्तराणा च।" इति। इह रत्नप्रभायाः प्रथमप्रस्तटमाश्रित्य प्रथमनरकगतिमार्गणाया दशवर्षसहस्राणि जघन्या कायस्थितिरुक्ता, द्वितीयादिप्रस्तटे पुनर्जघन्या कायस्थितिर्दशलक्षवर्षादिका भवति, तथाहि–रत्नप्रभाया द्वितीयप्रस्तटे नारकाणां जघन्या कायस्थितिर्वर्षाणां दशलक्षाः (१००००००) 卐, तृतीयप्रस्तटे नवतिलक्षाः (९००००००), चतुर्थप्रस्तटे पूर्वकोटिवर्षमात्री ।

पञ्चमादिप्रस्तटेषु जघन्यकायस्थितिरित्थं बोध्या–पञ्चाशीतितमगाथायाष्टीकायां पूर्वपूर्वप्रस्तटे या उत्कृष्टा कायस्थितिरुक्ता, उत्तरोत्तरप्रस्तटे सा जघन्या बोध्या, तद्यथा–पञ्चमप्रस्तटे सागरोपमस्यैको दशभागः (१/१० सा०), षष्ठप्रस्तटे द्वौ सागरोपमस्य दशभागौ (२/१० सा०), सप्तमप्रस्तटे त्रयः सागरोपमस्य दशभागाः (३/१० सा०), अष्टमे प्रस्तटे चत्वारः सागरोपमस्य दशभागाः (४/१० सा०), नवमप्रस्तटे पञ्च सागरोपमस्य दशभागाः (५/१० सा०), दशमे प्रस्तटे षट् सागरोपमस्य दशभागाः (६/१० सा०),एकादशे प्रस्तटे सप्त सागरोपमस्य दशभागाः,(७/१० सा०), द्वादशे प्रस्तटेऽष्ट सागरोपमस्य दशभागाः (८/१० सा०), त्रयोदशे च प्रस्तटे नव सागरोपमस्य दशभागाः (९/१० सा०) ॥१०७॥

अथ द्वितीयादिनरकपृथिवीषु नारकाणामेकजीवाश्रितां जघन्यकायस्थितिं प्राह—

बीआइगणिरयाणं सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा।
खुड्डभवो तिरियपणिंदितिरियमणुसतदपज्जाणं ॥१०८॥
पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदियकायभेअसण्णीणं।
अमणस्स जाणियव्वा आहारस्स तिसमयहीणो ॥१०९॥

(प्रे०) 'बीआइ०' इत्यादि, 'प्रथमादिनिरयाणां' रत्नप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टकायस्थितिः पञ्चाशीतितमगाथया प्रोक्ता, सा 'द्वितीयादिकनिरयाणां' शर्कराप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां जघन्या कायस्थितिर्भवति, नारकाणामनन्तरभवे पुनर्नारकत्वेनाऽनुत्पादाद् जघन्यभवस्थितेश्च यथोक्तमात्रत्वात्। अयं भावः–शर्कराप्रभापृथिवीस्थानां नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिरेकं सागरोपमं भवति, वालुकाप्रभानरकपृथिवीनारकाणां जघन्यकायस्थितिस्त्रिसागरोपमाणि, पङ्कप्रभानरकपृथिवीनारकाणां सप्त सागरोपमाणि, धूमप्रभाया दश सागरोपमाणि तमःप्रभानारकाणां सप्तदश सागरोपमाणि, महातमःप्रभायाश्च नारकाणां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि। विशेषतः पुनः पञ्चाशीतितमगाथया प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिर्या प्रोक्ता, सैवोत्तरोत्तरप्रस्तटे

卐 धवलाकारैस्तु -"बिदियपत्थडे णउदिवस्ससहस्साणि (९००००) समयाहिआणि जहण्णमाउअं ××× चउत्थपत्थडे जहण्णमसंखेज्जाओ पुव्वकोडीओ समयाहियाओ।" इत्युक्तम्।

जघन्या कायस्थितिर्भवति । तथाहि–शर्कराप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्य-कायस्थितिरेकं सागरोपमम् (१), द्वितीयप्रस्तट एकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ (१, $\frac{२}{११}$), तृतीयप्रस्तट एकं सागरोपमं चत्वारश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः(१, $\frac{४}{११}$), चतुर्थप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१, $\frac{६}{११}$), पञ्चमप्रस्तटे-ऽष्टभिः सागरोपम-स्यैकादशभागैरधिकं सागरोपमम् (१, $\frac{८}{११}$), षष्ठप्रस्तटे दशभिः सागरोपमस्यैकदशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ $\frac{१०}{११}$), सप्तमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्यैकादशभागेनाधिके द्वे सागरोपमे(२ $\frac{१}{११}$) अष्टमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे त्रयश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ $\frac{३}{११}$) नवमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे पञ्च च सागरोपमस्यैकादशभागाः(२ $\frac{५}{११}$), दशमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे सप्त च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ $\frac{७}{११}$),एकादशे च प्रस्तटे नवभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे सागरोपमे (२ $\frac{९}{११}$) ।

वालुकाप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि (३), द्वितीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य नवभागाः (३ $\frac{४}{९}$), तृतीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाण्यष्टौ च सागरोपमस्य नवभागाः (३ $\frac{८}{९}$), चतुर्थप्रस्तटे त्रीभिः सागरो-पमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ $\frac{३}{९}$), पञ्चमे प्रस्तटे सप्तभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ $\frac{७}{९}$), षष्ठे प्रस्तटे पञ्च सागरोपमाणि द्वौ च सागरो-पमस्य नवभागौ (५ $\frac{२}{९}$), सप्तमे प्रस्तटे पञ्चसागरोपमाणि षट् च सागरोपमस्य नवभागाः (५ $\frac{६}{९}$), अष्टमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य नवभागेनाऽधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ $\frac{१}{९}$), नवमप्रस्तटे च पञ्चभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ $\frac{५}{९}$) ।

पङ्कप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः सप्त सागरोपमाणि (७), द्वितीयप्रस्तटे सप्त सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य सप्तभागाः (७ $\frac{३}{७}$), तृतीयप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि सप्तसागरोपमाणि (७ $\frac{६}{७}$), चतुर्थप्रस्तटेऽष्टौ सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य सप्तभागौ (८ $\frac{२}{७}$), पञ्चमप्रस्तटे पञ्चभिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकान्यष्टसागरोप-माणि (८ $\frac{५}{७}$); षष्ठे प्रस्तटे नव सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य सप्तभागः (९ $\frac{१}{७}$), सप्तमप्रस्तटे च चतुर्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि नवसागरोपमाणि (९ $\frac{४}{७}$) ।

धूमप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्दशसागरोपमाणि (१०), द्वितीयप्रस्तट एकादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य पञ्चभागौ (११ $\frac{२}{५}$), तृतीयप्रस्तटे द्वादश सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य पञ्चभागाः (१२ $\frac{४}{५}$), चतुर्थप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य पञ्च-भागेनाऽधिकानि चतुर्दशसागरोपमाणि (१४ $\frac{१}{५}$), पञ्चमप्रस्तटे च त्रिभिः सागरोपमस्य पञ्च-भागैरधिकानि पञ्चदशसागरोपमाणि (१५ $\frac{३}{५}$) ।

च श्रीतत्त्वार्थसूत्रे—"दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्, भवनेषु च, व्यन्तराणां च।" इति। इह रत्नप्रभायाः प्रथमप्रस्तटमाश्रित्य प्रथमनरकगतिमार्गणाया दशवर्षसहस्राणि जघन्या कायस्थितिरुक्ता, द्वितीयादिप्रस्तटे पुनर्जघन्या कायस्थितिर्दशलक्षवर्षादिका भवति, तथाहि–रत्नप्रभाया द्वितीयप्रस्तटे नारकाणां जघन्या कायस्थितिर्वर्षाणां दशलक्षाः (१००००००) 卐, तृतीयप्रस्तटे नवतिलक्षाः (९००००००), चतुर्थप्रस्तटे पूर्वकोटिवर्षमात्री।

पञ्चमादिप्रस्तटेषु जघन्यकायस्थितिरित्थं बोध्या–पञ्चाशीतितमगाथायाष्टीकायां पूर्वपूर्वप्रस्तटे या उत्कृष्टा कायस्थितिरुक्ता, उत्तरोत्तरप्रस्तटे सा जघन्या बोध्या, तद्यथा–पञ्चमप्रस्तटे सागरोपमस्यैको दशभागः ($\frac{1}{10}$ सा०), षष्ठप्रस्तटे द्वौ सागरोपमस्य दशभागौ ($\frac{2}{10}$ सा०), सप्तमप्रस्तटे त्रयः सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{3}{10}$ सा०), अष्टमे प्रस्तटे चत्वारः सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{4}{10}$ सा०), नवमप्रस्तटे पञ्च सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{5}{10}$ सा०), दशमे प्रस्तटे षट् सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{6}{10}$ सा०), एकादशे प्रस्तटे सप्त सागरोपमस्य दशभागाः, ($\frac{7}{10}$ सा०), द्वादशे प्रस्तटेऽष्ट सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{8}{10}$ सा०), त्रयोदशे च प्रस्तटे नव सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{9}{10}$ सा०) ॥१०७॥

अथ द्वितीयादिनरकपृथिवीषु नारकाणामेकजीवाश्रितां जघन्यकायस्थितिं प्राह—

बीआइगणिरयाणं सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा।
खुड्डभवो तिरियपणिंदितिरियमणुसतदपज्जाणं ॥१०८॥
पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदियकायभेअसण्णीणं।
अमणस्स जाणियव्वा आहारस्स तिसमयहीणो ॥१०९॥

(प्रे०) 'बीआइ०' इत्यादि, 'प्रथमादिनिरयाणां' रत्नप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टकायस्थितिः पञ्चाशीतितमगाथया प्रोक्ता, सा 'द्वितीयादिकनिरयाणां' शर्कराप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां जघन्या कायस्थितिर्भवति, नारकाणामनन्तरभवे पुनर्नारकत्वेनाऽनुत्पादाद् जघन्यभवस्थितेश्च यथोक्तमात्रत्वात्। अय भावः–शर्कराप्रभापृथिवीस्थानां नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिरेकं सागरोपमं भवति, वालुकाप्रभानरकपृथिवीनारकाणां जघन्यकायस्थितिस्त्रिसागरोपमाणि, पङ्कप्रभानरकपृथिवीनारकाणां सप्त सागरोपमाणि, धूमप्रभाया दश सागरोपमाणि तमःप्रभानारकाणां सप्तदश सागरोपमाणि, महातमःप्रभायाश्च नारकाणां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि। विशेषतः पुनः पञ्चाशीतितमगाथया प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिर्या प्रोक्ता, सैवोत्तरोत्तरप्रस्तटे

卐 धवलाकारैस्तु-"विदियपत्थडे णउदिवस्ससहस्साणि (९००००) समयाहिआणि जहण्णमाउआ ××× चउत्थपत्थडे जहण्णमसंखेज्जाओ पुव्वकोडीओ समयाहियाओ।" इत्युक्तम्।

जघन्या कायस्थितिर्भवति। तथाहि–शर्कराप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्य-कायस्थितिरेकं सागरोपमम् (१), द्वितीयप्रस्तट एकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ (१ $\frac{२}{११}$), तृतीयप्रस्तट एकं सागरोपमं चत्वारश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः (१ $\frac{४}{११}$), चतुर्थप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ $\frac{६}{११}$), पञ्चमप्रस्तटे-ऽष्टभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकं सागरोपमम् (१ $\frac{८}{११}$), षष्ठप्रस्तटे दशभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ $\frac{१०}{११}$), सप्तमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्यैकादशभागेनाधिके द्वे सागरोपमे (२ $\frac{१}{११}$) अष्टमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे त्रयश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ $\frac{३}{११}$) नवमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे पञ्च च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ $\frac{५}{११}$), दशमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे सप्त च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ $\frac{७}{११}$), एकादशे च प्रस्तटे नवभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे सागरोपमे (२ $\frac{९}{११}$)।

वालुकाप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि (३), द्वितीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य नवभागाः (३ $\frac{४}{९}$), तृतीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाण्यष्टौ च सागरोपमस्य नवभागाः (३ $\frac{८}{९}$), चतुर्थप्रस्तटे त्रीभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ $\frac{३}{९}$), पञ्चमे प्रस्तटे सप्तभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ $\frac{७}{९}$), षष्ठे प्रस्तटे पञ्च सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य नवभागौ (५ $\frac{२}{९}$), सप्तमे प्रस्तटे पञ्चसागरोपमाणि षट् च सागरोपमस्य नवभागाः (५ $\frac{६}{९}$), अष्टमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य नवभागेनाऽधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ $\frac{१}{९}$), नवमप्रस्तटे च पञ्चभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ $\frac{५}{९}$)।

पङ्कप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः सप्त सागरोपमाणि (७), द्वितीयप्रस्तटे सप्त सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य सप्तभागाः (७ $\frac{३}{७}$), तृतीयप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि सप्तसागरोपमाणि (७ $\frac{६}{७}$), चतुर्थप्रस्तटेऽष्टौ सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य सप्तभागौ (८ $\frac{२}{७}$), पञ्चमप्रस्तटे पञ्चभिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकान्यष्टसागरोप-माणि (८ $\frac{५}{७}$); षष्ठे प्रस्तटे नव सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य सप्तभागः (९ $\frac{१}{७}$), सप्तमप्रस्तटे च चतुर्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि नवसागरोपमाणि (९ $\frac{४}{७}$)।

धूमप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणमेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्दशसागरोपमाणि (१०), द्वितीयप्रस्तट एकादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य पञ्चभागौ (११ $\frac{२}{५}$), तृतीयप्रस्तटे द्वादश सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य पञ्चभागाः (१२ $\frac{४}{५}$), चतुर्थप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य पञ्च-भागेनाऽधिकानि चतुर्दशसागरोपमाणि (१४ $\frac{१}{५}$), पञ्चमप्रस्तटे च त्रिभिः सागरोपमस्य पञ्च-भागैरधिकानि पञ्चदशसागरोपमाणि (१५ $\frac{३}{५}$)।

च श्रीतत्त्वार्थसूत्रे—"दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्, भवनेषु च, व्यन्तराणा च।" इति। इह रत्नप्रभायाः प्रथमप्रस्तटमाश्रित्य प्रथमनरकगतिमार्गणाया दशवर्षसहस्राणि जघन्या कायस्थितिरुक्ता, द्वितीयादिप्रस्तटे पुनर्जघन्या कायस्थितिर्दशलक्षवर्षादिका भवति, तथाहि—रत्नप्रभाया द्वितीयप्रस्तटे नारकाणां जघन्या कायस्थितिर्वर्षाणां दशलक्षाः (१००००००) 卐, तृतीयप्रस्तटे नवतिलक्षाः (९००००००), चतुर्थप्रस्तटे पूर्वकोटिवर्षमात्री।

पञ्चमादिप्रस्तटेषु जघन्यकायस्थितिरित्थं बोध्या—पञ्चाशीतितमगाथायाटीकायां पूर्वपूर्वप्रस्तटे या उत्कृष्टा कायस्थितिरुक्ता, उत्तरोत्तरप्रस्तटे सा जघन्या बोध्या, तद्यथा—पञ्चमप्रस्तटे सागरोपमस्यैको दशभागः ($\frac{1}{10}$ सा०), षष्ठप्रस्तटे द्वौ सागरोपमस्य दशभागौ ($\frac{2}{10}$ सा०), सप्तमप्रस्तटे त्रयः सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{3}{10}$ सा०), अष्टमे प्रस्तटे चत्वारः सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{4}{10}$ सा०), नवमप्रस्तटे पञ्च सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{5}{10}$ सा०), दशमे प्रस्तटे षट् सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{6}{10}$ सा०), एकादशे प्रस्तटे सप्त सागरोपमस्य दशभागाः, ($\frac{7}{10}$ सा०), द्वादशे प्रस्तटेऽष्ट सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{8}{10}$ सा०), त्रयोदशे च प्रस्तटे नव सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{9}{10}$ सा०) ॥१०७॥

अथ द्वितीयादिनरकपृथिवीषु नारकाणामेकजीवाश्रितां जघन्यकायस्थितिं प्राह—

बीआइगणिरयाणं सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा।
खुड्डभवो तिरियपणिंदितिरियमणुसतदपज्जाणं ॥१०८॥
पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदियकायभेअसण्णीणं।
अमणस्स जाणियव्वा आहारस्स तिसमयहीणो ॥१०९॥

(प्रे०) 'बीआइ०' इत्यादि, 'प्रथमादिनिरयाणां' रत्नप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टकायस्थितिः पञ्चाशीतितमगाथया प्रोक्ता, सा 'द्वितीयादिकनिरयाणां' शर्कराप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां जघन्या कायस्थितिर्भवति, नारकाणामनन्तरभवे पुनर्नारकत्वेनाऽनुत्पादाद् जघन्यभवस्थितेश्च यथोक्तमात्रत्वात्। अय भावः—शर्कराप्रभापृथिवीस्थानां नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिरेकं सागरोपमं भवति, वालुकाप्रभानरकपृथिवीनारकाणां जघन्यकायस्थितिस्त्रिसागरोपमाणि, पङ्कप्रभानरकपृथिवीनारकाणां सप्त सागरोपमाणि, धूमप्रभाया दश सागरोपमाणि तमःप्रभानारकाणां सप्तदश सागरोपमाणि, महातमःप्रभायाश्च नारकाणां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि। विशेषतः पुनः पञ्चाशीतितमगाथया प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिर्या प्रोक्ता, सैवोत्तरोत्तरप्रस्तटे

卐 धवलाकारैस्तु-"बिदियपत्थडे णउदिवस्ससहस्साणि (९००००) समयाहिआणि जहण्णमाउआ ××× चउत्थपत्थडे जहण्णमसखेज्जाओ पुव्वकोडीओ समयाहियाओ।" इत्युक्तम्।

जघन्या कायस्थितिर्भवति । तथाहि–शर्कराप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्य-कायस्थितिरेकं सागरोपमम् (१), द्वितीयप्रस्तट एकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ (१$\frac{२}{११}$), तृतीयप्रस्तट एकं सागरोपमं चत्वारश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः(१$\frac{४}{११}$), चतुर्थप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१$\frac{६}{११}$), पञ्चमप्रस्तटे-ऽष्टभिः सागरोपम-स्यैकादशभागैरधिकं सागरोपमम् (१$\frac{८}{११}$), षष्ठप्रस्तटे दशभिः सागरोपमस्यैकदशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१$\frac{१०}{११}$), सप्तमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्यैकादशभागेनाधिके द्वे सागरोपमे(२$\frac{१}{११}$) अष्टमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे त्रयश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२$\frac{३}{११}$) नवमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे पञ्च च सागरोपमस्यैकादशभागाः(२$\frac{५}{११}$), दशमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे सप्त च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२$\frac{७}{११}$),एकादशे च प्रस्तटे नवभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे सागरोपमे (२$\frac{९}{११}$) ।

वालुकाप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि (३), द्वितीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य नवभागाः (३$\frac{४}{९}$), तृतीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाण्यष्टौ च सागरोपमस्य नवभागाः (३$\frac{८}{९}$), चतुर्थप्रस्तटे त्रीभिः सागरो-पमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४$\frac{३}{९}$), पञ्चमे प्रस्तटे सप्तभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४$\frac{७}{९}$), षष्ठे प्रस्तटे पञ्च सागरोपमाणि द्वौ च सागरो-पमस्य नवभागौ (५$\frac{२}{९}$), सप्तमे प्रस्तटे पञ्चसागरोपमाणि षट् च सागरोपमस्य नवभागाः (५$\frac{६}{९}$), अष्टमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य नवभागेना ऽधिकानि षट् सागरोपमाणि (६$\frac{१}{९}$), नवमप्रस्तटे च पञ्चभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि षट् सागरोपमाणि (६$\frac{५}{९}$) ।

पङ्कप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणा ` जीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः सप्त सागरोपमाणि (७), द्वितीयप्रस्तटे सप्त सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य सप्तभागाः (७$\frac{३}{७}$), तृतीयप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि सप्तसागरोपमाणि (७$\frac{६}{७}$), चतुर्थप्रस्तटेऽष्टौ सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य सप्तभागौ (८$\frac{२}{७}$), पञ्चमप्रस्तटे पञ्चभिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकान्यष्टसागरोप-माणि (८$\frac{५}{७}$); षष्ठे प्रस्तटे नव सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य सप्तभागः (९$\frac{१}{७}$), सप्तमप्रस्तटे च चतुर्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि नवसागरोपमाणि (९$\frac{४}{७}$) ।

धूमप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्दशसागरोपमाणि (१०), द्वितीयप्रस्तट एकादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य पञ्चभागौ (११$\frac{२}{५}$), तृतीयप्रस्तटे द्वादश सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य पञ्चभागाः (१२$\frac{४}{५}$), चतुर्थप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य पञ्च-भागेनाऽधिकानि चतुर्दशसागरोपमाणि (१४$\frac{१}{५}$), पञ्चमप्रस्तटे च त्रिभिः सागरोपमस्य पञ्च-भागैरधिकानि पञ्चदशसागरोपमाणि (१५$\frac{३}{५}$) ।

च श्रीतत्त्वार्थसूत्रे—"दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्, भवनेषु च, व्यन्तराणा च।" इति। इह रत्नप्रभायाः प्रथमप्रस्तटमाश्रित्य प्रथमनरकगतिमार्गणायां दशवर्षसहस्राणि जघन्या कायस्थितिरुक्ता, द्वितीयादिप्रस्तटे पुनर्जघन्या कायस्थितिर्दशलक्षवर्षादिका भवति, तथाहि—रत्नप्रभाया द्वितीयप्रस्तटे नारकाणां जघन्या कायस्थितिर्वर्षाणां दशलक्षाः (१००००००) 卐, तृतीयप्रस्तटे नवतिलक्षाः (९००००००), चतुर्थप्रस्तटे पूर्वकोटिवर्षमात्री।

पञ्चमादिप्रस्तटेषु जघन्यकायस्थितिरित्थं बोध्या—पञ्चाशीतितमगाथायाटीकायां पूर्वपूर्वप्रस्तटे या उत्कृष्टा कायस्थितिरुक्ता, उत्तरोत्तरप्रस्तटे सा जघन्या बोध्या, तद्यथा—पञ्चमप्रस्तटे सागरोपमस्यैको दशभागः (१/१० सा०), षष्ठप्रस्तटे द्वौ सागरोपमस्य दशभागौ (२/१० सा०), सप्तमप्रस्तटे त्रयः सागरोपमस्य दशभागाः (३/१० सा०), अष्टमे प्रस्तटे चत्वारः सागरोपमस्य दशभागाः (४/१० सा०), नवमप्रस्तटे पञ्च सागरोपमस्य दशभागाः (५/१० सा०), दशमे प्रस्तटे षट् सागरोपमस्य दशभागाः (६/१० सा०), एकादशे प्रस्तटे सप्त सागरोपमस्य दशभागाः, (७/१० सा०), द्वादशे प्रस्तटेऽष्ट सागरोपमस्य दशभागाः (८/१० सा०), त्रयोदशे च प्रस्तटे नव सागरोपमस्य दशभागाः (९/१० सा०) ॥१०७॥

अथ द्वितीयादिनरकपृथिवीषु नारकाणामेकजीवाश्रितां जघन्यकायस्थितिं प्राह—

बीआइगणिरयाणं सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा।
खुड्डभवो तिरियपणिंदितिरियमणुसतदपज्जाणं ॥१०८॥
पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदियकायभेअसण्णीणं।
अमणस्स जाणियव्वा आहारस्स तिसमयहीणो ॥१०९॥

(प्रे०) 'बीआइ०' इत्यादि, 'प्रथमादिनिरयाणां' रत्नप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टकायस्थितिः पञ्चाशीतितमगाथया प्रोक्ता, सा 'द्वितीयादिकनिरयाणां' शर्कराप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणा जघन्या कायस्थितिर्भवति, नारकाणामनन्तरभवे पुनर्नारकत्वेनाऽनुत्पादाद् जघन्यभवस्थितेश्च यथोक्तमात्रत्वात्। अयं भावः—शर्कराप्रभापृथिवीस्थाना नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिरेकं सागरोपमं भवति, वालुकाप्रभानरकपृथिवीनारकाणां जघन्यकायस्थितिस्त्रिसागरोपमाणि, पङ्कप्रभानरकपृथिवीनारकाणां सप्त सागरोपमाणि, धूमप्रभाया दश सागरोपमाणि तमःप्रभानारकाणां सप्तदश सागरोपमाणि, महातमःप्रभायाश्च नारकाणां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि। विशेषतः पुनः पञ्चाशीतितमगाथया प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिर्या प्रोक्ता, सैवोत्तरोत्तरप्रस्तटे

卐 धवलाकारैस्तु-"विदियपत्थडे णउदिवस्ससहस्साणि (९००००) समयाहिआणि जहण्णमाउआ ××× चउत्थपत्थडे जहण्णमसखेज्जाओ पुव्वकोडीओ समयाहियाओ।" इत्युक्तम्।

जघन्या कायस्थितिर्भवति । तथाहि—शर्कराप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिरेकं सागरोपमम् (१), द्वितीयप्रस्तट एकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ (१ $\frac{२}{११}$), तृतीयप्रस्तट एकं सागरोपमं चत्वारश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः (१ $\frac{४}{११}$), चतुर्थप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ $\frac{६}{११}$), पञ्चमप्रस्तटेऽष्टभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकं सागरोपमम् (१ $\frac{८}{११}$), षष्ठप्रस्तटे दशभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ $\frac{१०}{११}$), सप्तमप्रस्तटे एकेन सागरोपमस्यैकादशभागेनाधिके द्वे सागरोपमे (२ $\frac{१}{११}$) अष्टमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे त्रयश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ $\frac{३}{११}$) नवमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे पञ्च च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ $\frac{५}{११}$), दशमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे सप्त च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ $\frac{७}{११}$), एकादशे च प्रस्तटे नवभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे सागरोपमे (२ $\frac{९}{११}$) ।

वालुकाप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि (३), द्वितीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य नवभागाः (३ $\frac{४}{९}$), तृतीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाण्यष्टौ च सागरोपमस्य नवभागाः (३ $\frac{८}{९}$), चतुर्थप्रस्तटे त्रिभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ $\frac{३}{९}$), पञ्चमे प्रस्तटे सप्तभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ $\frac{७}{९}$), षष्ठे प्रस्तटे पञ्च सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य नवभागौ (५ $\frac{२}{९}$), सप्तमे प्रस्तटे पञ्चसागरोपमाणि षट् च सागरोपमस्य नवभागाः (५ $\frac{६}{९}$), अष्टमप्रस्तटे एकेन सागरोपमस्य नवभागेनाऽधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ $\frac{१}{९}$), नवमप्रस्तटे च पञ्चभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ $\frac{५}{९}$) ।

पङ्कप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः सप्त सागरोपमाणि (७) द्वितीयप्रस्तटे सप्त सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य सप्तभागाः (७ $\frac{३}{७}$), तृतीयप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि सप्तसागरोपमाणि (७ $\frac{६}{७}$), चतुर्थप्रस्तटेऽष्टौ सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य सप्तभागौ (८ $\frac{२}{७}$), पञ्चमप्रस्तटे पञ्चभिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकान्यष्टसागरोपमाणि (८ $\frac{५}{७}$); षष्ठे प्रस्तटे नव सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य सप्तभागः (९ $\frac{१}{७}$), सप्तमप्रस्तटे च चतुर्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि नवसागरोपमाणि (९ $\frac{४}{७}$) ।

धूमप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्दशसागरोपमाणि (१०), द्वितीयप्रस्तट एकादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य पञ्चभागौ (११ $\frac{२}{५}$), तृतीयप्रस्तटे द्वादश सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य पञ्चभागाः (१२ $\frac{४}{५}$), चतुर्थप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य पञ्चभागेनाऽधिकानि चतुर्दशसागरोपमाणि (१४ $\frac{१}{५}$), पञ्चमप्रस्तटे च त्रिभिः सागरोपमस्य पञ्चभागैरधिकानि पञ्चदशसागरोपमाणि (१५ $\frac{३}{५}$) ।

च श्रीतत्त्वार्थसूत्रे—"दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्, भवनेषु च, व्यन्तराणा च।" इति। इह रत्नप्रभायाः प्रथमप्रस्तटमाश्रित्य प्रथमनरकगतिमार्गणाया दशवर्षसहस्राणि जघन्या कायस्थितिरुक्ता, द्वितीयादिप्रस्तटे पुनर्जघन्या कायस्थितिर्दशलक्षवर्षादिका भवति, तथाहि—रत्नप्रभाया द्वितीयप्रस्तटे नारकाणां जघन्या कायस्थितिर्वर्षाणां दशलक्षाः (१००००००) 卐, तृतीयप्रस्तटे नवतिलक्षाः (९००००००), चतुर्थप्रस्तटे पूर्वकोटिवर्षमात्री।

पञ्चमादिप्रस्तटेषु जघन्यकायस्थितिरित्थं बोध्या—पञ्चाशीतितमगाथायाष्टीकायां पूर्वपूर्वप्रस्तटे या उत्कृष्टा कायस्थितिरुक्ता, उत्तरोत्तरप्रस्तटे सा जघन्या बोध्या, तद्यथा—पञ्चमप्रस्तटे सागरोपमस्यैको दशभागः (१/१० सा०), षष्ठप्रस्तटे द्वौ सागरोपमस्य दशभागौ (२/१० सा०), [सप्त]मप्रस्तटे त्रयः सागरोपमस्य दशभागाः (३/१० सा०), अष्टमे प्रस्तटे चत्वारः सागरोपमस्य दशभागाः (४/१० सा०), नवमप्रस्तटे पञ्च सागरोपमस्य दशभागाः (५/१० सा०), दशमे प्रस्तटे षट् सागरोपमस्य दशभागाः (६/१० सा०), एकादशे प्रस्तटे सप्त सागरोपमस्य दशभागाः, (७/१० सा०), द्वादशे प्रस्तटेऽष्ट सागरोपमस्य दशभागाः (८/१० सा०), त्रयोदशे च प्रस्तटे नव सागरोपमस्य दशभागाः (९/१० सा०) ॥१०७॥

अथ द्वितीयादिनरकपृथिवीषु नारकाणामेकजीवाश्रितां जघन्यकायस्थितिं प्राह—

बीआइगणिरयाणं सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा।
खुड्डभवो तिरियपणिंदितिरियमणुसतदपज्जाणं ॥१०८॥
पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदियकायभेअसण्णीणं।
अमणस्स जाणियव्वा आहारस्स तिसमयहीणो ॥१०९॥

(प्रे०) 'बीआइ०' इत्यादि, 'प्रथमादिनिरयाणां' रत्नप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टकायस्थितिः पञ्चाशीतितमगाथया प्रोक्ता, सा 'द्वितीयादिकनिरयाणां' शर्कराप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां जघन्या कायस्थितिर्भवति, नारकाणामनन्तरभवे पुनर्नारकत्वेनाऽनुत्पादाद् जघन्यभवस्थितेश्च यथोक्तमात्रत्वात्। अयं भावः—शर्कराप्रभापृथिवीस्थाना नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिरेकं सागरोपमं भवति, वालुकाप्रभानरकपृथिवीनारकाणां जघन्यकायस्थितिस्त्रिसागरोपमाणि, पङ्कप्रभानरकपृथिवीनारकाणां सप्त सागरोपमाणि, धूमप्रभाया दश सागरोपमाणि तमःप्रभानारकाणां सप्तदश सागरोपमाणि, महातमःप्रभायाश्च नारकाणा द्वाविंशतिः सागरोपमाणि। विशेषतः पुनः पञ्चाशीतितमगाथया प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिर्या प्रोक्ता, सैवोत्तरोत्तरप्रस्तटे

卐 धवलाकारैस्तु-"बिदियपत्थडे णउदिवस्ससहस्साणि (९००००) समयाहियाणि जहण्णमाउअं ××× चउत्थपत्थडे जहण्णमसंखेज्जाओ पुव्वकोडीओ समयाहियाओ।" इत्युक्तम्।

जघन्या कायस्थितिर्भवति । तथाहि–शर्कराप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्य-कायस्थितिरेकं सागरोपमम् (१), द्वितीयप्रस्तट एकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ (१ २/११), तृतीयप्रस्तट एकं सागरोपमं चत्वारश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः(१ ४/११), चतुर्थप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ ६/११), पञ्चमप्रस्तटे-ऽष्टभिः सागरोपम-स्यैकादशभागैरधिकं सागरोपमम् (१ ८/११), षष्ठप्रस्तटे दशभिः सागरोपमस्यैकदशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ १०/११), सप्तमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्यैकादशभागेनाधिके द्वे सागरोपमे(२ १/११) अष्टमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे त्रयश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ ३/११) नवमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे पञ्च च सागरोपमस्यैकादशभागाः(२ ५/११), दशमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे सप्त च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ ७/११),एकादशे च प्रस्तटे नवभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे सागरोपमे (२ ९/११) ।

वालुकाप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि (३), द्वितीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य नवभागाः (३ ४/९), तृतीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाण्यष्टौ च सागरोपमस्य नवभागाः (३ ८/९), चतुर्थप्रस्तटे त्रीभिः सागरो-पमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ ३/९), पञ्चमे प्रस्तटे सप्तभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ ७/९), षष्ठे प्रस्तटे पञ्च सागरोपमाणि द्वौ च सागरो-पमस्य नवभागौ (५ २/९), सप्तमे प्रस्तटे पञ्चसागरोपमाणि षट् च सागरोपमस्य नवभागाः (५ ६/९), अष्टमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य नवभागेनाऽधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ १/९), नवमप्रस्तटे च पञ्चभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ ५/९) ।

पङ्कप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः सप्त सागरोपमाणि (७), द्वितीयप्रस्तटे सप्त सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य सप्तभागाः (७ ३/७), तृतीयप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि सप्तसागरोपमाणि (७ ६/७), चतुर्थप्रस्तटेऽष्टौ सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य सप्तभागौ (८ २/७), पञ्चमप्रस्तटे पञ्चभिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकान्यष्टसागरोप-माणि (८ ५/७); षष्ठे प्रस्तटे नव सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य सप्तभागः (९ १/७), सप्तमप्रस्तटे च चतुर्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि नवसागरोपमाणि (९ ४/७) ।

धूमप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्दशसागरोपमाणि (१०), द्वितीयप्रस्तट एकादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य पञ्चभागौ (११ २/५), तृतीयप्रस्तटे द्वादश सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य पञ्चभागाः (१२ ४/५), चतुर्थप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य पञ्च-भागेनाऽधिकानि चतुर्दशसागरोपमाणि (१४ १/५), पञ्चमप्रस्तटे च त्रिभिः सागरोपमस्य पञ्च-भागैरधिकानि पञ्चदशसागरोपमाणि (१५ ३/५) ।

च श्रीतत्त्वार्थसूत्रे—"दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्, भवनेषु च, व्यन्तराणा च।" इति। इह रत्नप्रभायाः प्रथमप्रस्तटमाश्रित्य प्रथमनरकगतिमार्गणाया दशवर्षसहस्राणि जघन्या कायस्थितिरुक्ता, द्वितीयादिप्रस्तटे पुनर्जघन्या कायस्थितिर्दशलक्षवर्षादिका भवति, तथाहि–रत्नप्रभाया द्वितीयप्रस्तटे नारकाणां जघन्या कायस्थितिर्वर्षाणां दशलक्षाः (१००००००) 卐, तृतीयप्रस्तटे नवतिलक्षाः (९००००००), चतुर्थप्रस्तटे पूर्वकोटिवर्षमात्री।

पञ्चमादिप्रस्तटेषु जघन्यकायस्थितिरित्थं बोध्या–पञ्चाशीतितमगाथायाष्टीकायां पूर्वपूर्वप्रस्तटे या उत्कृष्टा कायस्थितिरुक्ता, उत्तरोत्तरप्रस्तटे सा जघन्या बोध्या, तद्यथा–पञ्चमप्रस्तटे सागरोपमस्यैको दशभागः ($\frac{1}{10}$ सा०), षष्ठप्रस्तटे द्वौ सागरोपमस्य दशभागौ ($\frac{2}{10}$ सा०), सप्तमप्रस्तटे त्रयः सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{3}{10}$ सा०), अष्टमे प्रस्तटे चत्वारः सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{4}{10}$ सा०), नवमप्रस्तटे पञ्च सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{5}{10}$ सा०), दशमे प्रस्तटे षट् सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{6}{10}$ सा०), एकादशे प्रस्तटे सप्त सागरोपमस्य दशभागाः, ($\frac{7}{10}$ सा०), द्वादशे प्रस्तटेऽष्ट सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{8}{10}$ सा०), त्रयोदशे च प्रस्तटे नव सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{9}{10}$ सा०) ॥१०७॥

अथ द्वितीयादिनरकपृथिवीषु नारकाणामेकजीवाश्रितां जघन्यकायस्थितिं प्राह—

बीआइगणिरयाणं सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा।
खुड्डभवो तिरियपणिंदितिरियमणुसतदपज्जाणं ॥१०८॥
पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदियकायभेअसण्णीणं।
अमणस्स जाणियव्वा आहारस्स तिसमयहीणो ॥१०९॥

(प्रे०) 'बीआइ०' इत्यादि, 'प्रथमादिनिरयाणां' रत्नप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टकायस्थितिः पञ्चाशीतितमगाथया प्रोक्ता, सा 'द्वितीयादिकनिरयाणां' शर्कराप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां जघन्या कायस्थितिर्भवति, नारकाणामनन्तरभवे पुनर्नारकत्वेनाऽनुत्पादा जघन्यभवस्थितेश्च यथोक्तमात्रत्वात्। अयं भावः–शर्कराप्रभापृथिवीस्थाना नारकाणामेकजीवाश्रय जघन्यकायस्थितिरेकं सागरोपमं भवति, वालुकाप्रभानरकपृथिवीनारकाणां जघन्यकायस्थितिस्त्रि सागरोपमाणि, पङ्कप्रभानरकपृथिवीनारकाणां सप्त सागरोपमाणि, धूमप्रभाया दश सागरोपमाणि तमःप्रभानारकाणां सप्तदश सागरोपमाणि, महातमःप्रभायाश्च नारकाणां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि विशेषतः पुनः पञ्चाशीतितमगाथया प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिर्या प्रोक्ता, सैवोत्तरोत्तरप्रस्त

卐 धवलाकारैस्तु-"विदियपत्थडे णउदिवस्ससहस्साणि (९००००) समयाहिआणि जहण्णमाउः ××× चउत्थपत्थडे जहण्णमसखेज्जाओ पुव्वकोडीओ समयाहियाओ।" इत्युक्तम्।

जघन्या कायस्थितिर्भवति । तथाहि–शर्कराप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्य-कायस्थितिरेकं सागरोपमम् (१), द्वितीयप्रस्तट एकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ (१ २/११), तृतीयप्रस्तट एकं सागरोपमं चत्वारश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः(१ ४/११), चतुर्थप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ ६/११), पञ्चमप्रस्तटे-ऽष्टभिः सागरोपम-स्यैकादशभागैरधिकं सागरोपमम् (१ ८/११), षष्ठप्रस्तटे दशभिः सागरोपमस्यैकदशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ १०/११), सप्तमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्यैकादशभागेनाधिके द्वे सागरोपमे(२ १/११) अष्टमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे त्रयश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ ३/११) नवमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे पञ्च च सागरोपमस्यैकादशभागाः(२ ५/११), दशमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे सप्त च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ ७/११),एकादशे च प्रस्तटे नवभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे सागरोपमे (२ ९/११) ।

वालुकाप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि (३), द्वितीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य नवभागाः (३ ४/९), तृतीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाण्यष्टौ च सागरोपमस्य नवभागाः (३ ८/९), चतुर्थप्रस्तटे त्रीभिः सागरो-पमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ ३/९), पञ्चमे प्रस्तटे सप्तभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ ७/९), षष्ठे प्रस्तटे पञ्च सागरोपमाणि द्वौ च सागरो-पमस्य नवभागौ (५ २/९), सप्तमे प्रस्तटे पञ्चसागरोपमाणि षट् च सागरोपमस्य नवभागाः (५ ६/९), अष्टमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य नवभागेनाऽधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ १/९), नवमप्रस्तटे च पञ्चभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ ५/९) ।

पङ्कप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः सप्त सागरोपमाणि (७), द्वितीयप्रस्तटे सप्त सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य सप्तभागाः (७ ३/७), तृतीयप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि सप्तसागरोपमाणि (७ ६/७), चतुर्थप्रस्तटेऽष्टौ सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य सप्तभागौ (८ २/७), पञ्चमप्रस्तटे पञ्चभिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकान्यष्टसागरोप-माणि (८ ५/७); षष्ठे प्रस्तटे नव सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य सप्तभागः (९ १/७), सप्तमप्रस्तटे च चतुर्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि नवसागरोपमाणि (९ ४/७) ।

धूमप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणमेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्दशसागरोपमाणि (१०), द्वितीयप्रस्तट एकादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य पञ्चभागौ (११ २/५), तृतीयप्रस्तटे द्वादश सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य पञ्चभागाः (१२ ४/५), चतुर्थप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य पञ्च-भागेनाऽधिकानि चतुर्दशसागरोपमाणि (१४ १/५), पञ्चमप्रस्तटे च त्रिभिः सागरोपमस्य पञ्च-भागैरधिकानि पञ्चदशसागरोपमाणि (१५ ३/५) ।

च श्रीतत्त्वार्थसूत्रे—"दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्, भवनेषु च, व्यन्तराणा च।" इति। इह रत्नप्रभायाः प्रथमप्रस्तटमाश्रित्य प्रथमनरकगतिमार्गणाया दशवर्षसहस्राणि जघन्या कायस्थितिरुक्ता, द्वितीयादिप्रस्तटे पुनर्जघन्या कायस्थितिर्दशलक्षवर्षादिका भवति, तथाहि—रत्नप्रभाया द्वितीयप्रस्तटे नारकाणां जघन्या कायस्थितिर्वर्षाणां दशलक्षाः (१००००००) 卐, तृतीयप्रस्तटे नवतिलक्षाः (९००००००), चतुर्थप्रस्तटे पूर्वकोटिवर्षमात्री।

पञ्चमादिप्रस्तटेषु जघन्यकायस्थितिरित्थं बोध्या—पञ्चाशीतितमगाथायाष्टीकायां पूर्वपूर्वप्रस्तटे या उत्कृष्टा कायस्थितिरुक्ता, उत्तरोत्तरप्रस्तटे सा जघन्या बोध्या, तद्यथा—पञ्चमप्रस्तटे सागरोपमस्यैको दशभागः ($\frac{1}{10}$ सा०), षष्ठप्रस्तटे द्वौ सागरोपमस्य दशभागौ ($\frac{2}{10}$ सा०), सप्तमप्रस्तटे त्रयः सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{3}{10}$ सा०), अष्टमे प्रस्तटे चत्वारः सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{4}{10}$ सा०), नवमप्रस्तटे पञ्च सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{5}{10}$ सा०), दशमे प्रस्तटे षट् सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{6}{10}$ सा०), एकादशे प्रस्तटे सप्त सागरोपमस्य दशभागाः, ($\frac{7}{10}$ सा०), द्वादशे प्रस्तटेऽष्ट सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{8}{10}$ सा०), त्रयोदशे च प्रस्तटे नव सागरोपमस्य दशभागाः ($\frac{9}{10}$ सा०) ॥१०७॥

अथ द्वितीयादिनरकपृथिवीषु नारकाणामेकजीवाश्रितां जघन्यकायस्थितिं प्राह—

बीआइगणिरयाणं सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा।
खुड्डभवो तिरियपणिंदितिरियमणुसतदपज्जाणं ॥१०८॥
पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदियकायभेअसण्णीणं।
अमणस्स जाणियव्वा आहारस्स तिसमयहीणो ॥१०९॥

(प्रे०) 'बीआइ०' इत्यादि, 'प्रथमादिनिरयाणां' रत्नप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टकायस्थितिः पञ्चाशीतितमगाथया प्रोक्ता, सा 'द्वितीयादिकनिरयाणां' शर्कराप्रभादिषट्पृथिवीनारकाणां जघन्या कायस्थितिर्भवति, नारकाणामनन्तरभवे पुनर्नारकत्वेनाऽनुत्पादाद् जघन्यभवस्थितेश्च यथोक्तमात्रत्वात्। अयं भावः—शर्कराप्रभापृथिवीस्थाना नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिरेकं सागरोपमं भवति, वालुकाप्रभानरकपृथिवीनारकाणां जघन्यकायस्थितिस्त्रिसागरोपमाणि, पङ्कप्रभानरकपृथिवीनारकाणां सप्त सागरोपमाणि, धूमप्रभाया दश सागरोपमाणि तमःप्रभानारकाणां सप्तदश सागरोपमाणि, महातमःप्रभायाश्च नारकाणां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि। विशेषतः पुनः पञ्चाशीतितमगाथया प्रतिप्रस्तटमुत्कृष्टकायस्थितिर्या प्रोक्ता, सैवोत्तरोत्तरप्रस्तटे

卐 धवलाकारैस्तु-"विदियपत्थडे णउदिवस्ससहस्साणि (९००००) समयाहिआणि जहण्णमाउआ ××× चउत्थपत्थडे जहण्णमसखेज्जाओ पुव्वकोडीओ समयाहियाओ।" इत्युक्तम्।

जघन्या कायस्थितिर्भवति । तथाहि–शर्कराप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्य-कायस्थितिरेकं सागरोपमम् (१), द्वितीयप्रस्तट एकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ (१ २/११), तृतीयप्रस्तट एकं सागरोपमं चत्वारश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः(१ ४/११), चतुर्थप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ ६/११), पञ्चमप्रस्तटे-ऽष्टभिः सागरोपम-स्यैकादशभागैरधिकं सागरोपमम् (१ ८/११), षष्ठप्रस्तटे दशभिः सागरोपमस्यैकदशभागैरधिकमेकं सागरोपमम् (१ १०/११), सप्तमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्यैकादशभागेनाधिके द्वे सागरोपमे(२ १/११) अष्टमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे त्रयश्च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ ३/११) नवमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे पञ्च च सागरोपमस्यैकादशभागाः(२ ५/११), दशमप्रस्तटे द्वे सागरोपमे सप्त च सागरोपमस्यैकादशभागाः (२ ७/११),एकादशे च प्रस्तटे नवभिः सागरोपमस्यैकादशभागैरधिके द्वे सागरोपमे (२ ९/११) ।

वालुकाप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि (३), द्वितीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य नवभागाः (३ ४/९), तृतीयप्रस्तटे त्रीणि सागरोपमाण्यष्टौ च सागरोपमस्य नवभागाः (३ ८/९), चतुर्थप्रस्तटे त्रीभिः सागरो-पमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ ३/९), पञ्चमे प्रस्तटे सप्तभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि चत्वारि सागरोपमाणि (४ ७/९), षष्ठे प्रस्तटे पञ्च सागरोपमाणि द्वौ च सागरो-पमस्य नवभागौ (५ २/९), सप्तमे प्रस्तटे पञ्चसागरोपमाणि षट् च सागरोपमस्य नवभागाः (५ ६/९), अष्टमप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य नवभागेना ऽधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ १/९), नवमप्रस्तटे च पञ्चभिः सागरोपमस्य नवभागैरधिकानि षट् सागरोपमाणि (६ ५/९) ।

पङ्कप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणा ` जीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः सप्त सागरोपमाणि (७), द्वितीयप्रस्तटे सप्त सागरोपमाणि त्रयश्च सागरोपमस्य सप्तभागाः (७ ३/७), तृतीयप्रस्तटे षड्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि सप्तसागरोपमाणि (७ ६/७), चतुर्थप्रस्तटेऽष्टौ सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य सप्तभागौ (८ २/७), पञ्चमप्रस्तटे पञ्चभिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकान्यष्टसागरोप-माणि (८ ५/७); षष्ठे प्रस्तटे नव सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य सप्तभागः (९ १/७), सप्तमप्रस्तटे च चतुर्भिः सागरोपमस्य सप्तभागैरधिकानि नवसागरोपमाणि (९ ४/७) ।

धूमप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्दशसागरोपमाणि (१०), द्वितीयप्रस्तट एकादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य पञ्चभागौ (११ २/५), तृतीयप्रस्तटे द्वादश सागरोपमाणि चत्वारश्च सागरोपमस्य पञ्चभागाः (१२ ४/५), चतुर्थप्रस्तट एकेन सागरोपमस्य पञ्च-भागेनाऽधिकानि चतुर्दशसागरोपमाणि (१४ १/५), पञ्चमप्रस्तटे च त्रिभिः सागरोपमस्य पञ्च-भागैरधिकानि पञ्चदशसागरोपमाणि (१५ ३/५) ।

तमःप्रभायाः प्रथमप्रस्तटे नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः सप्तदश सागरोपमाणि (१७), द्वितीयप्रस्तटे द्वाभ्यां सागरोपमस्य त्रिभागाभ्यामधिकान्यष्टादश सागरोपमाणि (१८⅔), तृतीयप्रस्तटे च विंशतिः सागरोपमाण्येकश्च सागरोपमस्य त्रिभागः (२०⅓)।

महातमःप्रभायां त्वेक एव प्रस्तटः, तेन प्रागुक्ता द्वाविंशतिः सागरोपमाणि तत्रत्यानां नारकाणामेकजीवाश्रया जघन्या कायस्थितिर्भवति, विशेषतः पुनः सप्तमनरकपृथिव्या अप्रतिष्ठानाख्यनरकावासे नारकाणां कायस्थितिरजघन्यानुत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, यदुक्तं **समवायाङ्गे**–"अपइट्ठाणनरए नेरइयाणं अजहण्णमणुक्कोसेण तेत्तीस सागरोवमाइ ठिई पन्नत्ता।" इति। तदेवमभिहिता शर्कराप्रभादिनारकाणामेकजीवाश्रया जघन्या कायस्थितिः, प्रसङ्गतश्च प्रतिप्रस्तटमाश्रित्या-ऽपि निरूपिता।

सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य तिर्यग्गतिमार्गणास्थानस्य जघन्यकायस्थितिं वक्तुकामस्तत्समानत्वादन्या अपि मार्गणाः संगृह्याऽऽह–"**खुड्डुभवो**" इत्यादि; 'क्षुल्लकभवः' षट्पञ्चाशदधिकद्विशताऽऽवलिकाप्रमाणः कालः 'तिर्यक्-पञ्चेन्द्रियतिर्यग् मनुष्य तदपर्याप्तानाम्' एते कृतद्वन्द्वाः षष्ठ्या निर्दिष्टाः, तिरश्चः=तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायाः पञ्चेन्द्रियतिरश्चः=पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिमार्गणाया मनुष्यस्य= मनुष्यगतिसामान्यमार्गणास्थानस्य च, तदपर्याप्तयोः=तौ च तदपर्याप्तौ च तदपर्याप्तौ, तयोः, तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शित्वाद् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणाया अपर्याप्तमनुष्यमार्गणास्थानस्य च 'पर्याप्तभेदवर्जितशेषेन्द्रियकायभेदसंज्ञिनाम्' एते कृतद्वन्द्वाः षष्ठ्या निर्दिष्टाः, पर्याप्तभेदैर्वर्जिताः शेषा इन्द्रियभेदास्त्रयोदश, पर्याप्तभेदैर्वर्जिताश्च शेषकायभेदास्त्रिंशत्, तेषाम्=एकेन्द्रियसामान्यसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय--बादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियसामान्या--ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियसामान्या-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियसामान्या-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियसामान्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणानां त्रयोदशानामिन्द्रियभेदानां पृथ्वीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथ्वीकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकाय--बादरपृथिवीकाया--ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायलक्षणानां स्वभेदप्रभेदयुक्तानां पञ्चानां पृथ्वीकायभेदानामेवं पञ्चानामप्कायभेदानां तेजःकायभेदानां वायुकायभेदानां च वनस्पतिकायसामान्य-साधारणशरीरवनस्पतिकाय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय--बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया--ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायरूपाणामष्टानां वनस्पतिकायभेदानां त्रसकायसामान्या-ऽपर्याप्तत्रसकाययोश्च सर्वसंख्यया त्रिंशतः कायभेदानां संज्ञिनः= संज्ञिमार्गणास्थानस्य 'अमनसः' असंज्ञिमार्गणायाश्च प्रत्येकं 'ज्ञातव्या' एकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्बोद्धव्या, प्रोक्तैकपञ्चाशन्मार्गणासु (५१) अपर्याप्तनामकर्मोदयवर्तीनां जीवानां प्रवेशात् तेषां च जघन्या-ऽऽयुषः क्षुल्लकभवप्रमाणत्वात्। भावना तु त प्रतीत्य कर्तव्या, यो मार्गणा-

न्तरतः प्रोक्तमार्गणासु जघन्यस्थितिकाऽपर्याप्तत्वेनोत्पद्य ततश्च्युत्वा पुनर्मार्गणान्तरेषूत्पद्यते, तदा यथोक्तकालो लभ्यते ।

अथाऽऽहारकमार्गणाया एकजीवाश्रयां जघन्यकायस्थितिं भणति–'आहारस्स' इत्यादि, 'आहारस्य' आहारकमार्गणायाः 'त्रिसमयहीनः' त्रिभिः समयैर्हीनः, कः ? प्रत्यासत्त्या क्षुल्लकभवः, एकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्भवतीत्युपस्कारः, प्रकृतत्वात् । भावना त्वित्थं कर्तव्या-पृथिवीकायिकादिः कश्चिज्जीवश्चतुःसामयिक्या विग्रहगत्या क्षुल्लकभवायुष्काऽपर्याप्तपृथिवीकायिकादिषूत्पद्यते, स समयत्रयं यावदनाहारको भवति, ततः स्वोत्पत्तिस्थानं लब्ध्वाऽऽहारं गृह्णाति, ततः प्रभृति स्वभवचरमसमयं यावदाहारको भूत्वा मृतः सन् विग्रहगत्योत्पद्यमानोऽनाहारको जायते, तं जीवं प्रतीत्या-ऽऽहारकमार्गणाया जघन्यकालस्त्रिसमयहीनः क्षुल्लकभवः प्राप्यते । उक्तं च **जीवसमासवृत्तौ**–"छउमत्थाहारए णं भंते ! छउमत्थाहारए त्ति कालओ केच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं खुड्डागभवग्गहणं तिसमऊणं ×××" इति ॥१०८,१०९॥

सम्प्रति जघन्यतो ऽन्तर्मुहूर्तस्थायिनीर्मार्गणाः संगृह्य प्राह—

भिं मुहुत्तं तु सयलपज्जत्तगजोणिणीण कायस्स ।
मीसदुजोगपुमाणं तिकसायमइसुअकेवलदुगाणं ॥११०॥ (गीतिः)
अण्णाणदुगस्स तहा देसाजतचक्खुसव्वलेसाणं ।
सम्मत्तखइअवेअगउवसममीसाण मिच्छस्स ॥१११॥

(प्रे०) 'भिं मुहुत्तं' इत्यादि, 'भिन्नमुहुर्तम्' अन्तर्मुहूर्तम् 'तु' तुशब्दो विशेषार्थकः, तदर्थस्त्वग्रे दर्शयिष्यते, 'सकलपर्याप्तकयोनिमतीनां' सकलपर्याप्तकानां=पर्याप्तद्विगतिभेद--षडिन्द्रियभेद--द्वादशकायभेदानां=पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्--पर्याप्तमनुष्य-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय--पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय--पर्याप्तद्वीन्द्रिय--पर्याप्तत्रीन्द्रिय--पर्याप्तचतुरिन्द्रिय--पर्याप्त--पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्माऽप्काय-पर्याप्तबादराप्काय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्तबादरतेजःकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तत्रसकायलक्षणानां विंशतिमार्गणानां योनिमत्योः=पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती मनुष्ययोनिमतीलक्षणयोः 'कायस्य' काययोगमार्गणाया 'मिश्रद्वियोगपुंसां' मिश्रयोर्द्वयोर्योगयोः=औदारिकमिश्रकाययोगस्य वक्ष्यमाणत्वाद् वैक्रियमिश्रकाययोगा ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोः पुंसः=पुरुषवेदमार्गणायाश्च 'त्रिकषायमतिश्रुतकेवलद्विकानां' त्रिकषायाणां=क्रोधमानमायारूपाणां तिसृणां मार्गणाना मतिश्रुतयोः=मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोः केवलद्विकस्य=केवलज्ञानमार्गणा-केवलदर्शनमार्गणारूपस्य

'अज्ञानद्विकस्य' मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानलक्षणस्य मार्गणाद्विकस्य तथा 'देशा-ऽयतचक्षुःसर्वलेश्यानां' देशस्य="समुदायेषु प्रवृत्ता शब्दा अवयेवष्वपि वर्तन्ते" इति न्यायाद् देशविरतमार्गणाया अयतस्य अविरतमार्गणायाः,चक्षुषः=चक्षुर्दर्शनमार्गणायाः सर्वलेश्यानां=कृष्णादीनां षण्णां लेश्यानां'सम्य= क्त्वक्षायिकवेदकोपशममिश्राणां' सम्यक्त्वस्य=सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायाः क्षायिकस्य=क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणाया वेदकस्य=क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया उपशमस्य=औपशमिकसम्यक्त्व-मार्गणाया मिश्रस्य=मिश्रमार्गणास्थानस्य मिथ्यात्वस्य=मिथ्यात्वमार्गणायाश्च प्रत्येकमेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्भवति, उक्तं च श्रीप्र पनासूत्रे- 'पज्जत्तए ण पुच्छा, गो० । ज० अ० ।" एवमन्या अपि मार्गणा अधिकृत्य ग्रन्थान्तरसंवा-दो योज्यः ।

अथ तुशब्दस्य विशेषार्थो भाव्यते-यद्यपि पञ्चाशन्मार्गणानां जघन्यत एकजीवाश्रया कायस्थितिरन्तमुहूर्तप्रमाणा भवति, तथापि सर्वासां न मिथस्तुल्या । तथाहि-मानस्य जघन्यकायस्थितिरन्तमुहूर्तप्रमिता भवन्त्यपि स्तोका भवति, ततः क्रोधस्य विशेषाधिका भवति,ततो मायाया विशेषाधिका, उक्तं च कषायप्राभृतचूर्णौ-"ओघेण माणद्धा जहण्णिया थोवा, कोधद्धा जहण्णिया विसेसाहिया, मायद्धा जहण्णिया विसेसाहिया ।" इति ।

देशविरता-ऽविरतसम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वानां तु जघन्यकायस्थितिः परस्परं तुल्या । उक्तं च कषायप्राभृतचूर्णौ-"जहण्णिया सजमासजमद्धा सम्मत्तद्धा मिच्छत्तद्धा सजमद्धा असजमद्धा सम्मामिच्छत्तद्धा च एदाओ छप्पि अद्धाओ तुल्लाओ ××× ।" इति । संयमस्य जघन्यकायस्थितिः प्रज्ञापनादिसूत्राभिप्रायेणैकसमय इति मतान्तरन्त्वमग्रे दर्शयिष्यते ।

मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोः सम्यक्त्वे सति सद्भावाद् मत्याज्ञान-श्रुताऽज्ञानयोश्च मिथ्यात्वे सति सभवात् तेषामपि जघन्यकायस्थितिर्देशविरतादिकजघन्यकायस्थित्या तुल्या सिद्ध्यति । एवं शेषमार्गणानां जघन्यस्थितेर्हीनाधिकत्वं वाच्यम् । कायस्थितिर्भावना तु सुगमा, यतो मार्गणान्तरतो विवक्षितमार्गणां जघन्यतोऽप्यन्तमुहूर्तकालं स्पृष्ट्वा मार्गणान्तरं यः प्राप्नोति,तदपेक्षयोक्तमार्गणानामेकजीवाश्रया जघन्या कायस्थितिरन्तमुहूर्तं लभ्यते, नवरमन्तमुहूर्तमात्र आयुषि शेषे क्षपकश्रेण्यारूढजीवाऽपेक्षया क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायाः केवलज्ञानकेवलदर्शनमार्गणयोश्च जघन्यकायस्थितिर्भावनीया । एतदुक्तं भवति-यद्यपि बन्धकनिरपेक्षा केवलज्ञान-केवलदर्शन क्षायिकसम्यक्त्वरूपाणां तिसृणां मार्गणानां कायस्थितिरेकजीवाश्रया साद्यपर्यवसिता प्राक् प्रोक्ता,तथापीह प्रकृतिबन्धस्य प्रस्तुतत्वात् तमाश्रित्य केवलद्विकस्य क्षायिकसम्यक्त्वस्य च जघन्यकायस्थितिरन्तमुहूर्तं प्राप्यते, संयोगिकेवलिगुणस्थानकादूर्ध्वं प्रकृतिबन्धाऽभावात् । भावना त्वित्थं कार्या-कश्चिदष्टाविंशतिसत्कर्मा जीवो-ऽन्तमुहूर्तमात्रशेषसंसारः करणत्रयेण दर्शनत्रिकं क्षपयित्वा क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्नोति, तदनन्तरं क्षपकश्रेणिमारुह्य घातिचतुष्टय शीघ्रं क्षपयति, क्षपयित्वा च सयोगिकेवली भूत्वा शैलेशी प्राप्तः

प्रकृतिबन्धं व्यवच्छेदयति, तं जीवमाश्रित्य प्रोक्तमार्गणात्रयस्य प्रत्येकमेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमिता लभ्यते ।

कश्चित्पुरुषवेदोदयेनोपशमश्रेणिमारुह्य श्रेणितश्च्युतोऽनिवृत्तिबादरसम्पराये भूयः पुरुषवेदमनुभवति, ततो जघन्यकालमतिक्रम्य भूय उपशमश्रेणिमारूढोऽवेदभावं भजते, तदा पुरुषवेदस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । यद्वा वेदान्तरमनुभूय पुरुषत्वेन जघन्यायुषि समुत्पद्यते, ततः कालं कृत्वा पुनर्वेदान्तरं व्रजति, तमाश्रित्याऽपि पुरुषवेदस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते । अनयोर्यः केवलिदृष्टया जघन्यो भवति, सोऽत्र जघन्यकायस्थितित्वेन बोध्यः ।

क्रोधमानमायानां जघन्यकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवति, यतः श्री प्रज्ञापनासूत्रवृत्तिकारैः–त्रयाणां कषायाणां क्रोधमानमायारूपाणां जघन्यकायस्थितिमेकसमयप्रमाणां निषिध्याऽनेकसमयप्रमाणेत्थमुपपादिता– 'अथैव क्रोधादिष्वप्येकसमयता कस्मान्न लभ्यते ? उच्यते–तथास्वाभाव्यात्, तथाहि–श्रेणित प्रतिपतन् मायाणुवेदनप्रथमसमये मानाणुवेदनप्रथमसमये क्रोधाणुवेदनप्रथमसमये वा यदि काल करोति, काल च कृत्वा देवलोकेषूत्पद्यते, तथापि तथास्वाभाव्यात् येन कषायोदयेन काल कृतवान् तमेव कषायोदय तत्राऽपि गत सन्नन्तर्मुहूर्त्तमनुवर्त्तयति, एतच्चावसीयते अधिकृतसूत्रप्रामाण्यात्, ततोऽनेकसमयता क्रोधादिष्विति । तदेवं नरतिरश्चां भेदप्रभेदानां जघन्यकायस्थितिस्तत्समानत्वाच्चाऽन्यासामपि मार्गणानामुक्ता ॥११०,१११॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तानां देवगतिमार्गणाभेदप्रभेदानामेकजीवाश्रितां जघन्यकायस्थितिं वक्तुकाम आह—

पलियस्स अ भागो जोइसिअस्स पलिओवमं णेया ।
सोहम्मसुरस्स भवे ईसाणस्सऽब्भहियपल्लं ॥११२॥

(प्रे०) **पलियस्स**' इत्यादि, 'पल्यस्य' पल्योपमस्य 'अष्टभागः' अष्टमश्चासौ भागश्च अष्टभागः, पृषोदरादित्वादिह पूरणप्रत्ययलोपः, 'ज्योतिष्कस्य' ज्योतिष्कसुरमार्गणाया एकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्भवतीत्युपस्कारः, सुराणामनन्तरभवे सुरत्वेनाऽनुत्पत्तेर्ज्योतिष्काणां च जघन्यभवस्थितेर्यथोक्तप्रमाणत्वात् । विशेषतः पुनः सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रसुराणां तत्सुरीणां च जघन्यतः कायस्थितिः पल्योपमस्य चतुर्भागः, तारकदेवानां तद्देवीनां च पल्योपमस्याऽष्टभागः, तज्जघन्यभवस्थितेरेतावन्मात्रत्वात्, उक्तं च **जीवसमासे**– चदाइचगहाण नक्खत्ताण व देविसहियाण । अट्ठण्ह पि जहण्ण आऊ पलियस्स चउभागो ॥१॥ पलिओवमट्ठभाओ तारयदेवाण तह य देवीण । होइ जहण्ण आउ × × × ॥२॥" इति ।

अथ वैमानिकसुराणामेकजीवाश्रयां जघन्यकायस्थितिं वक्तुमना आदौ तावत् सौधर्मैशानसुरयोस्तामाह–'**पलिओवमं**' इत्यादि, पल्योपमं 'ज्ञेया' एकजीवाश्रिता जघन्यकायस्थितिर्बोध्या, कस्य ? इत्याह-'**सोहम्मसुरस्स**' त्ति सौधर्मसुरस्य, '**भवे**' इत्यादि, 'भवेत्' स्यात्, 'ऐशानस्य'

ऐशानसुरमार्गणायाः 'अभ्यधिकपल्यं' साधिकं पल्योपममेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः, यत ऐशानसुराणां जघन्यायुष्कमेतावन्मात्रम्, उक्तं च श्रीतत्त्वार्थसूत्रे–"अपरा पल्योपममधिक च" इति । सौधर्माद्यच्युतपर्यवसानकल्पानां सर्वेषु प्रस्तटेषु सुराणां जघन्यकायस्थितिस्तत्तत्कल्पजघन्यस्थिति-प्रमाणा भवतीति प्राहुर्बृहत् ' हणीवृत्तिकारादयः श्रीमन्मलयगिरिपादादयः । अन्ये पुनर्भणन्ति–या तत्तत्कल्पानां पूर्वपूर्वप्रस्तटेषूत्कृष्टस्थितिः, सोत्तरोत्तरप्रस्तटेषु जघन्यस्थितिर्भवतीति, यदुक्तं देवेन्द्रनरकेन्द्रस्तवप्रकरणवृत्तौ श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरीश्वरपादैः–"जघन्या त्वधस्तनान-न्तरप्रस्तटगतोत्कृष्टा स्थितिर्वाच्या ।" इति ॥११२॥

सम्प्रति सनत्कुमारमाहेन्द्रसुराणामेकजीवाश्रयां जघन्यकायस्थिति निगदितुकामः प्राह—

दोण्णि हवेज्जा जलही सणंकुमारस्स दोण्णि अब्भहिया ।
माहेंदस्स हवेज्जा सत्त भवे बम्हदेवस्स ॥११३॥

(प्रे०) 'दोण्णि' इत्यादि, 'द्वौ' द्विसंख्याकौ 'जलधी' सागरोपमौ 'सनत्कुमारस्य' सन-त्कुमारसुरस्यैकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्भवति, द्वौ च सागरोपमा अभ्यधिकौ 'माहेन्द्रस्य' माहे-न्द्रदेवमार्गणाया जघन्यकायस्थितिर्भवति, तयोर्जघन्यभवस्थितेस्तावन्मात्रत्वात् ।

'सत्त' इत्यादि, सप्त सागरोपमाणि 'ब्रह्मदेवस्य' पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् ब्रह्मलोक-सुरस्य 'भवेद्' एकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः स्यात्, जघन्यभवस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् ॥११३॥

सम्प्रति षष्ठादिकल्पसुराणां जघन्यकायस्थिति व्याजिहीर्षुराह—

लंतगदेवाईणं सा बम्हसुराइगाण जा जेट्ठा ।
सव्वत्थाऽचक्खूणं भवियाभवियाण णत्थि लहू ॥११४॥

(प्रे०) 'लंतक०' इत्यादि, तत्र 'ब्रह्मसुरादीनां' ब्रह्मलोकदेवप्रभृतिनवमग्रैवेयकसुरपर्यवसानानां या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा कायस्थितिरेकजीवाश्रया 'सोहम्माईण' इत्यादिगाथाद्वयेनोक्ता, सा 'लान्त-कसुरप्रभृत्यनुत्तरदेवपर्यन्तानां देवानां जघन्यकायस्थितिर्भवति, जघन्यायुषस्तावत्प्रमाणत्वात् । तथाहि–लान्तकसुरस्यैकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिर्दशसागरोपमाणि, महाशुक्रदेवस्य चतुर्दश-सागरोपमाणि, सहस्रारदेवस्य सप्तदश सागरोपमाणि, आनतसुरस्याऽष्टादश सागरोपमाणि, प्राणत-सुरस्यैकोनविंशतिः सागरोपमाणि, आरणसुरस्य विंशतिः सागरोपमाणि, अच्युतदेवस्यैकविंशतिः सागरोपमाणि, प्रथमग्रैवेयकसुरस्य द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, द्वितीयग्रैवेयकसुरस्य त्रयोविंशतिः -रोपमाणि, एवमेकोत्तरवृद्ध्या तावद् वक्तव्या, यावद् विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितसुराणां प्रत्ये -कत्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्यकायस्थितिः, सर्वार्थसिद्धसुराणां जघन्यकायस्थितेरनन्तरं प्रतिषिध्यमान-त्वात् । **समवायाङ्गे** तु विजयादिचतुरनुत्तराणां जघन्यस्थितिर्द्वात्रिंशत्सागरोपमाण्यभिहिता ।

तथा तद्ग्रन्थः–' विजयवेजयतजयन्तअपराजियाण देवाण केवइय काल ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जह-न्नेण बत्तीस सागरोवमाइ ।" इति ।

सम्प्रति सर्वार्थसिद्धसुरादिमार्गणाः सम्पिण्डय तासां जघन्यकायस्थितिं निषेधन्नाह— 'सव्वत्थ०' इत्यादि, 'सर्वार्था ऽचक्षुषोः" "समुदायेषु प्रवृत्ता शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते" इति न्यायेन सर्वार्थस्य=सर्वार्थसिद्धसुरमार्गणाया अचक्षुषः=अचक्षुर्दर्शनमार्गणायाश्च 'भव्या-ऽभव्योः' भव्यमार्गणाया अभव्यमार्गणायाश्च नास्ति 'लघुः' एकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः । कथमेतदवगीयते ? इति चेत् ,उच्यते–न तावत् सर्वार्थसिद्धसुरमार्गणाया जघन्यकायस्थितिः संभवति, तत्रत्यानां सर्वेषां समानायुष्कत्वात् , यदुक्त प्रज्ञापनासूत्रे–' सव्वट्ठसिद्धदेवाण भते ! केवतिय काल ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! अजहण्णुक्कोसेण तित्तीस सागरोवमाइ ठिई पन्नत्ता ।" इति । तथाऽचक्षुर्दर्शन-भव्यत्वयोर्व्यवच्छेदे सति सयोगिकेवलिनां सिद्धानां च प्रतिपाताभावाद् न प्रोक्तमार्गणयोः सादिता लभ्यते, तेन न तयोर्जघन्यकायस्थितिर्भवति, जघन्यकायस्थितेराद्यन्तसापेक्षत्वात् । तथाऽभव्यमार्गणाया अपि जघन्यकायस्थितिर्न संभवति, आद्यन्ताभावात् ॥११४॥

सम्प्रत्येकसमयप्रमाणजघन्यकायस्थितिकमार्गणाः संगृह्य आह—

समयोऽत्थि पणमणवयणउरलदुगाहारविउव्वकम्माणं ।
इत्थीणपुंसगाणं अवेअलोहाकसायाणं ॥११५॥
मणणाणोहिदुगविभंगसंजमसमइअछेअसुहुमाणं ।
परिहाराहक्खायगसासणऽणाहारगाणं च ॥११६॥

(प्रे०) 'समयोऽत्थि' इत्यादि, 'समयः' एकसमयः 'अस्ति' एकजीवाश्रया जघन्या कायस्थितिर्भवति, केषां मार्गणास्थानानाम् ? इत्याह--'पण०' इत्यादि, 'पञ्चमनोवचनौदारिकद्विकाहारकवैक्रियकार्मणानाम्' एते कृतद्वन्द्वाः षष्ठ्या निर्दिष्टाः, पञ्चशब्दश्च द्वाभ्यां सम्बध्यते,ततश्चायमर्थः– पञ्चमनसां=मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगलक्षणाना पञ्चानां मार्गणानां पञ्चवचनानां=पञ्चमनोयोगवत् पञ्चानां वचनयोगानाम् औदारिकद्विकस्य=औदारिककाययोगतन्मिश्रकाययोगलक्षणस्य आहारस्य=आहारककाययोगस्य वैक्रियस्य= वैक्रियकाययोगस्य कार्मणस्य=कार्मणकाययोगस्य च प्रत्येकं 'स्त्रीनपुंसकयोः' स्त्रीवेदमार्गणास्थानस्य नपुंसकवेदमार्गणास्थानस्य च प्रत्येकम् 'अवेदलोभाकषायाणाम्' अपगतवेदमार्गणाया लोभमार्गणाया अकषायमार्गणायाश्च प्रत्येकं 'मनोज्ञाना-ऽवधिद्विकविभङ्गसंयमसामायिकच्छेदसूक्ष्माणां' मनःपर्यवज्ञानमार्गणाया अवधिद्विकस्य=अवधिज्ञाना ऽवधिदर्शनरूपमार्गणाद्वयस्य विभङ्गज्ञानमार्गणायाः संयमसामान्य-सामायिकसयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-सूक्ष्मसम्परायसंयमानां च प्रत्येकं 'परिहार-यथाख्यात-सास्वादना-ऽनाहारकाणां च' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् परिहारविशुद्धिकसंयम-यथाख्यातसंयम-सास्वा-

दनाऽनाहारकलक्षणानां चतुर्णां मार्गणास्थानानां च प्रत्येकम्, उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–"मण-जोगी णं भंते मणजोगी त्ति कालतो० ? गो० ! ज० एक्क समय,xxx एव वइजोगी वि। अवेदए ण भते ! अवेदए त्ति पुच्छा, गो० ! अवेदे दुविधे प० त०, सादीए अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिते, नत्थ ण जे से साइए सपज्जवसिते, से जहण्णेण एग समयं। xxx लोभकसाई ण भते ! लोभ० पुच्छा गो० ! जह० एक्क समय । xxx इत्थिवेदे ण भते ! इत्थिवेदे त्ति काल० ? गो० ! xxx जह० एक्क समय। xxx नपुसगवेए ण भंते ! नपुसगवेदे त्ति पुच्छा, गो० ! ज० एग समय। xxxx अकसाई ण भते ! अकसादि त्ति काल० ? गो० ! अकसादी दुविहे प० त० सादीए वा अपज्जवसिते सादीए वा सप-ज्जवसिते, तत्थ ण जे से सादीए सपज्जवसिते, से जह० एग समय। xxx ओहिनाणी वि एव चेव, नवर जहण्णेण एग समय। मणपज्जवणाणी ण भते ! पुच्छा, मणपज्जवणाणि त्ति कालतो०, गो० ! जह० एग समय। ××× विभगणाणी ण भते ! पुच्छा गो० ! जहण्णेण एग समय ××××× xxxxx ओहिदसणी ण पुच्छा , गो० ! जह० एग समय ×××। छउमत्थअणाहारए ण भंते ! पुच्छा, गो० जह० एग समय ।" इति । एवमन्यासामौदारिकादिमार्गणानां सामयिक्या जघन्यकाय-स्थितेः प्रतिपादको जीवसमासादिग्रन्थसंवादो द्रष्टव्यः, तथा चाऽत्र जीव प्रकरणम्–
मणवइउरलविउव्वियआहारयकम्मजोग अणरित्थी। सजमविभागविब्भगसासणे एकसमय तु ॥१॥" इति ।

भावना त्वित्थं कार्या--कश्चिज्जीव औदारिकादिकाययोगेन प्रथमसमये मनोवर्गणापुद्गलानादाय द्वितीयसमये मनस्त्वेन परिणम्य मुञ्चति, तृतीयसमय उपरमते म्रियते वा, तत्रोपरतस्य योगान्तर-भजनाद् मृतस्य चौदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रयोग-कार्मणकाययोगानामन्यतमयोगस्योपलम्भाद् मनो-योगस्य जघन्यावस्थानकाल एकसमयः प्राप्यते, न चैतत् स्वमनीषिकया विजृम्भितम्, श्री-प्रज्ञापनासूत्रस्य मूलवृत्तिकारैस्तथासमर्थितत्वात्। तथा च तद्ग्रन्थः–"मणयोगे खधे पडुच्च ओरालियादिकायजोगेण जीवव्यापारो पढमसमये चेव उवरमति मरति वा, तत्थ एगसमय।" इति । मनोयोगसामान्यस्यै मयिकत्वेन तद्व्याप्यभूतानां सत्यादिमनोयोगानामेकसामयिकता निग-दसिद्धा, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्या-ऽवश्यं भावात्। एवं पञ्चानां वचनयोगानामपि भावना कर्तव्या।

औदारिकवैक्रियकाययोगयोर्मरणमाश्रित्य जघन्यकायस्थितिर्भावनीया। तथाहि–कश्चिन्म-नुष्यस्तिर्यङ् वा मनोयोगादिकं परित्यज्य समयमेकमौदारिकशरीरयोगवत्त्वेन जीवित्वा मृतः कार्मण-काययोगी औदारिकमिश्रकाययोगी वैक्रियमिश्रकाययोगी वा भवति, मरणाऽनन्तरसमये कार्मण-काययोगौदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगानामेवाऽन्यतमस्य योगस्योपलम्भात्। एवं कश्चिद् देवो नारको वा मनोयोगादिकं विमुच्य वैक्रियकाययोगे समयमेकं जीवित्वा मृत औदारिक-मिश्रकाययोगी कार्मणकाययोगी वा भवति, देवनारकाणां मरणसमनन्तरसमय औदारिकमिश्र-कार्मणकाययोगौ ऋतेऽन्ययोगस्याऽसंभवात्। तदेवमुक्तयोर्मार्गणयोर्जघन्यकायस्थितिः समयः।

औदारिकमिश्रकाययोगस्य जघन्यकायस्थितिः समुद्घातमापन्न कपाटस्थ सयोगिकेवलिनं प्रतीत्यै ामयिकी प्राप्यते, यतः समुद्घातस्य प्रथम य-तृतीयसमयोर्मध्यगते द्वितीयस्मिन् समय

औदारिकमिश्रकाययोग उपलभ्यते, प्रथमसमये तृतीयसमये च यथाक्रममौदारिककाययोगः कार्मणकाययोगश्च प्राप्यते ।

कृताहारकशरीरः कश्चिच्चतुर्दशपूर्वधरः कार्यसिद्धिप्रत्यासत्तिकाले मनोयोगाद्वा वचनयोगाद्वाऽवतीर्य समयमेकमाहारकशरीरयोगित्वेन स्थित्वौदारिशरीरं प्रतिपद्यते, मृत्वा वा देवलोके वैक्रियमिश्रकाययोगमधिगच्छति,तमाश्रित्याऽऽहारककाययोगमार्गणाया जघन्यकायस्थितिरेकसमयप्रमाणा लभ्यते ।

यदा द्विसामयिक्या विग्रहगत्या जीव उत्पद्यते, तदा कार्मणकाययोगस्य जघन्यकायस्थितिरेकः समय आसाद्यते, एवमनाहारकमार्गणाया अपि प्रकृतकायस्थितिर्भावनीया ।

काचित् स्त्री उपशमश्रेणिं प्रतिपन्ना वेदोदयं सर्वथोपशमय्या-ऽवेदत्वमनुभूयोपशान्तमोहगुणस्थानक लभते, ततो-ऽद्धाक्षयेण क्रमशः पतित्वा-ऽनिवृत्तिबादरसम्पराये समयमेकं स्त्रीवेदमनुभूय द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते,तत्र च पुरुषवेद एव, न स्त्रीवेदः, सम्यग्दृशां देवीत्वेनोत्पादाभावात् । तदा स्त्रीवेदस्य जघन्यकायस्थितिरेकसमयो लभ्यते । एवं नपुंसकवेदस्याऽपि प्रकृतकायस्थितिर्भावनीया, नवरं नपुंसकवेदी श्रेणिमारोपयितव्यः । नन्वेवं तर्हि पुरुषवेदस्य जघन्यत एकसमयः कायस्थितिः कुतो न लभ्यते ? इति वाच्यम् , श्रेणौ मृतस्य देवत्वेन समुत्पत्तेस्तत्राऽपि पुरुषवेदोदयविरहाभावात् ।

लोभस्यैकसमयमात्री जघन्यकायस्थितिः श्रीमन्मलयगिरिपादैरित्थं भाविता—"लोभकषायी जघन्येनैक समयमिति, यदा कश्चिदुपशमक उपशमश्रेणिपर्यवसाने उपशान्तवीतरागो भूत्वा श्रेणित प्रतिपतन् लोभाणुप्रथमसमयसवेदनकाल एव काल कृत्वा देवलोकेषूत्पद्यते, तत्र चोत्पन्न. सन् क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी वा भवति, तदा एक समय लोभकषायी लभ्यते ।" इति । श्रीमन्मलधारिहेमचन्द्रसूरिपादैः पुनः–"लोभोपयुक्तस्तु जघन्यत समय कथमिति ? उच्यते-य उपशान्तमोह प्रतिपतन्नेक समय लोभपुद्गलान् वेदयित्वाऽनन्तर कालकरणादनुत्तरसुरेषूत्पद्यते, तस्य किल युगपत् सर्वे कषाया प्रदेशोदयेनोदयमागच्छन्ति, न तु केवलो लोभ इत्येव जघन्यतो लोभकषायोदय केवल समयमेकमवाप्यते ।" इति । अन्ये पुनर्व्याचक्षते-तिर्यगादीनामन्यतमो यः क्रोधप्रभृतीनामन्यतमकषायतः समुत्तीर्य समयमेकं लोभकषायी भूत्वा म्रियते,मृत्वा च देवगतिवर्जास्वन्यासु गतिषूत्पद्यते, तस्य जीवस्य लोभकषायस्य जघन्यकाल एकसमयः प्राप्यते, अथवा मरणाभावे व्याघातेनाऽप्येकसमयः प्राप्यत इति । तदत्र तत्त्वं केवलिनो विदन्ति ।

कश्चिज्जीव उपशमश्रेणिमारोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके सर्वथा वेदमुपशमय्याऽवेदभावं प्राप्तः समयमेकं स्थित्वा मृतो देवलोके समुत्पद्यते, तस्याऽपगतवेदमार्गणाया जघन्यकायस्थितिरेकसमयमात्री लभ्यते, देवलोके पुंवेदोदयात् ।

यः कश्चिदुपशान्तमोहो भूत्वा द्वितीयसमये काल करोति, तमाश्रित्याऽकषायमार्गणायथाख्यातसयममार्गणयोर्जघन्यकायस्थितिरेकसमयप्रमाणा लभ्यते ।

दनाऽनाहारकलक्षणानां चतुर्णां मार्गणास्थानानां च प्रत्येकम्, उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–"मण-जोगी णं भंते मणजोगी त्ति कालतो० ? गो० ! ज० एक्क समय,xxx एव वइजोगी वि। अवेदए ण भते ! अवेदए त्ति पुच्छा, गो० ! अवेदे दुविधे प० त०, सादीए अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिते, तत्थ ण जे से साइए सपज्जवसिते, से जहण्णेण एग समयं। xxx लोभकसाई ण भते ! लोभ० पुच्छा गो० ! जह० एक्क समय । xxx इत्थिवेदे ण भते ! इत्थिवेदे त्ति काल० ? गो० ! xxx जह० एक्क समय। xxx नपुसगवेए ण भते ! नपुसगवेदे त्ति पुच्छा, गो० ! ज० एग समय। xxxx अकसाई ण भते ! अकसादि त्ति काल० ? गो० ! अकसादी दुविहे प० त० सादीए वा अपज्जवसिते सादीए वा सपज्जवसिते, तत्थ ण जे से सादीए सपज्जवसिते, से जह० एग समय। xxx ओहिनाणी वि एव चेव, नवर जहण्णेण एग समय। मणपज्जवणाणी ण भते ! पुच्छा, मणपज्जवणाणि त्ति कालतो०, गो० ! जह० एग समय। ××× विभगणाणी ण भते ! पुच्छा गो० ! जहण्णेण एग समय ××××× xxxxx ओहिदसणी ण पुच्छा, गो० ! जह० एग समय ×××। छउमत्थअणाहारए ण भते ! पुच्छा, गो० जह० एग समय।" इति। एवमन्यासामौदारिकादिमार्गणानां सामयिक्या जघन्यकायस्थितेः प्रतिपादको जीवसम ादिग्रन्थसंवादो द्रष्टव्यः, तथा चाऽत्र जीव प्रकरणम्–
मणवइउरलविउव्वियआहारयकम्मजोग अणरित्थी। सजमविभागविब्भगसासणे एकसमय तु ॥१॥" इति।

भावना त्वित्थं कार्या--कश्चिज्जीव औदारिकादिकाययोगेन प्रथमसमये मनोवर्गणापुद्गलानादाय द्वितीयसमये मनस्त्वेन परिणम्य मुञ्चति, तृतीयसमय उपरमते म्रियते वा, तत्रोपरतस्य योगान्तर-भजनाद् मृतस्य चौदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रयोग-कार्मणकाययोगानामन्यतमयोगस्योपलम्भाद् मनोयोगस्य जघन्यावस्थानकाल एकसमयः प्राप्यते, न चैतत् स्वमनीषिकया विजृम्भितम्, श्रीप्रज्ञापनासूत्रस्य मूलवृत्तिकारैस्तथासमर्थितत्वात्। तथा च तद्ग्रन्थः–"मणयोगे खधे पडुच्च ओरालियादिकायजोगेण जीवव्यापारो पढमसमये चेव उवरमति मरति वा, तत्थ एगसमय।" इति।
मनोयोगसामान्यस्यैकसामयिकत्वेन तद्व्याप्यभूतानां सत्यादिमनोयोगानामेकसामयिकता निगदसिद्धा, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्या-ऽवश्य भावात्। एवं पञ्चानां वचनयोगानामपि भावना कर्तव्या।

औदारिकवैक्रियकाययोगयोर्मरणमाश्रित्य जघन्यकायस्थितिर्भावनीया। तथाहि–कश्चिन्मनुष्यस्तिर्यङ् वा मनोयोगादिकं परित्यज्य समयमेकमौदारिकशरीरयोगवत्त्वेन जीवित्वा मृतः कार्मणकाययोगी औदारिकमिश्रकाययोगी वैक्रियमिश्रकाययोगी वा भवति, मरणाऽनन्तरसमये कार्मणकाययोगौदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगानामेवाऽन्यतमस्य योगस्योपलम्भात्। एवं कश्चिद् देवो नारको वा मनोयोगादिक विमुच्य वैक्रियकाययोगे समयमेकं जीवित्वा मृत औदारिकमि यियोगी कार्मणकाययोगी वा भवति, देवनारकाणां मरणसमनन्तरसमय औदारिकमिश्र-कार्मणकाययोगौ ऋतेऽन्ययोगस्याऽसंभवात्। तदेवमुक्तयोर्मार्गणयोर्जघन्यकायस्थितिः समयः।

औदारिकमिश्रकाययोगस्य जघन्यकायस्थितिः समुद्घातमापन्न कपाटस्थं सयोगिकेवलिनं प्रतीत्यै ामयिकी प्राप्यते, यतः समुद्घातस्य प्रथमसमय-तृतीयसमयोर्मध्यगते द्वितीयस्मिन् समय

औदारिकमिश्रकाययोग उपलभ्यते, प्रथमसमये तृतीयसमये च यथाक्रममौदारिककाययोगः कार्मणकाययोगश्च प्राप्यते ।

कृताहारकशरीरः कश्चिच्चतुर्दशपूर्वधरः कार्यसिद्धिप्रत्यासत्तिकाले मनोयोगाद्वा वचनयोगाद्वाऽवतीर्य समयमेकमाहारकशरीरयोगित्वेन स्थित्वौदारिशरीरं प्रतिपद्यते, मृत्वा वा देवलोके वैक्रियमिश्रकाययोगमधिगच्छति, तमाश्रित्याऽऽहारककाययोगमार्गणाया जघन्यकायस्थितिरेकसमयप्रमाणा लभ्यते ।

यदा द्विसामयिक्या विग्रहगत्या जीव उत्पद्यते, तदा कार्मणकाययोगस्य जघन्यकायस्थितिरेकः समय आसाद्यते, एवमनाहारकमार्गणाया अपि प्रकृतकायस्थितिर्भावनीया ।

काचित् स्त्री उपशमश्रेणिं प्रतिपन्ना वेदोदयं सर्वथोपशमय्या-ऽवेदत्वमनुभूयोपशान्तमोहगुणस्थानकं लभते, ततो-ऽद्धाक्षयेण क्रमशः पतित्वा-ऽनिवृत्तिबादरसम्पराये समयमेकं स्त्रीवेदमनुभूय द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते, तत्र च पुरुषवेद एव, न स्त्रीवेदः, सम्यग्दृशां देवीत्वेनोत्पादाभावात् । तदा स्त्रीवेदस्य जघन्यकायस्थितिरेकसमयो लभ्यते । एवं नपुंसकवेदस्याऽपि प्रकृतकायस्थितिर्भावनीया, नवरं नपुंसकवेदी श्रेणिमारोपयितव्यः । नन्वेवं तर्हि पुरुषवेदस्य जघन्यत एकसमयः कायस्थितिः कुतो न लभ्यते ? इति वाच्यम्, श्रेणौ मृतस्य देवत्वेन समुत्पत्तेस्तत्राऽपि पुरुषवेदोदयविरहाभावात् ।

लोभस्यैकसमयमात्री जघन्यकायस्थितिः श्रीमन्मलयगिरिपादैरित्थं भाविता—"लोभकषायी जघन्येनैकं समयमिति, यदा कश्चिदुपशमक उपशमश्रेणिपर्यवसाने उपशान्तवीतरागो भूत्वा श्रेणितः प्रतिपतन् लोभाणुप्रथमसमयसंवेदनकाल एव कालं कृत्वा देवलोकेषूत्पद्यते, तत्र चोत्पन्नः सन् क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी वा भवति, तदा एकं समयं लोभकषायी लभ्यते ।" इति । श्रीमन्मलधारिहेमचन्द्रसूरिपादैः पुनः—"लोभोपयुक्तस्तु जघन्यतः समयं कथमिति ? उच्यते-य उपशान्तमोहः प्रतिपतन्नेकं समयं लोभपुद्गलान् वेदयित्वाऽनन्तरं कालकरणादनुत्तरसुरेषूत्पद्यते, तस्य किल युगपत् सर्वे कषायाः प्रदेशोदयेनोदयमागच्छन्ति, न तु केवलो लोभ इत्येव जघन्यतो लोभकषायोदयः केवलः समयमेकमवाप्यते ।" इति । अन्ये पुनर्व्याचक्षते-तिर्यगादीनामन्यतमो यः क्रोधप्रभृतीनामन्यतमकषायतः समुत्तीर्य समयमेकं लोभकषायी भूत्वा म्रियते, मृत्वा च देवगतिवर्जास्वन्यासु गतिषूत्पद्यते, तस्य जीवस्य लोभकषायस्य जघन्यकाल एकसमयः प्राप्यते, अथवा मरणाभावे व्याघातेनाऽप्येकसमयः प्राप्यत इति । तदत्र तत्त्वं केवलिनो विदन्ति ।

कश्चिज्जीव उपशमश्रेणिमारोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके सर्वथा वेदमुपशमय्याऽवेदभावं प्राप्तः समयमेकं स्थित्वा मृतो देवलोके समुत्पद्यते, तस्याऽपगतवेदमार्गणाया जघन्यकायस्थितिरेकसमयमात्री लभ्यते, देवलोके पुंवेदोदयात् ।

यः कश्चिदुपशान्तमोहो भूत्वा द्वितीयसमये कालं करोति, तमाश्रित्याऽकषायमार्गणायथाख्यातसंयममार्गणयोर्जघन्यकायस्थितिरेकसमयप्रमाणा लभ्यते ।

दनाऽनाहारकलक्षणानां चतुर्णां मार्गणास्थानानां च प्रत्येकम्, उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–"मण-जोगी णं भंते मणजोगी त्ति कालतो० ? गो० ! ज० एक्क समय,xxx एव वइजोगी वि। अवेदए णं भंते ! अवेदए त्ति पुच्छा, गो० ! अवेदे दुविधे प० त०, सादीए अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिते, तत्थ णं जे से साइए सपज्जवसिते, से जहण्णेण एग समयं। xxx लोभकसाई णं भंते ! लोभ० पुच्छा गो० ! जह० एक्क समय । xxx इत्थिवेदे णं भंते ! इत्थिवेदे त्ति काल० ? गो० ! xxx जह० एक्क समय। xxx नपुसगवेए णं भंते ! नपुसगवेदे त्ति पुच्छा, गो० ! ज० एग समय। xxxx अकसाई णं भंते ! अकसादि त्ति काल० ? गो० ! अकसादी दुविहे प० त० सादीए वा अपज्जवसिते सादीए वा सप-ज्जवसिते, तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिते, से जह० एग समय। xxx ओहिनाणी वि एव चेव, नवरं जहण्णेणं एग समय। मणपज्जवणाणी णं भंते ! पुच्छा, मणपज्जवणाणि त्ति कालतो०, गो० ! जह० एग समय। ××× विभगणाणी णं भंते ! पुच्छा गो० ! जहण्णेण एग समय ××××× ××××× ओहिदसणी णं पुच्छा, गो० ! जह० एग समय ×××। छउमत्थअणाहारए णं भंते ! पुच्छा, गो० जह० एग समय।" इति। एवमन्यासामौदारिकादिमार्गणानां सामयिक्या जघन्यकाय-स्थितेः प्रतिपादको **जीवसमासादिग्रन्थसंवादो** द्रष्टव्यः, तथा चाऽत्र **जीवसमासप्रकरणम्**–
मणवइउरलविउव्वियआहारयकम्मजोग अणरित्थी। सजमविभागविब्भगसासणे एकसमय तु ॥१॥" इति।

भावना त्वित्थं कार्या--कश्चिज्जीव औदारिकादिकाययोगेन प्रथमसमये मनोवर्गणापुद्गलानादाय द्वितीयसमये मनस्त्वेन परिणम्य मुञ्चति, तृतीयसमय उपरमते म्रियते वा, तत्रोपरतस्य योगान्तर-भजनाद् मृतस्य चौदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रयोग-कार्मणकाययोगानामन्यतमयोगस्योपलम्भाद् मनो-योगस्य जघन्यावस्थानकाल एकसमयः प्राप्यते, न चैतत् स्वमनीषिकया विजृम्भितम्, श्री **प्रज्ञापनासूत्रस्य मूलवृत्तिकारै**स्तथासमर्थितत्वात्। तथा च **तद्ग्रन्थः**–"मणयोगे खघे पढ ओरालियादिकायजोगेण जीवव्यापारो पढमसमये चेव उवरमति मरति वा, तत्थ एगसमय।" इति मनोयोगसामान्यस्यैकसामयिकत्वेन तद्व्याप्यभूतानां सत्यादिमनोयोगानामेकसामयिकता निर दसिद्धा, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्या-ऽवश्य भावात्। एवं पञ्चानां वचनयोगानामपि भावन कर्तव्या।

औदारिकवैक्रियकाययोगयोर्मरणमाश्रित्य जघन्यकायस्थितिर्भावनीया। तथाहि–कश्चिन्म नुष्यस्तिर्यङ् वा मनोयोगादिकं परित्यज्य समयमेकमौदारिकशरीरयोगवत्त्वेन जीवित्वा मृतः कार्मण काययोगी औदारिकमिश्रकाययोगी वैक्रियमिश्रकाययोगी वा भवति, मरणाऽनन्तरसमये कार्मण काययोगौदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगानामेवाऽन्यतमस्य योगस्योपलम्भात्। ए कश्चिद् देवो नारको वा मनोयोगादिक विमुच्य वैक्रियकाययोगे समयमेकं जीवित्वा मृत औदारिक मिश्रकाययोगी कार्मणकाययोगी वा भवति, देवनारकाणां मरणसमनन्तरसमय औदारिकमिश्र कार्मणकाययोगौ ऋतेऽन्ययोगस्याऽसंभवात्। तदेवमुक्तयोर्मार्गणयोर्जघन्यकायस्थितिः समयः।

औदारिकमिश्रकाययोगस्य जघन्यकायस्थितिः समुद्घातमापन्न कपाटस्थं सयोगिकेवलि प्रतीत्यैकसामयिकी प्राप्यते, यतः समुद्घातस्य प्रथमसमय-तृतीयसमयोर्मध्यगते द्वितीयस्मिन् समय

औदारिकमिश्रकाययोग उपलभ्यते, प्रथमसमये तृतीयसमये च यथाक्रममौदारिककाययोगः कार्मणयोगश्च प्राप्यते ।

कृताहारकशरीरः कश्चिच्चतुर्दशपूर्वधरः कार्यसिद्धिप्रत्यासत्तिकाले मनोयोगाद्वा वचनयोगाद्वाऽवतीर्य समयमेकमाहारकशरीरयोगित्वेन स्थित्वौदारिशरीरं प्रतिपद्यते, मृत्वा वा देवलोके वैक्रियमिश्रकाययोगमधिगच्छति, तमाश्रित्याऽऽहारककाययोगमार्गणाया जघन्यकायस्थितिरेकसमयप्रमाणा लभ्यते ।

यदा द्विसामयिक्या विग्रहगत्या जीव उत्पद्यते, तदा कार्मणकाययोगस्य जघन्यकायस्थितिरेकः समय आसाद्यते, एवमनाहारकमार्गणाया अपि प्रकृतकायस्थितिर्भावनीया ।

काचित् स्त्री उपशमश्रेणिं प्रतिपन्ना वेदोदयं सर्वथोपशमय्या-ऽवेदत्वमनुभूयोपशान्तमोहगुणस्थानकं लभते, ततो-ऽद्धाक्षयेण क्रमशः पतित्वा-ऽनिवृत्तिबादरसम्पराये समयमेकं स्त्रीवेदमनुभूय द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते, तत्र च पुरुषवेद एव, न स्त्रीवेदः, सम्यग्दृशां देवीत्वेनोत्पादाभावात् । तदा स्त्रीवेदस्य जघन्यकायस्थितिरेकसमयो लभ्यते । एवं नपुंसकवेदस्याऽपि प्रकृतकायस्थितिर्भावनीया, नवरं नपुंसकवेदी श्रेणिमारोपयितव्यः । नन्वेवं तर्हि पुरुषवेदस्य जघन्यत एकसमयः कायस्थितिः कुतो न लभ्यते ? इति वाच्यम्, श्रेणौ मृतस्य देवत्वेन समुत्पत्तेस्तत्राऽपि पुरुषवेदोदयविरहाभावात् ।

लोभस्यैकसमयमात्री जघन्यकायस्थितिः श्रीमन्मलयगिरिपादैरित्थं भाविता— "लोभकषायी जघन्येनैकं समयमिति, यदा कश्चिदुपशमक उपशमश्रेणिपर्यवसाने उपशान्तवीतरागो भूत्वा श्रेणितः प्रतिपतन् लोभाणुप्रथमसमयसंवेदनकाल एव कालं कृत्वा देवलोकेषूत्पद्यते, तत्र चोत्पन्नः सन् क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी वा भवति, तदा एकं समयं लोभकषायी लभ्यते ।" इति । श्रीमन्मलधारिहेमचन्द्रसूरिपादैः पुनः—"लोभोपयुक्तस्तु जघन्यतः समयं कथमिति ? उच्यते-य उपशान्तमोहः प्रतिपतन्नेकं समयं लोभपुद्गलान् वेदयित्वाऽनन्तरं कालकरणादनुत्तरसुरेषूत्पद्यते, तस्य किल युगपत् सर्वे कषाया प्रदेशोदयेनोदयमागच्छन्ति, न तु केवलो लोभ इत्येवं जघन्यतो लोभकषायोदयः केवलः समयमेकमवाप्यते ।" इति । अन्ये पुनर्व्याचक्षते-तिर्यगादीनामन्यतमो यः क्रोधप्रभृतीनामन्यतमकषायतः समुत्तीर्य समयमेकं लोभकषायी भूत्वा म्रियते, मृत्वा च देवगतिवर्जास्वन्यासु गतिषूत्पद्यते, तस्य जीवस्य लोभकषायस्य जघन्यकाल एकसमयः प्राप्यते, अथवा मरणाभावे व्याघातेनाऽप्येकसमयः प्राप्यत इति । तदत्र तत्त्वं केवलिनो विदन्ति ।

कश्चिज्जीव उपशमश्रेणिमारोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके सर्वथा वेदमुपशमय्याऽवेदभावं प्राप्तः समयमेकं स्थित्वा मृतो देवलोके समुत्पद्यते, तस्याऽपगतवेदमार्गणाया जघन्यकायस्थितिरेकसमयमात्री लभ्यते, देवलोके पुंवेदोदयात् ।

यः कश्चिदुपशान्तमोहो भूत्वा द्वितीयसमये कालं करोति, तमाश्रित्याऽकषायमार्गणायथाख्यातसंयममार्गणयोर्जघन्यकायस्थितिरेकसमयप्रमाणा लभ्यते ।

कश्चिज्जीवो-ऽप्रमत्ताद्धायां वर्तमानो मनःपर्यवज्ञानमुत्पाद्य द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवत्वेन समुत्पद्यते, तस्य जीवस्य मनःपर्यवज्ञानमेकसमयमात्रस्थितिकम् , देवलोके संयमाभावेन मनःपर्यवज्ञानाभावात् ।

कश्चित् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा विभङ्गज्ञानी सन् सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्य च सम्यक्त्वप्रतिपत्तिप्रथमसमये सम्यक्त्वभावतो विभङ्गज्ञानमेवाऽवधिज्ञानं जायते, अनन्तरसमये त्ववधिज्ञानावरणोदयान्मूलत एव प्रतिपतति, तदा ऽवधिज्ञानस्यैकसमयो जघन्यकायस्थितिः प्राप्यते ।

यदा कश्चिन्मनुष्यस्तिर्यङ् वा तथाविधाऽध्यवसायादवधिदर्शनमुत्पाद्या-ऽनन्तरसमये-ऽवधिदर्शनावरणोदयाद् मूलत एवाऽवधिदर्शनात् प्रतिपतति, तदा ऽवधिदर्शनमार्गणाया जघन्यकायस्थितिरेकसमयमात्री । मतान्तरेणा-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञाना-ऽवधिदर्शनानां जघन्यकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवति, तच्च मतान्तरमग्रे वक्ष्यते ।

कश्चिद् देवो नारको वौपशमिकसम्यग्दृष्टिरौपशमिकसम्यक्त्वतश्च्युत्वा सास्वादनं प्राप्तः, तस्य सास्वादनप्रतिपत्तिप्रथमसमय एव विभङ्गज्ञानं भवति, ततोऽनन्तरसमये मरणाद् मनुष्यत्वेन तिर्यक्त्वेन वा समुत्पन्नस्य विभङ्गज्ञानस्याऽपगमेन जघन्यकायस्थितिरेकसमयो लभ्यते ।

कश्चित् संयमं प्रतिपद्य द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवत्वेनोत्पद्यते, तदा संयमस्य जघन्यकाल एकसमय आसाद्यते, देवानां संयमाभावात् , मतान्तरेणा-ऽन्तर्मुहूर्तं वक्ष्यते ।

कश्चिज्जीव उपशमश्रेणिमारोहन्नुपशमश्रेणितो वाऽवतरन् समयमेकं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं स्पृष्ट्वा म्रियते, तदा सूक्ष्मसम्परायसंयमस्य जघन्यकायस्थितिरेकसमयः प्राप्यते ।

उपशमश्रेणितोऽवतरन्ननिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने सामायिकसंयमं छेदोपस्थापनीयसंयम वाऽऽसाद्या ऽनन्तरसमये यो म्रियते, तमाश्रित्य सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोर्जघन्यकायस्थितिरेकसमयो लभ्यते ।

परिहारविशुद्धिकसंयमस्य जघन्यकायस्थितिरे मयप्रमाणा मरणा-ऽपेक्षया भावनीया ।

उपशमाद्धायामेकसमयावशेषायां यः सास्वादनभावं प्रतिपद्यते, सो-ऽनन्तरसमयेऽवश्यं मिथ्यात्वं गच्छति, तदेव सास्वादनमार्गणाया जघन्यकायस्थितिरेकसमयप्रमाणोपलभ्यते ॥११५,११६॥

सम्प्रति क्रोधादीनां जघन्यकायस्थिति मतान्तरेण प्रतिपादयन्नाह–

अण्णे तिकसायाणं समयो मणणाणओहिजुगलाणं ।
संजमपरिहाराणं भिन्नमुहुत्तं ति कायठिई ॥११७॥

(प्रे०) 'अण्णे' इत्यादि, 'अन्ये' केचित्=महाबन्धकारादयो ब्रुवन्तीत्युपस्कारः, 'त्रिकषायाणां' क्रोधमानमायाख्यानां त्रयाणां कषायाणा प्रत्येकं 'समयः' एकसमयो जघन्यकायस्थिति-

भवति, भवचरमसमये स्वभिन्नकषायतः समुत्तीर्य क्रोधमधिगच्छति, ततो मृत्वा नरकगतिवर्जशेष-गतिषूत्पद्यते, तस्य क्रोधस्यैकसमयमात्री कायस्थितिर्जघन्यतो भवति, एवं मानमाययोरपि भाव-नीया, नवरं यथाक्रमं मनुष्यगतिं तिर्यग्गतिं च वर्जयित्वा गत्यन्तरे समुत्पद्यत इति वक्तव्यमिति। प्राक्तु **श्रीप्रज्ञापनासूत्रकारादिमतेन**-त्रयाणां क्रोधादिकषायाणां प्रत्येकं जघन्यकायस्थितिरन्त-र्मुहूर्तमात्री प्रतिपादिता, तेषां मतेन गत्यन्तरे समुत्पद्यमानानां पूर्वभवगत एव क्रोधादीनामन्य-तमः कषायोऽनुवर्तते।

सम्प्रति मतान्तरेणाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यकायस्थितिका मार्गणाः संगृह्य प्राह—'**मण०**' इत्यादि, 'मनोज्ञाना ऽवधियुगलयोः' मनोज्ञानस्य=मनःपर्यवज्ञानमार्गणाया अवधियुगलस्य=अव-धिज्ञानाऽवधिदर्शनलक्षणस्य मार्गणाद्विकस्य प्रत्येक 'संयम-परिहारयोः' संयमस्य=संयमसामान्य-मार्गणायाः परिहारस्य=परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायाश्च प्रत्येकं 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं जघन्य-कायस्थितिरेकजीवाश्रया भवति, यतो भावान्तरतो यथोक्तभावं प्राप्य भावान्तरं गतस्य जीवस्य मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणानां जघन्यतो-ऽन्तर्मुहूर्तकालो लभ्यते। इतिशब्दः समाप्तिवाचकः, का समाप्ता? इत्याह-'**कायठिई**' त्ति, 'कायस्थितिः' जघन्यत उत्कृष्टतश्चैकजीवाश्रया काय-स्थितिप्ररूपणा समाप्तेत्यर्थः।

तदेवं समाप्ता कायस्थितिः, तत्समाप्तौ च समाप्तं चतुर्थं कालद्वारम् ॥११७॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे चतुर्थमेकजीवाश्रय कालद्वार समाप्तम् ॥



१७४ मार्गणानामेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिप्रदर्शियन्त्रम्

उत्कृष्टकायस्थिति	गति	इन्द्रियम्	काय	योग	वेद	कषाय
३३ सागरोपमा	नरकगति देवगति २					
स्वस्वोत्कृष्टभवस्थिति ❀	प्रथमादिसप्तनिरया, २९ देवभेदा ३६					
असंख्यपुद्गलपरावर्ता	तिर्यग्गति १	एकेन्द्रिय० १	वनस्पतिकाय० १	काययोग० १	नपुंसक १	
पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिकत्रि-पल्यानि	अपर्याप्तवर्जा ३ शेष-तिर्यग्भेदा, अपर्याप्त-वर्जा ३ शेषमनुष्य-भेदा ६					
अन्तर्मुहूर्तम्	अपर्याप्ततिर्यक्पञ्चे-न्द्रिय० अपर्याप्त मनुष्य० २	पर्याप्तसूक्ष्मै० अपर्याप्त सूक्ष्मै० अपर्याप्तवा-दरैके० अपर्याप्तद्वी०, अपर्याप्तत्री०, अपर्या-प्तचतुरि० अपर्याप्त-पञ्चे० ७	८अपर्याप्तसूक्ष्मवादर-पृथिवीकायादिचतु-काया, ५पर्याप्तसूक्ष्म-पृथिवीकायादिपञ्च-काया, अप प्रत्येकव प० वादरसाधार-णव, अपर्याप्तसू बा साधा, अप त्रस १८	पञ्चमनो०, पञ्च-वचन० औदारिक-मिश्र०, वैक्रिय-द्विकम् आहारक-द्विकम् १५		क्रोधमान-माया-लोभा ४
अङ्गुलासंख्यभाग		वादरैकेन्द्रिय० १				
असंख्यलोका		सूक्ष्मैकेन्द्रिय० १	पृथ्व्यप्तेजोवायुसामा-न्य०, सूक्ष्मपृथ्व्यप्ते-जोवायुकाय० सूक्ष्म-साधारणवनस्पति ६			
संख्यसहस्रवर्षा		पर्याप्तवादरैकेन्द्रिय० त्रिविकलेन्द्रिया ४	प० वा० पृथ्वी०, प० बा० अप्०, प० बा० वायु, प प्रत्येकवन ४			
संख्यवर्षा		★ पर्याप्तद्वी० १				
संख्यदिवसा		★ पर्याप्तत्री० १	★प बा तेज काय १			
संख्यमासा		★पर्याप्तचतु० १				

❀ स्वस्वजघन्योत्कृष्टभवस्थितिप्रदर्शियन्त्रम्

	उत्कृष्टत	जघन्यत		उत्कृष्टत	जघन्यत		उत्कृष्टत	जघन्यत
निरयसा०	३३सागरो०	१००००वर्षा	तम प्रभा०	२२सागरो	१७ सागरो	सौधर्म०	२ सागरो०	१पल्योप
रत्नप्रभा०	१ ,,	,, ,,	महातम प्रभा	३३ ,,	२२ ,,	ऐशान०	साधिके२ सा	साधिक१प०
शर्कराप्रभा०	३ ,,	१ सागरो०	देवसामान्य०	३३ ,,	१००००वर्षा	सनत्कुमार	७सागरो०	२ सागरो०
वालुकाप्रभा०	७ ,,	३ ,,	भवनपति०	साधिकसागरो	,, ,,	माहेन्द्र०	७ ,, साधि.	२ ,, साधि
पङ्कप्रभा०	१० ,,	७ ,,	व्यन्तर०	१ पल्योपम०	,, ,,	ब्रह्मलोक	१० सागरो	७ सागरो०
धूमप्रभा०	१७ ,,	१० ,,	ज्योतिष्क०	साधिकपल्यो	⅛ पल्य	लान्तक०	१४ ,,	१० ,,

★ = मतान्तरेणोत्कृष्टकायस्थिति संख्यसहस्रवर्षाणि (गाथा १०४)।

१७४ मार्गणानामेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिप्रदर्शियन्त्रम्

ज्ञानम्	संयम	दर्शनम्	लेश्या	भव्य	सम्यक्त्वम्	संज्ञी	आहार०	सर्वा	गाथाङ्क
विभङ्ग० १			कृष्णा, शुक्ला २		△ क्षायिकस० १		·	६	८४
				·	·			३६	८५,९० ९१,९२
			··			असंज्ञी		६	८६
								६	८७
	सूक्ष्मसम्पराय० १			·	औपशमिकसम्यक्त्व मिश्र० २			५०	८८, ८९
			·				आहार० १	२	९३,१०३
	·				··		·	१०	९३
		·			··	·	··	८	९४
				·	·	·		१	९४
								२	९५
					·			१	९५

❀ स्वस्वजघन्योत्कृष्टभवस्थितिप्रदर्शियन्त्रम्

	उत्कृष्टत	जघन्यत		उत्कृष्टतः	जघन्यत		उत्कृष्टत	जघन्यत
महाशुक्र०	१७ सागरो	१४सागरो	प्रथमग्रैवे०	२३ सागरो.	२२सागरो	सप्तमग्रैवे	२९ सागरो	२८सागरो
सहस्रार०	१८ ,,	१७ ,,	द्वितीयग्रैवे०	२४ ,,	२३ ,,	अष्टम ,,	३० ,,	२९ ,,
आनत०	१९ ,,	१८ ,,	तृतीय ,,	२५ ,,	२४ ,,	नवम ,,	३१ ,,	३० ,,
प्राणत०	२० ,,	१९ ,,	चतुर्थ ,,	२६ ,,	२५ ,,	४ अनुत्तर०	३३ ,,	३१
आरण०	२१ ,,	२० ,,	पञ्चम ,,	२७ ,,	२६ ,,	सर्वार्थसिद्ध०	३३ ,,	×
अच्युत०	२२ ,,	२१ ,,	षष्ठ ,,	२८ ,,	२७ ,,			

△ बन्धकनिरपेक्षा साद्यनन्ता। (गाथा-१०६)

॥ अथ पञ्चममन्तरद्वारम् ॥

सम्प्रत्यन्तरद्वारस्याऽवसरः प्राप्तः । तत्रादौ तावदोघतो मूलप्रकृतीनामेकजीवाश्रितं बन्धान्तरं प्रतिपादयति–

वेअस्स अंतरं णो हस्सं छण्ह समयो मुहुत्तंतो ।
आउस्स छण्ह य गुरुं अहियाउस्सुदहितेत्तीसा ॥११८॥

(प्रे०) 'वेअस्स' इत्यादि, 'वेद्यस्य' वेदनीयकर्मणः 'अन्तरम्' एकजीवाश्रयं बन्धान्तरं 'नो' नोशब्दस्य निषेधार्थकत्वाद् नास्ति, अयोगिकेवलिनां सिद्धानां च प्रतिपाताभावात् । इदमुक्तं भवति-सकृद् बन्ध व्यवच्छेद्य पुनर्यावद् न बन्धमारभते, तावद् बन्धविरहलक्षणमन्तरं प्राप्यते, न च वेदनीयबन्धव्यवच्छेदे सति भूयो वेदनीयं बध्यते, सयोगिकेवलिगुणस्थानकचरमसमये तद्बन्धोच्छेदादयोगिकेवलिगुणस्थानकतश्च परिच्यवनाभावात् , तेन वेदनीयस्यैकजीवाश्रितं बन्धान्तरं न लभ्यते ।

'हस्सं' इत्यादि, 'ह्रस्वं' जघन्यं बन्धान्तरं 'षण्णां' वेदनीयायुर्वर्जानां शेषाणां 'समयः' एकसमयो भवति, कुतः ? इति चेत् , उच्यते–कश्चिज्जीव उपशमश्रेणिं प्रतिपद्य सूक्ष्मसम्परायद्वितीयसमये कालं करोति, तदा मोहनीयस्य बन्धान्तरमेकसमयोऽवाप्यते, सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये मोहनीयस्य बन्धाभावाद् देवलोके चोत्पद्यमानस्य प्रथमसमयतः प्रभृति भूयस्तद्बन्धोपलम्भात् । यदि पुनरुपशमश्रेणिमारूढ उपशान्तमोहगुणस्थानकद्वितीयसमये कालं करोति, तर्हि ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नामगोत्रा ऽन्तरायाणां जघन्यबन्धान्तरमेकः समयो लभ्यते, उपशान्तमोहप्रथमसमये ज्ञानावरणादीनां बन्धाभावाद् देवलोके चोत्पद्यमानस्य प्रथमसमये भूयस्तद्बन्धारम्भात् ।

सम्प्रत्यायुषो जघन्यं षण्णां चोत्कृष्टं बन्धान्तरं प्रतिपादयति–'मुहुत्तंतो' इत्यादि, 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तम् 'आयुषः' आयुष्कस्य जघन्यं 'षण्णां च' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयनाम गोत्रा-ऽन्तरायाणा, चकारः समुच्चये, 'गुरु' उत्कृष्टं बन्धान्तर भवतीति शेषः । इहाऽऽयुष्कस्य जघन्यमन्तरं क्षुल्लकभवतः सङ्ख्येयगुणहीन भवति । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–क्षुल्लकभवायुष्को योऽपर्याप्तैकेन्द्रियादिः पारभविकायुष्कं नानाऽऽकर्षैर्बध्नाति, तस्य यो वक्ष्यमाणस्वरूपयोः सममाऽष्टमयोर्द्वयोराकर्षयोर्जघन्या ऽन्तरालकालः, स क्षुल्लकभवतः संख्येयगुणहीनो भवति, क्षुल्लकभवस्य त्रिभागतोऽपि हीनत्वात् । स चा-ऽन्तरालकाल आयुर्बन्धस्य जघन्यमन्तरं भवति । मोहनीयस्योत्कृष्टं बन्धान्तरमारोहणाऽवरोहणसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहोत्कृष्टकालप्रमाणं पञ्चानां चोपशान्तमोहोत्कृष्टकालमात्रमन्तर्मुहूर्तं भवति । तथाहि–यदा कश्चिज्जीवोऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये मोहनीयबन्ध व्यवच्छेद्य क्रमेण सूक्ष्मसम्परायमुपशान्तमोहगुणस्थानकं च गच्छति, ततोऽद्धाक्षयेणोपशान्तमोहगुणस्थानकतः प्रतिपतितः पुनः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमधिगतः, ततोऽनि-

वृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयं प्राप्तः काल वा कृत्वा देवलोकं गतो भूयो मोहनीयबन्धमारभते। तदेवं मोहनीयबन्धस्योत्कृष्टान्तरमारोहणा-ऽवरोहणसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहकाललक्षणाद्धात्रयमात्रमन्तर्मुहूर्तं भवति । कश्चिज्जीवः सूक्ष्मसम्परायचरमसमये मोहनीयरहितानां पञ्चानां बन्धं व्यवच्छेद्योपशान्तमोह उत्कृष्टकालं गमयति, ततश्च्युत्वा सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये देवलोके वाऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकप्रथमसमये भूयः प्रोक्तपञ्चकर्मणा बन्धमारभते, तेनोपशान्तमोहगुणस्थानकोत्कृष्टकालमात्रं ज्ञानावरणादीनां पञ्चानामुत्कृष्टं बन्धान्तरं प्राप्यते, तच्चा-ऽन्तर्मुहूर्तमेव, उपशान्तमोहस्योत्कृष्टकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वात्, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहे**—
"समयाओ अंतमुहु, अपुव्वकरणाइ जाव उवसंतो ।" इति ।

सम्प्रत्यायुष्कस्योत्कृष्टबन्धान्तरं भणति—'**अहिया**' इत्यादि, तत्र 'आयुषः' आयुष्कर्मणो 'अधिका' अन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेन वृद्धा 'उदधित्रयस्त्रिंशत्' सागरोपमाणां त्रयस्त्रिंशद् एकजीवाश्रयमुत्कृष्टं बन्धान्तरं भवति, कथमेतदवसीयते ? इति चेत् उच्यते—कश्चित् पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यस्तिर्यङ् वा वेद्यमानायुषस्त्रिभागे शेषे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं पारभविकमायुर्बध्नाति, अन्तर्मुहूर्तेनायुर्बन्धतो निवर्तते, ततः क्रमेण नारकत्वेन देवत्वेन वोत्पद्य क्रमेण काल गमयन् स्वभवस्यायुष्यन्तर्मुहूर्तशेषेऽसंक्षेप्याद्धायां प्रविष्टः पारभविकमायुर्बन्धमारभते, तदा मनुष्यभवायुर्बन्धाद्धा-देवनारकाऽन्यतमभवासंक्षेप्याद्धालक्षणाऽन्तर्मुहूर्तद्वयेन न्यूनानि पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्योत्कृष्टबन्धान्तरं लभ्यते, अन्तर्मुहूर्तकालस्याऽनेकभेदभिन्नत्वात् प्रस्तुताऽन्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सुघटते । तदेवमोघतो ज्ञानावरणादीनां बन्धान्तरप्ररूपणा कृता ॥११८॥

सम्प्रत्यादेशतो बन्धान्तरं प्रतिपादयितुकाम आह—

तिमणुसगयवेएसु मणपज्जवसंजमेसु वेअस्स ।
णंतरमंतमुहुत्तं हस्समियरमाउवज्जाणं ॥११९॥

(प्रे०)'**तिमणुस०**' इत्यादि, 'त्रिमनुष्यगतवेदेषु' त्रिमनुष्येषु=मनुष्यगतिसामान्य-मानुषी-पर्याप्तमनुष्यलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु गतवेदे=अपगतवेदमार्गणायां च 'मनःपर्यव-संयमयोः' मनःपर्यवज्ञानमार्गणाभेदे संयमे=संयमसामान्यमार्गणास्थाने च 'वेद्यस्य' वेदनीयस्य 'नान्तरं' बन्धान्तर न भवति, मनुष्यसामान्यादिपञ्चमार्गणासु सयोगिकेवलिगुणस्थानचरमसमयं यावद् वेदनीयस्य बध्यमानत्वाद् अयोगिकेवलिनां च प्रतिपाताभावात्, तथा मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां क्षीणकषायान्तानां प्रविष्टत्वेन बन्धविरहाभावात् । 'अन्तर्मुहूर्तं' प्रोक्तमनुष्यादिषट्मार्गणास्वायुर्वर्जानां वेदनीयस्योक्तत्वाद् ज्ञानावरणादीनां षण्णामन्तर्मुहूर्तकालमात्र 'हस्वं' जघन्यम् 'इतरद्' उत् बन्धान्तर भवति, कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, उच्यते—कश्चिन्मनुष्य उपशमश्रेणि प्रतिपद्यमानोऽनि-

वृत्तिबादरसम्परायचरमसमये सूक्ष्मसम्परायचरमसमये च यथाक्रमं मोहनीयबन्धं ज्ञानावरण-दर्शनावरण नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां च बन्धं व्यवच्छेदयति, तत उपशान्तमोहं प्राप्याऽद्धाक्षयेण पतितो भूयः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये ज्ञानावरणादीनामनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये च मोहनीयस्य बन्धमारभते, तेन मोहनीयस्य बन्धान्तरमारोहप्रतिपातसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहलक्षणाद्धात्रयमात्रं ज्ञानावरणादीना चोपशान्तमोहाद्धाप्रमाणमन्तर्मुहूर्तं भवति । तत्र जघन्यान्तरत उत्कृष्टान्तर बृहत्तरमन्तर्मुहूर्तमिति विशेषः । एवं शेषास्वपि पञ्चसु मार्गणासु भावनीयम् ॥११९॥

सम्प्रति यासु मार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धान्तरमेकजीवाश्रयमोघवद् भवति, ता मार्गणाः सम्पिण्ड्य प्राह–

सत्तण्ह दुहोघव्व दुपणिंदितसकायणाणदंसतिगे ।
सुक्कभवियसम्मखइअउवसमसण्णीसु आहारे ॥१२०॥

(प्रे०) 'सत्तण्ह' इत्यादि, 'सप्तानाम्' आयुर्वर्जानां कर्मणां बन्धान्तरं 'द्विधा' जघन्यत उत्कृष्टतश्च 'ओघवद्' ज्ञानावरण-दर्शनावरण मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां जघन्यतो बन्धान्तरमेकसमय उत्कृष्टतो-ऽन्तर्मुहूर्तं वेदनीयस्य च बन्धान्तरं नास्तीत्येवरूपमोघवद् ज्ञेयम् , क ? इत्यत आह–'दुपणिंदि०' इत्यादि, 'द्विपञ्चेन्द्रियत्रसकायज्ञानदर्शनत्रिके' द्विपञ्चेन्द्रियादयः कृतसमाहारद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, द्विशब्दो द्वाभ्यां सम्बध्यते, एवं त्रिकशब्दोऽपि, ततश्चायमर्थः–द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः, द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायमार्गणयोः काये=काययोगमार्गणायां ज्ञानत्रिके=मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानलक्षणे मार्गणात्रये दर्शनत्रिके चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनरूपे मार्गणात्रिके 'शुक्लभव्यसम्यक्त्वक्षायिकौपशमिकसंज्ञिषु' शुक्ललेश्यामार्गणायां भव्यमार्गणायां सम्यक्त्वसामान्यमार्गणाभेदे क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्थान औपशमिकसम्यक्त्वभेदे सज्ञिनि=संज्ञिमार्गणायां च प्रत्येकम् 'आहारे' आहारकमार्गणायां भवतीति शेषः । एतदुक्तं भवति–मनुष्यभवतः परिच्यवनात् समनन्तरं यस्या व्यवच्छेदो न भवति, यस्यां च मोहनीयादीनां बन्धस्य व्यवच्छेदः संभवति, तस्यां मार्गणायां षण्णां कर्मणां जघन्यतो बन्धान्तरमेकसमय उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तं प्राप्यत इति व्याप्तिः, 'मनुष्यभवतः परिच्यवनात् समनन्तरमि'ति कथनान्मनुष्यमार्गणायां नातिव्याप्तिः, 'यस्या व्यवच्छेदो न भवतीति भणनाद् मनोयोगादिषु नाऽतिव्याप्तिः, 'बन्धस्य व्यवच्छेदः संभवती'ति कथनात् पुरुषवेदमार्गणायां नातिव्याप्तिः । उक्तव्याप्तेः पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु सुघटत्वात् षट्कर्मणा जघन्य बन्धान्तरमेकसमय उत्कृष्टञ्चाऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते । तथा वेदनीयबन्धस्यान्तराभावो-ऽनुक्तसिद्धः, सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् तद्बन्धप्रवृत्तेः । भावना त्वोघवत् कर्तव्या, नवरं काययोगमार्गणायामुत्कृष्टबन्धान्तरलाभाय यः सूक्ष्मसम्परायचरमसमये काययोगं प्राप्योपशान्तमोहे तत्प्रायोग्योत्कृष्टकाययोगकालं व्यतिक्रम्य तत्रैव म्रियते, तमा-

श्रित्य पञ्चानामुत्कृष्टबन्धान्तरं वक्तव्यम् । अनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये काययोगं समासाद्य ततस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टकाययोगाद्धां व्यतिक्रम्य मृतो देवत्वेन य उत्पद्यते, तदपेक्षया मोहनीयस्योत्कृष्टबन्धान्तरं बोध्यम् । अद्धाक्षयेण प्रतिपतितमाश्रित्यौघवद् भावना काययोगमार्गणायां न कर्तव्या, काययोगाद्धात उपशान्तमोहगुणस्थानकाद्धाया बृहत्तरत्वेन मार्गणापरावृत्तेः, इह च मार्गणाया विद्यमानत्वे सति बन्धान्तरस्येष्टत्वात् । मनुष्यगत्यां पञ्चेन्द्रियादिमार्गणानामुपलम्भेन तासु श्रेण्यारोहणप्रतिपातोपलम्भादुत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तमोघवत् सुघटते, नवरं काययोगमार्गणाया आप्रतिपातमनुपलम्भेऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावत् तत्र ज्ञानावरणादीना बन्धाभाव उपलभ्यते, तेनोत्कृष्टा-ऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते, इदं चौघप्ररूपणायां प्रतिपादिता-ऽन्तरतो हीनं भवति । तदेवमोघवत् प्रोक्तमार्गणास्वन्तरं लभ्यते ॥१२०॥

सम्प्रति शेषासु मार्गणास्वायुर्वर्जकर्मणां बन्धान्तरं भणति—

लोहम्मि हस्समियरं मोहस्सोघव्व छण्ह ण हवेइ ।
णत्थि सपाउग्गाणं आउगवज्जाण सेसासुं ॥१२१॥

(प्रे०) 'लोहम्मि' इत्यादि, 'लोभे' लोभमार्गणायां 'मोहस्य' मोहनीयकर्मणो 'ह्रस्वम्' जघन्यम् 'इतरद्' उत्कृष्टं बन्धान्तरमोघवद् भवति, यथाऽष्टादशाधिकशततमगाथायामोघतो मोहनीयकर्मणो बन्धान्तरं जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतश्चाऽन्तर्मुहूर्तं प्रतिपादितम्, तथैव लोभमार्गणायामप्यवसेयमित्यर्थः, जघन्यान्तरभावना ओघवत् कार्या, यस्तूपशमश्रेणिमारूढः सूक्ष्मसम्परायप्रथमादिचरमसमयान्त कालं मोहनीयमबद्ध्वा म्रियते, मृतश्च देवत्वप्रथमसमये मोहनीयं बध्नाति, तमपेक्ष्य मोहनीयस्योत्कृष्टबन्धान्तर सूक्ष्मसम्परायकालमात्रं लभ्यते । 'षण्णाम्' आयुषो वक्ष्यमाणत्वाद् मोहनीयस्य चोक्तत्वाल्लोभमार्गणायां ज्ञानावरण-दर्शनावरण वेदनीयानाम-गोत्रा ऽन्तरायाणां 'न भवति' बन्धान्तरं नास्ति, उक्तकर्मणां बन्धोच्छेदे लोभमार्गणाया एव व्यवच्छेदाद्, मार्गणायां च सत्यां षण्णां कर्मणामवश्य बध्यमानत्वात् ।

सम्प्रति शेषमार्गणास्वायुर्वर्जानां कर्मणां बन्धान्तरं प्रतिषेधन्नाह--'णत्थि' इत्यादि, 'नास्ति' न भवति 'शेषासु' उक्तोद्धरितास्वेकोनपञ्चाशदधिकशतमार्गणासु (१४९) 'स्वप्रायोग्यानां' तत्तन्मार्गणायोग्यानाम् 'आयुर्वर्जानाम्' आयुष्कविरहितानां शेषकर्मणां बन्धान्तरमिति गम्यते । नरकगत्यादिमार्गणासु सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहयोरभावाद् मनोयोगादिषु च तयोः सद्भावेऽप्युपशान्तमोहगुणस्थानकाद्धातस्तासां कालस्य हीनत्वाद् उपशमश्रेणौ च मरणेन मनोयोगादिमार्गणानामेवोच्छेदात् । शेषमार्गणासु स्वप्रायोग्यकर्माणि पुनरिमानि-नरकगतिसामान्य तदुत्तरभेदसप्तक पञ्चतिर्यग्भेदा-ऽपर्याप्तमनुष्य त्रिंशद्देवगतिभेद-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जशेषसप्तदशेन्द्रियभेद-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायवर्जचत्वारिंशत्कायभेद काययोगवर्जसप्तदशयोगभेद- स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद- क्रोध--मान-

माया ऽज्ञानत्रय-सामायिकसंयम च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिक--देशविरता--ऽविरत--शुक्ल-लेश्यारहितलेश्यापञ्चका-ऽभव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन -मिश्र-मिथ्यात्वा--संज्ञ्यनाहारक-लक्षणासु चतुश्चत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु(१४४)आयुर्वर्जसप्तकर्माणि, सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयायुर्वर्जानि षट्, अकषाय यथाख्यात-केवलज्ञान केवलदर्शनरूपासु च चतसृषु मार्गणास्वेकमेव वेदनीयम्। तदेवमभिहितं गत्यादिमार्गणास्वेकजीवाश्रित जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धान्तरम् ॥१२१॥

सम्प्रति मार्गणास्वायुष्कस्यैकजीवाश्रयं बन्धान्तरं निरूपयितुकाम आदौ तावदन्तरं निषेधन्नाह—

आउस्स अंतरं णो हवए पंचमणवयणजोगेसुं ।
विउवे आहारदुगे कसायचउगम्मि सासाणे ॥१२२॥

(प्रे०) 'आउस्स' इत्यादि, 'आयुषः' आयुष्कस्य 'अन्तरम्' एकजीवाश्रय बन्धान्तरं 'नो भवति' न भवति, कासु मार्गणासु ? इत्यत आह 'पंच०' इत्यादि, 'पञ्चमनोवचनयोगेषु' मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगेषु, एवं पञ्चसु वचनयोगेषु वैक्रिये=वैक्रियकाययोगमार्गणायाम् 'आहारद्विके' आहारककाययोगतन्मिश्रलक्षणे 'कषायचतुष्के' 'क्रोध-मान-माया लोभरूपेषु सास्वादने च, प्रोक्तमार्गणागतजीवानां वक्ष्यमाणयोर्द्वयोराकर्षयोर्जघन्यान्तरालकालत आन्तर्मौहूर्तिकीनां प्रोक्ताष्टादशमार्गणानामुत्कृष्टकालस्या ऽपि हीनत्वात्। इदन्त्ववधेयम्—कषायमार्गणासु यं जीवभेदमाश्रित्य मार्गणाया उत्कृष्टकालो विवक्ष्यते, तमेवाश्रित्याकर्षद्वयस्यान्तरकालो विवक्षणीयः, न ह्येकत्र सञ्ज्ञिनं प्रतीत्य, अन्यत्र चैकेन्द्रियादिकमाश्रित्य ॥१२२॥

सम्प्रति शेषमार्गणास्वायुषो जघन्यं नरकगत्यादिषु चोत्कृष्टमेकजीवाश्रयं बन्धान्तरं भणितुकाम आह—

सेसासु मुहुत्तंतो हस्सं गुरु देसऊणछम्मासा ।
सव्वणिरयदेवेसुं पसत्थअपसत्थलेसासुं ॥१२३॥

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, 'शेषासु' मनोयोगाद्यष्टादशमार्गणास्वायुर्बन्धान्तरस्य निषिद्धत्वात् वैक्रियमिश्राद्येकादशमार्गणास्वायुर्बन्धस्यैव प्रतिषिद्धत्वात् पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं 'ह्रस्वम्' आयुष एकजीवाश्रयं जघन्य बन्धान्तरं भवति, एतासां मार्गणाना जघन्यकालतोऽपि द्वयोराकर्षयोर्जघन्यान्तरालकालस्य हीनत्वात्। अयं भावः—आकर्षणम्—आकर्षः, तथाविधेन प्रयत्नेन कर्मपुद्गलोपादानमित्यर्थः। इह जीवो जघन्यत एकेनाऽऽकर्षेणायुर्बध्नाति, द्वाभ्यां वाऽऽकर्षाभ्यां बध्नाति, त्रिभिर्वा, चतुर्भिर्वा, पञ्चभिर्वा, षड्भिर्वा, सप्तभिर्वा, उत्कृष्टतोऽष्टभिराकर्षैरायुर्बध्नाति, उक्त च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे—"कइविहे ण भंते ! आउयबंधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे आउयबन्धे पन्नत्ते, त जहा—जातिनामनिहत्ताउए गतिनामनिहत्ताउए ठितीणामनिहत्ताउए ओगाहणानामनिहत्ताउए पएसनामनिहत्ताउए अणुभावनामनिहत्ताउए। ××××× जीवा ण भते ! जातिनामनिहत्ताउय कतिहिं आगरिसेहि पगरेति ? गोयमा ! जहन्नेण एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा उक्कोसेण अट्ठहि। नेरइयाण भते ! जातिनामनिहत्ताउय कतिहिं आगरिसेहि पगरेति ? गोयमा ! जहन्नेण एक्केण वा दोहि वा तीहिं वा उक्कोसेण अट्ठहिं, एव जाव वेमानिया। एव गतिनामनिहत्ताउए वि, ठितीणामनिहत्ताउए वि, ओगाहणानामनिहत्ताउए वि, पदेसनामनिहत्ताउए वि, अणुभावनिहत्ताउए वि।" इति। अत्र निधत्तं नाम निषिक्तम्, एकेन्द्रियादिलक्षणजातिनाम्ना सह निधत्तं =निषिक्तं यदायुः, तद् जातिनामनिधत्तायुः, एवं गतिनामायुरित्याद्यपि भावनीयम्।

जीवः खलु स्वायुषि त्रिभागशेष आयुर्बन्धस्य योग्यतां लभ्यते, ततस्त्रिभागस्य त्रिभागावशेषे स्वायुषो नवमे भागे शेष इत्यर्थः,पुनरायुर्बन्धयोग्यतामासादयति, ततः पुनस्त्रिभागत्रिभागस्य त्रिभागा-ऽवशेष आयुर्बन्धयोग्यतां लभते। एवं तावद् वक्तव्यम्, यावदसंक्षेप्याद्धा। तत्र त्रिभागादिना प्रकारेण या सक्षेप्तु न शक्यते, सा असक्षेप्या, सा चासौ अद्धा च असक्षेप्याद्धा। यो जीव एकेनाकर्षेणायुर्बध्नाति, स त्रिभागादीनामन्यतमे पारभविकमायुर्बद्ध्वा भूयस्तस्मिन् भवे तन्न बध्नाति, यस्तु द्वाभ्यामाकर्षाभ्यां पारभविकमायुर्बध्नाति, स त्रिभागादीनामन्यतमे भागे प्रथमाकर्षेणा-ऽऽआयुर्बद्ध्वा ततो विश्रम्य त्रिभागत्रिभागादीनामन्यतमे भागे शेषे द्वितीयाकर्षेण पुनरायुर्बध्नाति। यस्तु त्रिभिराकर्षैरायुर्बध्नाति, स त्रिभागादीनामन्यतमे भागे शेषे प्रथमाकर्षेणायुर्बन्धं करोति, ततस्त्रिभागत्रिभागादीनामन्यतमभागे शेषे द्वितीयाकर्षेण भूयः पारभाविकमायुर्बध्नाति, ततस्त्रिभागत्रिभागत्रिभागादीनामन्यतमे भागेऽवशिष्टे तृतीयाकर्षेण भूयः पारभविकायुर्बन्धं निर्वर्तयति। एव चतुराद्याकर्षैरप्यायुर्बन्धो भावनीयः। नन्वायुर्बन्ध एकभवे द्विस्त्रिश्चतुष्कृत्वः पञ्चवारान् षड्वारान् सप्तवारान् अष्टवारान् वा भवतीत्येतत् कथमवसीयत इति चेद्, उच्यते—अष्टानामाकर्षाणां सिद्धान्ते प्रतिपादनदर्शनाद् एकस्मिन् भवे बहुकृत्व आयुर्बन्धो न विरुध्यते। तत्रापि यः कश्चिन्नारकपर्यायं प्राप्तो जीवोऽष्टभिराकर्षैरायुर्बन्धं निर्वर्तयति, तस्य जीवस्य सप्तमाकर्षा-ऽष्टमाकर्षयोर्यः सर्वजघन्यान्तरालकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो लभ्यते, स नरकगतिमार्गणायामायुर्बन्धस्य जघन्यान्तरं भवति। एवं शेषास्वपि चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु(१४४)भावनीयम्। इदं त्ववधेयम्—शुभलेश्यास्वायुषो जघन्यं बन्धान्तरं देवमाश्रित्य, अशुभलेश्यासु च देवनारकमाश्रित्य भावनीयम्, तथौदारिककाययोगादिष्वेकेन्द्रियमाश्रित्य समुपपादनीयम्।

पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणाश्चेमाः—सप्तचत्वारिंशद् गतिभेदाः,इन्द्रियभेदा एकान्नविंशतिः, द्वाचत्वारिंशत् कायभेदाः काययोगसामान्यौदारिकतन्मिश्रकाययोगलक्षणानि त्रीणि योगमार्गणास्थानानि,त्रयो वेदाः, केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कमज्ञानत्रिकं सूक्ष्मसम्परायथाख्यातवर्जषट्संयमभेदाः, केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिक लेश्याषट्कं भव्याभव्यौ मिश्रसास्वादनौपशमिकसम्यक्त्ववर्जाश्चत्वारः सम्यक्त्वभेदाः संज्ञ्यसंज्ञिलक्षणमार्गणाद्वयमाहारकमार्गणा चेति। तदेवं प्रतिपादित पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणास्वेकजीवाश्रय जघन्य बन्धान्तरम्।

माया ऽज्ञानत्रय सामायिकसंयम च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिक -देशविरता--ऽविरत--शुक्ल-लेश्यारहितलेश्यापञ्चका-ऽभव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन -मिश्र-मिथ्यात्वा--संज्ञ्यनाहारक-लक्षणासु चतुश्चत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु(१४४)आयुर्वर्जसप्तकर्माणि, सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयायु र्वर्जाणि षट्, अकषाय यथाख्यात-केवलज्ञान केवलदर्शनरूपासु च चतसृषु मार्गणास्वेकमेव वेदनीयम्। तदेवमभिहितं गत्यादिमार्गणास्वेकजीवाश्रित जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धान्तरम् ॥१२१॥

सम्प्रति मार्गणास्वायुष्कस्यैकजीवाश्रयं बन्धान्तरं निरूपयितुकाम आदौ तावदन्तरं निषेधन्नाह-

आउस्स अंतरं णो हवए पंचमणवयणजोगेसुं ।
विउवे आहारदुगे कसायचउगम्मि सासाणे ॥१२२॥

(प्रे०) 'आउस्स' इत्यादि, 'आयुषः' आयुष्कस्य 'अन्तरम्' एकजीवाश्रय बन्धान्तरं 'नो भवति' न भवति, कासु मार्गणासु ? इत्यत आह 'पंच०' इत्यादि, 'पञ्चमनोवचनयोगेषु' मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगेषु, एवं पञ्चसु वचनयोगेषु वैक्रिये=वैक्रियकाययोगमार्गणायाम् 'आहारद्विके' आहारककाययोगतन्मिश्रलक्षणे 'कषायचतुष्के' 'क्रोध-मान-माया लोभरूपेषु सास्वादने च, प्रोक्तमार्गणागतजीवानां वक्ष्यमाणयो-र्द्वयोराकर्षयोर्जघन्यान्तरालकालत आन्तर्मौहूर्तिकीनां प्रोक्ताष्टादशमार्गणानामुत्कृष्टकालस्या ऽपि हीनत्वात् । इदन्त्ववधेयम्—कषायमार्गणासु यं जीवभेदमाश्रित्य मार्गणाया उत्कृष्टकालो विवक्ष्यते, तमेवाश्रित्याकर्षद्वयस्यान्तरकालो विवक्षणीयः, न ह्येकत्र सञ्ज्ञिनं प्रतीत्य, अन्यत्र चैकेन्द्रियादि-कमाश्रित्य ॥१२२॥

सम्प्रति शेषमार्गणास्वायुषो जघन्यं नरकगत्यादिषु चोत्कृष्टमेकजीवाश्रयं बन्धान्तरं भणि-तुकाम आह—

सेसासु मुहुत्तंतो हस्सं गुरु देसऊणछम्मासा ।
सव्वणिरयदेवेसुं पसत्थअपसत्थलेसासुं ॥१२३॥

(प्रे०) 'सेसा' इत्यादि, 'शेषासु' मनोयोगाद्यष्टादशमार्गणास्वायुर्बन्धान्तरस्य निषि-द्धत्वात् वैक्रियमिश्राद्येकादशमार्गणास्वायुर्बन्धस्यैव प्रतिषिद्धत्वात् पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्ग-णासु 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं 'ह्रस्वम्' आयुष एकजीवाश्रयं जघन्य बन्धान्तरं भवति, एतासां मार्ग-णानां जघन्यकालतोऽपि द्वयोराकर्षयोर्जघन्यान्तरालकालस्य हीनत्वात् । अयं भावः—आकर्षणम्-आकर्षः, तथाविधेन प्रयत्नेन कर्मपुद्गलोपादानमित्यर्थः । इह जीवो जघन्यत एकेनाऽऽकर्षेणायु-र्बध्नाति, द्वाभ्यां वाऽऽकर्षाभ्यां बध्नाति, त्रिभिर्वा, चतुर्भिर्वा, पञ्चभिर्वा, षड्भिर्वा, भिर्वा, उत्कृष्ट-तोऽष्टभिराकर्षैरायुर्बध्नाति, उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे—"कइविहे णं भंते ! आउयबंधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे आउयबन्धे पन्नत्ते, त जहा—जातिनामनिहत्ताउए गतिनामनिहत्ताउए ठितीणामनिहत्ताउए ओगाहणानामनिहत्ताउए पएसनामनिहत्ताउए अणुभावनामनिहत्ताउए। ×××××× जीवा ण भते ! जातिनामनिहत्ताउय कतिहिं आगरिसेहि पगरेति ? गोयमा ! जहन्नेण एक्केण वा दोहि वा तीहिं वा उक्कोसेण अट्ठहि। नेरइयाण भते ! जातिनामनिहत्ताउय कतिहिं आगरिसेहिं पगरेंति ? गोयमा ! जहन्नेण एक्केण वा दोहि वा तीहि वा उक्कोसेण अट्ठहिं, एव जाव वेमानिया। एव गतिनामनिहत्ताउए वि, ठितीणामनिहत्ताउए वि, ओगाहणानामनिहत्ताउए वि, पदेसनामनिहत्ताउए वि, अणुभावनिहत्ताउए वि।" इति। अत्र निधत्तं नाम निषिक्तम्, एकेन्द्रियादिलक्षणजातिनाम्ना सह निधत्तं =निषिक्तं यदायुः, तद् जातिनामनिधत्तायुः, एवं गतिनामायुरित्याद्यपि भावनीयम्।

जीवः खलु स्वायुषि त्रिभागशेष आयुर्बन्धस्य योग्यतां लभ्यते, ततस्त्रिभागस्य त्रिभागावशेषे स्वायुषो नवमे भागे शेष इत्यर्थः,पुनरायुर्बन्धयोग्यतामासादयति, ततः पुनस्त्रिभागत्रिभागस्य त्रिभागा-ऽवशेष आयुर्बन्धयोग्यतां लभते। एवं तावद् वक्तव्यम्, यावदसंक्षेप्याद्धा। तत्र त्रिभागादिना प्रकारेण या सक्षेप्तुं न शक्यते, सा असंक्षेप्या, सा चासौ अद्धा च असक्षेप्याद्धा। यो जीव एकेनाकर्षेणायुर्बध्नाति, स त्रिभागादीनामन्यतमे पारभविकमायुर्बद्ध्वा भूयस्तस्मिन् भवे तन्न बध्नाति, यस्तु द्वाभ्यामाकर्षाभ्यां पारभविकमायुर्बध्नाति, स त्रिभागादीनामन्यतमे भागे प्रथमाकर्षेणा-ऽऽआयुर्बद्ध्वा ततो विश्रम्य त्रिभागत्रिभागादीनामन्यतमे भागे शेषे द्वितीयाकर्षेण पुनरायुर्बध्नाति। यस्तु त्रिभिराकर्षैरायुर्बध्नाति, स त्रिभागादीनामन्यतमे भागे शेषे प्रथमाकर्षेणायुर्बन्धं करोति, ततस्त्रिभागत्रिभागादीनामन्यतमभागे शेषे द्वितीयाकर्षेण भूयः पारभाविकमायुर्बध्नाति, ततस्त्रिभागत्रिभागत्रिभागादीनामन्यतमे भागेऽवशिष्टे तृतीयाकर्षेण भूयः पारभविकायुर्बन्धं निर्वर्तयति। एव चतुराद्याकर्षैरप्यायुर्बन्धो भावनीयः। नन्वायुर्बन्ध एकभवे द्विस्त्रिश्चतुष्कृत्वः पञ्चवारान् षड्वारान् सप्तवारान् अष्टवारान् वा भवतीत्येतत् कथमवसीयत इति चेत्, उच्यते—अष्टानामाकर्षाणां सिद्धान्ते प्रतिपादनदर्शनाद् एकस्मिन् भवे बहुकृत्व आयुर्बन्धो न विरुध्यते। तत्रापि यः कश्चिन्नारकपर्यायं प्राप्तो जीवोऽष्टभिराकर्षैरायुर्बन्धं निर्वर्तयति, तस्य जीवस्य सप्तमाकर्षा-ऽष्टमाकर्षयोर्यः सर्वजघन्यान्तरालकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो लभ्यते, स नरकगतिमार्गणायामायुर्बन्धस्य जघन्यान्तरं भवति। एव शेषास्वपि चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु(१४४)भावनीयम्। इदं त्ववधेयम्—शुभलेश्यास्वायुषो जघन्यं बन्धान्तरं देवमाश्रित्य, अशुभलेश्यासु च देवनारकमाश्रित्य भावनीयम्, तथौदारिककाययोगादिष्वेकेन्द्रियमाश्रित्य समुपपादनीयम्।

पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणाश्चेमाः—सप्तचत्वारिंशद् गतिभेदाः,इन्द्रियभेदा एकान्नविंशतिः, द्वाचत्वारिंशत् कायभेदाः काययोगसामान्यौदारिकतन्मिश्रकाययोगलक्षणानि त्रीणि योगमार्गणास्थानानि,त्रयो वेदाः, केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कमज्ञानत्रिकं सूक्ष्मसम्परायययथाख्यातवर्जषट्संयमभेदाः, केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिक लेश्याषट्कं भव्याभव्यौ मिश्रसास्वादनौपशमिकसम्यक्त्ववर्जाश्चत्वारः सम्यक्त्वभेदाः संज्ञ्यसंज्ञिलक्षणमार्गणाद्वयमाहारकमार्गणा चेति। तदेवं प्रतिपादित पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणास्वेकजीवाश्रय जघन्य बन्धान्तरम्।

सम्प्रत्येकजीवाश्रयमायुष उत्कृष्टतो बन्धान्तरं प्रतिपिपादयिषुराह–'गुरु' इत्यादि, 'गुरु' आयुष एकजीवाश्रयमुत्कृष्टं बन्धान्तरं 'देशोनषण्मासाः' देशोनाः=अन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनाः षण्मासा भवति, क्वेत्याह–'सव्व०' इत्यादि, 'सर्वनिरयदेवेषु' सर्वशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सर्वेषु निरयेषु नरकगतिसामान्ये तदुत्तरभेदसप्तके चेत्यर्थः, सर्वदेवेसु=देवगतिसामान्ये तदुत्तरभेदभवनपत्यादिष्वेकोनत्रिंशद्भेदेषु च 'प्रशस्ताप्रशस्तलेश्यासु' प्रशस्तासु=तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्यासु, अप्रशस्तासु=कृष्णलेश्या नीललेश्या–कापोतलेश्यासु च। इदमुक्तं भवति–देवनारकाणामायुर्बन्धः स्वभवायुष्कात् षण्मासावशेषात् प्राग् न भवति, यदुक्तं च स्थानाङ्गसूत्रवृत्तौ–××××"इह तिर्यङ्मनुष्या आत्मीयायुषस्तृतीयत्रिभागे परभवायुषो बन्धयोग्या भवन्ति, देवनारका पुन षण्मासे शेषे।" इति। तेन कश्चिद् देवो नारको वाऽऽकर्षद्वयेनाऽऽयुष्कं बिभन्त्सुः स्वभवायुषि षण्मासमात्रशेषे प्रथमाकर्षेणाऽन्तर्मुहूर्तं यावदायुर्बन्धं निर्वर्तयति, तत आयुर्बन्धतो निवर्तते, उत्कृष्टतोऽप्यायुर्बन्धाद्धाया अन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। निवृत्तो-ऽसौ स्वायुष्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा-ऽसंक्षेप्याद्धाशेषे द्वितीयाकर्षेण भूय आयुर्बन्धमारभते। तदेवमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमेकजीवाश्रयमन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनपाण्मासिकं नरकसामान्यप्रथमपृथिवीनरकप्रभृतिसप्तमपृथिवीनरकपर्यवसानेषु देवसामान्यभवनपतिप्रभृतिसर्वार्थसिद्धविमानसुरपर्यन्तेषु च मार्गणास्थानेषु प्राप्यते।

देवनारकेष्वायुष उत्कृष्टस्य बन्धान्तरस्यान्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनषण्मासप्रमाणत्वाच्छुभलेश्यासु देवापेक्षयाऽशुभलेश्यासु च देवनारकाऽपेक्षया यथोक्तमन्तरं सङ्गच्छते। न च नरतिरश्चां कृष्णादिलेश्यासद्भावेन साधिकत्रिपल्योपमान्यायुष उत्कृष्टं बन्धान्तर कुतो न संभवतीति वाच्यम्, तिरश्चां छद्मस्थमनुष्याणां च लेश्याया आन्तर्मौहूर्तिकस्थितिकत्वेनान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं परावृत्तेः।

तदेवं नरकगतितदुत्तरभेदेष्वायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तर निरूपितम्, तत्साम्याद् देवगत्यादिभेदेष्वपि प्रतिपादितम् ॥१२३॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तायां तिर्यग्गतौ प्रस्तुता-ऽन्तरं वक्तुकामो लाघवार्थमन्या अपि मार्गणाः संगृह्य प्राह—

सव्वेसुं तिरियमणुसएगिंदियविगलपंचकायेसुं।
असमत्तपणिंदितसेसु साहिया भवठिई जेट्ठा ॥१२४॥

(प्रे०) 'सव्वे ' इत्यादि, 'सर्वेषु तिर्यङ्मनुष्यैकेन्द्रियविकलपञ्चकायेषु' सर्वतिर्यक्षु=तिर्यग्गतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्ची पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणेषु सर्वमनुष्येषु=मनुष्यगतिसामान्य मानुषी-पर्याप्तमनुष्या ऽपर्याप्तमनुष्यरूपेषु सर्वैकेन्द्रियेषु=एकेन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-बादरैकेन्द्रिय -पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया--ऽपर्याप्तबादरै-

केन्द्रियाख्येषु सप्तमार्गणाभेदेषु सर्वविकलेषु=द्वीन्द्रियसामान्य-पर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियसामान्य-पर्याप्तत्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियसामान्य-पर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियलक्षणेषु नवसु मार्गणास्थानेषु सर्वपञ्चकायेषु=सर्वेषु पृथिकाया-ऽप्काय-तेजःकाय-वायुकाय-वनस्पतिकायभेदप्रभेदेषु=पृथ्वीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायरूपेषु सप्तपृथिवीकायभेदेषु, एव सप्तस्वप्कायभेदेषु, सप्तसु तेजःकायभेदेषु सप्तवायुकायभेदेषु वनस्पतिकायसामान्य-साधारणशरीरवनस्पतिकाय सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया- ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय--प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायाऽ--पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायलक्षणैकादशवनस्पतिकायभेदेषु 'असमाप्तपञ्चेन्द्रियत्रसयोः' असमाप्तशब्दस्य प्रत्येकमभियोजनाद् अपर्याप्तवाचकत्वाच्च अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियेऽपर्याप्तत्रसकाये च सर्वसंख्यया षट्षष्टिमार्गणासु (६६) एकजीवाश्रयमायुष्कस्योत्कृष्टबन्धान्तरं 'साधिका' सातिरेका 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा 'भवस्थितिः' भवः=तिर्यगादिभवानामन्यतमो विवक्षित एकः, तत्र स्थितिः=अवस्थानं भवस्थितिः। भवस्थितिः खलु द्विधा जघन्योत्कृष्टा चेति । तत्र जघन्यभवस्थितिस्तिर्यगादीनां क्षुल्लकभवादिरूपा, उत्कृष्टा पुनस्त्रिपल्योपमादिलक्षणा भवति । इह तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु सातिरेका स्वस्वोत्कृष्टभवस्थितिरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टत आयुर्बन्धान्तरं भवति । कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, उच्यते–इहाचरमदेहा जीवा अवश्यं स्वभव आयुर्बन्ध कुर्वन्ति, तथा प्रोक्तमार्गणासु जीवा अनेकशो निरन्तरमुत्पत्तु शक्नुवन्ति। अतो वारद्वयमुत्पित्सवो मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च पूर्वकोटयायुष्काः शेषास्तूत्कृष्टभवस्थितिकाः प्रथमवारमुत्पन्नाः स्वभवायुषि त्रिभागावशेषे पारभविकं स्वभवसदृक्षमुत्कृष्टस्थितिकमायुर्बद्ध्वा विरमन्ति, ततः क्रमेण कालं व्यतिक्रम्य भवान्तर उत्पद्यन्ते, तत्र च स्वभवायुष्यन्तर्मुहूर्तमात्रशेषे पुनरायुर्बन्धमारभन्ते, तदाऽन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वभवत्रिभागाधिकाऽन्तर्मुहूर्तोनोत्तरभवोत्कृष्टस्थितिप्रमाणमेकजीवाश्रितमायुष उत्कृष्टं बन्धान्तर लभ्यते। विस्तरतः पुनरन्तरभावनेत्थम्–तिर्यङ्मनुष्याणामुत्कृष्टभवस्थितिस्त्रिपल्योपमानि पञ्चविंशत्यधिकशततमगाथया वक्ष्यते। कश्चित् पूर्वकोटिवर्षायुष्कस्तिर्यङ् स्वायुषि त्रिभागशेषे पारभविकं त्रिपल्योपमस्थितिकं तिर्यगायुरन्तर्मुहूर्तकालेन बद्ध्वा विरमति, ततः क्रमेण काल व्यतिक्रम्य युगलधर्मितिर्यक्षूत्पद्यते, तत्र च स्वभवायुष्यन्तर्मुहूर्तकालावशेषे भूयः पारभविकायुर्बन्धमारभते,तदा तिर्यग्गतिमार्गणायामायुष उत्कृष्टं बन्धान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागाधिकाऽन्तर्मुहूर्तहीनत्रिपल्योपमानि लभ्यते। अत्र प्रथमं पूर्वकोट्यायुष्केष्वेवोत्पादयितव्यः, यतः पल्योपमादिस्थितिकेषूत्पन्नोऽनन्तरभवे देवत्वेन समुत्पद्यते, न तिर्यक्षु, देवगतौ तूत्पत्तौ सत्यां मार्गणाया एवोच्छेदाद् न प्राप्येत प्रस्तुतान्तरम्। एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्त-

पञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिर्यग्योनिमती मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणास्वपि भावनीयम् , नवरमन्त्यत्रिमार्गणासु भवद्वये मनुष्यत्वमाश्रित्य प्रस्तुतं भाव्यम् ।

एकेन्द्रियस्योत्कृष्टभवस्थितिर्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि वक्ष्यते । कश्चिज्जीवो द्वाविंशतिसहस्रवर्षस्थितिकपृथिवीकायिकेष्वेकेन्द्रियेषु समुत्पद्यते, तत्र स्वायुषि त्रिभागावशेषे साधिकसप्तसहस्रवर्षमात्रे शेष इत्यर्थः, आयुर्बन्धमारभते, अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं बन्धतो निवर्तते । ततः क्रमेण कालं व्यतिक्रम्य भूयो द्वाविंशतिसहस्रवर्षस्थितिकेषु पृथिवीकायिकेष्वेकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यते, तत्र च स्वभवायुष्यन्तर्मुहूर्तावशेषे भूयः पारभविकायुर्बन्धमारभते, तदेकेन्द्रियमार्गणायामायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमेकजीवाश्रयं वर्षाणां साधिकैकोनत्रिंशत्सहस्राणि लभ्यते । एवं बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय पृथिवीकायसामान्य-बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथिवीकायमार्गणास्वपि भावनीयमायुर्बन्धस्यैकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरम् , प्रोक्तमार्गणानामुत्कृष्टभवस्थितेर्द्वाविंशतिसहस्रवर्षमात्रत्वात् तासु च वारद्वयं निरन्तरमुत्कृष्टस्थितिकायुष्कत्वेनोत्पादसंभवात् ।

द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टभवस्थितिर्द्वादशवर्षमात्री सप्तविंशत्युत्तरशततमगाथया वक्ष्यते । कश्चिद् जीवो द्वादशवर्षायुष्केषु द्वीन्द्रियेषूत्पद्यते, ततः स्वभवायुषि त्रिभागावशेषे वर्षचतुष्के शेष इत्यर्थः, पारभविकायुर्बन्धमारभते, अन्तर्मुहूर्तं तं निर्वर्त्य निवर्तते । ततः क्रमेण काल व्यतिक्रम्य मृत्वा पुनर्द्वादशवर्षायुष्केषु द्वीन्द्रियेषूत्पद्यते । तत्र च स्वायुष्यन्तर्मुहूर्तावशेषे भूय आयुर्बन्धमारभते, तदेवं द्वीन्द्रियमार्गणायामेकजीवाश्रयमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनषोडशवर्षमात्रमुपलभ्यते । एवं पर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणायामपि भावनीयम् , उत्कृष्टभवस्थितेस्तावन्मात्रत्वात् । अनन्तरोक्तप्रकारेण त्रीन्द्रियसामान्य-पर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणयोरायुर्बन्धस्यैकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं साधिकपञ्चषष्टिदिवसानि लभ्यते,उत्कृष्टभवस्थितेरेकोनपञ्चाशद्दिवसमात्रत्वात् , तथा चतुरिन्द्रियसामान्य-पर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणास्थानयोरेकजीवाश्रयमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तकालद्वयन्यूनाष्टमासप्रमाणम् , उत्कृष्टभवस्थितेः षण्मासत्वात् ।

अप्कायसामान्य-बादराप्काय-पर्याप्तबादराप्कायमार्गणास्वेकजीवाश्रयमुत्कृष्टमायुर्बन्धान्तरं साधिकनवसहस्रवर्षाणि , उत्कृष्टभवस्थितेः सप्तसहस्रवर्षत्वात् , वायुकायसामान्य-बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तकालद्वयन्यूनचतुस्सहस्रवर्षाणि , उत्कृष्टभवस्थितेस्त्रिसहस्रवर्षमात्रत्वात् । तेजःकायसामान्य-बादरतेजःकाय पर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनचतुर्दिवसानि, उत्कृष्टभवस्थितेरहोरात्रत्रिकत्वात् । वनस्पतिकायसामान्य-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणासु साधिकत्रयोदशसहस्रवर्षाणि, उत्कृष्टभवस्थितेर्दशवर्षसहस्रत्वात् , शेषासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु पुनरन्तर्मुहूर्तम् , उत्कृष्टभवस्थितेस्तावन्मात्रत्वात् । अयं तु विशेषः—भवस्थितितः किञ्चिन्न्यूनत्रिभागाधिकमेतासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणास्वायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवति ॥१२४॥

तिर्यग्गतिसामान्यादिमार्गणास्वायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं साधिकोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणं प्रतिपादितम् । तत्र तिर्यक्सामान्यादीनां कियत्प्रमाणोत्कृष्टभवस्थितिर्भवति ? इति जिज्ञासानोदित आह—

तिरियस्स पणिंदितिरियणरतप्पज्जत्तजोणिणीणं च ।
तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसा भवठिई णेया ॥१२५॥

(प्रे०) '**तिरियस्स**' इत्यादि, 'तिरश्चः' तिर्यग्गतिसामान्यस्य 'पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नरतत्पर्याप्तयोनिमतीनां च' एते कृतद्वन्द्वाः षष्ठ्या निर्दिष्टाः, पञ्चेन्द्रियतिरश्चः=पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिकस्य नरस्य=मनुष्यसामान्यस्य तत्पर्याप्तयोः=तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शित्वात् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तमनुष्ययोः, तद्योनिमत्योः=तिर्यग्योनिमती-मनुष्ययोनिमत्योश्च, चकारः समुच्चयार्थकः, उत्कृष्टा भवस्थितिस्त्रीणि पल्योपमानि ज्ञेया, यदुक्तं श्री **जीवाजीवाभिगमसूत्रे**–
"तिरिक्खजोणियाण जहन्नेण अंतोमु०, उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइं, एवं मणुस्साण वि।"
तिर्यग्गतिसामान्यस्योत्कृष्टभवस्थितिस्त्रिपल्योपमानि पञ्चेन्द्रियतिर्यगपेक्षयैव सम्भवति, शेषाणां सङ्ख्येयवर्षायुष्कत्वात् । तेन पञ्चेन्द्रियतिरश्चोऽप्युत्कृष्टभवस्थितिस्त्रिपल्योपमानि । न चैतत् स्वमनीषिकया विजृम्भ्यते, यत उक्तं **श्रीप्र पनासूत्रे**–"पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण भंते ! केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइं।" इति । पञ्चेन्द्रियतिरश्चो मनुष्यसामान्यस्य च यथोक्तोत्कृष्टभवस्थितिर्यथाक्रमं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपेक्षया पर्याप्तमनुष्यापेक्षया च घटते, अपर्याप्तानामन्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वात् । तेन पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चः पर्याप्तमनुष्यस्य चोत्कृष्टभवस्थितिस्त्रिपल्योपमानि सिद्ध्यति । ननु **प्रज्ञापनासूत्रे**-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चामुत्कृष्टभवस्थितिरन्तर्मुहूर्तन्यूनत्रिपल्योपममात्री प्रतिपाद्यते, तथा च **तद्ग्रन्थः**–"पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण भंते×××पज्जत्तयाण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । ××××पज्जत्तमणुस्साण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । पज्जत्तमणुस्साण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं" इति । इह पुनः कुतः परिपूर्णं पल्योपमत्रयमुच्यते ? इति चेत्, उच्यते-अभिप्रायापरिज्ञानाद् भवता प्रलपितम्, यतो विवक्षाभेदात् श्री**प्रज्ञापनासूत्रे** तथोक्तम्। तथाहि–प्र **पनासूत्रे**ऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणं करणापर्याप्तावस्था-कालं व्यपनीय प्रस्तुतभवस्थितिरुक्ता, करणपर्याप्तानाश्रित्या-ऽभिहितेत्यर्थः, इह पुनः पर्याप्तनामकर्मोदयात् पर्याप्ता इति लब्धिपर्याप्तानाश्रित्य प्रोक्ता, पर्याप्तनामकर्मोदयस्य च करणा-ऽपर्याप्ता-ऽवस्थायामपि सत्त्वाद् न वर्जितोऽन्तर्मुहूर्तकालः । तेन न विरुध्यते त्रीणि पल्योपमानि परिपूर्णानि पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिकस्य पर्याप्तमनुष्यस्य चोत्कृष्टभवस्थितिः । इत्थं विवक्षाभेद एव, न मतान्तरं नवा विरोधः । एवमन्यत्राऽप्यूह्यम् ।

पञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिर्यग्योनिमती मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणास्वपि भावनीयम्, नवरमन्त्यत्रिमार्गणासु भवद्वये मनुष्यत्वमाश्रित्य प्रस्तुतं भाव्यम्।

एकेन्द्रियस्योत्कृष्टभवस्थितिर्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि वक्ष्यते। कश्चिज्जीवो द्वाविंशतिसहस्रवर्षस्थितिकपृथिवीकायिकेष्वेकेन्द्रियेषु समुत्पद्यते, तत्र स्वायुषि त्रिभागावशेषे साधिकसप्तसहस्रवर्षमात्रे शेष इत्यर्थः, आयुर्बन्धमारभते, अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं बन्धतो निवर्तते। ततः क्रमेण कालं व्यतिक्रम्य भूयो द्वाविंशतिसहस्रवर्षस्थितिकेषु पृथिवीकायिकेष्वेकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यते, तत्र च स्वभवायुष्यन्तर्मुहूर्तावशेषे भूयः पारभविकायुर्बन्धमारभते, तदेकेन्द्रियमार्गणायामायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमेकजीवाश्रयं वर्षाणां साधिकैकोनत्रिंशत्सहस्राणि लभ्यते। एवं बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय पृथिवीकायसामान्य-बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथिवीकायमार्गणास्वपि भावनीयमायुर्बन्धस्यैकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरम्, प्रोक्तमार्गणानामुत्कृष्टभवस्थितेर्द्वाविंशतिसहस्रवर्षमात्रत्वात् तासु च वारद्वयं निरन्तरमुत्कृष्टस्थितिकायुष्कत्वेनोत्पादसंभवात्।

द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टभवस्थितिर्द्वादशवर्षमात्री सप्तविंशत्युत्तरशततमगाथया वक्ष्यते। कश्चिद् जीवो द्वादशवर्षायुष्केषु द्वीन्द्रियेषूत्पद्यते, ततः स्वभवायुषि त्रिभागावशेषे वर्षचतुष्के शेष इत्यर्थः, पारभविकायुर्बन्धमारभते, अन्तर्मुहूर्तं तं निर्वर्त्य निवर्तते। ततः क्रमेण काल व्यतिक्रम्य मृत्वा पुनर्द्वादशवर्षायुष्केषु द्वीन्द्रियेषूत्पद्यते। तत्र च स्वायुष्यन्तर्मुहूर्तावशेषे भूय आयुर्बन्धमारभते, तदेवं द्वीन्द्रियमार्गणायामेकजीवाश्रयमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनषोडशवर्षमात्रमुपलभ्यते। एवं पर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणायामपि भावनीयम्, उत्कृष्टभवस्थितेस्तावन्मात्रत्वात्। अनन्तरोक्तप्रकारेण त्रीन्द्रियसामान्य-पर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणयोरायुर्बन्धस्यैकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तर साधिकपञ्चषष्टिदिवसानि लभ्यते, उत्कृष्टभवस्थितेरेकोनपञ्चाशद्दिवसमात्रत्वात्, तथा चतुरिन्द्रियसामान्य-पर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणास्थानयोरेकजीवाश्रयमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तकालद्वयन्यूनाष्टमासप्रमाणम्, उत्कृष्टभवस्थितेः षण्मासत्वात्।

अप्कायसामान्य-बादराप्काय-पर्याप्तबादराप्कायमार्गणास्वेकजीवाश्रयमुत्कृष्टमायुर्बन्धान्तरं साधिकनवसहस्रवर्षाणि, उत्कृष्टभवस्थितेः सप्तसहस्रवर्षत्वात्, वायुकायसामान्य-बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तकालद्वयन्यूनचतुस्सहस्रवर्षाणि, उत्कृष्टभवस्थितेस्त्रिसहस्रवर्षमात्रत्वात्। तेजःकायसामान्य-बादरतेजःकाय पर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनचतुर्दिवसानि, उत्कृष्टभवस्थितेरहोरात्रत्रिकत्वात्। वनस्पतिकायसामान्य-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणासु साधिकत्रयोदशसहस्रवर्षाणि, उत्कृष्टभवस्थितेर्दशवर्षसहस्रत्वात्, शेषासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु पुनरन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टभवस्थितेस्तावन्मात्रत्वात्। अयं तु विशेषः—भवस्थितितः किञ्चिन्न्यूनत्रिभागाधिकमेतासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणास्वायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवति॥१२४॥

तिर्यग्गतिसामान्यादिमार्गणास्वायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं साधिकोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणं प्रतिपादितम् । तत्र तिर्यक्सामान्यादीनां कियत्प्रमाणोत्कृष्टभवस्थितिर्भवति ? इति जिज्ञासानोदित आह—

तिरियस्स पणिंदितिरियणरतप्पज्जत्तजोणिणीणं च ।
तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसा भवठिई णेया ॥१२५॥

(प्रे०) '**तिरियस्स**' इत्यादि, 'तिरश्चः' तिर्यग्गतिसामान्यस्य 'पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नरतत्पर्याप्तयोनिमतीनां च' एते कृतद्वन्द्वाः षष्ठ्या निर्दिष्टाः, पञ्चेन्द्रियतिरश्चः=पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिकस्य नरस्य=मनुष्यसामान्यस्य तत्पर्याप्तयोः=तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शित्वात् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तमनुष्ययोः, तद्योनिमत्योः=तिर्यग्योनिमती-मनुष्ययोनिमत्योश्च, चकारः समुच्चयार्थकः, उत्कृष्टा भवस्थितिस्त्रीणि पल्योपमानि ज्ञेया, यदुक्तं श्री **जीवाजीवाभिगमसूत्रे**–"तिरिक्खजोणियाण जहन्नेण अंतोमु०, उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइ, एव मणुस्साण वि।" तिर्यग्गतिसामान्यस्योत्कृष्टभवस्थितिस्त्रिपल्योपमानि पञ्चेन्द्रियतिर्यगपेक्षयैव संभवति, शेषाणां संख्येयवर्षायुष्कत्वात् । तेन पञ्चेन्द्रियतिरश्चोऽप्युत्कृष्टभवस्थितिस्त्रिपल्योपमानि । न चैतत् स्वमनीषिकया विजृम्भ्यते, यत उक्त **श्रीप्र पनासूत्रे**–"पचिंदियतिरिक्खजोणियाण भंते ! केवइय काल ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइ ।" इति । पञ्चेन्द्रियतिरश्चो मनुष्यसामान्यस्य च यथोक्तोत्कृष्टभवस्थितिर्यथाक्रमं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपेक्षया पर्याप्तमनुष्यापेक्षया च घटते, अपर्याप्तानामन्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वात् । तेन पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चः पर्याप्तमनुष्यस्य चोत्कृष्टभवस्थितिस्त्रिपल्योपमानि सिद्ध्यति । ननु **प्रज्ञापनासूत्रे**-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चामुत्कृष्टभवस्थितिरन्तर्मुहूर्तन्यूनत्रिपल्योपममात्री प्रतिपाद्यते, तथा च तद्ग्रन्थः–"पचिंदियतिरिक्खजोणियाण भंते×××पज्जत्तयाण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइ अंतोमुहुत्तूणाइ । ×××× पज्जत्तमणुस्साण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइ अंतोमुहुत्तूणाइ । पज्जत्तमणुस्साण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण तिन्नि पलिओवमाइ अंतोमुहुत्तूणाइ" इति । इह पुनः कुतः परिपूर्णं पल्योपमत्रयमुच्यते ? इति चेद्, उच्यते-अभिप्रायापरिज्ञानाद् भवतां प्रलपितम्, यतो विवक्षाभेदात् श्री**प्रज्ञापनासूत्रे** तथोक्तम् । तथाहि–**प्रज्ञापनासूत्रे**ऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणं करणापर्याप्तावस्था-कालं व्यपनीय प्रस्तुतभवस्थितिरुक्ता, करणपर्याप्तानाश्रित्या-ऽभिहितेत्यर्थः, इह पुनः पर्याप्तनामकर्मोदयात् पर्याप्ता इति लब्धिपर्याप्ताना-श्रित्य प्रोक्ता, पर्याप्तनामकर्मोदयस्य च करणा-ऽपर्याप्ता-ऽवस्थायामपि सत्त्वाद् न वर्जितोऽन्तर्मुहूर्तकालः । तेन न विरुध्यते त्रीणि पल्योपमानि परिपूर्णानि पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिकस्य पर्याप्तमनुष्यस्य चोत्कृष्टभवस्थितिः । इत्थं विवक्षाभेद एव, न मतान्तरं नवा विरोधः । एवमन्यत्राऽप्यूह्यम् ।

तिरश्ची–मानुष्योरतूत्कृष्टभवस्थितिस्त्रिपल्योपमानि सुघटा, देवकुर्वादिषु युगलधर्मिस्त्रीणां तावत्स्थितिकायुष्कत्वात् ,तथा चोक्तं ॱ ॱवा ॱवाभिगमे–तिरिक्खजोणित्थीण भंते ! केवतिय काल ठिती पण्णत्ता ? गो० जहन्नेण अंतोमुहुत्त,उक्कोसेण तिण्णि पलिओवमाइ ।×××मणुस्सित्थीण भंते ! केवइय काल ठिती पन्नत्ता ? खेत्त पडुच्च जह० अंतो०, उक्को० तिण्णि पलिओवमाइ" इति ॥१२५॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियप्रभृतीनामुत्कृष्टभवस्थिति वक्तुकामः प्राह–

एगिंदियपुहवीणं वरिससहस्साणि होइ बावीसा ।
सा चेव होइ तेसिं बायर-बायरसमत्ताणं ॥१२६॥

(प्रे०) 'एगिंदिय०' इत्यादि, 'एकेन्द्रियपृथिव्योः' एकेन्द्रियसामान्य-पृथिवीकाय-सामान्ययोर्द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि 'भवति' उत्कृष्टभवस्थितिरस्ति, 'सा चैव' द्वाविंशति-वर्षसहस्राणि चैव बादर-बादरसमाप्तानां तेषां=तच्छब्दस्य पूर्वप्रकान्तपरामर्शित्वाद् एकेन्द्रिय-पृथिवीनां=बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथिवीकायानां 'भवति' उत्कृष्टभवस्थितिरस्ति । एकेन्द्रियसामान्य--बादरैकेन्द्रिय--पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणामियती भव--स्थितिः पृथिवीकायिकापेक्षया बोध्या , शेषाणामप्कायिकानां भवस्थितेः स्तोकत्वात् । पृथिवी-कायस्य बादरपृथिवीकायस्य चोत्कृष्टस्थितिर्यथोक्तप्रमाणा **प्रज्ञापनादिसूत्रे** प्रतिपादिता । **तथा च तद्ग्रन्थः** 'पुढविकाइयाण भंते ! केवइय काल ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण बावीस वाससहस्साइ । ×××× बायरपुढविकाइयाण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण बावीस वाससहस्साइ ।" इति । बादरपृथिवीकायिकानां प्रोक्तभवस्थितिः पर्याप्तबादर-पृथिवीकायिकापेक्षया संभवति, अपर्याप्तानामान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तेन पर्याप्तबादरपृथिवीकायि-कस्योत्कृष्टभवस्थितिर्द्वाविंशतिसहस्रवर्षाणि भवति, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहमलयगिरीयवृत्तौ**–"तथाहि उत्कृष्टा भवस्थितिर्बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकाना द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि ।" इति । तदेवं एकेन्द्रियसामा-न्यादीनां षण्णां द्वाविंशतिवर्षसहस्राण्युत्कृष्टभवस्थितिः समुपपद्यते ॥१२६॥

सम्प्रति विकलेन्द्रियाणामुत्कृष्टभवस्थितिं वक्तुकाम आह—

बेइंदियाइगाणं कमसो बारह समा अउणवण्णा ।
दिवसा तह छम्मासा एवं तेसिं समत्ताणं ॥१२७॥

(प्रे०) '**बेइंदियाइगाणं**' इत्यादि, 'द्वीन्द्रियादिकानां' द्वीन्द्रिय आदिर्येषाम्, ते द्वीन्द्रियादिकाः, 'शेषाद्वा" इत्यनेन वैकल्पिकः कच् प्रत्ययः तेषां द्वीन्द्रियसामान्य-त्रीन्द्रिय-सामान्य-चतुरिन्द्रियसामान्यानामित्यर्थः, क्रमशो द्वादश 'समाः' वर्षाणि एकोनपञ्चाशद् दिवसा-स्तथा षण्मासाः । द्वीन्द्रियसामान्यस्योत्कृष्टभवस्थितिर्द्वादशवर्षाणि , त्रीन्द्रियसामान्यस्यै-कोनपञ्चाशदहोरात्राश्चतुरिन्द्रियसामान्यस्य च षण्मासा भवति , यदुक्त **श्रीप्रज्ञापना**--**सूत्रे**–'बेइंदियाण भंते ! केवइय काल ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण बारस

तिरश्ची-मानुष्योस्तूत्कृष्टभवस्थितिस्त्रिपल्योपमानि सुघटा, देवकुर्वादिषु युगलधर्मिस्त्रीणां तावत्स्थितिकायुष्कत्वात् ,तथा चोक्तं **श्रीजीवाजीवाभिगमे**–तिरिक्खजोणित्थीण भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गो० जहन्नेण अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण तिण्णि पलिओवमाइं ।×××मणुस्सित्थीण भंते ! केवइयं कालं ठिती पन्नत्ता ? खेत्तं पडुच्च जह० अंतो०, उक्को० तिण्णि पलिओवमाइं" इति ।।१२५।।

सम्प्रत्येकेन्द्रियप्रभृतीनामुत्कृष्टभवस्थितिं वक्तुकामः प्राह–

एगिंदियपुढवीणं वरिससहस्साणि होइ बावीसा ।
सा चेव होइ तेसिं बायर-बायरसमत्ताणं ।।१२६।।

(प्रे०) **'एगिंदिय०'** इत्यादि , 'एकेन्द्रियपृथिव्योः' एकेन्द्रियसामान्य-पृथिवीकाय-सामान्ययोर्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि 'भवति' उत्कृष्टभवस्थितिरस्ति , 'सा चैव' द्वाविंशति-वर्षसहस्राणि चैव बादर-बादरसमाप्तानां तेषां=तच्छब्दस्य पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शित्वाद् एकेन्द्रिय-पृथिवीनां=बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथिवीकायानां 'भवति' उत्कृष्टभवस्थितिरस्ति । एकेन्द्रियसामान्य--बादरैकेन्द्रिय--पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणामियती भव--स्थितिः पृथिवीकायिकापेक्षया बोध्या , शेषाणामप्कायिकानां भवस्थितेः स्तोकत्वात् । पृथिवी-कायस्य बादरपृथिवीकायस्य चोत्कृष्टस्थितिर्यथोक्तप्रमाणा **प्रज्ञापनादिसूत्रे** प्रतिपादिता । तथा च **तद्ग्रन्थः** 'पुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं ।×××× बायरपुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं ।" इति । बादरपृथिवीकायिकानां प्रोक्तभवस्थितिः पर्याप्तबादर-पृथिवीकायिकापेक्षया संभवति, अपर्याप्तानामान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तेन पर्याप्तबादरपृथिवीकायि-कस्योत्कृष्टभवस्थितिर्द्वाविंशतिसहस्रवर्षाणि भवति, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहमलयगिरीयवृत्तौ**–"तथाहि उत्कृष्टा भवस्थितिर्बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकानां द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि ।" इति । तदेवं एकेन्द्रियसामा-न्यादीनां षण्णां द्वाविंशतिवर्षसहस्राण्युत्कृष्टभवस्थितिः समुपपद्यते ।।१२६।।

सम्प्रति विकलेन्द्रियाणामुत्कृष्टभवस्थितिं वक्तुकाम आह—

बेइंदियाइगाणं कमसो बारह समा अउणवण्णा ।
दिवसा तह छम्मासा एवं तेसिं समत्ताणं ।।१२७।।

(प्रे०) **'बेइंदियाइगाणं'** इत्यादि, 'द्वीन्द्रियादिकानां' द्वीन्द्रिय आदिर्येषाम् , ते द्वीन्द्रियादिकाः, 'शेषाद्वा" इत्यनेन वैकल्पिकः कच् प्रत्ययः तेषां द्वीन्द्रियसामान्य-त्रीन्द्रिय-सामान्य-चतुरिन्द्रियसामान्यानामित्यर्थः, क्रमशो द्वादश 'समाः' वर्षाणि एकोनपञ्चाशद् दिवसा-स्तथा षण्मासाः । द्वीन्द्रियसामान्यस्योत्कृष्टभवस्थितिर्द्वादशवर्षाणि , त्रीन्द्रियसामान्यस्यै-कोनपञ्चाशदहोरात्राश्चतुरिन्द्रियसामान्यस्य च षण्मासा भवति , यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापना-सूत्रे**–'बेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ? गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस

सवच्छराइं। ××× तेइ दियाण केवइय काल ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण एगुणवन्न राइ दियाइ । ×××× चउरिंदियाणभंते ! केवइय काल ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण छम्मासा ।" इति। 'एवं' एवंशब्दस्य साम्यार्थकत्वाद् द्वादशवर्षेकोनपञ्चाशद्दिवसषण्मासा यथासंख्यं 'समाप्तानां' पर्याप्तानां 'तेषां' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणामुत्कृष्टभवस्थितिर्भवति, उक्तं च **श्रीपञ्चसंग्रहवृत्तौ**–"तथा पर्याप्तद्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टा भवस्थितिर्द्वादशवर्षाणि, पर्याप्तत्रीन्द्रियाणामेकोनपञ्चाशद्दिवसा, पर्याप्तचतुरिन्द्रियाणा षण्मासा ।" इति ॥१२७॥

सम्प्रत्यप्कायसामान्यादीनामुत्कृष्टभवस्थिति वक्तुकाम आह–

दगवाऊणं कमसो वाससहस्साणि सत्त तिण्णि भवे ।
तिदिणाऽग्गिस्सेवं सिं बायर-बायरसमत्ताणं ॥१२८॥

(प्रे०) **'दगवाऊणं'** इत्यादि, 'दकवाय्वोः' अप्कायसामान्य-वायुकायसामान्ययोः क्रमशः सप्तवर्षसहस्राणि त्रीणि वर्षसहस्राणि च 'भवेत्' उत्कृष्टभवस्थितिः स्यात् । इदमुक्त भवति–अप्कायिकस्य सप्तसहस्रवर्षाणि (७०००) वायुकायिकस्य च त्रिसहस्रवर्षाणि (३०००) उत्कृष्टभवस्थितिर्भवति , यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"आउकाइयाण भते ! केवइय काल ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त , उक्कोसेण सत्त वाससहस्साइ । ××× वाउकायाण भते ? केवइय काल ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण तिण्णि वाससहस्साइ ।" इति।

'तिदिणा' इत्यादि, 'त्रिदिनाः' त्रयो दिवसाः 'अग्नेः' तेजःकायस्योत्कृष्टभवस्थितिर्भवति, उक्त च **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"तेउकाइयाण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण तिन्नि राइ दियाइ ।" इति ।

'एवं' एवशब्दसाम्ये, यथा-ऽप्कायसामान्यस्य सप्तसहस्राणि वर्षाणा वायुकायसामान्यस्य च वर्षाणां त्रिसहस्राणि तथा तेजःकायस्य त्रयोऽहोरात्रा उत्कृष्टभवस्थितिरुक्ता, तथैव बादर-बादरसमाप्तानां तेषां=तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शित्वाद् अप्काय-वायुकाय-तेजःकायानामुत्कृष्टभवस्थितिर्भवति । इदमुक्तं भवति–बादराप्कायस्योत्कृष्टभवस्थितिः सप्तसहस्रवर्षाणि, बादरवायुकायस्य च त्रिसहस्रवर्षाणि बादरतेजःकायस्य च त्रयोऽहोरात्राः, **प्रज्ञापनासूत्रे**–तथाऽभिहितत्वात् । अक्षराणि त्वेवम्–"बायरआउकाइयाण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण सत्त वाससहस्साइ । ×××बायरतेउकाइयाण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण तिण्णि राइदियाइ । ××× बायरवाउकाइयाण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण तिण्णि वाससहस्साइ ।" इति । बादराप्कायिकादीना यथोक्तभवस्थितिः पर्याप्तबादरानाश्रित्य सभवति, अपर्याप्तानामान्तर्मौहूर्तिकस्थितिकत्वात् । तेन पर्याप्तबादराप्कायस्याऽप्युत्कृष्टभवस्थितिः सप्तसहस्रवर्षाणि, पर्याप्तबादरवायुकायस्य त्रिवर्षसहस्राणि पर्याप्तबादरतेजःकायस्य च त्रयोऽहोरात्राः, तथा चोक्त **पञ्चसंग्रहवृत्तौ**–"बादरपर्याप्ताप्कायिकाना सप्तसहस्रवर्षाणि पर्याप्ततेजस्कायिकाना त्रयोऽहोरात्रा , पर्याप्तबादरवायुकायिकाना त्रीणि वर्षसहस्राणि ।" इति । ॥१२८॥

सम्प्रति वनस्पतिकायादीनामुत्कृष्टभवस्थितिमाह—

वासाऽत्थि दससहस्सा वणपत्तेअवणतस्समत्ताणं ।
भिन्नमुहुत्तं णेया सेसाणं पंचतीसाए ॥१२९॥

(प्रे०) 'वासाऽत्थि'' इत्यादि, वर्षा दशसहस्राणि 'वनप्रत्येकवनतत्समाप्तानां' पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यमानत्वाद् वनशब्देन वनस्पतिग्रहणाद् वनस्पतिकायसामान्यस्य प्रत्येकवनस्पतिकायस्य पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायस्य च 'अस्ति' उत्कृष्टा भवस्थितिर्भवति. उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–"वणप्फइकाइयाण भंते ! केवइय कालं ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं ।" इति । एवं प्रत्येकवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाययोरपि ग्रन्थान्तरसंवादो द्रष्टव्यः । शेषाणां पञ्चत्रिंशत उत्कृष्टभवस्थितिमाह–'भि - मुहुत्तं' इत्यादि, 'शेषाणां' उक्तोद्धरितानामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादीनां 'पञ्चत्रिंशतः' पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्यकानां 'भिन्नमुहुर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं 'ज्ञेया' उत्कृष्टभवस्थितिर्बोध्या, कतिपयानामपर्याप्तत्वेन केषाञ्चित् सूक्ष्मत्वेन शेषाणां च साधारणवनस्पतिकायभेदत्वेनोत्कृष्टभवस्थितेर्यथोक्तप्रमाणत्वात्, यदुक्तं जीवसमासप्रकरणे—

"एएसिं च जहण्णं उभयं साहारसव्वसुहुमाणं । अंतोमुहुत्तमाऊ सव्वापज्जत्तयाणं च ॥१॥" इति ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादयो नामतः पुनरिमे–अपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तमनुष्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया--ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिया---ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिया--ऽपर्याप्त--त्रीन्द्रिया--ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय--सूक्ष्मपृथिवीकाय--पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाय-सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काया-ऽपर्याप्तबादराप्काय- सूक्ष्मतेजःकाय--पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया–ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया- -ऽपर्याप्तबादरतेजःकाय--सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया–ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया--ऽपर्याप्तबादरवायुकाय--साधारणशरीरवनस्पतिकाय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तत्रसकायाः । तदेवमुत्कृष्टभवस्थितिः प्रसङ्गतो निरूपिता ॥१२९॥

सम्प्रति काययोगसामान्यमार्गणायामौदारिककाययोगे चाऽऽयुर्बन्धस्यैकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं बिभणिषुराह—

कायम्मि भूभवठिई देसूणतिभागसंजुआ जेट्ठा ।
ओरालिये तिभागो देसूणो जेट्ठभूभवठिईए ॥१३०॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**कायम्मि**' इत्यादि, 'काये' काययोगसामान्यमार्गणायां 'देशोनत्रिभागसंयुता' अन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनत्रिभागेना-ऽधिका 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा 'भूभवस्थितिः' पृथिवीकायभवस्थितिरायुर्बन्धस्यैकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं भवतीत्युपस्कारः। भावना त्वित्थं कार्या—कश्चिज्जीवो द्वाविंशतिमहस्रवर्षायुष्केषु पृथिवीकायिकेषूत्पन्नः, स च स्वायुषि त्रिभागावशेषे (साधिकसप्तसहस्रवर्षाऽवशेषे) पारभविकायुर्बन्धमारभते, ततोऽन्तर्मुहूर्तेनाऽऽयुर्बन्धतो निवर्तते, ततः प्रभृत्यायुर्बन्धस्यान्तरं प्रारब्धम्। ततः क्रमेण कालं गमयित्वा मृत्वा पुनर्द्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु पृथिवीकायिकेषूत्पद्यते, तत्र च स्वायुष्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽवशेषे पारभविकायुर्बन्धं करोति, तदा काययोगसामान्यमार्गणायामायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं साधिकैकोनत्रिंशत्सहस्रवर्षाणि लभ्यते, एकेन्द्रियेष्वेकस्यैव काययोगस्य सत्त्वात्।

'**ओरालिये**' इत्यादि, 'औदारिके' औदारिककाययोगमार्गणायां 'देशोनः' अन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनः 'ज्येष्ठभूभवस्थितेः' उत्कृष्टायाः पृथिवीकायिकभवस्थितेर्द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणायाः 'त्रिभागः' साधिकसप्तसहस्रवर्षप्रमाण आयुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवति। भावना त्वित्थं कार्या—कश्चिज्जीवो द्वाविंशतिसहस्रवर्षस्थितिकेषु पृथिवीकायिकेषूत्पद्यते, स चाऽऽकर्षद्वयेनायुर्बिभन्त्सुः स्वायुषि त्रिभागा ऽवशेषे साधिकसप्तसहस्रवर्षावशेष इत्यर्थः, प्रथमाकर्षेणायुर्बध्नाति, ततः स्वभवायुष्यन्तर्मुहूर्ताऽवशेषे द्वितीयाकर्षेण भूय आयुर्बन्धं करोति, तेनायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमौदारिककाययोगमार्गणायां यथोक्तमानं लभ्यते। ननु काययोगमार्गणावद् भवद्वयमाश्रित्य देशोनत्रिभागाधिकपृथिवीकायिकोत्कृष्टभवस्थितिमात्रमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं कुतो न लभ्यते, द्वितीयभवेऽप्यौदारिकयोगोपलम्भात्? इति चेत्, उच्यते—वस्तुतत्त्वपरिज्ञानाभावाद् इदं वचनम्, यत इह मार्गणाया अव्यवधानेन प्रवृत्तौ सत्यां प्रस्तुतान्तरमिष्यते, भवद्वयसम्बन्धे तु द्वितीयभवप्रथमा-ऽन्तर्मुहूर्तकाले प्रवर्तमानेनौदारिकमिश्रकाययोगेनौदारिककायमार्गणा व्यवहिता भवति। इत्थमौदारिककाययोगमार्गणा भवद्वयं यावद् न निरन्तरं प्रवर्तते। तेनैकभवमाश्रित्यैव प्रस्तुतान्तरं यथोक्तप्रमाणं लभ्यते ॥१३०॥

सम्प्रत्यौदारिकमिश्रकाययोगस्त्रीवेदमार्गणयोरायुर्बन्धस्यैकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं वक्तु आह—

भिन्नमुहुत्तं णेयं ओरालियमीसकायजोगम्मि।
थीए पंचावण्णा पलियाऽब्भहिया मुणेयव्वं ॥१३१॥

(प्रे०) 'ि मुहुत्तं' इत्यादि, 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं 'ज्ञेयम्' एकजीवाश्रयमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं बोध्यम्, क? इत्याह—'**ओरालि ि यजोगम्मि**' त्ति, औदारिकमिश्रकाययोगे। इयमत्र भावना-कश्चिल्लब्ध्यपर्याप्तको जीवः स्वप्रायोग्योत्कृष्टाऽन्तर्मुहूर्तमात्रायुष्कत्वेनोत्पन्नः, स स्वभवायुषि त्रिभागाऽवशेष आयुर्बन्धमारभते, अन्तर्मुहूर्तेनायुर्बन्धं विधाय क्रमेण गमयति। ततो मृत्वा भूयो लब्ध्यपर्याप्तकेषु स्वप्रायोग्योत्कृष्टायुष्केष्वन्तर्मुहूर्तमात्रस्थिति ूत्पद्यते, भवचरमा-

ऽन्तमुहूर्ते शेषे सति पारभविकमायुर्बध्नाति । तदौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां पूर्वभवस्या-ऽन्तमुहूर्तन्यूनत्रिभागेनाधिकोऽन्तमुहूर्तन्यूनोत्तरभव आयुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां लभ्यते, स चा-ऽन्तमुहूर्तमात्रः, लब्ध्यपर्याप्तानामुत्कृष्टायुषोऽप्यन्तमुहूर्तमात्रत्वात् ।

'थीए' इत्यादि, 'स्त्रियां' स्त्रीवेदमार्गणायां पञ्चपञ्चाशत् 'पलियाऽब्भहिया' इत्यादि, प्राकृतत्वात् पुस्त्वम्, पल्योपमानि 'अभ्यधिकानि' अन्तमुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाधिकानि 'ज्ञातव्यम्' एकजीवाश्रयमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं बोध्यम् । कथम् ? इति चेत्, उच्यते—काचिद् मानुषी तिरश्री वा पूर्वकोटिवर्षायुष्का स्वायुषि त्रिभागाऽवशेषे पारभविकमायुरन्तमुहूर्तेन बध्नाति, ततः क्रमेण काल व्यतीत्य मृत्वा ऐशानकल्पे पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमस्थितिका देवी जायते, सा कालं व्यतिक्रम्य स्वभवायुष्केऽन्तमुहूर्ताऽवशेषे पारभविकायुर्बन्धमारभते । तदेवं पूर्वभवसम्बन्धिना-ऽन्तमुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽधिकान्यन्तमुहूर्तोनपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमान्यायुर्बन्धस्योत्कृष्टा ऽन्तरं भवति, अन्तमुहूर्तकालस्य चा- ऽनेकभेदभिन्नत्वाद् अन्तमुहूर्तन्यूनपूर्वकोटिवर्षत्रिभागाधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमितं प्रस्तुतान्तरं सूपपद्यते । इह पूर्वभवे त्रिपल्योपमस्थितिका योषिद् न गृह्यते, तस्या असंख्येयवर्षायुष्कव्यपदेशार्हत्वेन स्वायुषि षण्मासाऽवशेष आयुर्बन्धलाभात् तस्याश्चोत्तरभवेऽप्युत्कृष्टतस्त्रिपल्योपमस्थितिकत्वेनोत्पत्तेरुत्कृष्टान्तराऽप्राप्तेः ॥१३१॥

सम्प्रति सयम-तदुत्तरभेदान् मनःपर्यवज्ञानमार्गणां च सगृह्य षड्मार्गणास्थानेष्वायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमाह—

मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
देसूणो पुव्वाणं कोडितिभागो मुणेयव्वं ॥१३२॥

(प्रे०)'मण०' इत्यादि, 'मनोज्ञानसंयमयोः, मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणयोः 'सामा[illegible] -च्छेद-परिहार-देशेषु' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसयमेषु प्रत्येकं 'देशोनः' अन्तमुहूर्तन्यूनः 'पूर्वाणां कोटि[illegible] गः' पूर्वकोटित्रिभागः 'ज्ञातव्यम्' एकजीवाश्रयमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं बोद्धव्यम्, भवान्तरे प्रोक्तमार्गणानामनुवृत्त्यभावात्, भणितमार्गणासु चाऽऽकर्षद्वयस्योत्कृष्टाऽन्तरालकालस्य यथोक्तमानत्वघटनात् । तथाहि—कश्चित् पूर्वकोटिवर्षायुष्कसंयत आकर्षद्वयेनायुर्बिभन्त्सुः पूर्वकोटित्रिभागाऽवशेष एकाकर्षेणाऽन्तमुहूर्तं यावदायुर्बध्नाति, तत उपरमति, उपरतश्चासौ क्रमेण कालं व्यतिक्रम्य स्वभवायुष्यन्तमुहूर्तकालाऽवशेषे द्वितीयाकर्षेण पुनरायुर्बध्नाति, तेनाऽन्तमुहूर्तद्वयन्यूनपूर्वकोटिवर्षत्रिभागमात्र संयममार्गणायामेकजीवाश्रितमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तर लभ्यते, अन्तमुहूर्तकालस्य चाऽनेकभेदभिन्नत्वाद् अन्तमुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणं प्रस्तुताऽन्तर सूपपद्यते। एवं शेषमार्गणास्वपि भावनीयम् ॥१३२॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामेकजीवाश्रयमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राह—

विब्भंगे देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
देसूणा छम्मासा हवइ त्ति भणन्ति अण्णे उ ॥१३३॥

(प्रे०) 'विब्भंगे' इत्यादि, 'विभङ्गे' विभङ्गज्ञानमार्गणायां 'देशोना' देशेन=किञ्चिन्न्यूनदेशोनपूर्वकोटिद्वित्रिभागलक्षणेन ऊना=हीना 'ज्येष्ठा कायस्थितिः' चतुरशीतितमगाथोक्तदेशोनपूर्वकोटयधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टकायस्थितिरेकजीवाश्रयमायुष्कस्योत्कृष्टं बन्धान्तरं 'ज्ञातव्यम्' बोध्यम् । इयमत्र भावना–पूर्वकोटिवर्षायुष्कः कश्चित् तिर्यङ् मनुष्यो वा विभङ्गज्ञानी स्वायुषो द्वयोः पूर्वकोटित्रिभागयोर्गतयोरन्तर्मुहूर्तेनाऽऽयुष्कं बद्ध्वा तद्बन्धाद् विरमति । ततः क्रमेणाऽन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागस्थितिकं स्वशेषायुष्कमनुभूय त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकनारकत्वेन समुत्पद्यते । नारकभवेऽसंक्षेप्याद्धायां प्रविष्टः पुनरायुर्बध्नाति, तेनायुष्कबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागाऽधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं लभ्यते । इत्थं गाथोक्ता देशोनोत्कृष्टकायस्थितिरेकजीवा   ायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमुपपद्यते ।

अथ मतान्तरमाह–'देसूणा' इत्यादि, 'अन्ये तु' महाबन्धकारादयस्तु 'भणन्ति' प्रतिपादयन्ति 'देशोनाः' देशेन=अन्तर्मुहूर्तरूपेण ऊनाः=न्यूनाः षण्मासा आयुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवतीति । एतदुक्तं भवति-महाबन्धकारादिभिरपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानं नाऽभ्युपगम्यते, नरतिर्यक्षु च विभङ्गज्ञानस्यान्तर्मुहूर्तकालावस्थायित्व स्वीक्रियते, तेन नरकगतिसामान्यादिमार्गणावदायुष्कस्योत्कृष्टं बन्धान्तरं तेषां मतेन देशोनषण्मासाः प्राप्यते ॥१३३॥

अथाऽसंज्ञिनिमार्गणायां शेषासु च त्रयोविंशतिमार्गणास्वेकजीवाश्रयमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं वक्तुकाम आह—

पुव्वाणेगा कोडी अब्भहिया होअए असण्णिम्मि ।
सेसासुं णायव्वं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया   ॥१३४॥

(प्रे०) 'पुव्वाणेगा' इत्यादि, 'पूर्वाणामेका कोटिः' एकपूर्वकोटिः 'अभ्यधिका' पूर्वकोटित्रिभागेनाऽधिका 'भवति' एकजीवाश्रितमायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरमस्ति 'असंज्ञिनि' असज्ञिमार्गणायाम्, असज्ञिमार्गणायां भवद्वयस्य निरन्तरं लाभादसज्ञिनां चोत्कृष्टायुषः पूर्वकोटिवर्षमात्रत्वात् । भावार्थः पुनरयम्– सम्मूर्च्छिमजलचरजीवानामुत्कृष्टभवस्थितिः पूर्वकोटिवर्षमात्री भवति, यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे–"समुच्छिमजलचरपचिंदियतिरिक्खजोणियाण पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण पुव्वकोडी ।" इति । ते चा-ऽसज्ञिनो भवति, संमूर्च्छिमत्वेन मनो-ऽभावात् । कश्चिज्जीवः सम्मूर्च्छिमजलचरेपू पूर्वकोटयायुष्केषूत्पद्यते । ततः स्वायुषि त्रिभागा-ऽवशेषे पारभविकायुर्बन्धमारभते, अन्तर्मुहूर्तेन नन्धतो निवर्तते । ततः शेषायुरनुभूय भूयः पूर्वकोटयायुष्के सम्मूर्च्छिमजलचरेपूत्पन्नः

स्वायुष्यन्तर्मुहूर्ता-ऽवशेषे पारभविकमायुर्बध्नाति, तदेवं पूर्वभवस्याऽन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागे-नाधिकोत्तरभवस्या-ऽन्तर्मुहूर्तन्यूना पूर्वकोटिरसंज्ञिमार्गणायामायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं लभ्यते ।

'सेसासु' इत्यादि, 'शेषासु' वैक्रियमिश्राद्येकादशमार्गणास्वायुर्बन्धस्यैव निषिद्धत्वाद् मनोयोगाद्यष्टादशमार्गणासु च प्रागायुर्बन्धान्तरस्य प्रतिषिद्धत्वात्, तथा द्वाविंशत्यधिकशतमार्गणासु (१२२) आयुर्बन्धान्तरस्योक्तत्वाच्छेषासु त्रयोविंशतिमार्गणासु (२३) त्रयस्त्रिंशत् 'सागराः' साग-रोपमाः 'अभ्यधिकाः' अन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाधिकाः 'ज्ञातव्यम्' एकजीवाश्रयमायुर्बन्ध-स्याऽन्तरं बोध्यम्, निरन्तरभवद्वये प्रोक्तमार्गणानां लाभाद् कथितमार्गणासु चोत्कृष्टायुष्कदेवनारका-णामुपलम्भात्। तथाहि—कश्चित् पुरुषवेदं भजमानो मनुष्यः पूर्वकोटिवर्षायुष्कः स्वभवायुषि त्रिभागा-वशेषे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकमनुत्तरसुरायुष्कं बध्नाति, ततः क्रमेण कालं कृत्वा-ऽनुत्तरेषूत्प-द्यते, ततः स्वायुष्यन्तर्मुहूर्ता-ऽवशेषे पुनः पारभविकमायुर्बध्नाति, तेन यथोक्तमन्तरं लभ्यते, अनु-त्तरसुराणां पुरुषवेदित्वात्। एवं मतिज्ञान श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनसम्यक्त्वसामान्यक्षायि-कसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणसप्तमार्गणास्वपि भावनीयम्। पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकाय—चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन--भव्य-सञ्ज्याहारकमार्गणासु च देवनारकगत्योरन्यतरस्यामुत्कृष्टस्थितिकत्वेन समुत्पाद्य भावनीयम्। तथा नपुंसकवेद-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानाऽ-विरता-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणासूत्कृष्टस्थितिकनारकत्वेनोत्पाद्य परिभावनीयम्, न पुन-र्देवापेक्षया, उत्कृष्टस्थितिदेवानां मत्यज्ञानाद्यभावाद् देवानामविरतत्वेऽप्युत्कृष्टस्थितिकदेवत्वेनोत्पद्य-मानानां जीवानां पूर्वभवचरमसमयं यावत् संयमसद्भावेन यथोक्तान्तरकाललाभाभावात्॥ ॥१३४॥

केचिदाहुः—कस्मिंश्चिदपि भवे सकृदेवाऽऽयुर्बध्यते, न तु द्वित्र्यादिवारमिति। तेन तेषां मतेन निरन्तरभवद्वयेऽलभ्यमानासु निरयगत्यादिमार्गणास्वायुर्बन्धान्तरं निषेधन्नाह—

सव्वणिरयसुरलेसासमइअछेअपरिहारदेसेसु ।
मणसंजमउरलेसु य मयंतरेणंतरं ण आउस्स ॥१३५॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'सव्व०' इत्यादि, 'सर्वनिरयसुरलेश्यासामायिकच्छेदपरिहारदेशेषु' सर्वशब्दस्य त्रिभिः सहाऽभिसम्बन्धात् सर्वनिरयेषु=निरयगतिसामान्य-रत्नप्रभादिसप्तपृथिवीनिरयाख्येष्वष्टसु निरय-भेदेषु सर्वदेवेषु=त्रिंशद्देवभेदेषु सर्वलेश्यासु=कृष्णादिषड्लेश्यासु सामायिकसंयममार्गणायां छेदो-पस्थापनीयसंयममार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामौदारिकमार्गणायां देशविरतमार्गणायां च 'मनःसंयमौदारिकेषु' मनसि=मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां संयमसामान्यमार्गणायां च सर्वसंख्ययैक-पञ्चाशन्मार्गणासु मतान्तरेणाऽऽयुषो 'नाऽन्तर' बन्धान्तरं न भवति, तन्मतानुसारिभिरेकभवे सकृदेवा-ऽऽयुषो बन्धस्वीकारात् लेश्यावर्जानां च निरयगत्यादीनामनन्तरभवे निरयत्वादिनाऽनुत्पादात्, तथा लेश्यानामनन्तरभवे प्राप्यमाणत्वेऽप्यायुर्बन्धलेश्यापरावृत्तिभवनात्परं चरमाऽन्तर्मुहूर्ते तल्लेश्या-

भावात् । इदमुक्त भवति–पूर्व नरकगत्यादिमार्गणास्वाकर्षद्वयेनाऽऽयुर्बन्धान्तरमुपपादितम् । केचित् **प्रावचनिकसूरयः** पुनः प्राहुः–एकस्मिन् भवे सकृदेवायुर्बध्यते,न हि द्व्याद्याकर्षैर्द्व्यादिवारमिति, यदुक्त न्यायाचार्यैः श्रीयशोविजयोपाध्यायैर्योगदर्शनव्याख्यायाम्–आयुस्त्वेकत्र भवे एकवारमेव बध्यत इति । ××× " इति । देवनारकादयश्चाऽनन्तरभवे तद्भावं न प्रतिपद्यन्ते, तेन लेश्यावर्जनिरयगत्यादिषु न संभवत्यायुष्कबन्धस्याऽन्तरं तेषां मतेन । तथा यद्यपि लेश्याषट्कमनन्तरभवे जीवाः प्रतिपद्यन्ते , तथापि मनुष्यस्तिर्यङ् वा यस्यां लेश्यायामायुर्बध्नाति , न स तां लेश्यामपरित्यज्य भवान्तरं गच्छति, किन्तु तां लेश्यामुज्झित्वा स्वभवचरमाऽन्तर्मुहूर्तकाले शेषे भूयस्तां प्राप्य देवत्वेन नारकत्वेन वा समुत्पद्यते, तथा देवो नारको वा जीवो यस्यां लेश्यायामायुर्बध्नाति, न नरकतो देवलोकतो वा च्युत्वाऽनन्तरे मानुषे तैर्यगे वा भवे तामेव लेश्यामनुसरन् पुनरायुर्बध्नाति, किन्तु तां विमुच्य लेश्यान्तरं गत्वा कालान्तरे तस्यामन्यस्यां वाऽऽयुर्बध्नाति । तेन कृष्णादिलेश्यास्वायुर्बन्धान्तरं नाऽवाप्यते । अपि च यासु मनुष्यगत्यादिषु चतुर्नवतिमार्गणास्वायुषो जघन्यबन्धान्तरमाकर्षद्वयस्यान्तरालकालेन प्रतिपादितम् , एकभवे सकृदायुर्बन्धं स्वीकुर्वतां मतेन तासु मार्गणासु तत्तद्भवयुगलमाश्रित्य समुपपादनीयम् । तदेवं समर्थितमन्तरद्वारम् ॥१३५॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे पञ्चममेकजीवाश्रयमन्तरद्वार समाप्तम् ॥

उत्कृष्टभवस्थितिप्रदर्शियन्त्रम्

भवस्थिति प्रमाणम्	गति	इन्द्रियम्	काय	सर्वे	गाथाङ्क
३पल्योपम०	अपर्याप्तवर्जा ४ तिर्यग्भेदा ३ मनुष्यभेदा ७			७	१२५
२२०००वर्षाणि		एकेन्द्रिय०, बा० एके०, प० बा० एकेन्द्रिय०३	पृथ्वीका० बा० पृथ्वी० प० बा० पृ० ३	६	१२६
७००० वर्षाणि			अप्का०, बा० अप्०, प० बा० अप्० ३	३	१२७
३००० वर्षाणि			वायु०, बा० वायु०, प० बा० वायु०, ३	३	१२७
१००00 वर्षाणि			वन०, प्रत्येकवन०, प० प्रत्येकव० ३	३	१२९
१२ वर्षाणि		द्वीन्द्रि०,प० द्वी०		२	१२७
४९ दिवसा		त्रीन्द्रि०,प० त्री०		२	१२८
षण्मासा		चतुरि ,प०चतु०		२	१२८
३ दिवसा			तेज , बा० तेज , प० बा० तेज ०, ३	३	१२७
भिन्नमुहूर्तम्	अप०पञ्चे० ति०, अप०मनुष्य० २	पचेन्द्रिय पर्याप्तपचेन्द्रिय वर्जशेषा ८	त्रसपर्याप्तत्रसवर्जशेषा ० २५	३५	१२९
				६६	

ओघतो वेदनीयस्य बन्धान्तर नास्ति, वेदनीयायुर्वर्जाना षण्णा जघन्यत समय, उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम ।

	आयुर्वर्जसप्तानामन्तरम्			आयुषोऽन्तर नास्ति	एतास्वायुष आयुष	
	वेदनीयस्य नास्ति षण्णा द्विविध भिन्नमुहूर्तम्	सप्तानामप्योघवत्	सप्ताना नास्ति		देशोना षण्मासा	साधकानि २१००० वर्षाणि
गति	अपर्याप्तवर्ज-त्रिमनुष्य० ३		शेषा ४४		सर्वदेवनरक० ३८ ★	
इन्द्रियम		पञ्चेन्द्रियसा०, तत्पर्याप्त० २	शेषा १७			
काय		त्रसकायसा०, तत्पर्याप्त० २	शेषा ४०	---		
योग		काययोग० १	शेषा १७	पञ्चमनो०पञ्चवचो०, वैक्रि०आहारकद्विक०		काययोग० १
वेद	अवेद० १		वेदत्रिकम् ३	·		
कषाय			सर्वा ५ 卐 △	क्रोधमानमाया-लोभा ४		
ज्ञानम्	मन पर्यव० १	मतिश्रुतावधि-ज्ञानानि ३	शेषा ४ △			
सयम	सयमसा० १		शेषा ७ △ ❀			
दर्शनम	·	केवलवर्ज दर्शनत्रिकम् ३	केवल दर्शन० १ △			
लेश्या		शुक्ललेश्या १	शेषा ५		सर्वा ६ ★	
भव्य		भव्य १	अभव्य १			
सम्यक्त्वम्		सम्यक्त्वसा० क्षायिक० औपशमिक० ३	शेषा ४	सास्वादनम् १		---
सज्ञा		सज्ञी० १	असज्ञी १			
आहारक		आहारक १	अनाहारक १			
सर्वा	६	१८	१४४+१+१+४	१८	४४	१
गाथाङ्क	११९	१२०	१२१	१२२	१२३	१३०

△ अकषायकेवलद्विकयथाख्यातसयममार्गणासु केवलवेदनीयस्य ❀ सूक्ष्मसम्परायमार्गणाया च मोहनीयवर्जाना षण्णा बन्धान्तर नास्ति ।

卐 नवर लोभे मोहनीयस्य द्विविधमपि भिन्नमुहूर्तम्, (गाथा १२१)

त्कृष्टबन्धान्तरप्रदर्शियन्त्रम्

आयुषो जघन्यतो भिन्नमुहूर्तम् ,उत्कृष्टत साधिका ३३सागरोपमा (गाथा ११८)

एकजीवाश्रितजघन्यबन्धान्तरमन्तर्मुहूर्तम् गाथा-१२२।

उत्कृष्टबन्धान्तरम्

साधिकानि ७००वर्षाणि	अन्तर्मुहूर्तम्	साधिकानि ५५ पल्योपमानि	देशोनपूर्वकोटि तृतीयभाग	देशोनोत्कृष्ट-कायस्थिति +	साधिक-पूर्वकोटि	साधिका ३३ सागरोपमा	साधिकोत्कृष्ट-भवस्थिति
				...			शेषा ६
			—			पञ्चेन्द्रियासा० तत्पर्याप्त० २	शेषा १७
						त्रसकायसा० तत्पर्याप्त०	शेषा ४०
औदा० १ ★	औदारिक-मिश्र०						
		स्त्रीवेद० १				शेषे २	•
			मनःपर्यव० १ ★	विभङ्ग० १		शेषा ५	•
			असयमवर्जा ५ ★	••		असयम० १	
				•		सर्वा ३	
						भव्याभव्यौ २	
						शेषा ४	
					असंज्ञी १	संज्ञी १	
			•			आहारक १	
'	१	१	६	१	१	२३	६६
१२०	१३१	१३१	१३२	१३३	१३४	१३४	१२४

★ सर्वनरकसर्वसुरसर्वलेश्यौदारिककाययोगमनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्यसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धि-देशविरतिमार्गणासु मतान्तरेणायुषो बन्धान्तरं नास्ति (गा-१३५)

+ अन्ये तु देशोनषण्मासा इति मन्यन्ते ।

ओघतो वेदनीयस्य बन्धान्तर नास्ति, वेदनीयायुर्वर्जाना षण्णा जघन्यत समय, उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम् ।

	आयुर्वजसप्तानामन्तरम्			आयुषोऽन्तर नास्ति	एतास्वायुष	
					आयुष	
	वेदनीयस्य नास्ति षण्णा द्विविध भिन्नमुहूर्त्तम्	सप्तानामप्योघवत्	सप्ताना नास्ति		देशोना षण्मासा	साधकानि २१००० वर्षाणि
गति	अपर्याप्तवर्ज- त्रिमनुष्य० ३		शेषा ४४		सर्वदेवनरक० ३८ ★	
इन्द्रियम्		पञ्चेन्द्रियसा०, तत्पर्याप्त० २	शेषा १७			
काय		त्रसकायसा०, तत्पर्याप्त० २	शेषा ४०	---		
योग		काययोग० १	शेषा १७	पञ्चमनो०पञ्चवचो०, वैक्रि०आहारकद्विक०		काययोग० १
वेद	अवेद० १		वेदत्रिकम् ३	.		
कषाय			सर्वा ५ 卐 △	क्रोधमानमाया- लोभा ४		
ज्ञानम्	मन पर्यव० १	मतिश्रुतावधि- ज्ञानानि ३	शेषा ४ △			
संयम	संयमसा० १		शेषा ७ △ ❀			
दर्शनम्	.	केवलवर्ज दर्शनत्रिकम् ३	केवल दर्शन० १ △			
लेश्या		शुक्ललेश्या १	शेषा ५		सर्वा ६ ★	
भव्य		भव्य १	अभव्य १			
सम्यक्त्वम्		सम्यक्त्वसा० क्षायिक० औपशमिक० ३	शेषा ४	सास्वादनम् १		---
संज्ञा		सञ्ज्ञी० १	असञ्ज्ञी १			
आहारक		आहारक १	अनाहारक १			
सर्वा	६	१८	१४४+१+१+४	१८	४४	१
गाथाङ्क	११९	१२०	१२१	१२२	१२३	१३०

△ अकषायकेवलद्विकयथाख्यातसंयममार्गणासु केवलवेदनीयस्य ❀ सूक्ष्मसम्परायमार्गणाया च मोहनीयवर्जाना षण्णा बन्धान्तर नास्ति ।

卐 नवर लोभे मोहनीयस्य द्विविधमपि भिन्नमुहूर्तम्, (गाथा १२१)

त्कृष्टबन्धान्तरप्रदर्शियन्त्रम्

आयुषो जघन्यतो भिन्नमुहूर्तम ,उत्कृष्टत साधिका ३३सागरोपमा (गाथा ११८)

एकजीवाश्रितजघन्यबन्धान्तरमन्तमुहूर्तम् गाथा-१२३।

उत्कृष्टबन्धान्तरम

साधिकानि ७००वर्षाणि	अन्तर्मुहूर्तम्	साधिकानि ५५ पल्योपमानि	देशोनपूर्वकोटि तृतीयभाग	देशोनोत्कृष्टकायस्थिति +	साधिकपूर्वकोटि	साधिका ३३ सागरोपमा	साधिकोत्कृष्टस्वकायस्थिति
				..			शेषा ६
			—			पञ्चेन्द्रियाणा० तत्पर्याप्त० २	शेषा १७
						त्रसकायसा० तत्पर्याप्त०	शेषा ४०
औदा० १ ★	औदारिकमिश्र०						
		स्त्रीवेद० १				शेषे २	·
							··
			मन पर्यव० १ ★	विभङ्ग० १		शेषा ५	·
			असयमवर्जा ५ ★	..		असयम० १	
						सर्वा ३	
							·
						भव्याभव्यौ २	
						शेषा ४	
					असंज्ञी १	संज्ञी १	
			..			आहारक १	·
[illegible]	१	१	६	१	१	२३	६६
१३०	१३१	१३१	१३२	१३३	१३४	१३४	१२४

★ सर्वनरकसर्वसुरसर्वलेश्योदारिककाययोगमन पर्यवज्ञानसयमसामान्यसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धि-देशविरतिमार्गणासु मतान्तरेणायुषो बन्धान्तर नास्ति (गा-१३५)

+ अन्ये तु देशोनषण्मासा इति मन्यन्ते ।

॥ अथ षष्ठं सन्निकर्षद्वारम् ॥

सम्प्रति चतुर्थस्य सन्निकर्षद्वारस्याऽवसरः । तत्र सन्निकृष्यन्ते=बन्धापेक्षया परस्परं प्रकृतयः सम्बध्यन्ते यस्मिन्, तत् सन्निकर्षद्वारम्, ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामन्यतमां बध्नन् काः प्रकृतीर्नियमतो बध्नाति, काः पुनर्भजनया, काश्च न बध्नातीति सन्निकर्ष=सम्बन्धमनेन द्वारेण चिन्तयिष्यति । अथादौ तावदोघतः सन्निकर्षं दिदर्शयिषुराह—

पढमं बंधेमाणो सियाऽऽउमोहाण बंधगो अत्थि ।
सेसाण बंधगो चिअ एमेव चउण्ह बोद्धव्वो ॥१३६॥

(प्रे०) 'प ' इत्यादि, 'प्रथमां' ग्रन्थक्रमप्रामाण्याद् ज्ञानावरणाख्यां प्रकृतिं 'बध्नन्' उपरचयन् 'आयुर्मोहयोः' आयुष्कस्य मोहनीयस्य च प्रत्येकं बन्धकः स्याद् 'अस्ति' भवति, श्रेणिमारूढानां सूक्ष्मसम्परायजीवाना ज्ञानावरणस्य बन्धे प्रवर्तमानेऽपि मोहायुषोर्बन्धाऽभावात्, शेषजीवानामप्यायुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वात् । 'शेषाणाम्' उक्तोद्वरितानां दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाख्यपञ्चप्रकृतीनां प्रत्येकं बन्धक एव भवति, सूक्ष्मसम्परायचरमसमये वेदनीयवर्जानां चतुष्प्रकृतीनां ज्ञानावरणेन सहैव बन्धोच्छेदाद् वेदनीयस्य पुनः तत ऊर्ध्वमपि बन्धसद्भावात् । एतदुक्त भवति–स्याच्छब्दोऽनेकान्तार्थद्योती, यदुक्तं श्रीमद्‌**हेमचन्द्रसूरिपादैः** स्वकीयप्रकाशि - **त्यसिद्धहेमशब्दानुशासनवृत्तौ**–"स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्" इति । तदर्थश्चाऽत्रेत्थं परिभावनीयः–ज्ञानावरणं बध्नन् कश्चिज्जीवो मोहनीयं बध्नाति,कश्चित्पुनर्न बध्नाति, यथा मिथ्यात्वप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामन्यतमं गुणस्थानकं भजमानो ज्ञानावरणं बध्नन् मोहनीयं बध्नाति, सूक्ष्मसम्परायः पुनर्न बध्नाति, अनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमय एव मोहबन्धस्योच्छिन्नत्वात्, ज्ञानावरणबन्धस्य च सूक्ष्मसम्परायचरमसमय यावत् प्रवृत्तेः । तथाऽऽयुः कदाचिदेव स्वायुषि त्रिभागादिशेषे बध्नाति जीवः । तेना-ऽऽयुर्बन्धकाले ज्ञानावारणं बध्नन्नायुष्कस्य बन्धकः, आयुर्बन्धाभावकाले तु ज्ञानावरणं बध्नन्नायुषोऽबन्धक एव । शेषाणां दर्शनावरण-नाम गोत्रा-ऽन्तरायाणा ज्ञानावरणेन सहैव सूक्ष्मसम्परायचरमसमये बन्धोच्छेदाद् वेदनीयस्य पुनस्ततो-ऽप्यूर्ध्वं बन्धस्य प्रवर्तमानत्वाद् मिथ्यादृष्टिप्रभृतिसूक्ष्मसम्परायान्तानामन्यतमो ज्ञानावरणं बध्नन् नियमतो दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणि बध्नाति, यदुक्त श्री**प्रज्ञापनासूत्रे भगवता-ऽऽर्यश्यामेन**–"जीवे ण भते ! णाणावरणिज्ज कम्म बधमाणे कतिकम्मपगडीतो बधति ? गो० सत्तविहबधए वा अट्ठविह० छव्विहबधते वा । इति । अत्र षड्विधत्वं मोहनीयायुष्के विना, केवलायुष्केण ऋते सप्तविधत्वम्, आयुष्केण च मष्टविधत्वं वोध्यम् । अथा-ऽतिदिदिक्षुराह–'**एमेव**' इत्यादि, 'एवमेव' एवशब्दः साम्ये, "व वा यथा तथैव साम्ये" इति **अमरकोश**वचनात्, यथा

ज्ञानावरणबन्धमाश्रित्य सन्निकर्षः प्रतिपादितः, तथैवेत्यर्थः, 'चतसृणां' ज्ञानावरणस्योक्तत्वात्, वेदनीयमोहनीयायुषां वक्ष्यमाणत्वाच्च दर्शनावरण-नाम-गोत्रा ऽन्तरायरूपचतुष्प्रकृतीना 'बोद्धव्यः' ज्ञातव्यः सन्निकर्ष इति गम्यते, प्रस्तुतत्वात् । सुगममेतत्, तेषा बन्धस्य ज्ञानावरणबन्धेन सहैव प्रवृत्तेः सहैव च निवृत्तेः । तदेवमोघतो ज्ञानावरणादीनां पञ्चाना सन्निकर्षोऽन्याभिः प्रकृतिभिः सह चिन्तितः ॥१३६॥

सम्प्रति वेदनीयमोहनीययोः सन्निकर्षं चिचिन्तयिषुराह—

तइअं बंधंतो ण व बंधइ सेसाउ सत्त वंधंतो ।
मोहं बंधेइ णवा आउं बंधइ चिअ छ सेसा ॥१३७॥

(प्रे०) 'तइयं' इत्यादि, 'तृतीयां' वेदनीयाख्यां प्रकृति बध्नन् 'शेषाः' सप्त ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽऽयुष्क-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणाः सप्त प्रकृतीः 'नवा' विभाषया बध्नाति, सूक्ष्मसम्परायस्योपरि वेदनीयबन्धे प्रवर्तमानेऽपि शेषाणा प्रकृतीना बन्धाभावात्, अधस्तात् पुनर्वेदनीयबन्धस्य सार्वकालिकत्वात् । इदमत्र हृदयम्—उपशान्तमोह क्षीणकषाय-सयोगिकेवलिनामन्यतमो वेदनीयं बध्नन् शेषाः प्रकृतीर्न बध्नाति, उपशान्तमोहस्या-ऽधस्तात् तद्बन्धोच्छेदात्, उपशान्तमोहगुणस्थानकस्याधोवर्ती तु वेदनीयं बध्नन् यथायोग्यं सप्तप्रकृतीर्बध्नाति । यथायोग्यकथनात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टयपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसम्परायाख्यगुणस्थानकत्रयवर्तिनामन्यतमो वेदनीयं बध्नन्नायुर्वर्जा ज्ञानावरणादिषट्प्रकृतीर्बध्नाति, अप्रमत्तगुणस्थानक आयुर्बन्धोच्छेदाद् मिश्रदृष्टीनां चायुर्बन्धाऽभावात् । सूक्ष्मसम्परायस्तु वेदनीयं बध्नस्ता एव मोहनीयहीनाः पञ्चप्रकृतीर्बध्नाति, अनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये मोहनीयबन्धस्य व्यवच्छिन्नत्वात् । मिश्रदृष्टिवर्जमिथ्यादृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्तानामन्यतमः पुनरायुर्बन्धकाले वेदनीय बध्नन्नन्याः सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, अन्यथा षट् । एवं वेदनीयं बध्नन् शेषाः प्रकृतीर्भजनया बध्नाति ।

अथ मोहनीयस्य सन्निकर्षं बिभणिषुराह—'बंधंतो' इत्यादि, तत्र 'मोहं' मोहनीयं बध्नन् 'नवा' विभाषया आयुर्बध्नाति, कश्चिद् बध्नाति, कश्चिन्न बध्नाति, कुत इति चेत्, उच्यते-मिश्रदृष्टयपूर्वकरणवर्ज्य-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाणामन्यतमो मोहनीय बध्नन्नायुष्कं न बध्नाति, अप्रमत्तगुणस्थानक एवाऽऽयुर्बन्धस्योच्छेदाद्, मिश्रदृष्टीनां चाऽऽयुषोऽबन्धात् । एवं मिथ्यात्वादिगुणस्थानकवर्ती जीव आयुर्बन्धकालाभावे मोहनीयं बध्नन्नायुर्बन्ध न करोति, आयुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वात् । मिश्रदृष्टिवर्जमिथ्यादृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तपर्यन्तानामन्यतम आयुर्बन्धकाले मोहनीयं बध्नन्नायुर्बध्नाति । तेन मोहनीय बध्नन्नायुष्क भजनया बध्नाति । 'बंधइ चिअ' इत्यादि, मोहनीयं बध्नन् 'षट् शेषाः' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायरूपाः प्रत्येकम् 'बध्नात्येव' नियमतो बध्नाति, मोहनीयबन्धोच्छेदविरहेऽप्येतासा बन्धस्या-ऽनुच्छेदात् ॥१३७॥

सम्प्रत्यायुषो-ऽन्याभिः प्रकृतिभिः सह सन्निकर्षमोघतः प्रपञ्चयन् लाघवार्थं चादेशतोऽपि दर्शयन्नाह—

आउं बंधेमाणो बंधइ चिअ सेससत्तपयडीओ ।
सव्वासु मग्गणासुं आउस्सेमेव णायव्वो ॥१३८॥

(प्रे०) 'आउ' इत्यादि, 'आयुः' आयुष्कं वध्नन् 'शेषसप्तप्रकृतीः' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणाः प्रकृतीः 'बध्नात्येव' नियमतो बध्नाति, अप्रमत्तादूर्ध्वं यथासंभवमनिवृत्तिबादरादिगुणस्थानकादिषु मोहनीयज्ञानावरणादीना बन्धोच्छेदोपलम्भाद् आयुषश्चाऽप्रमत्तगुणस्थानके बन्धोच्छेदात् ।

अथादेशतो दर्शयति-'**सव्वासु**' इत्यादि, 'सर्वासु' एकादशमार्गणास्वायुर्बन्धस्य प्राग् निषिद्धत्वात् त्रयःपष्टयधिकशतसंख्यकासु मार्गणास्वायुषः 'एवमेव' ओघवदेव 'ज्ञातव्यः' अन्यप्रकृतिभिः सह सन्निकर्षो बोध्यः, श्रेणिविरहावस्थायामायुर्वर्जाना सप्तकर्मणां नियमतो बन्धात् तथा श्रेणिविरहावस्थायामप्यायुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वात् ॥१३८॥

सम्प्रति सप्तकर्मणा सन्निकर्षं गत्यादिमार्गणासु भावयितुमना आदौ तावदतिदिदिक्षुराह—

ओघव्व सण्णियासो आउगवज्जाण अत्थि तिणरेसुं ।
दुपणिंदितसेसु तहा पणमणवयकायउरलेसुं ॥१३९॥
चउणाणसंजमेसुं णयणेयरओहिसुक्कलेसासुं ।
भविये तह सम्मत्ते खइए सण्णिम्मि आहारे ॥१४०॥

(प्रे०) '**ओघव्व**' इत्यादि, 'ओघवत्' ज्ञानावरण दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामन्यतमा प्रकृति वध्नन् मोहनीयायुष्कं विभाषया बध्नाति, शेषाः पञ्च प्रकृतीर्नियमतो बध्नाति, वेदनीयं वध्नन् शेषप्रकृतीर्भजनयोपरचयति, तथा मोहनीयं बध्नन्नायुर्विभाषया निर्वर्तयति, शेषास्तु षड् नियमतो बध्नात्येवलक्षणो य ओघेन=गत्याद्यविवक्षया सन्निकर्षः प्रोक्तः, तद्वदित्यर्थः 'आयुष्कवर्जाना' ज्ञानावरणादीनां सप्तप्रकृतीनां सन्निकर्षः 'अस्ति' भवति, क्व ? इत्याह-'**तिणरे** ' इत्यादि, 'त्रिनरेषु' मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणत्रिमार्गणास्थानेषु 'द्विपञ्चेन्द्रियत्रसेषु' द्विशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य--पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपयोः, द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायलक्षणयोः 'तथा' तथाशब्दः समुच्चये, एवमुत्तरत्राऽपि, 'पञ्चमनोवचःकायौदारिकेषु' पञ्चशब्दस्य द्वाभ्या सह सम्बन्धात् पञ्चमनस्सु=मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्याऽमृषमनोयोगेषु, एवं पञ्चसु वचनयोगेषु काये=काययोगमार्गणायाम् , औदारिके=औदारिककाययोगमार्गणास्थाने 'चतुर्ज्ञानसयमेषु' चतुर्ज्ञानेषु=

केवलज्ञाने सन्निकर्षस्य निपेत्स्यमानत्वाद् मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञानरूपेषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु संयमे=संयमसामान्यमार्गणाभेदे 'नयनेतरा-ऽवधिशुक्ललेश्यासु' नयने=चक्षुर्दर्शने, इतरस्मिन्=अचक्षुर्दर्शने 'अवधौ' 'साहचर्यात् सदृशस्यैव ग्रहणम्' इतिन्यायाद् अवधिज्ञानस्य चोक्तत्वाद् अवधिदर्शनमार्गणायां शुक्ललेश्यायां च भव्ये=भव्यमार्गणाया तथा 'सम्यक्त्वे' सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां 'क्षायिके'क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां 'संज्ञिनि' संज्ञिमार्गणायाम् 'आहारे' आहारकमार्गणायां च सर्वसंख्यया त्रयस्त्रिंशन्मार्गणासु, प्रोक्तमार्गणास्वायुर्बन्धयोग्यजीवभेदानां प्रविष्टत्वे सति सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहादीनामपि समावेशात् ॥१३९,१४०॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगे कर्माष्टकस्य सन्निकर्षं भावयन्नाह—

पढमं उरालमीसे बंधंतो बंधगो सिआउस्स ।
बधइ चिअ सेसेवं पंचण्होघव्व वेअस्स ॥१४१॥

(प्रे०) 'प ' इत्यादि, 'औदारिकमिश्रे' औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां 'प्रथमा' ज्ञानावरणाख्यां प्रकृतिं बध्नन्नायुषो बन्धकः स्याद् भवति, स्याच्छब्दस्यानेकान्तार्थद्योतित्वात् कदाचिदायुष्कस्य बन्धको भवति, कदाचिद् न भवति, आयुष्कबन्धकाले ज्ञानावरणं बध्नन्नायुष्कस्य बन्धको भवति, आयुष्कबन्धविरहकाले त्वबन्धको भवतीत्यर्थः, 'बध्नात्येव शेषाः' ज्ञानावरणं बध्नन् शेषाः=दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायरूपाः षट् प्रकृतीर्नियमतो बध्नाति ।

सम्प्रत्यतिदिदिक्षुराह–'एवं' इत्यादि, एवंशब्दः साम्ये, यथा ज्ञानावरणस्य सन्निकर्षो-ऽभिहितः, तथैवौदारिकमिश्रकाययोगे'पञ्चानाम्' आयुर्ज्ञानावरणयोरभिहितत्वाद् वेदनीयस्य च वक्ष्यमाणत्वाद् दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणा सन्निकर्षो बोध्य इत्यध्याहारः । 'ओघवद् वेद्यस्य' औदारिकमिश्रकाययोगे वेदनीयस्य सन्निकर्ष ओघवत् बोधनीयः, वेदनीयं बध्नन् शेषाः सप्तप्रकृतीर्भजनया बध्नातीत्येवलक्षणः । तथाहि–समुद्घातमापन्नः सयोगिकेवली द्वितीयसमये षष्ठसमय-सप्तमसमययोश्चौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानो वेदनीय बध्नन् शेषाः प्रकृतीर्न बध्नाति, अपर्याप्त-संसारिजीवस्तु बध्नातीत्यौदारिकमिश्रकाययोगे वेदनीयं बध्नन् शेषप्रकृतीर्भजनया बध्नातीत्युपपद्यते ॥१४१॥ सम्प्रति वैक्रियमिश्रकाययोगादिमार्गणासु सन्निकर्षं वक्तुकाम आह—

अण्णयरं बंधंतो वेउव्वियमीससुहुममीसेसु ।
बंधइ चिअ पयडीओ सप्पाउग्गाउ सेसाओ ॥१४२॥

(प्रे०) 'अण्णयर'इत्यादि,'अन्यतरां' वैक्रियमिश्रादिबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनाममन्यतमां बध्नन् 'वैक्रियमिश्रसूक्ष्ममिश्रेषु' वैक्रियमिश्रकाययोगे सूक्ष्मसम्परायसंयमे मिश्रमार्गणायां च स्वप्रायोग्याः शेषाः प्रकृतीर्बध्नात्येव । स्वप्रायोग्याश्चेमाः–वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां मिश्रमार्गणायां चाऽऽयुर्वर्ज-सप्तप्रकृतयो बन्धयोग्याः,सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां पुनर्मोहनीयायुर्वर्जाः षट् प्रकृतयः । शेषं सुग-

मम्, प्रोक्तमार्गणाऽऽरम्भतः प्रभृति मार्गणाचरमसमयं यावत् स्वयोग्यप्रकृतीनां निरन्तरं बध्य-मानत्वात् ।।१४२।।

एतर्हि कार्मणाऽनाहारकयोः सन्निकर्षमाह—

कम्माणाहारेसुं बंधंतो उ तइयं णवा सेसा ।
बंधइ सेसाणेगं बंधंतो बंधइ च्च सेसाओ। ।१४३।। (गीतिः)

(प्रे०) 'कम्मा०' इत्यादि, 'कार्मणानाहारयोः' कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च 'तृतीयां' वेदनीयाख्यप्रकृतिं बध्नन् शेषाः 'नवा' विभाषया बध्नाति, तुकारः पादपूर्त्यै । अयं भावः—विग्रहगतौ वर्तमानो भणितमार्गणाद्वयं भजमानो जीवो वेदनीयं बध्नन्नायुर्वर्जशेषकर्माणि नियमतो बध्नाति, केवलिसमुद्घाते वर्तमानः सयोगिकेवली पुनः शेषाः प्रकृतीर्न बध्नाति, अधस्तन-गुणस्थानकेषु तद्बन्धोच्छेदात् । भणितो वेदनीयस्य सन्निकर्षः, सम्प्रति कार्मणाऽनाहारकमार्गणयो-र्ज्ञानावरणादीनां सन्निकर्षं भणितुकाम आह—'सेसाणेगं' इत्यादि 'शेषाणां' कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोर्वेदनीयस्योक्तत्वादायुषश्च बन्धाभावाद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायरूपप्रकृतीनाम् 'एकाम्'अन्यतमामेकप्रकृतिं बध्नन् 'शेषाः' आयुर्बन्धस्य प्रतिषिद्धत्वात् शेषाः षट्प्रकृतीर्बध्नात्येव, विग्रहगता आयुर्वर्जसप्तकर्मणामवश्यं बध्यमानत्वात् ।।१४३।।

सम्प्रति गतवेदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः सप्तकर्मणां सन्निकर्षं व्याहर्तुकाम आह—

गयवेअउवसमेसुं बन्धंतो आइमं सिया मोहं ।
बंधइ चिअ सेसाओ एमेव चउण्ह विण्णेयो ।। १४४ ।।
मोहं बंधेमाणो णेयो सेसाण बन्धगो चेव ।
बन्धेमाणो तइअं सेसाणं बन्धगोऽत्थि णवा ।। १४५ ।।

(प्रे०) 'गयवेअ०' इत्यादि, 'गतवेदोपशमयोः' अपगतवेदमार्गणायामौपशमिकसम्य-क्त्वमार्गणायां च 'आदिमां' ज्ञानावरणाख्यां प्रथमां प्रकृतिं बध्नन् मोहं स्याद् बध्नाति । इदमुक्तं भवति—अनिवृत्तिबादरसम्परायो जीवोऽपगतवेदमार्गणा भजमानो ज्ञानावरण बध्नन् मोहनीय बध्नाति, सूक्ष्मसम्परायः पुनर्न बध्नाति, 'शेषाः' दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायरूपाः पञ्च-प्रकृतीः 'बध्नात्येव' नियमतो बध्नाति । अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतिबादरसम्परायाणामन्यतम औप-शमिकसम्यक्त्वमार्गणायां ज्ञानावरणं बध्नन् मोहनीय बध्नाति, सूक्ष्मसम्परायस्तु न बध्नाति ।

सम्प्रत्यतिदिशति—'एमेव' इत्यादि 'एवमेव' यथा ज्ञानावरणमाश्रित्य सन्निकर्षोऽभि-हितः, तथैव 'चतसृणां' ज्ञानावरणस्योक्तत्वाद् आयुषो बन्धाभावाद् मोहनीयवेदनीययोश्च वक्ष्य-माणत्वाद् दर्शनावरण नाम गोत्रा-ऽन्तरायप्रकृतीनां 'विज्ञेयः' सन्निकर्षो बोद्धव्यः ।

'मोह' इत्यादि, अपगतवेदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः 'मोह' मोहनीयं बध्नन् शेषाणां बन्धक एव, अपगतवेदमार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया च मोहनीय बध्नन्नायुर्वर्जशेषज्ञानावरणादिषट्कं नियमतो बध्नातीत्यर्थः । 'बंधेमाणो' इत्यादि, अपगतवेदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः 'तृतीयां' वेदनीयाख्यां प्रकृतिं बध्नन् शेषाणां बन्धको 'नवा' विभाषया 'अस्ति' भवति, उपशान्तमोहे तदुपरि च यथासम्भवं वर्तमानो वेदनीय बध्नन् शेषप्रकृतीर्न बध्नाति, शेषगुणस्थानकेषु वर्तमानः पुनर्बध्नात्येव ॥१४४,१४५॥

सम्प्रति लोभमार्गणायामायुर्वर्जप्रकृतिसप्तकस्य सन्निकर्षं विभणिषुराह–

लोहे बंधेमाणो पढमं बंधइ सिआउमोहा उ ।
बंधइ चिअ सेसेवं पंचण्होघव्व मोहस्स ॥१४६ ॥

(प्रे०) 'लोहे' इत्यादि, 'लोभे' लोभमार्गणायां 'प्रथमां' ज्ञानावरणाख्यां प्रकृतिं बध्नन् 'आयुर्मोहौ तु' आयुष्कं मोहनीयं च स्याद् बध्नाति, यतस्तत्र सूक्ष्मसम्परायो ज्ञानावरणस्य बन्धको मोहनीयं न बध्नाति,शेषस्तु मिथ्यादृष्ट्यादीनामन्यतमो बध्नाति, आयुषश्च बन्धस्य कादाचित्कत्वाद् वैकल्पिको बन्धोऽनुक्तसिद्धः ।'बंधइ' इत्यादि, लोभमार्गणायां ज्ञानावरण बध्नन् 'शेषाः' मोहनीयायुषोरुक्तत्वाद् दर्शनावरण-वेदनीय-नाम–गोत्रा-ऽन्तरायरूपाः पञ्चप्रकृतीः 'बध्नात्येव' नियमतो निर्वर्तयति, मार्गणाचरमसमयं यावद् तद्बन्धप्रवृत्तेः ।

अथा-ऽतिदिदिक्षुराह-'एवं' इत्यादि, 'एवं' यथा ज्ञानावरणस्या-ऽन्यप्रकृतिभिः सह सन्निकर्षः प्रतिपादितः, तथैव 'पञ्चानां' ज्ञानावरणायुष्ककर्मणो प्रतिपादितत्वाद् मोहस्य च वक्ष्यमाणत्वाद् दर्शनावरण वेदनीय-नाम गोत्रा-ऽन्तरायाणां सन्निकर्षो ज्ञातव्यः । 'ओघवद् मोहस्य' लोभमार्गणायां मोहनीयस्य सन्निकर्ष ओघवद् बोध्यः । तद्यथा–लोभमार्गणायां मोहनीयं बध्नन्नायुष्कं विकल्पतो बध्नाति, शेषास्तु नियमतः, आयुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वात् शेषाणां च मोहनीयबन्धोच्छेदेऽपि बन्धस्य प्रवर्तमानत्वात् ॥१४६॥

सम्प्रत्यकषायादिमार्गणासु सन्निकर्षं निषेधन्नाह–

एगं च एव पयडिं जम्हा बंधेइ सण्णियासो उ ।
णेव हवइ अ सायें केवलजुगले अहक्खाये ॥ १४७ ॥

(प्रे०) 'एगं' इत्यादि, 'यस्मात्' यस्मात्कारणाद् एकां चैव प्रकृति वेदनीयाख्यां बध्नाति, यत्तदोः सापेक्षत्वात् तस्मात् 'अकषाये' अकषायमार्गणायां 'केवलयुगले' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे मार्गणाद्वये 'यथाख्याते' यथाख्यातसंयममार्गणायां च सन्निकर्षस्तु नैव भवति, तुकारः पादपूरणे । इदमुक्तं भवति-द्व्यादीनां हि बध्यमानप्रकृतीनां सन्निकर्षश्चिन्तयितुं योग्यः, एकस्यां

बध्यमानप्रकृतौ सत्यां नहि चिन्तयितुं शक्यते सन्निकर्षः, अन्याभिः सह सम्बन्धकल्पनाभावात् । तेना-ऽकषाय केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातसयमेषु सन्निकर्षो न भवति ॥१३५॥

सम्प्रति शेषास्वष्टाविंशत्यधिकशतमार्गणासु (१२८) सप्तकर्मणां सन्निकर्षं निगदितुकाम आह–

सेसासु बंधंतो एगं अण्णयरमाउवज्जाणं ।
बंधेइ णवा आउं बंधइ चिअ छ अवसेसाओ ॥ १४८ ॥

(प्रे०) '**सेसासु**' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितास्वष्टाविंशत्यधिकशतसख्याकासु (१२८) मार्गणासु 'आयुर्वर्जाना' ज्ञानावरण दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणाम् 'एकामन्यतराम्' एकामन्यतमां प्रकृति बध्नन्नायुः 'नवा' विभाषया बध्नाति, आयुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वात्, 'अवशेषाः षट्' उद्दिष्टप्रकृतिं वर्जयित्वा शेषाः षट्प्रकृतीः 'बध्नात्येव' नियमतो बध्नाति, प्रोक्तमार्गणासु सूक्ष्मसम्परायादिगुणस्थानकाभावेन सप्तकर्मणां निरन्तरबन्धात् । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः– मनुष्यसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीवर्जाश्चतुश्चत्वारिंशद्गतिभेदाः (४४), पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ विना सप्तदशेन्द्रियभेदाः (१७), त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जाः शेषाश्चत्वारिंशत् कायभेदाः(४०), आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-वैक्रियकाययोगलक्षणास्तिस्रो योगमार्गणाः (३), स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणवेदत्रयं (३), क्रोधमानमायारूपास्तिस्रः कषायमार्गणाः (३), अज्ञानत्रिकं (३), सामायिक च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धिक- देशविरता–ऽविरतरूपमार्गणापञ्चकम् (५), शुक्ललेश्यारहितलेश्यापञ्चकम् (५), अभव्यमार्गणा (१), क्षायोपशमिकसम्यक्त्व सास्वादन-मिथ्यात्वलक्षणमार्गणात्रयम् (३), असंज्ञिमार्गणा (१) चेति । तदेव गत सन्निकर्षद्वारम् ॥१४८॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे षष्ठ सन्निकर्षद्वार समाप्तम् ॥



अष्टानां कर्मणां सन्निकर्षप्रदर्शियन्त्रम्

ओघत आदेशतश्च त्रिपञ्चविकशतमार्गणास्वायुर्बध्नन् शेषाणि सप्तकर्माणि नियमतो बध्नाति (गाथा १३८)

आयुर्वर्जाना सप्तकर्मणा सन्निकर्ष	गति	इन्द्रियम्	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञानम्	संयम	दर्शनम्	लेश्या	भव्य	सम्यक्त्वम्	संज्ञी	आहारक	सर्वा	गाथाङ्क
ज्ञानावरणं बध्नन् मोहायुषी स्याद् बध्नाति, शेषा ५ नियमत । एवं दर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणामपि सन्निकर्ष वेद्य बध्नन् सप्त स्याद् बध्नाति, मोह बध्नन् आयु स्याद् बध्नाति, शेषा ६ नियमत (ओघवत्) ।	अपर्याप्त-वर्जामिश्र मनुष्य-भदा ३	पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय २	त्रसकाय पर्याप्त० त्रसकाय २	पञ्चमनो०, वचो० काययो० औदारि० १२			केवलवर्जज्ञान नि४ ३	संयमसा० १	केवलवर्ज दर्शनानि ३	शुक्ला १	भव्य १	सम्यक्त्वम्, क्षायिकसम्य २	संज्ञी १	आहारक १	३३	१३९ १४०
वेदनीयस्योघवत्, शेषाणामन्यतमा बध्नन्नायु स्यात्, शेषाश्च ६ नियमत बध्नाति				औदारिक मिश्र०											१	१४१
स्वप्रायोग्यामन्यतमा बध्नन् शेषा स्वप्रायोग्या नियमता बध्नाति				वैक्रियमिश्र०				सूक्ष्म सम्पराय०				मिश्र०			३	१४२
वेद्य बध्नन् शेषा ६ नवा बध्नाति, शेषाणामन्यतमा बध्नन् शेषा ६ नियमत				कार्मण०										अनाहारक	२	१४३
सप्तानामोघवत्, किन्त्वायुर्न बध्नाति		–			अवेद०							औप० क्षमि०			२	१४४ १४५
मोहस्यौघवत्, शेषाणामन्यतमा बध्नन् मोहायुषी नवा बध्नाति						नोभ०		--						.	१	१४६
सन्निकर्षो नास्ति					..	अकषाय०	केवलज्ञान	यथाख्यात०	केवलद०						४	१४७
अन्यतमा बध्नन्नायु स्याद् बध्नाति, शेषा ६ नियमत ।	शेषा ४४	शेषा १७	शेषा ४०	वैक्रिय० आहारकद्विक०	शेषा ३	शेषा ३	शेषा ३	शेषा ५		शेषा ५	अभव्य	शेषा ३	असंज्ञी १		१२८	१४८

॥ अथ सप्तमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य भङ्गविचयद्वारस्यावसरः। तत्रादौ तावद् नानाजीवानाश्रित्य भङ्गसंख्यां प्रथमादिभङ्गानां च स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुराह—

भंगाऽट्ठ बंधगो चिअ पढमो बीओ अबंधगो तइओ।
सव्वे वि बंधगा तह सव्वे वि अबंधगा चोत्थो ॥१४९॥
एगेण बंधगेणं एगोऽणेगे अबंधगा कमसो।
णेगेहि बंधगेहिं सह एवं पंचमाइचऊ ॥१५०॥

(प्रे०) '**भंगाऽट्ठ**' इत्यादि, 'भङ्गाः' विकल्पाः वक्ष्यमाणैकबन्धकप्रभृतिस्वरूपाः 'अष्टौ' अ ख्याका भवन्ति। अथ तान् नामग्राहं पठति–'**बंधगो**' इत्यादि, 'बन्धक एव' एकवचननिर्देशाद् एको बन्धक एवेति 'प्रथमः' आद्यभङ्गः, अवधारणार्थकैवकारेणाऽबन्धकाना व्यवच्छेदः। तेनैकबन्धकस्य सत्त्वे-ऽपि वक्ष्यमाणपञ्चमषष्ठभङ्गाभ्या सह न साङ्कर्यम्। अयं भावः-यत्रैको बन एव भवति, नाऽबन्धकः, तत्र प्रथमभङ्गः प्रवर्तते। यत्र पुनरेको बन्धक एकश्चाऽबन्धकः, अनेके वाऽबन्धकाः, तत्रैव यथाक्रमं वक्ष्यमाणयोः पञ्चमषष्ठभङ्गयोः प्रवृत्तिर्जायते। तदेवं विषयविभागस्य व्यवस्थितत्वान्न साङ्कर्यम्। 'द्वितीयः' द्वितीयभङ्गोऽबन्धक एवेति, पूर्वोक्तैवकारशब्दस्याऽत्राऽपि योजनात्, एकवचननिर्देशस्त्वबन्धकस्यैकत्वप्रतिपादनाय। योजितेनैवकारेण बन्धकानां व्यवच्छित्तिः, तेन पञ्चमभङ्गे सप्तमे च भङ्गेऽबन्धकस्यैकत्येऽपि न ताभ्यां सह साङ्कर्यम्। एवमग्रेऽप्येवकारफलं भावनीयम्। 'तृतीयः' तृतीयभङ्गः 'सर्वेऽपि बन्धकाः' सर्वे बन्धका एवेति। 'तथा सर्वेऽप्यबन्धकाः' तथाशब्दः समुच्चये, सर्वेऽबन्धका एवेति 'चतुर्थः' तुरियो भङ्गः।

सम्प्रति पञ्चमादिभङ्गानाह–'**एगेण**' इत्यादि, एकेन बन्धकेन सह क्रमेण एकोऽबन्धकः, अनेके बन्धकाः, 'नैकः' अनेकैर्बन्धकैः सहैकोऽबन्धकः, अनेकेऽबन्धकाः। 'एवम्' अनेन प्रकारेण 'पञ्चमादिचत्वारः' पञ्चमादयोऽष्टमपर्यवसानाश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति। इह मूलगाथायाम् 'एकेन बन्धकेन' इत्यत्राऽर्थतः सहार्थस्य गम्यमानत्वात् तृतीया विभक्तिः श्रूयते, यथा-"एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भरम्। सहैव दशभि पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ॥१॥" इत्यस्य पद्यस्य पूर्ववाक्ये सहशब्दाभावेऽपि सहाऽर्थस्य गम्यमानत्वात् "सहार्थे" (सिद्धहेम० २ २ ४५) इत्यनेन सूत्रेण पुत्रशब्दात् तृतीया विभक्तिर्विधीयते, तथैवा-ऽत्राऽपि बन्धकशब्दात् तद्विशेषणीभूतैकशब्दाच्च बोध्या। न च तथाप्येको बन्धक एकश्चाऽबन्धक इत्यत्र प्रत्येकं पञ्चमभङ्गव्यपदेश भजेत्, अयं भावः–यथा "पुत्रेण सहागत" इत्यत्रोभयोः प्रत्येकमागमनक्रिया सम्बध्यते, तथैवेहापि एको बन्धक इति पञ्चमभङ्गः एकोऽबन्धक इत्यपि पञ्चमभङ्गः, उभयोर्बन्धकाबन्धकयोः प्रत्येकं पञ्चमभङ्गसत्त्वेन सह सम्बन्धादिति

वाच्यम्, प्रथमादिभङ्गे पञ्चमभङ्गव्यपदेशस्य प्रसङ्गेन समुदाये वाक्यसमाप्त्याश्रयणात्। इद-मुक्तं भवति–क्वचित् समुदाये वाक्यस्य परिसमाप्तिर्भवति, क्वचित् पुनः प्रत्येकम्, यथा देवदत्त-यज्ञदत्त-देवमित्रान् भोजयेति वाक्योक्ता भुजिक्रिया प्रत्येकं परिसमाप्यते, सर्वेषां भुजिक्रियाकर्मत्वेन प्रतीतेः। गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति वाक्यार्थो गर्गसमुदाये पर्यवस्यति, न हि प्रत्येकं शतं दण्डयते, किन्तु गर्गसमुदाय एव। एवमिहापि न हि 'एको बन्धकः, एकश्चाऽबन्धकः, इति प्रत्येकं पञ्चमभङ्ग-व्यपदेशं लभते, किन्त्वेको बन्धक एकश्चाऽबन्धक इति समुदाय एव। एवमग्रेऽपि 'नैकैः' इत्यत्र गम्यमानसहार्थत्वात् तृतीया विभक्तिर्बोध्येत्यलं विस्तरेण। ननु 'नैकैः' इत्ययं प्रयोगोऽला-क्षणिकः, यतः "नञ्" (सिद्धहेम० ३-१-५१) इत्यनेन समासे सम्पन्ने "अन् स्वरे" (सिद्धहेम० ३-२-१२९) इत्यनेन सूत्रेण नञः 'अन्' आदेशप्रसङ्गेन 'अनेकैः' इति प्रसज्यते, वैयाकरणस्वीकृते नखादिगणेऽदर्शनादिति चेत्, मैवम्, यतो नाऽत्र सानुबन्धो नञ्शब्दः, किन्तु निरनुबन्धो निषेधार्थको नशब्दः, **श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनशब्दमहार्णवन्यासे** तस्य प्रतिपादितत्वात्। तथा च **तद्ग्रन्थः**–("×××नह्यतेर्बाहुलकाद् डकारे न, वियोगे च नञ्, एते सर्वेऽपि निषेधे।" इति। ततो न एकः, नैकः, तैः=नैकैः, प्रभूतैरित्यर्थः, इह "नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्"(सिद्धहेम० ३-१-१८) इत्यनेन समासः, तेन न "अन् स्वरे" (सिद्धहेम० ३-२-१२९) इत्यस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः, यतो "नञ्" (सिद्धहेम० ३-१-५१) इत्यनेन यत्र सानुबन्धस्य नशब्दस्य समासः, तत्रैव "अन् स्वरे" (सिद्धहेम० ३-२-१२९) इत्यस्य प्रवृत्तिः, नाऽन्यत्र। न चैषा व्युत्पत्तिः स्वमनीषि-कयैव विजृम्भिता, **विशेषावश्यकभाष्यवृत्तौ श्रीमन्मलधारिहेमचन्द्रसूरिपादैर्नै-**गमशब्दव्युत्पत्त्यवसरे तथाव्युत्पादनात्। तथा च **तद्ग्रन्थः**–"न एक नैक प्रभूतानीत्यर्थ" इति। एवं **कलिकालसर्वज्ञहेमचन्द्रसूरीश्वरैरपि स्वोपज्ञाऽभिधानचिन्तामणिवृत्तौ नैकभेद-**शब्दव्युत्पत्त्यवसरे प्रतिपादितम्। **अक्षराणि त्वेवम्**–"न एको नैक, निरनुबन्धोऽत्र न, 'नाम नाम्नैकार्थ्ये०' इति समास।" इति।

अयमत्र तात्पर्यार्थः–एको बन्धक एकश्चा-ऽबन्धक इति पञ्चमभङ्गः, एको बन्धकोऽनेके चा-ऽबन्धका इति षष्ठो भङ्गः, अनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक इति सप्तमभङ्गः। अनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्यष्टमो भङ्गः। तदेवमष्टौ भङ्गा निरूपिताः ॥१४९,१५०॥

सम्प्रति मूलप्रकृतिबन्धमाश्रित्य संभवतो भङ्गान् ओघतो गत्यादिमार्गणासु च वक्तुकामः आह—

अट्ठण्हऽट्ठमभंगो णेयो तिणरदुपणिंदियतसेसुं।
सज्जमभवेसु अट्ठमभंगो वेआउवज्जाणं ॥१५१॥

तइअस्स तइअसत्तमअट्ठमभंगाऽत्थि आउवज्जाणं ।
पढमतइआ विगप्पा सप्पाउग्गाण म्माणं ॥१५२॥
असमत्तणरे विक्कियमीसे आहारजुगलसुहुमेसु ।
सासणमीसेसु य सयमुज्झो परिहारछेएसु ॥१५३॥

(प्रे०) 'अट्ठण्ह०' इत्यादि, 'अष्टानां' ज्ञानावरणादीनामष्टानामपि कर्मणाम् 'अष्टमभङ्गः' अनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवंरूपो-ऽष्टमो भङ्गः 'ज्ञेयः' बोद्धव्यः, कुतः ? इति चेद्, उच्यते-ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धका मिथ्यादृष्ट्यादयो भवन्ति, ते च सर्वदा लभ्यन्ते, नानाजीवापेक्षया मिथ्यादृष्ट्यादीनां सार्वकालिकत्वप्रतिपादनात्, यदुक्तं **जीवसमासे**–"मिच्छा अविरयसम्मा देसविरया पमत्तु इयरे य । नाणाजीव पडुच्च उ सव्व काल सजोगी या" इति । अबन्धकास्तु वेदनीयमोहनीयवर्जज्ञानावरणादीनामुपशान्तमोहप्रभृतिसिद्धपर्यवसाना वेदनीयस्य चाऽयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च भवन्ति, तथा मोहनीयस्याऽबन्धकाः सूक्ष्मसम्परायप्रभृतिसिद्धपर्यवसाना भवन्ति, सयोगिकेवलिनः सिद्धाश्च प्रत्येकं सदैव लभ्यन्ते, तेनायुर्वर्जसप्तकर्मणामबन्धकाः सदाऽनेके लभ्यन्ते । तदेवमायुर्वर्जाना सप्ताना कर्मणामनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवंरूपो-ऽष्टम एव भङ्गो लभ्यते ।

नानाजीवानाश्रित्यायुर्बन्धकाः सर्वदा भवन्ति, कुतः इति चेत्, उच्यते-गत्याद्यविवक्षया गत्यादिमार्गणाविवक्षया च यत्र बन्धका जीवा असख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या अनन्ता वा भवन्ति, तत्र बन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्त इति व्याप्तिर्विधीयते । अनया व्याप्त्या नानाजीवानाश्रित्यायुषो बन्धकाः सर्वदा लभ्यन्ते, एकेन्द्रियानामप्यायुष्कबन्धकत्वेनौघत आयुर्बन्धकानामनन्तत्वात् । एकेन्द्रयादीना सिद्धाना चाऽऽयुषोऽबन्धादबन्धका अपि नित्याः । तेनायुषोऽप्यनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवरूपोऽष्टम एव भङ्गो लभ्यते ।

सम्प्रत्यादेशतो भङ्गविचयप्ररूपणाया अवसरः । तत्रादौ तावद् बन्धकाबन्धकानां नित्यानित्यत्वं बोध्यम् ।-ननु किं तस्य नियामकम् ? इति चेत्, उच्यते-तथाविधव्याप्तय एव नियामिकाः । तथाहि-

(१) नानाजीवाश्रितासु सार्वकालिकीष्वपगतवेदवर्जासु मार्गणासु यासां स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जाना बन्धोऽस्ति, तासा बन्धका नित्याः, यथा नरकगत्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धका नित्याः, केवलज्ञानादिषु च वेदनीयस्य बन्धका नित्याः ।

(२) अपगतवेदमार्गणायां षण्णां बन्धका अनित्या वेदनीयस्य च नित्याः ।

(३) नानाजीवाश्रितासु कादाचित्कीषु मार्गणासु यासामायुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनां बन्धोऽस्ति, तासामनित्या बन्धकाः, यथाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां बन्धका अनित्याः।

(४) यासु मार्गणासु षट्प्रकृतीनामबन्धकाः स्वभावस्थसयोगिकेवलिसिद्धा वेदनीयस्य च सिद्धा लभ्यन्ते, तासु मार्गणास्वबन्धका नित्याः। यथाऽपगतवेदमार्गणायां षट्कर्मणां वेदनीयस्य चाऽबन्धका नित्याः।

(५) यासु मार्गणासु समुद्घातापन्ना एव सयोगिकेवलिनोऽबन्धकत्वेन लभ्यन्ते, तासु मार्गणास्वायुर्वर्जानामबन्धका अनित्याः। यथा कार्मणकाययोगमार्गणायां षट्कर्मणामबन्धका अनित्याः।

(६) यासु मार्गणास्वायुर्वर्जानामबन्धकाः सयोगिकेवलिसिद्धवर्जाः सूक्ष्मसम्परायादयो भवन्ति, तास्वायुर्वर्जानामबन्धका अनित्याः। यथा मतिज्ञानावरणादिमार्गणासु षण्णामबन्धका अनित्याः।

(७) यासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धका असंख्येयलोकराशिप्रमाणा अनन्ता वा, तासु ते नित्या भवेयुः, अन्यथाऽनित्याः। यथा तिर्यग्गत्यादिषु नित्याः, नरकगत्यादिषु चा-ऽनित्याः।

(८) यासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां बन्धका नित्या भवन्ति, तास्वायुषोऽबन्धका नित्याः, इतरथा-ऽनित्याः। यथा नरकगत्यादिषु नित्याः, अपर्याप्तमनुष्यादिषु चाऽनित्याः।

सम्प्रति भङ्गविचय उपयोगिन्यो व्याप्तयो दर्श्यन्ते–

(१) यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां बन्धका अबन्धकाश्च नित्याः, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवंरूपोऽष्टमो भङ्गो लभ्यते, यथा मनुष्यादिमार्गणासु षट्प्रकृतीनामपगतवेदादिषु वेदनीयस्याऽऽयुषश्च तिर्यग्गत्यादिषु।

(२) यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां बन्धका नित्याः, अबन्धकाश्चाऽनित्याः, तासु मार्गणासु तासामबन्धकविरहावस्थायां सर्वे बन्धका इत्येवंलक्षणस्तृतीयो भङ्गः। एकाऽबन्धकप्राप्तौ अनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक इत्येवरूपः सप्तमो भङ्गः। अबन्धकानामनेकत्वसद्भावेऽनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवंलक्षणोऽष्टमो भङ्गः। यथा मनुष्यादिमार्गणासु वेदनीयस्य मध्यममनोयोगादिषु च ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम गोत्रा-ऽन्तरायाख्यषट्प्रकृतीनाम्।

(३) यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां बन्धका अध्रुवाः, अबन्धकाश्च नित्याः, तासु मार्गणासु तासां बन्धकविरहावस्थायां सर्वेऽबन्धका इत्येवंरूपश्चतुर्थो भङ्गः, एकबन्धकोपलब्धौ एकबन्धकोऽनेके चाऽबन्धका इत्येवंलक्षणः षष्ठो भङ्गः, अनेकबन्धकसद्भावे चाऽनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवंलक्षणोऽष्टमो भङ्गः, यथाऽपगतवेदमार्गणायां वेदनीयायुर्वर्जानां षट्कर्मणाम्, नरकगत्यादिषु चाऽऽयुषः।

(४) अबन्धकाभाववतीषु मार्गणासु बन्धकाना ध्रुवत्वे सर्वे बन्धका इत्येवरूपस्तृतीयो भङ्गः । तथा तादृङ्मार्गणानामध्रुवत्वेन बन्धकानामध्रुवत्वे प्रथमतृतीयभङ्गौ स्याताम् । यथा नरकगत्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणा तृतीयभङ्गः, अपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु च प्रथमतृतीयभङ्गौ । नन्वेवम्, तर्हि छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकसंयमयोरुक्तभङ्गद्वयेन भवितव्यमिति चेत्, उच्यते, मा त्वरिष्ठाः, व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिग्रन्थभिन्नभिन्नाऽभिप्रायसद्भावेन परिमाणस्य सम्यङ्निश्चयाभावात् 'सयमुज्झो' इत्यनेन बहुश्रतान् स्वयं ज्ञातुं विज्ञपयिष्यति, एवमायुषोऽपि भङ्गाष्टकप्रसङ्गे बोध्यम् ।

(५) यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां बन्धका अबन्धकाश्चोभयेऽप्यध्रुवाः, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामष्टौ भङ्गा लभ्यन्ते, यथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम्, अपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु चाऽऽयुषः ।

सम्प्रत्यादेशतो भङ्गान् दर्शयितुकाम आह–'**तिणर०**' इत्यादि, 'त्रिनरद्विपञ्चेन्द्रियत्रसेषु' त्रिनरेषु=मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य मानुषीलक्षणेषु, द्विशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् 'द्विपञ्चेन्द्रिययोः' पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपयोः, द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायात्मकयोः 'सयम भव्ययोः' सयमसामान्यमार्गणाया भव्यमार्गणायां च सर्वसंख्यया नवसु मार्गणासु 'वेद्यायुर्वर्जाना' वेदनीयाऽऽयुष्करहितानां शेषाणां षट्प्रकृतीनाम् 'अष्टमभङ्गः' अष्टमो भङ्गः=अनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवलक्षणः, मिथ्यादृष्ट्यादीनां ज्ञानावरणादिबन्धकत्वेन सयोगिकेवलिनां च तदबन्धकत्वेन बन्धकाऽबन्धकानामुभयेषामपि सार्वकालिकत्वात् । '**तइयस्स**' इत्यादि, 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणः 'तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमभङ्गाः' सर्वे बन्धका इत्येवंरूपस्तृतीयो भङ्गः, अनेके बन्धका एकश्चा ऽबन्धक इत्येवलक्षणः सप्तमो भङ्गः, अनेके बन्धका अनेके चा ऽबन्धका इत्येवरूपश्चाऽष्टमो भङ्गः सर्वसख्यया त्रयो भङ्गाः 'सन्ति' भवन्ति, मिथ्यादृष्टिप्रभृतिसयोगिकेवलिपर्यवसानानां वेदनीयबन्धकत्वेन बन्धकाना सार्वकालिकत्वाद् अयोगिकेवलिना च तदबन्धकत्वेनाऽबन्धकानामनित्यत्वात् । न चाऽयोगिकेवलिनामनित्यत्वमसिद्धमिति वाच्यम्, सिद्धान्ते तथाप्रतिपादितत्वात् । तथा चोक्त **श्रीपञ्चसग्रहे**–मिच्छा अविरयदेसा पमत्तअपमत्तया सजोगी य ।सव्वद्ध इयरगुणा नाणाजीवेसु वि न होंति ।" इति । तदेवमुक्तः सामान्यार्थः ।

सम्प्रति विशेषार्थ उच्यते–मनुष्यादिमार्गणासु वेदनीयस्य बन्धका मिथ्यादृष्टिप्रभृतिसयोगिकेवलिपर्यवसाना भवन्ति, तेन वेदनीयस्य बन्धका नित्या भवन्ति, मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयतसयोगिकेवलिना सदैव लाभात् । अबन्धकास्त्वयोगिकेवलिनो भवन्ति, ते चाऽध्रुवाः, शेषाष्टगुणस्थानकानामध्रुवत्वप्रतिपादनात् । तेनाऽयोगिकेवलिविरहकाल एकोऽप्ययोगिकेवली न लभ्यते, तदा वेदनीयस्य सर्वे बन्धका इत्येवरूपस्तृतीयो भङ्गः । यदैकोऽयोगिकेवली लभ्यते, तदाऽनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक इत्येवरूपः सप्तमो भङ्गः प्राप्यते, यदाऽयोगि

केवलिगुणस्थानकं भजमाना अनेके लभ्यन्ते, तदा-ऽनेके बन्धका अनेकश्चा-ऽबन्धका इत्येवंरूपोऽष्टमो भङ्गो वेदनीयस्य लभ्यते।

'आउवज्जाणं' इत्यादि, 'आयुर्वर्जानाम्' आयुर्विरहितानां 'स्वप्रायोग्याणा' वक्ष्यमाणमार्गणायोग्यानां कर्मणां 'प्रथमतृतीयौ' एको बन्धक इत्येवरूपः प्रथमः, अनेके बन्धका इत्येवंलक्षणस्तृतीय इत्येतौ द्वौ 'विकल्पौ' भङ्गौ भवतः, क ? इत्याह-'**असमत्तणरे**' इत्यादि, 'असमाप्तनरे' अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां 'वैक्रियमिश्रे' वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायाम् 'आहारयुगलसूक्ष्मयोः' आहारयुगले=आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगलक्षणे सूक्ष्मे= सूक्ष्मसम्परायमार्गणाया 'सास्वादनमिश्रयोः' सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां मिश्रमार्गणायां च, प्रोक्तमार्गणानामध्रुवत्वाद् अबन्धकानाऽनुपलम्भात्। न चैतासामध्रुवत्वमसिद्धमिति वाच्यम् , **जीवसमासादौ** अभावलक्षणाऽन्तरस्य प्रतिपादितत्वात् , **अक्षराणि त्वेवम्**-

"पल्लासंखियभाग सासणमिस्सासमत्तमणुएसु । वासपुहुत्त उवसामएसु खवगेसु छम्मासा ॥१॥
आहारमिस्सजोगे वासपुहुत्त विउव्विमिस्सेसु । बारस हु ति मुहुत्ता सव्वेसु जहण्णओ समओ ॥२॥
सेवट्ठी चुलसीई वाससहस्साइ छेयपरिहारे । अवर परमुदहीण अट्ठारसकोडिकोडीओ ॥३॥" इति ।

इह **जीवसमास** उपशमकानां क्षपकाणां चा-ऽन्तरं प्रतिपादितम्, तेन सूक्ष्मसम्परायसंयमस्याऽन्तरमभिव्यज्यते, क्षपकोपशमकयोरन्यतरेणैव सूक्ष्मसम्परायसंयमस्य लाभात् । प्रोक्तमार्गणासु भङ्गभावना तु सुगमा। तथाहि-मार्गणाया अन्तरकालाभावे यदैको जीवो भवेत् प्रोक्तमार्गणासु, तदा ज्ञानावरणादीनामेको बन्धको लभ्यत इति प्रथमभङ्गः, यदाऽनेके जीवा लभ्यन्ते, तदा ते सर्वे बन्धकाः, प्रोक्तमार्गणास्वायुर्वर्जकर्मणामबन्धकाना सर्वथाऽभावात् । तेन तृतीयभङ्गो घटते । इहायुर्वर्जानि स्वप्रायोग्यकर्माणि सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयं विना षट् , शेषासु पुनः सप्त ।

'**सयमुज्झो**' इत्यादि, 'परिहारच्छेदयोः' परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणाया च स्वयम् 'ऊह्यः' विशिष्टश्रुतज्ञानबलेन तर्कनीयो भङ्गविचयः । इदमुक्तं भवति-यद्युक्तयोर्द्वयोर्मार्गणयोरपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणावद् जघन्यत एको जीवो लभ्येत, तदाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणावदत्राऽपि स्याद् भङ्गद्वयम् , किन्तु **व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिसूत्रेषु** छेदोपस्थापनीयसंयता जघन्यतः कोटिशतपृथक्त्वप्रमाणा भवन्तीति प्रतिपादितम् , तथा चाऽत्र श्री**व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्**

'छेदोवट्ठावणिया पुच्छा, गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि, जइ अत्थि जहन्नेण एक्को दो वा तिन्नि वा उक्कोसेण सयपुहुत्त पुव्वपडिवन्नए सिय अत्थि, सिय नत्थि, जइ अत्थि, जहन्नेण कोडिसयपुहुत्त उक्कोसेण विकोडिसयपुहुत्त ।" इति । **तद्वृत्तिकारास्तु** श्रुतिबलेन तादृशसयतानां विंशतिं प्रतिपादयन्ति । तथा च **तद्ग्रन्थः**-दुष्षमान्ते भरतादिषु दशसु क्षेत्रेषु प्रत्येक तद्द्वयस्य भावाद्विंशतिरेव तेषा श्रूयते ।" इति । **अन्ये तु मालावृत्तिकाराः पाठकरामवि [ ]दयः प्राहुः**-
छेदोपस्थापनीय तु प्रथमचतुर्विंशतितमजिनतीर्थे तु नियमत आदर्तव्य । पूर्वगृहीतचारित्रस्य विशेषोद्योतनार्थम-

थवा मूलगुणभङ्गे पुनर्महाव्रतारोपणम्, एतत्तु सर्वजिनतीर्थेषु प्राप्यते ।" इति । तथा परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां कैश्चित् सूरीश्वरपादैर्जघन्येन शतशो जीवाः प्रतिपादिताः, यदुक्तं श्रीपञ्चवस्तुप्रकरणे–उक्कोसजहण्णेण सयसो च्चिय पुव्वपडिवण्णा । " इति । श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तौ तु 'परिहारविशुद्धिया जहा पुलागा । " इत्यनेनाऽतिदेशेन जघन्यत एकः परिहारविशुद्धिकः प्रतिपादितः । तदेवं परिमाणविसंवादाद् भङ्गविचयं निरूपयितुं न शक्नोति, अतः कथितं मूलगाथायां "स्वयमुज्झो" इति । न च तत्तन्मतानुसारेण सम्भवतो भङ्गान् दर्शयितुं कथं न शक्नुयात् ? इति वाच्यम्, यत एतेषां परस्परविसंवादिप्रतिपादनानां भिन्नभिन्नमताश्रितत्वं समस्ति, उत विवक्षाविशेषावलम्बितत्वमिति न केनचिद् बहुश्रुतेन पूर्वसूरिणा निश्चितम्, तथा चोक्तं श्रीमदभयदेवसूरिपादैः–इहोत्कृष्ट छेदोपस्थापनीयसंयतपरिमाणमादितीर्थकरतीर्थान्याश्रित्य सम्भवति । जघन्य तु सम्यग् नावगम्यते ।" इति । एवं परिहारविशुद्धिकेऽपि ग्रन्थान्तरसंवादो बोध्यः । तेनोक्तमार्गणाद्वयेऽपि भङ्गा विशिष्टश्रुतबलेन जघन्यपरिमाणमवधार्य विचारणीयाः ॥१५१-५३॥

अथ मनोयोगादिदशमार्गणासु भङ्गानाविश्चिकीर्षुराह–

तिमणवयणकायेसुं ओरालम्मि सुइलाअ आहारे ।
छण्हं अट्ठमभंगो तइअस्स भवे तइअभंगो ॥ १५४॥

(प्रे०) 'तिमण०' इत्यादि 'त्रिमनोवचनकायेषु' मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगेषु, एवं त्रिषु वचनयोगेषु 'काये' काययोगसामान्ये 'औदारिके' औदारिककाययोगमार्गणायां 'शुक्लायां' शुक्ललेश्यामार्गणायाम् 'आहारे' आहारकमार्गणायां 'षण्णां' वेदनीयायुषोर्वक्ष्यमाणत्वाद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण मोहनीय-नाम-गोत्रा ऽन्तरायाणाम् 'अष्टमभङ्गः' अनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवंरूपोऽष्टमो विकल्पः, कथम् ? इति चेत्, उच्यते–कथितदशमार्गणासु सार्वकालिकानां मिथ्यादृष्ट्यादीनां प्रवेशेन तेषां च ज्ञानावरणादिबन्धकत्वेन, तथा सार्वकालिकानां सयोगिकेवलिनामपि प्रवेशेन तेषां च तदबन्धकत्वेन ज्ञानावरणादीनां षण्णां बन्धका अबन्धकाश्च सर्वदा लभ्यन्ते । 'तइयस्स' इत्यादि 'तृतीयस्य' मनोयोगसामान्यादिषु दशसु मार्गणासु वेदनीयस्य 'तृतीयभङ्गः' सर्वे बन्धका इत्येवंरूपस्तृतीयो विकल्पः, कुतः ? इति चेत्, उच्यते–उक्तमार्गणासु वेदनीयस्य सर्वे बन्धका इति **स्वामित्वद्वारे** प्ररूपितम्, तेन तत्र वेदनीयस्याऽबन्धका न भवन्ति, तथा प्रोक्तमार्गणा नानाजीवाश्रिताः सार्वकालिक्यः, वेदनीयबन्धकाश्च तत्र निरन्तरं भवन्ति, तेन मनोयोगादिदशमार्गणासु सर्वे बन्धका इत्येक एव तृतीय भङ्गो लभ्यते ॥१५४॥

सम्प्रति मध्यममनोयोगादिषु भङ्गान् विचिचीषुराह–

दुमणवयउरलमीसगकम्मणचउणाणदंसणतिगेसुं ।
सण्णिम्मि य छण्ह तइअसत्तमअट्ठमविगप्पा-ऽत्थि ॥ १५५॥

तइअस्स तइअभंगो गयवेअम्मि तइअस्स विण्णेयो ।
अट्ठमभंगो छण्हं चउत्थछट्ठऽट्ठमविगप्पा ॥१५६॥

(प्रे०) 'दुमण०' इत्यादि, 'द्विमनोवचऔदारिकमिश्रकार्मणचतुर्ज्ञानदर्शनत्रिकेषु' द्वयोर्मध्यमयोर्मनोयोगयोर्वचनयोगयोश्चौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणकाययोगमार्गणायां चतुर्ज्ञानेषु =केवलज्ञानस्य वक्ष्यमाणत्वाद् मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञानरूपासु चतसृषु मार्गणासु दर्शनत्रिके=केवलदर्शनस्य वक्ष्यमाणत्वात् चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनलक्षणे 'सञ्ज्ञिनि' सञ्ज्ञिमार्गणायां च 'षण्णा' वेदनीयायुषोरभिधास्यमानत्वाद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम गोत्रा-ऽन्तरायरूपाणां कर्मणां 'तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमविकल्पाः 'सन्ति' सर्वे बन्धका इत्येवरूपस्तृतीयो भङ्गः, अनेके बन्धका एकश्चा-ऽबन्धक इत्येवलक्षणः सप्तमो भङ्गः, अनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवरूपो-ऽष्टमो भङ्ग इत्येते त्रयो भङ्गा भवन्ति, कथम् ? इति चेद्, उच्यते– कार्मणकाययोगौदारिकमिश्र-वर्जासु प्रोक्तद्वादशमार्गणासु क्षपकश्रेणिमुपशमश्रेणिं वा प्रतिपद्यमानानां जीवानामेवा-ऽबन्धकत्वेन लाभात् षण्णामबन्धका असार्वकालिकाः, तथा कार्मणकाययोगमार्गणायामौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां च वेदनीयायुर्वर्जानां कर्मणामबन्धकाः केवलिसमुद्घातमापन्नाः सयोगिकेवलिनो भवन्ति, ते चाऽसार्वकालिकाः, नानाजीवाश्रितकेवलिसमुद्घाताऽन्तरस्या-ऽप्युपलम्भात् । बन्धकास्तु नियमेन सर्वदा भवन्ति, उक्तमार्गणानां नित्यत्वाद् मध्यममनोयोगादिषु च मिथ्यादृष्ट्यादीनां बन्धकत्वेन लाभात् । तेन क्षपकश्रेण्युपशमश्रेण्योरन्यतरस्याऽभावकाले सत्यामपि वा श्रेणौ प्रोक्तकर्मणां बन्धोच्छेदतः प्राक्तनकाले कार्मणौदारिकमिश्रवर्जासु मध्यममनोयोगादिद्वादशमार्गणासु वेदनीयायुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां षट्कर्मणा सर्वे बन्धका इत्येवंरूपस्तृतीयभङ्गो लभ्यते, यदैकजीव उपशमश्रेणौ क्षपकश्रेणौ वा कथितषट्कर्मणां बन्धं व्यवच्छेद्य वर्तते, तदा प्रोक्तद्वादशमार्गणास्वनेके बन्धका एकश्चा-ऽबन्धक इत्येवरूपः सप्तमो भङ्गः प्राप्यते । यदा पुनरुपशमश्रेणौ क्षपकश्रेणौ वा ज्ञानावरणादीनां बन्धं व्यवच्छेद्याऽनेके जीवा अवतिष्ठन्ते, तदा प्रोक्तद्वादशमार्गणासु ज्ञानावरणादीनां षण्णामनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवंलक्षणो-ऽष्टमो भङ्गः प्राप्यते । तथा यदैकोऽपि जीवः केवलिसमुद्घातमापन्न औदारिकमिश्रकाययोगे न तिष्ठति, तदौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां ज्ञानावरणादीनां षण्णामनेके बन्धका इत्येवंरूपस्तृतीयो भङ्गः प्राप्यते, यदैकजीवः केवलिसमुद्घातमधिगत औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां विद्यते, तदाऽनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक इत्येवंलक्षणः सप्तमो भङ्गः, यदा तु बहवः केवलिसमुद्घातं प्रतिपन्ना औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां वर्तन्ते, तदाऽनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवंरूपोऽष्टमो भङ्गः प्राप्यते । एवं कार्मणकाययोगमार्गणायामपि त्रयो भङ्गा भावनीयाः ।

अथ मध्यममनोयोगादिमार्गणासु वेदनीयस्य भङ्गानभिधातुकाम आह–'**तइअस्स**' इत्यादि, 'तृतीयस्य' मध्यममनोयोगादिषु चतुर्दशसु मार्गणासु वेदनीयस्य 'तृतीयो भङ्गः' सर्वे बन्धका इत्येवरूपस्तृतीयविकल्पो भवति, प्रोक्तमार्गणासु तद्बन्धकानां नित्यत्वात् **स्वामित्वद्वारे** च सर्वे बन्धका इति कथनेनाऽबन्धकाभावोपलम्भात् ।

अथाऽपगतवेदमार्गणायां प्रस्तुतं भावयितुकामः प्राह–'**गयवेअम्मि**' इत्यादि, 'गतवेदे' अपगतवेदमार्गणाया 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणः 'अष्टमभङ्गः' अनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवंलक्षणोऽष्टमो विकल्पो 'विज्ञेयः' बोद्धव्यः, अपगतवेदमार्गणाया सयोगिकेवलिनामपि वेदनीय-बन्धकत्वेन बन्धकाना ध्रुवत्वात् सिद्धाना चा-ऽबन्धकत्वेना-ऽबन्धकानामपि सार्वकालिकत्वात् ।

'छण्ह' इत्यादि, 'षण्णाम्' अपगतवेदमार्गणायां वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणां 'चतुर्थ-षष्ठा ऽष्टमविकल्पाः' सर्वेऽबन्धका इत्येवरूपश्चतुर्थो भङ्गः, एको बन्धको-ऽनेके चा ऽबन्धका इत्येवं-लक्षणः षष्ठो भङ्गः, अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवरूपोऽष्टमो भङ्गश्चेत्येते त्रयो भङ्गा भवन्ति, अपगतवेदमार्गणायां श्रेणिवर्तिनामेव ज्ञानावरणादिबन्धकत्वेन बन्धकानां कादाचित्कत्वात् सिद्धानां चा-ऽबन्धकत्वेना-ऽबन्धकानां ध्रुवत्वात् । इदमत्र हृदयम्–अपगतवेदमार्गणायां ज्ञाना-वरणादीनां षण्णां कर्मणां बन्धकाः क्षपकश्रेणिमुपशमश्रेणिं वा समारूढा जीवाः प्रतिनियतकाल एव भवन्ति, क्षपकश्रेण्युपशमश्रेण्योरन्तरस्य प्रतिपादितत्वात् । तेना-ऽपगतवेदमार्गणायां ज्ञाना-वरणादीनां बन्धका अध्रुवाः, तथा-ऽपगतवेदमार्गणाया ज्ञानावरणादीनामबन्धकास्तु सयोगिकेवलिनः सिद्धाश्चाऽपि भवन्ति, ते च सार्वकालिकाः । तेन श्रेणिशून्यकाले श्रेणौ वा सत्यामपि प्रोक्त-कर्मणा बन्धोच्छेदस्योपरितनकाले ज्ञानावरणादीनां सर्वेऽबन्धका इत्येवंरूपश्चतुर्थो भङ्गो लभ्यते । यदा श्रेणौ ज्ञानावरणादीना षण्णां बन्ध कुर्वन्नेको जीवो विद्यते, तदा ज्ञानावरणादीना-मेको बन्धकोऽनेके चा-ऽबन्धका इत्येवरूपः षष्ठो भङ्गः प्राप्यते, यदा श्रेणौ वेदनीयायुर्वर्जाना ज्ञानावरणादीनां बन्ध निर्वर्तयन्तोऽनेके जीवा अवतिष्ठन्ते, तदा ज्ञानावरणादीनामनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवलक्षणोऽष्टमो भङ्गो लभ्यते ॥१५५,१५६॥

सम्प्रति लोभमार्गणाया सप्तकर्मणां भङ्गानभिधित्सुराह—

मोहाउगवज्जाणं लोहे छण्हं भवे तइअभंगो ।
मोहस्स तइअसत्तमअट्ठमभंगा मुणेयव्वा ॥१५७॥

(प्रे०) '**मोहाउगवज्जाणं**' इत्यादि, लोभे' लोभमार्गणाया 'मोहायुष्कवर्जाना' मोहनी-येनाऽऽयुष्केण च रहिताना 'षण्णा' ज्ञानावरण दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणा 'तृतीय-भङ्गः' सर्वे बन्धका इत्येवरूपस्तृतीयो भङ्गो भवेत्, लोभमार्गणायामुक्तकर्मबन्धकाना नित्यत्वात् स्वामित्वद्वारे च लोभमार्गणाया षट्कर्मणा सर्वे बन्धका इत्यनेनार्थतो-ऽबन्धकाऽभावप्रतिपादनात् ।

'मोहस्स' इत्यादि, 'मोहस्य लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणः 'तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमभङ्गाः' सर्वे बन्धका इत्येवंरूपस्तृतीयो भङ्गः,अनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक इत्येवंरूपः सप्तमो भङ्गः, अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवंलक्षणोऽष्टमो भङ्गश्चेत्येते त्रयो भङ्गाः 'ज्ञातव्याः' बोद्धव्याः, अस्यां मार्गणायां सूक्ष्मसम्परायाणां जीवाना मोहनीयाऽबन्धकत्वेनाऽबन्धकाना कादाचित्कत्वात् । अयं भावः—लोभमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धका मिथ्यादृष्ट्यादयः सर्वदा लभ्यन्ते, अबन्धकास्तु क्षपकश्रेणौ उपशमश्रेणौ वा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकवर्तिनो जीवा भवन्ति, ते चाऽनित्याः, श्रेण्यन्तरोपलम्भात् । तेन श्रेणिशून्यकाले श्रेणिकाले च सूक्ष्मसम्परायस्याधस्तने काले लोभमार्गणायां सर्वे बन्धका इत्येवंरूपस्तृतीयो भङ्गो लभ्यते, यदा श्रेणिकाले सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक एको जीवो-ऽवतिष्ठते, तदा लोभमार्गणायां मोहनीयस्या-ऽनेके बन्धका एकश्चा-ऽबन्धक इत्येवंरूपः सप्तमो भङ्गः प्राप्यते । यदा श्रेणिकाले सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके-ऽनेके जीवा विद्यन्ते, तदा लोभमार्गणाया मोहनीयस्या-ऽनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवंरूपो-ऽष्टमो भङ्ग आसाद्यते ॥१५७॥

सम्प्रत्यकषायादिचतुर्मार्गणासु भङ्गान् प्रतिपिपादयिषुराह—

तइअस्स अट्ठमो खलु भंगो अकसायकेवलदुगेसुं ।
होअन्ति तइअसत्तमअट्ठमभंगा अहक्खाये ॥१५८॥

(प्रे०) **'तइअस्स'** इत्यादि, 'अकषायकेवलद्विकयोः' अकषायमार्गणायां केवलद्विके=केवलज्ञान केवलदर्शनरूपे च 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य 'अष्टमः खलु भङ्गः' खलुर्वाक्यालङ्कारे, अनेके बन्धका अनेके चा ऽबन्धका इत्येवंलक्षणोऽष्टमभङ्गो भवति, कुतः ? इति चेत् ? उच्यते—प्रोक्तमार्गणासु वेदनीयस्य बन्धकाः सयोगिकेवलिनः सार्वकालिकाः, अबन्धकास्त्वयोगिकेवलिनस्तथा सिद्धाः, तत्र सिद्धाः सार्वकालिकाः, तेनोक्तमार्गणात्रये वेदनीयस्या-ऽष्टमो भङ्गो लभ्यते ।

सम्प्रति यथाख्यातसयममार्गणाया प्रस्तुत भावयितुकाम आह—**'होअन्ति'** इत्यादि, 'यथाख्याते' यथाख्यातसयममार्गणाया 'तृतीयसप्तमा-ऽष्टमभङ्गाः' तृतीयशब्दस्याऽत्राऽपि योजनाद् वेदनीयस्य सर्वे बन्धका इत्येवंरूपस्तृतीयो भङ्गः, अनेके बन्धका एकश्चा-ऽबन्धक इत्येवंस्वरूपः सप्तमो भङ्गः, अनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवंलक्षणोऽष्टमो भङ्गश्चेत्येते त्रयो भङ्गा भवन्ति, सयोगिकेवलिनामपि वेदनीयबन्धकत्वेन प्रोक्तमार्गणासु बन्धकाना ध्रुवत्वात् , अयोगिकेवलिनां चा-ऽबन्धकत्वेनाऽबन्धकानामध्रुवत्वात् । भावना तु मनुष्यगतिमार्गणाया वेदनीयस्य भङ्गानां यथा कृता, तथा कर्तव्या, विशेषाभावात् ॥१५८॥

सम्प्रति शेषासु सम्यक्त्वादिमार्गणासु सप्तकर्मणां भङ्गान् विचिन्वानो भणति—

सत्तण्ह-ऽट्ठमभंगो सम्मत्तम्मि खइए अणाहारे ।
भंगा अट्ठ उवसमे णेया वेआउवज्जाणं ॥१५९॥

पढमतइआ विगप्पा तइयस्स दुवीससंजुअसयम्मि ।
सेसासु मग्गणासु सत्तण्ह भवे तइअभंगो ॥१६०॥

(प्रे०) '**सत्तण्ह**' इत्यादि, 'सम्यक्त्वे' सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां 'क्षायिके' क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायाम् 'अनाहारे' अनाहारकमार्गणायां च 'सप्तानाम्' आयुर्वर्जाना ज्ञानावरणादिकर्मणाम् 'अष्टमभङ्गः' अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवंरूपो-ऽष्टमो भङ्गः, तथाहि—सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वाऽनाहारकमार्गणा नानाजीवाश्रिताः सार्वकालिक्यः, तासु च तिसृषु मार्गणासु ज्ञानावरणादीनां बन्धकाः सर्वदा लभ्यन्ते, तथा सिद्धानामपि तत्र प्रवेशात् तेषां च ज्ञानावरणाद्यबन्धकत्वादबन्धका अपि सर्वदा लभ्यन्ते । तेन सप्तकर्मणामनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवलक्षणोऽष्टमो भङ्गो लभ्यते ।

'**भंगा**' इत्यादि, 'उपशमे' औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां 'वेद्यायुर्वर्जानां' वेदनीयमायुष्कं चाऽन्तरेण शेषाणा ज्ञानावरण-दर्शनावरण मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामित्यर्थः, 'भङ्गा अष्टौ' द्वारस्यादौ निरूपितस्वरूपा अष्टसख्यका भङ्गाः 'ज्ञेयाः' बोध्याः, मार्गणाया अनित्यत्वे सति बन्धका-ऽबन्धकानामुभयेषामप्यध्रुवत्वात् । इदमुक्तं भवति—औपशमिकसम्यक्त्व द्विधा प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वं श्रेणिगत चेति । द्विविधमप्यौपशमिकसम्यक्त्वं नानाजीवानाश्रित्या-ऽसार्वकालिकम् , नानाजीवापेक्षया-ऽन्तरस्योपलम्भात् । तत्र प्रथमौपशमिकसम्यक्त्व भजमानो जीवः सप्ता-ऽपि कर्माणि बध्नाति, श्रेणिगतौपशमिकसम्यक्त्वं प्राप्तो जीवस्त्वनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमय यावद् मोहनीयं सूक्ष्मसम्परायचरमसमय च यावद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायकर्माणि बध्नाति, परतस्तु न बध्नाति । तदेव श्रेण्यपेक्षयौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामबन्धका अनित्याः । तत्र यदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामेकजीवो ज्ञानावरणादीनां षण्णां बन्धविच्छेदस्याऽधस्ताद् वर्तते, तदा ज्ञानावरणादीना षण्णामेको बन्धक इत्येवंरूपः प्रथमभङ्गो लभ्यते, यदा त्वौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां बन्धविच्छेदस्योपरि अर्थात् मोहनीयबन्धविच्छेदस्योपरि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक उपशान्तमोहगुणस्थानके वा, ज्ञानावरणादीनां च पञ्चानां बन्धविच्छेदस्योपयुपशान्तमोहगुणस्थानक एक एव जीवोऽवतिष्ठते,तदा षण्णामेको-ऽबन्धक इत्येवरूपो द्वितीयभङ्गो लभ्यते, यदि पुनरनेकेऽवतिष्ठेरन् , तदा षण्णा सर्वे ऽबन्धका इत्येवंरूपश्चतुर्थभङ्गो लभ्यते । यदा कर्मषट्कबन्धविच्छेदस्या-ऽधस्तादौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामनेके जीवा अवतिष्ठन्ते, तदा ज्ञानावरणादीना षण्णामनेके बन्धका इत्येवंलक्षणस्तृतीयो भङ्गः प्राप्यते । यदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया षण्णां बन्धविच्छेदस्थानस्या-ऽधस्तादेको जीवो-ऽवतिष्ठते, एकश्च श्रेणौ षण्णा बन्धविच्छेदस्थानस्योपरि तिष्ठति, तदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया षण्णामेको बन्धक एकश्चा-ऽबन्धक इत्येवलक्षणः पञ्चमो भङ्ग आसाद्यते, यदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया षण्णां बन्धविच्छेदस्थानस्याऽधस्तादेको जीवोऽवतिष्ठते, उपशमश्रेणौ च बन्ध-

विच्छेदस्थानस्योपर्यनेके तिष्ठन्ति, तदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां षण्णामेको बन्धकोऽनेके चाऽबन्धका इत्येवंरूपः षष्ठो भङ्गो लभ्यते । यदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां षट्कर्मणां बन्धविच्छेदस्थानस्याऽधस्तादनेके जीवा अवतिष्ठन्ते, उपरि चोपशमश्रेण्यां एकः जीवो वर्तते, तदा षण्णामनेके बन्धका एकश्च चाऽबन्धक इत्येवंरूपः सप्तमो भङ्गो लभ्यते । यदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया षण्णां बन्धविच्छेदस्थानस्या-ऽधस्तादनेके जीवा अवतिष्ठन्ते, बन्धविच्छेदस्थानस्य चोपर्यप्यनेके जीवा अवतिष्ठन्ते, तदा षण्णामनेके बन्धका अनेके चा ऽबन्धका इत्येवलक्षणो-ऽष्टमो भङ्गो लभ्यते ।

'पढम०' इत्यादि, 'तृतीयस्य' औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया वेदनीयकर्मणः 'प्रथमतृतीयौ विकल्पौ' एको बन्धक इत्येवंलक्षणः प्रथमः, सर्वे बन्धका इत्येवरूपश्च तृतीयो भङ्गः, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां बन्धकानामनित्यात् सर्वथाऽबन्धकाभावोपलम्भाच्च, भावना तु सुगमा ।

'दुवीस०' इत्यादि, द्वाविंशतिसंयुतशते' द्वाविंशत्यधिकशतसंख्याकासु 'शेषासु मार्गणासु' उक्तोद्धरितमार्गणासु 'सप्तानाम्' आयुषो वक्ष्यमाणत्वादायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां 'तृतीयभङ्गः' सर्वे बन्धका इत्येवंरूपस्तृतीयो विकल्पो 'भवेत्' स्यात् , प्रोक्तमार्गणासु बन्धकानां नित्यत्वात् , अबन्धकाऽनुपलम्भाच्च । एतदुक्तं भवति–द्वाविंशत्युत्तरशतमार्गणा नानाजीवानाश्रित्य सार्वकालिक्यो भवन्ति, तथा तासु सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहादिगुणस्थानप्राप्त्यभावाद् ज्ञानावरणादीनां बन्धविच्छेदो नोपलभ्यते, बन्धस्तु नित्यं प्रवर्तते, तेन नानाजीवानाश्रित्य द्वाविंशत्याधिकशतमार्गणासु सर्वदा-ऽनेके सप्तकर्मणां बन्धकाः प्राप्यन्ते, अबन्धकस्त्वेको-ऽपि न लभ्यते, बन्धविच्छेदा-ऽदर्शनात् । तेन सर्वे बन्धका इत्येवरूपस्तृतीयो भङ्गः प्राप्यते । शेषमार्गणा नामतइमाः–अष्टौ नरकभेदाः, पञ्च तिर्यग्भेदाः, त्रिंशद् देवभेदाः, पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियभेदाः, त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जाश्चत्वारिंशत्कायभेदाः, वैक्रियकाययोगमार्गणा, स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः, क्रोधमानमायाकषायाः, अज्ञानत्रिकं सामायिकसंयम-देशविरता-ऽविरतमार्गणाः शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्चकम् ,अभव्यमार्गणा क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं मिथ्यात्वमसञ्ज्ञिमार्गणा चेति ॥१५९,१६०॥

सम्प्रत्यायुषो भङ्गान् विचिचीषुराह–

सव्वणिरयपंचिंदियतिरियतिणरसव्वदेवविगलेसु ।
सव्वपणिंदियपज्जगबायरपुढवाइचउगेसु ॥१६१॥
पज्जत्तगपत्तेए तितसपणमणवयविउवपुमथीसु ।
चउणाणविभंगेसु संजमसामइअदेसेसु ॥१६२॥
णयणावहिसुहलेसासम्मखइअवेअगेसु सण्णिम्मि ।
आउस्स जाणियव्वा चउत्थ-छट्ठ-ऽट्ठमा भंगा ॥१६३॥

(प्रे०) 'सव्वणिरय०' इत्यादि, 'सर्वनिरयपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिनरसर्वदेवविकलेषु' सर्व-शब्दस्य द्वाभ्यां सहा-ऽभिसम्बन्धात् सर्वनिरयेषु=अष्टसु नरकभेदेषु सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु=पञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्सामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमतीरूपेषु चतुर्षु मार्गणास्थानेषु त्रिनरेषु=मनुष्यसामान्य पर्याप्तमनुष्य मानुषीलक्षणेषु सर्वदेवेषु=त्रिंशति देवभेदेषु सर्वविकलेषु=द्वीन्द्रियसामान्य-पर्याप्तद्वीन्द्रिया ऽपर्याप्तद्वीन्द्रियरूपासु तिसृषु मार्गणासु, एवं तिसृषु त्रीन्द्रियमार्गणासु तिसृषु च चतुरिन्द्रियमार्गणासु 'सर्वपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकबादरपृथिव्यादिचतु-ष्केषु' सर्वशब्दस्यैकेन सहैव सम्बन्धात् सर्वपञ्चेन्द्रियेषु=पञ्चेन्द्रियसामान्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तकबादरपृथिव्यादिचतुष्के=पर्याप्तबादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादराप्काय-पर्या-प्तबादरतेजःकाय-पर्याप्तबादरवायुकायलक्षणेषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु 'पर्याप्तप्रत्येके' पर्याप्तप्रत्येकशरीर-वनस्पतिकायमार्गणाया 'त्रित्रसपञ्चमनोवचोवैक्रियपुंस्त्रीषु' त्रित्रसेषु=त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकाया-ऽपर्याप्तत्रसकायलक्षणेषु मार्गणाभेदेषु, पञ्चशब्दस्य द्वाभ्या सहाऽभिसम्बन्धात् पञ्चमनस्सु=पञ्च-मनोयोगेषु पञ्चवचस्सु=पञ्चवचनयोगेषु वैक्रिये=वैक्रियकाययोगमार्गणायां पुंसि=पुरुषवेदमार्ग-णायां स्त्रियां=स्त्रीवेदमार्गणाया च 'चतुर्ज्ञानविभङ्गेषु' केवलज्ञानमार्गणायामायुर्बन्धाभावाद् मति-श्रुता-ऽवधिमनःपर्यवज्ञानेषु विभङ्गज्ञानमार्गणायां च 'संयमसामायिकदेशेषु' संयमसामान्य-सामा-यिकसंयम-देशविरतलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु 'नयना-ऽवधिशुभलेश्यासम्यक्त्वक्षायिकवेदकेषु' नयने=चक्षुर्दर्शनमार्गणायाम् , अवधौ=अवधिज्ञानस्य चतुर्ज्ञानपदेनोक्तत्वाद् अवधिदर्शनमार्गणायां शुभलेश्यासु=तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्यारूपासु तिसृषु मार्गणासु सम्यक्त्वे=सम्यक्त्वसामान्य-मार्गणायां क्षायिके=क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां वेदके=क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया च 'सञ्ज्ञिनि' सञ्ज्ञिमार्गणाया च सर्वसङ्ख्यया पञ्चनवतिमार्गणासु (९५) 'आयुषः' आयुष्कर्मणः 'चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमा भङ्गाः' सर्वे-ऽबन्धका इत्येवरूपश्चतुर्थो भङ्गः, एको बन्धको ऽनेके चा-ऽबन्धका इत्येवं-लक्षणः षष्ठो भङ्गः, अनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवरूपश्चा ऽष्टमो भङ्ग इत्येते त्रयो भङ्गा 'ज्ञातव्याः' बोद्धव्याः, प्रोक्तमार्गणासु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायुकायानां सूक्ष्म-बादरपर्याप्ताऽपर्याप्तनिगोदानामपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायिकाना च जीवानामप्रवेशेनाऽयुर्बन्धार्ह-जीवानामसङ्ख्येयलोकराशितो हीनत्वेन बन्धकानामध्रुवत्वात् । इदमत्र हृदयम्—नानाजीवापेक्षया कथितपञ्चनवतिमार्गणाः सार्वकालिक्यः, तास्वायुर्बन्धार्हजीवाश्चाऽसङ्ख्येयलोकराशितो हीनाः, तेनाऽऽयुषो बन्धका नानाजीवापेक्षया कादाचित्काः, अबन्धकास्त्वसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितो हीनेषु सत्स्वपि ध्रुवाः. । तेन यदा नानाजीवापेक्षया बन्धस्यान्तर प्राप्यते, तदाऽऽयुषः सर्वेऽ-बन्धकाः, अबन्धकानां ध्रुवत्वादित्येवरूपश्चतुर्थो भङ्गः, अन्तराभावे यदाऽऽयुष एको बन्धको भवति, तदाऽऽयुष एको बन्धको-ऽनेके चा-ऽबन्धका इत्येवस्वरूपः षष्ठो भङ्गः, यदाऽनेके बन्धका वर्तन्ते, तदाऽयुषो ऽनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवलक्षणोऽष्टमो भङ्गः प्राप्यते ॥१६३॥

सम्प्रत्यष्टाषष्टिमार्गणास्वायुषो भङ्गान् विचिन्वान आह—

भंगाऽट्ठ अपज्जणरे आहारदुगे य सासणे णेया ।
छेए परिहारे सयमण्णासुं अट्ठमो भंगो ॥१६४॥

(प्रे०) 'भंगाऽट्ठ' इत्यादि, अपर्याप्तनरादिमार्गणास्वष्टौ भङ्गा इति संक्षेपार्थः । विस्तरतः पुनः अपर्याप्तनरे=अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायाम् 'आहारकद्विके' आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-लक्षणे सास्वादने=सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायाम् अष्टौ=अष्टसंख्याका भङ्गा भवन्ति, प्रोक्तमार्गणानामनित्यत्वे सति बन्धकाऽबन्धकानामुभयेषां कादाचित्कत्वात् । भावना तु सुगमा । तथाहि—मार्गणानामनित्यत्वात् कदाचिदेको जीवो भणितमार्गणासु लभ्यते, कदाचिदनेके, मार्गणानामन्तरकाले त्वेकोऽपि जीवो न लभ्यते । तत्र यदाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वेकजीव उपलभ्यते, असौ पुनर्यद्यायुर्बध्नाति, तर्ह्येको बन्धक इत्येवंलक्षणः प्रथमो भङ्गः प्राप्यते । यद्यसौ आयुर्बन्धं न करोति, तर्ह्येको-ऽबन्धक इत्येवंरूपो द्वितीयभङ्गः प्राप्यते । यदा-ऽनेके जीवा लभ्यन्ते, ते च आयुर्बन्धं यदि निर्वर्तयेरन् , तदा तृतीयभङ्गः, यदि तेषामेकतमोऽप्यायुर्बन्धं न निष्पादयेत् , तदा चतुर्थभङ्गः, यद्येक आयुर्बन्धं निष्पादयति, अन्ये तु न, तदा षष्ठभङ्गः, यद्यनेके निष्पादयन्ति, एकश्च न, तदा सप्तमभङ्गः, यदा-ऽनेक आयुर्बन्धं कुर्वन्ति, अनेके च न कुर्वन्ति, तदा-ऽष्टमो भङ्गः । यदोक्तमार्गणासु प्रत्येकं द्वा एव जीवौ भवतः, एकश्च आयुर्बन्धकः, अन्यश्चा-ऽबन्धकः, तदा पञ्चमो भङ्गः ।

'छेए' इत्यादि, 'छेदे' छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां 'परिहारे' परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणया चायुषो भङ्गविचयः स्वयमूह्य इत्युपस्कारः, सप्तकर्मभङ्गविचयावसरे दर्शितभिन्नभिन्नबन्धकपरिमाणानुसारेण विशिष्टश्रुतबलात् स्वयं तर्कनीया भङ्गा इत्यर्थः ।

'अन्यासु' उक्तोद्धरितासु द्वाषष्टिमार्गणास्वायुषः 'अष्टमो भङ्गः' अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवंलक्षणः, तासु मार्गणासु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्माऽपर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायुकायानां सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायानाञ्चान्यतमस्य प्रवेशेना-ऽसंख्येयलोकराशिन आयुर्बन्धार्हाणां जीवानां हीनत्वाभावेनाऽऽयुषो बन्धकाऽबन्धकानां सार्वकालिकत्वात् । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणा, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तबादरपृथिवीकायवर्जाः षट् पृथिवीकायभेदाः, एवं षडप्कायभेदाः, षट् तेजःकायभेदाः, षड् वायुकायभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायवर्जा दशवनस्पतिकायभेदाः, काययोगसामान्यौदारिककाययोगतन्मिश्रकाययोगरूपास्तिस्रो मार्गणाः, नपुंसकवेदः, क्रोधमानमायालोभाः, मत्यज्ञानश्रुताज्ञाने, अविरतमार्गणा, अचक्षुर्दर्शनम् , कृष्णलेश्यानीललेश्याकापोतलेश्याः, भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वम् , असंज्ञी, आहारकमार्गणा चेति । तदेवं गतं भङ्गविचयद्वारम् ॥१६४॥

। इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे सप्तमं भङ्गविचयद्वारं समाप्तम् ॥

सङ्केतसूचि –१=एको बन्धक इति प्रथमभङ्ग । २=एकोऽबन्धक इति द्वितीयभङ्ग ।
इति पञ्चमभङ्ग । ६=एकोबन्धकोऽनेके चाऽबन्धका इति षष्ठभङ्ग ।
ओघतोऽष्टानामपि कर्मणामष्टम एव भङ्ग (गाथा–१५१)

आयुर्वर्जाना सप्ताना भङ्गा	गतिः	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय
वेदनीयस्य ३, ७, ८ शेषाणाम् ८	अपर्याप्तवर्ज-त्रिनरा ३	पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चे-न्द्रियौ २	त्रस-पर्याप्त-त्रसौ २			
आयुर्वर्जानाम् १-३	अपर्याप्तनर० १			वैक्रियमिश्र० आहारकद्विक० ३		
सप्ताना स्वयमूह्या						
वेदनीयस्य ३ षण्णाम् ८				त्रिमनोयोगत्रिवचो-योग० औदा०, काय-योग० ८		
वेदनीयस्य ३, षण्णाम् ३ ७, ८			..	द्विमनोयोगद्विवचन-योग०, औदारिक-मिश्र० कार्मण० ६		
वेदनीयस्य ८, षण्णाम् ४, ६ ८					अपगतवेद १	
मोहस्य ३, ७, ८, षण्णाम् ३						लोभ १
वेदनीयस्य ८						अकषाय १
वेदनीयस्य ३, ७, ८						
सप्तानाम् ८						
वेदनीयस्य १, ३, षण्णाम् २ ३ ४ ५ ६ ७ ८						
सप्तानाम् ३	शेषा ४३	शेषा १७	शेषा ४०	वैक्रिय० १	त्रिवेदा ३	शेषा ३
आयुषो भङ्गा ↓						
४, ६ ८	तिर्यग्गतिसामान्याऽपर्याप्तमनुष्यवर्जा ४५	विकलेन्द्रियादीना सर्वभेदा १२	पर्याप्तबादर पृथिव्यप्तेजोवायव, प० प्रत्येकव०, त्रित्रसा ८	५मनो० ५ वचो०, वैक्रिय० ११	पुरुष० स्त्री० २	
१ २ ३, ४, ५, ६, ७, ८	अपर्याप्तमनुष्य १			आहारकद्विकम्		
स्वयमूह्या				—	..	
८	तिर्यग्गतिसामान्य १	सर्वैकेन्द्रिय-भेदा ७	शेषा ३४	शेषा ३	नपुंसक० १	कषाया ४

३=सर्वे बन्धका इति तृतीयभङ्गः। ४=सर्वेऽबन्धका इति चतुर्थभङ्ग । ५=एको बन्धक एकश्चाऽबन्धक
७=अनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक इति सप्तमभङ्ग । ८=अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्यष्टमभङ्ग ।
(गाथे-१४९,१५०)

ज्ञानम्	संयमः	दर्शनम्	लेश्या	भव्यः	सम्यक्त्वम्	संज्ञी	आहारक	सर्वा	गाथाङ्क
	संयमसा० १	..	...	भव्य १	...		.	९	१५१, १५२
	सूक्ष्मसम्पराय० १	.		..	सास्वादन० मिश्र० २			७	१५२, १५३
..	छेदोप०परिहार० २				.			२	१५३
..			शुक्ला १	...			आहारक० १	१०	१५४
केवलरहितचतुर्ज्ञानानि ४		केवलवर्जत्रिदर्शनानि ३		...	.	संज्ञी १		१४	१५५, १५६
				..			...	१	१५६
			.	.	.		.	१	१५७
केवलज्ञान० १		केवलदर्शन० १		.	..			३	१५८
	यथाख्यात०१			..	...			१	१५८
			.	...	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०२	....	अनाहारक०१	३	१५९
		...	.	...	औपशमिक० १	.		१	१६०
अज्ञानत्रिकम्	शेषा ३		शेषा. ५	अभव्यः १	क्षायोप०, मिथ्यात्व० २	असंज्ञी १		१२२	१६०
					.			..	.
मत्यादिज्ञानानि ४ विभङ्ग० ५	संयमसा०, सामा०, देशविरत० ३	चक्षुर्दर्शनम् ,अवधिदर्शनम् २	शुभलेश्या ३		सम्यक्त्वसा० क्षायिक० क्षायोपश० ३	संज्ञी १	.	९५	१६१-१६३
					सास्वादन०			४	१६४
	छेदोप० परिहार०		...				..	२	१६४
अज्ञानद्विकम्	अविरत० १	अचक्षुर्दर्शन० १	अशुभलेश्या ३	भव्याभव्यौ २	मिथ्यात्व० १	असंज्ञी	आहारक	६२	१६४

॥ अथाऽष्टमं भागद्वारम् ॥

सम्प्रति 'भागो' इत्यनेनोद्दिष्टस्य द्वारस्याऽवसरः । तत्रादौ तावदोघतो बन्धकाऽबन्धकान् भागद्वारेण निरूपयितुकाम आह—

णेया अणंतभागा आउगवज्जाण बन्धगाउस्स ।
संखियभागो सव्वह अबन्धगा होंति अवसेसा ॥ १६५ ॥

(प्रे०) '**णेया**' इत्यादि, तत्र 'आयुष्कवर्जानां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धकाः 'अनन्तभागाः' बहुवचननिर्देशाद् उभयेषां बन्धका-ऽबन्धकानां जीवानां बह्वनन्तभागप्रमिता भवन्तीत्युपस्कारः । कुतः? इति चेत्, उच्यते-आयुष्कवर्जशेषाणां सप्तानां परिमाणप्राधान्यादबन्धकाः सिद्धाः, बन्धकाश्च वनस्पतिकायिकाः, उक्तशेषजीवानामनन्तभागमात्रत्वात् । सिद्धेभ्यश्च वनस्पतिकायिकजीवानामनन्तगुणत्वात् सप्तकर्मणां बन्धका बन्धकाबन्धकजीवानां बह्वनन्तभागप्रमाणा भवन्ति । 'आयुषः' आयुष्कर्मणः 'सख्यभागः' बन्धका-ऽबन्धकानां संख्येयभागप्रमिता बन्धका भवन्ति, परिमाणप्राधान्यादायुषो बन्धका वनस्पतिकायिकाः, वनस्पतिकायिकानां च संख्येयतमभागप्रमिता एवाऽऽयुष्कं बध्नन्ति, वेद्यमानायुषस्त्रिभागावशेषात्प्रागायुर्बन्धाभावात्, यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ**–"तत्र सर्वस्तोका आयुषो बन्धका, अबन्धका सख्येयगुणा, यतोऽनुभूयमानभवायुषि त्रिभागावशेषे पारभविकमायुर्जीवा, बध्नन्ति, त्रिभागत्रिभागाद्यवशेषे वा, ततो द्वौ त्रिभागावबन्धकाल एकस्त्रिभागो बन्धकाल इति बन्धकेभ्योऽबन्धका सख्येयगुणा ।" इति ।

अथाऽबन्धकभागप्ररूपणा चिकीर्षुर्भणति–'**सव्वह**' इत्यादि, 'सर्वस्मिन्' ओघनिरूपणे, सर्वजीवापेक्षया पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् तत्तन्मार्गणागतजीवापेक्षया-ऽऽदेशप्ररूपणे चेत्यर्थः, 'अवशेषाः' उक्तशेषा अबन्धकाः । यथौघप्ररूपणायां सप्तकर्मणां बन्धका बह्वनन्तभागप्रमिताः प्रोक्ताः, तेनाऽवशेषा अनन्तभागप्रमिता अबन्धका भवन्ति, ते च सिद्धराशिप्रधानाः । तथाऽऽयुषो बन्धकाः सख्येयतमभागमात्राः पूर्वमभिहिताः, तेनाऽवशेषा अबन्धका बहुसंख्येयभागप्रमिता भवन्ति । आदेशप्ररूपणायामपि यथा मनुष्यगतिमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धका बह्वसख्येयभागप्रमिता वक्ष्यन्ते, तेनाऽवशेषा अबन्धका असख्येयतमभागप्रमाणा ज्ञातव्यास्तत्र । एवं शेषमार्गणास्वपि तत्तन्मार्गणावर्तिजीवानाश्रित्याऽबन्धका भागप्ररूपणायां यथास्थानं भावनीयाः । सर्वजीवानधिकृत्य भागप्ररूपणायां त्वबन्धका अपि पृथग् वक्ष्यन्ते ॥१६५॥

सम्प्रत्यादेशतो भागद्वारेण बन्धकान् प्ररूपयितुकाम आदौ तावन्मनुष्यगत्यादिमार्गणाः संगृह्य प्राह—

णरदुपणिंदितसेसु सत्तण्हं बंधगा असंखंसा ।
दुमणुस्ससंजमेसु संखियभागा मुणेयव्वा ॥१६६॥

(प्रे०) 'णर०' इत्यादि, 'नरद्विपञ्चेन्द्रियत्रसेषु' द्विकशब्दस्य द्वाभ्यां सहाभिसम्बन्धाद् नरे= मनुष्यगतिमार्गणायां द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः, द्वित्रसयोः= त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायमार्गणयोश्च सर्वसंख्यया पञ्चमार्गणास्थानेषु 'सप्तानाम्' आयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां बन्धका 'असंख्यांशाः' बहुसंख्येयभागमिता भवन्ति, "सव्वह अबन्धगा होंति अवसेसा" इति वचनाद् एका-ऽसंख्येयतमभागप्रमाणा अबन्धका भवन्ति । कुतः ? इति चेत्, उच्यते-प्रोक्तमार्गणासु सर्वसंख्ययाऽसंख्येया जीवा भवन्ति, तथाहि-पर्याप्ता मनुष्याः सख्येया भवन्ति, अपर्याप्तकास्तु जघन्यत एक उत्कृष्टतश्च सूचिश्रेणेरसख्येयभागप्रमाणाः, उक्त च श्रीजीवसमासे- "सखेज्जा पज्जत्ता मणुयाऽपज्जत्तया सिया नत्थि । उक्कोसेण जइ भवे सेढीअ असखभागो उ ॥१॥" इति । तेनोत्कृष्टतः पर्याप्ताऽपर्याप्तत्वविशेषणविरहिता मनुष्या असंख्येया लभ्यन्ते, असंख्यातस्याऽसंख्यात-भेदभिन्नत्वेन संख्यातराशेस्तत्रैव समावेशात् । तथा ये सूक्ष्मसम्परायादिगुणस्थानकेषु वर्तन्ते, यथा-सम्भवं ते षण्णामबन्धका भवन्ति, ये चा-ऽयोगिकेवलिगुणस्थानके वर्तन्ते, ते वेदनीयस्याऽप्य-बन्धका भवन्ति, ते चोत्कृष्टपदेऽपि संख्येया भवन्ति, तदेवं सप्तकर्मणामबन्धकाना संख्यातत्वाद् मनु-ष्यमार्गणागतजीवानामसंख्येयराशिकानामसंख्येयभागप्रमिताः सप्तानामबन्धका भवन्ति, ततश्च पारि-शेष्याद् बन्धका बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । नन्वपर्याप्तमनुष्याणामनित्यत्वात् कदाचिदेकोऽप्य-पर्याप्तमनुष्यो न स्यात् , ततश्च पर्याप्तमनुष्यानाश्रित्य मनुष्यमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धका बहु-संख्येयभागप्रमाणा अपि युक्त्या लभ्येरन् ? इति चेत्, मैवम् , यत उत्कृष्टपदे यस्मिन् समये-ऽ-पर्याप्तमनुष्या भवेयुः, तत्कालापेक्षया प्रस्तुतप्ररूपणाया इष्टत्वाद् न कश्चिदपि दोषः । इदं तु सर्वत्रा ऽवधेयम्-गत्यादिमार्गणास्वल्पभागं भजमाना जीवा यस्मिन् समय उत्कृष्टपदे लभ्यन्ते, तत्समय प्रतीत्य बन्धका-ऽबन्धकभागप्ररूपणा कर्तव्या, तथा यस्यां मार्गणायां बहुभागान् भज-माना जीवाः कादाचित्का भवेयुः; तस्यां मार्गणायां यदोत्कृष्टपदे जीवा लभ्यन्ते, तदैव भागप्ररू-पणा विधेया । यथा-यथाख्यातसंयममार्गणायां वेदनीयस्याऽबन्धकानां भागप्ररूपणायां यदा-ऽयो-गिकेवलिगुणस्थानक उत्कृष्टतो जीवा लभ्यन्ते, तदैव यथाख्यातमार्गणायां वेदनीयस्या-ऽबन्धकाः संख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, न चा-ऽयोगिकेवलिविरहकालमाश्रित्य यथाख्यातमार्गणायां बन्धकानां भागप्ररूपणाऽधिकृता, सर्वेषां बन्धकत्वप्रसङ्गेन भागप्ररूपणाया विरहप्रसङ्गात् । तथा मनुष्य-मार्गणाया बहुभागान् भजमाना जीवा अपर्याप्तमनुष्याः कादाचित्का भवन्ति, तस्मात् प्रोक्तमार्ग-णायामुत्कृष्टपदे यदाऽपर्याप्ता वर्तन्ते, तत्कालमाश्रित्य भागप्ररूपणा कर्तव्या, अन्यथा सप्तकर्मणां बन्धकानां सख्येयत्वे सति बन्धका बहुसंख्येयभागप्रमिता अबन्धकाश्चैकसंख्येयभागमिताः स्युः, न च तदिष्टम्, मनुष्यमार्गणायामसंख्येयभागमात्रत्वप्रतिपादनात् । एवमुत्तरद्वारेऽप्येकस्मिन् समय उत्कृष्टपदमाश्रित्य परिमाणं वाच्यम् ।

'दुमणु ' इत्यादि, 'द्विमनुष्य-संयमेषु' द्वयोर्मनुष्यभेदयोः=मनुष्यगतिसामान्यमार्गणाया उक्तत्वाद् अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां च सर्वेषां सप्तकर्मबन्धकत्वेन भागप्ररूपणाया अभावात् पर्याप्त-मनुष्य-मानुष्योः, संयमे=संयमसामान्यमार्गणायां च सप्तकर्मणां बन्धकाः 'संख्यभागाः' मार्गणा-गतजीवानां बहुसंख्यातभागप्रमाणा ज्ञातव्याः, कुतः ? इति चेत्, उच्यते-द्विकस्य षष्ठवर्गे पञ्च वर्गेण गुणिते यल्लभ्यते, तत्प्रमाणा एकोनत्रिंशदङ्कस्थानलक्षणया संख्यया सख्याताः पर्याप्तमनुष्या उत्कृष्टतो भवन्ति, अङ्कतः ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ भवन्ति, यदुक्तं पूर्वसूरिभिः--

"छ तिन्नि तिन्नि सुन्न पचेव य नव य तिन्नि चत्तारि । पचेव तिन्नि नव पच सत्त तिण्णेव तिण्णेव ॥१॥
चउछद्दो चउ एक्को पण दो छक्केक्कगो य अट्ठेव । दो दो नव सत्तेव य अकट्ठाण इगुणतीस ॥२॥"

मानुष्यश्च सख्यातकोटिकोटिप्रमाणा भवन्ति, यदुक्त श्रीप्रज्ञा वृत्तौ-"सर्वस्तोका मानुष्यो=मनुष्यस्त्रिय, सख्येयकोटीकोटीप्रमाणत्वात् ।" इति । अबन्धकास्तु परिमाणप्राधान्यात् षण्णां सयोगिकेवलिनः, वेदनीयस्य चाऽयोगिकेवलिनः, ते चोक्तमार्गणगतजीवानां संख्येयतमभागकल्पा भवन्ति, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनां यथासंख्यं कोटीसहस्रपृथक्त्व-शतपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेनो-क्तमार्गणाद्वये बहुसंख्येयभागप्रमाणाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति ।

तथा संयमसामान्यमार्गणायां जीवाः कोटीसहस्रपृथक्त्वप्रमाणा भवन्ति, यदुक्तम्-"कोटिसह-स्सपुहुत्त मणुयलोए सजयाण" इति । तत्र सप्तानामबन्धकाः संख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, सयो-गिकेवल्ययोगिकेवलिनामबन्धकत्वेन यथासंख्यं कोटीसहस्रपृथक्त्व शतपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेन-संयमसामान्यमार्गणायां सप्तकर्मणां बहुसंख्येयभागप्रमाणा बन्धका भवन्ति ॥१६६॥

एतर्हि मनोयोगादिषु भागद्वारेण कर्मणां बन्धकान् प्ररूपयिषुराह-

पणमणवयजोगेसुं तिणाणणयणोहिसुक्कुवसमेसुं ।
सण्णिम्मि असंखंसा छण्हं तइअस्स भागो णो ॥१६७॥

(प्रे०) 'मण०' इत्यादि, 'पञ्चमनोवचोयोगेषु' 'द्वन्द्वादौ श्रूयमाण पद प्रत्येक-मभिसम्बध्यते" इति न्यायेन पञ्चशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् पञ्चमनोयोगेषु=मनोयोग-सामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगमार्गणासु, एवं पञ्चसु वचनयोगमार्गणासु 'त्रिज्ञाननयनाऽवधिशुक्लोपशमेषु' एते शब्दाः कृतद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, ततश्चायमर्थः-त्रिज्ञानेषु=मनःपर्यवज्ञान-केवलज्ञानयोर्वक्ष्यमाणत्वाद् मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानरूपेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु नयने=चक्षुर्दर्शनमार्गणायाम्, अवधौ=अवधिज्ञानस्योक्त-त्वाद् अवधिदर्शनमार्गणायां शुक्ले=शुक्ललेश्यामार्गणस्थाने उपशमे=औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां

च, तथा 'संज्ञिनि' संज्ञिमार्गणाभेदे सर्वसंख्यया-ऽष्टादशमार्गणास्थानेषु (१८) 'पण्णां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायरूपाणां पट्प्रकृतीनां बन्धकाः 'असंख्यांशाः' बहुवचन-निर्देशाद् बह्वसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, "सव्वह अवधगा होंति अवसेसा" इति वचनेनैकाऽ-संख्येयभागप्रमाणाः पट्कर्मणामबन्धका भवन्ति । इयमत्र भावना–भणिता-ऽष्टादशमार्गणासु जीवा असंख्येया भवन्ति, त्रसानामेव प्रवेशात् । कथितमार्गणाः सेवमानेषु जीवेषु सख्येया एव जीवाः षण्णां कर्मणामबन्धका भवन्ति, अन्यतरस्यां श्रेण्यामेव तेषां लाभेन संख्येयराशितो ऽधि-कस्या-ऽनुपपत्तेः । इत्थं मनोयोगादिमार्गणावर्तिजीवानां संख्येयानामबन्धकत्वेन लाभाद् उक्त-मार्गणागतानामसंख्येयभागप्रमिताः पण्णामबन्धका भवन्ति, तेन बन्धका बह्वसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति ।

अथोक्ताष्टादशमार्गणासु भागप्ररूपणां निषेधन्नाह–'तइअस्स' इत्यादि, 'तृतीयस्य' मनो-योगादिष्वष्टादशमार्गणासु वेदनीयस्य 'भागः' भागप्ररूपणा 'नो' नास्ति, उक्तमार्गणास्वयोगि-जीवानां सिद्धजीवानां चा-ऽप्रवेशेन वेदनीयस्याऽबन्धकाभावोपलम्भात् । अयं भावः–वेदनीयस्या-ऽबन्धकाः सिद्धा अयोगिकेवलिनश्च भवन्ति । मनोयोगादिमार्गणासु पुनस्ते न भवन्ति । तेनोक्त-मार्गणावर्तिनः सर्वे जीवा वेदनीयस्य बन्धका एव भवन्ति, न कश्चिदप्यबन्धकः । तदेवमबन्धका-भावोपलम्भाद् भागप्ररूपणा न संभवति । यत्र बन्धका-ऽबन्धकयोरुभयोर्लाभः, तत्रैव भागप्ररूपणा न्याय्या, न ह्यन्यतराभावे भागो वक्तुं शक्यत इत्यलं प्रपञ्चेन ॥१६७॥

सम्प्रति काययोगादिषु पञ्चमार्गणास्थानेषु भागद्वारेण सप्तकर्मणां बन्धकान् निरूपयिषुराह–

कायउरलदुगकम्मणअचक्खुआहारगेसु भागो ण ।
तइअस्स बंधगा खलु णेया छण्हं अणंतंसा ॥१६८॥

(प्रे०) '**काय०**' इत्यादि, 'कायौदारिकद्विककार्मणयोगा-ऽचक्षुराहारकेषु' एते कृतद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, काये=काययोगमार्गणायाम्, औदारिकद्विके=औदारिककाययोगतन्मिश्रकाय-योगलक्षणे कार्मणे=कार्मणकाययोगमार्गणायां अचक्षुषि=अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां 'तृतीयस्य' वेदनी-यस्य 'भागो न' भागप्ररूपणा नास्ति, अयोगिकेवलिना सिद्धानां चाऽप्रवेशेनाऽबन्धकाभावात् । तथोक्तकाययोगादिमार्गणासु 'षण्णां' वेदनीयायुर्वर्जानां पट्प्रकृतीना बन्धकाः 'अनन्तांशाः' बह्वनन्तभागप्रमिताः 'ज्ञेयाः' बोद्धव्याः, वनस्पतिकायिकानां प्रवेशात्, अबन्धकास्त्वेका-ऽनन्ततमभागमात्राः । अयमत्र विवेकः–काययोगादिमार्गणा वनस्पतिकायिका जीवा अपि भज-न्ति । ते च गणनातोऽनन्ताः, उक्तं च जी मासे–"साहारणा उ चउसु वि वीसुं लोया भवेऽणता ।" इति । काययोगादिमार्गणाः सेवमानाः संख्येया एव षण्णां कर्मणामबन्धका भवन्ति, तेषां श्रेण्या सयोगिकेवलिगुणस्थाने वा लाभात् । इत्थं प्रोक्तमार्गणासु सख्यानां जीवाना

मबन्धकत्वेन लाभात् षण्णामबन्धका जीवाः प्रोक्तमार्गणावर्त्यनन्तजीवानामनन्ततमभागप्रमाणा भवन्ति । तेन षण्णां कर्मणां बन्धका बह्वनन्तभागप्रमाणाः समुपपद्यन्ते ॥१६८॥

सम्प्रत्यपगतवेदादिमार्गणासु भागद्वारेण सप्तकर्मणां बन्धकान् दर्शयितुकाम आह—

सत्तण्ह अणंतंसो णेया गयवेअसम्मखइएसु ।
लोहे छण्ह ण भागो अणंतभागाऽत्थि मोहस्स ॥१६९॥

(प्रे०) '**सत्तण्ह**' 'सप्तानाम्' आयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादिकर्मणाम् 'अनन्तांशः' अनन्तभागमात्रा बन्धकाः 'ज्ञेयाः' ज्ञातव्याः, क्व ? इत्याह—'**गयवेअसम्मखइएसु**' ति 'गतवेद-सम्यक्त्व-क्षायिकेषु' गतवेदे=अपगतवेदमार्गणायां सम्यक्त्वे=सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां क्षायिके=क्षायिक-सम्यक्त्वमार्गणायां च, अबन्धकास्तु बह्वनन्तभागमात्रा भवन्ति । इदमुक्तं भवति—तिसृष्वपगतवेदादिमार्गणासु ज्ञानावरणादिकर्मणामबन्धकाः परिमाणप्राधान्यात् सिद्धजीवाः, ते चाऽनन्ताः, बन्धकास्त्वपगतवेदमार्गणायां संख्येया एव, अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकप्रभृतिसयोगिकेवलिपर्यवसानानां जीवानामपगतवेदमार्गणायां यथासंभवं सप्तकर्मबन्धकत्वेन संख्यातराशितोऽधिकाभावात्, सम्यक्त्वसामान्यक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायोश्च बन्धका असंख्येयाः । तदेवं सप्तकर्मणां बन्धकानामपगतवेदमार्गणायां संख्येयत्वात् शेषद्वये चाऽसंख्येयत्वादपगतवेदादिमार्गणा भजमानानामनन्तजीवानामनन्ततमभागमात्रा जीवाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, शेषाश्च बह्वनन्तभागप्रमाणा अबन्धका भवन्ति ।

सम्प्रति लोभमार्गणामधिकृत्य भागप्ररूपणामाह—'**लोहे**' इत्यादि, 'लोभे' लोभमार्गणायां '**षण्णा**' मोहनीया-ऽऽयुष्कयोर्भणिष्यमाणत्वाद् ज्ञानावरण दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां '**न भागः**' भागप्ररूपणा नास्ति, उक्तकर्मा-ऽबन्धकानामुपशान्तमोहादिगुणस्थानकवर्तित्वेन लोभमार्गणायां तेषामभावात् । '**अणंत०**' इत्यादि, 'अनन्तभागाः' लोभमार्गणायां बह्वनन्तभागप्रमिताः 'सन्ति' भवन्ति '**मोहस्य**' मोहनीयकर्मणो बन्धकाः, अबन्धकास्त्वनन्ततमभागप्रमाणाः । अयमत्राऽऽशयः—लोभमार्गणायां वनस्पतिकायिकजीवानामपि प्रवेशात् तां भजमाना जीवा अनन्ता भवन्ति । लोभमार्गणावर्तिजीवेषु सूक्ष्मसम्परायजीवा एव मोहनीयस्या-ऽबन्धका भवन्ति, ते च संख्येया एव, यदुक्तं श्रीजीव से—

''एगाइय भयणिज्जा पवेसणेण तु जाव चउपन्ना । उवसामगोवसंता अद्ध पइ जाव सखेज्जा ॥१॥'' इति ।

तेन मोहनीयस्याबन्धका अनन्तभागप्रमाणा भवन्ति, बन्धकाश्च बह्वनन्तभागप्रमाणाः ॥१६९॥

अथा-ऽकषायादिमार्गणासु भागद्वारेण सप्तकर्मणां बन्धकान् निजिगदिषुराह—

तइअस्स अणंतंसो णेया अकसायकेवलदुगेसु ।
मणणाणे संखंसा छण्हं तइअस्स भागो ण ॥१७०॥

(प्रे०) 'तइअ ' इत्यादि, 'अकषायकेवलद्विकयोः' अकषाये=अकषायमार्गणायां केव-लद्विके=केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपे मार्गणाद्वये च 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धका 'अनन्तांशः' अनन्ततमभागमात्राः 'ज्ञेयाः' बोद्धव्याः, सयोगिकेवलिनां संख्येयत्वात् । अबन्धकास्तु बह्वनन्त-भागप्रमाणाः । इदमुक्तं भवति-सयोगिकेवलिन एव केवलज्ञान-केवलदर्शनमार्गणयोर्वेदनीयस्य बन्धकाः, अ ायमार्गणायामपि परिमाणप्राधान्यात् त एव । सयोगिकेवलिनश्चोत्कृष्टतोऽपि कोटि-पृथक्त्वं लभ्यन्ते । यदुक्तं जीवस से-

"खवगा उ खीणमोहा जिणा उ पविसन्ति जाव अट्ठसयं । अद्धाए सयपुहुत्त कोडिपुहुत्त सजोगीण ॥१॥" इति । प्रोक्तमार्गणात्रये वेदनीयस्या-ऽबन्धकास्त्वयोगिकेवलिसिद्धाः । सिद्धाश्चा-ऽनन्ताः । तदेवं प्रोक्त-मार्गणात्रये वेदनीयबन्धकानां संख्येयत्वात् कथितमार्गणात्रयं भजमानानामनन्तजीवानामनन्ततम-भाग बन्धका भवन्ति, अबन्धकास्तु बह्वनन्तभागमात्रा भवन्ति ।

सम्प्रति मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां भागद्वारमाश्रित्य बन्धकान् प्ररूपयितुकाम आह-'मण-णाणे' इत्यादि, 'मनोज्ञाने' मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां 'षण्णा' वेदनीया-ऽऽयुष्कवर्जाना ज्ञाना-वरणादीनां कर्मणां बन्धकाः 'संख्यांशाः' बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । अयमत्र विवेकः-पर्या-प्तगर्भजमनुष्य ' संख्येयत्वेन चारित्रिणामपि संख्येयत्वाद् मनःपर्यवज्ञानभाजः संख्येया एव । तेषु पुनर्जीवेष्वबन्धका उपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्योरन्यतरां प्रतिपन्नास्तत्तद्बन्धविच्छेदादूर्ध्वं वर्त-माना भवन्ति । श्रेणिगताश्च जीवा मनःपर्यवज्ञानमार्गणावर्तिजीवापेक्षया संख्येयगुणहीना भवन्ति । तेन ये श्रेणौ षट्कर्मणां बन्धविच्छेदस्थानादूर्ध्वं वर्तन्ते, ते षण्णां कर्मणामबन्धकाः सन्तो मनः-पर्यवज्ञानमार्गणाप्रतिपन्नानां संख्येयभागमात्रा भवन्ति, तस्मात् कारणाद् बन्धका बहुसंख्येयभाग-प्रमिता भवन्ति ।

'तइअस्स' इत्यादि, 'तृतीयस्य' मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां वेदनीयस्य 'भागो न' भागप्ररूपणा नास्ति, क्षीणकषायस्य चरमसमय एव अस्या मार्गणाया विच्छेदेना-ऽबन्धकाभावोपलम्भात् ॥१७०॥

सम्प्रति यथाख्यातसंयमादिमार्गणासु भागद्वारमाश्रित्य बन्धकान् जिज्ञापयिषुराह—

तइअस्स अहक्खाये संखंसा बंधगा अणंतंसा ।
भवियाणाहारेसुं सेसासुं णाउवज्जाणं ॥१७१॥

(प्रे०) 'तइअस्स' इत्यादि, 'यथाख्याते' यथाख्यातसंयममार्गणायां 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धकाः 'सख्यांशाः' बहुसख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, अस्यां मार्गणायामयोगिकेवलिनामबन्धकत्वेन लभ्यमानत्वात् । अयं भावः-यथाख्यातसंयममार्गणायां जीवाः कोटीपृथक्त्वप्रमाणा भवन्ति । तेषु सयोगिकेवलिनः परिमाणप्राधान्याद् वेदनीयस्य बन्धकाः, अयोगिकेवलिनश्चाऽबन्धकाः । सयोगिकेव-लिनः कोटिपृथक्त्वमात्रा अयोगिकेवलिनः पुनः शतपृथक्त्वप्रमाणा भवन्ति । यदुक्तं प ड्ग्रहे-

"खवगा खीणा जोगी एगाई जाव होंति अट्ठसय। अद्धाएँ सयपुहुत्त कोडिपुहुत्त सजोगीओ ॥१॥" इति। तेन यथाख्यातसंय गणायां वेदनीयस्य बन्धका बहुसंख्येयभागमात्रा भवन्ति, एकसंख्येयतमभागकल्पाश्चा-ऽबन्धकाः।

इदानीं भव्याऽनाहारकमार्गणयोः प्रकृतमाह-'**भवियाणाहारे** ' इत्यादि, 'भव्याऽनाहारयोः' भव्ये=भव्यमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च 'सप्तानाम्' आयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां कर्मणां बन्धकाः 'अनन्तांशाः' बह्वनन्तभागप्रमिताः 'सन्ति' भवन्ति। कथम्? इति चेत्, उच्यते-भव्यमार्गणायां वनस्पतिकायिकाना प्रवेशाद् जीवा अनन्ता भवन्ति, भव्येषु च ये यथासंभवं सूक्ष्मसम्परायादयः सप्तकर्मणामबन्धकाः, ते सख्येया एव। तदेवमबन्धकानां संख्येयत्वात् ते भव्यमार्गणावर्त्यनन्तजीवराशेरनन्तभागकल्पा भवन्ति। तेन भव्यमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धका बह्वनन्तभागप्रमिता भवन्ति।

अनाहारकमार्गणायां परिमाणप्राधान्यात् सप्तकर्मणां बन्धका विग्रहगतौ वर्तमाना निगोदजीवा भवन्ति, अबन्धकास्तु सिद्धजीवाः। सिद्धजीवाश्च विग्रहगतौ वर्तमानानां जीवानामनन्ततमभागकल्पा भवन्ति। कथमेतदवमीयते? इति चेत्, उच्यते-निगोदजीवानामसंख्येयभा ल्पा विग्रहगतिमापन्ना भवन्ति, अनाहारकजीवेभ्य आहारकाणामसंख्येयगुणत्वोपलम्भात्, यदुक्तं श्रीबन्धषट्त्रिंशिकायाम्-"तेसि ठिइसमयाण, विग्गहसमया हवति जइभागे। एवति भागे सव्वे विग्गहया सेसजीवाण ॥१॥" इति। एवं **जीवाजीवाभिगमवृत्तावपि** प्रावादि **श्रीमदभयदेवसूरीश्वरपादैः**-"इह प्रतिनिगोदमसख्येयो भाग प्रतिसमय सदा विग्रहगत्यापन्नो लभ्यते, विग्रहगत्यापन्ना अनाहारका।" इति, सिद्धजीवाश्चैकनिगोदजीवानामनन्ततमभागप्रमाणा भवन्ति, यदुक्तं **नवतत्त्वप्रकरणे**-"जइआइ होइ पुच्छा, जिणाण मग्गमि उत्तर तइया। इक्कस्स निगोयस्स अणतभागो य सिद्धिगओ ॥१॥" इति। तेन विग्रहगतिसमापन्ननिगोदजीवानामप्यनन्तभागकल्पा भवन्ति सिद्धजीवाः। एवमनाहारकमार्गणाया सिद्धाना परिणामप्राधान्यात् सप्तकर्माबन्धकत्वेन लाभात् तेषां चा-ऽनाहारकमार्गणाभाग्जीवराश्यनन्ततमभागमात्रत्वाद् बन्धका बह्वनन्तभागप्रमिताः, अबन्धकाश्चा-ऽनन्ततमभागकल्पा आमाद्यन्ते।

शेषमार्गणासु भागप्ररूपणां निषेधन्नाह-'**सेसासु**' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितास्वेकत्रिंशदधिकशतमार्गणासु (१३१) 'आयुर्वर्जानाम्' आयुष्करहितानां स्वप्रायोग्याणा प्रकृतीनां 'न' भागप्ररूपणा नास्ति, अबन्धकानामनुपलम्भात्।

शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः-मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणमार्गणात्रयं विना गतिभेदाश्चतुश्चत्वारिंशत् (४४), पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपमार्गणाद्विकमन्तरेणेन्द्रियभेदाः सप्तदश (१७), त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायरूपे द्वे मार्गणे ऋते कायभेदाश्चत्वारिंशत् (४०), वैक्रियकाययोग-तन्मिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगरूपाश्चतस्रो (४) योगमा

र्गणाः, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदाः (३), क्रोधमानमायारूपास्तिस्रः (३) कषायमार्गणाः, मत्यज्ञान श्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानाख्यास्तिस्रो (३) मार्गणाः, संयमसामान्ययथाख्यातसंयमवर्जषट्संयममार्गणाभेदाः (६),शुक्ललेश्यामन्तरेण पञ्चलेश्यामार्गणाः (५), अभव्यमार्गणा (१), क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिश्र-सास्वादन-मिथ्यात्वरूपाणि चत्वारि (४) मार्गणास्थानानि, असंज्ञिमार्गणा (१) चेति । तदेवमभिहिता भागद्वारेण बन्धका अबन्धकाश्च तत्तन्मार्गणाजीवानधिकृत्य ॥१७१॥

सम्प्रत्युपसंजिहीर्षुः सर्वजीवांश्चाश्रित्य भागद्वारेण बन्धकान् प्ररूपयिपुराह–

इइ मग्गणाहिकाउं उत्ता बन्धगियराउवज्जाणं ।
वुच्चंति सव्वजीवा अहिकाउं बन्धगा ताण ॥१७२॥

(प्रे०) 'इइ' इत्यादि, 'इति' अनन्तरोक्तप्रकारेण 'मार्गणा अधिकृत्य' तत्तन्नरकगत्यादिमार्गणागतजीवानाश्रित्य 'आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणां बन्धका 'इतरे' अबन्धकाश्च 'उक्ताः' भागद्वारेण प्रतिपादिताः ।

सम्प्रति सर्वजीवापेक्षया सप्तकर्मणां बन्धकाबन्धकान् भागद्वारेण निरूपयितुकामो बहुवक्तव्यत्वादादौ तावत् सप्तकर्मणां केवलान् बन्धकान् भागद्वारेण प्ररूपयति–'वुच्चंति' इत्यादि, 'उच्यन्ते' भागद्वारेण प्रतिपाद्यन्ते 'सर्वजीवानधिकृत्य' सकलजीवानाश्रित्य 'तेषाम्' आयुर्वर्जसप्तकर्मणां बन्धकाः, अल्पवक्तव्यत्वादबन्धकाः पश्चाद् भणिष्यन्त इति भावः ॥१७२॥

अथ यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन्नाह–

तिरिये तह एगिंदियणिगोअवणकायजोगणपुमेसुं ।
दुअणाणाजयअणयणभविमिच्छेसुं असण्णिम्मि ॥१७३॥
हुन्ते अणंतभागा असं भागो हवेज्ज सव्वेसुं ।
बायरएगिंदिणिगोएसुं कम्मे अणाहारे ॥१७४॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, 'तिरश्चि' तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायां 'तथा' तथाशब्दः समुच्चये, 'एकेन्द्रिय-निगोद-वनकाययोग-नपुंसकेषु' एकेन्द्रियादयः कृतद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, ततश्चा ऽयमर्थः–एकेन्द्रिये=एकेन्द्रियसामान्यमार्गणायां निगोदे=साधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणायां वने=वनस्पतिकायसामान्यमार्गणायां काययोगे=काययोगमार्गणास्थाने नपुंसके=नपुंसकवेदमार्गणायां च, तथा 'द्व्यज्ञाना-ऽयता-ऽनयनभव्यमिथ्यात्वेषु' द्व्यज्ञानयोः=मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपयोर्द्वयोर्मार्गणयोः, अयते=अविरतमार्गणायाम् अनयने=अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्ये=भव्यमार्गणायां मिथ्यात्वे=मिथ्यात्वमार्गणायां च असंज्ञिनि=असंज्ञिमार्गणायां च 'भवन्त्यनन्तभागाः' सर्वजीवानां बह्वनन्तभागप्रमाणाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, सिद्धेभ्यो निगोदजीवानामनन्तगुण-

त्वात् । अथ भावः–प्रोक्तत्रयोदशमार्गणासु (१३) परिमा धान्याद् निगोदजीवाः सप्तकर्मणां बन्धकाः, सर्वजीवेषु च तद्व्यतिरिक्ताः परिमाणप्राधान्यात् सिद्धजीवाः । सिद्धजीवेभ्यश्च निगोदजीवा अनन्तगुणाः, यदुक्तं प्र पनासूत्रे–"सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।" इति । तेनोक्तत्रयोदशमार्गणासु सर्वजीवानां बह्वनन्तभागकल्पाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्तीति सूपपद्यते ।

'अ भागो' इत्यादि, 'सर्वेषु' 'बादरैकेन्द्रियनिगोदेषु' बादरशब्दः प्रत्येकं युज्यते, "द्वन्द्वादौ श्रूयमाण पद प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इति न्यायोपलम्भात् , ततश्चाऽयमर्थः–सर्वेषु बादरैकेन्द्रियेषु=बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु, सर्वेषु बादरनिगोदेषु=बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया--ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायरूपासु तिसृषु मार्गणासु च, 'कार्मे' कार्मणकाययोगमार्गणायाम् 'अनाहारे' अनाहारकमार्गणायां च, 'असंख्यभागः' सर्वजीवानामसंख्येयतमभागकल्पाः स र्मणा बन्धका 'भवन्ति' सन्ति, बादरनिगोदतः सूक्ष्मनिगोदजीवानामसंख्येयगुणत्वादभिहितमार्गणासु पुनः सूक्ष्मनिगोदानामप्रवेशात्, विग्रहगतौ च सर्वजीवराश्यसंख्येयभागमात्रजीवोपलम्भाच्च । भावार्थः पुनरयम्–उक्तषड्मार्गणासु परिमाणप्राधान्याद् बादरनिगोदजीवा बन्धकाः, सर्वजीवेषु च तद्व्यतिरिक्ता जीवाः परिमाणप्राधान्यात् सूक्ष्मनिगोदाः, बादरनिगोदजीवेभ्यश्च सूक्ष्मनिगोदजीवा असंख्येयगुणाः । तथा चोक्तं श्री ापनासूत्रे-'×××बादरनिगोआ असंखेज्जगुणा । सुहुमनिगोया असंखेज्जगुणा ।" इति । उक्तबादरैकेन्द्रियादिषड्मार्गणासु सूक्ष्मनिगोदजीवा न भवन्ति, ते च बह्वसंख्येयभागप्रमाणाः । तेन प्रोक्तबादरैकेन्द्रियादिमार्गणाषट्के सप्त णां बन्धकाः सर्वजीवानामसंख्येयभागकल्पा भवन्ति । कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च सर्वजीवानामसंख्येयभागकल्पा जीवा वर्तन्ते, अनाहारकेभ्य आहारकाणामसंख्येयगुणत्वात् । तेन कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः सर्वजीवानामसंख्येयभागमात्राः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति । न चाऽनाहारकमार्गणायामनन्तसिद्धजीवाना प्रवेशात् तेषां च सप्तकर्माऽबन्धकत्वाद् अनाहारकमार्गणायामनन्ततमभागमात्राः कुतो न बन्धकाः स्युः, न त्वसंख्येयभागमात्राः ? इति वाच्यम् , सिद्धजीवानां निगोदराश्यनन्तभागकल्पत्वेना-ऽतीवस्तोकत्वात् परिमाणप्राधान्याच्च निगोदजीवानामेवाऽऽनाहारकतयोपलम्भात् ॥१७३,१७४॥

सम्प्रति सूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणासु प्रकृतमाह–

णेया असं भागा सुहुमेगिंदियणिगोअआहारे ।
पज्जसुहुमएगिंदियणिगोअउरलेसु संखंसा ॥१७५॥

(प्र०) 'णेया' इत्यादि, 'सूक्ष्मैकेन्द्रियनिगोदा-ऽऽहारे' सूक्ष्मशब्दस्य द्वाभ्यां सहा-ऽभियोजनात् सूक्ष्मैकेन्द्रिये=सूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणायां तथा सूक्ष्मनिगोदे= सूक्ष्मसाधारणवनस्पति-

कायमार्गणायाम् 'आहारे' आहारकमार्गणायां च 'असंख्यभागाः' सर्वजीवानां बह्वसंख्येयभागकल्पाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तत्प्रतिपक्षभूतासु बादरैकेन्द्रिय बादरनिगोदा ऽनाहारकमार्गणासु जीवानां सर्वजीवराश्यसंख्येयभागमात्रत्वात् । 'पज्ज०' इत्यादि, 'पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियनिगोदौदारिकेषु' पर्याप्तसूक्ष्मशब्दस्य द्वाभ्यां सहाऽभिसम्बन्धात् पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिये=पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणायां पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदे=पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणायां च औदारिके=औदारिककाययोगमार्गणास्थाने च 'संख्यांशाः' बहुसंख्येयभागप्रमाणाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तत्प्रतिपक्षभूतमार्गणास्थानेषु जीवानां सर्वजीवराशिसंख्येयतमभागप्रमाणत्वात् । इदमुक्तं भवति–प्रोक्तमार्गणाद्वये परिमाणप्राधान्यात् पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायिका जीवाः सप्तकर्मणा बन्धका भवन्ति । तद्व्यतिरिक्तजीवास्तु संख्येयभागकल्पा भवन्ति । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायिकजीवान् विना शेषजीवाः परिमाणप्राधान्यादपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायिका भवन्ति, तेभ्यश्च संख्येयगुणा जीवाः पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायिका वर्तन्ते, तथाविधाल्पबहुत्वस्य **श्रीप्रज्ञापनादिसूत्रेषु** दर्शनात् । तथा चा-ऽत्र **श्रीप्रज्ञापनासूत्रम्**–सव्वत्थोवा बायरनिगोयया पज्जत्तया, बायरनिगोयया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदया पज्जत्तया संखेज्जगुणा । "इति । तेन पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणायां पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायमार्गणायां च सर्वजीवानां बहुसंख्येयभागप्रमिताः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति ।

सर्वजीवेष्वौदारिकद्विककाययोगिनो बह्वनन्तभागप्र[illegible] । भवन्ति, शेषास्त्वनन्ततमभागकल्पाः, तत्रा-ऽप्यौदारिकमिश्रकाययोगित औदारिककाययोगिनः संख्येयगुणाः, अपर्याप्ततः पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात् । तेनौदारिककाययोगमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाः सर्वजीवानां बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति ॥ १७५ ॥

सम्प्रति सूक्ष्माऽपर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणासु सर्वजीवानधिकृत्य भागद्वारेण सप्तकर्मणां बन्धकान् निरूपयिषुराह–

सुहुमापज्जेगिंदियणिगोदुरलमीसगेसु संखंसो ।
तिकसायेसु हीणो चउभागो साहिओ लोहे ॥१७६॥

(प्रे०) ' सुहुमा०' इत्यादि, 'सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तैकेन्द्रियनिगोदौदारिकमिश्रकेषु' सूक्ष्मा ऽपर्याप्तपद द्वाभ्या सह सम्बध्यते, ततश्चायमर्थः-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिये=अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणास्थाने सूक्ष्माऽपर्याप्तनिगोदे=अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणायां च औदारिकमिश्रे=औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणाया च 'संख्यांशः' सर्वजीवानां संख्येयभागकल्पाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तत्प्रतिपक्षभूतेषु पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायौदारिककाययोगरूपेषु मार्गणास्थानेषु जीवानां बहुसंख्येयभागमात्रत्वात् । भावना तु सुगमा ।

'**तिकसाये** ' इत्यादि, 'त्रिकषायेषु' क्रोध-मान-मायारूपेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु 'हीन श्चतुर्भागः' "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" इति न्यायात् 'हीनः' इति सामान्योक्तावपि किञ्चिद्धीनश्चतुर्भागो द्रष्टव्यः । 'लोभे' लोभमार्गणायां च '**साहिओ**' त्ति, चतुर्भागशब्दस्याऽत्रापि योजनात् साधिकश्चतुर्भागः, अयं भावः–चतुर्थश्चासौ भागश्च चतुर्भागः "मयूरव्यंसकेत्यादय (३-१-११६) इत्यनेन सूत्रेण समासः पृषोदरादित्वाच्च पूरणप्रत्ययलोपः ।

क्रोध मान मायारूपेषु त्रिषु मार्गणाभेदेषु प्रत्येक सर्वजीवानां किञ्चिन्न्यूनचतुर्भागमात्रा जीवा वर्तन्ते, कथम् ? इति चेत् , उच्यते-इहा-ऽकषायिणो जीवा अनन्ततमभागप्रमाणाः, सिद्धानां कतिपयाना च मनुष्याणामकषायित्वात् । शेषा जीवा बह्वनन्तभागप्रमाणाः सकषाया भवन्ति, ते च चतुर्विधाः, क्रोधादिभेदात् । तत्र मानकषायितः क्रोधकषायिणो विशेषाधिकाः, ततो मायाकषायिणो विशेषाधिकाः, तेभ्यश्च लोभकषायिणो विशेषाधिकाः, मानक्रोधादिपरिणामकालस्य क्रमेण विशेषाधिकत्वात् , यदुक्त **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–' सव्वत्थोवा जीवा अकसाई, माणकसाई अणतगुणा, कोहकसाई विसेसाहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, लोहकसाई विसेसाहिया ।" इति । तदेवं लोभकषायिणां सर्वप्रभूतत्वाद् भवन्ति ते सर्वजीवानां साधिकचतुर्भागप्रमाणाः, शेषास्तु किञ्चिन्न्यूनचतुर्भागप्रमाणाः, तेन लोभमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाः सर्वजीवानां साधिकचतुर्भागप्रमाणाः, क्रोधमानमायारूपासु पुनस्तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मणा बन्धकाः सर्वजीवानां किञ्चिन्न्यूनचतुर्भागप्रमिताः ॥१७६॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु सर्वजीवानधिकृत्य सप्तकर्मणां बन्धकान् भागद्वारेण प्रदिदर्शयिषुराह–

किण्हाएऽत्थि तिभागो अब्भहियो अत्थि णीलकाऊसु ।
देसूणो सेसासु अणंतभागो मुणेयव्वा ॥१७७॥

(प्रे०) '**किण्हाए**' इत्यादि, 'कृष्णायां' कृष्णलेश्यामार्गणायां 'सन्ति त्रिभागोऽभ्यधिकः' सर्वजीवराशेः साधिकत्रिभागमात्राः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, 'नीलकापोतयोः' नीललेश्यामार्गणाया कापोतलेश्यामार्गणाया च 'देशोनः' सर्वजीवानां किञ्चिन्न्यूनत्रिभागकल्पाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति । कथम् ? इति चेत् , उच्यते–इह सर्वजीवेषु शुभलेश्यात्रयभाजो-ऽलेश्याकाश्च जीवा अनन्ततमभागप्रमाणा भवन्ति, शुभलेश्याकेभ्योऽलेश्याकेभ्यश्च कापोतलेश्याकानामनन्तगुणत्वात् । निगोदानामपि कापोतादिलेश्याकत्वाच्चाऽशुभलेश्याका बह्वनन्तभागप्रमाणा भवन्ति, कापोतादिलेश्याकाश्च पश्चानुपूर्व्या विशेषाधिकाः यदुक्त श्री सूत्रे–"सव्वत्थोवा जीवा सुक्कलेस्सा पम्हलेस्सा सखेज्जगुणा, तेउलेस्सा सखेज्जगुणा अलेस्सा अणतगुणा, काउलेस्सा अणतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया कण्हलेस्सा विसेसाहिया ।" इति ।

इत्थ कृष्णलेश्याकाना सर्वप्रभूतत्वाद् भवन्ति ते साधिकत्रिभागप्रमाणाः, शेषा नीललेश्याका कापोतलेश्याकाश्च प्रत्येक किञ्चिन्न्यूनत्रिभागकल्पाः । तेन कृष्णलेश्यामार्गणाया सप्तकर्मणां बन्धकाः

सर्वजीवानां साधिकत्रिभागप्रमाणा नीललेश्याकापोतलेश्यामार्गणयोश्च प्रत्येकं किञ्चिन्न्यूनत्रिभाग-प्रमिता भवन्ति ।

'सेसा' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्वरितासु सप्तत्रिंशदधिकशतमार्गणासु (१३७) 'अनन्त-भागः' सर्वजीवराशेरनन्ततमभागमात्रा आयुर्वर्जानां स्वस्वमार्गणायोग्यानां कर्मणा बन्धका भवन्ति, तासु बन्धकानां यथासंभवं संख्येया-ऽसख्येयत्वात् ।

शेषा मार्गणा नामतः पुनरिमाः—तिर्यग्गतिसामान्यवर्जाः षट्चत्वारिंशद्गतिभेदाः, द्वीन्द्रि-यादीनां द्वादशभेदाः, वनस्पतिकायसामान्यसप्तनिगोदाख्याऽष्टभेदान् ऋते कायभेदाश्चतुस्त्रि-शद् औदारिकद्विक-कार्मणकाययोग काययोगसामान्यरूपाश्चतस्रो मार्गणा अन्तरेण शेषा योगभेदाश्च-तुर्दश नपुंसकवेदवर्जाणि त्रीणिवेदमार्गणास्थानानि, अकषायमार्गणा, अज्ञानद्विकं विना ज्ञानमार्ग णाभेदाः षट्, अविरतमार्गणामृते सप्त संयममार्गणाभेदाः, अचक्षुर्दर्शनमार्गणाया हिरुक् त्रयो दर्शनमार्गणाभेदाः, शुभलेश्यास्तिस्रः, भव्यमार्गणा, मिथ्यात्वरहिताः सम्यक्त्वमार्गणाभेदाः षट्, सञ्ज्ञिमार्गणा चेति ॥१७७॥

सम्प्रति सर्वजीवापेक्षया-ऽऽयुर्वर्जकर्मणामबन्धकान् भागद्वारेण दर्शयितुकाम आह—

जासु खलु मग्गणासुं आउगवज्जाण जाण पयडीणं ।
हविरे अबंधगा तासु ताण तेऽणंतभागोऽत्थि ॥१७८॥

(प्रे०) 'जासु' इत्यादि, 'यासु खलु मार्गणासु' मनुष्यगत्यादिरूपासु यासु त्रयश्चत्वारिंशन्मा-र्गणासु 'आयुष्कवर्जानां यासां प्रकृतीनाम्' आयुर्विरहितानां यासां ज्ञानावरणादीनां यथासंभवमेकादि-तीनामबन्धका भवन्ति, तासु मनुष्यगत्यादिमार्गणासु प्रत्येकं 'तासाम्' आयुष्कवर्जानां प्रकृतीनां 'ते' अबन्धका 'अनन्तभागः' सर्वजीवराशेरनन्ततमभागप्रमाणाः 'सन्ति' भवन्ति, निगोदजीवानाम-प्रवेशात् । इदमुक्तं भवति—अबन्धकवतीषु मनुष्यगत्यादिमार्गणास्वबन्धका मनुष्यादयः, न निगोद-जीवाः । यत्र च निगोदजीवाः सभवन्ति, तत्रैवा ऽसंख्यातभागसंख्यातभागादिप्रमाणा जीवा उपलभ्य-न्ते, इह तु निगोदजीवानामभावाद् न तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते, तेना-ऽनन्ततमभागप्रमाणा एवाऽ-बन्धकवतीषु मार्गणासु लभ्यन्ते । इत्थं यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां षट्षष्ट्यधिकशततमप्रभृतिगाथा वृत्तौ भागद्वारेण तत्तन्मार्गणागतजीवानाश्रित्याऽबन्धकाः प्ररूपिताः, तासु मार्गणासु तासां प्रकृती-नामबन्धकाः सर्वजीवापेक्षया-ऽनन्ततमभागप्रमाणा भवन्ति । यासु पुनर्मार्गणास्वायुर्वर्जानां यासां प्रकृतीनां भागप्ररूपणा निषिद्धा, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामबन्धका न संभवन्ति । तथाहि-मनु-ष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपगतवेद-संयमसामान्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-भव्या -ऽनाहारकरूपासु त्रयोदशमार्गणास्वायुर्वर्ज-सप्तकर्मणामबन्धकाः सर्वजीवानामनन्तभागप्रमाणा भवन्ति ।

पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्यौपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या हारकलक्षणासु पञ्चविंशतिमार्गणासु वेदनीयायुष्कवर्जानां पण्णा प्रकृतीनामबन्धकाः सर्वजीवा-ऽनन्तभागप्रमाणा भवन्ति, वेदनीयस्य त्ववन्धका न भवन्ति ।

लोभमार्गणायां मोहनीयस्या ऽबन्धकाः सर्वजीवा-ऽनन्तभागप्रमिताः, मोहनीयायुष्कवर्जानामबन्धका न भवन्ति ।

अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातसंयमरूपासु चतसृषु मार्गणासु वेदनीयकर्मणोऽबन्धकाः सर्वजीवा ऽनन्तभागकल्पा भवन्ति, शेषकर्मणा तत्र बन्धाभावः ।

शेषास्वेकत्रिंशदधिकशतमार्गणासु (१३१) सप्तकर्मणामबन्धका न न्ति, तेन नास्ति भागप्ररूपणा तत्र । तदेवमादेशतः प्रतिपादिताः सप्तकर्मणां बन्धकाऽबन्धका भागद्वारेण तत्तन्मार्गणागतजीवानश्रित्य सर्वजीवांश्च प्रतीत्य ॥१७८॥

एतर्ह्यायुष्कर्मणो बन्धकाबन्धकान् भागद्वारेण निरुरूपयिषुरादौ तावत् तत्तन्मार्गणागतजीवापेक्षया बन्धकान् भागद्वारेण प्राह–

दुइआइछणिरयेसुं जोइसपहुडिच्छवीसदेवेसुं ।
णाणतिगे तह देसे ओहिपउमसुक्लेसासुं ॥१७९॥
वेअगसासाणेसुं असं भागो-ऽत्थि बंधगाउस्स ।
सम्मखइएसु उ अणंतंसो सेसासु संखंसो ॥१८०॥

(प्रे०) 'दुइआ०' इत्यादि, 'द्वितीयादिषड् निरयेषु' शर्कराप्रभाप्रभृतिमहातमःप्रभापर्यवसानासु षट्सु नरकमार्गणासु 'ज्योतिष्कप्रभृतिषड्विंशतिदेवेषु' ज्योतिष्कसौधर्मादिषु षड्विंशतिमार्गणासु 'ज्ञानत्रिके' मतिज्ञान श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानलक्षणे मार्गणात्रये तथा 'देशे' देशविरतमार्गणायाम् 'अवधिपद्मशुक्ललेश्यासु' अवधौ=अवधिज्ञानस्याभिहितत्वादवधिदर्शनमार्गणायां पद्मलेश्या-शुक्ललेश्यामार्गणयोश्च 'वेदकसास्वादनयोः' वेदके=क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया सास्वादनमार्गणाया च 'आयुषः' आयुष्कस्य बन्धकाः 'असंख्यभागः' तत्तन्मार्गणावर्तिजीवानामसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, कथम् ? इति चेत्, उच्यते–द्वितीयादिषट्नरकपृथिवी-ज्योतिष्क-सर्वार्थसिद्धवर्जसौधर्मप्रभृतिसुरेषु प्रत्येक जीवा असंख्येया भवन्ति, तथैकजीवमाश्रित्याऽऽयुर्बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः, अबन्धकालस्त्वसंख्येयवर्षमात्रः, मार्गणावर्तिजीवाना जघन्यतोऽप्यसंख्येयवर्षायुष्कत्वात् । तेना ऽऽयुष्कस्य बन्धकालतोऽबन्धकालो-ऽसंख्येयगुणो भवति, तस्मात् कारणात् प्रोक्तद्वात्रिंशन्मार्गणास्वायुष्कबन्धका असंख्येयभागमात्राः, आयुष्काऽबन्धकाश्च बह्वसंख्येय-

भागप्रमाणाः । सर्वार्थसिद्धविमाने त्वायुर्बन्धकालतोऽबन्धकालस्याऽसंख्येयगुणत्वेऽपि सर्वार्थसिद्धसुराणां संख्येयत्वात् तत्राऽसंख्येयभागप्रमाणा बन्धका न लभ्यन्ते, किन्तु संख्येयभागप्रमाणा एव ।

ज्ञानत्रिकावधिदर्शनक्षायोपशमिकसम्यक्त्वेषु मार्गणास्थानेषु जीवा यद्यपि परिमाणप्राधान्याद् देवा भवन्ति, तथापि प्रोक्तमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकाः परिमाणप्राधान्यात् तिर्यञ्चो भवन्ति, यतो विवक्षितसमये सम्यग्दृष्टिदेवाः संख्येया एवायुष्कं बध्नन्ति, तेषां संख्येयराशिकपर्याप्तमनुष्येष्वेवोत्पादात् सम्यग्दृष्टितिर्यञ्चस्त्वसंख्येया आयुष्कं बध्नन्ति, तेषां देवेषूत्पादाद् देवानां चाऽसंख्येयराशिकत्वात् । सम्यग्दृष्टिदेवेभ्यश्च सम्यग्दृष्टितिर्यञ्चोऽसंख्येयगुणहीना भवन्ति । तेन प्रोक्तमार्गणापञ्चके सुतरामायुष्कस्य बन्धका तत्तन्मार्गणावर्तिजीवानामसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, अबन्धकास्तु बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, सम्यग्दृष्टिदेवानामप्यबन्धकत्वात् ।

पद्मलेश्यायामायुष्कस्य बन्धका देवा उत्कृष्टतोऽपि श्रेण्यसंख्येयभागमात्राः, सनत्कुमारादीनां तावन्मात्रत्वात् , मनुष्यास्तु संख्येया एव, संख्येयत्वात् पर्याप्तमनुष्याणाम् , पद्मलेश्याकास्तिर्यञ्चोऽपि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणा आयुषो बन्धकाः, पद्मलेश्याकतिरश्चां सनत्कुमारादिदेवेष्वेवोत्पादात् , सनत्कुमारादिदेवाना च श्रेण्यसंख्येयभागमात्रत्वात् । तेन गतित्रयवर्तिनः समुदिता अपि पद्मलेश्याका जीवाः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणा आयुष्कं बध्नन्ति, पद्मलेश्याकजीवास्त्वसंख्येयश्रेणिमात्राः । तेन पद्मलेश्यामार्गणायामायुष्कस्य बन्धका असंख्येयभागमात्राः, अबन्धकास्तु बहुसंख्येयभागप्रमिता इति सूपपद्यते ।

शुक्ललेश्यायां तु संख्येया एवायुष्कबन्धकाः **परिमाणद्वारे** वक्ष्यन्ते, शुक्ललेश्याकास्त्वसंख्येयाः । तेन शुक्ललेश्यायामसंख्येयभागप्रमाणा आयुष्कस्य बन्धकाः, बहुसंख्येयभागप्रमाणास्त्वबन्धकाः ।

देशविरतमार्गणासास्वादनमार्गणयोरसंख्येयभागमात्रा आयुष्कस्य बन्धकाः, बहुसंख्येयभागमाणास्त्वायुषोऽबन्धकाः, यद्यप्यायुष्कबन्धकालतः प्रोक्तमार्गणयोः कालः संख्येयगुणः, संख्येयवर्षायुष्काणां जीवानां देशविरतभावात् , सास्वादनगुणस्थानस्य च षडावलिकामात्रत्वात्, तथापि कथितमार्गणाद्वयेऽतीवस्तोका आयुष्कबन्धकाः, तेनाऽसंख्येयभागप्रमाणास्ते लभ्यन्ते, अन्यथाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणावत् संख्येयभागमात्रा लभ्येरन् ।'अवसेसा अबधगा'' इत्यस्माद्वचनाद् बहुसंख्येयभागप्रमाणा आयुष्कस्याऽबन्धका भवन्ति ।

सम्प्रति सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोरायुष्कबन्धकान् भागद्वारेण प्ररूपयिषुराह–'**सम्मखइएसु**' इत्यादि, 'सम्यक्त्व–क्षायिकयोः' सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणाया च 'अनन्तांशः' अनन्ततमभागप्रमाणा आयुष्कस्य बन्धका भवन्ति, मार्गणा-

गतजीवानामनन्तत्वाद् आयुर्बन्धकानां च सिद्धजीवरहितत्वेन सम्यक्त्वसामान्य उत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयत्वात् क्षायिकसम्यक्त्वे च संख्येयत्वात्, शेषा बह्वनन्तभागमात्रास्त्वायुषो-ऽबन्धकाः, परिमाणप्राधान्यतः सिद्धानामबन्धकत्वात् ।

'**सेसा**' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु वैक्रियमिश्रप्रभृतिष्वेकादशमार्गणास्त्वायुर्बन्धाभावेन त्रयश्चत्वारिंशन्मार्गणासूक्तत्वेन च विंशत्यधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः 'संख्यांशः आयुष्कस्य बन्धकास्तत्तन्मार्गणावर्तिजीवानां संख्येयभागप्रमिता भवन्ति, तत्र परिमाणप्राधान्यात् संख्येयावलिकायुष्काणां जीवाना लाभेना ऽऽयुष्कबन्धकालतोऽबन्धकालस्य संख्येयगुणत्वात् । शेषमार्गणास्त्विमाः—नर तिसामान्य-रत्नप्रभापृथिवीनरकरूपे द्वे मार्गणे, पञ्च तिर्यग्भेदाः, चत्वारो मनुष्यभेदाः, देवगतिसामान्यमार्गणा भवनपतिमार्गणा व्यन्तरमार्गणा सर्वार्थसिद्धमार्गणा, इन्द्रियभेदा एकोनविंशतिः, कायभेदा द्वाचत्वारिंशत् ,वैक्रियमिश्रकाययोग कार्मणकाययोगवर्जयोगभेदाः षोडश, वेदत्रयं कषायचतुष्कमज्ञानत्रिकमनःपर्यवज्ञानरूपाश्चतस्रो मार्गणा देशविरत सूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातसंयमवर्जसंयमभेदाः पञ्च, चक्षुर्दर्शनमार्गणाऽचक्षुर्दर्शनमार्गणे, अशुभलेश्यात्रिक तेजोलेश्या भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमार्गणा संज्ञिमार्गणा-ऽसंज्ञिमार्गणा-ऽऽहारकमार्गणा चेति । एतासु विंशत्यधिकशतमार्गणास्वायुषोऽबन्धका बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । तदेवमभिहिता आयुष्कस्य बन्धका-ऽबन्धका भागद्वारेण तत्तन्मार्गणागतजीवानाश्रित्य ॥१८०॥

सम्प्रति सर्वजीवानाश्रित्यायुषो बन्धकाऽबन्धकान् भागद्वारेण प्ररूपयिषुरादौ तावद् बन्धकान् निरूपयति—

अहिकिच्च सव्वजीवा संखंसो बंधगा तिरिक्खम्मि ।
एगिंदिणिगोएसुं ताण सुहुमसव्वभेएसुं ॥१८१॥
वणकायुरलदुगणपुमकसायचउगदुअणाणअजएसुं ।
अणयणतिअसुहलेसा भविमिच्छासण्णिआहारे ॥१८२॥

(प्रे०) '**अहिकिच्च**' इत्यादि, 'अधिकृत्य सर्वजीवान्' सर्वजीवानाश्रित्य 'संख्यांशः' संख्येयभागमात्रा 'बन्धकाः' प्रस्तुतत्वाद् आयुष्कस्य बन्धका भवन्ति, क्व ? इत्याह—'**तिरिक्खम्मि**' इत्यादि, 'तिरश्चि' तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायाम् 'एकेन्द्रियनिगोदयोः' एकेन्द्रियमार्गणायां निगोदे=साधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणाया च 'तयोः' एकेन्द्रिय-निगोदयोः 'सूक्ष्मसर्वभेदेषु' सूक्ष्माणां सर्वभेदेषु=सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायरूपेषु षट्सु मार्गणास्थानेष्वित्यर्थः, तथा 'वन कायौ-दारिकद्विक नपुंसक कषायचतुष्क-द्व्यज्ञाना-ऽयतेषु' एते शब्दाः कृत-

द्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् वने=वनस्पतिकायमार्गणायां काये=काययोग औदारिकद्विके=औदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगरूपे मार्गणाद्वये नपुंसके=नपुंसकवेदमार्गणायां कषायचतुष्के=क्रोध-मान-माया-लोभरूपे मार्गणाचतुष्टये 'द्व्यज्ञानयोः' मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञानमार्गणयोः, 'अयते' अविरतमार्गणायां च 'अनयन-त्र्यशुभलेश्या-भव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-हारे' एते कृतसमाहारद्वन्द्वाः सप्तम्या निर्दिष्टाः, ततश्चायमर्थः-अनयने=अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां त्र्यशुभलेश्यासु=कृष्णलेश्यानीललेश्याकापोतलेश्यामार्गणासु भव्यमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायाम्, असंज्ञिनि=असंज्ञिमार्गणायाम् आहारे=आहारकमार्गणायाञ्च सर्वसङ्ख्ययैकोनत्रिंशन्मार्गणासु, सूक्ष्मनिगोदजीवानां परिमाणप्राधान्याद् बन्धकत्वात्। अयं भावः—प्रोक्तैकोनत्रिंशन्मार्गणासु परिमाणप्राधान्यात् सूक्ष्मनिगोदजीवा आयुष्कस्य बन्धका भवन्ति, सूक्ष्मनिगोदजीवाश्च सर्वजीवेषु प्रधानपरिमाणतया वर्तन्ते। तथा प्रोक्तमार्गणास्वायुर्बन्धकालतो-ऽबन्धकालः संख्येयगुणः, स्वत्रिभाग-त्रिभागत्रिभागाद्यवशेष आयुर्बन्धोपलम्भाद्द्वयोस्त्रिभागयोश्चाऽऽयुर्बन्धाभावात्। तेना-ऽऽयुष्कस्य बन्धका मार्गणागतजीवानां सख्येयभागकल्पा भवन्ति। तस्मादुक्तैकोनत्रिंशन्मार्गणासु सर्वजीवानां संख्येयभागकल्पा आयुष्कस्य बन्धका भवन्ति ॥१८१।१८२॥

सम्प्रति शेषासु मार्गणासु भागद्वारेण सर्वजीवानाश्रित्याऽऽयुष्कस्य बन्धकान् दिदर्शयिपुराह—

णेया असं भागो सेसेगिंदियणिगोअभेएसुं।
सेसासु मग्गणासुं अणंतभागो मुणेयव्वा ॥१८३॥

(प्रे०) '**णेया**' इत्यादि, 'ज्ञेयाः' बोद्धव्याः 'असंख्यभागः' सर्वजीवानामसंख्येयभागप्रमाणाः 'शेषैकेन्द्रिय-निगोदभेदेषु' उक्तोद्धरितेष्वेकेन्द्रियनिगोदभेदेषु बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय—पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायरूपासु षट्सु मार्गणास्वायुषो बन्धका भवन्ति, अपर्याप्तबादरनिगोदादिजीवानां सकलजीवराश्यसख्येयभागमात्रत्वादायुष्कबन्धकानाञ्चाऽपर्याप्तबादरनिगोदादिमार्गणागतजीवानामपि सख्येयभागप्रमाणत्वात्।

अथ शेषास्वष्टाविंशत्यधिकशतमार्गणासु भागद्वारेण सर्वजीवापेक्षया बन्धकान् प्ररूपयिषुराह—'**सेसासु**' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितास्वष्टाविंशत्यधिकशतमार्गणासु 'अनन्तभागः' सर्वजीवानामनन्तभागकल्पा आयुष्कस्य बन्धका भवन्ति, तासु मार्गणास्वायुष्कबन्धकानां यथासंभवं संख्येयाऽसंख्येयत्वाद् अनन्तत्वे च सर्वजीवराशेरनन्तभागप्रमाणत्वात्। अथ शेषमार्गणाः प्रदर्श्यन्ते—तिर्यग्गतिसामान्यवर्जगतिभेदाः षट्चत्वारिंशत् (४६), एकेन्द्रियसप्तभेदान् अन्तरेणेन्द्रियभेदा द्वादश (१२), वनस्पतिकायसामान्यसप्तनिगोदलक्षणाऽष्टभेदान् ऋते कायभेदाश्चतुस्त्रिंशत् (३४), वैक्रियमिश्र-

काययोगकार्मणकाययोगकाययोगसामान्यौदारिककाययोगतन्मिश्रकाययोगवर्जयोगभेदास्त्रयोदश(१३) स्त्रीवेद-पुरुषवेदौ (२) केवलज्ञानद्वयज्ञानवर्जितज्ञानमार्गणाभेदाः पञ्च (५) सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यातसंयमाऽसंयमवर्जाः संयममार्गणाभेदाः पञ्च (५) चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनलक्षणं मार्गणाद्वयं (२) शुभलेश्यात्रयम् (३), अभव्यमार्गणा (१), औपशमिकसम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्ववर्जाः सम्यक्त्व-मार्गणाभेदाश्चत्वारः (४), संज्ञिमार्गणा (१) चेति । तदेवं सर्वजीवापेक्षया भागद्वारेणा-ऽऽयुष्कस्य बन्धका अभिहिताः ॥१८३॥

सम्प्रत्यायुषोऽबन्धकान् वक्तुकाम आह—

सव्वासु बंधगव्व उ अबंधगा णवरि तिरिवणेसु तहा ।
एगिंदिणिगोएसुं ताण सुहुमपज्जसुहुमेसुं ॥१८४॥
कायुरलणपुंसेसुं दुअणाणाजयअचक्खुभवियेसुं ।
मिच्छासण्णीसु तहा आहारे हुन्ति संखंसा ॥१८५॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, 'सर्वासु' वैक्रियमिश्राद्येकादशमार्गणास्वायुर्बन्धाभावात् त्रिषष्ट्य-धिकशतमार्गणासु (१६३) 'बन्धकवद्' यथाऽऽयुष्कस्य बन्धकाः प्ररूपितास्तथैव 'अबन्धकाः'आयुषो-ऽबन्धका ज्ञेया इति शेषः । सामान्येनाऽतिदिश्याऽपवादमाह–'**णवरि**' इत्यादि, नवरं 'तिर्यग्वनयोः' पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यमानत्वात् तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायां वनस्पतिकायमार्गणाया च 'एके-न्द्रियनिगोदयोः' एकेन्द्रियमार्गणायां निगोदे=साधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणायां च 'तयोः' एकेन्द्रियनिगोदयोः प्रत्येकं सूक्ष्मपर्याप्तसूक्ष्मयोर्भेदयोरिति गम्यते, सूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मसाधारणशरीर-वनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायरूपासु चतसृषु मार्गणास्वि-त्यर्थः, 'कायौदारिकनपुंसकेषु' काये=काययोगसामान्यमार्गणायाम् औदारिके=औदारिककाय-योगमार्गणायां नपुंसके=नपुंसकवेदमार्गणाया च 'द्व्यज्ञाना-ऽयता-ऽचक्षुर्भव्येषु' द्व्यज्ञाने=मत्य-ज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणे मार्गणाद्वये, अविरतमार्गणायामचक्षुर्दर्शनमार्गणास्थाने भव्यमार्गणास्थाने च 'मिथ्यात्वासंज्ञिनोः' मिथ्यात्वमार्गणायामसंज्ञिमार्गणाया च, तथा 'आहारे' आहारकमार्गणायां च सर्वसंख्ययैकोनविंशतिमार्गणासु 'भवन्ति सख्यांशाः' आयुष्कस्या-ऽबन्धका बहुसख्येयभाग-मात्रा भवन्ति, कुतः ? इति चेत्, उच्यते–सर्वजीवेषु परिमाणप्राधान्यतः पर्याप्तसूक्ष्मनिगो-दजीवा भवन्ति, ते चोक्तैकोनविंशतिमार्गणासु प्रविष्टाः । तेषां सख्येयभागकल्पा आयु-ष्कस्य बन्धका एकाशीत्युत्तरशततमगाथाद्व्यशीत्यधिकशततमगाथयोरुक्ताः, तेना-ऽवशेषा बहु-सख्येयभागमात्रा अबन्धकत्वेनोपलभ्यन्ते । उक्तैकोनविंशतिमार्गणा विहाय चतुश्चत्वारिंशदधिक-शतमार्गणासु (१४४) बन्धकवदेवाऽबन्धका भवन्ति । तथाहि–अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया ऽपर्याप्तसूक्ष्म-निगोदौ-दारिकमिश्रकाययोग कषायचतुष्का–ऽशुभलेश्यात्रयरूपासु दशमार्गणास्वायुष्कस्याऽबन्धकाः

मार्गणागतजीवाश्रितसप्तकर्मबन्धकाबन्धकभागप्रदर्शियन्त्रम्

ओघत सप्तकर्मणां बन्धका बहुनन्तभागप्रमाणा सन्ति, अबन्धकास्त्वनन्तभागप्रमाणा ।

बन्धका	बहुसख्यभागा	बहुसख्यभागा	बहुनन्तभागा	अनन्तभाग	भागप्ररूपणा नास्ति
अबन्धका	असख्यभाग	सख्यभाग	अनन्तभाग	बहुनन्तभागा	,, ,,
गति	मनुष्यसा०	पर्याप्तमनुष्यमानुषी०			शेषा ४४
इन्द्रियम्	पञ्चेन्द्रियपर्याप्त पञ्चे० २				शेषा १७
काय	त्रस-पर्याप्तत्रस० २			..	शेषा ४०
योग	पञ्चमनो०पञ्चवचो० १० 卐		काय०, औदारिक-द्विक०, कार्मण० 卐		शेषा ४
वेद				गतवेद० १	शेषा ३
कषाय			लोभ ❀	अकषाय० १ ★	शेषा ३
ज्ञानम्	मतिश्रुतावधि० ३ 卐	मन पर्यव० 卐		केवलज्ञान० ★	शेषा ३
सयम		सयम०, यथाख्यात० ★			शेषा ६
दर्शनम्	चक्षुर्द० अवधि० 卐		अचक्षुर्द० 卐	केवलदर्शन०★	
लेश्या	शुक्ला 卐				शेषा ५
भव्य			भव्य		अभव्य
सम्यक्त्वम्	औपशमिक० 卐			सम्यक्त्वसा० क्षायिक०२	शेषा ४
सञ्ज्ञी	सञ्ज्ञी 卐				असञ्ज्ञी
आहारक			अनाहारक १ आहारक 卐		
सर्वा	५+१८	३+१+१	६+१+२	३+३	१३१
गाथाङ्क	१६६+१६७	१६६+१७०+१७१	१६८+१६९+१७१	१६६+१७०	१७१

卐 नवर पञ्चमनोयोगाद्यष्टादशमार्गणा-मन पर्यवज्ञान काययोगादिषटकलक्षणासु पञ्चविंशतिमार्गणासु वेदनीयस्य बन्धकाबन्धकाना भागप्ररूपणा नास्ति ।

★ यथाख्यानाऽकषायकेवलद्विकेषु केवलस्य वेदनीयस्य ज्ञेया । ❀ लोभे केवलस्य मोहनीयस्य बोद्धव्या ।

सर्वजीवाश्रितसप्तकर्मबन्धकाबन्धकभागप्रदर्शियन्त्रम्

बन्धका	बहुनन्तभागा	असंख्यभागा	बहुसंख्यभाग	बहुसंख्यभागा	संख्यभाग	देशोनचतुर्भाग	साधिक चतुर्भाग	देशोनत्रिभाग	साधिक त्रिभाग	अनन्तभाग.	सप्तानामबन्धका अनन्तभागमात्रा
गति	तिर्यग्गतिसा०		.				.			शेषा ४६	अपर्याप्तवर्जतिर्मनुष्या
इन्द्रियम्	एकेन्द्रियसा०	बादरके० पर्याप्ता-पर्याप्तबादरे० ३	सूक्ष्मैकेन्द्रिय०	पर्याप्तसूक्ष्मैके	अपर्याप्तसूक्ष्मै	..				शेषा १२	पञ्चे०, पर्याप्तपञ्चे०
काय	वनस्पतिसा० निगोदसा०	बादरनिगोद पर्याप्तापर्याप्तबादरनि	सूक्ष्मनिगोद०	पर्याप्तसूक्ष्म-निगोद०	अपर्याप्तसूक्ष्म निगोद०					शेषा ३४	त्रस–पर्याप्तत्रस०
योग	काययोग०	कार्मण०	...	औदारिक०	औदारिक-मिश्र०					शेषा १४	वैक्रियद्विकाहारकद्विकवर्जा १४ ×
वेद	नपुंसक०			.						शेषा ३	गतवेद० १
कषाय	.				.	क्रोधमान-माया	लोभ			अकषाय +	लोभ, अकषाय २ ☆ +
ज्ञानम्	अज्ञानद्विकम्				.					शेषा ६ +	ज्ञानानि ५ + ×
संयम	असंयम०	..								षा ७ +	संयम०, यथाख्यात० +
दर्शनम्	अचक्षुदर्शन०			..						शेषा ३ +	दर्शन० ४ + ×
लेश्या								नील० कापोत०	कृष्ण० १	शेषा ३	शुक्ला १ ×
भव्य	भव्य						.			अभव्य	भव्य १
सम्यक्त्वम्	मिथ्यात्व०									शेषा ६	सम्य० क्षायिक० औपशमि० २ ×
संज्ञी	असंज्ञी									संज्ञी	संज्ञी ×
आहारक		अनाहारक	आहारक							.	आहारक × अनाहारक
सर्वा.	१३	८	३	३	३	२	१	२	१	१३७	४३
गाथाङ्क	१७३–१७४	१७४	१७५	१७५	१७६	१७६	१७६	१७७	१७७	१७७	१७८

× नवरं पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगकाययोगौदारिकद्विककार्मणज्ञानचतुष्कदर्शनत्रिकशुक्ललेश्यौपशमिकसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारकमार्गणासु पञ्चाशीतिमार्गणासु वेदनीयस्य भागप्ररूपणा नास्ति । + अकषायकेवलद्विकयथाख्यातमार्गणासु केवलस्य वेदनीयस्य विज्ञेया । ★लोभे केवलस्य मोहनीयस्य भवन्ति ।

मार्गणागतजीवाश्रितायुर्बन्धकाबन्धकभागप्रदर्शियन्त्रम्   सर्वजीवाश्रितायुर्बन्धकाबन्धकभागप्रदर्शियन्त्रम्

बन्धका	असख्यभाग	अनन्तभाग	सख्यभाग	सख्यभाग	सख्यभाग	असख्यभाग	अनन्तभाग
अबन्धका	बहुसख्यभागा	बहुनन्तभागा	बहुसख्यभागा	बहुसख्यभागा	,, ,,	,, ,,	,, ,,
गति	द्वितीयनरकादय षट् ज्योतिष्कादय षड्-विंशतिदेवा		शेषा १५	तिर्यग्गतिसा०			शेषा ४६
इन्द्रियम			सर्वा १९	एकेन्द्रिय० सूक्ष्मै० पर्याप्तसूक्ष्मै० ३	अपर्याप्तसूक्ष्मै०	बादरैके० पर्याप्तापर्याप्त-बादरै०३	शेषा १२
काय		—	सर्वा ४२	निगोद०,सू०नि०,प० सू नि०, वन०(४)	अपर्याप्तसूक्ष्मनि०	बादरनिगोद० पर्याप्तापर्याप्त बा०निगोद०	शेषा ३४
योग			सर्वा १६	काययोग, औदा०	औदारिकमिश्र०		शेषा १३
वेद			सर्वा ३	नपुसक०			शेषे २
कषाय			सर्वा ४		सर्वा ४	...	
ज्ञानम्	मतिश्रुतावधिज्ञानानि	—	शेषा ४	अज्ञानद्विक०		.	शेषा ५
सयम	देशविरति १		शेषा ५	असयम०		...	शेषा ५
दर्शनम्	अवधिदर्शनम् १		चक्षुरचक्षुर्द०	अचक्षुर्द०			शेषे २
लेश्या	पद्मलेश्या-शुक्ल-लेश्ये २		शेषा ४	—	अशुभास्तिस्र		शेषा ३
भव्य			भव्याभव्यौ	भव्य			अभव्य
सम्यक्त्वम्	क्षायोप०सास्वादन०	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०	मिथ्यात्व०	मिथ्यात्व०		.	शेषा ४
सज्ञी			सज्ञ्यसज्ञि०	असज्ञी	..	.	सज्ञी
आहारक			आहारक	आहारक			
सर्वा	४१	२	१२०	१९	१०	६	१२८
गाथाङ्क	१७९–१८०	१८०	१८०	१८१-१८२-१८४ १८५	१८१-१८२,१८४	१८३-१८४	१८३-१८४

॥ अथ नवमं परिमाणद्वारम् ॥

इदानीं क्रमप्राप्तेन परिमाणद्वारेण बन्धकाऽबन्धकानां परिमाणं वक्तुकाम आह—

अट्ठण्हं कम्माणं हवंति बंधगअबंधगा-ऽणंता ।
अह बंधगा अणंता आउगवज्जाण विण्णेया ॥१८६॥
तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअभेअवणकायजोगेसुं ।
उरलदुगकम्मणेसुं णवुंसगे चउकसायेसुं ॥१८७॥
अण्णाणदुगे जये अचक्खुदंसणतिअसुहलेसासुं ।
भवियेयरमिच्छेसुं असण्णिआहारगियरेसुं ॥१८८॥

(प्रे०) 'अट्ठण्हं' इत्यादि, 'अष्टानां कर्मणां' ज्ञानावरणादिरूपाणामष्टकर्मणां बन्धका-ऽबन्धकाः प्रत्येकं 'अनन्ताः' एकस्मिन् समय उत्कृष्टतोऽनन्तपरिमाणा भवन्ति, परिमाणप्राधान्याद् निगोदजीवानामष्टकर्मबन्धकत्वात् सिद्धजीवानां च सप्तकर्मा-ऽबन्धकत्वादायुषस्तु बहुसंख्येयभाग-प्रमाणनिगोदजीवानामप्यबन्धकत्वात् ।

सम्प्रत्यादेशतः परिमाणद्वारेण बन्धका-ऽबन्धकान् प्ररूपयितुकाम आदौ तावद् बन्धकान् भणति-'अह' इत्यादि, 'अथ' अथशब्द आनन्तर्यार्थकः, ओघप्ररूपणानन्तरमादेशत 'आयुष्कवर्जानाम्' आयुर्वर्जज्ञानावरणादीनां सप्तानां कर्मणां बन्धका अनन्ताः 'विज्ञेयाः' बोद्धव्याः, कासु मार्गणासु ? इत्याह-'तिरिये' इत्यादि, 'तिरश्चि' तिर्यग्गतिमार्गणायां 'सर्वैकेन्द्रियनिगोदभेदवनकाययोगेषु' सर्व-शब्दस्य द्वाभ्यामभिसम्बन्धात् सर्वैकेन्द्रियेषु=एकेन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽप-र्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय--बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपेषु सप्तभेदेषु प्रत्येकं सर्व-निगोदेषु=साधारणशरीरवनस्पतिकाय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवन-स्पतिकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय पर्याप्तबादरसाधा-रणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायलक्षणासु सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं वने=पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यमानत्वाद् वनस्पतिकायमार्गणायां काययोगे=काययोगसा-मान्यमार्गणाया च 'औदारिकद्विककार्मणयोः' औदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोः प्रत्येकं कार्मणे=कार्मणकाययोगमार्गणायां च नपुंसके=नपुंसकवेदमार्गणायां 'चतुष्कषायेषु' क्रोध-मान-माया-लोभलक्ष-णेषु कषायमार्गणाभेदेषु 'अज्ञानद्विके' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपा-ऽज्ञानद्वये 'अयते' अविरतमार्गणायाम् 'अचक्षुर्दर्शनत्र्यशुभलेश्यासु' अचक्षुर्दर्शने=अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां त्र्यशुभलेश्यासु=कृष्णलेश्या नील-लेश्याकापोतलेश्यारूपासु तिसृषु लेश्यामार्गणासु 'भव्येतरमिथ्यात्वेषु' भव्ये=भव्यमार्गणायाम् , इतर-

अभव्यमार्गणास्थाने मिथ्यात्वे=मिथ्यात्वमार्गणायां च 'असंज्ञ्याहारकेतरेषु' असंज्ञिनि=असंज्ञिमार्गणायाम् आहारके=आहार मार्गणास्थाने इतरस्मिन्=अनाहारकमार्गणास्थाने च सर्वसंख्यया्ऽष्टात्रिंशन्मार्गणास्थानेषु (३८), एतासु निगोदजीवानामपि प्रवेशात् । इह सामान्येनाऽनन्तजीवाः सप्तकर्मणामष्टात्रिंशन्मार्गणासु बन्धका अभिहिताः, विशेषचिन्तायामभव्यवर्जासु सप्तत्रिंशन्मार्गणासु (३७) मध्यमा-ऽनन्तानन्तपरिमाणा भवन्ति, एतावन्तश्च भावप्रमाणेन । कालप्रमाणेन पुनः परिमीयमाणा अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणा भवन्ति, अनन्तासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयाः प्राप्यन्ते, तावन्तः सप्तकर्मणां बन्धका अभव्यवर्जप्रोक्तसप्तत्रिंशन्मार्गणासु भवन्ति, क्षेत्रप्रमाणेन पुनर्मीयमाना अनन्तलोकप्रमाणा भवन्ति, अनन्तेषु लोकेषु यावन्तः प्रदेशाः, तावन्त उक्तसप्तत्रिंशन्मार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, उक्तमार्गणासु परिमाणप्राधान्याद् निगोदजीवानां सप्तकर्मबन्धकत्वात्, तेषां च यथोक्तमानत्वात् ।

अभव्यमार्गणायां तु बन्धका जीवा जघन्ययुक्ता-ऽनन्तपरिमाणा भवन्ति, तन्मार्गणागतानां सर्वेषां सप्तकर्मबन्धकत्वात्, तन्मार्गणागतजीवानां च यथोक्तपरिमाणत्वात्, यदु नुयोगद्वारे-"उक्कोसए परित्ताणतए रूवे पक्खित्ते जहन्नय जुत्ताणतय होइ अभवसिद्धिया वि तत्तिया चेव ।" इति।।१८६-१८८।।

सम्प्रति संख्याताऽसंख्यातराशिपरिमाणान् सप्तकर्मणां बन्धकान् प्ररूपयिषुराह-

पज्जणरमणुस्सीसुं सव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ।
अकसाये मणणाणे केवलदुगसंजमेसुं च ॥१८९॥
सामाइअछेएसुं परिहारम्मि सुहुमे अहक्खाये ।
सगपयडीणं संखा असंखिया्ऽण्णासु सत्तण्हं ॥१९०॥

(प्रे०) '**पज्जणर०**' इत्यादि, 'पर्याप्तनरमानुष्योः' पर्याप्तमनुष्यमार्गणायां मानुष्यां=मानुषीमार्गणायां च 'सर्वार्था-ऽऽहारकद्विका-ऽवेदेषु' सर्वार्थसिद्धसुरमार्गणायाम् आहारद्विके=आहारककाययोग तन्मिश्रकाययोगलक्षणमार्गणाद्वये अवेदे=अपगतवेदमार्गणाया च 'अकषाये' अकषायमार्गणायां 'मनोज्ञाने' मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां 'केवलद्विकसयमयोः' केवलद्विके=केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणे मार्गणाद्वये संयमे=संयमसामान्यमार्गणायां च 'सामायिकच्छेदयोः' सामायिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां च 'परिहारे' परिहारविशुद्धिकसयममार्गणाया 'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्परायसयममार्गणाया 'यथाख्याते' यथाख्यातसयममार्गणायां च 'स्वप्रकृतीनाम्' "आउवज्जाण" इत्यस्य पदस्य पूर्वतो्ऽनुवर्तनात् तत्तन्मार्गणाबन्धयोग्यप्रकृतीनामायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां बन्धकाः 'सख्याः' संख्येया भवन्ति, उक्तमार्गणासु जीवाना संख्यातराशितो-ऽधिकत्वाऽभावात् । ननु सख्यात सख्यातभेदभिन्नं भवति, तदिह कतमेन संख्यातेन संख्याता एते मन्तव्याः? इति चेत्,

उच्यते–स्त्रीनपुंसकपुरुषवेदैरविभक्ताः पर्याप्तमनुष्या भागद्वारे टीकायामेकोनत्रिंशदङ्कस्थानलक्षणेन (७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६) संख्यातेन संख्याता ये दर्शिताः, ते सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, पर्याप्तमनुष्यमार्गणायां प्रभूतानां जीवानां बन्धकत्वाद् मार्गणावर्तिजीवानां च यथोक्तमानत्वात् ।

मानुषीमार्गणायां सप्तकर्मणां जीवा बन्धकाः संख्येयकोटिकोटिप्रमाणाः, मानुषीमार्गणायां प्रभूतानां जीवानां बन्धकत्वाद् मानुषीणां च यथोक्तमानत्वात् ।

सर्वार्थसिद्धसुरमार्गणायां जीवाः संख्येया भवन्ति, विमानस्य संख्येययोजनमात्रत्वात् । न हि सम्भवन्ति संख्येययोजनमात्रे विमानेऽसंख्येया देवाः, सर्वार्थसिद्धदेवानामवगाहनाया हस्तमात्रत्वात्, उक्तं च **श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ**–'सर्वार्थसिद्धमहाविमानदेवा सख्येया ।" इति । तेन सर्वार्थसिद्धमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाः संख्येया एव भवन्ति ।

आहारककाययोग तन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः सप्तकर्मणां बन्धकाः संख्येया (सहस्रपृथक्त्वमात्राः) भवन्ति, यतोऽभिहितमार्गणागताः सर्वे जीवाः सप्तकर्मबन्धकाः, ते च यथोक्तमानाः, यदुक्तं **श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तौ**–

'जइ हु ति जहण्णेण एक्क दो तिन्नि पच व हवंति । उक्कोसेण जुगव पुहुत्तमेत्त सहस्साण ॥१॥" इति ।

अपगतवेदाऽकषाय-केवलज्ञान केवलदर्शन-यथाख्यातसंयममार्गणासु वेदनीयस्य बन्धकाः कोटीपृथक्त्वमात्राः, यतोऽपगतवेदाऽकषाय-यथाख्यातसंयममार्गणासु परिमाणप्राधान्यतः सयोगिकेवलिनो वेदनीयबन्धकाः सयोगिकेवलिनश्च यथोक्तमानाः, यदुक्तं **जीवसमासे** "××कोडिपुहुत्त सजोगीण ।" इति ।

सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणां बन्धकाः शतपृथक्त्वमात्रा भवन्ति, यत एतन्मार्गणागताः सर्वे जीवाः षट्कर्मबन्धका मार्गणागतजीवाश्च तावन्मात्राः, एवमपगतवेदमार्गणायामपि वेदनीयायुष्कवर्जानां बन्धकाः शतपृथक्त्वमात्राः संभवन्ति, क्षपकोपशमकसूक्ष्मसम्परायाऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसंख्येयभागवर्तिनां प्रत्येकं शतपृथक्त्वमात्रत्वात् । संयमसामान्य सामायिकसंयममार्गणयोः प्रत्येकं कोटिसहस्रपृथक्त्वप्रमाणाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, सामायिकसंयमे सर्वेषां संयमसामान्ये च प्रभूतानां जीवानां सप्तकर्मबन्धकत्वाद् मार्गणागतजीवानां च तावन्मात्रत्वात् । छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाः कोटिशतपृथक्त्वप्रमिता भवन्ति, उक्तमार्गणायां सर्वेषां बन्धकत्वात् प्रोक्तमार्गणास्थायिनां च तावन्मात्रत्वात् । परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाः सहस्रपृथक्त्वप्रमिता भवन्ति, यतो मार्गणायां सर्वे जीवा बन्धका मार्गणागतजीवाश्च तावन्मात्राः, यदुक्तं **श्रीदेवेन्द्रसूरिपादैः**–"सर्वस्तोका सूक्ष्मसम्परायसयमिन , शतपृथक्त्वमात्रसम्भवात् । तेभ्य परिहारविशुद्धिका सङ्ख्यातगुणा , सहस्रपृथक्त्वसम्भवात् । तेभ्यो-ऽपि यथाख्यातचारित्रिण सख्यातगुणा कोटिपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्यो=यथाख्यातचारित्रिभ्यश्छेदोपस्था-

पनचारित्रिण सख्येयगुणा, कोटीशतपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात्। तेभ्यो-ऽपि सामायिकसयमिन सख्येयगुणा, कोटिसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात।" इति।

सम्प्रति शेषमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकान् प्ररूपयिपुराह–**'असंखिया'** इत्यादि, 'अन्यासु' या मार्गणाः किञ्चिन्न्यूनगाथापञ्चकेना-ऽभिहिताः, ताभ्यो भिन्नासु, विंशत्यधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तकर्मणां बन्धका असंख्यका भवन्ति, कासुचिन्मार्गणासु सर्वेषा बन्धकत्वात् कतिपयासु मार्गणासु प्रभूताना बन्धकत्वाद् मार्गणावर्तिजीवानां चा ऽसख्येयत्वात्। इह विंशत्यधिकशतमार्गणासु सामान्येनोक्तावपि न सर्वे मिथस्तुल्याः, किन्त्वनेकभेदभिन्ना इति "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सदेहादलक्षणम्" इति न्यायमवलम्ब्य किञ्चिद्विशेषः प्रदर्श्यते-घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्य या असख्येया एकप्रादेशिक्यः श्रेणयः घनीकृतलोकप्रतरस्य पुनरसंख्येयभाग मात्र्यः, तासु यावन्त आकाशप्रदेशाः, तावत्प्रमाणाः क्षेत्रप्रमाणेन नरकगतिसामान्यमार्गणायां रत्नप्रभाख्यप्रथमपृथिवीनरकमार्गणाया च सप्तकर्मणा बन्धका भवन्ति, उक्तमार्गणयोः सर्वेषां जीवानां सप्तकर्मबन्धकत्वादभिहितमार्गणावर्तिजीवानां च तावन्मात्रत्वात्। यदुक्तं **श्रीपञ्चसंग्रहे–**

"सन्नी चउसु गईसु पढमाएँ असखसेढिनेरइया × × × × × × × ×। ॥ १ ॥" इति।

ननु नरकगतिसामान्य रत्नप्रभानारकमार्गणा-देवगतिसामान्य व्यन्तर-भवनपति-सौधर्मैशानसुरमार्गणासु प्रतरा-ऽसंख्येयभागमात्र्यो-ऽसंख्येयाः श्रेणयः सप्तरज्जुदीर्घा एकप्रादेशिक्यो-ऽभिधियन्ते, ताश्च विस्तरतोऽसख्येययोजनकोटिकोटिगता अपि संभवन्ति, कि तावति क्षेत्रे प्राप्यमाणाः श्रेणय इह गृह्यन्ते ? इति चेत्, न, कि तर्हि ? इति चेत्, उच्यते–एकप्रादेशिकश्रेणिरूपसूच्यङ्गुलप्रमाणे क्षेत्रे-ऽसख्येया आकाशप्रदेशास्तिष्ठन्ति, तेषा वर्गमूलान्यप्यसंख्येयानि, तत्राद्य वर्गमूल यत् प्राप्यते, तद् द्वितीयवर्गमूलेन गुणयितव्यम्, गुणनेन यत् प्राप्यते, तत्प्रमाणाः श्रेणय इह नरकगतिसामान्यमार्गणायां ग्राह्याः। असत्कल्पनया सूच्यङ्गुलक्षेत्रे षट्पञ्चाशदधिके द्वे शते (२५६) नभःप्रदेशानां भवतः, तत्र प्रथमं वर्गमूल षोडश (१६), द्वितीयं चत्वारः (४)। चतुर्भिः षोडश गुणिता जाताश्चतुषष्टिः (६४)। चतुष्षष्टिप्रमाणाश्च सूचिश्रेणयः सद्भावतश्चाऽसंख्येयाः श्रेणयो मन्तव्याः, यदुक्त**मनुयोगद्वारे–**"नेरइयाण भते ! केवइया वेउव्विअसरीरा प० ? गो० दुविहा पण्णत्ता, त जहा बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ ण जे ते बद्धेल्लया, ते ण असखिज्जा, असखिज्जाहि उस्सप्पिणीओसप्पिणीहि अवहीरति कालओ, खेत्तओ असखेज्जाओ सेढीओ, पयरस्स असखिज्जइभागो तासि ण सेढीण विक्खभसूईअगुलपढमवग्गमूल बिइअवग्गमूलपडुपण्ण।" इति। इह प्रत्युत्पन्न नाम गुणितम्। एव **जीवसमासे**-ऽप्युक्तम्। इत्थमेव प्रथमपृथिवीनरकमार्गणायामपि सप्तकर्मबन्धकपरिमाण भावनीयम्।

श्रीप्रज्ञापनासूत्राभिप्रायेणैकप्रादेशिकश्रेणिरूपसूच्यङ्गुलक्षेत्रप्रथमवर्गमूलसख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशाः, असुरकुमारादीनां प्रत्येकं तावत्प्रमाणश्रेणयो भवन्ति, ताभ्यः सख्येयगुणाः श्रेणयो भवनपतिमार्गणाया भवन्ति। असत्कल्पनयाऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः षट्त्रिंशदधिकपञ्चशतोत्तरपञ्चषष्टिसहस्रप्रमाणस्य यत्प्रथमवर्गमूलं षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयलक्षणम्, तस्य सख्येय-

तमे भागे चत्वार आकाशप्रदेशाः, ततः संख्येयगुणाश्चत्वारिंशत् , तावत्प्रदेशप्रमाणश्रेणयः सद्भावतश्चाऽसंख्येयाः श्रेणयो भवनपतिमार्गणायां भवन्ति, श्रीप्रज्ञापनासूत्रे—

"असुरकुमाराण भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा प० ? गोयमा ! दुविहा प० त० बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य तत्थ ण जे ते बद्धेल्लगा ते ण असखेज्जा,असखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पणीहिं अवहीरंति कालओ,खेत्तो असखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असखेज्जतिभागो तासि ण सेढीण विक्खभसुई अगुलपढमवग्गमूलस्स सखेज्जतिभागो । × × × एव जाव थणियकुमारा ।" इति प्रतिपादितत्वात् ।

अनुयोगद्वारसूत्राभिप्रायेणैकप्रादेशिकश्रेणिरूपसूच्य ङ्गुलक्षेत्रप्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयभागे यावन्तः प्रदेशाः, तावत्प्रदेशप्रमाणश्रेणयो भवनपतिमार्गणायां भवन्ति, **अनुद्वारे**—"असुरकुमाराण भंते ! के० वेउव्वियसरीरा प० ? गो० ! दुविहा पन्नत्ता,त जहा–बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य,तत्थ ण जे ते बद्धेल्लया ते ण असखेज्जा,असखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असखिज्जइभागो, तासि ण सेढीण विक्खभसूईअगुलपढमवग्गमूलस्स असखिज्जइभागो ।" × × × जहा असुरकुमाराण, तहा जाव थणिअ० ताव भाणियव्व ॥"इति समर्थितत्वात् ।

जीवसमासग्रन्थाभिप्रायेणैकप्रादेशिकश्रेणिरूपसूच्यङ्गुले स्वप्रथमवर्गमूलेन गुणिते यल्लभ्यते, तत्प्रमाणा भवनपतिमार्गणायां सूचिश्रेणयो भवन्ति । कल्प्यतां सूच्यङ्गुलं षट्पञ्चाशदधिकशतद्वय नभःप्रदेशानाम् । तत् स्वप्रथमवर्गमूलेन षोडशलक्षणेन गुण्यते, तदा जातानि षण्णवत्यधिकानि चतुःसहस्राणि (४०९६) । तदेवं कल्पनया षण्णवत्युत्तरचतुःसहस्राणि सद्भावतश्चाऽसंख्येयाः सप्तरज्जुदीर्घसूचिश्रेणयो भवनपतिमार्गणायां भवन्ति ।

पञ्चसंग्रहाभिप्रायेण त्वेकप्रादेशिकश्रेणिरूपसूच्यङ्गुले प्रथमवर्गमूलेन गुणिते यावन्तः प्रदेशा लभ्यन्ते, तावन्मात्र्यः श्रेणयः प्रथमनरके भवन्ति, न तु भवनपतिमार्गणायाम् । कल्प्यतां प्रदेशानां षट्पञ्चाशधिकं शतद्वयं सूच्यङ्गुलम्, तच्च प्रथमवर्गमूलेन षोडशरूपेण गुण्यते, तदा षण्णवत्युत्तराणि चत्वारि सहस्राणि (४०९६), सद्भावतश्चाऽसख्येयाः प्रथमनरके श्रेणयो ज्ञातव्याः । तथा सूच्यङ्गुलप्रथमवर्गमूलं द्वितीयवर्गमूलेन गुण्यते, तदा यावन्तो नभःप्रदेशा लभ्यन्ते, तावन्मात्रश्रेणिगतप्रदेशप्रमाणा भवनपतयो भवन्ति, न तु प्रथमपृथिवीनिरयाः । यथा-ऽसत्कल्पनया षोडशलक्षणं प्रथमवर्गमूलं चतुष्कलक्षणेन द्वितीयवर्गमूलेन गुण्यते, तदा चतुःषष्टिः सद्भावतश्चाऽसख्येयाः श्रेणयः प्राप्यन्ते, तावन्मात्रश्रेणिगतप्रदेशतुल्या भवनपतयो भवन्ति । तथा चाऽत्र पञ्च [illegible]ग्रन्थः—

" अहवगुलपएसा समूलगुणिया उ नेरइयसूई । पढमदुइयापयाइं समूलगुणियाइ इयराण ॥ १ ॥" इति ।

तद्वृत्तिः—"रत्नप्रभानारकादीनामेव विषये प्रकारान्तरेण भूय श्रेणिपरिमाणमाह-अथवेति प्रकारान्तरसूचने। प्रकारान्तर चेदम् पूर्वमङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रदेशप्रमाणः कल्पित , इह तु न तथा कल्प्यते, किन्तु यथावस्थित एव विवक्ष्यते इति । अङ्गुल एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे ये प्रदेशास्ते वर्गमूलेन गुणिता सन्तो यावन्त सम्भवन्ति, एतावत्प्रमाणा नैरयिकसूचि , नैरयिकपरिमाणहेतूना श्रेणीना विस्तर । किमुक्त भवति ? एतावत्प्रमाणा प्रथमपृथिवीनारकाणा परिमाणावधारणाय

श्रेणयो-ऽवगन्तव्या । तथा-अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत्प्रथम पद वर्गमूल तत्स्वकीयेन मूलेना-ऽङ्गुलमात्र-क्षेत्रराश्यपेक्षया द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते, गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति, एतावत्प्रमाणा भवनपतीना परिमाणाऽवधारणाय श्रेणयो द्रष्टव्या ।" इति । तदेव **जीवसमासपञ्चसंग्रह-ग्रन्थयो** रत्नप्रभानरकभवनपतिपरिमाणविषये मिथो व्यत्ययः । रत्नप्रभानारकमार्गणाया यावत्सूचिश्रेणिगतप्रदेशमात्रा जीवाः प्रतिपादिताः, तावत्सूचिश्रेणिगतप्रदेशप्रमाणजीवतो विशेषाधिका नरकगतिसामान्यमार्गणाया बोद्धव्याः, परिमाणापेक्षयाऽस्यां मार्गणायां रत्नप्रभानारकाणामेव प्राधान्यात् ।

सूच्यङ्गुलद्वितीयवर्गमूले तृतीयवर्गमूलेन गुणिते यत्प्राप्यते, तन्मात्र्यः श्रेणयः सौधर्मैशान-मार्गणयोः प्रत्येकं भवन्ति, असत्कल्पनया चतुष्कलक्षणं द्वितीयवर्गमूल तृतीयवर्गमूलेन द्विकलक्षणेन गुण्यते, तदाऽष्टौ लभ्यन्ते, सद्भावतः पुनरसंख्येयाः, यदुक्तं **जीवसमासे**–

"सेढीसूइपमाण भवणे घम्मे तहेव सोहम्मे । अगुलपढमबिइयतियसमणतरवग्गमूलगुण ॥ १ ॥" इति ।

द्वितीयादिषड्नरकपृथिवीमार्गणासु सनत्कुमारप्रभृतिसहस्रारपर्यवसानासु च षट्सु सुर-मार्गणासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसंख्येयतमभागकल्पाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, यथोत्तरं च तृतीयादिपृथिवीनारकेषु माहेन्द्रकल्पादिषु चाऽसंख्येयगुणहीना भवन्ति, यत उक्त-मार्गणासु सर्वे सप्तकर्मबन्धकाः मार्गणागतजीवाश्च तावन्मात्राः, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहे**–"×××××× सेढिअसखेज्जसो सेसासु जहोत्तर तह य ॥१ ॥ ××××सेढिअसखसमा उवरि तु जहोत्तर तह य ॥ २ ॥" इति ।

ननु द्वितीयादिनरकपृथिवीमाहेन्द्रादिदेवमार्गणास्वेकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसंख्येयभागकल्पा नारका देवाश्च सप्तकर्मबन्धकत्वेनाऽभिहिताः, तेषां विशेषतः परिमाणं कियद् भवति ? इति चेत्, उच्यते–इह ` **समास** एतत्प्रतिपादिकेयं गाथाऽभिहिता—

बारस दस अट्ठेव य मूलाइ छक्ति दुन्नि नरएसु । एक्कारस नवसत्त य, पणग चउक्क च देवेसु ॥ १ ॥" इति।

अस्या व्याख्यानं **श्रीमच्छीलाचार्यैरित्थं** दर्शितम्–"इय गाथा मूलटीकाया न व्याख्याता, अस्माकमयमर्थ प्रतिभासते-तद्यथा लोकश्रेणिप्रदेशराशेरसख्येयानि मूलानि भवन्ति, तस्य यद् द्वादश वर्गमूल तन् प्रदेशपरिमाणा नारका सप्तमपृथिव्या, षष्ठ्या तु दशमवर्गमूलप्रदेशपरिमाणा , पञ्चम्या त्वष्टम, चतुर्थ्या षष्ठ , तृतीयाया तु तृतीय, द्वितीयाया तु द्वितीयवर्गमूलप्रदेशराशिपरिमाणा , प्रथमाया रत्नप्रभाया प्राक् कथिता एव । अगुलप्रथमवर्गमूलेन द्वितीयवर्गमूलेऽभ्यस्ते सूचिपरिमाणाना श्रेणीना यावन्त प्रदेशा-स्तावत्परिमाणा नारका इति । साम्प्रत देवाना कथ्यते-तत्र सौधर्मैशानयो प्राक् कथितमेव । तद्यथा-भवणे घम्मे तहेव सोहम्मेइत्यनेन गाथासूत्रावयवेनाङ्गुलप्रदेशराशेर्द्वितीयवर्गमूलेन तृतीयवर्गमूलेऽभ्यस्ते सूचिप्रमाण श्रेणीनामिति । इह पश्चानुपूर्व्या सनत्कुमारादिदेवाना प्रमाण गाथार्धेन कथ्यते । तद्यथा लोकश्रेणिप्रदेशराशेश्चतुर्थवर्गमूलराशिप्रदेशपरिमाणा सनत्कुमार माहेन्द्रयोर्देवास्तथा पञ्चमे ब्रह्म-लोकाख्ये पञ्चमवर्गमूलप्रदेशराशिप्रमाणा देवा इति, तथा लान्तके सप्तमवर्गमूलप्रमाणा महाशुक्रे नवम-वर्गमूलप्रमाणा सहस्रारे त्वेकादशवर्गमूलप्रमाणा ।"इति । इद व्याख्यान **प्रज्ञापनादिग्रन्थैः** सह विसंवदति, कथम् ? इति चेत् उच्यते–इह व्याख्याने सहस्रारकल्पे देवा एकादशवर्गमूलमात्रा अभिहिताः षष्ठपृथिवीनारकास्तु दशमवर्गमूलप्रमाणाः । तेन षष्ठपृथिवीनारकेभ्यः सहस्रारसुरा असंख्ययेगुण-

हीना भवेयुः, एवं माहेन्द्रसुराश्चतुर्थवर्गमूलराशिप्रदेशपरिमाणा निगदिताः, वालुकाप्रभानारकास्तु तृतीयवर्गमूलराशिप्रदेशमात्राः । तेन वालुकाप्रभानारकेभ्यो माहेन्द्रसुरा असंख्येयगुणहीनाः स्युः, श्रीप्रज्ञापनासूत्रे तु भगवद्भिः **श्रीमदार्यश्यामैः** षष्ठपृथिवीनारकेभ्यः सहस्रारसुरा असंख्येयगुणाः, एव वालुकाप्रभानारकेभ्यो माहेन्द्रसुरा असंख्येयगुणा भवन्तीत्यभिहितम् । तथा च **तद्ग्रन्थः**– 'अहे सत्तमाए पुढवीए नेरइया असंखिज्जगुणा, छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया असंखिज्जगुणा, सहस्सारे कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए नेरइआ असंखिज्जगुणा, लंतए कप्पए देवा असंखिज्जगुणा, चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए नेरइआ असंखिज्जगुणा, बंभलोए कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए नेरइआ असंखिज्जगुणा, माहिंदे कप्पे देवा असंखिज्जगुणा ।।" इति । तस्मात् **श्रीप्रज्ञापनादिसूत्रोक्ता**ऽल्पबहुत्वं संगमयितुकामैरस्माभिरेषा गाथा प्रकारान्तरेण व्याख्यायते-एकप्रादेशिक्याः सूचिश्रेणेः प्रथमप्रभृतिद्वादशान्तानि द्वादशवर्गमूलान्यानेयानि । तत्र सूचिश्रेणेर्द्वादशवर्गमूलेन सूचिश्रेणौ विभक्तायां यल्लभ्यते, तत्प्रमाणा द्वितीयपृथिवीनारका भवन्ति, दशमवर्गमूलेन सप्तरज्जुदीर्घायां सूचिश्रेणौ विभक्तायां यत्प्राप्यते, तन्मात्रास्तृतीयपृथिवीनारका भवन्ति, अष्टमवर्गमूलेन सूचिश्रेणौ विभक्तायां यदासाद्यते, तत्प्रमाणाश्चतुर्थपृथिवीनारकाः, षष्ठवर्गमूलेन सूचिश्रेणौ विभक्तायां यदवाप्यते, तत्प्रमाणाः पञ्चमपृथिवीनारकाः, तृतीयवर्गमूलेन सूचिश्रेणौ विभक्तायां यदासाद्यते, तत्प्रमाणाः षष्ठपृथिवीनारकाः, द्वितीयवर्गमूलेन च सूचिश्रेणौ विभक्ताया यत्प्राप्यते, तन्मात्राः सप्तमपृथिवीनारका भवन्ति ।

सूचिश्रेणेरेकादशवर्गमूलेन सूचिश्रेणौ विभक्तायां यल्लभ्यते, तन्मात्रा माहेन्द्रसनत्कुमारकल्पयोः प्रत्येकं देवा भवन्ति, तत्राऽपि माहेन्द्रसुरेभ्यः सनत्कुमारदेवा असंख्येयगुणाः । नवमवर्गमूलेन सूचिश्रेणौ विभक्ताया यल्लभ्यते, तत्प्रमाणा ब्रह्मलोकवासिनो देवाः । सप्तमवर्गमूलेन सूचिश्रेणौ विभक्तायां यत्प्राप्यते, तत्प्रमाणा लान्तकसुरा भवन्ति । पञ्चमवर्गमूलेन सूचिश्रेणौ समपहृतायां यदासाद्यते, तन्मात्राः सहस्रारसुरा भवन्तीति । इदं व्याख्यानं **श्रीप्रज्ञापनादिसूत्रोक्त**महादण्डकाऽल्पबहुत्वेन सह न विसंवदति, यतो दर्शितव्याख्यानापेक्षया सहस्रारसुराः पञ्चमवर्गमूलभागहारेण प्राप्यन्ते, षष्ठपृथिवीनारकास्तु तृतीयवर्गमूलभागहारेणाऽऽसाद्यन्ते । पञ्चमवर्गमूलतश्च तृतीयवर्गमूलस्याऽसंख्येयगुणत्वेन षष्ठपृथिवीनारकेभ्यः सहस्रारसुरा असंख्येयगुणा भवन्ति । तथा माहेन्द्रसुरा एकादशवर्गमूलभागहारेण लभ्यन्ते, तृतीयपृथिवीनारकास्तु दशमवर्गमूलभागहारेण लभ्यन्ते । एकादशवर्गमूलतश्च दशमवर्गमूलस्याऽसंख्येयगुणत्वेन तृतीयपृथिवीनारकेभ्यो माहेन्द्रसुरा असंख्येयगुणा भवन्तीति सिध्यति । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति ।

देवगतिसामान्यमार्गणायां ज्योतिष्कसुरमार्गणायां च सप्तकर्मणां बन्धकाः प्रतराऽसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । इदमुक्तं भवति–षट्पञ्चाशदधिकद्विशतसूच्यङ्गुलप्रदेशवर्गरूपभागहारेण

घनीकृतलोकप्रतरे विभक्ते यल्लभ्यते, तन्मात्रा ज्योतिष्कदेवा भवन्ति, यदुक्त**मनुयोगद्वारे**–
"जोइसियाण भते । केव० वे० प० ? गो० दुविहा पण्णत्ता, त जहा बद्धे० मुक्के० । तत्थ ण जे ते ब०जाव० तासि ण सेढीण विक्खभसूई बेछप्पण्णगुलसयवग्गपलिभागो पयरस्स ।" इति । एवं **प्रज्ञापनायामप्युक्तम्** । **पञ्चसंग्रहाद्यभिप्रायेण** पुनः सूच्यङ्गुलगतप्रदेशरूपभागहारेण प्रतरे विभक्ते यल्लभ्यते, तत्प्रमाणा ज्योतिष्कदेवा भवन्ति । **पञ्चसंग्रहाक्षराणि** त्वेवम्–
"छप्पन्नदोसयगुलसूइपएसि भाइओ पयरो । जोईसिएहि हीरइ सट्ठाणे त्थी य सखगुणा ॥१॥" इति ।
ज्योतिष्कसुरतो देवगतिसामान्यमार्गणायां जीवा विशेषाधिकाः, व्यन्तरादीनामपि प्रवेशात् । तेन ज्योतिष्कराश्यानयनाय यो भागहारोऽभिहितः, ततः किञ्चिन्न्यूनो देवगतिसामान्यपरिमाणाऽऽनयनाय वक्तव्यः । तदेवं देवसामान्यमार्गणायामेकेषां **मतेन** देशोनषट्पञ्चाशदधिकद्विशतसूच्यङ्गुलप्रदेशवर्गभाजितप्रतरप्रदेशमात्राः, **अन्येषाञ्चाभिप्रायेण** देशोनषट्पञ्चाशदधिकद्विशतसूच्यङ्गुलप्रदेशभाजितप्रतरप्रदेशप्रमाणाः सप्तकर्मणा बन्धका भवन्ति । ज्योतिष्कमार्गणयां **त्वेकेषां मतेन** षट्पञ्चाशदधिकद्विशतसूच्यङ्गुलप्रदेशवर्गभाजित प्रतरप्रदेशप्रमाणाः, **अन्येषां** चाभिप्रायेण षट्पञ्चाशदधिकद्विशतसूच्यङ्गुलप्रदेशभाजितप्रदेशप्रमाणाः सप्तकर्मणा बन्धका भवन्ति ।

सख्येययोजनगतप्रदेशप्रमाणानामेकप्रादेशिकश्रेणीनां प्रदेशैः प्रतरे विभक्ते यद् लभ्यते, तत्प्रमाणा व्यन्तरमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, यत उक्तमार्गणायां सर्वे बन्धका मार्गणावर्तिजीवाश्च तावन्मात्राः; तथा चोक्तं **श्रीपञ्चसग्रहे**– 'सखेज्जजोयणाण सूइपएसेहिं भाइओ पयरो । वतरसुरेहि हीरइ एव एक्केक्कभेएण ॥ १॥" इति । **अनुयोगद्वाराद्यभिप्रायेण** तु संख्येययोजनशतानां यो वर्गः, तद्रूपेण भागहारेण प्रतरे विभक्ते यद् लभ्यते, तत्प्रमाणा व्यन्तरा भवन्ति, यदुक्त**मनुयोगद्वारे**–'वाणमतरा ण भते । केवइया वेउव्विअसरीरा प० ? गो० दुविहा पण्णत्ता । त जहा बद्धेलया व मुक्केल्लया य । तत्थ ण जे भते ! ते बद्धेल्लया ते ण असखेज्जा,असखेज्जाहि उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरति कालओ, खेत्तओ असखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असखिज्जइभागो तासिण सेढीण विक्खभसूई सखेज्जजोअणसयवग्गपलिभागो पयरस्स।"इति । एव **श्रीप्र पनासूत्रेऽप्युक्तम्** । तेना**ऽनुयोगद्वाराद्यभिप्रायेण** व्यन्तरमार्गणायां यथोक्तमानाः सप्तकर्मणा बन्धका भवन्ति ।

आनतप्रभृत्यपराजितपर्यवसानासु सप्तदशमार्गणासु प्रत्येक सप्तकर्मणा बन्धका अद्धापल्योपमाऽसख्येयभागमात्रा भवन्ति.यत उक्तमार्गणासु सर्वे बन्धकास्तत्तन्मार्गणावर्तिजीवाश्च यथोक्तमानाः, उक्त च **देवेन्द्रनरकेन्द्रस्तवप्रकरणवृत्तौ**–'आनतादिकल्पेष्वपहार "पलियअसखेज्जभागेण" अद्धापल्योपमाऽसख्येयतमागेन ॥" इति । इदन्त्ववधेयम्–सनत्कुमारप्रभृतिसहस्रारपर्यवसानाः सुरा यथोत्तरमसख्येयगुणहीना भवन्ति, आनतप्रभृत्यनुत्तरावसानास्तु क्रमेण सख्येयगुणहीनाः, तेन सप्तकर्मणा बन्धका अपि तेन क्रमेणाऽभिधातव्याः ।

तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमतीमार्गणासु सप्तकर्मणा बन्धकाः प्रतरासंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, एतासु मार्गणासु सर्वेषां बन्धकत्वाद् मार्गणागतजीवाना च यथोक्तप्र-

माणत्वात् । इदमुक्तं भवति–देवपरिमाणाऽऽनयनाय यो भागहारः प्रागभिहितः, ततोऽसंख्येयगुणहीनेनाऽङ्गुलासंख्येयभागरूपभागहारेण प्रतरे विभक्ते यत् प्रतरखण्डं प्राप्यते, तत्खण्डगताकाशप्रदेशप्रमाणाः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो भवन्ति । देवभागहारतः संख्येयगुणहीनेन भागहारेण प्रतरे विभक्ते यत् प्रतरखण्डं लभ्यते, तत्खण्डगताऽऽकाशप्रदेशप्रमाणाः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो भवन्ति, देवभागहारतः संख्येयगुणेन भागहारेण प्रतरे विभक्ते यत् प्रतरखण्डं लभ्यते, तत्खण्डगता-ऽऽकाशप्रदेशप्रमितास्तिरश्च्यो भवन्ति, यदुक्तं **जीवसमासे**–

"तिरिया हुन्ति अणंता पयरं पंचिंदिया अवहरन्ति । देवावहारकाला असंखगुणहीणकालेण ॥ १ ॥ संखगुणहीणकालेण होइ पज्जत्ततिरिअअवहारो । संखेज्जगुणेण तओ कालेण तिरिक्खिअवहारो ॥२॥" इति । तथैव **श्रीशीलाचार्यनिर्मितायां तद्वृत्तावपि**–×××× देवा यौगपद्येन प्रतरस्य प्रत्येकमेकैकं प्रदेशखण्डं गृह्णन्त यावता कालेन प्रतरमपहरन्ति, तत्कालादसंख्येयगुणहीनकालेन (पञ्चेन्द्रिय)तिर्यञ्चो-ऽपहरन्ति प्रतरम्, इदमुक्तं भवति–देवा स्तोका ,तेषामपहारकालो बहुर्भवति,तिर्यञ्चो बहव ,तेन तदपहरणकालः स्तोकः देवेभ्यो ऽसंख्येयगुणा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च । ××× संखेज्जेत्यादि, पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्चा एतत्परिमाणं तद्यथा यावता कालेन देवा एकैकप्रदेशापहरेण लोकप्रतरमपहरन्ति, तेन संख्येयगुणहीनेन कालेन पर्याप्तकतिर्यञ्च प्रतरमपहरन्ति, देवापहारकालात् संख्येयगुणहीनकालं पर्याप्तकतिरश्चामिति देवाना संख्येयगुणा पर्याप्तकतिर्यञ्चो भवन्ति इति भाव । तथा ततो=देवापहारकालात् संख्येयगुणकालेन तिर्यक्स्त्रीभि प्रतरमपह्रियते, देवेभ्य स्तोकतरास्तिर्यकस्त्रियो भवन्ति, इति भाव।" इति । उक्तमार्गणागतानां सर्वेषा बन्धकत्वात् तत्र यथोक्तप्रमाणा बन्धका भवन्ति ।

नवसु विकलेन्द्रियमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकाः प्रतराऽसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । इदमुक्तं भवति–आवलिकाया असंख्येयभागेन प्रतराङ्गुले विभक्ते यल्लभ्यते, तेन च प्रतरे विभक्ते यल्लभ्यते, तत्प्रमाणा द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाः प्रत्येकं भवन्ति, यदुक्त**मनुयोगद्वारे**–

"बेइंदिया णं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा प० ? गो० । दुविहा पण्णत्ता, तं जहा बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया, ते णं असंखिज्जा, असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखिज्जइभागो, तासिणं सेढीणं विक्खंभसूई असंखेज्जाओ जोअणकोडाकोडीओ असंखिज्जाइं सेढिवग्गमूलाइं बेइंदियाणं ओरालियबद्धेल्लएहिं पयरं अवहीरइ असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं कालओ, खेत्तओ अंगुलपयरस्स आवलिआए असंखेज्जभागपडिभागेणं । ××× जहा बेइंदिआणं तहा तेइंदियचउरिंदियाण वि ॥" इति ।

विकलेन्द्रियाणां च सर्वेषां बन्धकत्वाद् द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियरूपासु तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मणां बन्धका यथोक्तमाना भवन्ति । एवमपर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियलक्षणास्वपि तिसृषु मार्गणासु सप्तकर्मणा बन्धका वाच्याः, उक्तमार्गणासु सर्वेषां सप्तकर्मबन्धकत्वात् तत्तन्मार्गणागतजीवानां च यथोक्तमानत्वात् , नवरं भागहारो विशेषाधिको भणनीयः । पर्याप्तद्वीन्द्रिय-पर्याप्तत्रीन्द्रिय पर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकाः प्रतराङ्गुलसंख्येयभागभाजितप्रतरप्रमाणा भवन्ति, यत उक्तमार्गणासु सर्वे बन्धका मार्गणावर्तिजीवाश्च तावत्प्रमाणाः । **पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायेण** तूक्तनवमार्गणासु प्रतराङ्गुलस्थाने सूच्यङ्गुलं बोध्यम् ।

एवं पञ्चेन्द्रियमार्गणाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोरप्यङ्गुला-ऽसंख्येयभागभाजितप्रतराकाश-प्रदेशप्रमिताः स मर्णां बन्धकाः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां चाऽङ्गुलसंख्येयभागभाजितप्रतर-नभःप्रदेशप्रमाणा वाच्याः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां सर्वेषां शेषमार्गणाद्वये च प्रभूतानां जीवानां बन्धकत्वाद् मार्गणागतजीवानां च यथोक्तमानत्वात् । इदं सामान्येनोक्तम् , विशेष-चिन्तायां द्वीन्द्रियादीनां परिमाणापेक्षया परस्परमित्थमल्पबहुत्वं वाच्यम्-सर्वस्तोकाः पर्याप्तचतु-रिन्द्रियाः सप्तकर्मणां बन्धकाः, ततः पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः, ततः पर्याप्तद्वीन्द्रिया विशे-षाधिका भवन्ति । ततः पर्याप्तत्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः । तेभ्यो-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया असंख्येय-गुणाः, अपहारकालस्याऽसंख्येयगुणहीनत्वात् । ततः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणविरहिताः पञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः । ततो-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, ततश्चतुरिन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणवि-युक्ता विशेषाधिकाः, ततो-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, ततस्त्रीन्द्रिया अविवक्षितपर्याप्तापर्याप्त-विशेषणा विशेषाधिकाः, ततो-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, ततो द्वीन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तविशेषण-विरहिता विशेषाधिकाः, यतः पर्याप्तचतुन्द्रियादिजीवा यथोक्ता-ऽल्पबहुत्वेन भवन्ति, तथा चोक्तं **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"सव्वत्थोवा चउरिंदिया पज्जत्तगा, पचिंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिआ, बेइ-दिया पज्जत्तगा विसेसाहिआ, तेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिआ, पचिंदिया अपज्जत्तगा असखेज्जगुणा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, तेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ । बेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसा-हिआ ।" इति । यद्यप्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियेभ्यः पञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः, ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिया विशेषाधिका इति नाऽभिहितम् , तथाप्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियोर्विशेषस्य प्रभूतत्वाद् यथोक्ता ऽल्पबहुत्वं न विरुध्यते । एवमग्रेऽप्यपर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिययोरपर्याप्तत्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिययोश्च प्रभूतो विशेषोऽवगन्तव्यः ।

पर्याप्तबादरवर्जेषु षट्सु पृथिवीकायभेदेषु, एव षट्स्वप्कायभेदेषु, षट्सु तेजःकायभेदेषु, षट्सु वायुकायभेदेषु प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणयोश्च प्रत्येकं सप्तकर्मणा बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमिता भवन्ति, यत उक्तमार्गणासु सर्वे बन्धका-स्तत्तन्मार्गणावर्तिजीवाश्च यथोक्तमानाः, यदुक्तं **बसमासे**–"सेसा तिण्णि वि रासी वीसु लोया भवे असखेज्जा ।" इति । इत्थं नर्निर्देशे-ऽपि परस्परमल्पबहुत्वमित्थं भावनीयम्-(१) सर्वस्तोका अपर्याप्तबादरतेजःकायिकाः सप्तकर्मणा बन्धकाः । (२) ततो बादरतेजःकायिका विशेषाधिकाः, पर्याप्तबादरतेजःकायिकाना प्रक्षेपात् तेषां चाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । (३) ततोऽपर्याप्तप्रत्येकशरीर-वनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः । (४) ततः प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिका विशेषाधिकाः । (५)ततो-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायिका असंख्येयगुणाः । (६)ततो बादरपृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, असंख्येय-भागमात्राणा पर्याप्तबादरपृथिवीकायिकाना प्रक्षेपात् । (७) ततोऽपर्याप्तबादराप्कायिका असंख्येय गुणाः । (८) ततो बादराप्कायिका विशेषाधिकाः, असंख्येयभागप्रमाणाना पर्याप्तबादराप्कायिकानां

प्रक्षेपात् । (९) ततोऽपर्याप्तबादरवायुकायिका असंख्येयगुणाः । (१०) ततो बादरवायुकायिका विशेषाधिकाः, असंख्येयभागकल्पाना पर्याप्तबादरवायुकायिकाना प्रक्षेपात् । (११) ततो-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मतेजःकायिका असंख्येयगुणाः । (१२) ततो-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिकाः । (१३) ततो-ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्कायिका विशेषाधिकाः । (१४) तेभ्योऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाः । (१५) ततः पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकायिकाः संख्येयगुणाः । (१६) ततः पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेपा-धिकाः । (१७) ततः पर्याप्तसूक्ष्माप्कायिका विशेपाधिकाः । (१८) ततो-ऽपि पर्याप्तसूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाः, यतोऽपर्याप्तबादरतेजःकायादिमार्गणासु सर्वे जीवाः सप्तकर्मणां बन्धका मार्गणा वर्त्तिजीवाश्चोक्ताऽल्पबहुत्वक्रमेण भवन्ति, यदुक्तं श्री**प्रज्ञापनासूत्रे**–"×××बायरतेउकाइया अपज्ज-त्तगा असखिज्जगुणा, पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असखिज्जगुणा, बायरनिगोया अपज्ज-त्तया असखिज्जगुणा, बायरपुढवीकाइआ अपज्जत्तया असखिज्जगुणा, बायराउकाइया अपज्जत्तया असखिज्ज-गुणा बायरवाउकाइया अपज्जत्तया असखिज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असखिज्जगुणा, सुहुम-पुढवीकाइआ अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, सुहुमआउकाइआ अपज्जत्तया विसेसाहिआ, सुहुमवाउकाइआ अपज्जत्तया विसेसाहिआ, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तया सखिज्जगुणा, सुहुमपुढवीकाइया पज्जत्तया विसे-साहिआ, सुहुमाउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिआ, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिआ ।" इति । इह यद्यपि **प्रज्ञापनासूत्रोक्ताल्पबहुत्वे** बादरतेजःकायिकादयः पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविशेषणविरहिता नाऽ-भिहिताः, तथापि बादरतेजःकायिकेभ्यो ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणा न विरुध्यन्ते, बादरतेजःकायिकानामपर्याप्ततेजःकायिकेभ्यः केवलं विशेषाधिकत्वेन पर्याप्तप्रत्येक-शरीरवनस्पतिकायिकानामसंख्येयगुणत्वस्य युक्त्याऽपि विरोधाभावात् । (१९) पर्याप्तसूक्ष्मवायु-कायिकेभ्यः सूक्ष्मतेजःकायिकाः सप्तकर्मणां बन्धका विशेषाधिकाः । (२०) ततस्तेजःकायिका बादरसूक्ष्मविशेषणवियुक्ता विशेषाधिका भवन्ति, बादरतेजःकायिकानां प्रक्षेपात् तेषां चाऽसंख्येय-भागमात्रत्वात् । (२१) ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिकाः । (२२) ततः पृथिवीकायिका विशे-षाधिकाः, असंख्येयभागमात्राणां बादरपृथिवीकायिकजीवानां प्रक्षेपात् । (२३) ततः सूक्ष्माप्कायिका विशेपाधिकाः । (२४) ततोऽप्कायिका विशेषाधिकाः; असंख्येयभागप्रमाणानां बादराप्कायिकानां प्रक्षेपात् । (२५) ततः सूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाः । (२६) ततोऽपि वायुकायिका विशेषा-धिकाः, बादरवायुकायिकाना प्रक्षेपात् तेषां चाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । न चेदमल्पबहुत्वं कथमव-सीयते ? इति वाच्यम् , यत उक्तमार्गणासु सर्वे जीवाः सप्तकर्मणां बन्धका मार्गणावर्तिजीवाश्चो-क्ताल्पबहुत्वक्रमेण भवन्ति ।

पर्याप्तबादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादराप्काय-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायरूपासु तिसृषु मार्ग-णासु प्रत्येकं सप्तकर्मणा बन्धका अङ्गुलाऽसंख्येयभागभाजितप्रतरप्रदेशप्रमाणा भवन्ति, यत उक्त-मार्गणासु सर्वे बन्धका मार्गणागतजीवाश्च तावन्मात्राः, यदुक्त **जीवसमासे**–

"बायरपुढवीआऊपत्तेयवणस्सई य पज्जत्ता । ते य पयरमवहरिज्जसु अगुलासखभागेण "इति ।

इह तुल्यनिर्देशे-ऽप्यङ्गुलासंख्येयभागस्याऽसंख्यातभेदभिन्नत्वात् परस्परमल्पबहुत्वमित्थं द्रष्टव्यम्-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिकाः सप्तकर्मणां बन्धकाः स्तोकाः, ततः पर्याप्तबादरपृथिवीकायिका असंख्येयगुणाः, ततोऽपि पर्याप्तबादराप्कायिका असंख्येयगुणाः, यत उक्तमार्गणासु सर्वे जीवा बन्धका मार्गणावर्तिजीवाश्चोक्ताऽल्पबहुत्वक्रमेण भवन्ति, यदुक्तं श्री**प्रज्ञापनासूत्रे**– 'पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया पज्जत्तया असखेज्जगुणा, बायरनिगोया पज्जत्तया असखेज्जगुणा, बायरपुढवीकाइया पज्जत्तया असखेज्जगुणा, बायरआउकाइया पज्जत्तया असखेज्जगुणा ।" इति ।

आवलिकावर्गे किञ्चिन्न्यूनावलिकासमयराशिना गुणिते यद् लभ्यते, तत्प्रमाणाः पर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणाया सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति । इदमुक्तं भवति–इहाऽसंख्येयसमयात्मिकायामावलिकायां दश समयाः परिकल्प्यन्ते, तद्वर्गे च कृते शतं भवति, तच्च किञ्चिन्न्यूनैरावलिकासमयैरष्टभिर्नवभिर्वा गुण्यते, गुणने च कृते यद् लभ्यते, असत्कल्पनया-ऽष्टशती नवशती वा, तत्प्रमाणाः परमार्थतोऽसंख्येयाः पर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणाया सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, यत उक्तमार्गणायां सर्वे बन्धका मार्गणागतजीवाश्च तावन्मात्राः, यदुक्तं श्री**पञ्चसंग्रहे**–"आवलिवग्गो अन्तरावलीय गुणिओ हु बायरा तेऊ ।" इति ।

लोकासंख्येयभागवर्तिष्वसंख्येयप्रतरेषु यावन्तो नभःप्रदेशाः, तावन्मात्राः पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणाया सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, यत उक्तमार्गणायां सर्वे बन्धका मार्गणावर्तिजीवाश्चोक्तमानाः, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहे**–"वाऊ य लोगसखं ××× ।"इति । एवं **जीवसमासेऽपि**– 'पज्जत्तबायराणल पयरा असखेज्जा ।' इति ।

त्रसकायसामान्यमार्गणाया पञ्चेन्द्रियसामान्यमार्गणावत् पर्याप्तत्रसकायमार्गणायां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणावद् अपर्याप्तत्रसकायमार्गणायाश्चाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणावत् सप्तकर्मणां बन्धका वाच्याः, नवरं साधिकत्रिगुणा अभिधातव्याः । गता कायमार्गणा ।

सम्प्रति योगमार्गणायामसंख्येयराशिका बन्धका अभिधीयन्ते–पञ्चमनोयोगमार्गणा-सत्यवचनयोगा-ऽसत्यवचनयोग-सत्यासत्यवचनयोगरूपास्वष्टासु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मणां बन्धका वक्ष्यमाणसंज्ञिजीवराशेः संख्येयभागकल्पा भवन्ति । कथम् ? इति चेत्, उच्यते-अनन्तरोक्ता अष्टावपि योगाः संज्ञिनामेव भवन्ति, नाऽसंज्ञिनाम् । संज्ञिष्वपि बहुसंख्येयभागमात्राः काययोगिनो भवन्ति, मनोयोगवचनयोगयोरन्यतरस्य कालतः काययोगकालस्य संख्येयगुणत्वात् । तेन संख्येयभागमात्रा वचनयोगिनो मनोयोगिनश्च भवन्ति । इह तुल्यनिर्देशेऽप्येतदल्पबहुत्वं विशेषत इत्थं बोध्यम्- (१) सत्यमनोयोगमार्गणायां जीवाः स्तोकाः । (२) ततो-ऽसत्यमनोमार्गणाया जीवाः संख्येयगुणाः । (३) ततः सत्यासत्यमनोयोगमार्गणाया संख्येयगुणाः । (४) ततोऽसत्यामृषमनोयोगमार्गणाया संख्येयगुणाः । (५) ततो मनोयोगमार्गणाया विशेषाधिकाः ।

(६) ततः सत्यवचनयोगमार्गणायां संख्येयगुणाः । (७) ततोऽसत्यवचनयोगमार्गणायां संख्येयगुणाः । (८) ततः सत्यासत्यवचनयोगमार्गणायां संख्येयगुणाः । उक्तमार्गणासु प्रभूतानां बन्धकत्वाद् मनोयोगादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धका अप्यनन्तरोक्ताऽल्पबहुत्वेन वर्तन्ते ।

वचनयोगसामान्याऽसत्यामृषवचनयोगमार्गणयोः सप्तकर्मणां बन्धका अङ्गुलसंख्येयभागभाजितप्रतरप्रदेशराशिप्रमिता भवन्ति, पर्याप्तद्वीन्द्रियादीनामप्युक्तयोगद्वयभाक्त्वात् पर्याप्तद्वीन्द्रियादीना चोक्तमानत्वात् ।

वैक्रियकाययोगमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाः सुरराशिबहुसंख्येयभागमात्रा भवन्ति, उक्तयोगमार्गणायां परिमाणप्राधान्याद् देवानामेव सत्त्वात् , तेषां च शेषयोगाद्धानां प्रत्येक काययोगकालतः संख्येयगुणहीनत्वात् ।

वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धका व्यन्तरराशिसंख्येयभागप्रमाणाः, कुतः ? इति चेत् ,भण्यते-उत्पत्तिमाश्रित्य व्यन्तरा एव देवेषु प्रधानराशिकाः, ते च देवराशेः संख्येयभागप्रमाणाः । तत्राऽपि बहुसंख्येयप्रमाणा व्यन्तराः संख्येयवर्षायुष्काः । तेन प्रभूता व्यन्तरदेवाः संख्येयैर्वर्षैः सक्षीयन्ते, वैक्रियमिश्रकाययोगकालस्तु संख्येयावलिकाप्रमाणः । तदेवं वैक्रियमिश्रकाययोगसंचयकालस्य संख्येयगुणहीनत्वाद् वैक्रियमिश्रकाययोगिनो व्यन्तरराशिसंख्येयभागमात्रा लभ्यन्ते । तेषां च सर्वेषां बन्धकत्वात् सप्तकर्मणां बन्धका अपि वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां तावन्तो भवन्ति ।

स्त्रीवेदमार्गणायां देवगतिमार्गणावर्तिजीवानां बहुसंख्येयभागप्रमाणाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, उक्तमार्गणायां प्रभूतानां बन्धकत्वात् , उक्तमार्गणावर्तिजीवानां च यथोक्तमानत्वात् । कथम् ? इति चेत् , उच्यते–इह देवगतौ ज्योतिष्काः सर्वप्रभूताः, तेषां च संख्येयभागप्रमाणाः पुरुषाः, शेषबहुसंख्येयभागप्रमितास्तु देव्यो भवन्ति, यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–"जोइसिया देवा सखिज्जगुणा, जोइसिणीओ देवीओ सखिज्जगुणाओ ॥" इति । न च देवीषु तिरश्चीनां प्रक्षेपात् स्त्रीवेदमार्गणायां जीवानामुक्तप्रमाणत आधिक्यं स्यादिति वाच्यम्, तासां ज्योतिष्कदेवापेक्षयाऽपि संख्येयभागमात्रत्वेन परिमाणापेक्षयाऽकिञ्चित्करत्वात् , यदुक्तं **श्रीप्र पनासूत्रे**–"×××× खहयरपचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असखिज्जगुणा, खहयरपचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ सखेज्जगुणाओ, थलयरपचिंदियतिरिक्खजोणिआ पुरिसा सखिज्जगुणा, थलयरपचिंदियतिरिक्खजोणिआ पुरिसा सखिज्जगुणा, जलयरपचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ सखिज्जगुणाओ, वाणमतरा देवा सखिज्जगुणा, वाणमतरीओ देवीओ सखिज्जगुणाओ, जोइसिया देवा सखिज्जगुणा, जोइसिणीओ देवीओ सखिज्जगुणाओ ।" इति ।

पुरुषवेदमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाः पुरुषदेवतो विशेषाधिकपरिमाणा भवन्ति, उक्तमार्गणाया प्रभूताना बन्धकत्वाद् ज्योतिष्कपुरुषदेवेषु च सख्येयभागमात्राणा शेषाणां पुरुषवेदोदयानां

प्रक्षेपेण पुरुषवेदपरिमाणोपलब्धेः । न च यथोक्तपरिमाणमसिद्धमिति वाच्यम्, **श्रीप्रज्ञापनासूत्रो**क्तमहादण्डकाल्पबहुत्वेन तदुपपत्तेः ।

विभङ्गज्ञानमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धका देवराशितो विशेषाधिका भवन्ति, उक्तमार्गणागतजीवानां सर्वेषां बन्धकत्वात् तेषां च यथोक्तमानत्वात् । किमुक्तं भवति ? इति चेत्, उच्यते–विभङ्गज्ञानिषु जीवेषु परिमाणप्राधान्यात् प्रभूता देवा विभङ्गज्ञानिनो लभ्यन्ते, तत्र शेषगतित्रयसम्बन्धिष्वसंख्येयसूचिश्रेणिप्रदेशराशिप्रमाणेषु विभङ्गज्ञानिषु प्रक्षिप्तेषु गतिचतुष्कस्य विभङ्गज्ञानिनः प्राप्यन्ते, तेन देवराशितो विभङ्गज्ञानिनो विशेषाधिका भवन्ति, इत्थं विभङ्गज्ञानमार्गणायां देवराशितो विशेषाधिकाः सप्तकर्मणा बन्धकाः ।

मतिज्ञान श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञानमार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मणां बन्धकाः क्षेत्रपल्योपमाऽसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिका भवन्ति, यत उक्तमार्गणाया प्रभूताः सप्तकर्मबन्धका मार्गणागतजीवाश्चोक्तप्रमाणाः, यदुक्तं **श्रीविशेषावश्यकभाष्ये**–

"खेत्तपलिओवमासखभाग उक्कोसओ पवज्जेज्जा । पुव्वपवन्ना दोसु वि पलियासखेज्जइभागो ॥१॥
××× जह नवहा मइनाण सतपयपरूवणाइणा गमिय । तह नेय सुयनाण ज तेण समाणसामित्त॥२॥" इति ।

एवमवधिज्ञानेऽपि ग्रन्थान्तरसंवादो बोद्धव्यः । असंख्यातस्या-ऽसंख्यातभेदभिन्नत्वेन क्षेत्रपल्योपमाऽसंख्येयभागस्याऽसख्येयभेदभिन्नत्वान्मतिज्ञानादिमार्गणागतानां जीवानामल्पबहुत्वमभिधीयते–अवधिज्ञानिनः स्तोका भवन्ति, ततो विशेपाधिका मतिश्रुतज्ञानिनः, परस्परं च तुल्याः, 'जत्थ मइनाण तत्थ सुयनाण, जत्थ सुयनाण तत्थ मइनाण ।" इति वचनप्रामाण्यात् । न चैतदल्पबहुत्वं स्वमनीषिकया विजृम्भितमिति वाच्यम्, **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे** "ओहीनाणी असखेज्जगुणा, आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी, दो वि तुल्ला विसेसाहिआ ।" इत्यभिहितत्वात् ।

देशविरतमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाः क्षेत्रपल्योपमाऽसंख्येयभागगताकाशप्रदेशप्रमाणा भवन्ति, यतस्तन्मार्गणावर्तिनः सर्वे बन्धका मार्गणागतजीवाश्च तावन्मात्राः, यदुक्त **श्रीप ह्वृत्तौ**–

"अविरतसम्यग्दृष्टि--देशविरता पुन सदेव प्राप्यन्ते, ध्रुवत्वात्तेषा, केवल कदाचित्स्तोका कदाचिद् बहव । तत्र जघन्यपदेऽपि ते द्वये अपि प्रत्येक क्षेत्रपल्योपमासख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या ।" इति ।

चक्षुर्दर्शनमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धका अङ्गुलसख्येयभागभाजितप्रतरप्रदेशप्रमाणा भवन्ति, उक्तमार्गणाया प्रभूतानां बन्धकत्वात् पर्याप्तचतुरिन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाणां च प्रोक्तमार्गणाया प्रविष्टत्वेन यथोक्तमानत्वात्तेषाम् । अन्ये त्वपर्याप्तचतुरिन्द्रियादीनामपि चक्षुर्दर्शनं स्वीकुर्वन्ति, तन्मतेनाऽङ्गुलासख्येयभागभाजितप्रदेशप्रमाणाश्चक्षुर्दर्शनमार्गणायां सप्तकर्मबन्धका वाच्याः । अवधिदर्शनमार्गणाया सप्तकर्मणां बन्धका अवधिज्ञानवद् वाच्याः, अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनयोर्मिथो व्याप्यव्यापकत्वात् ।

तेजोलेश्यामार्गणायां सप्तकर्मणा बन्धका ज्योतिष्कदेवेभ्यो विशेषाधिका भवन्ति, सर्वेषां ज्योतिष्काणां तथा सौधर्मैशानदेवानां तेजोलेश्याकत्वात् कतिपयानां च भवनपतिव्यन्तरमनुष्यतिरश्चामपि तेजोलेश्याकत्वात् ।

पद्मलेश्यायां सप्तकर्मणां बन्धकास्तेजोलेश्याकसप्तकर्मबन्धकेभ्यः संख्येयगुणहीना भवन्ति, ततश्च △शुक्ललेश्यामार्गणाया संख्येयगुणहीना भवन्ति, यतस्तेजोलेश्या-पद्मलेश्ययोः सर्वे बन्धकाः शुक्ललेश्यायाश्च प्रभूता जीवा बन्धकाः, तेजोलेश्यादिमन्तश्चोक्ताऽल्पबहुत्वक्रमेण भवन्ति, यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे-" (१) सव्वथोवा सुक्कलेस्सा, (२) पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, ३) तेउ-लेस्सा सखेज्जगुणा।" इति ।

सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-मिश्राख्यासु षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मणां बन्धकाः क्षेत्रपल्योपमा-ऽसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, यतो भवस्थाः सम्यग्दृष्टयः क्षायिकसम्यग्दृष्टयश्च, तथा क्षायोशमिकसम्यग्दृष्टय औपशमिकसम्यग्दृष्टयो मिश्रदृष्टयः सास्वादनाश्च सप्तकर्मणां बन्धकाः, ते चोक्तप्रमाणाः, उक्तं च जीवसमासे-
"एगाईया भज्जा सासायण तह य सम्ममिच्छा य। उक्कोसेण दुण्ह वि पल्लस्स असखभागो उ॥" इति ।
एवं शेषमार्गणास्वपि ग्रन्थान्तरसंवादो द्रष्टव्यः। इह मार्गणाषट्के बन्धकानां समाननिर्देशेऽपि विशेषचिन्तायामिदमल्पबहुत्वं वाच्यम्-(१) सास्वादनमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाः स्तोकाः (२) तत औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सख्येयगुणाः, (३) ततो मिश्रमार्गणायां सख्येयगुणाः, यतः सास्वादनमार्गणामिश्रमार्गणयोः सर्वे जीवा बन्धका औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां च प्रभूता बन्धकाः, तिसृषु च प्रोक्तमार्गणासु यथोक्ताल्पबहुत्वेन जीवा भवन्ति, उक्तं च प्राचीनषडशीतौ-"सासणउवसममिस्सवेयगक्खइगमिच्छदिट्ठीओ। थोवा दो सखगुणा"। इति। तथैव तदीयमलयगिरिवृत्तावपि-
"स्तोका सासादनसम्यग्दृष्टय ,तेभ्य सख्यातगुणा औपशमिकसम्यग्दृष्टय ,केषाश्चिदेवौपशमिकसम्यक्त्वत. प्रच्युते, तत प्रच्यवमानाना च सास्वादनत्वात्। तेभ्योऽपि=औपशमिकसम्यग्दृष्टिभ्यः सकाशान्मिश्रा' सख्यातगुणा।" इति ।

इदमत्रावधेयम्-केचित् प्राहुरौपशमिकसम्यग्दृष्टिभ्यो मिश्राः ❀ असंख्यातगुणा इति, यदुक्तं श्रीमद्देवेन्द्रसूरीश्वरपादैः-"सास्वादनसम्यग्दृष्टय स्तोका ,औपशमिकसम्यक्त्वात् केषाञ्चिदेव प्रच्यवमानाना सास्वादनत्वात्। तेभ्य 'उवसम'ति औपशमिकसम्यग्दृष्टय सङ्ख्यातगुणा। तेभ्यश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टिभ्यो मिश्रा असङ्ख्यातगुणा।" इति। तेन तन्मतेन बन्धका अपि तथा बोध्या इति। तदेवमभिहितं सप्तकर्मणां बन्धकानां परिमाणम् ॥१८८-१९०॥

सम्प्रति सप्तकर्मणामबन्धकाना परिमाणं व्याहर्तुकाम् आह-

गयवेए अकसाये केवलदुगसम्मखइअणाहारे ।
सप्पाउग्गाणाउगवज्जाण अबधगाऽणंता ॥१९१॥

△ अन्ये तु षट्खण्डागमकारादय -शुक्ललेश्याया पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणा च जीवा इति भणन्ति, तन्मते पद्मलेश्याकत शुक्ललेश्याका असख्येयगुणहीना ।

❀षट्खण्डागमकारास्तु-"सव्वत्थोवा सासणसम्माइट्ठी । सम्मामिच्छाइट्ठी सखेज्जगुणा। उवसमसम्माइट्ठी असखेज्जगुणा।" इति प्राहु ।

(प्रे०) ' वेए' इत्यादि, 'गतवेदे' अपगतवेदमार्गणायाम् 'अकषाये' अकषायमार्गणायां 'केवलद्विक-सम्यक्त्व क्षायिका-ऽनाहारे' केवलज्ञान-केवलदर्शन सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽनाहारकरूपासु पञ्चसु मार्गणासु सर्वसङ्ख्यया सप्तमार्गणासु स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनामबन्धका अनन्ता भवन्ति, उक्तमार्गणास्वबन्धकत्वेन सिद्धानामपि प्रवेशात् तेषां चाऽनन्तत्वात् । इमाश्चाऽऽयुर्वर्जाः स्वप्रायोग्याः प्रकृतयः–अपगतवेद-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽनाहारकमार्गणायोग्या ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा ऽन्तरायाख्याः सप्त प्रकृतयः, अकषायकेवलद्विकयोग्या पुनरेकैव वेदनीयरूपा प्रकृतिः ॥१९१॥

सम्प्रति शेषासु मार्गणासु सप्तकर्मणामबन्धकान् परिमाणद्वारेण वक्तुकाम आह–

सेसासु मग्गणासुं अबंधगा जासु आउवज्जाणं ।
जाण पयडीण हविरे संखेज्जा तासु तेसिं ते ॥१९२॥

(प्रे०) 'सेसा ' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु यासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां यासां प्रकृतीनामबन्धका भवन्ति,तासु मार्गणासु तासा प्रकृतीनां 'ते'अबन्धकाः सख्येया भवन्ति,तासु मार्गणासु यथासम्भव सूक्ष्मसम्परायाद्ययोगिकेवल्यन्तानामबन्धकत्वात् । भावार्थः पुनरयम्–मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रिय- पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय--त्रसकाय- पर्याप्तत्रसकाय मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा- ऽसत्यामृषमनोयोग--वचनयोगसामान्य--सत्यवचनयोगा–ऽसत्यामृषवचनयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-सयमसामान्य–शुक्ललेश्या–भव्या- ऽऽहारकाख्यविशतिमार्गणासु वेदनीयायुष्कवर्जानामबन्धकाः सख्येयाः, तासु परिमाणप्राधान्यतः सयोगिकेवलिनामबन्धकत्वात् सयोगिकेवलिनाञ्च कोटीपृथक्त्वप्रमाणत्वतोऽधिकत्वाभावाद् । मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाय-संयमसामान्य-यथाख्यातसंयम-भव्यलक्षणदशमार्गणासु वेदनीयस्याऽबन्धकाः संख्येयाः, अयोगिकेवलिनां तत्राऽबन्धकत्वात् तेषां च शतपृथक्त्वप्रमाणत्वतोऽधिकत्वाभावात् । औदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगयोर्वेदनीयायुष्कवर्जानामबन्धकाः सख्येया भवन्ति, केवलिसमुद्घातपन्नाना प्रोक्तयोगद्वयभाक्त्वात् केवलिसमुद्घातपन्नानां च शतपृथक्त्वमात्रत्वतोऽधिकत्वाभावात् । द्वयोर्मध्यममनोयोगयोर्द्वयोर्मध्यमवचनयोगयोः केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्के केवलदर्शनरहितदर्शनत्रिके सज्ञिमार्गणाया च वेदनीयायुष्कवर्जाना षण्णां कर्मणामबन्धकाः शतपृथक्त्वप्रमाणाः, तत्रोपशान्तकषाय-क्षीणकषायाणा मोहनीयवर्जपञ्चकर्माबन्धकत्वात् तेषां च यथोक्तप्रमाणत्वात् ,तथा सूक्ष्मसम्परायो पशान्तकषाय-क्षीणकषायाणा मोहनीयाऽबन्धकत्वात् तेषामपि यथोक्तप्रमाणत्वात् । लोभमार्गणाया मोहनीयाऽबन्धकाः शतपृथक्त्वमात्रा भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामबन्धकत्वात् तेषा च तावन्मात्रत्वात् । औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया वेदनीयायुष्यकवर्जानाम-

बन्धकाः शतपृथक्त्वमात्रा भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहानां मोहनीयाबन्धकत्वादुपशान्तमोहानां च ज्ञानावरणाद्यबन्धकत्वात् . तेषां च तावन्मात्रत्वात् । तदेवमभिहिताः सप्तकर्मणां बन्धका-ऽबन्धकाः परिमाणद्वारेण ॥१९२॥

सम्प्रत्यायुष्कस्य बन्धका-ऽबन्धकानां परिमाणं व्याजिहीर्षुरादौ तावदायुष्कस्य बन्धकानां परिमाणं प्राह–

हुन्ति अणंता तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअभेएसु ।
वणकायजोगुरलदुगणपुंसगकसायचउगेसुं ॥१९३॥
दुअणाणाजयअणयणतिअसुहलेसाअभवियभवियेसुं ।
मिच्छत्तासण्णीसुं आहारे बंधगाउस्स ॥१९४॥

(प्रे०) 'हुन्ति' इत्यादि, 'तिरश्चि' तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायां 'सर्वैकेन्द्रियनिगोदभेदेषु' सर्वैकेन्द्रियभेदेषु=एकेन्द्रियसामान्य सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-बादरैकेन्द्रिय पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपेषु सप्तसु मार्गणास्थानेषु सर्वनिगोदभेदेषु=साधारणशरीरवनस्पतिकाय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय -बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणशरीर-वनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायलक्षणेषु सप्तसु मार्गणास्थानेषु च 'वन काययोगौ-दारिकद्विक-नपुंसक-कषायचतुष्केषु' वने=वनस्पतिकायसामान्यमार्गणायां काययोगे=काययोगसामान्यमार्गणायाम् , औदारिकद्विके=औदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगलक्षणे मार्गणाद्विके नपुंसके=नपुंसकवेदमार्गणाया कषायचतुष्के=क्रोध-मान-माया-लोभरूपे मार्गणाचतुष्के 'द्व्यज्ञाना-ऽयता-ऽनयन-त्र्यशुभलेश्या-ऽभव्य-भव्येषु' द्व्यज्ञाने=मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानाख्ये मार्गणाद्वये अयते=अविरतमार्गणायाम् अनयने=अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां त्र्यशुभलेश्यासु=कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्यामार्गणासु अभव्ये=अभव्यमार्गणायां भव्ये=भव्यमार्गणायां च 'मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिनोः' मिथ्यात्वे=मिथ्यात्वमार्गणायाम् असंज्ञिनि=असंज्ञिमार्गणायां च 'तथा' तथाशब्दः समुच्चये 'आहारे' आहारकमार्गणायां सर्वसंख्यया षट्त्रिंशन्मार्गणासु (३६) 'आयुषः' आयुष्कस्य बन्धका अनन्ता भवन्ति, उक्तमार्गणावर्तिजीवानामनन्तत्वात् तत्सख्येयभागकल्पानां चायुर्बन्धकत्वात् ॥१९३-१९४॥

सम्प्रति शेषमार्गणास्वायुषो बन्धकानां परिमाणं प्रदिदर्शयिषुराह–

सखेज्जा पज्जमणुसमाणुस्सीआणआइदेवेसुं ।
आहारदुगे तह मणपज्जवसंजमसमइएसुं ॥१९५॥

छेओवट्ठावणिये परिहारविसुद्धिसुक्कखइएसु ।
सेसासु मग्गणासु जाणेयव्वा असंखेज्जा ॥१९६॥

(प्रे०) '**संखेज्जा**' इत्यादि, "बधगाउस्स" इति पूर्वतोऽनुवर्तते । 'पर्याप्तमनुष्यमानुष्यानतादिदेवेषु' पर्याप्तमनुष्ये=पर्याप्तमनुष्यमार्गणास्थाने मानुष्यां=मानुषीमार्गणास्थाने आनतादिदेवेषु=आनतप्रभृतिसर्वार्थसिद्धपर्यवसानेष्वष्टादशसुरमार्गणास्थानेषु 'आहारद्विके' आहारककाययोग तन्मिश्रकाययोगरूपे मार्गणाद्वये तथा 'मनःपर्यवसंयमसामायिकेषु' मनःपर्यवे=मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां सयमे=सयमसामान्यमार्गणायां सामायिके=सामायिकसंयममार्गणाया च 'छेदोपस्थापनीये' छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां 'परिहारविशुद्धि-शुक्ल-क्षायिकेषु' परिहारविशुद्धौ=परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां शुक्ललेश्यामार्गणायां क्षायिके=क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां च संख्येया आयुषो बन्धका भवन्ति । कुतः ? इति चेत् , उच्यते–पर्याप्तमनुष्य-मानुष्या-ऽऽहारकाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम - परिहारविशुद्धिकसंयम सर्वार्थसिद्धदेवरूपासु दशमार्गणासु संख्येया एवा ऽऽयुर्बन्धकाः संभवन्ति, उक्तमार्गणावर्तिजीवानां संख्येयत्वात् तत्संख्येयभागमात्राणामेवायुर्बन्धकत्वाद् । आनतप्रभृत्यपराजितान्तासु सप्तदशमार्गणासु यद्यपि जीवा असंख्येया भवन्ति, तथाप्यायुर्बन्ध उत्कृष्टतः संख्येयानामेव भवति, कुतः ? इति चेत् , उच्यते–आनतप्रभृत्यपराजितपर्यवसानाः सुरा गर्भजपर्याप्तमनुष्यायुरेव बध्नन्ति, तिर्यग्गतौ तेषामुत्पत्त्यभावात् । ते चाऽऽयुः स्वभवायुष्कात् षण्मासावशेषात् प्राक् न बध्नन्ति । यदि प्रोक्तमार्गणास्वायुषो बन्धका उत्कृष्टतो-ऽसख्येया भवेयुः, तर्हि षण्मासाऽभ्यन्तरे तैर्गर्भजपर्याप्तमनुष्यत्वेनोत्पत्तव्यम् । तथोत्पत्तेश्च षण्मासकाले गर्भजमनुष्या असंख्येया भवेयुः, न च तदिष्टम् , सिद्धान्ते पर्याप्तमनुष्याणां सख्येयत्वप्रतिपादनात् । तस्मादानतप्रभृतिसुरमार्गणास्वायुषो बन्धका उत्कृष्टतोऽपि संख्येया भवन्ति । एवं शुक्ललेश्यामार्गणायामपि सख्येया आयुषो बन्धका भावनीयाः ।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवनारका गर्भजमनुष्यायुरेव बध्नन्ति, तेनोक्तमार्गणायां देवनारका आयुर्बन्धकत्वेनाऽऽनतादिदेववत् संख्येया लभ्यन्ते, ये क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणां भजमाना मनुष्या देवायुष्क बध्नन्ति, तेऽपि सख्येया एव, सख्येयत्वात् पर्याप्तमनुष्याणाम् , ये तु युग्मिवर्जतिर्यञ्चः, ते तु क्षायिकसम्यग्दृष्टयो न भवन्ति । ये पुनर्युग्मितिर्यञ्चः क्षायिकसम्यक्त्वदृष्टयः, तेऽप्येकस्मिन् समय उत्कृष्टतः सख्येया भवन्ति, यतः **श्रीमदभयदेवसूरिपादैर्व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तौ** युग्मितिर्यञ्चोऽसंख्येया न भवन्तीत्यभिहितम् । **अक्षराणि त्वेवम्**–'सखेज्जाउ बवज्जति" त्ति असख्यातवर्षायुस्तिरश्चामसख्याताना कदाचिदप्यभावात् ।" इति । असख्यातवर्षा-

युष्काणां तिरश्चां संख्यातत्वे क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां युग्मधर्माणां तिरश्चामपि संख्यातत्वं सूपपद्यते। ततश्च क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां सख्येया आयुष्कबन्धका भवन्ति। न च **कषायप्राभृते**– "सखेज्जा च मणुस्सेसु खीणमोहा सहस्ससो णियमा। सेसासु खीणमोहा गदीसु णियमा असखेज्जा॥१॥" इत्यनेन क्षीणमोहाः=क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येया गतित्रये भणिताः, ततः **कषायप्राभृतकाराद्य-भिप्रायेण** तिर्यग्गतिमाश्रित्य क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामायुष्कस्य बन्धका असख्येयाः संभवन्तीति वाच्यम्, आयव्यययोस्तुल्यत्वा-ऽभ्युपगमेन **कषायप्राभृतग्रन्थाद्यभिप्रायापेक्षयाऽपि** सख्येयानामेवायुर्बन्धकानां संभवात्। तद्यथा नरकगत्यादिमार्गणासु प्रत्येकमेकस्मिन् समय उत्कृष्टतः सख्येयासख्येयानन्तानां यदन्यतमराशिका जीवा मार्गणान्तरतः समागच्छन्ति, तन्मार्गणातस्तत्प्रमाणा एव जीवा उत्कृष्टत एकस्मिन् समये मार्गणान्तरं प्राप्नुवन्ति, ना-ऽधिकाः, सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तेषु यस्याऽन्यतमस्य राशेरायो भवति, तद्राशेरेव व्ययो भवतीत्यर्थः। इहाऽसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्षूत्कृष्टतः संख्येया एव क्षायिकसम्यग्दृष्टय एकस्मिन् समये समुत्पद्यन्ते, गर्भजमनुष्याणामेव क्षायिकसम्यग्दृष्टितिर्यक्त्वेनोत्पत्तेः, तिर्यग्गतौ च न क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्तुं प्रयतन्ते जीवाः, पर्याप्तमनुष्याणामेव क्षायिकसम्यक्त्वप्रस्थापकत्वात्। तस्मादसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्षु सख्येयाना क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामेवाऽऽयो भवति, तेनैकस्मिन् समये सख्यातानामेव व्ययेन गत्यन्तरगमनरूपेण भवितव्यम्। अथैकस्मिन् समये यस्यां कस्याश्चिद् मार्गणाया संख्यातासंख्यातानन्तानां यस्याऽन्यतमराशेर्व्ययो मरणरूपो भवति, तस्यां मार्गणायां तद्राशिकजीवानामेकस्मिन् समय आयुर्बन्धः सम्भवति, तेन क्षायिकसम्यग्दृष्टितिरश्चामसख्यातत्वे-ऽप्येकस्मिन् समये मरणापेक्षया क्षायिकसम्यग्दृष्टितिरश्चां सख्येयत्वात् तिर्यग्गतौ च क्षायिकसम्यक्त्वस्य प्रस्थापकाभावादायुष्कस्य बन्धकाः क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां संख्याता एव लभ्यन्ते। एवं **कषायप्राभृतकाराद्यभिप्राये-णाऽपि** तिर्यग्गतौ क्षायिकसम्यग्दृष्टय आयुष्कस्य बन्धकाः संख्येया एव भवन्ति। इत्थं गतिचतुष्टये सख्येयानामेव क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामायुर्बन्धकत्वेन लाभाद् गतिचतुष्कवर्तिनः समुदिता अपि सख्येया एव क्षायिकसम्यग्दृष्टय आयुष्कस्य बन्धका भवन्ति, नाऽसंख्येयाः। तेन क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां संख्येया एव जीवा आयुष्कस्य बन्धका भवन्ति, नाधिकाः।

अथ शेषमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकानां परिमाणं वक्तुकाम आह–**'सेसासु'** इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितास्वष्टानवतिमार्गणास्वसंख्येयाः 'ज्ञातव्याः' आयुष्कस्य बन्धका बोद्धव्याः, कुतः? इति चेत्, युक्तिवशात्। तथाहि, नरकगतिसामान्यादिमार्गणासु तत्तन्मार्गणागतजीवा विवक्षितसमये ये भवन्ति, स्वभवस्थितौ समाप्तौ नियमतस्तेभ्यो नैकोऽपि तिष्ठति, गत्यन्तरं च प्राप्तुमिच्छवस्ते नियमत आयुर्बध्नन्ति, तेन नरकसामान्य प्रथमादिसप्तनरक-तिर्यक्सामान्यवर्जचतुस्तिर्यग्भेद-मनुष्यसामान्या-ऽपर्याप्तमनुष्या–ऽऽनतादिवर्जद्वादशसुरभेद–सर्वैकेन्द्रियभेदवर्जद्वादशेन्द्रियभेद–बादरपर्याप्ततेजःकाय-

वर्जपृथिवीकायादिसप्तविंशतिभेद-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायत्रिक-त्रसकायत्रिक-पद्मलेश्यारूपास्वेकोनसप्ततिमार्गणागतो जीवराशिस्तत्तन्मार्गणागतजीवानां भवस्थित्या विभज्यते, तदाऽपि जीवा असंख्येया लभ्यन्ते, यतः प्रोक्तमार्गणासु जीवा असंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयप्रमाणा भवन्ति, भवस्थितिस्तु तत्रोत्कृष्टतो नारकादीनां सख्येयसागरोपमाणि, केषाञ्चित् संख्येयवर्षाण्यन्येषां पुनः केवलमन्तर्मुहूर्तमेव। अनेन विधिनैकस्मिन् समयेऽसंख्येयजीवा गत्यन्तरे गन्तुं शक्नुवन्तीति सिद्ध्यति, यदि चोत्कृष्टपदे जीवानां मरणं चिन्त्येत, तर्हि नियमतो-ऽसंख्येया लभ्येरन् ।

पर्याप्तबादरतेजःकायिका अप्यसंख्येया निष्क्रामन्ति, तथैकस्मिन् समये यस्यां कस्यांचिद् मार्गणायां यावतां मरणरूपो व्ययो भवति, तावतां सामान्येन यथासंभवं संख्यातानामसंख्यातानामनन्तानां वाऽऽयुर्बन्धः संभवतीति व्याप्तेरुक्तत्वाद् नरकगत्यादिषु च सप्ततिमार्गणास्वसंख्येयानां जीवानामुत्कृष्टत एकस्मिन् समये मरणसंभवादायुष्कस्य बन्धका असख्येया लभ्यन्ते । एवं च देशविरतमार्गणायामुत्कृष्टतोऽसंख्येयाना देशविरततिरश्चां सास्वादनमार्गणायां च मनुष्यवर्जगतित्रयवर्तिनाम्रुत्कृष्टतोऽसख्येयानां मरणसद्भावेना-ऽऽयुष्कस्य बन्धका असख्येया इति सिध्यति ।

मनोयोगपञ्चक-वचनयोगपञ्चक-वैक्रियकाययोग-पुरुषवेद-स्त्रीवेद-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शन-तेजोलेश्या संज्ञिरूपासु सप्तदशमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकास्तत्तन्मार्गणागतजीवानां संख्येयभागकल्पाः प्रतिपादिताः, तत्तन्मार्गणागतजीवास्त्वसख्येया भवन्ति, तेना-ऽसख्येयेषु सख्यातेन विभक्तेष्व सख्येया आयुष्कस्य बन्धका लभ्यन्ते ।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्य क्षायोपशमिकसम्यक्त्वरूपासु षट्सु मार्गणास्वायुषो बन्धका असंख्येया भवन्ति । इह यद्यपि तिर्यग्वर्जाः शेषास्त्रिगतिका आयुष्कस्य बन्धकाः संख्येया एव विद्यन्ते, यतोऽभिहितमार्गणासु ये सम्यग्दृष्टयो मनुष्यगतितो गत्यन्तरे समुत्पत्स्यन्ते, ते विवक्षितसमये सख्येया एवाऽऽयुष्क बध्नन्ति, मनुष्याणा सख्येयत्वात् । ये पुनः सम्यग्दृष्टिजीवा देवगतितो नरकगतितो वा समुत्पस्यन्ते, तेऽपि विवक्षितसमये आनतादिदेववद् उत्कर्षतः संख्येया एवायुष्कं बध्नन्ति, पारभविकोत्पत्तियोग्यस्थानस्य पर्याप्तमनुष्यत्वात् । तिर्यञ्चस्तु सम्यग्दृष्टयो विवक्षितसमय उत्कृष्टतो-ऽसख्येया आयुष्क बध्नन्ति, स्वस्थानपरस्थानयोरुभयोरसख्येयराशिकत्वात् एकस्मिंश्च समय उत्कृष्टतो-ऽसख्येयाना मरणसभवात् । इत्थमुक्तमार्गणाषट्के सम्यग्दृष्टितिरश्च आश्रित्याऽऽयुष्कस्य बन्धका असंख्येया लभ्यन्ते । तदेव त्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकानां परिमाणमभिहितम् ॥१९५,१९६॥

एतह्यायुष्काबन्धकानां परिमाण वक्तुकाम आह—

सुक्काणआइगेसुं अत्थि असंखा अबंधगाऽणंता ।
सम्मत्तखाइएसुं सेसासुं बंधगव्वऽत्थि ॥१९७॥

(प्रे०) ' **क्का०**' इत्यादि, 'शुक्ला-ऽऽनतादिकेषु' अत्राऽऽनतादिकशब्देना-ऽऽनतप्रभृत्यपराजितपर्यन्ताः सुरा ग्राह्याः, न तु सर्वार्थसिद्धिकाः, तेषा मकलानामपि संख्यातत्वेना-ऽबन्धकानामसख्येयत्वाऽसभवात् । ततश्चायमर्थः—शुक्ललेश्यामार्गणायामानतप्रभृत्यपराजितपर्यवसानासु च सप्तदशसु सुरमार्गणासु 'अबन्धकाः' 'आउस्स' इत्यस्याऽनुवर्तनाद् आयुष्कस्याऽबन्धका 'असखयाः' असख्येयाः 'सन्ति' भवन्ति, इदमुक्तं भवति—उक्तमार्गणासु जीवाः सप्तकर्मबन्धकपरिमाणप्ररूपणायां असंख्येयाः प्राक् प्रतिपादिताः, तेषु संख्येया एवायुष्कबन्धकत्वेन पञ्चनवत्यधिकशततमगाथाया निरूपिताः, तेन शेषा असंख्येया आयुष्का-ऽबन्धकत्वेन लभ्यन्ते ।

'सम्यक्त्व-क्षायिकयोः' सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां चाऽऽयुष्कस्याऽबन्धका अनन्ता भवन्ति, उक्तमार्गणयोः सिद्धानामपि प्रवेशेन जीवानामनन्तत्वाद् आयुष्कबन्धकानां च क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां संख्येयत्वात् सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां चाऽसंख्येयत्वात् ।

'**सेसासु**' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु त्रयश्चत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु 'बन्धकवद्' आयुष्कबन्धकवद् अबन्धकाः 'सन्ति' भवन्ति । यासु तिर्यग्गत्यादिरूपासु षट्त्रिंशन्मार्गणास्वायुष्कबन्धका अनन्ता अभिहिताः, तास्वबन्धका अप्यनन्ताः, मार्गणागतजीवानामनन्तत्वात् तद्बहुसंख्येयभागमात्राणां चाऽऽयुष्काबन्धकत्वात् । यासु पुनर्निरयगत्यादिषु सप्तनवतिमार्गणास्वसंख्येया आयुष्कस्य बन्धकाः प्रतिपादिताः, तास्वबन्धका अप्यसंख्येयाः, यथासंभवं संख्येयभागमात्राणामसंख्येयभागप्रमाणानां चैवाऽबन्धकत्वात् । यासु पर्याप्तमनुष्यगत्यादिषु दशमार्गणासु सख्येया आयुष्कस्य बन्धका निरूपिताः, तास्वबन्धका अपि संख्येया भवन्ति, बहुसंख्येयभागमात्राणामबन्धकत्वात् ॥१९७॥

तदेवमादेशतः समाप्तं परिमाणनिरूपणम् । तस्मिश्च समाप्ते समाप्तं परिमाणद्वारम् ।

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे नवमं परिमाणद्वार समाप्तम् ॥



ओघतोऽष्टानां कर्मणां बन्धका अनन्ता,

आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणाम्

बन्धका	अनन्ता	संख्येया	असंख्येया		
अबन्धका			•	अनन्ता	संख्याता
गति	तिर्यग्गतिसामान्य० १	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० सर्वार्थसिद्ध० ३	शेषा ४३		मनुष्य० पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० ३
इन्द्रियम्	सप्तैकेन्द्रियभेदा ७		शेषा १२	...	पञ्चे० पर्याप्तपञ्चे० २
काय०	वन०, सप्तनिगोदभेदा ८		शेषा ३४		त्रस पर्याप्तत्रस०
योग	का०यो०, औदारिकद्विकम्, कार्मण० ४	आहारकद्विकम् २	शेषा १२		पञ्चमनो पञ्चवचो० काय०कार्मण०औदारिकद्विकम् 卐
वेद	नपुंसकवेद १	गतवेद १	शेषे २	गतवेद	...
कषाय	कषाया ४	अकषाय० १ △		अकषाय △	लोभः ★
ज्ञानम्	अज्ञानद्विकम् २	केवलज्ञा० मनःपर्यव० २ △	शेषा ४	केवलज्ञानम् △	केवलवर्जज्ञानानि ४ 卐
संयम	असंयम १	संयम० सामा० छेदो० परि० सूक्ष्म० यथा० △	देशविरत०		संयमसा० यथा० △
दर्शनम्	अचक्षुर्दर्शन० १	केवलदर्शनम् △ १	चक्षुर्द० अवधि०	केवलदर्शनम् △	केवलवर्जदर्शन०३
लेश्या	अशुभास्तिस्र ३		शुभा ३		शुक्ला
भव्य	भव्याभव्यौ २				भव्य.
सम्यक्त्वम्	मिथ्यात्वम् १	...	शेषा ६	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०	औपशमिक० 卐
संज्ञी	असंज्ञी १		संज्ञी	...	संज्ञी 卐
आहारक	आहारानाहारौ २			अनाहारक	आहारक 卐
सर्वा	३८	१६	१२०	७	३६
गाथाङ्क	१८६-१८७-१८८	१८८-१९०	१९०	१९१	१९२

△ नवरमकषायकेवलद्विकयथाख्यातेषु केवलस्य वेदनीयस्य

卐 पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोग-काययोगौदारिकद्विक-कार्मणकाययोग–केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्क–केवलवर्जदर्शनत्रिक–शुक्ललेश्यौपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्याहारकलक्षणासु

अबन्धका अपि अनन्ता (गाथा १८६)

आयुष

अनन्ता	सख्येया	सख्येया	असख्येया + सख्येया ×	असख्येया
,,	,,	असख्येया	अनन्ता	,,
तिर्यग्गतिसा० १	पर्याप्तमनुष्य , मानुषी, सर्वार्थसिद्धसुर ३	आनतादिदेवभेदा १७	---	शेषा २६
सप्तैकेन्द्रियभेदा ७				शेषा १२
वन०, सप्तनिगोदभेदा ८				शेषा ३४
काययोग औदारिकद्विकम् ३	आहारकद्विकम् २		---	शेषा ११
नपुसकवेद १			---	शेषा २
कषाया ४		.		.
अज्ञानद्विकम् २	मन पर्यवज्ञानम् १			शेषा ४
असयम० १	सयमसा० सामा०,छेदो० परिहार० ४			देशविरत० १
अचक्षुदर्शनम् १			. .	शेषे २
अशुभास्तिस्र ३		शुक्ला १	.	शेषे २
भव्याभव्यौ २			.	
मिथ्यात्वम् १			+ सम्य० × क्षायिक०	शेषे२
असज्ञी १				सज्ञी १
आहारक १	---		---	---
३६	१०	१८	२	६७
१९३-१९४ १९७	१९५-१९६-१९७	१९५-१९६-१९७	१९५-१९६-१९७	१९६-१९७

पञ्चविंशतिमार्गणासु वेदनीयस्य न भवन्ति । ★ लोभे केवलस्य मोहनीयस्य सन्ति ।

॥ अथ दशमं क्षेत्रद्वारम् ॥

सम्प्रति क्षेत्रद्वारस्यावसरः। तत्रादौ तावत् क्षेत्रप्ररूपणा-स्पर्शनाप्ररूपणयोर्विशेष प्रदिदर्शयिपुराह–

कालं तु वट्टमाणं पडुच्च खेत्ते परूवणा णेया।
आसिज्ज अईअद्धं परूवणा उण फरिसणाए ॥१९८॥

(प्रे०) 'कालं' इत्यादि, कालं तु वर्तमानं 'प्रतीत्य' आश्रित्य 'क्षेत्रे' क्षेत्रद्वारे 'प्ररूपणा' निरूपणमस्ति, 'स्पर्शनाया' स्पर्शनाद्वारे पुनः 'अतीताद्धाम्' अतीतकालमाश्रित्य प्ररूपणा समस्ति। इदमुक्त भवति–वर्तमानकाल एकसमयप्रमाणः, अतीतकालस्त्वनन्तसमयप्रमाणः, यदुक्तं **श्रीतत्त्वार्थसूत्रभाष्ये**–'तत्रैक एव वर्त्तमानसमय, अतीताऽनागतयोरवानन्त्यम्।'' इति। तत्रैकस्मिन् समये वर्तमानकालरूपे ज्ञानावरणादिबन्धकादिभिर्यत् क्षेत्रमुत्कर्षेण व्याप्यते, तत्क्षेत्रं क्षेत्रद्वारेण निरूपयिष्यते। इदमुक्तं भवति–इह यस्मिन् कस्मिन् वर्तमानसमये ज्ञानावरणादिबन्धकादिभिरुत्कृष्टतो यावत् क्षेत्र व्याप्यते, तावत् क्षेत्रं क्षेत्रद्वारेण प्रतिपादयिष्यते, यथा मनुष्यगतिसामान्यमार्गणाया ज्ञानावरणादिबन्धकाना क्षेत्र लोकाऽसंख्येयभागमात्र कथयिष्यते। यत्क्षेत्रं चाऽतीतकालेऽनन्तपुद्गलपरावर्तसमयात्मके ज्ञानावरणादिबन्धकादिभिरुत्कर्षेण स्पृष्टम्, तत् स्पर्शनाद्वारेण प्रतिपादयिष्यते। यथा मनुष्यगतिसामान्यमार्गणायां ज्ञानावरणादिबन्धकैः स्पृष्टं क्षेत्रमनन्तरद्वारेण सर्वजगत् प्रतिपादयिष्यते। तदेवं क्षेत्रप्ररूपणा-स्पर्शनाप्ररूपणयोः कालकृत एव विशेषः ॥१९८॥

अष्टकर्मबन्धकाबन्धकानां क्षेत्र विभणिषुरादौ तावदोघतः प्राह–

अट्ठण्ह बंधगा खलु सव्वजगे तह अबन्धगाउस्स।
लोगासंखियभागे तइअस्सियराण केवलिगखेत्ते ॥१९९॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'अट्ठण्ह' इत्यादि, 'अष्टानां' ज्ञानावरणादीनामष्टसंख्याकाना प्रकृतीनां प्रत्येकं बन्धकाः खलु 'सर्वजगति' सर्वलोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके भवन्ति, कुतः? इति चेत्, उच्यते-सप्तकर्मणा प्रत्येकं बन्धकाः पर्याप्ता-ऽपर्याप्ताः प्रत्येकं सूक्ष्मैकेन्द्रियाः पृथिव्यादिवाय्वन्तास्तथा-ऽपर्याप्तबादरपृथिव्यादिवाय्वन्ताः पर्याप्तापर्याप्ता वनस्पतिकायिका अन्ये च चतुर्गतिका भवन्ति। तत्र पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मपृथिव्यादिवनस्पतिपर्यवसानानां स्वस्थानमाश्रित्य क्षेत्र सर्वजगत्, यदुक्त **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**–''कहि ण भते! सुहुमपुढवीकाइयाण पज्जत्तगाण अपज्जत्तगाण यठाणा प०? गोयमा! सुहुमपुढवीकाइया जे पज्जत्तगा जे अपज्जत्तगा ते सव्वे एगविहा अविसेसा अणाणत्ता सव्वलोयपरियावन्नगा प० समणाउसो! xxx कहि ण भते! सुहुमआउकाइयाण पज्जत्तगाण अपज्जत्तगाण ठाणा प०? गोयमा! सुहुमआउकाइया जे पज्जत्तगा जे अपज्जत्तगा ते सव्वे एगविहा अविसेसा अणाणत्ता सव्वलोयपरियावन्नगा

प० समणाउसो। xxx कहि णं भंते! सुहुमतेउकाइयाणं पज्जत्तगाण य अपज्जत्तगाण य ठाणा प०? गोयमा! सुहुमतेउकाइआ जे पज्जत्तगा, जे अपज्जत्तगा, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अणाणत्ता सव्वलोय-परियावन्नगा प० समणाउसो! xx कहि णं भंते सुहुमवाउकाइयाणं पज्जत्तगाण अपज्जत्तगाण ठाणा प०? गोयमा! सुहुमवाउकाइया जे पज्जत्तगा, जे य अपज्जत्तगा, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अणाणत्ता सव्वलोयप-रियावन्नगा प० समणाउसो। xxx कहि णं भंते सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाण अपज्जत्तगाण य ठाणा प०? गोयमा! सुहुमवणस्सइकाइया जे य पज्जत्तगा जे य अपज्जत्तगा ते सव्वे एगविहा अविसेसा अणाणत्ता सव्व-लोयपरियावन्नगा प० समणाउसो।" इति। अत्र स्वस्थानोपपातसमुद्घातक्षेत्रापेक्षया भेदाभावाद् एकविधाः प्रोक्ताः। अयं भावः—यत्र सहजभावेन तिष्ठन्ति सूक्ष्मपृथिव्यादयो जीवाः, तत्स्वस्थानम्, तेन लभ्यमान क्षेत्र स्वस्थान क्षेत्रम्, उपपतनम् उपपातः, तेन प्राप्यमाणं क्षेत्रमुपपातक्षेत्रम्, उत्पत्त्या सूक्ष्मपृथिव्यादि-भावस्य पूर्वभवस्थानवर्तमानभवस्थानयोरन्तराले यत्क्षेत्र प्राप्यते, तदुपपातक्षेत्रमुच्यते। समुद्घाताः सप्त वेदनादयः, तैः प्राप्यमाणं क्षेत्र समुद्घातक्षेत्रम्, एतत्त्रिविधक्षेत्रापेक्षयैकप्रकाराः, सर्वलोकपर्या-पन्नाः=सर्वलोकव्यापिनः। अविशेषाः=विशेषरहिता यथा पर्याप्तास्तथेतरेऽपी तिभावः, अनानात्वाः= देशभेदेनालक्षितनानात्वाः, येष्वाधारभूतेष्वाकाशप्रदेशेष्वेके, तेष्वेवेतरेऽपीतीत्यर्थः।

अपर्याप्तबादरपृथिव्यब्वायुकाया अपर्याप्तबादरवनस्पतिकायाश्चोपपात मारणान्तिकसमुद्घातं चा-श्रित्याऽपर्याप्तबादरतेजःकायिकास्तु मारणान्तिकं समुद्घातं प्रतीत्य सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति, असंख्येयलोकराशितोऽहीनराशिकत्वात्, असंख्येयलोकराशिकैश्च जीवैः समुद्घातेन सर्वलोकस्य व्यापनात्, यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे**—"कहि णं भंते! बायरपुढवीकाइयाणं अपज्जत्तगाण ठाणा प०? गोयमा! जत्थेव बादरपुढवीकाइयाणं पज्जत्तगाण ठाणा पन्नत्ता तत्थेव बादरपुढवीकाइयाणं अपज्जत्ताणं ठाणा प०, उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जभागे। xxxx कहि णं भंते! बादरआउकाइयाणं अपज्जत्तगाण ठाणा प०? गोयमा! जत्थेव बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाण ठाणा प०, तत्थेव बादरआउकाइयाणं अपज्जत्तगाण ठाणा प०, उववाएणं सव्वलोए समुग्घायेणं सव्वलोए सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। xxxx कहि णं भन्ते! बायरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाण ठाणा प०, गोयमा! जत्थेव बायरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाण ठाणा, तत्थेव बायरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाण ठाणा प०, उववाएणं लोयस्स दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य, समुग्घाएणं सव्वलोए सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्ज-इभागे। xxxx कहि णं भंते अपज्जत्तबादरवाउकाइयाणं ठाणा प०? गोयमा! जत्थेव बादरवायुकाइयाणं पज्जत्तगाण ठाणा, तत्थेव बादरवाउकाइयाणं अपज्जत्तगाण ठाणा प०, उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्व-लोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु। xxxx कहि णं भंते! बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाण ठाणा प०? गोयमा! जत्थेव बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाण ठाणा, तत्थेव बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाण ठाणा प०, उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे।" इति। प्रकृते प्रोक्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादयः पृथ्वीकायिकादयोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाश्च सर्वे सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तेन तैः सर्वलोको व्याप्यते। आयुषस्तु बन्धकानां क्षेत्र पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रि-यापेक्षया सर्वलोको घटते, यतोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियादिजीवापेक्षया स्वस्थानक्षेत्र सर्वलोको न भवति, किन्त्वपर्याप्तबादरवायुकायिकापेक्षया स्वस्थानक्षेत्रं लोकबहुसंख्येयभागमात्रं भवति, शेषापेक्षया च लोकासंख्येयभागप्रमाण भवति। आयुर्बन्धश्च स्वस्थानक्षेत्रे वर्तमानानामेव तेषां भवति।

सम्प्रत्यबन्धकानां क्षेत्रं निरूपयति–'तह' इत्यादि, 'तथा' येन प्रकारेणाऽष्टकर्मणां बन्धकाः सर्वजगति भणिताः, तेनैव प्रकारेण **'अबंधगाउस्स'** त्ति आयुषोऽबन्धकाः सर्वजगति भवन्तीति गम्यते, सुगममेतत्, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां चा-ऽऽयुष्का-ऽबन्धकत्वेनोपलम्भात् तेषां च सर्वलोकव्यापित्वात्।

लोकाऽसख्यभागे 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो-ऽबन्धका भवन्ति, अयोगिकेवलिनां सिद्धानां च तदबन्धकत्वात्, तेषां च संख्यातयोजनमात्रक्षेत्रवर्तित्वेन लोकासंख्येयभागवर्तित्वात्।

'इतरेषां' वेदनीयायुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां षण्णामबन्धकाः केवलिक्षेत्रे भवन्ति, सयोगिकेवलिनामप्यबन्धकत्वेन लाभात् ॥१९९॥

सम्प्रत्यधिकारायात केवलिक्षेत्रं निरूपयितुकाम आह—

केवलिआणं खेत्तं असंखभागो हवेज्ज लोगस्स।
लोगस्सत्थि असंखियभागा वा सव्वलोगो वा ॥२००॥

(प्रे०) **'केवलिआणं'** इत्यादि, केवलिकानां=केवलज्ञानवतां क्षेत्रम् **'असंख[illegible]'** इत्यादि, लोकस्य=चतुर्दशरज्ज्वात[illegible]याऽसंख्येयभागो भवति, लोकस्य वा 'असंख्येया भागाः' बहुसंख्येयभागा वा सर्वलोको भवति। इदमुक्तं भवति–केवलिनः स्वभावावस्थायां समुद्घाते च दण्डकपाटावस्थायां स्थिता लोकस्या-ऽसंख्येयभाग एव वर्तन्ते, मन्थानं कुर्वन्तः पुनर्लोकस्य बहुष्व-ऽसख्येयेषु भागेषु वर्तन्ते, मन्थानान्तराणामपूरितत्वात्, समुद्घातचतुर्थसमये सर्वलोके वर्तन्ते, तदानीं सर्वलोकव्यापित्वात् तेषाम् ॥२००॥

एतर्ह्यादेशतो बन्धकाना क्षेत्र दर्शयितुमना आदौ तावत् तिर्यग्गतिसामान्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणा बन्धकानां क्षेत्रमाह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअवणसेससुहुमभेएसुं।
पुहवाइचउक्के से बायरबायरअपज्जेसुं ॥२०१॥
पत्तेयवणम्मि तहा तदपज्जत्तम्मि कायजोगम्मि।
उरलदुगकम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥२०२॥
अण्णाणदुगे अजये अचक्खुदंसणतिअसुहलेसासुं।
भवियेयरमिच्छेसुं असण्णिआहारगियरेसुं ॥२०३॥
सत्तण्ह अत्थि आउगवज्जाणं बधगा अखिललोगे।
देसेणूणे लोगे बायरपज्जत्तवाउम्मि ॥२०४॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, तिर्यग्गतिमार्गणायां, सर्वशब्दस्य द्वाभ्यां सह सम्बन्धात् सर्वैकेन्द्रियेषु=एकेन्द्रियसामान्य- सूक्ष्मैकेन्द्रिय- पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय--बादरैकेन्द्रियपर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपेषु सप्तसु मार्गणास्थानेषु सर्वनिगोदेषु=साधारणशरीरवनस्पतिकाय--सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायप-र्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय- बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय--पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्या दरसाधारणशरीरवनस्पतिकायरूपेषु सप्तसु मार्गणास्थानेषु वनस्पतिकायसामान्यमार्गणायां शेषसूक्ष्मभेदेषु=सूक्ष्मपृथिवीकाय--पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय- सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया--ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय- सूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकायरूपेषु द्वादशमार्गणास्थानेषु च 'पृथिव्यादिचतुष्के' पृथिवीकायसामान्या-ऽप्कायसामान्य-तेजःकायसामान्य-वायुकायसामान्यलक्षणे मार्गणाचतुष्के 'तस्य' पृथिव्यादिचतुष्कस्य बादरबादरापर्याप्तेषु=बादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाय-बादराप्काया-ऽपर्याप्तबादराप्काय-बादरतेजःकाया-ऽपर्याप्तबादरतेजःकाय-बादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायलक्षणेष्वष्टसु मार्गणाभेदेषु 'प्रत्येकवने' प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणास्थाने तथा 'तदपर्याप्ते' अपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणास्थाने काययोगमार्गणायाम् 'औदारिकद्विककार्मणयोः' औदारिकद्विके=औदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगलक्षणे मार्गणाद्वये कार्मणे=कार्मणकाययोगमार्गणास्थाने नपुंसकवेदमार्गणायां 'चतुष्कषायेषु' क्रोध-मान-माया-लोभरूपेषु चतुर्मार्गणास्थानेषु 'अज्ञानद्विके' मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानलक्षणे 'अयते' अविरतमार्गणायामचक्षुर्दर्शनमार्गणायां त्र्यशुभलेश्यासु = कृष्णलेश्या - नीललेश्या-कापोतलेश्यामार्गणासु भव्यमार्गणायामभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायामसञ्ज्ञिमार्गणा-ऽऽहारकमार्गणा-ऽनाहारकमार्गणासु च सर्वसंख्यया चतुष्षष्टिमार्गणास्वायुष्कवर्जानां सप्तानां कर्मणां बन्धकाः 'अखिललोके' सर्वजगति बोद्धव्याः, कासुचिन्मार्गणासु स्वस्थानेन सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां जीवानां प्रवेशात् कतिपयासु पुनर्मारणसमुद्घातेन सर्वलोकव्यापिनां बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायिकानामपर्याप्तबादरपृथिव्यादिजीवानां प्रवेशात्, तैश्च सप्तकर्मणां बन्धात् ।

'देसेणूणे' इत्यादि, पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायां देशेन=असंख्येयभागरूपेण ऊने=न्यूने लोके सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, कुतः ? इति चेत्, उच्यते—पर्याप्तबादरवायुकायिका जीवाः समुद्घातेनाऽपि लोकस्य बह्वसंख्येयभागेष्वेव वर्तन्ते, यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे—"एत्थ णं बादरवाउकाइआणं पज्जत्तगाणं ठाणा प०, उववाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु ।" इति । ते च सर्वे-ऽपि सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तेनोक्तमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धका लोकबह्वसंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति ॥२०१-२०४॥

सम्प्रति मनुष्यगत्यादिमार्गणाः संगृह्य सप्तकर्मणां बन्धकानां क्षेत्रं प्ररूपयितुकाम आह—

तिणरदुपणिंदितसगयवेअविरइसुक्कसम्मखइएसु ।
लोगासंखियभागे छण्हं तइअस्स केवलिगखेत्ते ॥२०५॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'तिणर०' इत्यादि, 'त्रिनरद्विपञ्चेन्द्रियत्रसगतवेदविरतिशुक्लसम्यक्त्वक्षायिकेषु' त्रिनरेषु=मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपेषु द्विशब्दस्य द्वाभ्यामभिसम्बन्धाद् द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणयोर्मार्गणयोः, द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायाख्ययोर्द्वयोर्मार्गणयोरपगतवेदमार्गणाया विरतौ=संयमसामान्यमार्गणायां शुक्ललेश्यामार्गणायां सम्यक्त्वसामान्यमार्गणा क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोश्च सर्वसंख्यया द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं 'षण्णा' वेदनीयायुष्करहिताना ज्ञानावरणादीना बन्धका लोका-ऽसंख्यभागे वर्तन्ते, कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, भण्यते—उक्तमार्गणासु स्वस्थानेन सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणा समुद्घाततश्च सर्वलोकव्यापिनां पर्याप्तापर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायिकानामपर्याप्तबादरपृथिवीकायिकादीनां च बन्धकत्वेन प्रवेशो नास्ति, तेन सर्वलोको न प्राप्यते, पर्याप्तबादरवायुकायिकानां च बन्धकत्वेनाऽप्रवेशाद् देशोनलोको-ऽपि नासाद्यते, उक्तमार्गणासु सयोगिकेवलिनां प्रवेशे-ऽपि तेषा षट्कर्मा-ऽबन्धकत्वेन प्रोक्तमार्गणास्वन्तःपातित्वात् केवलिक्षेत्रमपि न लभ्यते । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायादि-पर्याप्तबादरनिगोद पर्याप्तबादरवायुकाय सयोगिकेवलिनो विना शेषा जीवा यासु मार्गणासु वर्तन्ते, तासु मार्गणासु जीवाः स्वस्थानतः समुद्घाततश्च लोका-ऽसंख्येयभागवर्तिन एव भवन्तीति व्याप्तिः । तेनोक्तमार्गणासु षण्णां कर्मणां बन्धका जीवा लोकासंख्येयभागमात्रमेव क्षेत्रमवगाहन्ते. नाधिकम् ।

'**तइयस्स**' इत्यादि, 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धका उक्तद्वादशमार्गणासु केवलिकक्षेत्रे भवन्ति, उक्तमार्गणासु सयोगिकेवलिनामपि प्रवेशात् तैश्च वेदनीयस्य बन्धात् समुद्घातविरहावस्थायां दण्डकपाटसमुद्घातावस्थाया च लोकासंख्यातभागे मन्थानावस्थायां पुनर्लोकबहुसंख्यातभागेषु केवलिसमुद्घातचतुर्थसमये च सर्वलोके वेदनीयस्य बन्धका भवन्तीति भावार्थः ॥२०५॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां क्षेत्र विवर्णयिषुराह—

तइयस्स मणुसव्व अकसायकेवलदुगाहखायेसुं ।
लोगासंखियभागे सेसासुं आउवज्जाणं ॥२०६॥

(प्रे०) '**तइयस्स**' इत्यादि, 'अकषायकेवलद्विकयथाख्यातेषु' अकषाय-केवलज्ञान केवलदर्शन-यथाख्यातसंयमरूपेषु चतुर्षु मार्गणास्थानेषु 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धकाः 'मनुष्यवत्' मनु-

ष्यमार्गणायां यावति क्षेत्रेऽनन्तरोक्तगाथायां निरूपिताः, तावति क्षेत्रे भवन्ति, केवलिक्षेत्रे भवन्तीत्यर्थः, अकषायादिषु सयोगिकेवलिनां बन्धकत्वेन प्रवेशात्, तेषां च यथोक्तक्षेत्रवर्तित्वात्।

'ंगा०' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु त्रिनवतिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धका लोकाऽसंख्यभागे वर्तन्ते, उक्तमार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायादि-पर्याप्तबादरनिगोद-पर्याप्तबादरवायुकायसयोगिकेवलिनामन्यतमस्याऽप्रवेशात् शेषजीवानां च समुद्घाततो-ऽपि लोकाऽसंख्येयभागवर्तित्वात्। शेषमार्गणाः पुनरिमाः—मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-तिर्यग्गतिसामान्य-वर्जगतिभेदास्त्रयश्चत्वारिंशत् (४३), नव विकलेन्द्रियभेदा अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणा, पर्याप्तबादरपृथिवीकाया-ऽप्काय तेजःकाय-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तत्रसकायरूपाः कायभेदाः पञ्च, काययोगसामान्यौदारिकद्विककार्मणकाययोगवर्जाश्चतुर्दश योगभेदाः, स्त्रीपुरुषवेदौ, अज्ञानद्विककेवलज्ञानवर्जज्ञानमार्गणाभेदाः पञ्च, अविरतयथाख्यातसंयमसामान्यवर्जाः संयममार्गणाभेदाः पञ्च, चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शने तेजोलेश्या पद्मलेश्या, औपशमिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिश्र-सास्वादनमार्गणाः संज्ञिमार्गणा चेति। तदेवं निरूपितमादेशतः सप्तकर्मणां बन्धकानां क्षेत्रम् ॥२०६॥

सम्प्रत्यबन्धकानां क्षेत्रमादेशतो भणितुमना लाघवार्थमादौ तावदतिदिशति—

णेया अबंधगोघव्व तिणरदुपणिंदितसअवेए ।
संजमभविसम्मखइअऽणाहारेसुं च सत्तण्हं ॥२०७॥

(प्रे०) 'णेया' इत्यादि, सप्तकर्मणामबन्धकास्त्रिनरादिमार्गणास्वोघवद् ज्ञेया इति क्रियासम्बन्धः। ततश्चायमर्थः—त्रिनरेषु = मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु द्विशब्दस्य द्वाभ्यां सह योजनाद् द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः, द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायमार्गणयोः, अवेदमार्गणायां संयमसामान्यमार्गणायां भव्यमार्गणाया सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च सप्तानां कर्मणामायुर्वर्जानामबन्धका ओघवद् ज्ञातव्याः, वेदनीयस्याऽबन्धका लोकाऽसंख्येयभागे, ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणाश्चाऽबन्धकाः केवलिक्षेत्रे भवन्ति, कुतः? इति चेत्, उच्यते-अपगतवेद-सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽनाहारकमार्गणासु वेदनीयस्याऽबन्धकाः सिद्धा अयोगिकेवलिनश्च भवन्ति, शेषासु पुनर्नवसु मार्गणास्वयोगिकेवलिन एव। सिद्धा अयोगिकेवलिनश्च लोका ऽसंख्येयभागवर्तिनः, तेन त्रयोदशमार्गणासु वेदनीयस्याऽबन्धकानां क्षेत्रं लोकासंख्येयभागमात्रमेव घटते, नाधिकम्, तथोक्तमार्गणासु ज्ञानावरणादिषट्काऽबन्धकत्वेन सयोगिकेवलिनोऽप्यन्तःप्रविष्टाः, तेनोक्तमार्गणास्वबन्धकैः क्षेत्रमवस्थाविशेषमाश्रित्य लोकाऽसंख्येयभाग-लोकसङ्ख्येयभाग सर्वलोकानामन्यतम व्याप्यते ॥२०७॥

सम्प्रति काययोगसामान्य-कार्मणकाययोग-शुक्ललेश्यामार्गणासु सप्तकर्मणामबन्धकानां क्षेत्रं व्याहर्तुकाम आह—

वेआउगवज्जाणं छण्हं ओघव्व कायसुक्कासुं ।
कम्मे लोगासंखियभागेसुं सव्वलोगे वा ॥२०८॥

(प्रे०) 'वेआउग णं' इत्यादि, 'कायशुक्लयोः' काययोगसामान्यमार्गणायां शुक्ललेश्यामार्गणायां च 'वेद्यायुर्वर्जानां षण्णां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण मोहनीय-नाम गोत्रा-ऽन्तरायाणामबन्धका 'ओघवत्' यथौघप्ररूपणायां केवलिक्षेत्रेऽभिहिताः, तथैव भवन्ति, उक्तमार्गणाद्वयेऽबन्धकतया सयोगिकेवलिनामपि प्रवेशात् । कार्मणकाययोगमार्गणायां षण्णामबन्धका 'लोकाऽसंख्येयभागेषु' लोकस्य बह्वसंख्येयभागेषु सर्वलोके वा वर्तन्ते, कुतः ? इति चेत् , उच्यते–कार्मणकाययोगमार्गणायां षट्कर्मणामबन्धकाः सयोगिकेवलिन एव भवन्ति । सयोगिकेवलिनां च कार्मणकाययोगः केवलिसमुद्घातस्य तृतीयसमये चतुर्थसमये पञ्चमसमये च भवति, तृतीयसमये पञ्चमे च समये सयोगिकेवलिनो लोकस्य बह्वसंख्येयभागान् व्याप्नुवन्ति, मन्थानसमुद्घातवर्तित्वात् , चतुर्थसमये तु लोकव्यापिनो भवन्ति । तदेवं मन्थानावस्थामधिकृत्य कार्मणकाययोगमार्गणाया षण्णा कर्मणामबन्धकाः सयोगिकेवलिनो लोकबह्वसंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति, समुद्घातचतुर्थसमयमाश्रित्य पुनः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति ॥२०८॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु सप्तकर्मणामबन्धकानां क्षेत्रं विभणिषुराह––

सेसासु मग्गणासुं अबंधगा जासु आउवज्जाणं ।
जाणऽत्थि तत्थ तेसिं लोगस्स असंखभागे ते ॥२०९॥

(प्रे०) '**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु यासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां यासां प्रकृतीनामबन्धका भवन्ति, 'तत्र' तासु मार्गणासु तासामायुर्वर्जानां प्रकृतीना 'ते' अबन्धका लोकस्याऽसंख्यभागे वर्तन्ते, औदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगा-ऽऽहारकमार्गणासु षट्कर्माबन्धकत्वेन मन्थानलोकपूरणसमुद्घातभाजा सयोगिकेवलिनामप्रवेशात् मनोयोगादिषु च केवलिसमुद्घातविरहितानामेव सयोगिकेवलिनामन्तःपातित्वाद् शेषासु च मतिज्ञानादिषु सयोगिकेवलिनामेवाभावाद् वेदनीयाबन्धकाना पुनरोघप्ररूपणायामपि लोका-ऽसंख्येयभागवर्तित्वप्रतिपादनात् । इदमुक्त भवति–मतिश्रुता-ऽवधि मन पर्यवज्ञान चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना -ऽवधिदर्शनौ पशमिकसम्यक्त्व--संज्ञिमार्गणासु पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोगौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगा-ऽऽहारकमार्गणासु षट्कर्मणामबन्धका लोकासंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति, मतिज्ञानादिमार्गणास्वबन्धकतया सयोगिकेवलिनामप्रवेशेन मनो-

योगादिषु च सयोगिकेवलिनां प्रवेशेऽपि मन्थानलोकपूरणसमुद्घातभाजां सयोगिकेवलिनामप्रवेशेन केवलिक्षेत्रासम्भवात् ।

अकषायमार्गणा–यथाख्यातसंयममार्गणयोर्वेदनीयाऽबन्धका लोका ऽसंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति, अकषायमार्गणायां सिद्धानामयोगिकेवलिनां च यथाख्यातसंयममार्गणायां चा-ऽयोगिकेवलिनां तदबन्धकत्वेन लाभात् तेषां च लोकासंख्येयभागवर्तित्वात् ।

तथा लोभमार्गणायां मोहनीयस्याबन्धका लोकासंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति, तेषां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकवर्तित्वेन तावन्मात्रक्षेत्रवर्तित्वात् । तदेवमभिहितं सप्तकर्मणामबन्धकजीवानां क्षेत्रम् ॥२०९॥

सम्प्रत्यायुष्कस्य बन्धकाबन्धकानां क्षेत्रमभिधित्सुरादौ तावद् बन्धकानां क्षेत्रं भणति—

तिरिये एगिंदियपणकायणिगोएसु सव्वसुहुमेसुं ।
कायुरलदुगणपुंसगकसायचउगदुअणाणेसुं ॥२१०॥
अजयाचक्खूसु असुहलेसाभवियियरमिच्छअमणेसुं ।
आहारम्मि य णेया सव्वजगे बंधगाउस्स ॥२११॥

(प्रे०) '**तिरिये**' इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायामेकेन्द्रियसामान्यमार्गणायां पञ्चकायेषु=पृथिवीकाया ऽप्काय-तेजःकाय-वायुकाय-वनस्पतिकायसामान्यमार्गणासु निगोदे=साधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणायां 'सर्वसूक्ष्मेषु' सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया–ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय–सूक्ष्माप्काय–पर्याप्तसूक्ष्माप्काया–ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-सूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायरूपास्वष्टादशसूक्ष्ममार्गणासु काययोगसामान्यमार्गणायाम् औदारिकद्विके=औदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगरूपे मार्गणाद्वये नपुंसकवेदमार्गणाया कषायचतुष्के=क्रोधादिमार्गणाचतुष्टये द्व्यज्ञानयोः=मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणयोः, अयते=अविरतमार्गणायामचक्षुर्दर्शनमार्गणायाम् ,अशुभलेश्यासु=कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्यामार्गणासु भव्यमार्गणायामभव्यमार्गणाया मिथ्यात्वमार्गणायाम् ; अमनसि=असंज्ञिमार्गणायाम् आहारकमार्गणाया च सर्वसंख्यया षट्चत्वारिंशन्मार्गणास्वायुषो बन्धका सर्वजगति वर्तन्ते, प्रोक्तमार्गणासु स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापिना सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशात् सर्वलोकस्थितैश्च तैरायुष्कस्य बन्धात् । ननु बादरैकेन्द्रियादिमार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनामप्रवेशे ऽप्यनन्तराशिकानां बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायादीना प्रवेशोपलम्भात् सप्तकर्मबन्धकवद् आयुषोऽपि बन्धकाः सर्वलोकव्यापिनः कुतो न भवन्ति ? इति

चेत्, उच्यते—उपपातं समुद्घातं चाश्रित्य बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायिकादयः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति, तदानीं च सप्तकर्मणां बन्धाद् बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकाः सर्वलोके वर्तन्ते। न चोपपातावस्थायां समुद्घातावस्थायां चायुष्कबन्धः सम्भवति, बद्धपरभवायुष्कैर्भवान्तराभिमुखैर्जीवैर्मारणसमुद्घातस्य निर्वर्तनाद् उपपातक्षेत्रवर्तिनामपि च स्वभवप्रथमादिसमयवर्तित्वेनायुर्बन्धा ऽसम्भवात्। तेन बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायादिमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकाः सर्वलोके न वर्तन्ते। इदं तु सर्वत्र बोध्यम्—आयुष्कस्य बन्धकानां क्षेत्रं सर्वत्रोपपातक्षेत्रं मारणसमुद्घातलभ्यमानक्षेत्रं च विहाय वाच्यम् ॥२१०-२११॥

अथ शेषमार्गणास्वायुष्कबन्धकानां क्षेत्रं प्राह—

देसूणजगे बायरएगिंदियवाउसव्वभेएसु ।
सेसासु णायव्वा लोगस्स असंभागम्मि ॥२१२॥

(प्रे०) 'देसूणजगे' इत्यादि, 'बादरैकेन्द्रियवायुसर्वभेदेषु' द्वन्द्वादौ श्रूयमाणस्य बादरपदस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणस्य सर्वभेदपदस्य प्रत्येकं योजनाद् बादरैकेन्द्रियसर्वभेदेषु=बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपेषु त्रिभेदेषु बादरवायुकायसर्वभेदेषु = बादरवायुकाय-पर्या दरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायरूपेषु च मार्गणास्थानेषु सर्वसख्यया षट्सु मार्गणास्थानेषु 'देशोनजगति' देशेन=असंख्येयभागलक्षणेन ऊने=न्यूने जगति लोकस्य बहुसख्येयभागेष्वित्यर्थः, आयुष्कस्य बन्धका वर्तन्ते, स्वस्थानापेक्षया पर्याप्त प्तबादरवायुकायिकानां लोकबहुसंख्येयभागवर्तित्वात्, स्वस्थानक्षेत्रवर्तिनाञ्चाऽऽयुर्बन्धसम्भवात्।

अथ शे र्गणास्वायुषो बन्धकानां क्षेत्रं थयति—' सा ' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितास्वेकादशाधिकशतमार्गणासु लोकस्याऽसंख्यभागे 'ज्ञातव्याः' आयुष्कस्य बन्धका बोद्धव्याः, र्गणावर्तिजीवानां स्वस्थानापेक्षया गमनागमनापेक्षया वा लोका-ऽसंख्येयभागवर्तित्वात्, स्वस्थ नागमनक्षेत्रवर्तिनां चाऽऽयुर्बन्धाप्रतिषेधात्। शेषमार्गणाः पुनरिमाः—तिर्यग्वर्जा गतिभेदाः षट्चत्वारिंशत् (४६), एकेन्द्रिभेदसप्तवर्जा इन्द्रियभेदा द्वादश, बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायरूपास्त्रयः पृथिवीकायभेदाः, एवं त्रयोऽप्कायभेदास्त्रयश्च तेजःकायभेदाः, बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय--पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया—ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायलक्षणाः षड् गाः, त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपर्याप्तत्रसकायरूपमार्गणात्रय पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगा ऽऽहारकद्विकरूपाणि त्रयोदश योगमार्गणास्थानानि स्त्रीवेदपुरुषवेदौ केवलज्ञाना-ऽज्ञानद्विकवर्जाः पञ्च ज्ञानमार्गणाभेदाः, सूक्ष्मसम्पराय-यथाख्याता-ऽविरतमार्गणावर्जाः संयममा

णाभेदाः पञ्च, चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं शुभलेश्यात्रयम्, औपशमिकमिश्रमिथ्यात्ववर्जाः सम्यक्त्व-मार्गणाभेदाश्चत्वारः संज्ञिमार्गणा चेति । तदेवं समर्थितमायुषो बन्धकानां क्षेत्रम् ॥२१२॥

एतर्ह्यायुष्काऽबन्धकानां क्षेत्रं प्रदिदर्शयिषुराह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअपणकायसेससुहुमेसुं ।
बायरपुहवाइचउगपत्तेएसु तदपज्जेसुं ॥२१३॥
कायुरलदुगणपुंसगकसायचउगदुअणाणअजएसुं ।
अणयणतिअसुहलेसाभवियरमिच्छामणेसु आहारे ॥२१४॥ (गीतिः)
आउस्स सव्वलोगे अबंधगा अत्थि केवलिअखेत्ते ।
तिणरदुपणिंदितससंजमसुक्कासम्मखइएसुं ॥२१५॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायां सर्वैकेन्द्रियेषु=सप्तैकेन्द्रियभेदेषु सर्व-निगोदेषु=साधारणशरीरवनस्पतिकाय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवन-स्पतिकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्म ाधारणशरीरवनस्पतिकाय-बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधा-रणशरीरवनस्पतिकाया ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायेषु पञ्चकायेषु=पृथिवीकाया ऽप्काय-तेजःकाय-वायुकाय वनस्पतिकायेषु, शेषसूक्ष्मेषु=सूक्ष्मपृथिवीकाय--पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया -ऽपर्याप्त-सूक्ष्मपृथिवीकाय-सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय - सूक्ष्मतेजःकाय - पर्याप्तसूक्ष्मतेजः काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकायलक्षणद्वादशमार्ग-णास्थानेषु 'बादरपृथिव्यादिचतुष्कप्रत्येकयोः' बादरपृथिवीकाय-बादराप्काय-बादरतेजःकाय-बादरवायु-कायरूपमार्गणाचतुष्के प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाये च 'तदपर्याप्तयोः' अपर्याप्तबादरपृथिव्यादिचतुष्केऽ-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणास्थाने च काययोगसामान्यौदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेदक्रोधादिकषायचतुष्क मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽविरतमार्गणासु तथाऽचक्षुर्दर्शन--कृष्णलेश्या-नीललेश्याकापोतलेश्याख्या--ऽशुभलेश्यात्रय-भव्या-ऽभव्य--मिथ्यात्वा -ऽसंज्ञ्याहारकमार्गणायां च सर्वसङ्ख्यया द्वाषष्टिमार्गणास्वायुषो ऽबन्धका सर्वलोके भवन्तीत्युपस्कारः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते—यासु मार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रिया जीवाः प्रविष्टाः, तासु मार्गणास्वायुष्कस्याऽबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोको भवतीति तु सुगमम्, सूक्ष्मपृथिव्यादीनां स्वस्थानतो-ऽपि सर्वलोकव्यापित्वात् । यासु बादरपृथिव्या-दिमार्गणास्वपर्याप्तबादरपृथिवीकायादयो ऽन्तःपतिताः, तासु यद्यपि जीवाः स्वस्थानतो लोकाऽसंख्येय-भागे वर्तन्ते, तथापि मारणसमुद्घातेनोपपातेन च सर्वलोके वर्तन्ते, मारणसमुद्घातोपपातगताश्चाप्यायु-ष्कस्या-ऽबन्धका भवन्ति, तेन बादरपृथिव्यादिमार्गणास्वायुष्कस्याऽबन्धकाः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति ।

ओघतोऽष्टकर्मणा बन्धका आयुषश्चाऽबन्धका सर्वलोके । वेदनीयस्याबन्धका

आयुर्वर्जाना सप्तकर्मणाम्

बन्धका	सर्वलोके	देशोन-लोके	वेद्यस्य केवलिक्षेत्रे शेषषण्णा लोकसख्य-	सप्ताना लोका सख्यभाग			
अबन्धका					ओघवत्	लोकासख्यभागेषुसर्वलोकेवा	लोकासख्येयभागे
गति	तिर्यग्गतिसामान्यम्		मनु० पर्याप्तमनु० मानुषी ३	शेषा ४३	अपर्याप्तवर्ज-त्रिमनुष्या ३	---	
इन्द्रियम	सर्वैकेन्द्रिया ७		पञ्चे० पर्याप्तपञ्चे० २	शेषा १०	पञ्चे०पर्याप्त-पञ्चे० २		
काय	कायमार्गणाभेदा ३४ ❀	पर्याप्त-बादरवायु	त्रस-पर्याप्तत्रसौ २	शेषा. ५	त्रसपर्याप्तत्रसौ २	.	.
योग	काययोग औदारिक-द्विक कार्मणयोग ४	...	---	शेषा १४	काय० १ 卐	कार्मण १卐	पञ्चमनो पञ्चवचो औदारिकद्वि० ५
वेद	नपुसकवेद १		गतवेद १	शेषे २	गतवेद १		
कषाय	कषाया ४		अकषाय १ △		.		लोभ —,अक-षाय २ △
ज्ञान	अज्ञानद्विकम् २	. .	केवलज्ञानम् १ △	शेषा ५		---	ज्ञानपञ्चकम् ५ 卐 △
सयम	असयम १		सयम० यथाख्यात० २ △	शेषा ५ +	सयम १		यथा० १ △
दर्शनम	अचक्षुर्दर्शनम् १		केवलदर्शनम् १ △	शेषे २	..		△ 卐 सर्वा ४
लेश्या	अशुभास्तिस्र ३		शुक्ला १	शेषे २	शुक्ला १ 卐	---	
भव्य	भव्याभव्यौ २				भव्य १		
सम्यक्त्वम्	मिथ्यात्वम् १		सम्य०, क्षायिक०	शेषा ४	सम्य० क्षायिक० २	.	औपशमि०卐१
सज्ञी	असज्ञी १			सज्ञी १			सज्ञी १
आहारक	आहारानाहारौ २				अनाहारक १		आहारक १
सर्वा	६४	१	१२+४	९३	१३+२	१	२७
गाथाङ्क	२०१ २०२-२०३-२०४	२०४	२०५,२०६	२०६	२०७ २०८	२०८	२०९

❀ पृथिवीकायसामान्य--सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया -ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय- बादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाया ऽप्कायसामान्य -सूक्ष्माप्काय पर्याप्तसूक्ष्माप्काया ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-बादराप्काया ऽपर्याप्तबादराप्काय-तेज कायसामान्य सूक्ष्मतेज काय-पर्याप्तसूक्ष्मतेज काया -ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेज काय--बादरतेज काया--ऽपर्याप्तबादरतेज काय वायुकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकाय--पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय-बादरवायुकाया--ऽपर्याप्तबादरवायुकाय -वनस्पतिकायसामान्य --सप्तनिगोदभेद-प्रत्येकवनस्पतिकाया- ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणाश्चतुस्त्रिशन्मार्गणा (३४) । + सूक्ष्मसम्परायसयममार्गणाया मोहनीयबन्धाभावात् षण्णा बन्धका ।

लोकासख्येयभागे, शेषाणां पण्णामबन्धका' केवलिक्षेत्रे × (गाथा २००)

आयुष

सर्वलोके	लोकासख्यभागे	देशोनलोके	देशोनलोके	लोकासख्यभागे	लोकासख्यभागे
,,	सर्वलोके	सर्वलोके	,,	केवलिक्षेत्रे×	,, ,,
तिर्यग्गतिसामान्यम् १				अपर्याप्तवर्जनिमनुष्या ३	शेषा ४३
एके० सूक्ष्मै० पर्याप्तसूक्ष्मै० अपर्याप्तसूक्ष्मै० ४	.	सर्वबादरैके० ३	—	पञ्चे० तत्पर्याप्तपञ्चे० २	शेषा १०
पृथ्व्यादिपञ्चकाया निगोद १५सूक्ष्मभेदा २१	बादरपृथिव्यादय ११-★	बादरवायु०, अप० बा० वायु० २	पर्याप्तबादरवायु०	त्रसपर्याप्तत्रसौ २	शेषा ५
काय० औदारिकद्विकम्	..				शेषा १३
नपुंसकवेद १	.	.		..	स्त्रीपुरुषवेदौ २
कषाया ४				.	
अज्ञानद्विकम् २		...			शेषा. ५
असंयम १				संयम १	शेषा ४
अचक्षुर्दर्शनम् १			'	.	शेषे २
अशुभास्तिस्र. ३	..			शुक्ला १	शेषे २
भव्याभव्यौ २				.	
मिथ्यात्वम् १				सम्य० क्षायिक०२	शेषे २
असञ्ज्ञी १					सञ्ज्ञी
आहारक १			.		
४६	११	५	१	११	८९
२१० २११ २१-२२१३ २१४	२११-२१३	२१२-२१३	२१२-२१५	२१२-२१५	२१२-२१६

★ बादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाय--बादराप्काया-ऽपर्याप्तबादराप्काय--बादरतेज काया--ऽपर्याप्तबादरतेज काय-बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय- प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया--ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायरूपा एकादशमार्गणा ।

△ नवरमकषायकेवलद्विकयथाख्यातेषु केवलस्य वेदनीयस्य, 卐 पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौ-दारिकद्विक-कार्मणकाययोग--केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्क--केवलवर्जदर्शनत्रिक-शुक्ललेश्यौ--पशमिकसम्यक्त्व-सञ्ज्ञ्या-हारकलक्षणासु पञ्चविंशतिमार्गणासु वेदनीयस्य न भवन्ति । — लोभे केवलस्य मोहनीयस्य सन्ति ।

× केवलिक्षेत्रं नाम लोकासख्येयभागो वा लोकबहुसख्येयभागा वा सर्वलोको वा । (गाथा २००)

सम्प्रत्यायुष्कस्याऽबन्धकानां केवलिक्षेत्रं मनुष्यादिमार्गणासु निरूपयन्नाह–'अत्थि' इत्यादि, त्रिमनुष्येषु=मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपासु तिसृषु मार्गणासु पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय -पर्याप्तत्रसकाय--संयमसामान्य-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु च सर्वसंख्ययैकादशमार्गणास्वायुष्कस्याऽबन्धकाः 'केवलिक्षेत्रे' लोकासंख्येयभागे वा लोकबह्वसंख्येयभागेषु वा सर्वलोके वा 'सन्ति' भवन्ति, उक्तमार्गणासु केवलिक्षेत्रभाजा सयोगिकेवलिना प्रवेशात् तेषां चा-ऽऽयुषो बन्धाभावात् ॥२१३-२१५॥

सम्प्रति शेषमार्गणास्वायुष्कस्या-ऽबन्धकानां क्षेत्रं प्रतिपिपादयिषुराह––

देसेणूणे लोगे बायरपज्जत्तवाउकायम्मि ।
सेसासु मग्गणासुं लोगस्स असंखभागम्मि ॥२१६॥

(प्रे०) 'देसेणूणे' इत्यादि, देशेन=लोकासंख्येयभागेन ऊने=न्यूने लोके पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायामायुष्कस्याऽबन्धका भवन्ति, उपपातमरणसमुद्घातावस्थायामपि पर्याप्तबादरवायुकायिकानां लोकबह्वसंख्येयभागक्षेत्रवर्तित्वात् तेषां चायुषो बन्धाभावात् । 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु सार्धगाथात्रयेणा–ऽभिहितमार्गणातो व्यतिरिक्तास्वेकोननवतिमार्गणास्वायुषोऽबन्धका लोकस्याऽसंख्येयभागे भवन्ति, उक्तमार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरपृथिव्यादि पर्याप्तबादरवायुकायिकादीनामप्रवेशेनोपपाततः समुद्घाततश्चाऽप्यायुष्काऽबन्धकानां यथोक्तक्षेत्रोपलब्धेः । शेषमार्गणास्त्विमाः–तिर्यग्गतिसामान्यमनुष्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीवर्जा गतिभेदास्त्रयश्चत्वारिंशत् (४३), नव विकलेन्द्रियभेदा अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, पर्याप्तबादरपृथिव्यादयस्त्रयः पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायो-ऽपर्याप्तत्रसकायः पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोग - तन्मिश्रकाययोगाः स्त्रीपुरुषवेदौ अज्ञानद्वयकेवलज्ञानरहिता ज्ञानमार्गणाभेदाः पञ्च, सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरताख्याश्चतस्रो मार्गणाः, चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं तेजोलेश्या पद्मलेश्या क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं सास्वादनं संज्ञी चेति ॥२१६॥

तदेवमादेशतः समर्थितं क्षेत्रम् । तस्मिंश्च समर्थिते समाप्तं क्षेत्रद्वारम् ।

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे दशमं क्षेत्रद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथैकादशं स्पर्शनाद्वारम् ॥

सम्प्रति "०फोसणा" इत्यनेनोद्दिष्टेन स्पर्शनाद्वारेणाऽतीतकालविषयत्वात् प्रागुक्तक्षेत्रतो विलक्षणां बन्धका-ऽबन्धकानां स्पर्शनां वक्तुकाम आदौ तावदोघत आह–

अट्ठण्ह बंधगेहिं फुसिअमखिलजगमबंधगेहि भवे ।
लोगासंखियभागो तइयस्सियराण सव्वजगं ॥२१७॥

(प्रे०) 'अट्ठण्ह' इत्यादि, 'अष्टानां' ज्ञानावरणादीनां कर्मणां प्रत्येकं बन्धकैः 'अखिलजगत्' सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनामपि कर्माष्टकस्य बन्धात् तेषां च सर्वलोकस्पर्शित्वात् ।

सम्प्रत्यबन्धकानां स्पर्शनां व्याहरति- 'अबंधगेहि' इत्यादि, 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणोऽबन्धकैर्लोकासंख्यभागः "फुसिअमि"त्यस्य लिङ्गव्यत्ययात् स्पृष्टो भवेत् ,अयोगिकेवलिनां सिद्धानां च तदबन्धकत्वात् तैश्च लोकासंख्येयभागस्य स्पृष्टत्वात् । 'इतरेषां'वेदनीयवर्जानां ज्ञानावरणादीना कर्मणामबन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टम् , कथम् ? इति चेत्, उच्यते–इह तावद् वेदनीयवर्जानां कर्मणामबन्धकाः सयोगिकेवलिनोऽपि भवन्ति, तैश्चाऽतीतकालेऽनन्तवारान् केवलिसमुद्घातचतुर्थसमये सर्वलोको व्याप्तः। तेन ज्ञानावरणादीनां वेदनीयवर्जानां सप्तानां कर्मणामबन्धकानां स्पर्शना सर्वजगद् भवति । क्षेत्रस्य तु विवक्षितवर्तमानकालविषयत्वेन त्रिविधं प्राप्यते स्म ॥२१७॥

एतर्ह्यादेशतोऽभिधातुमना नरकगतिसामान्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां स्पर्शनां प्राह–

णिरयचरिमणिरयेसुं चउआणयआइदेवभेएसुं ।
भागा छ बंधगेहिं आउगवज्जाण परिपुट्ठा ॥२१८॥ (गीतिः)
सव्वत्थ एत्थ गंथे फुसणादारम्मि भागसद्देणं ।
जाणेयव्वो भागो तसनाडीए चउद्दसमो ॥२१९॥

(प्रे०) 'णिरय०' इत्यादि, 'निरय-चरमनिरययोः' नरकगतिसामान्यमार्गणायां चरमनिरये=सप्तमपृथिवीनरकगतिमार्गणाया च प्रत्येकं'चतुरानतादिदेवभेदेषु' आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतसुरमार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् 'आयुर्वर्जानां' ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जसप्तकर्मणां बन्धकैः षड् भागाः परिस्पृष्टा भवन्ति । "बंधगेहिं आउगवज्जाण" इति पदद्वयमग्रेऽप्यनुवर्तनीयम् ।

नन्वत्र भागशब्दात् कस्याः कतमो भागो ग्राह्यः ? इति परशङ्कामवधार्योक्तानुक्तभागशब्दवाच्यं प्रतिपादयति–'सव्वत्थ' इत्यादि, अत्र ग्रन्थे सर्वत्र स्पर्शनाद्वारे भागशब्देन त्रसनाड्याश्चतुर्दशो भागो ज्ञातव्यः । भावार्थः पुनरयम्–त्रसनाडी वृत्तनालिकेव समस्ति, सा चोच्छ्रायत-

श्चतुर्दशरज्जुप्रमाणा ★ व्यासतश्चैकरज्जुमात्री । उक्तत्रसनाड्यां चतुर्दशभिर्विभक्तायां व्यासत एक-रज्जुरुच्छ्रायतश्चैकरज्जुर्लभ्यते, तत्प्रमाणं भागशब्देन बोध्यम् । इदमुक्तं भवति-भागशब्देन त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागो वाच्यः, यथा नरकगतिसामान्यमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैः षट् त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः परिस्पृष्टा इति दिक् ।

इह सामान्येन ये षडादयो भागा अभिहिता वक्ष्यन्ते च, ते सर्वेऽपि देशोना वाच्याः, स्वल्पत्वान्न देशोनता विवक्षिता मूल इत्यदोषः ।

इह तावत् प्रथमं नरकगत्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां या स्पर्शना त्रसनाड्याः षट् चतुर्दशभागा अभिहिता, सा परिभाव्यते-सर्वाधस्तनलोकान्तादारभ्य तमस्तमःप्रभाया उपरितनतलं यावदेका रज्जुर्भवति,तत ऊर्ध्वं पुनस्तमःप्रभाया उपरितनतलं यावद् द्वितीया रज्जुः,एवं यावत् शर्कराप्रभाया उपरितनतलादारभ्य रत्नप्रभाया उपरितनतलं यावत् सप्तमी रज्जुः । लोकाधस्तनभागापेक्षया यतः प्रभृत्यष्टमरज्जोः प्रारम्भः, तत्र तिर्यग्लोकस्थितिः, यदुक्तं **बृहत्संग्रहण्याम्**–'अह भागा पुढविसु,रज्जू एक्केक्क तह य सोहम्मे' । एवं **लोकप्रकाशेऽपि**–

'सर्वाधस्तनलोकान्तादारभ्योपरिग तलम् । यावत्सप्तममेदिन्या एका रज्जुरियं भवेत् ॥१॥
प्रत्येकमेव सप्तानां भुवामुपरिवर्तिषु । तलेषु रज्जुरेकैका स्युरेव सप्त रज्जवः ॥२॥'' इति ।

तदेव सप्तमपृथिवीनरक-तिर्यग्लोकयोरन्तरालो द्वितीयरज्जुप्रभृतिसप्तमरज्जुपर्यवसानः षड्रज्जूच्छ्रायो भवति । अयञ्चान्तरालो व्यासतो रज्जुमात्रः सप्तमपृथिवीनरकतस्तिर्यग्लोके दिशायां विदिशायां चोत्पित्सुभिर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैर्जीवैर्नैरन्तर्येण स्पृष्टः,नारकप्रभृतिजीवानां त्रसनाड्या बहिर्गमनाभावेन व्यासतो-ऽधिकक्षेत्रस्पर्शनाभावात् । इत्थं मारणान्तिकसमुद्घातगतैः सप्तमपृथिवीनारकजीवैरेकरज्जुमात्रव्यासं षड्रज्जुप्रमाणोच्छ्रायं क्षेत्रं स्पृष्टम् । ननु किं नाम मारणान्तिकसमुद्घातः,कुतश्च तदपेक्षयाऽत्र स्पर्शनाऽभिधीयते ? इति चेत् , उच्यते–मरणमेव प्राणिनामन्तकारित्वाद् अन्तो मरणान्तः, तत्र भवो मारणान्तिकः, "भवे" (सिद्धहेम० ६-३-१२३) इत्यनेन इकण्प्रत्ययः, मारणान्तिकश्चासौ समुद्घातश्च मारणान्तिकसमुद्घातः। असौ समुद्घात इत्थं क्रियते-केचिज्जीवा अन्तर्मुहूर्तमात्रे स्वायुषि शेषे स्वशरीरविष्कम्भबाहल्यान्वितमायामतस्तु जघन्येना-ऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रमुत्कर्षेण त्वसंख्येयानि योजनानि शरीराद् बहिः स्वात्मप्रदेशदण्डं निसृजन्ति, निसृज्य च यत्र स्थानेऽग्रेतनभवे समुत्पत्स्यन्ते, तत्र स्थाने तं स्वप्रदेशदण्डं प्रक्षिपन्ति, स दण्डस्तदुत्पत्तिस्थानमृजुगत्यैकेनैव समयेन लभते,विग्रहगत्या तूत्कृष्टतश्चतुर्थसमये प्राप्नोति । अथ मारणान्तिकसमुद्घात आन्तर्मौहूर्तिको भवति । इह तावदतीतकाले स्वस्थानसमुद्घातोपपातगमनागमनादिक्षेत्राणि समुदितानि

★ व्यास =विष्कम्भ (Diameter)

यावत्प्रमाणानि भवन्ति, तावत्क्षेत्रप्रमाणा स्पर्शना विवक्षिता । तत्र स्वस्थानस्पर्शना सप्तमपृथिवी-नारकाणां लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, नरकपृथिवीनां लोकासंख्येयभागमात्रवर्तित्वात् । मारणसमुद्घातापेक्षया तु षड्रज्जुमात्रोच्छ्रायैकरज्जुप्रमाणव्यासा ।

न चाऽस्तु तावल्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्वस्थानतः सप्तमपृथिवीनारकाणां स्पर्शना, तैस्तावन्मात्रक्षेत्रस्य सुस्पृष्टत्वात् । किन्तु समुद्घातापेक्षया स्वभवक्षेत्र-पारभविकक्षेत्रयोरन्तर्वर्तिसर्वक्षेत्रस्य स्पर्शना कुतो गृह्यते ? इति वाच्यम् , अतीतेकाले-ऽनेकैर्नारकैरुक्तक्षेत्रस्या-ऽपि स्पृष्टत्वात् । नन्वेवं तर्हि क्षेत्रप्ररूपणामाश्रित्या-ऽपि नारकाणां क्षेत्रं त्रसनाड्याः षड् चतुर्दशभागा भवेत् ? तत्र समुद्घातापेक्षयाऽपि क्षेत्रस्येष्टत्वादिति चेत् , मैवम् , क्षेत्रप्ररूपणैकं विवक्षितवर्तमानसमयमाश्रित्य क्रियते, वर्तमानसमये च सप्तमपृथिवीनारकाः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, तेषामपि कैश्चिदेव मारणसमुद्घात आरभ्यते, नैकस्मिन् समये सर्वैः । तेन क्षेत्रप्ररूपणामाश्रित्य सप्तमपृथिवीनारकाणां क्षेत्र षड्रज्जु-प्रमाणोच्छ्रायं रज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणविष्कम्भं भवति । तच्च लोका-ऽसंख्येयभागप्रमाण भवति । तथाहि-सप्तमपृथिवीनैरयिकाः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । ते यदि सर्वेऽसत्कल्पनया तिर्यग्लोके स्वप्रदेशदण्डान् प्रक्षिपेयुः, तर्हि तेषां सर्वेषां जीवानां सर्वे दण्डा उच्छ्रायतः षड्रज्जूर्व्याप्नुयुः, विष्कम्भतस्तु रज्ज्वसंख्येयभागमात्रमेव, सप्तमपृथिवीनारकाणां शरीरविष्कम्भेण श्रेण्यसंख्येयभागमात्रनारकराशौ गुणिते समुदितानां सर्वेषां दण्डानां रज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणविष्कम्भलाभात् । तदेवं वर्तमानकालमाश्रित्योच्छ्रायतः क्षेत्रस्य षड्रज्जुमात्रत्वे-ऽपि विष्कम्भेण रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वाद् वर्तमानकालमाश्रित्य सप्तमपृथिवीनारकाणां समुद्घातमाश्रित्याऽपि क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागमात्रं भवति । नन्वेवं तर्ह्यतीतकालमाश्रित्य सप्तमपृथिवीनारकाणां स्पर्शनाक्षेत्रं समुद्घातापेक्षयैकरज्जुव्यासं षड्रज्जुमात्रोच्छ्रायं कथं लभ्यते ? इति चेत् , उच्यते-कश्चित् सप्तमपृथ्वीनारकः स्वयम्भूरमणस्य प्रान्ते पूर्वदिश्युत्पित्सुः स्वात्मप्रदेशदण्डं तिर्यक् स्वयंभूरमणप्रान्तदेश-समश्रेणि यावद् विस्तार्य ततश्चोर्ध्वं प्रसार्य स्वोत्पत्तिस्थानं प्रापयति, इतरः पश्चिमदिश्युत्पित्सुः प्रथमजीववत् स्वात्मप्रदेशदण्डं स्वयम्भूरमणप्रान्तदेशसमश्रेणि यावत् प्रसार्य ततश्चोर्ध्वं सम्प्रसार्य स्वोत्पत्तिस्थान गमयति । एव प्राग्विवक्षितस्वयम्भूरमणप्रान्तप्रदेशतोऽन्यत्र दिक्षु विदिक्षु चान्ये-ऽन्ये जीवा उत्पादनीयाः । ते च विष्कम्भतो न्यूनन्यूनतरस्वात्मप्रदेशदण्डान् विस्तारयेयुः । अतीतकालस्यानन्त्यादनया रीत्या किञ्चिद्देशं विहाय सम्पूर्णतिर्यग्लोके मपृथिवीनारकाः

श्चतुर्दशरज्जुप्रमाणा ★ व्यासतश्चैकरज्जुमात्री । उक्तत्रसनाड्यां चतुर्दशभिर्विभक्तायां व्यासत एक-रज्जुरुच्छायतश्चैकरज्जुर्लभ्यते, तत्प्रमाणं भागशब्देन बोध्यम् । इदमुक्तं भवति–भागशब्देन त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागो वाच्यः, यथा नरकगतिसामान्यमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैः षट् त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः परिस्पृष्टा इति दिक् ।

इह सामान्येन ये षडादयो भागा अभिहिता वक्ष्यन्ते च, ते सर्वेऽपि देशोना वाच्याः, स्वल्पत्वान्न देशोनता विवक्षिता मूल इत्यदोषः ।

इह तावत् प्रथमं नरकगत्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां या स्पर्शना त्रसनाड्याः षट् चतुर्दशभागा अभिहिता, सा परिभाव्यते–सर्वाधस्तनलोकान्तादारभ्य तमस्तमःप्रभाया उपरितनतलं यावदेका रज्जुर्भवति,तत ऊर्ध्वं पुनस्तमःप्रभाया उपरितनतलं यावद् द्वितीया रज्जुः,एवं यावत् शर्कराप्रभाया उपरितनतलादारभ्य रत्नप्रभाया उपरितनतलं यावत् सप्तमी रज्जुः । लोकाधस्तनभागापेक्षया यतः प्रभृत्यष्टमरज्जोः प्रारम्भः, तत्र तिर्यग्लोकस्थितिः, यदुक्तं **बृहत्संग्रहण्याम्**–'अह भागा पुढविसु,रज्जू एक्केक्क तह य सोहम्मे । एवं **लोकप्रकाशेऽपि**–

'सर्वाधस्तनलोकान्तादारभ्योपरिग तलम् । यावत्सप्तममेदिन्या एका रज्जुरियं भवेत् ॥१॥
प्रत्येकमेव सप्ताना भुवामुपरिवर्तिषु । तलेषु रज्जुरेकैका स्युरेव सप्त रज्जव ॥२॥" इति ।

तदेवं सप्तमपृथिवीनरक-तिर्यग्लोकयोरन्तरालो द्वितीयरज्जुप्रभृतिसप्तमरज्जुपर्यवसानः षड्रज्जूच्छ्रायो भवति । अयञ्चान्तरालो व्यासतो रज्जुमात्रः सप्तमपृथिवीनरकतस्तिर्यग्लोके दिशायां विदिशायां चोत्पित्सुभिर्मारणान्तिकसमुद्घातगतैर्जीवैर्नैरन्तर्येण स्पृष्टः,नारकप्रभृतिजीवानां त्रसनाड्या बहिर्गमनाभावेन व्यासतो-ऽधिकक्षेत्रस्पर्शनाभावात् । इत्थं मारणान्तिकसमुद्घातगतैः सप्तमपृथिवीनारकजीवैरेकरज्जुमात्रव्यास षड्रज्जुप्रमाणोच्छ्रायं क्षेत्र स्पृष्टम् । ननु किं नाम मारणान्तिकसमुद्घातः,कुतश्च तदपेक्षयाऽत्र स्पर्शनाऽभिधीयते ? इति चेत् , उच्यते–मरणमेव प्राणिनामन्तकारित्वाद् अन्तो मरणान्तः, तत्र भवो मारणान्तिकः, "भवे" (सिद्धहेम० ६-३-१२३) इत्यनेन इकणप्रत्ययः, मारणान्तिकश्चासौ समुद्घातश्च मारणान्तिकसमुद्घातः । असौ समुद्घात इत्थं क्रियते-केचिज्जीवा अन्तर्मुहूर्तमात्रे स्वायुषि शेषे स्वशरीरविष्कम्भबाहल्यान्वितमायामतस्तु जघन्येना-ऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रमुत्कर्षेण त्वसंख्येयानि योजनानि शरीराद् बहिः स्वात्मप्रदेशदण्ड निसृजन्ति, निसृज्य च यत्र स्थाने-ऽग्रेतनभवे समुत्पत्स्यन्ते, तत्र स्थाने तं स्वप्रदेशदण्डं प्रक्षिपन्ति, स दण्डस्तदुपत्तिस्थानमृजुगत्यैकेनैव समयेन लभते,विग्रहगत्या तूत्कृष्टतश्चतुर्थसमये प्राप्नोति । अथ मारणान्तिकसमुद्घात आन्तर्मौहूर्तिको भवति । इह तावदतीतकाले स्वस्थानसमुद्घातोपपातगमनागम[illegible]

★ व्यास =विष्कम्भ (Diameter)

यावत्प्रमाणानि भवन्ति, तावत्क्षेत्रप्रमाणा स्पर्शना विवक्षिता । तत्र स्वस्थानस्पर्शना सप्तमपृथिवी-नारकाणा लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा भवति, नरकपृथिवीनां लोकासंख्येयभागमात्रवर्तित्वात् । मारणसमुद्घातापेक्षया तु षड्रज्जुमात्रोच्छ्रायैकरज्जुप्रमाणव्यासा ।

न चाऽस्तु तावल्लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा स्वस्थानतः सप्तमपृथिवीनारकाणां स्पर्शना,तैस्तावन्मात्रक्षेत्रस्य सुस्पृष्टत्वात् । किन्तु समुद्घातापेक्षया स्वभवक्षेत्र-पारभविकक्षेत्रयोरन्तर्वर्तिसर्वक्षेत्रस्य स्पर्शना कुतो गृह्यते ? इति वाच्यम् , अतीतेकाले-ऽनेकैर्नारकैरुक्तक्षेत्रस्या-ऽपि स्पृष्टत्वात् । नन्वेवं तर्हि क्षेत्रप्ररूपणामाश्रित्या-ऽपि नारकाणां क्षेत्र त्रसनाड्याः षड् चतुर्दशभागा भवेत् ? तत्र समुद्घातापेक्षयाऽपि क्षेत्रस्येष्टत्वादिति चेत् , मैवम् , क्षेत्रप्ररूपणैकं विवक्षितवर्तमानसमयमाश्रित्य क्रियते,वर्तमानसमये च सप्तमपृथिवीनारकाः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, तेषामपि कैश्चिदेव मारणसमुद्घात आरभ्यते, नैकस्मिन् समये सर्वैः । तेन क्षेत्रप्ररूपणामाश्रित्य सप्तमपृथिवीनारकाणां क्षेत्रं षड्रज्जुप्रमाणोच्छ्रायं रज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणविष्कम्भ भवति । तच्च लोका-ऽसंख्येयभागप्रमाण भवति । तथाहि-सप्तमपृथिवीनैरयिकाः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । ते यदि सर्वेऽसत्कल्पनया तिर्यग्लोके स्वप्रदेशदण्डान् प्रक्षिपेयुः, तर्हि तेषां सर्वेषां जीवानां सर्वे दण्डा उच्छ्रायतः षड्रज्जूर्व्याप्नुयुः,विष्कम्भतस्तु रज्ज्वसंख्येयभागमात्रमेव, स पृथिवीनारकाणां शरीरविष्कम्भेण श्रेण्यसंख्येयभागमात्रनारकराशौ गुणिते समुदितानां सर्वेषां दण्डानां रज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणविष्कम्भलाभात् । तदेवं वर्तमानकालमाश्रित्योच्छ्रायतः क्षेत्रस्य षड्रज्जुमात्रत्वे-ऽपि विष्कम्भेण रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वाद् वर्तमानकालमाश्रित्य सप्तमपृथिवीनारकाणां समुद्घातमाश्रित्याऽपि क्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागमात्रं भवति । नन्वेवं तर्ह्यतीतकालमाश्रित्य सप्तमपृथिवीनारकाणां स्पर्शनाक्षेत्रं समुद्घातापेक्षयैकरज्जुव्यास षड्रज्जुमात्रोच्छ्रायं कथं लभ्यते ? इति चेत् , उच्यते—कश्चित् सप्तमपृथ्वीनारकः स्वयम्भूरमणस्य प्रान्ते पूर्वदिश्युत्पित्सुः स्वात्मप्रदेशदण्डं तिर्यक् स्वयंम्भूरमणप्रान्तदेशसमश्रेणि यावद् विस्तार्य ततश्चोर्ध्वं प्रसार्य स्वोत्पत्तिस्थानं प्रापयति, इतरः पश्चिमदिश्युत्पित्सुः प्रथमजीववत् स्वात्मप्रदेशदण्डं स्वयम्भूरमणप्रान्तदेशसमश्रेणि यावत् प्रसार्य ततश्चोर्ध्वं सम्प्रसार्य स्वोत्पत्तिस्थानं गमयति । एव प्राग्विवक्षितस्वयम्भूरमणप्रान्तप्रदेशतोऽन्यत्र दिक्षु विदिक्षु चान्येऽन्ये जीवा उत्पादनीयाः । ते च विष्कम्भतो न्यूनन्यूनतरस्वात्मप्रदेशदण्डान् विस्तारयेयुः । अतीतकालस्यानन्त्यादनया रीत्या किञ्चिद्देशं विहाय सम्पूर्णतिर्यग्लोके सप्तमपृथिवीनारकाः

समुत्पादनीयाः । एवं चातीतकालापेक्षयैकरज्जुव्यासं तिर्यग्लोकस्य रज्जुमात्रविष्कम्भत्वात्, षड्रज्जुप्रमाणोच्छ्रायं तिर्यग्लोक-सप्तमनरकपृथिव्योरन्तरालस्य षड्रज्जुमात्रत्वात्, क्षेत्रं समुद्घातगतैर्नानाजीवैः संमील्य स्पृश्यते स्म । तेन सप्तमपृथिवीनारकाणां स्पर्शनैकरज्जुप्रमाणव्यासा षड्रज्जुप्रमाणोच्छ्राया लभ्यते । ततश्चेयं व्याप्तिर्लभ्यते–स्वस्थानतः स्वप्रायोग्योत्पत्तिस्थानं व्रजतां नानाजीवानामृजुवक्रगत्यादिभिर्यावत् क्षेत्रं स्प्रष्टुं शक्यते, तावत्प्रमाणं क्षेत्रमतीतकालस्यानन्त्यात् समुद्घातगतैर्जीवैर्नियमतः स्पृष्टं भवतीति। अत एव पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु तत्तन्मार्गणागतजीवानां सङ्ख्यातत्वेऽप्यतीतकालस्याऽनन्त्यादनन्तैर्जीवैर्मारणसमुद्घातेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिषूत्पद्य सर्वलोकः स्पृष्टः । तेन पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु बन्धकजीवानां स्पर्शना सर्वलोको वक्ष्यते । एवमन्यत्राऽपि भावनीया । उपपातेनाऽपि सप्तमपृथिवीनारकाणां स्पर्शनैकरज्जुमात्रव्यासा षड्रज्जुप्रमाणोच्छ्राया लभ्यते, तिर्यग्गतितः सप्तमपृथिवीनरके कन्दुकगत्येलिकागत्या चोत्पद्यमानैर्नारकायुष्कं वेदयद्भिरतीतकालापेक्षयाऽनन्तजीवैः मपृथिवीनरक-तिर्यग्लोकयोरन्तरालस्य नैरन्तर्येण स्पृष्टत्वात् । गमनागमनापेक्षया तु सप्तमपृथिवीनारकाणां लोकासंख्येयमा त्री स्पर्शना भवति, तेषां स्वस्थानतो बहिर्गमनाभावात् ।

यथा सप्तमपृथिवीनारकाणां स्पर्शना दर्शिता, तथैव नरकगतिसामान्यमार्गणायामपि जीवानां स्पर्शना वाच्या, नरकगतौ सप्तमपृथिवीनारकाणामेवोत्कृष्टस्पर्शनालाभात् । मारणान्ति समुद्घात उपपाते च वर्तमाना जीवा आयुर्वर्जसप्तकर्माणि बध्नन्त्येव । तेन सप्तमपृथिवीनरकगतिमार्गणायां नरकगतिसामान्यमार्गणायां च सप्तकर्मणा बन्धकानां स ना यथोक्तमाना ।

सम्प्रत्यानतादिसुरमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां स्पर्शना परिभाव्यते–रत्नप्रभाया उपरितनतलादारभ्य सौधर्मैशानदेवलोकौ यावत् सार्धरज्जुः, सनत्कुमारमाहेन्द्रौ यावद् अर्धतृतीयरज्जवः, सहस्रारं यावत् पञ्च रज्जवः, आरणाऽच्युतौ यावत् षड्रज्जवः, लोकान्तं यावत् रज्जवः । यदुक्तं जी मासे–

"ईसाणम्मि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे ।पचेव सहस्सारे छ अच्चुए सत्त लोगते ॥१॥" इति ।

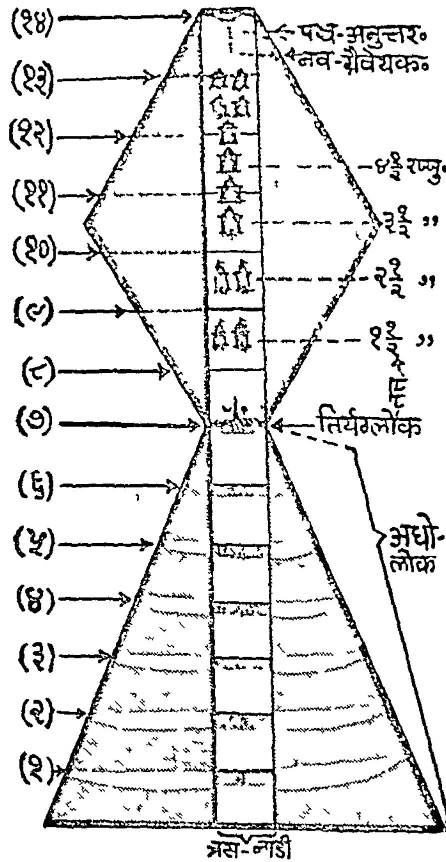
एवं श्रीमन्मलयगिरिपादैरपि बृहत्संग्रहणीवृत्तौ न्यगादि–

"सोहम्मम्मि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे । पचेव सहस्सारे छ अच्चुए सत्त लोगते" ॥१॥ इति ।

श्रीकलिकालसर्वज्ञहे न्द्रसूरिपादैरपि त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रेऽभिहितम्–

"आसौधर्मेशानकल्प सार्धा रज्जु समावने । सनत्कुमारमाहेन्द्रौ सार्धं रज्जुद्वय पुन ॥१॥
रज्जवश्चासहस्रार पञ्च षट् चाऽच्युतावधि । लोकान्तमवधिकृत्य जायवने सप्तरज्जव ॥२॥" इति ।

उच्छ्रायप्रदर्शिलोकचित्रम्



चित्रपरिचय—(i) (१) (२) (३) इत्यादिभिरङ्कितेषु स्थानेष्वेकादिरज्जूना समाप्तिः सूचिता।

(ii) त्रसनाडी वृत्तनालिकेव वृत्ता, व्यासतश्चैकरज्जुमात्री तथोच्छ्रायतश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणा।

(iii) अधोलोके नरकभूम्यादिषु नारक-भवनपति-व्यन्तर-पृथिवीकायादीना स्थानानि।

(iv) तिर्यग्लोके मनुष्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-विकलेन्द्रिय-पृथिव्यादीना स्थानानि।

(v) ऊर्ध्वलोके यथोत्तर ज्योतिष्क-द्वादशकल्पोपपन्न-नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तरेषत्प्राग्भारपृथिव्यादीनां स्थानानि सन्ति।

मतान्तरेण तु रत्नप्रभाया उपरितनतलादारभ्य सौधर्मैशानदेवलोकौ यावदेका रज्जुः, सनत्कुमारमाहेन्द्रसुरलोकौ यावत् रज्जुद्वयम्, लान्तकं यावद् रज्जुत्रयम्, सहस्रारं यावद् रज्जुचतुष्टयम्, आरणा-ऽच्युतौ यावत् पञ्च रज्जवः, ग्रैवेयकं यावत् षड् रज्जवः, लोकान्तं यावत् सप्त रज्जवः, यदुक्तं लोकप्रकाशे—

> रत्नप्रभोपरितलादारभ्यादिमताविषे। पर्याप्तेषु विमानेषु स्यादेषा रज्जुरष्टमी ॥१॥
> तत आरभ्य नवमी महेन्द्रान्ते प्रकीर्तिता। अत पर तु दशमी, लान्तकान्ते समाप्यते ॥२॥

भवेदेकादशी पूर्णा सहस्रारान्तसीमनि । स्याद् द्वादश्यच्युतस्यान्ते क्रमादेव त्रयोदशी ॥३॥
भवेद् ग्रैवेयकस्यान्ते लोकान्त च चतुर्दशी । धर्मोदूर्ध्वभागादूदूर्ध्वाध सप्त सप्तेति रज्जव ॥४॥" इति।

प्रकृतग्रन्थे तु ममतमाश्रित्य स्पर्शनाऽभिहिता। तेना-ऽऽनतप्रभृत्यच्युतान्तसुरमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां स्पर्शना यथोक्तमाना। तथाहि—स्वशक्त्योर्ध्वं गन्तुमसमर्थान् आनत-सुरान् प्राणतसुरांश्च स्नेहादिवशादच्युतदेवा ऊर्ध्वमच्युतकल्पं यावद् नयन्ति, यदुक्तं श्रीपञ्च ॑ हे-"निज्जंति अच्चुय जा अच्चुयदेवेण इयरसुरा ॥" इति । परतश्च देवानां गमनागमनं नास्ति, "गम-णागमण णत्थि अच्चुअ परओ सुराण पि" इति वचनप्रामाण्यात् । अधस्तात्तु ते तिर्यग्लोकं यावद् व्यन्तरतिर्यगादिसाहाय्याद्यर्थं स्वशक्त्या गच्छन्ति, न तु नरकपृथिवीषु,सहस्रारान्तानामेव तत्र गमनात् । एवमानतप्राणतदेवा अधः स्वशक्त्या तिर्यग्लोकं यावदूर्ध्वं च साङ्गतिकदेवसाहाय्येना-ऽच्युतसुरलोकं यावद् गच्छन्ति, तेनैकरज्जुमात्रव्यासं षड्रज्जुप्रमाणोच्छ्रायं क्षेत्रं तैः स्पृष्टम् । एवमारणा-ऽच्युतसुरैरप्येतावत्प्रमाणं क्षेत्रं स्पृष्टम् , तेषामपि तिर्यग्लोकं यावत् स्नेहा-दिभिर्गमनागमनदर्शनात् । गमनागमनं च विदधाना आयुर्वर्जम र्माणि बध्नन्त्येव, तेना-ऽऽ-नतप्रभृत्यच्युतान्तसुरमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकैरेकरज्जु व्यासं षड्रज्जुप्रमाणोच्छ्रायं क्षेत्रं स्पृष्ट-मिति सूपपद्यते । उपपातापेक्षया तै रज्ज्वसंख्येयभाग णविष्कम्भसार्धपञ्चषड्रज्जुमात्रोच्छ्रायंक्षेत्रं स्पृष्टम् । तच्च लोकासंख्येयभागमात्रमेव भवति, वि॰ भस्यैकरज्ज्वपेक्षयाऽसंख्येयगुणहीनत्वात् । तथाहि—आनतप्रभृत्यच्युतान्तसुरलोकास्तिर्यग् रज्ज्वसंख्येयभाग विस्तारेण विस्तृताः । मनुष्य-लोकतश्चैवा-ऽऽन च्युतान्तसुरेषूत्पद्यन्ते जीवाः, नान्यतः । तेन तिर्यग्लोके मृत्वा चतुर्षु दिक्ष्वा-रणा-ऽच्युतयोरानतप्राणतयोश्च स्वोत्पत्तिस्थानं वक्रगत्यादिभिः प्राप्नुवन्तो नानाजीवा मीलित्वाऽ-तीतकाले यथाक्रममुच्छ्रायतः षड्रज्जुमात्रान् सार्धपञ्चरज्जुमात्रांश्च स्वात्मप्रदेशदण्डान् विरचयन्ति स्म, विष्कम्भतः पुनः स्वस्वविमानक्षेत्रतोऽनधिकान् , मरण-पारभविकोत्पत्तिस्थानयोः पारभवि-कोत्पत्तिस्थानस्य विष्कम्भस्य प्रभूतत्वात् । तदेवमुच्छ्रायतो यद्यप्यानतप्राणतसुरैरुपपातेन सार्धपञ्चरज्जवः स्पृश्यन्ते स्म, आरणाऽच्युतसुरैश्च षड् रज्जवः स्पृश्यन्ते स्म, तथापि मनुष्याणा-मेवाऽऽनतप्रभृतिसुरेषूत्पत्तेस्तेषां च मनुष्यक्षेत्रतो बहिर्मरणाभावेन विष्कम्भस्य रज्ज्वपेक्षया-ऽसंख्य-गुणहीनत्वाद् विष्कम्भतो रज्ज्वसंख्येयभागमात्रक्षेत्रस्य स्पृष्टत्वादुपपातेनायुर्वर्जानां र्णां बन्ध-कानां स्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्री ॥२१८,२१९॥

सम्प्रति प्रथमपृथिवीनरकगत्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां स्पर्शना व्याजिहीर्षु-राह—

लोगासंखियभागो परिपुट्ठो होइ पढमणिरयम्मि ।
णवगेविज्जसुरेसुं पंचसु य अणुत्तरसुरेसुं ॥२२०॥

वेउव्वमीसजोगे आहारदुगमणपज्जवेसु तहा ।
सामाइअछेएसुं परिहारविसुद्धिसुहुमेसुं ॥२२१॥

(प्रे०) 'लोगा०' इत्यादि, 'प्रथमनिरये' रत्नप्रभानिरयगतिमार्गणायां नवग्रैवेयकसुरमार्गणासु पञ्चसु च विजयप्रभृतिसर्वार्थसिद्धान्तास्वनुत्तरमार्गणासु वैक्रियमिश्रकाययोगे आहारद्विके=आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगलक्षणे मार्गणाद्वये मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां च, तथा सामायिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनीयसयममार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिमार्गणासु 'लोका-ऽसख्यभागः' "सगेहिं आउगवज्जाण" इत्यस्याऽत्रा-ऽग्रेऽपि चाऽधिकृतत्वाद् आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां बन्धकैर्लोकस्याऽसख्येयतमो भागः स्पृष्टो भवति । कथम् ? इति चेत्, उच्यते–सप्तम्या रज्ज्वाः पर्यन्तभागे प्रथमनरकपृथिवी विद्यते, सा च बाहल्यतः संख्येययोजना भवति, तिर्यग्लोकश्चाष्टमरज्जोः प्रारम्भे वर्तते, तेन प्रथमनरकपृथिवी-तिर्यग्लोकयोरन्तरालः संख्येययोजनमात्रो भवति, अयं संख्येययोजनमात्रो-ऽन्तराल एकस्या रज्ज्वा असंख्येयभागमात्रो भवति, तेन प्रथमपृथिवीनरकतस्तिर्यग्लोके समुद्घातेनोत्पन्नैर्नारकै रज्जुमात्रव्यासमुच्छ्रायतो रज्ज्वसंख्येयभागमात्रं क्षेत्रं व्याप्यते, उच्छ्रायतश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणत्वाद् लोकस्य । समुद्घातक्षेत्रगताः प्रथमपृथिवीनारकाः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्त्येव, तेन प्रथमपृथिवीनरकगतिमार्गणायां कर्मणां बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः ।

नवग्रैवेयकसुरा अनुत्तरवासिनश्च तिर्यग्लोकापेक्षया सप्तम्यां रज्जौ वसन्ति, तेषां स्वस्थानक्षेत्रपारभविकोत्पत्तियोग्यमनुष्यक्षेत्रयो रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वाद् लोका-ऽसंख्येयभागप्रमाणमेव क्षेत्रं तेषां स्पर्शनीयं भवति । नन्वानतादिसुरवत् तेषामपि स्पृष्टं क्षेत्रं साधिकषड्रज्जवः कुतो नोपलभ्यते ? इति चेत्, न, ग्रैवेयका-ऽनुत्तरसुराणां बहिर्गमनागमनाभावाद् आनतादीनां तु गमनागमनसद्भावेन यथोक्तस्पर्शनोपलब्धेः । ननु ग्रैवेयकाऽनुत्तरसुराणां गमनागमनाभावेऽपि सप्तमपृथिवीनारकवत् स्वस्थानक्षेत्रस्य लोकासंख्येयभाग त्वेऽपि मारणसमुद्घातेन षड्रज्जुप्रमाणा स्पर्शना कुतो न लभ्यते ? चेत्, भण्यते–ग्रैवेयका ऽनुत्तरसुरेषु मनुष्या एव समुत्पद्यन्ते, ग्रैवेयका-ऽनुत्तरसुराश्च मनुष्येष्वेव संजायन्ते, नान्यत्र । ग्रैवेयकानुत्तरतो मनुष्यगतौ मनुष्यगतितश्च ग्रैवेयका-ऽनुत्तरेषूत्पित्सुभिः समुद्घातेनोच्छ्रायतः साधिकषड्रज्जवः स्पृश्यन्ते, किन्तु तिर्यग् रज्जोरसंख्येयभाग एव परिस्पृष्टो भवति, तिर्यग् ग्रैवेयकाऽनुत्तरसुराणां रज्जोरसख्येयभागमात्र एव क्षेत्रेऽवगाहनात् । यदि तिर्यक् ते स्वस्थानमाश्रित्यैकरज्जुमात्रे क्षेत्रेऽवगाहेयुः, तर्हि स्यात् तेषां स्पर्शना समुद्घातेन साधिकषड्रज्जुप्रमाणा, यथा देशविरतैः पञ्चरज्जवः स्पृष्टा भवन्ति । यदिवा पारभविकमुत्पत्तियोग्यस्थानं तिर्यगेकरज्जुप्रमाणं क्षेत्रं भवेद्, तर्हि मारणान्तिकसमुद्घातेन साधिकषड्रज्जुप्रमाणा स्पर्शना प्राप्येत, यथा सप्तमपृथिवीनारकस्य षड् रज्जवः स्पर्शना लभ्यते । एतयोरन्यतरदपि नास्ति, ग्रैवेयकानुत्तरसुराणां स्वस्थानस्य रज्ज्व-

संख्येयभागप्रमाणत्वात् पारभविकोत्पत्तियोग्यस्थानस्य च संख्येययोजनप्रमाणमनुष्यक्षेत्रत्वेन रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वात्। तदेवं समुद्घातापेक्षया ग्रैवेयका-ऽनुत्तरसुराणामात्मप्रदेशदण्डा ऊर्ध्वमध उच्छ्रायतः किञ्चिन्न्यूनसप्तरज्जुम भवन्तो-ऽपि तिर्यक्क्षेत्रं रज्जोरसंख्येयभागमात्रमेवा-ऽवगाहन्ते। ततो यका-ऽनुत्तरसुराणामूर्ध्वमधः स्पर्शना सप्तरज्जूच्छ्राया भवन्त्यपि तिर्यग् रज्जोरसंख्येयभागमात्री। नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरसुराश्च सप्तकर्माणि बध्नन्त्येव। तेन नवग्रैवेय श्चानुत्तरमार्गणासु कर्मबन्धकानां स्पर्शना लोकस्या-ऽसंख्येयभागप्रमाणा।

इदमत्रा-ऽवसेयम्—येषां स्वस्थान-गमनागमन-पारभविकोत्पत्तियोग्यस्थानाख्यानि त्रिविधस्थानानि प्रत्येकं तिर्यक् त्रसनाडीगततिर्यग्वृत्तविस्तृतरज्जुक्षेत्रतोऽसंख्येयगुणहीनानि भवेयुः, तर्हि तेषामूर्ध्वमध उच्छ्रायस्य प्रभूतत्वेऽपि स्पर्शना लोका ऽसंख्येयभागमात्र्येव स्यात्। येषां जीवानां पुनः त्रिविधानामपि स्थानानामन्यतममपि स्थानमेकरज्जुमात्रव्यासं भवेत्, तेषामुच्छ्रायपेक्षयाऽधिकाऽधिकतरा-ऽधि मा च स्पर्शना लभ्येत। अत एव सप्तमपृथिवीनारकाणामानतादिसुराणां च स्पर्शना न लोकासंख्येयभागमात्री, यथाक्रममुत्पत्त्या गमनागमनेन चैकरज्जुमात्रव्यासस्य स्पृष्टत्वात्।

इमाश्च स्पर्शनाप्ररूपणायामुपयोगिन्यो व्याप्तयः—

(१) स्वस्थान-पारभविकोत्पत्तियोग्यस्थान-गमनागमनक्षेत्राणामन्यतमस्य रज्जुमात्रे व्यासे सति स्पर्शना खलूच्छ्रायमपेक्ष्य रज्जुप्रमाणेन चिन्तनीया, यथा द्वितीयादिपृथिवीनारकाणाम्।

(२) स्वस्थानप्रभृतीनां त्रिविधानामपि क्षेत्राणां प्रत्येकं रज्ज्वसंख्येयभागमात्रे विष्कम्भे सति यद्वा स्वस्थानप्रभृतित्रिविधिक्षेत्राणामन्यतमस्य व्यासस्य रज्जुमात्रत्वेऽप्युच्छ्रायस्य रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वसद्भावे स्पर्शना तत्र लोकासंख्येयभागमात्र्येव भवति, यथा ग्रैवेयकसुराणां प्रथमपृथिवीनारकाणां च स ना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा।

(३) येषां जीवानां पारभाविकोत्पत्तियोग्यस्थानं सर्वलोकव्यापिजीवस्थानं भवति, तेषां स्पर्शना मारणसमुद्घातापेक्षया सर्वलोको भवति, यथा मनुष्यादीनां स्पर्शना लोकः।

(४) येषां जीवानां स्वस्थानं सर्वलोको भवति, अथवा ये लिसमुद्घाततृतीय-चतुर्थ-पञ्चमसमयवर्तिनोऽपि भवन्ति, तेषां स्पर्शना सर्वलोकः, यथा सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनामपगतवेदादीनां च।

इत्थ ग्रैवेयकसुराणां स्पर्शना समुद्घाततो-ऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्री भवति, उच्छ्रायतः साधि मात्रत्वे-ऽपि विष्कम्भस्य रज्ज्वसंख्येयभागप्रमाणत्वात्। ग्रैवेयकसुराश्च समुद्घातमापन्ना अप्यायुर्वर्जस र्माणि बध्नन्त्येव। तेन नवग्रैवेयकपञ्चा-ऽनुत्तररूपासु चतुर्दशमार्गणासु सप्त णां बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभाग एव स्पृष्टः, नाधिकः।

आहार ाययोग्याहारकमिश्रकाययोगि-मनःपर्यवज्ञानि-सामायिकसंयत-च्छेदोपस्थापनसंयत-परिहारविशुद्धिकसंयत-सूक्ष्मसम्परायसयतानां विष्कम्भतः स्वस्थानक्षेत्रं गमनागमनक्षेत्रं च रज्जोरसंख्येयभागमात्रमेव- संख्येययोजनप्रमाणत्वात्। पारभविकोत्पत्तियोग्यस्थानमपि रज्जोरसंख्येय-

भागमात्रम् , वैमानिकेष्वेव तेषामुत्पादात् । एवमाहारककाययोग्यादीनां स्वस्थानादित्रिविधानामपि क्षेत्राणां विष्कम्भस्य रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वेन स्पर्शना लोकासंख्येयभागप्रमाणा भवति, आहारककाययोग्यादयश्च ज्ञानावरणादीनि बध्नन्त्येव, तेनाहारककाययोगादिषु बन्धकाना स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागप्रमाणा ।

वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तकर्मणा बन्धकैर्लोकासंख्येयभागः स्पृष्टः । कथम् ? इति चेत् , उच्यते-वैक्रियमिश्रकाययोगो देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां वर्तते, तत्र च देवनारकाणां स्वस्थानं लोकासंख्येयभागपमाण क्षेत्रं सुज्ञम् । उपपातक्षेत्रं चाऽपि लोकासंख्येयभागमात्रम्, मीलितानां देवनारकाणां वैक्रियमिश्रकाययोगिनां क्षेत्रमुच्छ्रायतस्त्रयोदशरज्जुमात्रत्वेऽपि विष्कम्भतो लोकासंख्येयभागप्रमाणत्वात् । वैक्रियकायमिश्रयोगिनश्च सप्तकर्माणि बध्नन्त्येव । तेन वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तकर्मबन्धकैर्लोकासंख्येयभागः स्पृष्टः ॥२२०।२२१॥

सम्प्रति द्वितीयनरकादिषु सप्तकर्मबन्धकस्पर्शनामाह—

इगदुतिचउपणतेरहपणबारह फोसिआ भागा ।
कमसो दुइआइणिरयपणगविउवदेससासाणे ॥२२२॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) 'इग०' इत्यादि, एक-द्वि-त्रि-चतु-ष्पञ्च-त्रयोदश-पञ्च-द्वादशभागाः 'स्पृष्टाः' सप्तकर्मणां बन्धकैः परिस्पृष्टाः क्रमशो द्वितीयादिनिरयपञ्चक-वैक्रिय-देश-सास्वादन इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-एकादिभागानां प्रत्येकं क्रमेण द्वितीयपृथिवीनरकादिभिः सह सम्बन्धाद् द्वितीयादिनिरयादिभिः सहैकादयो योजनीयाः । तथाहि-द्वितीयपृथिवीनरकगतिमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैरेको भागः=त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागः स्पृष्टः,उच्छ्रायतो व्यासतश्चैका रज्जुः स्पृष्टेत्यर्थः, कुतः ? इति चेत् ,उच्यते-द्वितीयनरकपृथिवी खल्वधोलोकान्तात् षष्ठरज्जोः प्रान्ते स्थिता, तिर्यग्लोकस्त्वष्टमरज्जोरादौ व्यवस्थितः । ततश्च तयोरन्तरालो रज्जुमात्रो लभ्यते, तेनाऽतीतकाले समुद्घातेनैकरज्जुमात्रव्यासमेकरज्जुमात्रोच्छ्रायं क्षेत्र द्वितीयपृथिवीनारकैः स्पृष्टं भवति । समुद्घातमापन्नानां नारकाणां सप्तकर्मणां बन्धाद् द्वितीयपृथिवीनरकगतिमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैरेकरज्जुमात्रं क्षेत्रं स्पृष्टम् । एवं शेषनरकपृथिवीष्वपि यथोक्तमाना स्पर्शना भावनीया, यथोत्तरं नरकपृथिवीनां तिर्यग्लोकतो दूरदूरतरदूरतमवर्तित्वात् । तथाहि-तृतीयपृथिवीनरकगतिमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकानां स्पर्शना द्वौ भागौ=त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागौ=एकरज्जुमात्रव्यासरज्जुद्वयप्रमाणोच्छ्राया स्पर्शना भवति, तृतीयनरकपृथिवी तिर्यग्लोकयोरन्तरालस्य तावन्मात्रत्वेन समुद्घातापेक्षया तावत्प्रमाणक्षेत्रस्य स्पृष्टत्वात् समुद्घातगतैश्च नारकैः सप्तकर्मणां बन्धादित्यर्थः ।

चतुर्थपृथिवीनरकगतिमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैस्त्रयो भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः, व्यासत एकरज्जुः उच्छ्रायतश्च तिस्रो रज्जवः स्पृष्टाः, उक्तनरकपृथिवी-तिर्यग्लोकयोरन्तरालस्य ताव-

न्मात्रत्वेन समुद्घातापेक्षया तावन्मात्रक्षेत्रस्य स्पृष्टत्वात् समुद्घातगतैश्च सप्तकर्मणां बन्धादित्यर्थः ।

धूमप्रभापृथिवीनरकगतिमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैश्चत्वारो भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः, व्यासत एका रज्जुरुच्छ्रायतश्च चतस्रो रज्जवः परिस्पृष्टाः, उक्तनरकपृथिवीतिर्यग्लोकयोरन्तरालस्य तावन्मात्रत्वादित्यर्थः ।

तमःप्रभापृथिवीनरकगतिमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैः पञ्च भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः, व्यासत एका रज्जुरुच्छ्रायतश्च पञ्चरज्जवः स्पृष्टाः, प्रोक्तनरकपृथिवी तिर्यग्लोकयोरन्तरालस्य तावन्मात्रत्वादित्यर्थः ।

वैक्रियकाययोगमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैस्त्रयोदश भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः, व्यासत एका रज्जुरुच्छ्रायतश्च त्रयोदश रज्जवः स्पृष्टा इत्यर्थः, कुतः ? इति चेत् , उच्यते–इह तावद् देवा नारकाश्च वैक्रियकाययोगिनो भवन्ति । तत्र समुद्घातगतान् सप्तमपृथिवीनारकान् आश्रित्य अधस्तन्यः षड्रज्जवः स्पर्शनीयाः । तथा ये व्यन्तरसुरा ईषत्प्राग्भारपृथिवीकायिकेषूत्पद्यन्ते । ते वैक्रियकाययोगिनस्तिर्यक् किञ्चिन्न्यूनैकरज्जुमात्रे क्षेत्रे वसन्ति, त ईषत्प्राग्भारपृथिवीकायिकेषूत्पित्सवः समुद्घातेनैकरज्जुमात्रव्यासं सप्तरज्जुमात्रोच्छ्रायं क्षेत्र स्पृशन्ति स्म । तदेवं वैक्रियकाययोगिभिरूर्ध्वं सप्त रज्जवो-ऽधश्च षड् रज्जवः सर्वसङ्ख्यया व्यासत एका रज्जुरुच्छ्रायतश्च त्रयोदश रज्जवः स्पृश्यन्ते स्मा-ऽतीतकाले, तेषां च सप्तकर्मणां बन्धाद् वैक्रियकाययोगमार्गणायां सप्तकर्मणा बन्धकैरेकरज्जुमात्रव्यासं त्रयोदशरज्जुप्रमाणोच्छ्राय क्षेत्र स्पृष्टमतीतकाले ।

देशविरतमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैः पञ्च भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः ($\frac{5}{14}$), व्यासत एका रज्जुरुच्छ्रायतश्च पञ्च रज्जवः परिस्पृष्टा इत्यर्थः । कुतः ? इति चेत् , उच्यते–देशविरतास्तिर्यञ्चः सहस्रारं यावदुत्पद्यन्ते, न परतः, सहस्रार–तिर्यग्लोकयोश्चान्तरालः पञ्चरज्जुमात्रो भवति, तेना-ऽतीतकाले समुद्घातेन नानादेशविरततिर्यग्भिर्व्यासतो रज्जुरुच्छ्रायतश्च पञ्च रज्जवः स्पृष्टाः । ननु देशविरता मनुष्या अच्युतलोक यावदुत्पद्यन्ते, ततश्चोच्छ्रायतः षड्रज्जवः स्पर्शना देशविरतानां कुतो न भवति ? इति चेत् , उच्यते–इह तावद् ये देशविरता मनुष्या अच्युतसुरेषूत्पद्यन्ते, ते समुद्घातेन यद्यप्युच्छ्रायतः षड् रज्जूः स्पृशन्ति, तथापि तिर्यग् न तै रज्जुमात्र क्षेत्र स्पृश्यते, स्वस्थान-पारभविकस्थानयोरुभयोरपि रज्ज्वसङ्ख्येयभागमात्रत्वात् । तेन देशविरतमनुष्यैः समुद्घातेन स्पृष्टं क्षेत्रं लोका-ऽसंख्येयभागमात्र भवति, विष्कम्भस्यैकरज्जुतो ऽसङ्ख्येयगुणहीनत्वात् । तच्च किञ्चिदेव भवति । तेन न देशविरतमनुष्यानाश्रित्येह स्पर्शना-ऽभिहिता । देशविरततिर्यग्भिस्तु तिर्यक् किञ्चिन्न्यूनैकरज्जुः समुद्घातेन स्पृष्टैव, पारभविकोत्पत्त्यर्हस्थानस्य रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वेऽपि स्वस्थानस्याऽतीतकालापेक्षया किञ्चिन्न्यूनरज्जुमात्रत्वात् । ऊर्ध्वं तु देशविरततिर्यञ्चः समुद्घातेन सहस्रारान्तं स्पृशन्ति । तेन देशविरतैरेकरज्जुप्रमाणव्यासा पञ्चरज्जुप्रमाणोच्छ्राया

स्पर्शना समुद्घातेन लभ्यते । समुद्घातगताश्च सप्त कर्माणि बध्नन्त्येव । तेन देशविरतमार्गणाया सप्तकर्मणां बन्धकैरेकरज्जुमात्रव्यास पञ्चरज्जुमात्रोच्छ्राय क्षेत्र स्पृष्टम् ।

सास्वादनमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकैर्द्वादश भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दशांशा व्यासतो रज्जुरुच्छ्रायतश्च द्वादश रज्जवः परिस्पृष्टा इत्यर्थः,कथमेतदवमीयते ? इति चेत् ,उच्यते–षष्ठपृथिवीनारकाः सास्वादनसम्यग्दृष्टयस्तिर्यक्त्वेनोत्पद्यन्ते,तेन सास्वादनसम्यग्दृष्टिभिस्तिर्यग्लोके समुत्पित्सुभिः षष्ठपृथिवीनारकैर्मारणसमुद्घातेनाऽधोलोकस्य पञ्चरज्जवः स्पृष्टाः । ईषत्प्राग्भारपृथिवीकायिकेषु पुनरुत्पित्सुभिर्मरणसमुद्घातेन सास्वादनसम्यग्दृष्टिभिस्तिर्यगादिभिरूर्ध्वलोकः सम्बन्धिन्यः सप्त रज्जवः स्पृष्टाः । तदेवं नानाजीवानधिकृत्यातीतकालापेक्षया समुद्घातेनैकरज्जुमात्रव्यासं द्वादशरज्जुमात्रोच्छ्राय क्षेत्रं सास्वादनसम्यग्दृष्टिभिः स्पृष्टम् । समुद्घातगताश्च सास्वादनसम्यग्दृष्टयः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्त्येव, तेन सास्वादनमार्गणाया सप्तकर्मणां बन्धकैर्द्वादश रज्जव उच्छ्रायतो व्यासतश्चैका रज्जुः परिस्पृष्टा इति सूपपद्यते । न च सप्तमपृथिवीनारकाणां तिर्यग्लोक उत्पत्तिमाश्रित्य सास्वादनैर्जीवैः सप्त रज्जवोऽधोलोकसम्बन्धिन्योऽपि परिस्पृष्टा भवेयुः, ततश्च सास्वादनानां स्पर्शना त्रयोदशरज्जुप्रमाणा स्यादिति वाच्यम् , यतस्ते स्वभवान्तमुहूर्ते शेषे समुद्जिघासव सास्वादनभावरहिता भवन्ति, तदानीं तेषां नियमतो मिथ्यादृष्टित्वात् । सप्तमपृथिवीनारका नियमतः सास्वादनगुणस्थानके स्थिता मारणसमुद्घातं नारभन्त इत्यर्थः । अत्र मुग्धश्चोदको भणति-ननु सास्वादनाः केषाञ्चिन्मतेनैकेन्द्रियेष्वप्युत्पद्यन्ते,एकेन्द्रियाश्च सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति,ततः समुद्घातेन सर्वलोकस्पर्शः प्रसज्यते,येषां जीवानां पारभविकोत्पत्तियोग्यस्थानं सर्वलोको भवेत् ,तेषां स्पर्शना समुद्घातापेक्षया सर्वलोको भवति, मनुष्यवदिति व्याप्तेरुक्तत्वादिति । भण्यते–वस्तुतत्त्वापरिज्ञानमूलकैषाऽऽरेका, यतः सास्वादना यद्यप्येकेन्द्रियेषूत्पद्यन्ते, तथापि न ते सर्वलोकव्यापिसूक्ष्मैकेन्द्रियेषु नवा बहुसङ्ख्येयभागवर्तिषु बादरवायुकायिकेषूत्पद्यन्ते । किन्तु पर्याप्तबादरपृथिवीकायाऽप्काय-प्रत्येकवनस्पतिकायिकेषूत्पद्यन्ते, ते च लोकव्यापिनो न भवन्ति । न च तथापि यथा सास्वादना ऊर्ध्वलोकान्ते पृथिवीकायिकेषु समुत्पद्यन्ते, तांश्चाश्रित्य स्पर्शना ऊर्ध्वलोके सप्तरज्जुप्रमाणाऽभिहिता,तथैव तिर्यग्लोकवासिनां सास्वादनानां सप्तमनरकपृथिवीकायिकेषूत्पस्यमानानां समुद्घाताभ्युपगमेन सास्वादनानामधोलोके षड्रज्जुस्पर्शना सम्भवतीति वाच्यम्–अधोलोकपृथिवीकायेषु सास्वादनानामुत्पत्त्यभावेन समुद्घातानारम्भात् , यदुक्तं **जीवसमासवृत्तौ**–"प्रस्तुतसूत्राभिप्रायाच्चाधोलोकपृथिवीकायिकादिषु अत स्थानात् सास्वादनो न गच्छत्येव, अन्यथा तिर्यग्लोकात्तस्योर्ध्वमधश्चोत्पद्यमानस्य त्रयोदशरज्जुस्पर्शोऽपि लभ्यते ।" इत्यलम् ॥२२२॥

सम्प्रति यासु मार्गणासु बन्धकैरष्टौ नव च रज्जवः स्पृष्टाः, ता मार्गणाः संगृह्य प्राह–

णव भागात्थि फरिसिआ सुरईसाणंतदेवतेऊसु ।

सेससुरतिणाणावहिपम्हुवसममीसवेअगेसु अड ॥२२३॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'णव' इत्यादि, सुरे=देवगतिसामान्यमार्गणायाम् ईशानान्तदेवेषु=ईशाना अन्ते येषाम्, ते ईशान्ताः, ते च ते देवाश्च,ईशानान्तदेवाः,तेषु, भवनपति-व्यन्तर ज्योतिष्क-सौधर्म-शान-लक्षणेषु पञ्चमार्गणास्थानेष्वित्यर्थः, तैजस्यां=तेजोलेश्यामार्गणायां च सर्वसंख्यया सप्तमार्गणासु 'नव भागाः'नव त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागा व्यासत एका रज्जुरुच्छ्रायतश्च नव रज्जवः स्पृष्टाः सन्तीत्यर्थ,ः कथम्? इति चेत्,उच्यते-देवानां रत्नादिविशेषस्थानेष्वेवोत्पादात् तथास्वाभाव्यादधोलोके तेषां पृथिवीकायिकतयोत्पत्त्यभावेऽपि भवनपतिप्रभृतीशानान्ताः सुरास्तृतीयनरकपृथिवी यावद् पूर्वभवस्नेहादिवशाद् गच्छन्ति,यदुक्तं **पञ्चसंग्रहे**–"सहसारतियदेवा नारयनेहेण जंति तइयभुवं ।"इति । तस्माद् गमनागमनेना-ऽधोलोकस्य रज्जुद्वयं तैः स्पृष्टम्, ऊर्ध्वं तु ते ईषत्प्राग्भारपृथिवीकायिकेष्वप्युत्पद्यन्ते, ततश्च मारणान्तिकसमुद्घातेनोर्ध्वलोकस्य सप्तरज्जवस्तैः स्पृष्टाः । यद्वा तृतीयनरकपृथिवीं गतैर्गच्छद्भिश्चभवनपत्यादिभिरीषत्प्राग्भारपृथिवीकायिकेषूत्पित्सुभिः समुद्घातेन नव रज्जवः स्पृष्टाः । गमनागमनं विदधतां समुद्घातगतानां च तेषां सप्तानामपि कर्मणां बन्धाद् भवनपतिप्रभृतीशानावसानलक्षण मार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकैरेकरज्जुप्रमाणव्यासं नवरज्जुमात्रोच्छ्राय क्षेत्रमतीतकाले स्पृष्टमिति सूपपद्यते । एवं देवगतिसामान्यमार्गणा-तेजोलेश्यामार्गणयोरपि स्पर्शना भावनीया, तत्र सप्तकर्मबन्धकाना भवनपत्यादीनामेवोत्कृष्टस्पर्शनालाभात् ।

सम्प्रत्यष्टरज्जुस्पर्शनामाह–'**सेस०**' इत्यादि, शेषसुरेषु=आनतादिसुरमार्गणानां प्रागभिहितत्वादीशानान्तानां चानुपदं कथितत्वात् सनत्कुमारप्रभृतिसहस्रारान्तरूपेषु षट्सु मार्गणास्थानेषु त्रिज्ञानेषु=मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेष्ववधिदर्शनमार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां वेदके=क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां मिश्रमार्गणायां च प्रत्येकं सप्तकर्मणां बन्धकैः 'अष्टौ' अष्टसंख्याकास्त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः; व्यासत एका रज्जुरुच्छ्रायतश्चाऽष्टौ रज्जवः स्पृष्टा इत्यर्थः । कुतः? इति चेत्, उच्यते–सनत्कुमारप्रभृतिसहस्रारान्तसुरा अच्युतं यावत्पूर्वसाङ्गतिकदेवैः स्नेहादिवशाद् नीयन्ते । तथा पूर्वसाङ्गतिकस्य नारकस्य वेदनोपशमनार्थं पूर्ववैरिकस्य वा वेदनोदीरणार्थं तृतीयनरकपृथिवीं यावद् गच्छन्ति, तदेवं गमनागमनापेक्षयाऽधोलोके द्वे रज्जू, ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिन्यश्च षड्रज्जवः स्पृष्टाः । तेन सहस्रारान्तानां देवाना स्पर्शनाऽष्टरज्जुमात्री, नाधिका । यद्वाऽच्युतकल्प नीतैः सनत्कुमारप्रभृतिसहस्रारान्तानामन्यतमैः स्वायुष्यन्तर्मुहूर्तावशेषे मारणसमुद्घातेन तिर्यग्लोकं यावत् षड्रज्जवः स्पृष्टाः 'छलच्चुए' इति वचनप्रामाण्यात्, तृतीयनरकपृथिवीं प्राप्तैरुक्तदेवैस्तिर्यग्लोकं यावत् समुद्घातेन रज्जुद्वयं स्पृष्टम्, तिर्यग्लोक–तृतीयनरकपृथिव्योरन्तरालस्य तावन्मात्रत्वात् । इह समुद्घातगतैर्गमनागमने च वर्तमानैः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तैः सप्तकर्मणां बन्धात् सनत्कुमारादिसहस्रारान्तसुरमार्गणासु सप्तकर्मणां

बन्धकानामष्टरज्जुस्पर्शः सूपपन्नः । ननु सहस्रारान्तानां सुराणां भवद्भिरूर्ध्वलोके षड्रज्जुस्पर्शनाऽभिहिता । तत्रेशानान्तदेववद् ईषत्प्राग्भारपृथिवीकायिकतयोत्पत्त्या सहस्रारान्तानामूर्ध्वलोकसम्बन्धिनी सप्तरज्जुस्पर्शना कुतो न भवति ? इति चेत् , न,सहस्रारान्तानामेकेन्द्रियतया समुत्पत्तेरभावात् , यदुक्तं **बृहत्संग्रहण्याम्**–'तत्थ वि सणकुमार पभइ एगिंदियेसु नो जन्ति ।" इति । एवं शेषास्वष्टासु मार्गणास्वपि भावनीया मारणसमुद्घातेन गमनागमेन वा यथासम्भवं स्पर्शना ॥२२३॥

सम्प्रत्यपगतवेद-संयमसामान्यमार्गणयोः सप्तकर्मणां बन्धकानां स्पर्शनां प्राह—

गयवेअसंजमेसुं पुट्ठं तइयस्स अत्थि सव्वजगं ।
सेसाण छण्ह छिहिओ असंखभागो जगस्स भवे ॥२२४॥

(प्रे०) ' वेअ०' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सयमसामान्यमार्गणायां च 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टमस्ति, केवलिसमुद्घातचतुर्थसमये प्रोक्तमार्गणावर्तिसयोगिकेवलिना सर्वलोकव्यापित्वात् , तैश्च वेदनीयकर्मणो बन्धात् । उक्तमार्गणाद्वये 'शेषाणा षण्णां' वेदनीयस्योक्तत्वादायुष्कस्य च वक्ष्यमाणत्वाद् ज्ञानावरणादिकर्मणां बन्धकैः 'जगतो' लोकस्याऽसंख्यभागः स्पृष्टो भवेत् , कुतः ? इति चेत् , उच्यते–संयमसामान्यमार्गणायां मारणसमुद्घातेन षट्कर्मणां बन्धकैरूर्ध्वमनुत्तरसुरलोकं यावत् क्षेत्रं स्पृष्टम् , किन्तु विष्कम्भतो रज्ज्वसंख्येयभाग एव स्पृष्टः, तेषां मनुष्यलोकवर्तित्वाद् मनुष्यलोकविष्कम्भस्य च पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनमात्रत्वात् । तेनोक्तमार्गणाद्वयवर्तिभिः सामायिकसंयतवद् लोकासंख्येयभाग एव स्पृष्टः । यद्यपि प्रोक्तमार्गणयोः सयोगिकेवलिनोऽपि भवन्ति, तथापि तेषां षट्कर्मबन्धाभावाद् न तानाश्रित्य बन्धकानां सर्वलोकस्पर्शो लभ्यते । इत्थं प्रोक्त णाद्वये षट्कर्मणां बन्धकानां लोकासंख्येयभागस्पर्शो घटते, नाधि : ॥२२४॥

सम्प्रत्यकषायादिमार्गणासु बन्धकानां स्पर्शनां प्राह—

तइ स्स सव्वलोगो छुहिओ अकसायकेवलदुगेसुं ।
अहखाये सुक्काअ छभागा सुक्काअ सेसाणं ॥२२५॥

(प्रे०) '**तइयअस्स**' इत्यादि, अकषायमार्गणायां केवलद्विके=केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणमार्गणद्वये यथाख्यातसंयममार्गणायां शुक्ललेश्यामार्गणायां च 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, समुद्घातचतुर्थसमये प्रोक्तमार्गणाप वर्तिसयोगिकेवलिनां सर्वलोकव्यापित्वात् तैश्च वेदनीयस्य बन्धात् ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां तु ज्ञानावरणादीनामपि बन्धो भवति । तेन ज्ञानावरणादीनां बन्धकानां स्पर्शनां दर्शयति–'**छ भागा**' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां 'शेषाणां' वेदनीयस्योक्तत्वादायुषश्च वक्ष्यमाणत्वाद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धकैः षड् भागाः=त्रस-

नाड्याश्चतुर्दशभागा व्यासत एका रज्जुरुच्छायतश्च षड्रज्जवः "छुद्दिओ" इत्यस्य "अर्थवशाद्वचनविपरिणाम" इत्यनेन न्यायेन वचनविपरिणामात् स्पृष्टाः, षड्रज्जुस्पर्शिनामारणाऽच्युतसुराणामपि प्रोक्तकर्मणां बन्धाद्, आरणाच्युतसुरैश्च यथोक्तक्षेत्रस्य स्पृष्टत्वादित्यर्थः ॥२२५॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु बन्धकानां स्पर्शनामाह–

सम्मखइएसु छण्हं भागा अट्ठ तइअस्स सव्वजगं ।
सेसासु बंधगेहिं सत्तण्हं पुट्ठमखिलजगं ॥२२६॥

(प्रे०) ' ०' इत्यादि, सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां च 'षण्णां' वेदनीयायुषोर्वक्ष्यमाणत्वात् ताभ्यां विना षण्णां कर्मणां बन्धकैः षड् भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागा व्यासतो रज्जुरुच्छ्रायतश्च षड्रज्जवः 'छुद्दिओ' इत्यस्यात्रा-ऽप्यपेक्षणीयत्वात्, वचनविपरिणामाच्च स्पृष्टाः, सनत्कुमारादिसहस्रारान्तानां सुराणामपि प्रोक्तमार्गणाद्वये षट्कर्मबन्धकत्वात् सनत्कुमारादीनां च यथोक्तस्पर्शनोपलब्धेरित्यर्थः। उक्तमार्गणाद्वये 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम् , तत्र सयोगिकेवलिनां बन्धकत्वेन लाभात् तैश्च सर्वलोकस्य स्पृष्टत्वात् ।

'सेसासु' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु सप्ताधिकशतमार्गणासु सप्तानां कर्मणामखिलजगत् स्पृष्टम् । कुतः ? इति चेत् , उच्यते–कासुचिन्मार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां प्रवेशः, तेन तासु मार्गणासु स्वस्थानतः समुद्घाततश्च सर्वलोकः सप्तकर्मणां बन्धकैः स्पृष्टः, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां सर्वलोकव्यापित्वात् , अन्यासु मनुष्यादिमार्गणासु सप्तकर्मबन्धकजीवानां पारभविकोत्पत्तियोग्यस्थानं सर्वलोकव्यापिजीवस्थानं भवति, मनुष्यादीनां सूक्ष्मैकेन्द्रियत्वेनोत्पत्तेः, तेन मनुष्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः"येषां जीवानां पारभविकोत्पत्तियोग्यस्थानं सर्वलोकव्यापिजीवस्थानं भवेत्, तैर्मारणसमुद्घातापेक्षया सर्वलोकः स्पृष्टो भवति।" इति व्याप्तेरुक्तत्वात् ।

शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः–तिर्यग्गतिभेदाः पञ्च (५), मनुष्यगतिभेदाश्चत्वारः (४), इन्द्रियमार्गणायाः सर्वभेदप्रभेदा एकोनविंशतिः (१९), कायभेदा द्वाचत्वारिंशत् (४२), आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-वैक्रियकाययोग-तन्मिश्रकाययोगान् ऋते योगभेदाश्चतुर्दश (१४), वेदत्रयं कषायचतुष्कम् अज्ञानत्रिकम् अविरतमार्गणा चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणमार्गणाद्वयं शुभलेश्यात्रयं भव्याभव्यौ मिथ्यात्व संज्ञी असंज्ञी आहारकमार्गणा-ऽनाहारकमार्गणा चेति । तदेवं समर्थिता सप्तकर्मणां बन्धकानां स्पर्शना ॥२२६॥

सम्प्रति सप्तकर्मणामबन्धकाना स्पर्शनामादेशतः प्रचिकटयिषुराह–

छण्हं अबंधगेहि तिणरपणिंदितसजुगलकायेसुं ।
कम्मअवेए तहा संजमसुक्कभविसम्मेसुं ॥२२७॥

खइआणाहारेसुं सव्वजगं जोगसुक्कवज्जेसुं ।
लोगासंखियभागो छुहिओ तइअस्स विण्णेयो ॥२२८॥

(प्रे०) 'दुगइगं' इत्यादि, "पुट्ठ" इति पूर्वतो ऽनुवर्तते । ततश्चायमर्थः-- त्रिनरेषु=अपर्याप्तम-नुष्यमार्गणायां षट्कर्माबन्धकानामसत्त्वाद् मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण पद प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इति न्यायेन युगलशब्दस्य द्वाभ्यां सह सम्बन्धात् पञ्चेन्द्रिययुगले=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणे मार्गणाद्वये, एवं त्रसयुगले त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायरूपे मार्गणाद्विके काययोगसामान्यमार्गणायां कार्मणकाययोगे-ऽवेद-मार्गणायां च, तथा संयमसामान्य-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्यमार्गणास्थानेषु क्षायिकसम्य-क्त्वा-ऽनाहारकमार्गणयोश्च सर्वसंख्यया षोडशमार्गणास्थानेषु 'षण्णां' वेदनीया-ऽयुषोर्वक्ष्यमाण-त्वाद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामबन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टम् , प्रोक्तमार्ग-णासु सयोगिकेवलिनामप्यबन्धकत्वात् सयोगिकेवलिभिश्च केवलिसमुद्घातचतुर्थसमये सर्वलो-कस्य स्पृष्टत्वात् ।

'जोगसुक्कवज्जेसु' इत्यादि, योगमार्गणाशुक्ललेश्यामार्गणावर्जेषु=अनन्तरोक्तकाययोगसा-मान्य-कार्मणकाययोग-शुक्ललेश्यारहितेषु मनुष्यगतिसामान्यादिषु त्रयोदशमार्गणास्थानेषु 'तृतीयस्य'-वेदनीयकर्मणो-ऽबन्धकैर्लोकासख्यभागः स्पृष्टो विज्ञेयः, अपगतवेद-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽनाहारकमार्गणासु सिद्धानामयोगिकेवलिनां च शेषासु पुनर्मार्गणास्वयोगिकेवलिनामेव तदबन्धक-त्वात् तैश्च लोकासंख्येयभागस्य स्पृष्टत्वात् ॥२२७,२२८॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु सप्तकर्मणामबन्धकानां स्पर्शनामाह--

सेसासु जत्थ जेसिं पयडीण अबंधगाऽत्थि तहि तेसिं ।
पुट्ठो अबंधगेहिं जगस्स भागो असंखयमो ॥२२९॥

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, शेषासु 'यत्र' यासु मनोयोगादिमार्गणासु यासां प्रकृतीनामा-युर्वर्जाना ज्ञानावरणादीनामबन्धकाः सन्ति, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामबन्धकैर्जगतो-ऽसंख्येयतमो भागः स्पृष्टः, प्रोक्तमार्गणासु केवलिसमुद्घाततृतीय-चतुर्थ-पञ्चमसमयवर्तिसयोगि-केवलिभिन्नाना मयतानामबन्धकतया प्रवेशात् , तैश्च लोकासंख्येयतमभागस्य स्पृष्टत्वात् । इदमुक्तं भवति--पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ-दारिककाययोगौ- दारिकमिश्रकाययोग-मतिज्ञान- श्रुतज्ञाना-ऽ-वधि-मनःपर्यवज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञया-हारकमार्गणासु षट्-कर्मणामबन्धकैर्लोका-ऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, असत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यवचनयोग-सत्यामत्यवचनयोग-ज्ञानचतुष्क-दर्शनत्रिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-सञ्ज्ञिमार्गणासु सयोगिकेवलिनाम-प्रवेशात् शेषासु च सयोगिकेवलिनां प्रवेशे-ऽपि केवलिसमुद्घाततृतीय-चतुर्थ-पञ्चमसमयवर्तिसयोगि-

केवलिनामप्रवेशाल्लोकबहुसंख्येयभागस्पर्शस्य सर्वलोकस्पर्शस्य चा-ऽसंभवात् । तथा लोभमार्गणायां मोहनीयस्या-ऽबन्धकैर्लोका-ऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, सूक्ष्मसम्परायाणामेवा-ऽबन्धकत्वेन लाभात्, तैश्च लोका-ऽसंख्येयभागस्य स्पृष्टत्वात् । अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातसयममार्गणासु वेदनीयस्या ऽबन्धकैर्लोका-ऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, अबन्धकतया-ऽकषायमार्गणा-केवलज्ञानमार्गणा–केवलदर्शनमार्गणास्वयोगिकेवलि-सिद्धानां प्रवेशाद् यथाख्यातसयममार्गणायां चा-ऽयोगिकेवलिनामेव प्रवेशात्, उभयैश्च तैर्लोकाऽसंख्येयभागस्य स्पृष्टत्वात् ।

तदेवमादेशतः सप्तकर्मणां बन्धकाबन्धकानां स्पर्शना विवर्णिता ॥२२९॥

सम्प्रत्यायुष्कस्य बन्धका-ऽबन्धकानां स्पर्शनामभिधित्सुरादौ तावद् बन्धकानां स्पर्शनामाह–

आउस्स बंधगा जे जहि सव्वजगे उअत्थि ऊणजगे ।
तहि तेहि परिपुट्ठं विण्णेयं तावइअखेत्तं ॥२३०॥

(प्रे०) 'आउ ' इत्यादि, 'यत्र' यासु सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरवायुकायादिमार्गणास्वायुषो बन्धका ये 'सर्वजगति' सर्वलोके भवन्ति, उत 'ऊनजगति' असंख्येयभागन्यूनलोके सन्ति, 'तत्र' तासु मार्गणासु बन्धकैः 'तावत्क्षेत्र सर्वलोकव्यापिभिः सर्वलोकरूपं देशोनलोकव्यापिभिश्च देशोनजगद्रूपं क्षेत्रं स्पृष्टं विज्ञेयम्, एकेन्द्रियादीनामायुर्बन्धस्य स्वस्थान एव सम्भवात् प्रोक्तमार्गणासु च स्वस्थानक्षेत्रस्यातीतकालापेक्षया यथोक्तमानत्वात् । इदमुक्तं भवति-दशाधिकद्विशततमगाथैकादशोत्तरद्विशततमगाथाप्रतिपादितासु तिर्यग्गतिसामान्यादिमार्गणास्वायुष्कबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकोऽभिहितम् । ताश्च मार्गणा नामतः पुनरिमाः-तिर्यग्गतिसामान्यै केन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया - ऽप्कायसामान्य-सूक्ष्माऽप्काय - पर्याप्तसूक्ष्माप्काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-तेजःकायसामान्य-सूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-वायुकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय- वनस्पतिकायसामान्य-साधारणशरीरवनस्पतिकाय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय - पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया -ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय -काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग - तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्वया-ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना - शुभलेश्यात्रय-भव्या-ऽभव्य - मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या - हारकरूपाः षट्चत्वारिंशन्मार्गणाः (४६) ।

तथा द्वादशाधिकद्विशततमगाथया प्रतिपादितासु बादरैकेन्द्रिय पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायरूपासु षट्सु मार्गणास्वायुषो बन्धकैर्देशोनो लोकः स्पृष्टः ॥२३०॥

सम्प्रति यासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकैः स्पृष्टं क्षेत्रमष्टरज्जुमात्रं भवति, ता मार्गणाः संगृह्णार्याद्वयं प्राह—

भागा अट्ठ फरिसिआ देवसहस्सारअंतदेवेसुं ।
दुपणिंदितसेसु तहा पणमणवयणेसु वेउव्वे ॥२३१॥
थीपुरिसतिणाणेसुं विभंगणयणोहितेउपम्हासुं ।
सम्मत्तखाइएसुं वेअगसासाणसण्णीसुं ॥२३२॥

(प्रे०) 'भागा' इत्यादि, देवगतिसामान्यमार्गणायां सहस्रारान्तदेवेषु=भवनपति व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मप्रभृतिसहस्रारपर्यवसानेष्वेकादशमार्गणास्थानेषु च, द्विशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणमार्गणयोः,द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाययोश्च, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चमनोयोगमार्गणासु पञ्चसु च वचनयोगेषु वैक्रियकाययोगमार्गणायां स्त्रीवेद-पुरुषवेदयोः, त्रिज्ञानेषु=मतिज्ञान श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु विभङ्गज्ञानमार्गणायां नयने=चक्षुर्दर्शनमार्गणायाम् अवधौ=ज्ञानस्याऽभिहितत्वाद् अवधिदर्शनमार्गणायां तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां सम्यक्त्व सामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-योः,तथा वेदके=क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने सास्वादनमार्गणायां सञ्ज्ञिमार्गणायां च सर्वसं-ख्यया द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासु 'अट्ठ' अष्टसंख्याका भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दश भागा व्यासत एका रज्जु-रुच्छ्रायतश्चाऽष्टौ रज्जवः स्पृष्टा इत्यर्थः, कुतः ? इति चेत् , उच्यते—अच्युतसुराणां साहाय्येनोर्ध्वलोके सहस्रारान्तदेवैः षड्रज्जुमात्रं क्षेत्रं गमनागमनेन स्पृष्टम् । स्वशक्त्या च तृतीयनरकपृथिवीं यावद् गमना-गमनं विदधद्भिरधोलोके रज्जुद्वयं स्पृष्टम् । गमनागमनं च कुर्वतामायुष्कबन्धो न निषिद्धः, तेना ऽतीतकालमाश्रित्य गमनागमनापेक्षया-ऽनन्तैः सहस्रारान्तदेवैरायुर्बन्धं विदधद्भिर्व्या-सत एका रज्जुरुच्छ्रायतश्चाष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः । एवं शेषास्वपि मार्गणासु भवनपत्यादिदेवाना-श्रित्या-ऽष्टरज्जुस्पर्शो भावनीयः । ननु पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु सप्तमपृथिव्यादिनारका अपि भव-न्ति, ततश्च तान् आश्रित्य पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वधोलोकसम्बन्धिन्योऽन्या अपि रज्जवः स्पर्शनी-याः कुतो न भवन्ति ? इति चेत् , उच्यते—इहायुष्कबन्धकानां स्पर्शना प्रस्तुता, न हि मारण-समुद्घातगतैरायुर्बध्यते,बद्धायुष्काणामेव समुद्घातस्य निर्वर्तनात् , किन्तु गमनागमनक्षेत्रे स्वस्थानक्षेत्रे वाऽऽयुर्बन्धो भवति, नारकाणां गमनागमनक्षेत्रं स्वस्थानक्षेत्रं च प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्र-मेव, नाधिकम् , तेनाऽधस्तनसप्तमादिपृथिवीनारकापेक्षयाऽऽयुष्कस्य बन्धकानां लोकासंख्येय-भागमात्रस्पर्शो भवति । न चा-ऽस्य तत्र प्रक्षेपेणोक्तस्पर्शना साधिका भविष्यतीति वाच्यम् , एक-रज्जुप्रमाणव्यासाऽष्टरज्जुप्रमाणोच्छ्रायस्पर्शस्य देशोनत्वेन प्रक्षेपेऽपि देशोनत्वमेव ।

ननु "उववाओ देवाण कप्पदुग जाव परउ सहस्सारा" इति **श्रीचान्द्रबृहत्संग्रहणीवचनेन**

केवलिनामप्रवेशाल्लोकबहुसंख्येयभागस्पर्शस्य सर्वलोकस्पर्शस्य चा-ऽसम्भवात् । तथा लोभमार्गणायां मोहनीयस्या-ऽबन्धकैर्लोका-ऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, सूक्ष्मसम्परायाणामेवा-ऽबन्धकत्वेन लाभात्, तैश्च लोका-ऽसंख्येयभागस्य स्पृष्टत्वात् । अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातसंयम-मार्गणासु वेदनीयस्या ऽबन्धकैर्लोका-ऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, अबन्धकतया ऽकषायमार्गणा-केवलज्ञान-मार्गणा–केवलदर्शनमार्गणास्वयोगिकेवलि-सिद्धानां प्रवेशाद् यथाख्यातसयममार्गणायां चा-ऽयोगि-केवलिनामेव प्रवेशात्, उभयैश्च तैर्लोकाऽसख्येयभागस्य स्पृष्टत्वात् ।

तदेवमादेशतः सप्तकर्मणा बन्धकाबन्धकाना स्पर्शना विवणिता ॥२२९॥

सम्प्रत्यायुष्कस्य बन्धका-ऽबन्धकाना स्पर्शनामभिधित्सुरादौ तावद् बन्धकानां स्पर्शनामाह—

आउस्स बंधगा जे जहि सव्वजगे उअस्थि ऊणजगे ।
तहि तेहि परिपुट्ठं विण्णेयं तावइअखेत्तं ॥२३०॥

(प्रे०) 'आउ ' इत्यादि, 'यत्र' यासु सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरवायुकायादिमार्गणास्वा-युषो बन्धका ये 'सर्वजगति' सर्वलोके भवन्ति, उत 'ऊनजगति' असख्येयभागन्यूनलोके सन्ति, 'तत्र' तासु मार्गणासु बन्धकैः 'तावत्क्षेत्र सर्वलोकव्यापिभिः सर्वलोकरूपं देशोनलोकव्यापिभिश्च देशोनजगद्रूप क्षेत्र स्पृष्टं विज्ञेयम्, एकेन्द्रियादीनामायुर्बन्धस्य स्वस्थान एव सम्भवात् प्रोक्तमार्ग-णासु च स्वस्थानक्षेत्रस्यातीतकालापेक्षया यथोक्तमानत्वात् । इदमुक्तं भवति-दशाधिकद्विशततमगाथै-कादशोत्तरद्विशततमगाथाप्रतिपादितासु तिर्यग्गतिसामान्यादिमार्गणास्वायुष्कबन्धकाना क्षेत्रं सर्व-लोकोऽभिहितम् । ताश्च मार्गणा नामतः पुनरिमाः-तिर्यग्गतिसामान्यै-केन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया - ऽप्कायसामान्य-सूक्ष्माऽप्काय - पर्याप्तसूक्ष्माप्काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-तेजःकायसामान्य-सूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-वायुकायसामान्य-सूक्ष्म-वायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय- वनस्पतिकायसामान्य-साधारणशरीरवनस्पति-काय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय - पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया -ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधा-रणशरीरवनस्पतिकाय -काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग - तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतु-ष्का-ऽज्ञानद्वया-ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना - शुभलेश्यात्रय-भव्या-ऽभव्य - मिथ्यात्वा-ऽसञ्ज्ञ्या - हारकरूपाः षट्चत्वारिंशन्मार्गणाः (४६) ।

तथा द्वादशाधिकद्विशततमगाथया प्रतिपादितासु बादरैकेन्द्रिय पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरै-केन्द्रिय बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायरूपासु षट्सु मार्गणास्वायुषो बन्धकै-र्देशोनो लोकः स्पृष्टः ॥२३०॥

सम्प्रति यासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकैः स्पृष्टं क्षेत्रमष्टरज्जुमात्रं भवति, ता मार्गणाः संगृह्यार्याद्वयं प्राह—

भागा अट्ठ फरिसिआ देवसहस्सारअंतदेवेसु ।
दुपणिंदितसेसु तहा पणमणवयणेसु वेउव्वे ॥२३१॥
थीपुरिसतिणाणेसुं विभंगणयणोहितेउपम्हासु ।
सम्मत्तखाइएसुं वेअगसासाणसण्णीसुं ॥२३२॥

(प्रे०) 'भागा' इत्यादि, देवगतिसामान्यमार्गणायां सहस्रारान्तदेवेषु=भवनपति व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मप्रभृतिसहस्रारपर्यवसानेष्वेकादशमार्गणास्थानेषु च, द्विशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणमार्गणयोः,द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाययोश्च, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चमनोयोगमार्गणासु पञ्चसु च वचनयोगेषु वैक्रियकाययोगमार्गणाया स्त्रीवेद-पुरुषवेदयोः, त्रिज्ञानेषु=मतिज्ञान श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु विभङ्गज्ञानमार्गणायां नयने=चक्षुर्दर्शनमार्गणायाम् अवधौ=ज्ञानस्याऽभिहितत्वाद् अवधिदर्शनमार्गणायां तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां सम्यक्त्व सामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-योः,तथा वेदके=क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने सास्वादनमार्गणायां सञ्ज्ञिमार्गणाया च सर्वसं-ख्यया द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासु 'अष्टौ' अष्टसंख्याका भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दश भागा व्यासत एका रज्जु-रुच्छ्रायतश्चाऽष्टौ रज्जवः स्पृष्टा इत्यर्थः, कुतः ? इति चेत् , उच्यते—अच्युतसुराणा साहाय्येनोर्ध्वलोके सहस्रारान्तदेवैः षड्रज्जुमात्र क्षेत्रं गमनागमनेन स्पृष्टम्। स्वशक्त्या च तृतीयनरकपृथिवी यावद् गमना-गमनं विदधद्भिरधोलोके रज्जुद्वयं स्पृष्टम् । गमनागमनं च कुर्वतामायुष्कबन्धो न निषिद्धः, तेना ऽतीतकालमाश्रित्य गमनागमनापेक्षया-ऽनन्तैः सहस्रारान्तदेवैरायुर्बन्धं विदधद्भिर्व्या-सत एका रज्जुरुच्छ्रायतश्चाष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः । एवं शेषास्वपि मार्गणासु भवनपत्यादिदेवाना-श्रित्या-ऽष्टरज्जुस्पर्शो भावनीयः । ननु पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु सप्तमपृथिव्यादिनारका अपि भव-न्ति, ततश्च तान् आश्रित्य पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वधोलोकसम्बन्धिन्योऽन्या अपि रज्जवः स्पर्शनी-याः कुतो न भवन्ति ? इति चेत् , उच्यते—इहायुष्कबन्धकानां स्पर्शना प्रस्तुता, न हि मारण-समुद्घागतैरायुर्बध्यते,बद्धायुष्काणामेव समुद्घातस्य निर्वर्तनात् , किन्तु गमनागमनक्षेत्रे स्वस्थानक्षेत्रे वाऽऽयुर्बन्धो भवति, नारकाणां गमनागमनक्षेत्रं स्वस्थानक्षेत्रं च प्रत्येक लोकाऽसख्येयभागमात्र-मेव, नाधिकम् , तेनाऽधस्तनसप्तमादिपृथिवीनारकापेक्षयाऽऽयुष्कस्य बन्धकाना लोकासंख्येय-भागमात्रस्पर्शो भवति । न चा-ऽस्य तत्र प्रक्षेपेणोक्तस्पर्शना साधिका भविष्यतीति वाच्यम् , एक-रज्जुप्रमाणव्यासाऽष्टरज्जुप्रमाणोच्छ्रायस्पर्शस्य देशोनत्वेन प्रक्षेपेऽपि देशोनत्वमेव ।

ननु "उववाओ देवीण कप्पदुग जाव परउ सहस्सारा" इति श्रीचान्द्रबृहत्संग्रहणीवचनेन

देवीनां गमन सहस्रारावधि संभवति, न त्वच्युतं यावत् । ततश्च स्त्रीवेदमार्गणायां भवताऽऽयुष्कबन्धकानामष्टरज्जुस्पर्शना भवनपत्यादीनाश्रित्योक्ता, सा कथं घटां प्राञ्चेत् ? इति चेत्, उच्यते—सत्यमेतत्, किन्त्वन्यग्रन्थेषु देवीनां गमनमच्युतलोकं यावदपि श्रूयते, तथा चाहुस्तत्रभवन्तः श्रीकलिकालसर्वज्ञहेमचन्द्रसूरिपादा योगशास्त्रस्वोपज्ञवृत्तौ—"उत्पत्तिर्देवीनामा ईशानात्, गमन च आ अच्युतात् ।" इति । एव त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रेऽपि—"आ ऐशानात् समुत्पत्तिर्देवीना गतिरा च्युतात् ।" इति । तेन प्रस्तुतग्रन्थे स्त्रीवेदमार्गणायामायुष्कबन्धकाना यथोक्तस्पर्शना नाप्रामाणिकी ॥२३१,२३२॥

सम्प्रति शेषासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकानां स्पर्शनामभिधातुकाम आह—

भागा छ फोसिआ खलु हवन्ति चउआणयाइसुक्कासुं ।
सेसासु अत्थि छिविओ जगस्स भागो असंखयमो ॥२३३॥

(प्रे०) '**भागा**' इत्यादि, 'चतुरानतादिषु' चतसृष्वानतप्रभृत्यच्युतान्तमार्गणासु शुक्ललेश्यामार्गणायां चाऽऽयुषो बन्धकैः षड् भागाः=त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टा भवन्ति, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, आनतादिसुराणां तिर्यग्लोकादधो गमनाभावेन गमनागमनक्षेत्रस्य षड्रज्जुमात्रत्वात्, गमनागमनक्षेत्रेऽपि च तेषामायुर्बन्धसंभवात् । शुक्ललेश्यामार्गणायामप्यानतादिसुरापेक्षया यथोक्तस्पर्शना भावनीया, अन्येषां शुक्ललेश्याकानामनुत्तरसुरमनुष्यादीनां लोकासङ्ख्येयभागस्पर्शित्वात् ।

'**सेसासु**' 'शेषासु' सार्धगाथात्रयेण नवनवतिमार्गणानामभिहितत्वात् चतुष्षष्टिमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकैः 'जगतः' लोकस्य 'असंख्यतमः' असंख्येयतमो भागः स्पृष्टोऽस्ति, उक्तमार्गणासु सर्वलोकव्यापिसूक्ष्मैकेन्द्रियाणां देशोनलोकव्यापिपर्याप्तबादरवायुकायिकादीनाञ्चाऽप्रवेशेन गमनागमनेन षडष्टरज्जुस्पर्शिनाञ्च देवानामप्रवेशेन शेषाणां च जीवानां यथासम्भव मारणसमुद्घातेन सर्वलोकादिस्पर्शित्वेऽपि स्वस्थानतो लोकाऽसङ्ख्येयभागस्पर्शित्वाद् मारणसमुद्घातरहितानां चैवाऽऽयुर्बन्धात् । चतुष्षष्टिः शेषमार्गणा नामत इमाः—नरकगतिसामान्य-सप्तनरकपृथिवीभेदास्तिर्यग्गतिसामान्यवर्जाश्चत्वारस्तिर्यग्भेदाश्चत्वारो मनुष्यभेदा नव ग्रैवेयकभेदाः पञ्चाऽनुत्तरभेदा नव विकलेन्द्रियभेदा अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणा बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायभेदाः, एव त्रयो बादराप्कायभेदास्त्रयो बादरतेजःकायभेदास्त्रयो बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायभेदाः, प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणा अपर्याप्तत्रसकायमार्गणा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगौ मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थानीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणाभेदाश्चेति ॥२३३॥

सम्प्रत्यायुष्कस्या-ऽबन्धकाना स्पर्शनामेकया ऽऽर्यया निरूपयितुकाम आह—

सव्वासु बंधगेहि पुट्ठं तइअस्स जत्तियं खेत्तं ।
फुसिअं अबंधगेहिं तावइअं खेत्तमाउस्स ॥२३४॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, 'सर्वासु' आयुषः प्रस्तुतत्वात् त्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणासु 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धकैर्यावत् क्षेत्रं स्पृष्टम्, तावत् क्षेत्रमायुषो-ऽबन्धकैः स्पृष्टम्, मारणसमुद्घातावस्था केवलिसमुद्घातावस्थयोर्वेदनीयबन्धकैरायुषो-ऽबन्धात् ।

अथ वयमतिदिष्टां स्पर्शनां विस्तरेण दर्शयामः-अष्टादशोत्तरद्विशततमगाथोक्तनिरयगतिसामान्य-सप्तमपृथिवीनरकगत्या-नत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतसुरमार्गणास्वायुष्कस्या-ऽबन्धकैः षट् त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः ।

वैक्रियमिश्रवर्जासु विंशत्यधिकद्विशततमगाथैकविंशत्युत्तरद्विशततमगाथारूपगाथाद्वयोक्तासु प्रथमनरक-नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तरा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग - मनःपर्यवज्ञान - सामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणास्वायुष्कस्या-ऽबन्धकैर्लोका-ऽसंख्येयभागः स्पृष्टः ।

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमगाथोक्तायां द्वितीयपृथिवीनरकमार्गणायामेकस्त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागः, तृतीयपृथिवीनरकगतिमार्गणायां द्वौ त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागौ, चतुर्थपृथिवीनरकगतिमार्गणायां त्रसनाड्यास्त्रयश्चतुर्दशभागाः, पञ्चमपृथिवीनरकगतिमार्गणायां चत्वारश्चतुर्दशभागाः, षष्ठपृथिवीनरकगतिमार्गणायां पञ्च चतुर्दशभागाः, वैक्रियकाययोगमार्गणायां च त्रयोदश चतुर्दशभागा आयुष्काबन्धकैः परिस्पृष्टाः ।

देशविरतमार्गणायां पञ्च चतुर्दशभागाः, सास्वादने च द्वादश चतुर्दशभागा आयुष्कस्या-बन्धकैः परिस्पृष्टाः, सप्तकर्मान्तर्गतवेदनीयकर्मणो बन्धकानां यथोक्तस्पर्शनायाः प्रतिपादनात् ।

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमगाथोक्तासु देवगतिसामान्य-भवनपति-व्यन्तर ज्योतिष्क-सौधर्मै-शानसुर-तेजोलेश्यामार्गणास्वायुष्कस्या-ऽबन्धकैर्नव त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः परिस्पृष्टाः, तथौपशमिकसम्यक्त्ववर्जासु सनत्कुमारप्रभृतिसहस्रारान्तसुर-पद्मलेश्या-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञाना - ऽवधिदर्शन-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्वायुषोऽबन्धकैरष्टौ चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः ।

चतुर्विंशत्युत्तरद्विशततमगाथोक्ताया संयमसामान्यमार्गणायां पञ्चविंशत्युत्तरद्विशततमगाथोक्तायां शुक्ललेश्याया षड्विंशत्यधिकद्विशततमगाथोक्तयोश्च सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोरायुष्कस्याऽबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । एवं पञ्चतिर्यग्भेदै-कोनविंशतीन्द्रियभेद-द्वाचत्वारिंत्कायभेद पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौ - दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग वेदत्रिक कषायचतुष्का-ऽज्ञानत्रिका-ऽविरत-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रय-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व संज्ञ्य-सज्ञ्या-हारकरूपासु पञ्चाधिकशतमार्गणास्वायुष्काबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः ॥२३४॥

तदेवं समाप्तं स्पर्शनानिरूपणम्, तस्मिंश्च समाप्ते समाप्तं स्पर्शनाद्वारम् ।

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकार एकादशं स्पर्शनाद्वारम् ॥

आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां बन्धकानां स्पर्शनायाः प्रदर्शि यन्त्रम्

ओघत. सप्तकर्मणां बन्धकैरखिल जगत् स्पृष्टम्।

स्पर्शना	६ रज्जव	लोकासंख्यभाग	१ रज्जु	२ रज्जू	३ रज्जव	४ रज्जव	५ रज्जव	९ रज्जव	८ रज्जव,	१३ रज्जव	वेद्यस्य सर्वलोक वण्णा लोकासंख्य	१२ रज्जव.	सर्वलोक
गति	नरकसामान्यम् सप्तमनरक चतुरानतादय.	प्रथमनरक, नवग्रैवेयका, पञ्चानुत्तरा	द्वितीय-नरक	तृतीय-नरक	चतुर्थ-नरक	पञ्चम-नरक	षष्ठ-नरक	देव-भवनपति-व्यन्तरज्योतिष्क-सौधर्मैशाना	शेषसुरभेदा ६		..		शेषा ९
इन्द्रियम्	•					•							सर्वा १९
काय								•		....			सर्वा ४२
योग		वैक्रियमिश्र आहारकद्विकम्					•		..	वैक्रिय			शेषा १४
वेद							•			•	गतवेदः	---	शेषा ३
कषाय			•		•	•		---		•	अकषाय △		शेषा ४
ज्ञानम्		मन पर्यवज्ञानम्		•				•	मतिश्रुतावधि० ३	..	केवलज्ञानम् △		अज्ञानत्रिकम्
संयम		सामा०छेदो०परि० सूक्ष्मसम्प० ४				..	देश-विरत			---	संयमसा० यथा० △		असंयम
दर्शनम्	..	---	•			...		•	अवधिदर्शनम्	•	केवलदर्शनम् △	...	शेषे २
लेश्या	शुक्ला ★		...		....	...		तेजोलेश्या	पद्मलेश्या	..			शेषा ३
भव्य.										•	..	•	भव्याभव्यौ
सम्यक्त्वम्		•						...	मिथ्यात्वसास्वादनवर्जा ★ ५	...		सास्वादन	मिथ्यात्वम्
संज्ञी					...				..				संज्ञ्यसंज्ञी
आहारक													आहारानाहारौ
सर्वा.	६+१	२३	१	१	१	१	२	७	१४+२		२+४	१	१०७
गाथाङ्क	२१८,२२५	२२०,२२१	२२२	२२२	२२२	२२२	२२२	२२३	२२३ २२६	२२२	२२४,२२५	२२२	२२६

★ सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-शुक्ललेश्यामार्गणासु वेदनीयस्य सर्वलोक। △ केवलस्य वेदनीयस्य।

॥ अथ द्वादशं कालद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तेन नानाजीवाश्रयकालद्वारेण बन्धकाबन्धकाना जघन्योत्कृष्टकालं व्याजिहीर्षुरादौ तावदष्टकर्मणां बन्धकाबन्धकानामोघतः कालमाह—

बंधगियराण कालो सव्वद्धा-ऽद्धुण्ह आउवज्जाण ।
इस्सोऽत्थि बंधगाणं अपज्जमणुसम्मि खुड्डभवो ॥२३५॥

(प्रे०) 'बंधगियराण' इत्यादि, अष्टाना प्रकृतीनां 'बन्धकेतरेषा' बन्धकानामबन्धकाना च 'कालः' नानाजीवाश्रितकालः सर्वाद्धा भवति, निगोदजीवादीनामपि बन्धकतया लाभात् सिद्धानां चा-ऽबन्धकतयोपलम्भात् तेषां च सार्वकालिकत्वात् । इदमुक्त भवति-प्राक् चतुर्थद्वारेणैकजीवमाश्रित्य प्रकृतीना बन्धकालो निरूपितः, सम्प्रति तु नानाजीवान् प्रतीत्य प्रकृतीनां बन्धकालो निरूपणीयः । न च नानाजीवाश्रयबन्धकालनिरूपणे बन्धकानां कालनिरूपणमसङ्गतमिति वाच्यम् , नयविशेषापेक्षया बन्ध विदधतां जीवाना बन्धकत्वेन व्यपदेशात् पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिदभेदाद् बन्धकानां कालनिरूपणस्या-ऽसङ्गतत्वाभावात् । एवं प्राङ्निरूपितभङ्गविचयादिष्वग्रे च निरूपयिष्यमाणा-ऽन्तरादिद्वारेषु च बन्धकानाश्रित्य प्ररूपणा न किञ्चिदसगता । इह या मार्गणा नानाजीवानाश्रित्य सार्वकालिक्यः, तासु मनुष्यादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवानाश्रित्य कालः सर्वाद्धा भवति । यासु च मार्गणास्वसख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितो हीना जीवा न भवन्ति,तासु मार्गणास्वायुष्कस्या-ऽपि बन्धकाः सार्वकालिकाः । तथास्वाभाव्याच्च या मार्गणाः कादाचित्क्यः, तास्वपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु बन्धकानां जघन्यकाल एकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालवद् वाच्यः, यथाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तकर्मणामेकजीवाश्रयो जघन्यबन्धकालः क्षुल्लकभवमात्र आयुष्कस्य चा-ऽन्तर्मुहूर्तमात्रो-ऽभिहितः,तथैव नानाजीवाश्रयोऽपि जघन्यबन्धकालो वाच्यः । एवमेवाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतो हीनराशिकजीवसार्वकालिकमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकाना जघन्यकाल एकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालवद् बोध्यः, यथा पर्याप्तमनुष्यमार्गणायामायुष्कस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः प्रतिपादितः, तथैव नानाजीवाश्रयो-ऽपि ज्ञातव्यः, तादृशमार्गणास्वेकजीवाश्रयस्य जघन्यबन्धकालस्या-ऽपि नानाजीवाश्रयजघन्यबन्धकालतया प्राप्तेः । ननु तादृशाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वेकजीवाश्रय नानाजीवाश्रययोर्जघन्यबन्धकालस्य मिथस्तुल्यत्वेनैकजीवाश्रयबन्धकाल-नानाजीवाश्रयबन्धकालयोः कः प्रतिविशेषः ? न चैकजीवाश्रयकालनिरूपणे विवक्षितैकजीवमाश्रित्य बन्धकालो-ऽभिहित', इह तु युगपदनेकजीवानाश्रित्य निरूप्यत इत्यस्ति विशेष इति वाच्यम् एवंविधव्याख्यानस्य दोषदुष्टत्वात् , तथाहि—युगपदनेकजीवानामेवापेक्षया नानाजीवाश्रयकालनिरूपणमिति व्याख्याते पर्याप्तमनुष्यमार्गणायामायुष्कस्याऽनेकजीवाश्रयो बन्धकाल एकसमयमात्रः स्यात् ।

तद्यथा–पर्याप्तमनुष्यमार्गणायां नानाजीवानाश्रित्या-ऽऽयुष्कबन्धका-ऽन्तरमग्रे वक्ष्यते। ततो-ऽन्तरकालादूर्ध्वं कश्चिदेकः पर्याप्तमनुष्य आयुर्बन्धमारभते, ततः कालं गमयतस्तस्य जीवस्या-युष्कबन्धाद्धाचरमसमयेऽन्येनायुष्कबन्धः प्रारब्धः, एवं जातौ द्वा आयुष्कस्य बन्धकौ, तदनन्तर-समये तु प्रथममनुष्य आयुष्कबन्धतो निवर्तते, तस्याऽऽयुर्बन्धाद्धायाः समाप्तत्वात्। तदेवं प्रथम-पुरुषस्यायुर्बन्धाद्धाचरमसमयलक्षण एकः समयो-ऽनेकजीवानाश्रित्य पर्याप्तमनुष्यमार्गणायामायुष्क-स्य जघन्यो बन्धकालो लभ्येत, पूर्वापरकाले त्वेकस्यैव मनुष्यस्या-ऽऽयुष्कबन्धकत्वेनोपलम्भात्, तस्य चैकत्वेन तत्सम्बन्धिकालस्याऽग्रहणात्। न चा-ऽसा एकसमयो नानाजीवाश्रितः पर्याप्तमनुष्य-मार्गणायमायुष्कस्य जघन्यबन्धकालः सम्मतः, अन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्य वक्ष्यमाणत्वात्। एवमपर्याप्त-मनुष्यमार्गणायां सप्तकर्मणां जघन्यबन्धकाले-ऽपि दोषो यथागममुद्भावनीयः। तदेवं युगपदनेका-नेव जीवान् प्रतीत्य नानाजीवाश्रयकालनिरूपणमिति व्याख्यानं दोषावहमिति चेत्, अत्रोच्यते–अपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु नानाजीवाश्रयजघन्यबन्धकालस्यैकजीवाश्रयबन्धकालेन तुल्यत्वेऽपि नानाजीवाश्रय उत्कृष्टबन्धकाल एकजीवाश्रयोत्कृष्टकालतोऽधिको लभ्यते। तथा परिहारविशुद्धि-कसयम च्छेदोपस्थापनीयसंयमयोः सप्तकर्मणामेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालस्य समयमात्रत्वे-ऽपि नानाजीवाश्रयजघन्यकालो यथाक्रमं विंशतिवर्षपृथक्त्वं सार्धद्विशतवर्षाणि च भवतीत्यस्ति विशेषः, किञ्च प्रागेकजीवाश्रयबन्धकालोऽनेकेषु बन्धकेषु सत्स्वपि कञ्चिदेकजीवविशेषमाश्रित्य निरूपितः, इह तु बन्धकसन्ततिमाश्रित्य कालो निरूप्यते, बन्धकसन्ततेर्नानापदवाच्यत्वेना-ऽभिमतत्वात्। इत्थं च पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्रतिशङ्कोक्तरीत्याऽऽयुषः कदाचिदनेकबन्धकानामेकसमयवर्तित्वेऽप्यनेन द्वारेण ना-ऽऽयुष्कस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयः प्रसज्यते, बन्धकसन्ततेरविच्छेदात्। तथा मनुष्यग-त्यादिमार्गणासु सप्तकर्मबन्धकविशेषाणां पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिकपल्योपमत्रयादूर्ध्वमुच्छेदे-ऽपि सन्तत्या लभ्यमानानामन्यजीवानां सप्तकर्मबन्धकत्वधर्मोपलम्भात् प्रस्तुतद्वारेण प्रतिपाद्यमानो बन्धकालः सूपपद्यते। तथैव यदा सूक्ष्मसम्परायादिमार्गणासु यः कश्चिदेको जीवः समस्ति, तेन तत्रैकसमयं षट्-कर्मणां बन्धं विधाय विरम्यते, तदा-ऽपि तमाश्रित्य प्रकृतद्वारेणैकसमयो बन्धकालः सुघट एव, अनन्तरसमये प्रोक्तमार्गणासु षट्कर्मबन्धकत्वधर्माश्रयाभावादित्यलं विस्तरेण।

सम्प्रत्यादेशतो नानाजीवानाश्रित्य बन्धकानां कालं व्याजिहीर्षुराह–'**आउवज्जाण**' इत्यादि, 'आयुर्वर्जानाम्' आयुष्करहितानां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां कर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रितः 'ह्रस्वः' जघन्यः कालोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां क्षुल्लकभवः 'अस्ति' भवति। भावार्थः पुनरयम्–अपर्याप्तमनुष्य--वैक्रियमिश्रकाययोगा--ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग--च्छेदोपस्थापनीयसंयम--परिहारविशुद्धिकसंयम-सूक्ष्मसम्परायसंयमौ–पशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन–मिश्रलक्षणा दशमार्गणा-स्तथास्वाभाव्याद् नानाजीवानप्याश्रित्य सादयः सान्ताश्च भवन्ति, कदाचिद् भवन्ति, कदाचिन्ने-त्यर्थः। शेषमार्गणास्तु नानाजीवानाश्रित्य सार्वकालिक्यः। तेन तासु यथासम्भवं ज्ञानावरणादिकर्मणां

बन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा प्राप्यते, सा चाऽग्रे ग्रन्थकृतैव वक्ष्यते। इहाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणानां सादिसान्तत्वात् तत्र जघन्योत्कृष्टो नानाजीवाश्रयो बन्धकालः प्राप्यते। तत्राऽपि छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणा-परिहारविशुद्धसंयममार्गणे विहाय शेषासु नवसु मार्गणासु नानाजीवाश्रयजघन्यबन्धकाल एकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालवद् लभ्यते, नवरं भावनैकजीवमनेकान् वा जीवान् प्रतीत्य कार्या, मार्गणायाश्च प्रारम्भात् प्राक् समाप्तितश्च परमन्तरं वक्तव्यम्। उत्कृष्टबन्धकालस्तु मार्गणाया उत्कृष्टकालं यावद् यावान् लभ्यते, तावन्मात्रो भवति।

सम्प्रत्यपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामुक्तकालः परिभाव्यते—नानाजीवापेक्षया-ऽन्तरकालं व्यतिक्रम्यैको वाऽनेके वाऽपर्याप्तमनुष्या उत्पद्यन्ते, ते च नियमतो मनुष्यत्वेन जघन्यतः क्षुल्लकभवकालं तिष्ठन्ति, तेषां जघन्या ऽऽयुषो-ऽपि क्षुल्लकभवप्रमाणत्वात्। परतस्तु कदाचिद् नानाजीवाश्रयमन्तरमपि जायते, जन्मतश्च प्रभृत्यामरणमपर्याप्तमनुष्या ज्ञानावरणादिकर्माणि बध्नन्त्येव। तेनाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तकर्मबन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्यकालः क्षुल्लकभवप्रमाणो लभ्यते। एतद्गाथोक्तं "कालो आउवज्जाण हस्सोऽत्थि बंधगाण" इति पदचतुष्टयमग्रेऽप्यनुवर्तनीयम्॥२३५॥

सम्प्रति वैक्रियमिश्रकाययोगादिषु बन्धकानां जघन्यकालं वक्तुकाम आह—

णेयो भिन्नमुहुत्तं दुमीसजोगेसु उवसमे मीसे।
आहारसासणेसुं सुहुमे समयो मुणेयव्वो॥२३६॥

(प्रे०) 'णेयो' इत्यादि, 'द्विमिश्रयोगयोः' वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोरौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया मिश्रमार्गणायां च 'भिन्नमुहूर्तं' नानाजीवानाश्रित्य बन्धकानां कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, भावना त्वेकजीवाश्रयबन्धकालवत् कर्तव्या, नवरमेकजीवं नानाजीवान् वा प्रवेश्य भावनीयः, प्रारम्भात् प्राक् समाप्तितश्च परं नानाजीवापेक्षयोक्तमार्गणाया उच्छेदो वक्तव्यः।

आहारककाय-सास्वादनमार्गणयोः प्रत्येकमायुर्वर्जाना सप्तानां कर्मणा बन्धकानां 'सूक्ष्मे' पदैकदेशेन पदसमुदायोपचारात् सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां "संभवासंभवयोः संभवस्यैव ग्रहणम्" इति न्यायाश्रयणाद् मोहनीयस्य संभवाभावेन ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां ग्रहणाद् आयुष्कमोहनीयवर्जानां षण्णां कर्मणां बन्धकानां 'समयः' नानाजीवानाश्रित्यैकसमयो जघन्यकालो भवति। इयमत्र भावना—सूक्ष्मसम्परायविरहसमनन्तरमौपशमिकश्रेणित एको वाऽनेके वा जीवाः प्रच्युत्य सूक्ष्मसम्पराये समयमेकं स्थित्वा कालं कृत्वा देवलोके समुत्पद्यन्ते, तदानीं यदि नैको-ऽपि जीवः सूक्ष्मसम्परायं लभते, तर्हि नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः समयः प्राप्यते, यदुक्तं श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तौ—"सुहुमसंपरायसंजया णं भंते! कालओ केवच्चिरं हुंति? गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।" इति। सूक्ष्मसम्परायाश्च नियमतो मोहनीया-ऽऽयुष्के ऋते षट्

कर्माणि बध्नन्ति, तेन सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां नानाजीवानाश्रित्य षण्णां कर्मणां बन्धकानां जघन्यकालः समयः ।

सास्वादनविरहानन्तरमेको वाऽनेके वा जीवाः सास्वादनं प्रतिपद्यन्ते, द्वितीयसमये च सर्वे मिथ्यात्वं गच्छन्ति, तदा नानाजीवाश्रयः सास्वादनकाल एकसमयः प्राप्यते, न चाऽयमेकसमयो नानाजीवाश्रयजघन्यकालः स्वमनीषिकया विजृम्भितः,**जीवसमासवृत्ता**वपि निगदितत्वात् , तथा चाऽत्र **श्रीजीवसमासवृत्तिः**–"सास्वादनानां नानाजीवान् प्रतीत्य जघन्यतः समयः ।" इति । सास्वादनमार्गणागताश्च सर्वे सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तेन सास्वादनमार्गणायां बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः समयो भवति । एवमाहारककाययोगमार्गणायामपि नानाजीवानाश्रित्य सप्तकर्मबन्धकानां यथोक्तकालो भावनीयः ।

सम्प्रत्यपगतवेदादिस मार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां जघन्यकालं व्याहर्तुकामः प्राह—

समयो छण्ह अवेए सव्वद्धाऽत्थि तइअस्स सत्तण्हं ।
छेएऽद्धतिअसयसमा परिहारे वीसहायणपुहुत्तं ॥२३७॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**समयो**' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां 'षण्णाम्' आयुर्वर्जानां प्रस्तुतत्वाद् वेदनीयस्य च वक्ष्यमाणत्वाद् वेदनीया-ऽऽयुष्कवर्जानां षण्णां ज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनां 'समयः' नानाजीवानाश्रित्य बन्ध कानां काल एकसमयो भवति । इयमत्र भावना–कदाचिद् एको वाऽनेके वा जीवा उपशमश्रेणितो-ऽवतरन्तोऽनिवृत्तिबादरसम्परायं प्राप्य तत्र च प्रथमसमये मोहनीयं बद्ध्वा कालं कुर्युः, तदानीं च यदि नाऽन्यः कश्चिदनिवृत्तिबादरसम्परायं प्रविशेत् , तर्ह्यपगतवेदमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः समयो भवेत् , ज्ञानावरणादीनां पञ्चानां तु यथा सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां भावितः, तथैव भावनीयः, विशेषाभावात् । यद्वैको वाऽनेके वा जीवा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमाना अनिवृत्तिबादरसम्पराये वेदोदयोच्छेदद्वितीयसमये कालं कृत्वा देवत्वेनोत्पद्यन्ते । तदानी च यद्येकोऽप्यन्यजीवो व्यवच्छिन्नवेदोदयो-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायः सूक्ष्मसम्परायो वा न भवति, तर्ह्यपगतवेदमार्गणायां षण्णां कर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रितजघन्यकाल एकसमयो भवति ।

अथाऽपगतवेदमार्गणायां वेदनीयस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्यकालं दर्शयति–**सव्वद्धाऽत्थि**' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो नानाजीवानाश्रित्य बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति, उक्तमार्गणायां सयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन प्रवेशात् तेषां च सार्वकालिकत्वात् ।

सम्प्रति छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयमयोः सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्यकालं दिदर्शयिषुराह–'**सत्तण्हं**' इत्यादि, '**छेदे**' पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यमानत्वात् छेदो-

पस्थापनीयसंयममार्गणायां 'सप्तानाम्' आयुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां कर्मणां बन्धकानाम् 'अर्धतृतीयशतसमाः' पञ्चाशदधिकद्विशतवर्षाणि (२५०) नानाजीवाश्रयः कालो भवति, स चोत्सर्पिण्यास्तृतीयारकस्य दुःषमसुषमाख्यस्य वर्षत्रयेऽर्धनवमेषु च मासेषु गतेषु प्रथमतीर्थपतेः शासने छेदोपस्थापनीयसंयमप्रवृत्ते तत्तीर्थपतिशासनापेक्षया बोद्धव्यः, द्वितीयतीर्थपतेः शासने च्छेदोपस्थापनीयसंयमाभावात् । तेन सार्धद्विशतवर्षाणि यावद् जघन्यतः छेदोपस्थापनीयसंयता लभ्यन्ते, यदुक्तं श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रे-"छेदोवट्ठाणवणिएसु पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं ।" इति । तदेवं नानाजीवानाश्रित्य जघन्यतोऽपि छेदोपस्थापनीयसंयताः पञ्चाशदधिकवर्षशतद्वयं यावद् भवन्ति, ते च सर्वे-ऽपि सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तेन छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्यकालो यथोक्तमानो भवति ।

एतर्हि परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां सप्तकर्मबन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्यकालं प्राह- 'परिहारे' इत्यादि, 'परिहारे' परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां 'विंशतिहायनपृथक्त्वं' हायनशब्दस्य वर्षवाचकत्वात् स मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यकालोविंशतिवर्षपृथक्त्वं भवति, यतः परिहारविशुद्धिकसंयमस्य नानाजीवाश्रयो निरन्तरकालो यथोक्तमानः, यदुक्त श्रीजीव से- "अड्ढाइज्जा य सया वीसपुहुत्त च होइ वासाण । छेयपरिहारठाण जहण्णकालाणुसारो उ ॥१॥" इति । इयमत्र भावना-वर्षशतायुषा केनाऽपि नवकेन गणेनैकोनत्रिंशद्वर्षेषु गतेष्ववसर्पिणीचरमतीर्थंकरसमीपे परिहारविशुद्धिसंयमं प्रतिपद्यैकमप्तर्ति वर्षाणि निरन्तरं स्थितम् । तदायुःपर्यन्ते च तत्समीपे शतवर्षायुष्केणैवा-ऽन्येन नवकगणेनैकोनत्रिंशद्वर्षेषु गतेषु परिहारविशुद्धिसंयममङ्गीकृत्यैकसप्तर्ति वर्षाणि यावद् निरन्तरं स्थितम् । ततः परं कोऽपि परिहारविशुद्धिकसंयमं न प्रतिपद्यते, तीर्थङ्करं तत्समीपप्रतिपन्नपरिहारविशुद्धिकसंयमं वा ऋते इतरस्य पार्श्वे तत्प्रतिपत्तेर्निषेधात् । एवं च सति द्वाचत्वारिंशदधिकं वर्षशत यावद् निरन्तरं परिहारविशुद्धिकसंयता लभ्यन्ते । असावेव कालः व्याख्याप्रज्ञप्तौ देशोनवर्षशतद्वयेनाऽभिहितः । तथा चा-ऽत्र व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्-"परिहारविशुद्धीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण देसूणाइं दो वाससयाइं ।" इति । परिहारविशुद्धिकसंयताश्च सर्वे सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तेन परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां सप्तकर्मणा बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालो विंशतिवर्षपृथक्त्वमात्रो भवति ॥२३७॥

सम्प्रत्यपर्याप्तमनुष्यादिष्वेकादशमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टकालं निजिगदिषुरादौ तावदपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणापञ्चके तमाह-

पल्लासंखियभागो अपज्जणरविउवमीसुवसमेसुं ।
मीसम्मि सासणम्मि य जेट्ठो कालो मुणेयव्वो ॥२३८॥

(प्रे०) 'पल्ला०' इत्यादि, अपर्याप्तनरे=अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां मिश्रमार्गणायां सास्वादनमार्गणायां च सर्वसङ्ख्यया पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं 'ज्येष्ठः कालः' आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टः कालः पल्यासङ्ख्यभागो ज्ञातव्यः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते—अपर्याप्तमनुष्या वैक्रियमिश्रकाययोगिन औपशमिकसम्यग्दृष्टयो मिश्रदृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्च प्रत्येकं नानाजीवानाश्रित्योत्कृष्टतः सातत्येन पल्योपमाऽसंख्येयभागं यावद् भवन्ति, ततः परं तेषामवश्यं विरहलक्षणमन्तर सम्पद्यते, यदुक्तं जीवस से—"पल्लासंखियभागो वेउव्वियमिस्सगाण अणुसारो । ××× । पल्लासंखियभागो सासणमिस्सा य हु ति उक्कोस ।" इति । पञ्चसंग्रहे चाऽपि ×××मणुयअपज्जत्ताण असंखभागो उ पल्लस्स"। इति । एवमौपशमिकसम्यग्दृष्टयादीनामपि नानाजीवाश्रययथोक्तोत्कृष्टकाले ग्रन्थान्तरसंवादो द्रष्टव्यः । अपर्याप्तमनुष्यादयश्च सप्तकर्माणि बध्नन्त्येव, तेन प्रोक्तमार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मणां बन्धकानां जीवानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः पल्योपमासंख्येयभागः सूपपन्नः ॥२३८॥

सम्प्रत्याहारकमिश्रकाययोगादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयकालं व्याहर्तुकाम आह—

सत्तण्हाहारदुगे भिन्नमुहुत्तं अवेअसुहुमेसु ।
छण्हं छेओ अयरा सत्तण्हं अद्धकोडिकोडीओ ॥२३९॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'सत्तण्हाहारदुगे' इत्यादि, 'आहारद्विके' आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगरूपमार्गणाद्विके 'सप्तानां' ज्ञानावरणादीनामायुष्कवर्जानां 'भिन्नमुहुर्तं' बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालो ऽन्तर्मुहूर्तं भवति । कुतः ? इति चेत्, उच्यते—आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोर्नानाजीवाश्रय उत्कृष्टो ऽपि कालो-ऽन्तर्मुहूर्तम्, यदुक्तं जीवसमासे—"भिन्नमुहुत्त आहारमिस्सा सेसाण सव्वद्धा ।" इति । एवमाहारककाययोगकाले-ऽपि ग्रन्थान्तरसंवादो ज्ञातव्यः । उक्तयोगद्वयवर्त्तिनश्च सर्वे-ऽपि सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तेनाऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोः सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति ।

'अवेअसुहुमे' इत्यादि, अवेदे=अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मे=सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च प्रत्येकं षण्णां कर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालो-ऽन्तर्मुहूर्तं भवति, यत उक्तमार्गणाद्वये षट्कर्मणां बन्धकाः क्षपकश्रेण्युपशमश्रेण्योरन्यतरश्रेण्येकदेशवर्तिनो भवन्ति, अन्यतरश्रेणेश्चोत्कृष्टकालो-ऽन्तर्मुहूर्तान्नाऽधिकः, यदुक्तं श्रीपञ्चसंग्रहे—

"सासणमीसाओ हवंति सन्तया पलियसंखइगकाला । उवसामगउवसंता समयाओ अंतरमुहुत्त ॥१॥
खवगा खीणाजोगी होंति अणिच्चा वि अंतरमुहुत्त । नानाजीवे त च्चिय सत्तहिं समएहिं अब्भहियं ॥२॥"

इति । तदेवं व्याप्तकानां श्रेणिवर्तिनां जीवानां नानाजीवापेक्षया-ऽन्तर्मुहूर्तस्थायित्वात् तद्व्याप्यभूता

पस्थापनीयसंयममार्गणायां 'सप्तानाम्' आयुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां कर्मणां बन्धकानाम् 'अर्धतृतीयशतसमाः' पञ्चाशदधिकद्विशतवर्षाणि (२५०) नानाजीवाश्रयः कालो भवति, स चोत्सर्पिण्यास्तृतीयारकस्य दुःषमसुषमाख्यस्य वर्षत्रयेऽर्धनवमेषु च मासेषु गतेषु प्रथमतीर्थपतेः शासने छेदोपस्थापनीयसंयमप्रवृत्ते तत्तीर्थपतिशासनापेक्षया बोद्धव्यः, द्वितीयतीर्थपतेः शासने च्छेदोपस्थापनीयसंयमाभावात् । तेन सार्धद्विशतवर्षाणि यावद् जघन्यतः छेदोपस्थापनीयसंयता लभ्यन्ते, यदुक्तं **श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रे**–"छेदोवट्ठाणवणिएसु पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं ।" इति । तदेव नानाजीवानाश्रित्य जघन्यतोऽपि छेदोपस्थापनीयसयताः पञ्चाशदधिकवर्षशतद्वयं यावद् भवन्ति, ते च सर्वेऽपि सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तेन छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्यकालो यथोक्तमानो भवति ।

एतर्हि परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां सप्तकर्मबन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्यकालं प्राह–**'परिहारे'** इत्यादि, 'परिहारे' परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां 'विंशतिहायनपृथक्त्वं' हायनशब्दस्य वर्षवाचकत्वात् सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यो विंशतिवर्षपृथक्त्वं भवति, यतः **परिहारविशुद्धिकसंयमस्य नानाजीवाश्रयो निरन्तरकालो यथोक्तमानः, यदुक्तं श्रीजीवसमासे**–
"अड्ढाइज्जा य सया वीसपुहुत्तं च होइ वासाण । छेयपरिहारठाण जहण्णकालाणुसारो उ ॥१॥" इति ।
इयमत्र भावना–वर्षशतायुषा केनाऽपि नवकेन गणेनैकोनत्रिंशद्वर्षेषु गतेष्ववसर्पिणीचरमतीर्थकरसमीपे परिहारविशुद्धिसंयमं प्रतिपद्यैकसप्तति वर्षाणि निरन्तरं स्थितम् । तदायुःपर्यन्ते च तत्समीपे शतवर्षायुष्केणैवाऽन्येन नवकगणेनैकोनत्रिंशद्वर्षेषु गतेषु परिहारविशुद्धिसंयममङ्गीकृत्यैकसप्तति वर्षाणि यावद् निरन्तरं स्थितम् । ततः परं कोऽपि परिहारविशुद्धिकसंयमं न प्रतिपद्यते, तीर्थङ्करं तत्समीपप्रतिपन्नपरिहारविशुद्धिकसंयमं वा ऋते इतरस्य पार्श्वे तत्प्रतिपत्तेर्निषेधात् । एवं च सति द्वाचत्वारिंशदधिकं वर्षशतं यावद् निरन्तरं परिहारविशुद्धिकसंयता लभ्यन्ते । असावेव कालः **व्याख्याप्रज्ञप्तौ** देशोनवर्षशतद्वयेनाऽभिहितः । तथा चाऽत्र **व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्**–"परिहारविसुद्धीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण देसूणाइं दो वाससयाइं ।" इति । परिहारविशुद्धिकसंयताश्च सर्वे सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तेन परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालो विंशतिवर्षपृथक्त्वमात्रो भवति ॥२३७॥

सम्प्रत्यपर्याप्तमनुष्यादिष्वेकादशमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टकालं निजिगदिषुरादौ तावदपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणापञ्चके तमाह–

पल्लासंखियभागो अपज्जणरविउवमीसुवसमेसुं ।
मीसम्मि सासणम्मि य जेट्ठो कालो मुणेयव्वो ॥२३८॥

(प्रे०) '**पल्ला०**' इत्यादि, अपर्याप्तनरे=अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाया-मौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां मिश्रमार्गणायां सास्वादनमार्गणायां च सर्वसंख्यया पञ्चसु मार्ग-णासु प्रत्येकं 'ज्येष्ठः कालः' आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टः कालः पल्यासंख्यभागो ज्ञातव्यः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते-अपर्याप्तमनुष्या वैक्रियमिश्रकाययोगिन औपशमिकसम्यग्दृष्टयो मिश्रदृष्टयः सास्वादनसम्यग्दृष्टयश्च प्रत्येकं नानाजीवानाश्रित्योत्कृष्टतः सातत्येन पल्योपमाऽसंख्येयभागं यावद् भवन्ति, ततः परं तेषामवश्यं विरहलक्षणमन्तरं सम्पद्यते, यदुक्तं **जीवस से**-"पल्लासंखियभागो वेउव्वियमिस्सगाण अणुसारो । ××× । पल्लासंखियभागो सामण-मिस्सा य हु ति उक्कोस ।" इति । **पञ्चसंग्रहे** चाऽपि ×××मणुयअपज्जत्ताण असंखभागो उ पल्लस्स'"। इति । एवमौपशमिकसम्यग्दृष्ट्यादीनामपि नानाजीवाश्रययथोक्तोत्कृष्टकाले ग्रन्थान्तरसंवादो द्रष्टव्यः । अपर्याप्तमनुष्यादयश्च सप्तकर्माणि बध्नन्त्येव, तेन प्रोक्तमार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मणां बन्धकानां जीवानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः पल्योपमासंख्येयभागः सूपपन्नः ॥२३८॥

सम्प्रत्याहारकमिश्रकाययोगादिमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयकालं व्याहर्तुकाम आह—

सत्तण्हाहारदुगे भिन्नमुहुत्तं अवेअसुहुमेसु ।
छण्हं छेओ अयरा सत्तण्हं अद्धकोडिकोडीओ ॥२३९॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**सत्तण्हाहारदुगे**' इत्यादि, 'आहारद्विके' आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-रूपमार्गणाद्विके 'सप्तानां' ज्ञानावरणादीनामायुष्कवर्जानां 'भिन्नमुहुर्तं' बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्ट-कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । कुतः ? इति चेत्, उच्यते-आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोर्नाना-जीवाश्रय उत्कृष्टोऽपि कालोऽन्तर्मुहूर्तम्, यदुक्तं **वसमासे**-"भिन्नमुहुत्तं आहारमिस्सा सेसाण सव्वद्धा ।" इति । एवमाहारककाययोगकालेऽपि ग्रन्थान्तरसंवादो ज्ञातव्यः । उक्तयोगद्वयवर्तिनश्च सर्वेऽपि सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, तेनाऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोः सप्तकर्मणां बन्ध-कानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति ।

'**अवेअसुहुमेसु**' इत्यादि, अवेदे=अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मे=सूक्ष्मसम्परायसंयममार्ग-णायां च प्रत्येकं षण्णां कर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, यत उक्त-मार्गणाद्वये षट्कर्मणां बन्धकाः क्षपकश्रेण्युपशमश्रेण्योरन्यतरश्रेण्येकदेशवर्तिनो भवन्ति, अन्यतर-श्रेणेश्चोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तान्नाऽधिकः, यदुक्तं **श्रीपञ्चसंग्रहे**-

सासणमीसाओ हवंति सन्तया पलियसंखइगकाला । उवसामगउवसंता समयाओ अंतरमुहुत्तं ॥१॥
खवगा खीणाजोगी होंति अणिच्चा वि अंतरमुहुत्तं । नानाजीवे तं चिय सत्तहिं समएहिं अब्भहियं ॥२॥"

इति । तदेवं व्याप्तकानां श्रेणिवर्तिनां जीवानां नानाजीवापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तस्थायित्वात् तद्व्याप्यभूता

अपगतवेदमार्गणायामनिवृत्तिबादरसम्परायाः सूक्ष्मसम्परायाश्च सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां च सूक्ष्मसम्परया नियमतः श्रेण्यन्तर्मुहूर्ततो हीनस्थितिकाः, किञ्चागमग्रन्थेषु प्रतिपादित उत्कर्षेणाऽवेदाऽनिवृत्तिबादरसम्परायसूक्ष्मसम्परायाणां कालोऽन्तर्मुहूर्तम्, यदुक्तं **श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तौ**–"सुहुमसपरायसजया ण भते। कालओ केचिर होन्ति ? गोयमा ! जहण्णेण एक्क समय, उक्कोसेण अतोमुहुत्त।" इति। एवमवेदानिवृत्तिबादरसम्परायेष्वपि ग्रन्थान्तरसंवादो द्रष्टव्यः। तेन प्रोक्तमार्गणाद्वये षण्णां बन्धकानामपि नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालो-ऽन्तर्मुहूर्तमात्रो न विरुध्यते। इह 'छण्ह' इति सामान्यनिर्देशे-ऽपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सदेहादलक्षणम्।" इति न्यायेनाऽपगतवेदमार्गणायां वेदनीयायुष्कवर्जानां षण्णां कर्मणां बन्धकानां यथोक्तोत्कृष्टकालो-ऽवसेयः, वेदनीयबन्धकानां सर्वाद्धाया निरूपितत्वाद् आयुर्बन्धस्य चा-ऽसम्भवात्, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां पुनर्मोहनीयायुष्करहितानां षण्णां कर्मणां बन्धकानां यथोक्तमानोत्कृष्टकालो वाच्यः, तस्यां मोहनीयायुष्कयोर्बन्धाभावात्।

'छेए' इत्यादि, 'छेदे' छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां 'सप्तानाम्' आयुषो वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकम् 'अर्धकोटीकोट्यः' बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः पञ्चाशल्लक्षकोटयः 'अतराः' अतिमहत्त्वात् सागरवत् तरितुमशक्या इति अतराः=सागरोपमा भवति, यतः सर्वे छेदोपस्थापनीयसंयताः सप्तकर्मणां बन्धका भवन्ति, छेदोपस्थापनीयसंयताना च नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः पञ्चाशत्कोटिशतसहस्राणि सागरोपमाणि प्रवचने प्रतिपादितः, अवसर्पिण्यां प्रथमतीर्थपतिशासनस्य तावत्कालस्थायित्वात्, यदुक्तं **श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रे**–"छेओवट्ठावणियसजमे ण भंते। कालओ केचिर हु ति ? गोयमा ! जहण्णेण अड्ढाइज्जाइ वाससयाइ उक्कोसेण पन्नास सागरोवमकोडिसयसहस्साइ।" इति ॥२३९॥

सम्प्रति शेषासु मार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टकालमाह—

परिहारविसुद्धीए कोडी पुव्वाण दोण्णि देसूणा।
सेसासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण सव्वद्धा ॥२४०॥

(प्रे०) **'परिहारविसुद्धीए'** इत्यादि, 'परिहारविशुद्धौ' परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां 'पूर्वाणां द्वे कोटी देशोने' सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालोऽष्टपञ्चाशद्वर्षलक्षणेन देशेन न्यूने वर्षाणां द्वे पूर्वकोटी भवति, कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, उच्यते–अवसर्पिणीकाले प्रथमतीर्थकरस्य पार्श्वे पूर्वकोट्यायुषा केनचिद् नवकेन गणेनैकोनत्रिंशद्वर्षैः स्वायुषो-ऽतिक्रान्तैः परिहारविशुद्धिसयमः प्रतिपन्नः, आमरण चाऽऽसेवितः, तदायुःपर्यन्ते च पूर्वकोट्यायुष्केणाऽन्येन नवकेन गणेन स्वायुष्कस्य सकाशादेकोनत्रिंशद्वर्षैः स्वायुषः समतिक्रान्तैः परिहारविशुद्धिकचारित्रं प्रतिपन्नम्, आमरणान्त च परिपालितम्। ततः परं न को-ऽपि परिहारविशुद्धिकसंयममङ्गीकरोति, तीर्थकर वा तत्समीपप्रतिपन्नप्रस्तुतसंयमं जनं वा ऋतेऽन्यस्याऽन्तिके तत्प्रतिपत्तिनिषेधात्, यदुक्तं **श्रीव्याख्या-**

प्रज्ञप्तौ—"परिहारविसुद्धियसजया ण भंते ! कालओ केचिर हु ति ? गोयमा ! जहण्णेण देसूणाउ दो वाससयाइ, उक्कोसेण देसूणाओ दो पुव्वकोडीउ।" इति । परिहारविशुद्धिकसंयताश्च सप्तकर्माणि बध्नन्त्येव । तेन परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकाना नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालो यथोक्तमानो भवति ।

'सेसासु' इत्यादि, 'शेषासु' अनन्तरोक्ता-ऽपर्याप्तमनुष्यादिलक्षणाभ्य एकादशभ्यो मार्गणाभ्योऽतिरिक्तासु त्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणासु 'स्वप्रायोग्याणां' तत्तन्मार्गणायोग्यानामायुर्वर्जप्रकृतीनां बन्धकानां नानाजीवाश्रयकालः सर्वाद्धा भवति, नानाजीवानाश्रित्य तासां मार्गणानां सार्वकालिकत्वात् । तथाहि—अपर्याप्तमनुष्यवर्जेषु षट्चत्वारिंशत्संख्याकेषु (४६) गतिभेदेष्वेकोनविंशतिसंख्याकेष्विन्द्रियभेदेषु (१९) द्वाचत्वारिंशति कायभेदेषु (४२) वैक्रियमिश्रकाययोगाऽऽहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगरहितेषु शेषेषु पञ्चदशयोगभेदेषु (१५) वेदत्रये कषायचतुष्के केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्टये-ऽज्ञानत्रिके संयमसामान्य-सामायिकसंयम-देशविरता-ऽविरतमार्गणासु केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिके लेश्याषट्के भव्याभव्ययोः सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्वमार्गणासु संज्ञ्यसंज्ञिनोराहारका-ऽनाहारकयोश्च सर्वसंख्यैकोनषष्ट्यधिकशतमार्गणासु सप्तानां कर्मणाम्, अकषाय-केवलद्विक-यथाख्यातसंयमेषु च वेदनीयस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवति । तदेवं सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालो-ऽभिहितः ॥२४०॥

सम्प्रत्यायुर्वर्जज्ञानावरणादीनामबन्धकानां नानाजीवाश्रयं कालं व्याहर्तुमनाः प्राह—

तिणरदुपंचिंदियतससंजमभवियेसु छण्ह सव्वद्धा ।
कालो अबंधगाणं तइअस्स दुहा मुहुत्तंतो ॥२४१॥

(प्रे०) 'तिणर०' इत्यादि, त्रिनरेषु=मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु, द्विशब्दस्य द्वाभ्यां सह योजनाद् द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्यमार्गणा-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः, द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्यमार्गणा-पर्याप्तत्रसकायमार्गणयोः संयमसामान्यमार्गणायां भव्यमार्गणायां च सर्वसंख्यया नवमार्गणासु 'षण्णां' वेदनीयायुषोर्वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जानां ज्ञानावरणादीनामबन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति, उक्तमार्गणासु सयोगिकेवलिनामपि षट्कर्मा-ऽबन्धकत्वात् तेषां च सार्वकालिकत्वात् । 'तइअस्स' इत्यादि, भणितनवमार्गणासु 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो-ऽबन्धकाना कालः 'द्विधा' प्रकारद्वयेन जघन्योत्कृष्टरूपेण 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवति, उक्तनवमार्गणास्वयोगिकेवलिना वेदनीया ऽबन्धकत्वेन लाभात् तेषां च जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तकालभावित्वात् ॥२४१॥

यासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणां कर्मणामबन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति, ता मार्गणाः संगृह्य प्राह–

तिमणवयणकायउरलअवेअअकसायकेवलदुगेसु ।
सुक्काए सम्मत्ते खइए आहारगियरेसु ॥२४२॥
जेसिं अबंधगा सिं अबंधगाणं हवेज्ज सव्वद्धा ।
तइअस्स अहक्खाये भिन्नमुहुत्तं दुहा णेयो ॥२४३॥

(प्रे०) 'तिमण०' इत्यादि, त्रिमनस्सु=मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगेषु, एव त्रिषु वचनयोगेषु, काययोगसामान्य औदारिककाययोगे-ऽवेदमार्गणायामकषायमार्गणायां केवलद्विके=केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणे मार्गणाद्विके शुक्ललेश्यायां सम्यक्त्वसामान्ये क्षायिकसम्यक्त्व आहारकमार्गणायां तदितरस्याम्=अनाहारकमार्गणायां च यासां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामबन्धका भवन्ति, तासामबन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवति, मनोयोगादिषु सयोगिकेवलिनामपि षट्कर्मा-ऽबन्धकत्वेन प्रवेशादपगतवेदादिमार्गणासु च सयोगिकेवलिसिद्धानामपि षट्कर्मा-ऽबन्धकत्वेन सिद्धानां च वेदनीयाऽबन्धकत्वेन प्रवेशात् । तथाहि–त्रिमनोयोग-त्रिवचनयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-शुक्ललेश्या-ऽऽहारकरूपासु दशमार्गणासु वेदनीयायुर्वर्जाना षण्णामबन्धका नानाजीवापेक्षया सार्वकालिकाः,उक्तमार्गणासु सयोगिकेवलिनामप्यबन्धकतया प्रवेशात् तेषां च सार्वकालिकत्वात् । अपगतवेद-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽनाहारकमार्गणासु सप्तानां कर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा, प्रोक्तमार्गणासु सार्वकालिकानां सिद्धानामपि प्रवेशात् तेषां च सप्तकर्मबन्धाभावात् । अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शनमार्गणासु वेदनीयस्या-ऽबन्धकाः सार्वकालिकाः, प्रोक्तमार्गणात्रये सार्वकालिकानां सिद्धानां प्रवेशात् तेषाञ्च वेदनीयबन्धाभावात् ।

सम्प्रति यथाख्यातसयममार्गणायामबन्धकानां नानाजीवाश्रय काल दर्शयति–'तइअस्स' इत्यादि, यथाख्यातसयममार्गणायां 'तृतीयस्य' वेदनीयस्याऽबन्धकाना नानाजीवाश्रितः कालो 'द्विधा' प्रकारद्वयेन जघन्योत्कृष्टरूपेण 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं भवति, तत्रायोगिकेवलिनामेव वेदनीयाऽबन्धकतया प्रवेशात् तेषां च जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तकालस्थायित्वात् ॥२४३॥

सम्प्रत्यौदारिकमिश्रकाययोग कार्मणकाययोगयोर्वेदनीयायुष्कवर्जानामबन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्योत्कृष्टकालमाह–

छण्ह जहण्णो समयो उरालमीसम्मि तिसमया कम्मे ।
संखेज्जा खलु समया दोसु वि जेट्ठो मुणेयव्वो ॥२४४॥

(प्रे०) 'छण्ह' इत्यादि, 'औदारिकमिश्रे' औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां 'षण्णां' वेदनीयायुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां 'जघन्यः समयः' अबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकाल एकः समयो भवति, कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते-यदैको वाऽनेके वा सयोगिकेवलिनो युगपत् केवलिसमुद्घातं प्रतिपद्यन्ते, तदा कपाट कुर्वतां तेषां द्वितीयसमय औदारिकमिश्रकाययोगो भवति, स च एकसामयिकः, तृतीयसमयात् प्रभृति कार्मणकाययोगोपलब्धेः । सयोगिकेवलिनश्च वेदनीयायुष्कवर्जानां षण्णामबन्धका भवन्ति । तेन कपाटसमुद्घातापन्नसयोगिकेवलिन आश्रित्यौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां नानाजीवानधिकृत्य षण्णामबन्धका जघन्यत एकसमयस्थायिनो भवन्ति । न च केवलिसमुद्घातषष्ठसमयमनुसृत्य भावना कुतो न कृता ? इति वाच्यम् , सप्तमसमयेऽप्यौदारिकमिश्रकाययोगोपलम्भेन निरन्तरद्विसमयस्थायित्वापत्तेः * । **'तिसमया कम्मे'** 'त्ति, 'कार्मे' कार्मणकाययोगमार्गणायां षण्णामबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालस्त्रिसमयाः, समुद्घातावस्थायां निरन्तरं सयोगिकेवलिनां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयरूपसमयत्रिकं यावत् कार्मणकाययोगोपलम्भात् कथितमार्गणायां च सयोगिकेवलिनां षट्कर्माबन्धकत्वात् ।

सम्प्रत्युक्तमार्गणाद्वयेऽबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टकालं दर्शयति-**'सखेज्जा'** इत्यादि, 'द्वयोरपि' औदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगलक्षणयोरुभयोरपि मार्गणास्थानयोः 'ज्येष्ठः' षट्कर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः संख्येयाः खलु समया भवति,कुतः ? इति चेत् ,उच्यतेप्रोक्तमार्गणाद्वये षट्कर्मणामबन्धकाः समुद्घातमापन्नाः सयोगिकेवलिनो भवन्ति, एकजीवञ्चाश्रित्य सयोगिकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगो द्विसामयिकः; कार्मणकाययोगस्तु त्रिसामयिकः, सयोगिकेवलिनश्च संख्येयाः, तेन नानाजीवान् प्रतीत्या-ऽपि सयोगिकेवलिनामौदारिकमिश्रकाययोगकार्मणकाययोगौ प्रत्येकं संख्यातसामयिकौ भवतः, यत एकजीवमाश्रित्य येषां कालः संख्यातसमयाः, परिमाणतश्च जीवाः संख्येयाः, तत्र नानाजीवानाश्रित्य कालः संख्यातसमयमात्रो भवतीति व्याप्तिः । अत औदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकायमार्गणयोः षण्णां कर्मणामबन्धकानां कालः संख्येयाः समयाः सूपपद्यते ॥२४४॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु सप्तकर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयं कालं निरूपयिषुराह--

सेसासु मग्गणासु अबंधगा जाण अत्थि ताण लहू ।
समयो अबंधगाणं णेयो जेट्ठो मुहुत्तंतो ॥२४५॥

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, 'शेषासु' गाथाचतुष्केणोक्तनवविंशतिमार्गणाभ्यो भिन्नास्वसत्यमनोयोगादिमार्गणासु यासां प्रकृतीनामबन्धका भवन्ति, तासां प्रकृतीनामबन्धकाना 'लघुः

---

* धवलाकारास्तु केवलिसमुद्घातसप्तमसमय औदारिककाययोग मन्यन्ते, तेन तन्मतानुसारिभिः केवलिसमुद्घातषष्ठसमयाऽपेक्षयाऽपि जघन्यकालो भावयितु शक्यते ।

/ य

यासु मार्गणास्त्रायुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणां कर्मणामवन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति, ता मार्गणाः संगृह्य प्राह–

तिमणवयणकायउरलअवेअअकसायकेवलदुगेसु ।
सुक्काए सम्मत्ते खइए आहारगियरेसु ॥२४२॥
जेसिं अबंधगा सिं अबंधगाणं हवेज्ज सव्वद्धा ।
तइअस्स अहक्खाये भिन्नमुहुत्तं दुहा णेयो ॥२४३॥

(प्रे०) 'तिमण०' इत्यादि, त्रिमनस्सु=मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोगेषु, एव त्रिषु वचनयोगेषु, काययोगसामान्य औदारिककाययोगे-ऽवेदमार्गणायामकषायमार्गणायां केवलद्विके=केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणे मार्गणाद्विके शुक्ललेश्यायां सम्यक्त्वसामान्ये क्षायिकसम्यक्त्व आहारकमार्गणायां तदितरस्याम्=अनाहारकमार्गणायां च यासां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामवन्धका भवन्ति, तासामबन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवति, मनोयोगादिषु सयोगिकेवलिनामपि षट्कर्मा-ऽवन्धकत्वेन प्रवेशादपगतवेदादिमार्गणासु च सयोगिकेवलिसिद्धानामपि षट्कर्मा-ऽवन्धकत्वेन सिद्धानां च वेदनीयाऽवन्धकत्वेन प्रवेशात् । तथाहि–त्रिमनोयोग-त्रिवचनयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-शुक्ललेश्या-ऽऽहारकरूपासु दशमार्गणासु वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णामवन्धका नानाजीवापेक्षया सार्वकालिकाः,उक्तमार्गणासु सयोगिकेवलिनामप्यवन्धकतया प्रवेशात् तेषां च सार्वकालिकत्वात् । अपगतवेद-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽनाहारकमार्गणासु सप्तानां कर्मणामवन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा, प्रोक्तमार्गणासु सार्वकालिकानां सिद्धानामपि प्रवेशात् तेषां च सप्तकर्मवन्धाभावात् । अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शनमार्गणासु वेदनीयस्या-ऽवन्धकाः सार्वकालिकाः, प्रोक्तमार्गणात्रये सार्वकालिकानां सिद्धानां प्रवेशात् तेषाञ्च वेदनीयबन्धाभावात् ।

सम्प्रति यथाख्यातसंयममार्गणायामबन्धकानां नानाजीवाश्रय कालं दर्शयति–'तइअस्स' इत्यादि, यथाख्यातसंयममार्गणायां 'तृतीयस्य' वेदनीयस्याऽवन्धकाना नानाजीवाश्रितः कालो 'द्विधा' प्रकारद्वयेन जघन्योत्कृष्टरूपेण 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं भवति, तत्रायोगिकेवलिनामेव वेदनीयाऽवन्धकतया प्रवेशात् तेषां च जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तकालस्थायित्वात् ॥२४३॥

सम्प्रत्यौदारिकमिश्रकाययोग कार्मणकाययोगयोर्वेदनीयायुष्कवर्जानामवन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्योत्कृष्टकालमाह–

छण्ह जहण्णो समयो उरालमीसम्मि तिसमया कम्मे ।
संखेज्जा खलु समया दो वि जेट्ठो मुणेयव्वो ॥२४४॥

(प्रे०) 'छण्ह' इत्यादि, 'औदारिकमिश्रे' औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां 'पण्णा' वेदनीयायुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां 'जघन्यः समयः' अबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकाल एकः समयो भवति, कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–यदैको वाऽनेके वा सयोगिकेवलिनो युगपत् केवलिसमुद्घातं प्रतिपद्यन्ते, तदा कपाटं कुर्वतां तेषां द्वितीयसमय औदारिकमिश्रकाययोगो भवति, स च एकसामयिकः, तृतीयसमयात् प्रभृति कार्मणकाययोगोपलब्धेः । सयोगिकेवलिनश्च वेदनीयायुष्कवर्जानां षण्णामबन्धका भवन्ति । तेन कपाटसमुद्घातापन्नसयोगिकेवलिन आश्रित्यौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां नानाजीवानधिकृत्य षण्णामबन्धका जघन्यत एकसमयस्थायिनो भवन्ति । न च केवलिसमुद्घातषष्ठसमयमनुसृत्य भावना कुतो न कृता ? इति वाच्यम् , सप्तमसमयेऽप्यौदारिकमिश्रकायोगोपलम्भेन निरन्तरद्विसमयस्थायित्वापत्तेः * । **'तिसमया कम्मे'** 'त्ति, 'कार्मे' कार्मणकाययोगमार्गणायां षण्णामबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालस्त्रिसमयाः, समुद्घातावस्थायां निरन्तरं सयोगिकेवलिनां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयरूपसमयत्रिकं यावत् कार्मणकाययोगोपलम्भात् कथितमार्गणायां च सयोगिकेवलिनां षट्कर्माबन्धकत्वात् ।

सम्प्रत्युक्तमार्गणाद्वये-ऽबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टकालं दर्शयति-**'संखेज्जा'** इत्यादि, 'द्वयोरपि' औदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगलक्षणयोरुभयोरपि मार्गणास्थानयोः 'ज्येष्ठः' षट्कर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः संख्येयाः खलु समया भवति, कुतः ? इति चेत् ,उच्यते–प्रोक्तमार्गणाद्वये षट्कर्मणामबन्धकाः समुद्घातमापन्नाः सयोगिकेवलिनो भवन्ति, एकजीवञ्चाश्रित्य सयोगिकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगो द्विसामयिकः; कार्मणकाययोगस्तु त्रिसामयिकः, सयोगिकेवलिनश्च संख्येयाः, तेन नानाजीवान् प्रतीत्या-ऽपि सयोगिकेवलिनामौदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगौ प्रत्येकं संख्यातसामयिकौ भवतः, यत एकजीवमाश्रित्य येषां कालः संख्यातसमयाः, परिमाणतश्च जीवाः संख्येयाः, तत्र नानाजीवानाश्रित्य कालः संख्यातसमयमात्रो भवतीति व्याप्तिः । अत औदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकायमार्गणयोः षण्णां कर्मणामबन्धकानां कालः संख्येयाः समयाः सूपपद्यते ॥२४४॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु सप्तकर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयं कालं निरूपयिषुराह––

सेसासु मग्गणासुं अबंधगा जाण अत्थि ताण लहू ।
समयो अबंधगाणं णेयो जेट्ठो मुहुत्तंतो ॥२४५॥

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, 'शेषासु' गाथाचतुष्केणोक्तनवविंशतिमार्गणाभ्यो भिन्नास्वसत्यमनोयोगादिमार्गणासु यासां प्रकृतीनामबन्धका भवन्ति, तासां प्रकृतीनामबन्धकानां 'लघुः

* धवलाकारास्तु केवलिसमुद्घातसप्तमसमय औदारिककाययोग मन्यन्ते, तेन तन्मतानुसारिभिः केवलिसमुद्घातषष्ठसमयाऽपेक्षयाऽपि जघन्यकालो भावयितु शक्यते ।

समयः' नानाजीवाश्रयो जघन्यकाल एकसमयो भवति । भावार्थः पुनरयम्-मति-श्रुता-ऽवधि-मनः-पर्यवज्ञान- चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-सज्ञिमार्गणासु मोहनीस्याऽबन्धकाः सूक्ष्मसम्परायादयो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम गोत्रा ऽन्तरायाणां पुनः कर्मणामबन्धका उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च भवन्ति । तत्र सूक्ष्मसम्परायानाश्रित्य मोहस्योपशान्तमोहाश्च प्रतीत्य ज्ञानावरणादीनां पश्चानामबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकाल एकसमयः, नानाजीवापेक्षया-ऽपि मरणोपलम्भेन सूक्ष्मसम्परायोप-शान्तमोहाना जघन्यतः समयमात्राऽवस्थायित्वात् । एवमौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि भावनीयो जघन्यकालः, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहानामबन्धकत्वात् । मध्यममनोयोग मध्यमवचन-योगेष्वपि षण्णा कर्मणा यथासभवमबन्धकाः सूक्ष्मसम्परायो-पशान्तमोह-क्षीणमोहा भवन्ति, तेन मरणमाश्रित्य मतिज्ञानमार्गणावद् भावनीयो जघन्यकालः, यद्वा यदा सूक्ष्मसम्परायादयोऽधिकका-लस्थायिनो भवन्ति, तदा-ऽपि योगान्तरप्राप्त्या षण्णा कर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्य-काल एकसमयः परिभावनीयः ।

लोभकषायमार्गणायां मोहनीयस्याऽबन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यकाल एक यो भवति, अस्यां मार्गणाया सूक्ष्मसम्परायाणां मोहनीया-ऽबन्धकत्वात् सूक्ष्मसम्परायाणां च जघन्यत एकसमयस्थायित्वात् ।

एतासु त्रयोदशमार्गणास्वायुर्वर्जानां कर्मणामबन्धकाः सूक्ष्मसम्परायादयो भवन्ति, ते चोत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रस्थायिनः, उपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्योरन्यतरस्या आन्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तदेव समर्थितः सप्तकर्मणा बन्धका-ऽबन्धकाना नानाजीवाश्रयजघन्योत्कृष्टकालः ॥२४५॥

सम्प्रत्यायुष्कस्य बन्धका-ऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयकालमभिधातुमना आदौ तावद् लाघवा-र्थमतिदेशेन तं निरूपयति—

भगोऽत्थि अट्ठमो चिअ जासु खलु बंधगाण आउस्स ।
तासु खलु बधगाणं कालो आउस्स सव्वद्धा ॥२४६॥

(प्रे०) '**भगोऽत्थि**' इत्यादि, यासु मार्गणासु खल्वायुषो बन्धकानाम् 'अष्टम एव भङ्गः' अनेके बन्धका अनेके चा-ऽबन्धका इत्येवरूपोऽष्टमभङ्गः 'अस्ति' भङ्गविचयद्वारे 'अण्णासु अट्ठमो भगो' इत्यनेन गाथावयवेन निरूपितो ऽस्ति, तासु द्वाषष्टिमार्गणास्वायुषो बन्धकाना नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवति । भावार्थः पुनरयम्—तिर्यग्गतिसामान्य-सप्तैकेन्द्रियभेद-पर्याप्तबादरवर्जपृथिवीकायभेद-पटूका-ऽप्कायभेदपटूक-तेजःकायभेदषटूक-वायुकायभेदषटूक-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवर्जवनस्पतिकायभेददश क काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगौ दारिकमिश्रकाययोग-नपुंसकवेद- कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्वयाऽ-विरता ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रिक भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसज्ञ्या हारकरूपासु द्वाषष्टिमार्गणासु कासुचिदायुषो बन्धका असख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिकाः, कासुचित् पुनस्ततो-ऽप्यधिका अनन्तरा-

शिका भवन्ति, तेन तासु मार्गणासु निरन्तरमायुर्बन्धकानां लाभेन तेषां कालः सर्वाद्धा लभ्यते ॥२४६॥

सम्प्रति शेषासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकाना नानाजीवाश्रयकालं प्राह–

आउस्स बंधगाणं लहू खलु पणमणवयणजोगेसु ।
विउवे आहारदुगे समयो अण्णह मुहुत्तंतो ॥२४७॥

(प्रे०) 'आउस्स' इत्यादि, पञ्चमनोयोगेषु पञ्चवचनयोगेषु वैक्रियकाययोगमार्गणायाम् 'आहारद्विके' आहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगलक्षणे मार्गणाद्वये च सर्वसंख्यया त्रयोदशमार्गणास्वायुषो बन्धकानां 'लघुः' नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः समयो भवति, यतो भणितमार्गणास्वायुर्बन्धकानामसंख्येयलोकराशितो हीनत्वेनाऽसंख्येयलोकापेक्षहीनराशिकबन्धकमार्गणासु च सामान्यत एकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालानुसारेण जघन्यकाललाभाद् बन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्यकालो भवति । एकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालस्त्वशीतितमगाथाया समयप्रमाण उक्तः । तद्गाथोक्तकाययोगसामान्यौदारिककाययोग -कषायचतुष्केष्वायुर्बन्धस्यैकजीवाश्रयजघन्यकालस्यैकसमयमात्रत्वे-ऽपि तास्वनन्तराशिप्रमाणानामायुष्कबन्धकानां प्रवेशादायुर्बन्धकाना नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा लभ्यते, तेनाऽत्र मूलगाथायां नानाजीवाश्रयैकसमयमात्रजघन्यकालनिरूपणे तासां मार्गणानां ग्रहण न कृतम् ।

'अण्णह' इत्यादि, 'अन्यत्र' षट्चत्वारिंशदुत्तरद्विशततमगाथोक्ता द्वाषष्टिमार्गणा अनन्तरोक्ताश्च त्रयोदशमार्गणा विहाया-ऽन्यासु निरयगत्याद्यष्टाशीतिमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यः कालः 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवति, कुतः ? इति चेत् , उच्यते–तास्वायुर्बन्धकराशिरसंख्येयलोकराशितो हीनः, आयुष्कबन्धस्य चैकजीवाश्रयजघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः । तेन प्रागुक्तरीत्या नानाजीवाश्रयोऽप्यायुषो बन्धकानां जघन्यकालो-ऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते, नाधिकः ।

शेषा अष्टाशीतिमार्गणा नामतस्त्विमाः–अष्टौ निरयगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदास्तिर्यग्गतिसामान्यवर्जाश्चत्वारस्तिर्यग्भेदाश्चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः सप्तैकेन्द्रियभेदवर्जेन्द्रियभेदा द्वादश पर्याप्तबादराः पृथिव्यप्तेजोवायुकायाः पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायस्त्रयो-ऽपि त्रसकायभेदाः स्त्रीवेदपुरुषवेदौ केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्क-विभङ्गज्ञान-संयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसयम परिहारविशुद्धिकसंयम–देशविरत-चक्षुर्दर्शना -ऽवधिदर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-- शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति ॥२४७॥

सम्प्रत्यायुषो बन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्ट ' व्याजिहीषुराह–

पज्जमणुसमणुसीसु आहारदुगाणयाइदेवेसु ।
मणंणाणसंजमेसु समइअछेअपरिहारेसु ॥२४८॥

सुक्काए खइअम्मि य भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज उक्कोसो ।
सेसासु असंखयमो भागो पल्लस्स बोद्धव्वो ॥२४९॥

(प्रे०) 'पज्जमणुसमणुसीसु' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुष्योः,आहारकद्विके=आहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगलक्षणे मार्गणाद्वय आनतादिदेवेषु=आनतप्रभृतिसर्वार्थसिद्धिकसुरलक्षणेष्वष्टादशमार्गणास्थानेषु, मनोज्ञाने=मनःपर्यवज्ञानमार्गणाभेदे संयमसामान्यमार्गणाया सामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनीयसंयम परिहारविशुद्धिकसयममार्गणासु शुक्ललेश्यामार्गणाया क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने च सर्वसङ्कलयैकोनत्रिंशन्मार्गणास्वायुषो बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टः कालो 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं भवति, उक्तमार्गणास्वायुषो बन्धकानां संख्येयराशिकत्वाद् एकजीवाश्रयायुर्बन्धोत्कृष्टकालस्याऽपि चाऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वात् । भावार्थस्त्वयम्-यासु मार्गणास्वायुषो बन्धकाः सख्येया भवन्ति, एकजीवाश्रयश्चायुर्बन्धकाल उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, तासु पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु नानाजीवाश्रयोऽप्यायुर्बन्धकाल उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं भवति ।

'सेसासु'इत्यादि, 'शेषासु' उक्तशेषासु निरयगत्यादिरूपासु द्वासप्ततिमार्गणास्वायुर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः 'पल्यस्य' पल्योपमस्याऽसंख्यतमो भागो बोद्धव्यः, तासु मार्गणासु बन्धकानामसख्येयत्वाद् एकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । तात्पर्यार्थस्त्वयम्-यास्वसख्येयलोकापेक्षया हीनाऽसख्येयराशिकबन्धकविशिष्टमार्गणास्वेकजीवाश्रय उत्कृष्टकालो-ऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवेत्, तासु मार्गणासु नानाजीवाश्रय उत्कृष्टः कालः पल्योपमा-ऽसंख्येयभागः स्यादिति व्याप्तिः, तेन निरयगत्यादिमार्गणास्वायुषो बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालो यथोक्तमानो भवति । व्याप्तौ उत्कृष्टपदोपादानात् मनोयोगादिष्वेकजीवाश्रयस्याऽऽयुर्बन्धकालस्य जघन्यतः समयमात्रत्वेऽपि न क्षतिः ॥२४८-२४९॥

सम्प्रत्यादेशत आयुष्कस्याऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयकालमतिदेशेन प्राह—

सव्वह तत्तिअकालो आउस्स अबंधगाण जावइओ ।
तइअस्स बन्धगाणं णवरि जहण्णो अपज्जणरे ॥२५०॥
होइ जहण्णअबाहापमिओ आहारमीसजोगम्मि ।
समयो हवेज्ज णेयो सयं च छेअपरिहारेसु ॥२५१॥

(प्रे०)'सव्वह'इत्यादि,'सर्वत्र'त्रय.षष्ट्यधिकशतमार्गणासु जघन्यत उत्कृष्टतश्च नानाजीवाश्रयकालस्तावत्काल आयुषोऽबन्धकाना बोद्धव्यः, यावान् 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धकानां जघन्यत उत्कृष्टतश्च पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमप्रभृतिगाथाभिः प्रतिपादितः । इदमुक्तं भवति—

बधगियराण कालो सव्वद्धाऽद्वण्ह आउवज्जाण । ह्रस्सोऽत्थि बधगाण अपज्जमणुसम्मि खुड्डभवो ॥१॥
णेयो भिन्नमुहुत्त दुमीसजोगेसु उवसमे मीसे । आहारसासणेसु सुहुमे समयो मुणेयव्वो ॥२॥
समयो छण्ह अवेए सव्वद्धात्थि तइअरस सत्तण्ह । छेए-ऽद्वतिअसयसमा परिहारे वीसहायणपुहुत्त ॥३॥
पल्लासखियभागो अपज्जणरविउव्वमीसुवसमेसु । मीसम्मि सामणम्मि य जेट्ठो कालो मुणेयव्वो ॥४॥
सत्तण्हाहारदुगे भिन्नमुहुत्त अवेअसुहुमेसु । छण्ह छेए अयरा सत्तण्ह अद्धकोडिकोडीओ ॥५॥
परिहारविसुद्धीए कोडी पुव्वाण दोण्णि देसूणा । सेसासु मग्गणासु सप्पाउग्गाण सव्वद्धा ॥६॥"

इति गाथाषट्केण चतुःसप्तत्यधिकशतमार्गणासु ज्ञानावरण दर्शनावरण-वेदनीयादीनां बन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः प्रतिपादितः, इह त्वायुष्कस्य प्रस्तुतत्वाद् वैक्रियमिश्रादिमार्गणाः परित्यज्य त्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणासु वेदनीयबन्धककालमवलम्ब्याऽऽयुष्कस्याऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालो वाच्यः ।

सामान्येनातिदेश्याऽतिप्रसक्तिनिवारणायाऽपवादमाह-'अपज्ज०' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां 'लघुः' आयुषोऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यः कालो 'जघन्याऽबाधाप्रमितः' आयुष्कस्य जघन्याबाधाप्रमाणो भवति, नत्वतिदेशप्राप्तः क्षुल्लकभवमात्रः । अयं भावः-एकेनाऽनेकैर्वाऽपर्याप्तमनुष्यैरसंक्षेपाद्धा प्राप्याऽऽयुर्बन्धः प्रारब्धः । ततोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणायुर्बन्धाद्धाचरमसमये यः कालो जघन्याबाधारूपेण मुच्यते, स आयुष्काबन्धकानां जघन्यकालो भवति, तदाऽऽयुषोऽबन्धात् । प्रमाणतश्चासौ कालोऽन्तर्मुहूर्तं क्षुल्लकभवतश्च संख्येयगुणहीनः । अस्मिन्ने काले परिसमाप्तेऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणा व्यवच्छिन्ना भवति । वेदनीयबन्धकानां तु जघन्यकालः प्राक् क्षुल्लकभवमात्रोऽभिहित इति कृत्वाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामपवादः कथितः ।

'आहार०' इत्यादि, आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायामायुष्काबन्धकानां जघन्यकालः समयो भवति, न त्वतिदेशप्राप्तोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः । एतदुक्तं भवति-यदा ऽऽहारकमिश्रकाययोगाद्धाद्विचरमसमय एकेनाऽनेकैर्वाऽऽयुर्बन्धो निष्ठाप्यते,तदाऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां नानाजीवापेक्षयाऽऽयुष्काबन्धकाना जघन्यकालश्चरमसमयरूपैकसमयो भवति,तदनन्तरं तन्मार्गणाया एव उच्छेदात् ।

'णेयो' इत्यादि, तथा छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां चाऽऽयुष्काबन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः स्वयं 'ज्ञेयः' विशिष्टश्रुतबलेनाऽबन्धकपरिमाणं समधिगम्य बोद्धव्यः । इदमत्र हृदयम्-यदि च्छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां जघन्यत एकादयो वा विंशतिर्वा जीवा भवेयुः, तदाऽऽयुष्काबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं स्यात् , यदि पुनः कोटीपृथक्त्वमात्राः स्युर्जीवास्तत्र,तदाऽधिको भवेत् । तेन विशिष्टश्रुतबलेन जघन्यपरिमाणमवधार्य नानाजीवाश्रयो जघन्यकालो वाच्यः । एवं परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामपि ॥२५०-२५१॥

तदेवं समर्थितो नानाजीवाश्रयो बन्धकाबन्धकानां कालः, तस्मिंश्च समर्थिते समाप्तं नानाजीवाश्रयकालद्वारम् ॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे द्वादशं कालद्वारं समाप्तम् ॥

आयुर्वर्जानां बन्धकानां वेदनीयस्य चाऽबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालस्य प्रदर्शि यन्त्रम्

ओघतोऽष्टकर्मणां बन्धकाबन्धकानां नानाजीवाश्रितकाल सर्वाद्धा (गाथा-२३५) ।

	आयुर्वर्जज्ञानावरणादिसप्तकर्मणां बन्धकानाम्								वेदनीयस्याबन्धकानाम्	
जघन्य	क्षुल्लकभव	भिन्नमुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्	१ समय	१ समय	२५० वर्षाणि	विंशति-वर्षपृथक्त्वम्		भिन्नमुहूर्तम्	
उत्कृष्ट	पल्यासंख्याश	पल्यासंख्याश	,,	अन्तर्मुहूर्तम्	पल्यासंख्याश	५०लक्षकोटिसागरा	देशोनद्विपूर्वकोटी	सर्वाद्धा	,,	सर्वाद्धा
गति	अपर्याप्तमनुष्य							शेषा ४६	अपर्याप्तवर्जत्रिमनुष्या	
इन्द्रियम								सर्वा १९	पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ	
काय								सर्वा ४२	त्रसपर्याप्तत्रसौ	
योग		वैक्रियमिश्र	आहारकमिश्र	आहारक				शेषा १५		
वेद				अवेद*				शेषा ३		अवेद
कषाय								सर्वा ५ △		अकषाय
ज्ञानम								सर्वा ८ △		केवलज्ञा०
संयम				सूक्ष्मस०		छेदोप०	परिहार०	शेषा ५ △	समयसा०यथाख्यात	
दर्शनम								सर्वा ४ △		केवलद०
लेश्या								सर्वा ६		
भव्य								भव्याभव्यौ २	भव्य	
सम्यक्त्वम्		औपशमि० मिश्र०			सास्वादनम्			शेषा ४		सम्यक्त्वसा.क्षायिक०
संज्ञी								सञ्ज्यसंज्ञि० २		
आहारक								आहारानाहारौ २		अनाहार
सर्वा	१	३	१	१+१+१	१	१	१	१६३	१०	७
गाथाङ्क	२३५, २३८	२३६, २३८	२३६, २३९	३६२३७ ७३६	२३६, २३८	२३७, २३९	२३७, २४०	२४०	२४१,	२४२, २४३

* नवर वेदनीयस्य सर्वाद्धा । 卐 मोहनीयायुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां षण्णां कर्मणाम् ।

△ अकषाय-केवलद्विक-यथाख्यातेषु केवलस्य वेदनीयस्य ।

वेदनीयवर्जानामबन्धकानामायुष्कस्य च बन्धकानां नानाजीवाश्रितकालस्य प्रदर्शक यन्त्रम्

आदेशत सर्वासु (१६३) मार्गणास्वायुषोऽबन्धकाना नानाजीवाश्रयकालो वेदनीयबन्धककालवज्ज्ञेय., नवरमाहारकमिश्रे जघन्य समय (गाथा २५१)।

	वेदनीयायुष्कवर्जानामबन्धकानाम्					आयुषो बन्धकानाम्			
जघन्य		१ समय	३ समया	१ समय	•	१ समय	अन्तर्मुहूर्तम्	१ समय	अन्तर्मुहूर्तम्
उत्कृष्ट	सर्वाद्धा	सङ्ख्यसमया	सङ्ख्यसमया	अन्तर्मुहूर्तम्	सर्वाद्धा	अन्तर्मुहूर्तम्	,,	पल्यासंख्यांश	पल्यासंख्यभाग
गति	अपर्याप्तवर्जनिरा				तिर्यग्गतिसा०		पर्याप्तनरमानुषी आनताद्यप्रादश		शेषा २६
इन्द्रियम्	पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ				सप्तैकेन्द्रियभेदा				शेषा १२
काय	त्रसपर्याप्तत्रसौ				३४ कायभेदा *	..			शेषा ८
योग	मध्यमद्वयवर्जा ३ मनोयोगा ३वचनयोगा ,कायऔदारिक	औदारिक-मिश्र॰	कार्मण	मध्यममनोयोगद्वय मध्यमवचनयोगद्वयम्	काय औदारिक द्विकम्	आहारक-द्विकम्		४मनोयोगा ५ वचोयोगा वैक्रिय	
वेद	३ वेद				नपुंसकवेद				शेषे २
कषाय				लोभ 卐	४ कषाया				
ज्ञानम्		•		मतिश्रुतावधिमन-पर्यवज्ञानानि	अज्ञानद्विकम्	•	मन पर्यव०		शेषा ४
संयम	संयम		..	•	असंयम		संयमसा सामायि छेदो० परिहार०		देशसंयम॰
दर्शनम्				चक्षुरचक्षुरवधि०	अचक्षुर्दर्शनम्		...		शेषे २
लेश्या	शुक्ला			..	तिस्रोऽशुभा		शुक्ला		शेषा २
भव्य	भव्य				भव्याभव्यौ				
सम्यक्त्वम्	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०			औपशमिक०	मिथ्यात्वम्		क्षायिक०		शेषा. ३
सञ्ज्ञी				सञ्ज्ञी	असञ्ज्ञी				सञ्ज्ञी
आहारक	आहारानाहारौ				आहारक				
सर्वा	२३	१	१	१४	६२	८	२७	११	५१
गाथाङ्क	२४२,२४३	२४४	२४४	२४५	२४६	२४७,२४८	२४७,२४८,२४९	२४६,२५०	२४७,२४८

卐 केवलस्य मोहनीयस्य । * चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमपृष्ठस्य टिप्पणी विलोकनीया ।

अथ त्रयोदशमन्तरद्वारम्

एतर्हि क्रमप्राप्तेन नानाजीवाश्रयेणाऽन्तरद्वारेणाऽष्टकर्मणां बन्धकाऽबन्धकानामन्तरं विभणिषुरादौ तावदन्तरनिषेधमाविष्कुर्वन्नाह—

बन्धगियराण णंतरमट्ठण्हं जासु आउवज्जाणं ।
सव्वाण बन्धगाणं सव्वद्धा णंतरं तहि सिं ॥२५२॥

(प्रे०) 'बन्धगियराण' इत्यादि, अष्टानामपि ज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनां 'बन्धकेतरेषां' बन्धकानामबन्धकानां च प्रत्येकं नानाजीवाश्रयम् अन्तरं नास्ति, नानाजीवापेक्षया बन्धकानामबन्धकानां च सार्वकालिकत्वात् ।

सम्प्रति मार्गणास्वन्तरं निषेधन्नाह–'सव्वाण' इत्यादि, यासु मार्गणासु 'आयुर्वर्जानां सर्वासाम्' आयुष्कं विना तत्तन्मार्गणायोग्यप्रकृतीनां बन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा प्ररूपितः, 'तत्र' तासु चत्वारिंशदधिकद्विशततमगाथायाटीकोक्तनरकगत्यादिमार्गणासु 'तासाम्' आयुर्वर्जतत्तन्मार्गणायोग्यप्रकृतीनां बन्धकानाम् अन्तरं न भवति, नानाजीवापेक्षया बन्धकानां सार्वकालिकत्वात् । तथाहि—अपर्याप्तमनुष्यमार्गणामृते षट्चत्वारिंशद्गतिमार्गणास्वेकोनविंशतिसंख्याकेन्द्रियभेदेषु द्वाचत्वारिंशत्कायभेदेषु वैक्रियमिश्रकाययोगाऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगरहितेषु शेषेषु पञ्चदशयोगभेदेषु वेदत्रये कषायचतुष्के केवलज्ञानरहितज्ञानचतुष्टये ऽज्ञानत्रिके संयमसामान्य-सामायिकसंयम-देशविरता-ऽविरतमार्गणासु केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिके लेश्याषट्के भव्याभव्ययोः सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिथ्यात्वमार्गणास्थानेषु संज्ञ्यसंज्ञ्याहारका-ऽनाहारकमार्गणासु च सर्वसंख्ययैकोनषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तकर्मणामकषाय केवलद्विक-यथाख्यातसंयमेषु च वेदनीयस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तर नास्ति, तद्बन्धकाना सार्वकालिकत्वात् ॥२५२॥

अपर्याप्तमनुष्यादयो या एकादशमार्गणा नानाजीवापेक्षया कादाचित्क्यः प्राग् अभिहिताः, तास्य आदौ तावदपगतवेदमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकानामन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च व्याचष्टे–

णो अंतरं अवेए तइअस्स हवेज्ज छण्ह सेसाणं ।
समयो अत्थि जहण्णं उक्कोसं होइ छम्मासा ॥२५३॥

(प्रे०) 'णो' इत्यादि, इह 'बधगाण' इति पदमनुवर्तते, एवमुत्तरत्रा-ऽपि । 'अवेदे' अपगतवेदमार्गणाया 'तृतीयस्य' वेदनीयकर्मणो बन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तरं 'नो' नास्ति, नानाजीवाश्रयकालस्य सर्वाद्धात्वात् । 'षण्णां शेषाणाम्' आयुर्वर्जानां प्रस्तुतत्वाद् वेदनीयस्य च निषिद्धत्वाद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायरूपाणां षण्णां शेषाणां प्रकृतीना बन्धकाना

नानाजीवाश्रितं जघन्यमन्तरं समयोऽस्ति, उत्कृष्टं तु षण्मासा भवति । भावना त्वित्थं कर्तव्या—एको वाऽनेके वा जीवा उपशमश्रेणौ क्षपकश्रेणौ वा-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये मोहनीय-बन्धं विच्छेद्य सूक्ष्मसम्परायं प्रविष्टाः, कालं वा कृत्वोपशमका देवेषूत्पन्नाः, तदानीं चा-ऽनिवृत्तिबादरसम्पराये वेदोदयोच्छेदादूर्ध्वमेकेनाऽपि जीवेन न भवितव्यम् । तत एकं समयं व्यतिक्रम्योपशमश्रेणित एको वाऽनेके वा अवतरन्ति, यद्वा-ऽनिवृत्तिबादरसम्पराये वेदो-दयं व्यवच्छेद्याऽपगतवेदमार्गणां प्रविशन्त्युपशमकाः क्षपका वा । ते च मोहनीयं नियमतो बध्नन्तीति कृत्वा नानाजीवापेक्षयाऽपगतवेदमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धकानामन्तरं जघन्यत एकः समयो लभ्यते । यद्वा उपशमश्रेणितोऽवतरन्तो-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायं जीवाः प्रविष्टाः, तत्र प्रथमसमये मोहनीयं बद्ध्वा द्वितीयसमये सर्वे-ऽपि कालं कृत्वा सुरलोके समुत्पन्नाः, तदनन्त-रमनिवृत्तिबादरसम्पराये वेदोदयं व्यवच्छेद्याऽपगतवेदमार्गणामेको वा-ऽनेका वा निविष्टाः, यद्वा श्रेणितो-ऽवतरन्तो-ऽन्ये जीवा अनिवृत्तिबादरसम्परायं प्रविष्टाः, सर्वेषां च तेषां मोहनीय-बन्धो भवत्येव । तेन नानाजीवाश्रितमपगतवेदमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धकानामन्तरं जघन्यत एकः समयः प्राप्यते । यदिवा श्रेणिमारोहन्तो-ऽनिवृत्ति बादरसम्पराये वेदोदयव्यवच्छेदं कृतवन्तः, अथवा श्रेणितोऽवतरन्तोऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयं प्राप्ताः, तदनन्तरसमये कालं कृत्वा ते सर्वे देवेषूत्पन्नाः,तदनन्तरसमयेऽन्येऽपि केचिच्छ्रेण्यारोहेणावेदभावं प्राप्ताः, यद्वा श्रेण्यवरोहणेना-ऽनिवृत्ति-बादरसम्परायं प्राप्ताः, तदा मोहनीयस्य बन्धकाना नानाजीवाश्रयं जघन्याऽन्तरमेकसमयः सिध्यति ।

सम्प्रति वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जबन्धकाना जघन्या-ऽन्तरमपगतवेदमार्गणायां भाव्यते-एको वाऽनेके वोपशमकाः क्षपका वा सूक्ष्मसम्परायचरमसमयं स्पृष्ट्वा गुणस्थानकान्तरं प्राप्ताः, समयमेकमन्तरयित्वाऽन्य उपशमश्रेणितो ऽवतरन्तः सूक्ष्मसम्परायं प्राप्ताः, यद्वा-ऽनिवृत्तिबादर-सम्पराये वेदोदयं व्यवच्छेद्या ऽपगतवेदमार्गणां प्रविष्टाः, तदायुष्कवेदनीयमोहनीयवर्जानां पञ्चानां कर्मणा बन्धकानां नानाजीवाश्रयं जघन्यान्तरमपगतवेदमार्गणायां समयो लभ्यते । यद्वा-ऽनिवृत्ति-बादरसम्पराये सूक्ष्मसम्पराये वा क्रमेण श्रेण्यारोहणेना-ऽवरोहेण वाऽपगतवेदमार्गणामासेवन्ते जीवाः । द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नाः, तदनन्तरसमये श्रेणेरारोहणेना ऽवरोहणेन वाऽन्ये जीवाः क्रमेणाऽनिवृत्तिबादरसम्पराये सूक्ष्मसम्पराये वाऽपगतवेदमार्गणामधिगताः, तदाऽप्यपगतवेद-मार्गणायां नानाजीवाश्रयं पञ्चाना कर्मणा बन्धकानामन्तरं जघन्यत एकः समयो लभ्यते । तथाऽपग-तवेदमार्गणाया वेदनीयायुष्कवर्जानां कर्मणां बन्धका उपशमश्रेणौ क्षपकश्रेणौ वा लभ्यन्ते । तत्रोपशमश्रेणेरुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, क्षपकश्रेणेस्तूत्कृष्टतः षाण्मासिकम्, न ततोऽधिकम् यदुक्तं जीवसमासे—"×××वासपुहुत्तं उवसामएसु खवगेसु छम्मासा ।" इति । अत एव षण्मासेषु गते-ष्ववश्य क्षपकश्रेणिप्रतिपत्तिदर्शनाद् अपगतवेदमार्गणायां षट्कर्मबन्धकानां सद्भावेना-ऽपगतवेदमार्ग-

णायां षट्कर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं षाण्मासिकं भवति, नाधिकम् ॥२५३॥

अथ शेषासु मार्गणासु बन्धकानां नानाजीवाश्रितं जघन्यमन्तरमाह—

सत्तण्ह लहुं छेए तेवट्ठी हायणा सहस्साणि ।
चुलसीई परिहारे सेसासुं अट्ठसुं समयो ॥२५४॥

(प्रे०) '**सत्तण्ह**' इत्यादि, 'छेदे' पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यमानत्वात् छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां 'सप्तानाम्' आयुषो वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां कर्मणां बन्धकानां 'लघु' नानाजीवाश्रय जघन्यान्तरं त्रिषष्टिः सहस्राणि 'हायनाः' वर्षाणि भवति। इदमुक्तं भवति- भरतैरवतक्षेत्रेष्ववसर्पिण्या दुष्षमलक्षणपञ्चमारकान्ते छेदोपस्थापनीयसंयमो विच्छिद्यते, ततः षष्ठारके दुष्षमदुष्षमाऽभिधान एकविंशतिसहस्रप्रमाणे तावन्मात्रे चोत्सर्पिण्याः प्रथमारकेऽपि न लभ्यतेऽसौ, तत उत्सर्पिण्या द्वितीयारके दुष्षमाख्य एकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणेऽपि न प्राप्यते, किन्तु दुष्षमसुषमलक्षणे तृतीयारके प्रथमतीर्थकराणां केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्यामासाद्यते। एवमेकविंशतिवर्षसहस्रप्रमितानां त्रयाणामारकाणां समुदितानां कालस्त्रिषष्टिवर्षसहस्राणि छेदोपस्थापनीयसंयमस्य नानाजीवाश्रयं जघन्यान्तरं लभ्यते, यदुक्तं **श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रे**—"छेदोवट्ठावणियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण तेवट्ठिं वाससहस्साइं, उक्कोसेण अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ।" इति। इत्थं छेदोपस्थापनीयसंयमस्य नानाजीवाश्रयजघन्यान्तरस्य त्रयःषष्टिवर्षसहस्रमात्रत्वात् छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्याऽन्तरं यथोक्तमानं भवति। इदं तु बोध्यम्—यथैकजीवाश्रया-ऽन्तरद्वारे मार्गणाया अवतिष्ठमानत्वे सत्येवाऽन्तरं चिन्तितम्, न तथेह चिन्तयितव्यम्। किन्तु मार्गणाया उच्छेदे-ऽपि, अन्यथा छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां सप्तकर्मबन्धकानामन्तराभावः प्रसज्येत, तस्या अवतिष्ठमानत्वे सति सप्तकर्मणां बन्धस्य ध्रुवत्वात्।

'**चुलसीई**' इत्यादि, "हायणा सहस्साणि" इति पदद्वयं "देहलीदीपक"न्यायेनाऽत्राऽपि सम्बध्यते। चतुरशीतिः सहस्राणि हायनाः 'परिहारे' परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणाया सप्तकर्मणां बन्धकानां जघन्यान्तरं भवति, यतस्तस्या नानाजीवापेक्षया जघन्यान्तरं तावन्मात्रं सिद्धान्ते प्रतिपादितम्। तथा चाऽत्र **श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्**—"परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण चउरासीइं वाससहस्साइं उक्कोसेण अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ।" इति। इह जघन्यान्तरभावना तु छेदोपस्थापनीयनानाजीवाश्रयजघन्यान्तरवत् कर्तव्या, नवरं सिद्धान्ते तीर्थङ्कराणां तत्समीपासेवकानां पार्श्व एव परिहारविशुद्धिसंयमप्रतिपत्तेर्विहितत्वादवसर्पिण्याः पञ्चमे आरके प्रवृत्ते तत्प्रारम्भे परिहारविशुद्धिसंयमो व्यवच्छिद्यते, न तु छेदोपस्थापनीयवत् पर्यन्ते। तेन पञ्चमारकस्यैकविंशतिसहस्रवर्षैर्युक्तानि पूर्वोक्तारकत्रयस्य वर्षाणि चतुरशीतिसहस्रवर्षाणि परिहारविशुद्धिसंयमस्य नानाजीवाश्रयजघन्यान्तरं लभ्यते।

'**सेसासु**' इत्यादि, 'शेषासु' अपगतवेद-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयमान् विना या अष्टौ अपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणाः, तासु प्रत्येकं यथायोग्य ज्ञानावरणादिकर्मणा बन्धकानां नानाजीवाश्रयं जघन्यान्तरं समयो भवति, तासां नानाजीवापेक्षया जघन्यान्तरस्य समयमानत्वात् । तत्रादौ सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां जघन्यान्तरं भाव्यते-एको वाऽनेके वा क्षपका आरोहन्तोऽवतरन्त-श्चोपशमका वा सूक्ष्मसम्परायचरमसमयं स्पृष्ट्वा गुणान्तरं प्राप्ताः, यद्वा सूक्ष्मसम्पराये सर्वे उप-शमका युगपत्कालं कृत्वा देवतया समुत्पन्ना', समयमेकमन्तरयित्वोपशमश्रेणितोऽवतरन्तोऽन्यतरां वा श्रेणिं प्रतिपद्यमानाः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानमधिगताः, तदा सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणाया मोहनीयायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां बन्धकानां नानाजीवानाश्रित्य जघन्यान्तरमेकसमयो लभ्यते । शेषसप्तमार्गणासु तु भावना सुगमा । तद्यथा-विवक्षितसमये सप्तमार्गणासु प्रत्येकं जीवा भवन्ति, द्वितीयसमये यथासम्भवं गुणान्तरप्राप्त्या मरणेन वा मार्गणाः परित्यक्तवन्तः । तृतीयसमये पुन-रन्ये ता लब्धवन्तः, मार्गणाश्च प्राप्ता ज्ञानावरणादिसप्तप्रकृतीर्बध्नन्ति, तेन नानाजीवापेक्षया-ऽपर्याप्तमनुष्यादिसप्तमार्गणासु सप्तकर्मणां बन्धकानां जघन्यान्तरमेकसमय उपपद्यते । सप्तमार्गणा नामतश्चेमाः-अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगौ पश-मिकसम्यक्त्वा-मिश्र-सास्वादनमार्गणाश्चेति ॥२५४॥

सम्प्रति पञ्चस्वपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु नानाजीवाश्रितं सप्तकर्मणां बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं दर्शयितुमना आह—

पल्लासंखियभागो अपज्जणरमीससासणेसु गुरुं ।
बार मुहुत्ता-ऽत्थि विउवमीसे सुहुमम्मि छम्मासा ॥२५५॥

(प्रे०) '**पल्ला०**' इत्यादि, 'सत्तण्ह बधगाण' इति पूर्वतो-ऽनुवर्तते । अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा-स्थाने मिश्रमार्गणायां सास्वादनमार्गणायां च 'गुरु' सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टमन्तरं 'पल्यासख्येयभागः' पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमितं भवति, यत एतासां मार्गणानां नानाजीवा-पेक्षयाऽन्तरं यथोक्तप्रमाणं प्रवचने प्रतिपादितम् । तथा चोक्तं **श्रीजीवसमासे**-पल्लाऽसखियभाग सासणमिस्सासमत्तमणुएसु ।" इति ।

'बार' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रितमु-त्कृष्टान्तरं द्वादश मुहूर्ता भवति, यतो नानाजीवानाश्रित्य वैक्रियमिश्रकाययोगस्योत्कृष्टान्तरं यथो-क्तमान **जीवसमासादिष्वभिहितम्** । तथा चात्र **श्रीजीवसमास रणम्**-"×××× विउ-व्वियमिस्सेसु, बारस हु ति मुहुत्ता××× ।" इति ।

'**सुहुमम्मि**' इत्यादि, 'सत्तण्ह' इत्यस्यानुवर्तमानत्वे-ऽपि सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयबन्धा-

ऽसंभावात् तद्वर्जानां षण्णां बन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं षण्मासा भवति, कुतः ?इति चेत् , उच्यते–सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां क्षपकाणामपि प्रवेशः, क्षपकाणां च नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तर षाण्मासिकम् , यदुक्तं **श्रीपञ्च** ' हे–×× छमास खवगाण।' इति । तेन सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां नानाजीवानाश्रित्य षण्णां बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासा लभ्यते ॥२५५॥

सम्प्रत्याहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-परिहारविशुद्धिसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसयमौ-पशमिक-सम्यक्त्वमार्गणासु सप्तकर्मणा बन्धकानां नानाजीवापेक्षयोत्कृष्टविरहकालमाह—

आहारदुगम्मि वरिसपुहुत्तमत्थि परिहारछेएसुं ।
सागरकोडाकोडी अट्ठारस सत्तदिणुवसमे ॥२५६॥

(प्रे०) '**आहारदुगम्मि**' इत्यादि, 'आहारद्विके' आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगलक्षणे मार्गणाद्विके सप्तानां कर्मणां बन्धकाना नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वमस्ति,कुतः ? इति चेत् , उच्यते–नानाजीवापेक्षया प्रोक्तमार्गणाद्वयस्योत्कृष्टान्तरं तावन्मात्रं भवति, यदुक्तं **जीवसमासे**– "आहारमिस्सजोगे वासपुहुत्त" इति। आहारकमिश्रयोगस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्वेना-ऽऽहारककाययोगस्या-ऽपि नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं तावन्मात्रमेव, परित्यक्ताहारकमिश्राणां सर्वेषां जीवानामन्तर्मुहूर्तात् परत आहारकशरीरयोगस्याऽवस्थानाऽभावात् , आहारकमिश्रकाययोगाच्च प्राग् आहारककाययोगस्या-ऽसंभावात् । तेना-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोः सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं लभ्यते । "आहारमाइ लोए छम्मास जा न होंति वि कयाइ, उक्कोसेण णियमा एक्क समय जहन्नेण ॥१॥" इति **प्रज्ञा** **सूत्रवृत्तिकार**वचनानुसारेण त्वाहारक-काय-तन्मिश्रकायलक्षणमार्गणद्वये सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं स्वयमेव सिद्धा-न्तपरिकर्मितबुद्धिभिर्भावनीयम् ।

'**परिहारछेए** ' इत्यादि, 'परिहार-च्छेदयोः' परिहारविशुद्धिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीय-संयममार्गणयोः सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरमष्टादश सागरोपमकोटिकोटयो भवति । तथाहि–उत्सर्पिण्याः सुषमदुष्षमाभिधाने चतुर्थारके चरमजिनपतिशासने प्रवृत्ते कियता कालेन भरतैरवतक्षेत्रेषु छेदोपस्थापनीयसंयताः परिहारविशुद्धिसयताश्च व्यवच्छिद्यन्ते । ततश्चतुर्थारके द्वे सागरोपमकोटिकोटयौ, पञ्चमारके तिस्रः सागरोपमकोटीकोटयः, षष्ठे च चतस्रः सागरो-पमकोटिकोटय इत्येवमुत्सर्पिण्यां नव सागरोपमकोटीकोटीर्यावत् छेदोपस्थानीयसंयताः परिहारवि-शुद्धिकसयताश्च न लभ्यन्ते, तथाऽवसर्पिण्या अपि प्रथमारके चतस्रः सागरोपमकोटीकोटयः, द्वितीयारके तिस्रः सागरोपमकोटीकोटयः, तृतीयारके च द्वे सागरोपमकोटीकोटया इत्येवमवसर्पिण्यां नवसागरोपमकोटिकोटिप्रमाण कालं यावत् प्रस्तुतसयता न लभ्यन्ते,तेन प्रस्तुतसंयतानामष्टादशसा-गरोपमकोटिकोटिप्रमितमुत्कृष्टान्तर प्राप्यते । इद त्ववसेयम्–उत्सर्पिण्याश्चतुर्थारकस्यादौ तीर्थकाले-

ऽवसर्पिण्याश्च तृतीयारकस्य पर्यन्ते ऋषभादितीर्थपतिविहरणकाले कियन्तश्चित् काल यावदेते प्राप्यन्ते, किन्तु तस्य स्वल्पकालत्वात् तेन न्यूनत्वमुत्कृष्टकालस्य न विवक्षितमिति । तदेवं छेदो-पस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकयोरुत्कृष्टान्तरस्याष्टादशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणत्वात् तयोर्मार्गणयो-र्बन्धका अपि न संभवति, प्रस्तुतसंयमद्वये प्रवृत्ते तु सप्तानां कर्मणां बन्धका अपि प्रोक्तमार्गणाद्वये नियमतो जायन्ते, प्रस्तुतमार्गणाद्वये सप्तकर्मणां सततं बध्यमानत्वात् । तेन प्रोक्तमार्गणाद्वये यथोक्तमानमुत्कृष्टान्तरमुपपद्यते ।

'सत्तदिणुवसमे' त्ति, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तकर्मणां बन्धकानां नानाजीवा-श्रयमुत्कृष्टान्तर 'सप्तदिनाः' सप्ताहोरात्राणि भवति, औपशमिकसम्यक्त्वस्य नानाजीवापेक्षयोत्कृ-ष्टान्तरस्य सप्ताहोरात्रमात्रत्वात् । एतदुक्तं भवति—औपशमिकसम्यक्त्वं द्विधा, उपशमश्रेणिगत-प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वभेदात् । तत्रोपशमश्रेणिगतौपशमसम्यक्त्वापेक्षयौपशमिकसम्यक्त्वं प्रति-पद्यमानानां प्रतिपन्नानां च नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वमात्रं संभवति, उपशमश्रेणेरुत्कृष्टा-न्तरस्य तावन्मात्रत्वाद् औपशमिकसम्यक्त्वस्य चाऽऽन्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तेन श्रेणिगतौपशमिक-सम्यक्त्वतो यदन्यदौपशमिकसम्यक्त्वम् , तस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरं सप्तदिवसप्रमाणं संभवति । तदपेक्षया चौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तकर्मबन्धकानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरं सप्तदिवसाः प्रोक्तम् ॥२५६॥

सम्प्रति सप्तकर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तरं प्रतिषेधन्नाह—

जासु अबंधगाणं सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
सव्वेसिं सव्वद्धा तासिं सिं अंतरं णत्थि ॥२५७॥

(प्रे०)' "इत्यादि,यासु मनोयोगादिमार्गणास्वायुर्वर्जानां 'स्वप्रायोग्याणां' तत्तन्मार्गणा-प्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामबन्धकानां कालः सर्वाद्धा प्ररूपितः, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनाम-बन्धकानामन्तरं नास्ति, सार्वकालिकत्वादबन्धकानाम् । तथाहि-मध्यमवर्जत्रिमनोयोग त्रिवचनयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-शुक्ललेश्या-ऽऽहारकरूपासु दशसङ्ख्याकासु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामबन्धकानां नानाजीवाश्रया-ऽन्तरं नास्ति, तासु सयोगिकेवलि-नामप्यबन्धकत्वेन प्रवेशात् तेषां च सार्वकालिकत्वात् । अपगतवेद-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-सम्यक्त्वा-ऽनाहारकमार्गणासु सप्तानां कर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तर नास्ति, तासु सिद्धानाप्यबन्धकतया प्रवेशात् तेषां च सार्वकालिकत्वात् । अकषाय-केवलज्ञान केवलदर्शनमार्ग-णासु वेदनीयस्याऽबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं नास्ति, तासु सिद्धानामप्यबन्धकतया प्रवे-शात् तेषां च सार्वकालिकत्वात् ॥२५७॥

सम्प्रति मनुष्यादिमार्गणासु ज्ञानावरणादिकर्मणामबन्धकानामन्तरं निषिषेधिषुर्वेदनीयस्य चाऽबन्धकानां जघन्यान्तरं दिदर्शयिषुराह–

तिमणुअदुपणिंदियतससंजमभवियेसु अंतरं णेव ।
छण्हं कम्माण लहु समयो तइअस्स बोद्धव्वं ॥२५८॥

(प्रे०) 'तिमणुअ०' इत्यादि, त्रिमनुष्येषु=मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु, द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः; द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायरूपयोर्मार्गणयोः संयमसामान्यमार्गणायां भव्यमार्गणायां च सर्वसङ्ख्यया नवसु मार्गणासु 'षण्णां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तरं नास्ति, तासु सयोगिकेवलिनामप्यबन्धकतया प्रवेशात् तेषां च सार्वकालिकत्वात् ।

एतर्हि प्रोक्तनवमार्गणासु वेदनीयाऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तरमाह–'लहु' इत्यादि, उक्तमनुष्यगतिसामान्यादिमार्गणासु प्रत्येकं 'तृतीयस्य' वेदनीयस्याऽबन्धकानां नानाजीवाश्रितं 'लघु' जघन्यमन्तरं समयो बोद्धव्यम्, यतस्तासु वेदनीयाऽबन्धका अयोगिकेवलिनो भवन्ति, तेषां च नानाजीवाश्रितजघन्यान्तरमेकसमयः सिद्धान्ते प्रतिपादितम्, तेनोक्तमार्गणानवके वेदनीयाऽबन्धकानां नानाजीवाश्रितजघन्यान्तरमेकसमयो लभ्यते । भावना त्वित्थं कार्या–विवक्षितसमये वेदनीयबन्धमुच्छेद्य सर्वेऽयोगिकेवलिनो मनुष्या युगपत् सिद्धिगतिं प्राप्ताः, तत एकसमयमन्तरयित्वाऽयोगिकेवलिगुणस्थानमेको वाऽनेके वा प्रविष्टाः, तदा मनुष्यमार्गणायां वेदनीयाऽबन्धकानां जघन्यत एकसमयो नानाजीवाश्रयमन्तरं लभ्यते । एवं शेषमार्गणास्वपि भावनीयम् ॥२५८॥

सम्प्रत्यनन्तरोक्तमनुष्यादिनवमार्गणासु नानाजीवापेक्षया वेदनीयाऽबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमन्यमार्गणासु च जघन्यान्तरमाह—

जेट्ठं वासपुहुत्तं भवे मणुस्सीअ अट्ठसु छमासा ।
अण्णह अबंधगा खलु जाण-ऽत्थि लहुं खणो तेसिं ॥२५९॥

(प्रे०) 'जेट्ठ' इत्यादि, 'मानुष्यां' मानुषीमार्गणायां वेदनीयस्याऽबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तर वर्षपृथक्त्व 'भवेत्' स्यात् । अथ भावः–इह पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची, यदुक्त कर्मप्रकृतिचूर्णौ–"पुहुत्तसद्दो बहुवाची ।" इति, तेनेह वर्षपृथक्त्वशब्देन संभवद्बहुवर्षप्रमाण नानाजीवाश्रयं प्रस्तुतमार्गणाया वेदनीयाऽबन्धकानामन्तर बोध्यम् । तथाहि—वेदादिविशेषाऽविवक्षायामुत्कर्षतो नानाजीवापेक्षयैको वा-ऽनेके वा जीवाः षण्मासानन्तरयित्वा नियमतः

माप्तुकामा नियमतोऽयोगिगुणस्थानकं लभन्ते, तेना-ऽयोगिगुणस्थानकस्योत्कृष्टान्तरं षाण्मासिकं प्राप्यते। वेदादिविशेषविवक्षायां पुनर्मानुष्यो नानाजीवापेक्षयोत्कर्षतः संख्यातसहस्रवर्षाण्यन्तरयित्वा नियमतः सिद्धिगतिमासादयन्ति, यदुक्तं श्रीसिद्धप्राभृतवृत्ता अन्तरद्वारे-"सेसपुरिसे इत्थिणपु सगभगेसु सखेज्जाणि वाससहस्साणि।" इति। तेनोत्कर्षतः संख्यातसहस्रवर्षेषु गतेष्ववश्य मानुष्योऽयोगिकेवलिगुणस्थानकं भजन्ति, ताश्चाऽयोगिकेवलिन्यो वेदनीयं न बध्नन्ति, सयोगिगुणस्थानकचरमसमय एव वेदनीयबन्धोच्छेदात्। तेन मानुषीमार्गणायां सकृद् वेदनीया-ऽबन्धकानां प्राप्तौ सत्यामुत्कृष्टतः संख्यातवर्षसहस्रेषु गतेषु भूयो वेदनीयाबन्धका जीवा लभ्यन्त इति कृत्वा मानुषीमार्गणायां वेदनीयाबन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं यथोक्तमानं सूपपद्यते।

'अट्ठसु **मासा'** त्ति, 'अष्टसु' मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-संयमसामान्य-भव्याख्यास्वष्टमार्गणासु वेदनीया-ऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं षण्मासा भवति। कुतः ? इति चेत्, उच्यते-तासु मार्गणास्वविशेषितवेदादीनामयोगिकेवलिनां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं षाण्मासिकम्, यदुक्त **पञ्चसंग्रहे**-'छम्मास अजोगित्त न को वि पडिवज्जए समय।" इति। अयोगिकेवलिनश्च तासु मार्गणासु वेदनीयाबन्धकत्वेन लभ्यन्ते, तेन मनुष्यगत्यादिमार्गणासु वेदनीयस्याबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षाण्मासिक लभ्यते।

'अण्णह' इत्यादि, 'अन्यत्र' अनन्तरगाथाद्वयोक्तमार्गणातो भिन्नासु सप्तदशमार्गणासु यासां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां खल्वबन्धका भवन्ति, तासां प्रकृतीनामबन्धकानां नानाजीवाश्रितं 'लघु' जघन्यमन्तरं 'क्षणः' समयोऽस्ति, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुपशमकानामेवाऽबन्धकत्वाद् यथाख्यातसंयममार्गणायामयोगिकेवलिनामेवाऽबन्धकत्वादौदारिकमिश्रकायकाययोग-कार्मणकाययोगमार्गणयोः समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनामबन्धकत्वात् शेषासु च क्षपकोपशमकयोरन्यतरस्याऽबन्धकत्वात् क्षपकोपशमक समुद्घातापन्नसयोगिकेवल्य-योगिकेवलिनां च प्रत्येकं नानाजीवाश्रयजघन्यान्तरस्यैकसमयमात्रत्वात्। अयं भावः—मध्यममनोयोगद्वय-मध्यमवचनयोगद्वय-केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्क-केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिक-संज्ञिलक्षणासु द्वादशमार्गणासु वेदनीयायुष्कवर्जानां प्रकृतीना सञ्ज्वलनलोभमार्गणायां च मोहनीयस्याऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयं जघन्यान्तरं समयमात्रं भवति, तासु क्षपकोपशमकयोरन्यतरस्याऽबन्धकत्वात् क्षपकोपशमकानां च नानाजीवाश्रयजघन्यान्तरस्य तावन्मात्रत्वात्।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां वेदनीयायुष्कवर्जानां प्रकृतीनामबन्धकानां न जीवाश्रयजघन्याऽन्तर समयमात्रं भवति, उक्तमार्गणायामुपशान्तमोहजीवानामबन्धकत्वात् तेषां च नानाजीवाश्रयजघन्यान्तरस्य तावन्मात्रत्वात्।

यथाख्यातसयममार्गणाया वेदनीयस्याऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयं जघन्यान्तरमेकसमयमात्रं भवति, तस्यामयोगिकेवलिनामबन्धकत्वात् तेषां च नानाजीवाश्रयजघन्या-ऽन्तरस्यैकसमयमात्रत्वात् ।

औदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगमार्गणयोर्वेदनीयायुष्कवर्जानामबन्धकानां नानाजीवा-श्रयजघन्यान्तर समयप्रमाणं भवति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनामबन्धकत्वात् तेषां च नाना-जीवाश्रयजघन्यान्तरस्यैकसमयप्रमाणत्वात् ॥२५९॥

सम्प्रति मध्यममनोयोगादिषु सप्तदशमार्गणासु यथायोग्यमायुर्वर्जानां कर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमाह–

गुरुमद्धपुहुत्तमुरलमीसगकम्ममणणाणुवसमेसुं ।
अहियसमा ओहिदुगे सेसासु हवेज्ज छम्मासा ॥२६०॥

(प्रे०) 'गुरु०' इत्यादि, औदारिकमिश्रके=औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणाया कार्मणकाययो-गमार्गणास्थाने मनःपर्यवज्ञानमार्गणाभेद औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां च वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणामबन्धकानां 'गुरु' नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरम् 'अब्दपृथक्त्वम्' '"स सपर्य्यनूद्भ्यो वर्ष हायनो-ऽब्द समाःशरत्" इति हेमीयवचनाद् अब्दशब्दस्य वर्षवाचकत्वेन वर्षपृथक्त्वमस्ति, कुतः ? इति चेत्, उच्यते–इह तावदौदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगयोर्वेदनीयायुष्कवर्जानां षण्णां कर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, उक्तमार्गणाद्वये केवलिसमुद्घाता-पन्नसयोगिकेवलिनां षट्कर्माऽबन्धकत्वात् तेषां च नानाजीवाश्रितोत्कृष्टविरहकालस्य तावन्मात्रत्वात् । एवं मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामपि षण्णां कर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्व भवति, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां श्रेणिवर्तिजीवानामेव षट्कर्माऽबन्धकत्वाद् मनःपर्यवज्ञानेन च श्रेणि प्रतिपद्यमानानां जीवानां नानाजीवापेक्षयोत्कृष्टान्तरस्य यथोक्तमानत्वात् ।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुपशमश्रेणिमेवापन्ना जीवाः सूक्ष्मसम्पराया मोहनीयस्य, तथोपशान्तमोहा वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणामबन्धका भवन्ति, उपशमश्रेणेश्च नानाजीवाश्रय-मुत्कृष्टान्तर वर्षपृथक्त्वमस्ति, यदुक्तं प ग्रहे–"वासपुहुत्त उवसामगाण विरहो छमास खवगाण ।" इति । तेनौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां षट्कर्मणामबन्धकानां नानाजीवापेक्षयोत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं लभ्यते ।

'अहियसमा ओहिदुगे' त्ति, 'अवधिद्विके' अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनरूपमार्गणाद्वये नानाजीवानाश्रित्य षट्कर्मणामबन्धकानामुत्कृष्टान्तरम् 'अधिकसमा' किञ्चिदधिकवर्षम्, समाशब्द-स्य वर्षवाचित्वात् । ननु यथोक्तमानं प्रस्तुता ऽन्तरं कथमवसीयते ? इति चेत्, उच्यते–अविव-क्षितवद-ज्ञान-दर्शनादिभेदानां सिद्धि प्राप्ताना नानाजीवापेक्षयोत्कृष्टान्तर षाण्मासिक भवति, किन्तु मतिश्रुताऽवधिज्ञानपश्चात्कृताना नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तर साधिकवर्षप्रमाण भवति, यदुक्त सिद्ध-

प्राभृतवृत्ता अन्तरद्वारे–"सेसाण विगप्पाण वास अहिय, तं जहा–आभिणिबोहिकसुयओहिनाण· पच्छाकडाण, एव मणपज्जवणाणरहियाण ।" इति ।

एवमविवक्षितवेदज्ञानादिभेदानां क्षपकाणा नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरस्य पाण्मासिकत्वेऽपि तत्तद्वेदज्ञानादिविशेषविशिष्टानां क्षपकाणां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमधिकमपि लभ्यते । तत्राऽवधिज्ञानेना ऽऽरूढाना क्षपकाणां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तर साधिकवर्षं प्राप्यते, अवधिज्ञानमार्गणायां चोपशमका इव क्षपका अपि पट्कर्मणामवन्धका भवन्ति । तेना-ऽवधिज्ञानमार्गणाया पट्कर्मणामबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं साधिकवर्षमात्रं भवति । अवधिदर्शनस्या ऽवधिज्ञानसह-भावित्वादवधिदर्शनमार्गणायामपि पट्कर्मणामवन्धकानामन्तरं साधिकवर्षप्रमाणं समस्ति ।

'**सेसा** ' इत्यादि, 'शेपासु' अनन्तरोक्तौदारिकमिश्रकाययोगादिमार्गणापट्करहितासु शेपास्वेकादशसु मध्यममनोयोगादिमार्गणासु वेदनीयायुर्वर्जानां यथायोग्यं कर्मणामवन्धकाना नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं षण्मासा भवति, तासु क्षपकाणामपि पट्कर्माऽवन्धकत्वात् क्षपकाणा च नानाजीवापेक्षयाऽन्तरस्य पाण्मासिकत्वात् । इह यथायोग्यकथनाद् लोभमार्गणाया केवलमोहनीयस्यावन्धकानां तथा यथाख्यातसंयममार्गणाया वेदनीयस्यावन्धकानां नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरं षाण्मासिक बोध्यम् । शेपा एकादशमार्गणा नामतः पुनरिमाः–असत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगौ असत्यवचनयोग-सत्यासत्यवचनयोगौ लोभमार्गणा मतिज्ञानं श्रुतज्ञान यथाख्यातसंयममार्गणा चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं संज्ञिमार्गणा चेति ॥२६०॥

सम्प्रत्यायुष्कबन्धकानां नानाजीवाश्रयान्तरं प्राह–

जहि सव्वद्धा कालो भणिओ आउस्स बंधगाण तहि ।
से बंधगाण णंतरमण्णासु भवे लहु समयो ॥२६१॥
पंचिंदियतिरियविगलपणिंदियतसेसु सिं अपज्जेसु ।
भिन्नमुहुत्तं जेट्ठं अण्णासु सयं मुणेयव्वं ॥२६२॥

(प्रे०) '**जहि**' इत्यादि, 'यत्र' यासु तिर्यग्गतिसामान्यादिद्वाषष्टिमार्गणास्वायुष्कस्य वन्धकाना कालो भणितः, तासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकानामन्तरं नास्ति, बन्धकानां सार्वकालिकत्वात् । 'अन्यासु' तिर्यग्गतिसामान्यादिव्यतिरिक्तास्वेकाधिकशतमार्गणास्वायुष्कबन्धकानां 'लघु' जघन्यान्तरं समयो भवेत्, नानाजीवापेक्षयाऽऽयुर्बन्धोच्छेदाऽनन्तरसमये व्यतीते पुनरन्यैरनेकैरेकेन वाऽऽयुपो वन्धात् ।

सम्प्रत्यायुष्कबन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमाह–'**पंचिदिय०**' इत्यादि, पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्-विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-त्रसाख्यषड्मार्गणाभेदेषु तथा 'तेषामपर्याप्तेषु' अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-

तिर्यग-पर्याप्तविकलेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसाभिधषट्मार्गणास्थानेष्वायुष्कबन्धकानां नाना-जीवाश्रितं 'ज्येष्ठम्' उत्कृष्टान्तरं भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं भवति । 'अण्णासु' इत्यादि, 'अन्यासु' एकोननवतिमार्गणास्वायुषो बन्धकानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरं स्वय ज्ञातव्यम् । एतदुक्तं भवति–आदेशतो यथा उद्वर्तनापरिमाणेन (च्यवनपरिमाणेन) तुल्यमायुष्कबन्धकपरिमाणं सख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तानामन्यतमं भवति, तथैवाऽऽयुष्कबन्धकनानाजीवाश्रयान्तरमपि तत्तन्मार्गणासु नानाजीवाश्रयोद्वर्तनान्तरतुल्यं सभवति, पञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-द्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्त-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिया ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय -पञ्चेन्द्रिया ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसा-ऽपर्याप्तत्रसानां नानाजीवाश्रयोद्वर्तनान्तरं तूत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रम्, यदुक्तं **श्रीप्रज्ञापना-सूत्रे**–"बेइदिया ण भते ! केवइय काल विरहिया उववाएण पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण एग समय उक्कोसेण अतोमुहुत्त । एव तेइदियचउरिदिया ×××× एव जहा उववाओ भणिओ, तहा उव्वट्टणावि भाणियव्वा ××× ।"इति । तेन पञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-द्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय - त्रसकाया - ऽपर्याप्तत्रस-कायाख्यासु द्वादशमार्गणास्वायुषो बन्धकानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, एवं निरय-गत्यादिष्वेकोननवतिमार्गणास्वप्यायुषो बन्धकानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरं नानाजीवाश्रयोद्वर्त-नान्तरवद् वाच्यम् । ननु यद्येवम्, तर्हि निरयगत्यादिमार्गणासु नानाजीवाश्रयोद्वर्तनान्तरस्य द्वादशमुहूर्तप्रमाणत्वात् तत्रायुष्कबन्धकानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तर तावत्प्रमाण कुतो न प्रतिपाद्यते ? इति चेत्, उच्यते–तथा प्रतिपादनीयमेव, किन्तु युक्त्यन्तरेणाऽन्यथाऽपि संभवति । तथाहि–निरयगतिमार्गणास्थाने नानाजीवाश्रयोद्वर्तनान्तरं द्वादश मुहूर्ताः, यदुक्तं **श्रीबृहत्संग्रहण्याम्** "ओहे बारस मुहुत्ता गुरु" इति । तत्र च यदा कदाचिदेकेन वाऽनेकैर्वाऽऽयुष उत्कृष्टाबाधायां षण्मास-प्रमाणाया वर्तमानैरायुर्बन्धः प्रारब्धः, ततोऽन्तर्मुहूर्ते व्यतिक्रान्ते सर्वे आयुर्बन्धतो निवृत्ताः । ततः प्रभृत्यन्तर्मुहूर्तन्यूनषण्मासान् यावद् न कश्चिदायुर्बध्नाति, किन्तु सान्तरनिरन्तरमुद्वर्तन्त एव पूर्वबद्धायुष्का निरयजीवाः । तदनन्तरमुद्वर्तनाऽपि न भवति, बद्धायुष्काणा विरहात् । ततः पर-मन्तर्मुहूर्तन्यूनद्वादशमुहूर्तप्रमाणे देशोनोत्कृष्टोद्वर्तनान्तरे व्यतीतेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणायामायुष्कजघन्या-बाधाया वर्तमानैस्तैरनेकैरेकेन वाऽऽयुर्बन्धः प्रारब्धः, ये उद्वर्तनान्तरे पूर्णे उद्वर्तिष्यन्ते । तदेवमायुष्क-बन्धकान्तर निरयगता अन्तर्मुहूर्तन्यूनषण्मासा अन्तर्मुहूर्तन्यूनद्वादशमुहूर्ताश्च भवति । अन्तर्मुहूर्त-कालस्य चाऽनेकभेदभिन्नत्वाद् अन्तर्मुहूर्तन्यूनद्वादशमुहूर्ताधिकषण्मासा आयुष्कबन्धकान्तरं सूपपद्यते । उक्तरीत्या मार्गणास्थानान्तरेष्वपि भावनीयम् । तदेव युक्त्यन्तरेणा-ऽन्यथाऽपि सम्भवाद् निरयग-त्यादिष्वायुष्कबन्धकनानाजीवाश्रयान्तरस्य प्रतिपादकग्रन्थेन वा तथाविधविशिष्टश्रुतधरात् श्रवणेन वा प्रबलतरोपपत्त्यन्तरेण वा सम्यगवधार्य विशिष्टश्रुतबलेन निरयगत्यादिषु प्रस्तुतान्तर स्वयमेव ज्ञातव्यम्, तेन मूलगाथाया कथितम्"सय मुणेयव्व"इति ॥२६१ २६२॥

सम्प्रति निरयगत्यादिष्वायुषोऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तरमाह—

अंतरमबंधगाणाउस्स तइअबंधगंतरव्व भवे ।
सव्वह णवरि लहुं सयमुज्झं छेअपरिहारेसुं ॥२६३॥

(प्रे०) 'अंतर०' इत्यादि, 'सर्वत्र' सर्वासु त्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वायुषोऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयान्तरं 'तृतीयबन्धकान्तरवद्' वेदनीयबन्धकनानाजीवाश्रयान्तरवद् बोद्धव्यम् । अतिप्रसक्तिवारणायाऽपवादमाह–'णवरि' इत्यादि, नवरं छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयमयोरायुषोऽबन्धकानां 'लघु' नानाजीवाश्रयं जघन्यान्तरं स्वयमूह्यम् । भावार्थः पुनरयम्–अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा-सास्वादनमार्गणयोरायुषोऽबन्धकानां नानाजीवाश्रयं जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतश्च पल्योपमासंख्येयभागो भवति, आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोः प्रस्तुतमन्तरं जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतश्च वर्षपृथक्त्वं भवति, छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धिकसंयमयोः प्रस्तुतमुत्कृष्टमन्तरमष्टादशसागरोपमकोटीकोट्यो भवति, जघन्यन्तु स्वयमेव ज्ञातव्यम् । एतदुक्तं भवति–छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकसंयमयोर्जघन्यपरिमाणत एकादयो विंशतिर्वा जीवा भवन्त एकस्मिन् अन्तर्मुहूर्तकाले यदि सर्वे आयुष्कं बध्नीरन् , तदा तत्राऽऽयुष्काबन्धकानां नानाजीवाश्रयान्तरमेकसमयो लभ्येत, अन्यथा त्वधिकः । जघन्यपरिमाणनिर्णयविरहाद् आयुष्काबन्धकनानाजीवाश्रयजघन्यान्तरप्रतिपादकग्रन्थान्तरविरहाच्च न तत् प्रतिपादयितु शक्यते ऐदयुगीनैः । तस्मात् जघन्यपरिमाणमवधार्याऽऽयुष्काबन्धकनानाजीवाश्रयाजघन्यान्तरप्रतिपादकग्रन्थान्तरं वा प्राप्य विशिष्टश्रुतबलेन स्वयं भावनीयं शेमुषीशालिभिः । शेषास्वपर्याप्तमनुष्यवर्जषट्चत्वारिंशद्गतिभेदै–कोनविंशतीन्द्रियभेद–द्वाचत्वारिंशत्कायभेद-पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्य-वैक्रियकाययोगौ-दारि ायोगौ-दारिकमिश्रकाययोग - वेदत्रय - कषायचतुष्क- केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्का-ऽज्ञानत्रिक-संयमसामान्य-सामायिकसंयम-देशविरता-ऽविरत-केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिक-लेश्यापट्क - भव्या-ऽभव्य- सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्व -संज्ञ्य-संज्ञ्या-हारकाख्यासु मार्गणास्वायुषोऽबन्धकानामन्तरं नास्ति । वैक्रियमिश्राद्येकादशमार्गणास्वायुर्बन्धविरहादबन्धकानां विचारप्रसरोऽपि नास्ति ॥२६३॥

तदेवमोघत आदेशतश्च नानाजीवाश्रयमन्तरं प्रतिपादितम् । तस्मिंश्च प्रतिपादिते समाप्तमन्तरद्वारम् ।

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे त्रयोदशमन्तरद्वारम् ॥



आयुर्वर्जानां बन्धकानां वेदनीयस्य चाऽबन्धकानामप्यन्तरस्य प्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतोऽष्टानामपि कर्मणां बन्धकाबन्धकानामन्तरं नास्ति (गाथा २५२)।

	आयुर्वर्जानां बन्धकानामन्तरम्								वेदनीयाबन्धकान्तरम्	
जघन्यम्	१ समय	६३ वर्षसहस्राणि	८४ वर्षसहस्राणि	१ समय	१ समय	१ समय	१ समय		१ समय	••
उत्कृष्टम्	६ मासा	१८ कोटीकोटीसागरा	१८ कोटीकोटीसागरा	पल्यासंख्यांश	१२ मुहूर्ता	वर्षपृथक्त्वम्	७ दिवसा	अन्तर नास्ति	६ मासा	अन्तर नास्ति
गति				अपर्याप्तमनुष्य				शेषा ४६	अपर्याप्तवर्जत्रिनरा ✻	
इन्द्रियम्				•••				सर्वा १९	पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ	•
काय	•		•					सर्वा ४२	त्रसपर्याप्तत्रसौ	
योग					वैक्रियमिश्र	आहारकद्विकम्		शेषा १५		
वेद	अवेद ★							शेषा ३		अवेद
कषाय								△ सर्वा ५		अकषाय
ज्ञानम्								△ सर्वा ८		केवलज्ञानम्
संयम	सूक्ष्मसम्प 卐	छेदोप०	परिहार०		•	•••		△ शेषा ५	संयमसा०यथा०	
दर्शनम्					•			△ सर्वा ४		केवलदर्शनम्
लेश्या								सर्वा ६		•
भव्य								भव्याभव्यौ २	भव्य	
सम्यक्त्वम्				मिश्र, सास्वाद०			औपशमि०	शेषा ४		सम्यक्त्वसा० क्षायिक०
संज्ञी	•						••	संज्ञ्यसंज्ञि० २		
आहारक								आहारानाहारौ २		अनाहार
सर्वा	१+१	१	१	३	१	२	१	१६३	१+९	७
गाथाङ्क	२५३,२५५	२५४,२५६	२५५ २५६	२५४,२५५	२५४,२५५	२५४ २५६	२५४२५६	२५२	२५८ २६०	२५७

★ नवरं वेदनीयस्य नास्ति। 卐 वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जानाम्। △ अकषाय-केवलद्विक-यथाख्यातेषु केवलस्य वेदनीयस्य। ✻ नवरमुत्कृष्टान्तरं मानुष्या वर्षपृथक्त्वम्। (गाथा २५८)

आयुषो बन्धकानां वेदनीयवर्जाना चाबन्धकानामन्तरस्य प्रदर्शकं यन्त्रम्

आदेशत. सर्वासु त्रय षष्ट्यधिकशतमार्गणास्वायुषोऽबन्धकानामन्तर वेदनीयबन्धकान्तरवद् योध्यम, नवर छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसयमयोर्जघन्यान्तर स्वयमूह्यम (२६३) ।

	वेदनीयायुर्वर्जाना षण्णामबन्धकानामन्तरम्				आयुषो बन्धकानामन्तरम्		
जघन्यम्		१ समय	१ समय	१ समय		१ समय	१ समय
उत्कृष्टम्	अन्तर नास्ति	वर्षपृथक्त्वम्	साधिकवर्षम्	६ मासा	अन्तर नास्ति	अन्तर्मुहूर्तम्	स्वयमूह्यम्
गति	अपर्याप्तवर्ज-त्रिनरा	..	.		तिर्यग्गतिसा०	पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्	शेषा ४४
इन्द्रियम्	पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ	...	..	...	* सर्वैकेन्द्रिया ७,	卐 ८ इन्द्रियभेदा	शेषा ४
काय	त्रसपर्याप्तत्रसौ	.			* ३४ कायभेदा	त्रस-पर्याप्तत्रसौ	शेषा ६
योग	मध्यमवर्जत्रि-मनो०त्रिवचो० काय औदारिक	औदारिक-मिश्र० कार्मण	.	मध्यमनो० मध्यमवचो०	काययोगऔदारिकद्विकम्	.	शेषा १३
वेदः	अवेद	..			नपुंसक		स्त्रीवेदपुंवेदौ २
कषाय				लोभ	कषाया ४		
ज्ञानम्		मनःपर्यव०	अवधिज्ञा०	मतिश्रुत०	अज्ञानद्विकम्	...	शेषा ५
संयम	संयमसा०	.		.	असंयम		शेषा ५
दर्शनम्		.	अवधिद०	चक्षुरचक्षु०	अचक्षुर्दर्शनम्	..	चक्षुरवधि० २
लेश्या	शुक्ला		.	..	अशुभास्तिस्र		शेषा ३
भव्य	भव्य				भव्याभव्यौ	..	.
सम्यक्त्वम्	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०	औपश०		..	मिथ्यात्वम्	...	शेषाः ४
संज्ञी				संज्ञी	असंज्ञी		संज्ञी १
आहारक	आहारक		.		आहारक		.
सर्वा	१३+९	४	२	१०	६२	१२	८९
गाथाङ्क	२५७ २५८	२५९ २६०	२५९,२६०	२५६,२६०	२६१	२६१ २६२	२६१,२६२

* पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय-बादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाया ऽप्कायसामान्य-सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय बादराप्काया-ऽपर्याप्तबादराप्काय-तेज कायसामान्य-सूक्ष्मतेज काय-पर्याप्तसूक्ष्मतेज काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेज काय-बादरतेज काया-ऽपर्याप्तबादरतेज काय-वायुकायसामान्य सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय-बादरवायुकाया--ऽपर्याप्तबादरवायुकाय-वनस्पतिकायसामान्य-सप्तनिगोदभेद-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायाख्या ।

卐 द्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय--चतुरिन्द्रिया--ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय--पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियाख्या ।

॥ अथ चतुर्दशं भावद्वारम् ॥

सम्प्रति भावद्वारस्याऽवसरः प्राप्तः । तत्रौघत आदेशतश्च निरयगत्यादिषु वर्तमानैर्जीवैर्मे- बन्धो येन भावेन भवति, तं निरूपयितुकामः प्राह—

बंधो ओदइएणं भावेणं अत्थि अट्ठकम्माणं ।
एमेव जाणियव्वो सप्पाउग्गाण सव्वासुं ॥२६४॥

(प्रे०) 'बंधो' इत्यादि, अष्टकर्मणामौदयिकभावेन बन्धोऽस्ति, 'एवमेव' यथौघतोऽष्ट- कर्मणां बन्ध औदयिकभावेन प्रतिपादितः, तथैव सर्वासु मार्गणासु 'स्वप्रायोग्याणा' तत्तन्मार्गणा- योग्यानां कर्मणामौदयिकभावेन बन्धो ज्ञातव्यः । इदमुक्तं भवति—विशिष्टहेतुभिः स्वभावतो वा जीवादीनां तत्तद्रूपतया भवनानि=भावाः, अथवा भवन्त्येभिरिति भावाः । ते चौपशमिक-क्षायिक- क्षायोपशमिकौ-दयिक-पारिणामिकाख्याः पञ्च भवन्ति । तत्र उपशमः=कर्मणोऽनुदयाक्षीणता- वस्था भस्माऽऽच्छादिताग्निवत्, स एव औपशमिकः, विनयादेराकृतिगणत्वात् "विनयादिभ्य' (सिद्धहेम० ७-२-१६९)इत्यनेन सूत्रेणेहोत्तरत्र च स्वार्थ इकण्प्रत्ययो भवति । यद्वा उपशम एव प्रयोजन- मस्येत्यौपशमिकः, "प्रयोजनम्" (सिद्धहेम० ६-४-११७) इत्यनेन सूत्रेणेहोत्तरत्र च इकण् प्रत्ययो भवति, अथवा यथोक्तस्वरूपेण उपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः, "तेन निर्वृत्ते च'(सिद्धहेम० ६-२-७१) इत्यनेन सूत्रेणेहोत्तरत्र च इकण् प्रत्ययः । असौ औपशमिकभावो द्विविधः, औपशमिकसम्यक्त्व- चारित्रभेदात् । क्षयः=कर्मणां सर्वथाऽपगमः, स एव वा, स वा प्रयोजनमस्य, तेन वा निर्वृत्तः क्षायिकः, स च नवविधः, केवलज्ञान-केवलदर्शन-क्षायिकसम्यक्त्व-चारित्र-दान-लाभ-भोगो-पभोगवीर्यभे- दात् । यथोक्तौ क्षयोपशमावेव वा, तौ वा प्रयोजनमस्य, ताभ्यां वा निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः, दर- विध्यातच्छन्नज्वलनवत् । असौ चाऽष्टादशप्रकारकः, मति श्रुता-ऽवधि मनःपर्यवज्ञाना-ऽज्ञानत्रिक- केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिक-सम्यक्त्व-देशविरति-सर्वविरति-दान-लाभ-भोगो-पभोग-वीर्यभेदात् । उदयः= ज्ञानावरणादीना कर्मणामात्मीयात्मीयस्वरूपेणाऽनुभवनम्, स एव वा, स वा प्रयोजनमस्य, तेन वा निर्वृत्त औदयिकः, स चैकविंशतिप्रकारकः, गतिचतुष्टय-कषायचतुष्क-वेदत्रय-मिथ्यात्वा-ऽज्ञाना-ऽ संयता-ऽसिद्धत्व-षड्लेश्याभेदात् । तेन तेन रूपेण वस्तूनां परिणमनं=भवन=परिणामः, स एव वा, स वा प्रयोजनमस्य, तेन वा निर्वृत्तः पारिणामिकः, स च त्रिविधः, जीवत्व-भव्यत्वा-ऽभव्यत्वादिभेदात् ।

ज्ञानावरणादीनां कर्मणां बन्धो मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषाय-योगलक्षणैर्हेतुभिर्भवति, यदुक्तं **पञ्चसंग्रहे**—"बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोगा य हेतवो भणिया ।" इति, **श्रीदेवेन्द्रसूरीश्वर- कृतषडशीतौ** च—"बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउहेऊ ।" इति । **तद्वृत्तावपि** "बन्धस्य= ज्ञानावरणादिकर्मबन्धस्य मूलहेतवश्चत्वार इति=अमुना प्रकारेण भवन्ति । केन प्रकारेण ? इत्याह—मिथ्या- त्वाऽविरतिकषाययोगा ××× ।" इति ।

तत्र मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषायाणामौदयिकभावत्वमौदयिकभावभेदाख्यानावसरे साक्षात् तेषां ग्रहणेनैवाविष्कृतम् । तथा योगस्याऽप्यौदयिकभावत्वमुपपद्यते, तस्य शरीरनामकर्मपरिणतिविशेषरूपत्वात्, यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रवृत्तौ परमाराध्यपादश्रीहरिभद्रसूरीश्वरैः-"स पुनर्योग शरीरनामकर्मपरिणतिविशेष ।" इति । न चौदयिकभेदाख्यानावसरे योग औदयिकभावत्वेन न गृहीतः, तत्कथं तस्यौदयिकत्वं वक्तुं शक्यते ? इति वाच्यम्, गत्यादीनामुपलक्षणमात्रत्वेनाऽन्येषां योगादीनामपि ग्रहणात् ❀ योगस्य च योगजनककर्मोदयनिर्वृत्तत्वेनौदयिकभावव्युत्पत्त्या सहाप्यविरोधात् । तेनाऽष्टानामपि कर्मणां बन्ध औदायिकभावेन भवति । एवं चाऽऽदेशतोऽपि निरयगत्यादिचतुःसप्तत्यधिकशतमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तकर्मणां निरयगत्यादित्रिषष्ट्यधिकशतमार्गणासु चायुष्कस्य बन्ध औदयिकेन भावेन भवति ॥२६४॥

सम्प्रत्योघतोऽष्टकर्मणामादेशतश्च सप्तकर्मणामबन्धो येन भावेन भवति, तं निरूपयिपुराह-

छण्हं अत्थि अबंधो उवसमिगेणं व खाइएणं वा ।
भावेणं विण्णेयो खइएणं चेव तइयस्स ॥२६५॥
आउस्सोदइएणं उवसमिगेणं खओवसमिगेणं ।
खइएण व जाणाउगवज्जाणत्थि जहि तहि सिमोघव्व ॥२६६॥(गीतिः)
णवरं उरालमीसे कम्माणाहारगेसु णायव्वो ।
भावेण खाइएणं उवसमिगेणं खलु उवसमे ॥२६७॥

(प्रे०) 'छण्हं' इत्यादि, 'षण्णां' वेदनीयायुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां षट्कर्मणामबन्ध औपशमिकेन वा क्षायिकेण वा 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य च क्षायिकेणैव भावेन विज्ञेयः । उपशमकानां सूक्ष्मसम्परायाणां मोहनीयस्योपशान्तमोहानां च वेदनीयायुर्वर्जानां षट्कर्मणामबन्ध औपशमिकभावेन भवति, तथा क्षपकाणां सूक्ष्मसम्परायाणा मोहनीयस्य क्षीणमोहप्रभृतिसिद्धपर्यवसानानां च वेदनीयायुष्कवर्जाना षण्णां कर्मणामबन्धः क्षायिकभावेन भवति । अयोगिकेवलिसिद्धानां वेदनीयस्याऽबन्धः क्षायिकभावेन भवति ।

"आउस्सो०" इत्यादि, आयुष्कस्याबन्ध औदयिकभावेन वा औपशमिकभावेन वा क्षायोपशमिकभावेन वा क्षायिकेण वा भावेन भवति । इदमत्र हृदयम्-मिथ्यादृष्ट्यादीना जीवानामायुषो यदा न भवति बन्धः, तदाऽस्य अबन्ध औदयिकेन भवति, मिश्रदृष्ट्यादीनां क्षायोपशमिकभावेना-

❀ उक्त च श्री जीवसमासवृत्तौ-"यद्येव तर्हि निद्रापञ्चकवेदनाहास्यरत्यरत्यादयोऽसिद्धत्वससारस्थत्वादयश्चाऽपरेऽपि कर्मोदयजन्या पर्याया जीवेषु बहव सन्ति, तेऽपि कस्मादिह नोक्ता ? सत्यम्, उपलक्षणमात्रत्वादमीपा सम्भविनोऽन्येऽपि द्रष्टव्या इति ।

ऽऽयुषोऽबन्धो भवति, उपशमश्रेणिगतानामौपशमिकभावेनाऽऽयुषोऽबन्धो भवति, क्षपकश्रेणिगतानां सयोगिकेवल्यादीनां चायुषोऽबन्धः क्षायिकभावेन भवति ।

सम्प्रति गत्यादिषु येन भावेनाऽऽयुर्वर्जकर्मणामबन्धो भवति, तं प्रतिपिपादयिषुराह–'जाणा०' इत्यादि, 'यत्र' यासु मनुष्यादिमार्गणासु 'यासाम्' आयुर्वर्जाना यासां ज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनामबन्धो भवति, तासु मार्गणासु तासां ज्ञानावरणादीनामबन्ध 'ओघवद्' ओघप्ररूपणाया येन भावेन प्रतिपादितः, तेनैव भावेन बोध्यः । अतिप्रसक्तिवारणायापवादमाह–'ओराल०' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणकाययोगमार्गणायामाहारकमार्गणाया च वेदनीयायुष्कवर्जानां कर्मणामबन्धः केवलेनैकेन क्षायिकेणैव भावेन भवति, न त्वौपशमिकेनाऽपि, तत्रोपशमश्रेणिविरहात् । औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामौपशमिकेन खलु भावेन वेदनीयायुष्कवर्जानां कर्मणामबन्धो भवति । भावार्थः पुनरयम्–मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रिसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय -त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपगतवेद-संयमसामान्य भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकमम्यक्त्वरूपद्वादशमार्गणासु वेदनीयायुर्वर्जानां कर्मणामबन्ध औपशमिकभावेन वा क्षायिक भावेन वा भवति, उक्तमार्गणासूभयोः श्रेण्योर्भावात् ,वेदनीयस्याऽबन्धस्तु क्षायिकेण भावेन भवति, अयोगिकेवलिसिद्धानां क्षायिकज्ञान-दर्शन-चारित्रादिक्षायिकभाववत्त्वात् । पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगमामान्यौ-दारिककाययोग मति श्रुता ऽवधि मनःपर्यवज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना- ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या सञ्ज्ञा-हारकरूपद्वाविंशतिमार्गणासु वेदनीयायुष्कवर्जाना कर्मणामबन्ध औपशमिकभावेन वा क्षायिकभावेन वा भवति,तत्रोभयोः श्रेण्योः सद्भावात् । औदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगमार्गणयोर्वेदनीयाऽऽयुष्कवर्जाना षण्णां कर्मणामबन्धः क्षायिकभावेन भवति, सयोगिकेवलिनां क्षायिकभाववत्त्वात् । अनाहारकमार्गणायामायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनामबन्धः क्षायिकभावेन जायते, अयोगिकेवलिसिद्धाना क्षायिकभाववत्त्वात् । लोभमार्गणायां मोहनीयस्याऽबन्ध औपशमिकेन वा क्षायिकेण वा भावेन भवति, तत्रोभयोः श्रेण्योर्भावात् । अकषाय-केवलज्ञान केवलदर्शनेषु वेदनीयस्याऽबन्धः क्षायिकभावेन भवति, अयोगिकेवलि-सिद्धाना क्षायिकभाववत्त्वात् । यथाख्यातसंयममार्गणायां वेदनीयस्याऽबन्धः क्षायिकभावेण भवति, अयोगिकेवलिना क्षायिकभाववत्त्वात् । औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां वेदनीयायुष्कवर्जानां कर्मणामबन्ध औपशमिकभावेन भवति, उपशमश्रेणौ जीवानामौपशमिकभाववत्त्वात् ॥२६५।२६६।२६७॥

सम्प्रति निरयगत्यादिमार्गणास्वायुषोऽबन्धो येन भावेन भवति, त प्रतिपादयन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं भावेण खलु जहसंभवमबधो ।
आउस्स मुणेयव्वो पदरिसिओहाणुसारेणं ॥२६८॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, निरयगत्यादिषु सर्वासु मार्गणास्वायुषोऽबन्धः 'प्रदर्शितौघानुमारेण' पट्षष्ट्यधिकद्विशततमगाथाप्रदर्शितसामान्यप्ररूपणानुसारेण यथासभवं भावेन ज्ञातव्यः ।

अयं भावः—औदयिकादयो भावा मोहनीयोदयक्षयादिनिमित्तकास्तदितरकर्मोदयक्षयादिनिमित्तकाश्च भवन्ति, तेऽत्राऽबन्धप्रकरणे मोहनीयकर्मण उदयाद्यपेक्षया परिभावनीयाः । इह सप्ततितमगाथाप्रभृतिवृत्त्यामायुषो येऽबन्धकाः प्रोक्ताः, तान् आश्रित्य निरयगत्यादिमार्गणासु वर्तमानानां जीवानां मोहनीयोदय-क्षयो-पशम-क्षयोपशमापेक्षयौदयिकादिभावेनाऽऽयुषोऽबन्धः प्रतिपादनीयः ॥२६८॥

तदेवमोघत आदेशतश्च बन्धाबन्धयोर्भावाः समर्थिताः, तेषु च समर्थितेषु समाप्तं भावद्वारम् ।

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे चतुर्दशं भावद्वारम् ॥

बन्धाबन्धभावप्रदर्शियन्त्रम्

ओघत आदेशतश्चाऽष्टानामपि कर्मणा वन्ध औदयिकभावेन भवति (गाथा २६४), ओघत षण्णामबन्ध औपशमिकेन वा क्षायिकेण वा, वेदनीयस्याबन्ध क्षायिकेण, आयुषश्चाबन्ध औदयिकेन वा औपशमिकेन वा क्षायोपशमिकेन वा क्षायिकेण वा भावेन भवति (गाथे २६५,२६६) ।

आयुर्वर्जाना कर्मणामबन्धः

भावेन	क्षायिकेण	औपशमिकेन	ओघवत्
गति			अपर्याप्तवर्जत्रिमनुष्यभेदा
इन्द्रियम्			पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ
काय			त्रस-पर्याप्तत्रसौ
योग	*औदारिकमिश्र कार्मण	..	* पञ्चमनोयोगा पञ्चवचनयोगा काययोग औदारिक.
वेद			अपगतवेद
कषाय	★अकषाय		लोभ 卐
ज्ञानम्	★ केवल ज्ञानम्		* केवलज्ञानवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि
संयम	★यथाख्यात		संयमसामान्यम् ,
दर्शनम्	★केवलदर्शनम्		* केवलदर्शनवर्जानि त्रीणि दर्शनानि
लेश्या			* शुक्ला
भव्य			भव्य
सम्यक्त्वम्		* औपशमिकम्	सम्यक्त्वसामान्यम् क्षायिकम्
संज्ञी		.	* संज्ञी
आहारक	अनाहारक		* आहारक
सर्वा	७	१	३५
गाथाङ्क	२६७,२६८	२६८	२६७

★ वेदनीयस्य । 卐 मोहनीयस्य । * वेदनीयायुष्कवर्जानाम् ।

॥ अथ पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

सम्प्रति "अप्पाबहुअ" इत्यनेनोद्दिष्टस्य प्रथमाधिकारगतस्याल्पबहुत्वाख्यचरमद्वारस्याऽवसरः। तत्राऽल्पबहुत्वं द्विविधम्, स्वस्थान परस्थानभेदात्। विवक्षितप्रकृतेर्बन्धका ऽबन्धकानां मिथः स्तोकबहुत्वचिन्तनं स्वस्थानाल्पबहुत्वविचारणं नाम। यथासंभवमनेकासां प्रकृतीनां बन्धकाबन्धकानां मिथः स्तोकप्रभूतत्वविचारणं परस्थानाल्पबहुत्वविमर्शन नाम। एकैकमल्पबहुत्वं पुनर्द्विविधम्, ओघाऽऽदेशभेदात्। इह तावदादा ओघतः स्वस्थानाल्पबहुत्वमाह—

णेया अबंधगाओ सत्तण्हं बंधगा अणंतगुणा।
आउस्स बंधगाओ अबंधगा हुन्ति संखगुणा ॥२६९॥

(प्रे०) '**णेया**' इत्यादि, 'सप्तानाम्' आयुर्वर्जज्ञानावरणादीनां सप्तप्रकृतीनामबन्धकेभ्यो बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति। कुतः? इति चेत्, उच्यते–**भागद्वारे** सप्तकर्मणामबन्धका अनन्तभागमात्राः प्रतिपादिताः, बन्धकास्तु बह्वनन्तभागप्रमाणा निरूपिताः। तेन सप्तकर्मणामबन्धकाः स्तोका भवन्ति, तेभ्यो बन्धका अनन्तगुणाः।

'**आउस्स**' इत्यादि, आयुषो बन्धकेभ्योऽबन्धकाः संख्येयगुणाः, **भागद्वारे** बन्धकानां संख्येयभागमात्रत्वप्रतिपादनादबन्धकानां च बहुसंख्येयभागप्रमाणत्वोपदेशात् ॥२६९॥

सम्प्रत्यादेशत आयुष्कवर्जानां प्रकृतीनां बन्धकाबन्धकानां स्वस्थानाऽल्पबहुत्वमाह—

जत्थाउगवज्जाणं जाण खलु अबंधगा-ऽत्थि तत्थ तओ।
सिं बंधगा हवन्ते मग्गणबंधगपमाणगुणा ॥२७०॥
णवरं अणंतगुणिआ अबन्धगा बन्धगाउ णायव्वा।
गयवेए अकसाये केवलदुगसम्मखइएसु ॥२७१॥

(प्रे०) '**जत्था०**' इत्यादि, 'यत्र' यासु मनुष्यगतिसामान्यादिषु मार्गणासु यासां ज्ञानावरणादिप्रकृतीना खल्वबन्धकाः सन्ति, तासु मार्गणासु तासा प्रकृतीनां 'ततः' अबन्धकतो बन्धका 'मार्गणाबन्धकप्रमाणगुणाः' मार्गणाया=तत्तन्मार्गणाया यद् बन्धकप्रमाण सख्याऽसख्याऽनन्तानामन्यतमं प्राग् एकोननवत्यधिकशततमगाथा-नवत्युत्तरशततमगाथारूपगाथाद्वयाऽभिहितम्, तद्गुणा भवन्ति। इह मार्गणाबन्धकप्रमाणशब्देन सामान्यपरिमाण सख्येयाऽसख्येया-ऽनन्तानामन्यतम यथायोग्य ग्राह्यम्, न तु विशेषपरिमाणम्, उत्कृष्टतोऽबन्धकस्यैकत्वप्रसङ्ग एव बन्धकाना विशेषपरिमाणगुणत्वसभवात्। तथाहि–यथाख्यातसयममार्गणाया वेदनीयस्य बन्धकाः कोटिपृथक्त्व मात्रा भवन्ति, अयोगिकेवलिनश्च तदबन्धका भवन्ति' यद्ययोगिकेवलिना सख्या उत्कृष्टपदेऽप्येको

भवेद्, तदा बन्धकपरिमाणगुणाः (कोटिपृथक्त्वगुणाः) बन्धकाः स्युः । न चैवमस्ति, उत्कृष्टतो-ऽयोगिकेवलिनां संख्येयत्वात् । एवमन्यत्रा-ऽपि बोध्यम् ।' तेन सामान्यपरिमाणमविक्रम्य सख्येयगुणा असंख्येयगुणा अनन्तगुणा वाऽबन्धकेभ्यो बन्धका वाच्याः ।

सामान्येना-ऽतिदिश्या-ऽतिप्रसक्ति वारयितुकामो-ऽपवादमाह–'णवरं' इत्यादि, नवरं 'गतवेदे' अपगतवेदमार्गणायामकषायमार्गणायां केवलद्विक-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु सर्वसंख्यया पञ्चमार्गणासु स्वप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धकेभ्योऽबन्धका अनन्तगुणिता ज्ञातव्याः, न त्वतिदेशप्राप्ता अबन्धकेभ्यो बन्धका अनन्तगुणाः ।

भावार्थः पुनरयम्–मनुष्यगतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायलक्षणासु पञ्चसु मार्गणासु सप्तकर्मणां प्रत्येकमबन्धकाः स्तोका भवन्ति, असंख्यातभागमात्रत्वात् । तेभ्यो बन्धका असंख्येयगुणाः, **भागद्वारे**–"णरदुपणिंदितसेसु सत्तण्ह बधगा असखसा" इत्यनेन तेषां बह्वसख्येयभागमात्रत्वप्रतिपादनात् ।

पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-संयममार्गणासु सप्तकर्मणां प्रत्येकमबन्धका अल्पाः, संख्येयभागमात्रत्वात् । तेभ्यो बन्धकाः संख्येयगुणाः, **भागद्वारे** "दुमणुस्ससजमेसु सखियभागा मुणेयव्वो ।।" इत्यनेन तेषां बहुसंख्येयभाग णत्वनिरूपणात् ।

पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्यौपशमिकसम्यक्त्व-सञ्ज्ञिरूपास्वष्टादशमार्गणासु वेदनीयस्याऽबन्धाभावादायुर्वर्जानां च प्रस्तुतत्वाद् वेदनीयायुष्कवर्जानां षण्णां प्रकृतीनामबन्धकाः स्तोका भवन्ति, असंख्येयभागमात्रत्वात्तेषाम् । तेभ्यो बन्धका असख्येयगुणाः, **भागद्वारे**–'पणमणवयजोगेसु तिणाणणयणोहिसुक्कुवसमेसु । सण्णिम्मि असखसा छण्ह तइअस्स भागो णो ।" इत्यनेन तेषां बह्वसख्येयभागमात्रत्वप्रतिपादनात् ।

काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग कार्मणकाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽऽहारकरूपासु षट्मार्गणासु वेदनीयायुष्कवर्जानां षण्णां कर्मणामबन्धकाः स्तोकाः, अनन्ततमभागमात्रत्वात् । तेभ्यो बन्धका अनन्तगुणाः, **भागद्वारे**–"कायउरलदुगकम्मणअचक्खुआहारगेसु भागो ण । तइअस्स बधगा खलु णेया छण्ह अणतसा ।" इति गाथया तेषां बह्वनन्तभागमात्रत्वप्ररूपणात् ।

संज्वलनलोभमार्गणायां मोहनीयस्याबन्धकाः स्तोकाः, अनन्तभागमात्रत्वात् । तेभ्यो बन्धका अनन्तगुणाः, **भागद्वारे**–"लोहे छण्ह ण भागो अणतभागोऽत्थि मोहस्स ।" इत्यनेन बह्वनन्तभागमात्रत्वप्रतिपादनात् ।

यथाख्यातसंयममार्गणायां वेदनीयस्याऽबन्धकाः स्तोकाः, संख्येयभागमात्रत्वात् । तेभ्यो बन्धकाः संख्येयगुणाः, **भागद्वारे**–"तइअस्स अहक्खाये सखसा बधगा ।" इत्यनेन बहुसंख्येयभागप्रमाणत्वप्रतिपादनात् ।

मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां षट्कर्मणामबन्धका अल्पाः, संख्येयभागमात्रत्वात् । तेभ्यो बन्धकाः संख्येयगुणाः, **भागद्वारे**—"मणणाणे सखसा छण्ह तइअस्स भागो ण ।" इत्यनेन बन्धकानां बहुसंख्येयभागमात्रत्वप्रतिपादनात् ।

भव्यमार्गणा-ऽनाहारकमार्गणयोः प्रत्येकमायुर्वर्जसप्तकर्मणामबन्धकाः स्तोकाः, अनन्ततमभागमात्रत्वात् , तेभ्यो बन्धका अनन्तगुणाः, **भागद्वारे**—'×××बंधगा अणंतसा । भवियाणाहारेसु ××× ।''इत्यनेन तेषां बह्वनन्तभागमात्रत्वकथनात् । अपगतवेद-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तकर्मणां बन्धकाः स्तोकाः,सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वयोरसंख्येयत्वादपगतवेदमार्गणायां च संख्येयत्वात् । तेभ्यो ऽबन्धका अनन्तगुणाः, सिद्धानामप्यबन्धकत्वेनोपलम्भात् तेषां चाऽनन्तत्वात् ।

अकषायमार्गणा-केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपासु तिसृषु मार्गणासु वेदनीयस्य बन्धकाः स्तोका भवन्ति, संख्येयत्वात् तेषाम् । तेभ्यो-ऽबन्धका अनन्तगुणाः, यतस्तासु मार्गणासु वेदनीयस्या-ऽबन्धका अनन्ताः **परिमाणद्वारे** निरूपिताः, **अक्षराणि त्वेवम्**—"गयवेए अकसाये केवलदुगसम्मखइअणाहारे । सप्पाउग्गाणाउगवज्जाण अबंधगाऽणंता ॥" इति ।

तदेवं भणितं त्रयश्चत्वारिंशन्मार्गणास्वायुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणां कर्मणो बन्धका-ऽबन्धकानां स्वस्थानाल्पबहुत्वम् । शेषासु मार्गणास्वबन्धकाभावाद् नास्ति स्वस्थाना-ऽल्पबहुत्वम् ॥२७०,२७१॥

सम्प्रति त्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वायुषो बन्धकाबन्धकानां स्वस्थानाल्पबहुत्वं गाथाद्वयेन प्राह—

दुइआइछणिरयेसुं छवीसजोइससुराइभेएसुं ।
णाणतिगे देसावहिपउमसुइलवेअगेसु सासाणे ॥२७२॥ (गीतिः)
आउस्स असंखगुणा अबंधगा बंधगाउ सम्मत्ते ।
खइए य अणंतगुणा हवन्ति सेसासु संखगुणा ॥२७३॥

(प्रे०) '**दुइआ०**' इत्यादि, '**द्वितीयादिषड्निरयेषु**' शर्कराप्रभाप्रभृतिमहातमःप्रभापर्यवसानेषु षट्सु निरयेषु '**षड्विंशतिज्योतिष्कसुरादिभेदेषु**' 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्" इति न्यायेन ज्योतिष्कसौधर्मप्रभृत्यपराजितपर्यन्तेषु षड्विंशतिसुरभेदेषु ज्ञानत्रिके=मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानरूपे मार्गणात्रये देशे=देशविरतमार्गणास्थानेऽवधिदर्शने पद्मलेश्या-शुक्ललेश्ययोः, वेदके=क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायाञ्चाऽऽयुषो बन्धकेभ्योऽबन्धका असंख्यगुणाः, कुतः ? इति चेत् , उच्यते—एतासु मार्गणास्वायुर्बन्धका असंख्येयभागमात्राः "दुइआइछणिरयेसु जोइसपहुडिच्छवीसदेवेसु । णाणतिगे तह देसे, ओहिपउमसुक्कले-

सासु ॥ वेअगसासाणेसु असंखभागोत्थि बंधगाउस्स ।" इत्यनेन **भागद्वारे** निरूपिताः, अनन्धकास्तु बहुसंख्येयभागप्रमाणाः । तेनायुषो बन्धकेभ्यो-ऽबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति ।

'सम्मत्ते' इत्यादि, "आउस्स अबंधगा बंधगाउ' इत्यत्रा ऽपि सम्बध्यते, एवमग्रे-ऽपि सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां चाऽऽयुषो बन्धकेभ्यो-ऽबन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, **भागद्वारे** "सम्मखइग्सु उ अणंतसो" इत्यनेन बन्धकानामनन्ततमभागमात्रत्वप्रतिपादनादबन्धकानां च बह्वनन्तभागप्रमाणत्वनिरूपणात् ।

'सेसा' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु विंशत्यधिकशतमार्गणास्वायुषो बन्धकेभ्यो-ऽबन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, बन्धकानां संख्येयभागप्रमाणत्वादबन्धकानां च बहुसंख्येयभागमात्रत्वात् ॥२७२,२७३॥

सम्प्रत्योघतः परस्थाना-ऽल्पबहुत्वमाह—

तइअस्स हुन्ति थोवा अबंधगा तो विसेसअब्भहिया ।
पंचण्हं ताहिन्तो मोहस्स विसेसअब्भहिया ॥२७४॥
ताओ अणंतगुणिआ आउस्स उ बंधगा मुणेयव्वा ।
तत्तो संखेज्जगुणा अबंधगा तस्स बोद्धव्वा ॥२७५॥
तो मोहस्स हवन्ते अब्भहिया बंधगा तओऽब्भहिया ।
पंचण्हं ताहिन्तो विसेसअहियात्थि वेअस्स ॥२७६॥

(प्रे०) **'तइअस्स'** इत्यादि, 'तृतीयस्य' वेदनीयस्याऽबन्धकाः स्तोका भवन्ति, सिद्धानामयोगिकेवलिनां चाऽबन्धकत्वात् । 'ततो' वेदनीयाबन्धकेभ्यो विशेषाभ्यधिकाः 'पञ्चानां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा ऽन्तरायाणां प्रत्येकमबन्धका भवन्ति, उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । विशेषश्चाऽत्रा-ऽनन्ततमभागो बोद्धव्यः, उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिना सिद्धानन्तभागकल्पत्वात् । 'तेभ्यः' पञ्चानामबन्धकेभ्यो 'मोहस्य' मोहनीयकर्मणोऽबन्धका 'विशेषाधिकाः' अनन्तभागेनाधिकाः, सूक्ष्मसम्परायाणामपि तदबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । 'तेभ्यः' मोहनीया-ऽबन्धकेभ्य आयुषो बन्धका अनन्तगुणिता ज्ञातव्याः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते—परिमाणप्राधान्याद् मोहनीयाबन्धकाः सिद्धजीवाः, आयुषो बन्धकास्तु वनस्पतिकायिकानां संख्येयभागमात्राः, सिद्धजीवेभ्यश्च वनस्पतिकायिका अनन्तगुणा भवन्ति, तेन मोहनीयाऽबन्धकेभ्य आयुषो बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति । 'तेभ्यः' आयुषो बन्धकेभ्यः 'तस्य' आयुषो-ऽबन्धकाः संख्येयगुणा बोद्धव्याः, बन्धकानां संख्येयभागमात्रत्वादबन्धकानां च बहुसंख्येयभागप्रमाणत्वात् । **'तो'** इत्यादि, 'तेभ्यः' आयुषो-ऽबन्धकेभ्यो मोहस्य बन्धका

'अभ्यधिकाः' संख्येयभागेनाऽधिका भवन्ति, कुतः ? चेत्, उच्यते-आयुषो ये बन्धका उक्ताः, ते सर्वे-ऽपि मोहनीयस्य बन्धकाः, आयुषि बध्यमाने शेषाणां सप्तानामपि कर्मणां बन्धात्। ये त्वायुषोऽबन्धकाः प्रतिपादिताः, तेभ्यः सूक्ष्मसम्परायो-पशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-सिद्धेषु विशोधितेषु ये शेषाः, ते सर्वे आयुषो-ऽबन्धकाः सन्तो मोहनीयस्य बन्धका भवन्ति। सूक्ष्मसम्पराय-प्रभृतिसिद्धान्ताश्च जीवा आयुष्कबन्धकराश्यनन्तभागमात्राः, तेन सूक्ष्मसम्परायप्रभृतिसिद्धपर्यवसान-राशिरूपाऽनन्ततमभागन्यून आयुष्काऽबन्धकराशा आयुष्कबन्धकराशिः प्रक्षिप्यते, तदा मोहनीयबन्ध-कराशिलभ्यत इति कृत्वाऽऽयुषोऽबन्धकेभ्यो मोहनीयस्य बन्धकाः संख्येयभागेनाऽधिका भवन्ति। 'ततः' मोहनीयबन्धकतः 'पश्चानां' वेदनीयस्य वक्ष्यमाणत्वान्मोहनीयायुषोरुक्तत्वाद् ज्ञानावरण-दर्शनावरण नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेना-ऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्प-रायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात्। 'तेभ्यः' पञ्चानां ज्ञानावरणादीनां बन्धकेभ्यो 'वेद्यस्य' वेदनीयस्य बन्धका 'विशेषाधिकाः' अनन्ततमभागेना-ऽभ्यधिकाः सन्ति, उपशान्तमोह- क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२७४,२७५,२७६॥

सम्प्रत्यादेशतो निरयगत्यादिमार्गणासु परस्थानाल्पबहुत्वं चिकथयिषुराह—

> दुइआइछणिरयेसुं छवीसजोइससुराइभेएसुं ।
> देसम्मि य पउमाए वेअगसासायणेसुं च ॥२७७॥
> आउस्स बंधगाऽप्पा तो तस्स अबंधगा असंखगुणा ।
> ताओ विसेसअहिया सत्तण्हं बंधगा णेया ॥२७८॥

(प्रे०) 'दुइआइ०' इत्यादि, 'द्वितीयादिषड्निरयेषु' शर्कराप्रभाख्यद्वितीयनरकपृथ्वीप्रभृति-महातमःप्रभाख्यसप्तमनरकपृथिवीपर्यवसानषड्निरयभेदेषु 'षड्विंशतिज्योतिष्कसुरादिभेदेषु' ज्योतिष्कसौधर्मप्रभृत्यपराजितपर्यवसानेषु सुरमार्गणास्थानेषु 'देशे' देशविरतमार्गणायां पद्मलेश्यायां 'वेदकसास्वादनयोः' क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादनमार्गणयोश्च सर्वसंख्यया षट्त्रिंशन्मार्गणा-स्वायुषो बन्धका अल्पाः, असंख्येयभागमात्रत्वात्। 'ततः' आयुषो बन्धकेभ्यः 'तस्य' आयुषोऽबन्धका असख्यगुणाः, बह्वसख्येयभागमात्रत्वात्। 'तेभ्यः' आयुषोऽबन्धकेभ्यः 'सप्तानाम्' आयुर्वर्जाना ज्ञानावरणादीनां प्रत्येक बन्धका 'विशेषाधिकाः' असंख्येयभागेनाऽभ्यधिका ज्ञेयाः, आयुषो बन्धकानां तत्र प्रक्षेपात् ॥२७७,२७८॥

सम्प्रति मनुष्यगत्यादिमार्गणासु परस्थानाल्पबहुत्वमाह—

> णरदुपणिंदितसेसुं तइअस्स अबंधगा मुणेयव्वा ।
> सव्वप्पा ताहिन्तो हवेज्ज पंचण्ह संखगुणा ॥२७९॥

ताहिन्तो अब्भहिया मोहस्स तओ असंखियगुणाऽत्थि ।
आउस्स बंधगा तो अबंधगा तस्स संखगुणा ॥२८०॥
तो मोहस्स हवन्ते अब्भहिया बंधगा तओ णेया ।
पंचण्हं अब्भहिया ताओ तइअस्स अब्भहिया॥२८१॥

(प्रे०) 'णर०' इत्यादि, नरे=मनुष्यगतिमार्गणायां द्विशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिययोः, द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाययोश्च सर्वसंख्यया पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं 'तृतीयस्य' वेदनीयस्याऽबन्धकाः सर्वाल्पा ज्ञातव्याः, अयोगिकेवलिनामबन्धकत्वेन शतपृथक्त्वमात्रत्वात् । 'तेभ्यः' वेदनीयाऽबन्धकेभ्यः 'पञ्चानां' वेदनीयायुष्कमोहनीयवर्जानां प्रत्येकमबन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामबन्धकत्वेन कोटिपृथक्त्वमात्रत्वात् । 'तेभ्यः' पञ्चानामबन्धकेभ्यो मोहस्याऽबन्धका 'अभ्यधिकाः' संख्येयभागेना-ऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामप्यबन्धकत्वेन तेषा तत्र प्रक्षेपात् । 'ततः' मोहस्या-ऽबन्धकेभ्य आयुषो बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति, पूर्वोक्तपदस्य संख्यातराशिकत्वादस्य चाऽसंख्येयराशिकत्वात् । अयं भावः—इह मुकुलितभणनेऽपि परिमाणभेदसत्त्वात् गुणकारः पृथक् पृथग् बोद्धव्यः—मनुष्यमार्गणायां श्रेण्यसंख्येयभागः, पञ्चेन्द्रियत्रसकायरूपमार्गणाद्विकेऽङ्गुलाऽसख्येयभागभाजितप्रतरमात्रः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियपर्याप्तत्रसकाययोश्चाऽङ्गुलसख्येयभागविभक्तप्रतरप्रमाण इति । 'ततः' आयुषो बन्धकेभ्यः 'तस्य' आयुषोऽबन्धकाः संख्येयगुणाः, भागद्वारे बन्धकानां संख्येयभागमात्रत्वप्रतिपादनादबन्धकानां च बहुसंख्येयभागप्रमाणत्वनिरूपणात् । 'ततः' आयुष्काऽबन्धकेभ्यो मोहस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' सख्येयभागेना-ऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यवसानराशिलक्षणा-ऽसंख्येयभागन्यूनायुष्काऽबन्धकराशा आयुष्कबन्धकराशेः प्रक्षेपेण मोहनीयबन्धकराशेरुपलब्धेः । 'ततः' मोहनीयबन्धकेभ्यः 'पञ्चानां' वेदनीयायुष्कमोहनीयवर्जानां प्रकृतीनां बन्धका 'अभ्यधिकाः' असख्येयभागेना-ऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् तेषां चा-ऽसंख्येयभागमात्रत्वात् । 'तेभ्यः' पञ्चानां बन्धकेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' असंख्येयभागेनाऽधिका भवन्ति, उपशान्तमोहप्रभृतिसयोगिकेवलिपर्यवसानानां जीवानामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात्, तेषां चाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् ॥२७९,२८०,२८१॥

सम्प्रति पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-संयममार्गणासु परस्थानाल्पबहुत्वं निजिगदिषुराह—

तइअस्स पज्जम ए मणुसीए संजमे य सव्वप्पा ।
णेया अबंधगा तो संखगुणा पंचकम्माणं ॥२८२॥

तो मोहस्स हवन्ते अब्भहिया ताउ हुन्ति संखगुणा ।
आउस्स बंधगा तो अबंधगा तस्स संखगुणा ॥२८३॥
तो मोहस्स हवन्ते अब्भहिया बंधगा तओ णेया ।
पंचण्हं अब्भहिया तत्तो तइअस्स अब्भहिया ॥२८४॥

(प्रे०) 'तइअस्स' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्यमार्गणायां मानुषीमार्गणास्थाने संयममार्गणाभेदे च 'तृतीयस्य' वेदनीयस्याऽबन्धकाः सर्वाल्पा ज्ञातव्याः, अयोगिकेवलिनामबन्धकत्वात् । 'ततः' वेदनीया-ऽबन्धकेभ्यः पञ्चकर्मणां प्रत्येकमबन्धकाः संख्येयगुणाः, उपशान्तमोहप्रभृतिसयोगिकेवलि-पर्यन्तानामप्यबन्धकत्वात् । 'ततः' पञ्चानामबन्धकेभ्यो मोहस्याऽबन्धका 'अभ्यधिकाः' संख्येय-भागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । 'तेभ्यः' मोहनीया-बन्धकेभ्य आयुषो बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति । 'तेभ्यः' आयुषो बन्धकेभ्यः 'तस्य' आयुषो-ऽबन्धकाः सख्येयगुणाः, आयुषो बन्धकानां संख्येयभागमात्रत्वादबन्धकानां च बहुसख्येय-भागप्रमाणत्वात् । 'ततः' आयुषो-ऽबन्धकेभ्यो मोहस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' सख्येयभा-गेना-ऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यवसानजीवराशिलक्षणसंख्येय-भागन्यूनायुष्काऽबन्धकराशा आयुष्कबन्धकराशेः प्रक्षेपेण मोहनीयबन्धकराशेरुपलब्धेः । 'ततः' मोहनीयबन्धकेभ्यः 'पञ्चानां' वेदनीयायुष्कमोहनीयवर्जानां बन्धका 'अभ्यधिकाः' सख्येयभागेना-ऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । 'ततः' पञ्चाना बन्धकेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका विशेषाधिका भवन्ति, उपशान्तमोहप्रभृतिसयोगिकेवल्यन्तानां बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२८२,२८३,२८४॥

सम्प्रति मनोयोगादिद्वादशमार्गणासु परस्थानाल्पबहुत्वमाह—

पणमणवयणयणेसुं सण्णिम्मि अबंधगा मुणेयव्वा ।
पंचण्हं सव्वप्पा एत्तो उड्ढं णरव्व भवे ॥२८५॥

(प्रे०) 'पण०' इत्यादि, पञ्चसु मनोयोगेषु पञ्चसु वचनयोगेषु नयने=चक्षुर्दर्शनमार्गणायां संज्ञिमार्गणायां च 'पञ्चानां' वेदनीयाबन्धकाऽसभवाद् मोहनीयायुषोश्चातिदेशेन निरूपणीयत्वाद् ज्ञानावरण दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामबन्धकाः सर्वाल्पा ज्ञातव्याः, मध्यममनोयोगद्वय-मध्यमवचनयोगद्वय-चक्षुर्दर्शन संज्ञिरूपासु षट्सु मार्गणासूपशान्तमोह क्षीणमोहानामबन्धकत्वात् त्रिमनोयोग-त्रिवचनयोगेषु चोपशान्तमोहप्रभृतिसयोगिकेवल्यन्तानामबन्धकत्वात् । इत ऊर्ध्वं लाघवार्थमतिदिशति—'एत्तो' इत्यादि, इत ऊर्ध्वं 'नरवत्' मनुष्यमार्गणावत्, यथा मनुष्य-मार्गणायामशीत्युत्तरद्विशततमगाथैकाशीत्यधिकद्विशततमगाथारूपगाथाद्वयेन परस्थानाल्प-

अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यो वेदनीयस्य बन्धका अनन्तभागेनाऽधिकाः, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायामुपशान्तमोहक्षीणमोहानामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् , शेषमार्गणासु चोपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२८६॥

सम्प्रत्यौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां परस्थानाऽल्पबहुत्वमाह—

ओरालमीसजोगे सव्वत्थोवा अबंधगा छण्हं ।
ताओ अणंतगुणिआ बोद्धव्वा बंधगाउस्स ॥२८७॥
तत्तो अबंधगा से संखगुणा ताउ बधगाऽब्भहिया ।
छण्हं कम्माण तओ हवेज्ज तइअस्स अब्भहिया ॥२८८॥

(प्रे०) 'ओराल०' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणाया 'षण्णां' वेदनीयायुष्करहितानां ज्ञानावरणादीनामबन्धकाः सर्वस्तोकाः, तत्र समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनामबन्धकत्वात् । तेभ्योऽनन्तगुणिता आयुषो बन्धका बोद्धव्याः, वनस्पतिकायिकादीनां तद्बन्धात् । तेभ्यः 'तस्य' आयुषोऽबन्धकाः संख्येयगुणाः, आयुषो बन्धकानां सख्येयभागमात्रत्वादबन्धकानां च बहुसंख्येयभागप्रमाणत्वात् । तेभ्यः 'षण्णा' वेदनीयायुष्कवर्जानां कर्मणां बन्धका 'अभ्यधिकाः' सख्येयभागेनाधिका भवन्ति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिराशिप्रमाणेनाऽनन्तभागेन न्यून आयुष्काबन्धकराशा आयुष्कबन्धकराशिप्रक्षेपेण षट्कर्मबन्धकराशेरुपलब्धेः । 'ततः' षण्णां बन्धकेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, समुद्घातगतसयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२८७,२८८॥

सम्प्रति कार्मणकाययोगमार्गणायां परस्थानाऽल्पबहुत्वमाह—

कम्मे छण्हं थोवा अबंधगा ताउ बंधगा तासिं ।
होअन्ति अणंतगुणा तत्तो तइअस्स अब्भहिया ॥२८९॥

(प्रे०) 'कम्मे' इत्यादि, 'कार्मे' कार्मणकाययोगमार्गणायां 'षण्णां' वेदनीयायुष्कवर्जानां प्रकृतीनां प्रत्येकमबन्धकाः स्तोका भवन्ति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलित्वात् । तेभ्यः 'तासां' वेदनीयायुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीना षण्णां प्रकृतीना बन्धका अनन्तगुणाः, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनो विना मार्गणागतानां सर्वेषां वनस्पतिकायिकादीनां तद्बन्धकत्वात् । तेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन तेषा तत्र प्रक्षेपात् ॥२८९॥

साम्प्रतमपगतवेदमार्गणाया परस्थानाऽल्पबहुत्वमाह—

मोहस्स बंधगाऽप्पा अवगयवेअम्मि हुन्ति ताहिन्तो।
पंचण्हं अब्भहिया ताओ तइअस्स संखगुणा ॥२९०॥
ताउ अणंतगुणा से अबंधगा ताउ होअन्ते।
पंचण्हं अब्भहिया तत्तो मोहस्स अब्भहिया ॥२९१॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) 'मोहस्स' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणास्थाने मोहस्य बन्धका अल्पा भवन्ति, अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानसंख्येयभागवर्तित्वात्। तेभ्यः 'पञ्चानां' वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जानां कर्मणां बन्धका 'अभ्यधिकाः' विशेषाधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धकाः संख्यगुणा भवन्ति, पूर्वपदेऽनिवृत्तिबादरसम्परायसूक्ष्मसम्परायजीवानां प्रवेशेन परिमाणतः शतपृथक्त्वप्रमाणत्वाद् इह चोपशान्तमोह-क्षीणमोहसयोगिकेवलिनामन्तःपतितत्वेन कोटिपृथक्त्वमात्रत्वात्। तेभ्यः 'तस्य' वेदनीयस्याऽबन्धका अनन्तगुणाः, अयोगिकेवलिसिद्धानामबन्धकत्वात् सिद्धानां चाऽनन्तत्वात्। तेभ्यः 'पञ्चानां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां प्रत्येकमबन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेना-ऽधिका भवन्ति, उपशान्तमोह क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यो मोहस्याऽबन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२९०,२९१॥

सम्प्रति लोभमार्गणायां परस्थाना-ऽल्पबहुत्वमाह—

लोहे सव्वत्थोवा मोहस्स अबन्धगा मुणेयव्वा।
तत्तो अणंतगुणिआ णायव्वा बंधगाउस्स ॥२९२॥
तत्तो अबन्धगा से संखगुणा ताउ बन्धगा-ऽब्भहिया।
मोहस्स तओ-ऽब्भहिया हुन्ति विसेसाहिया छण्हं ॥२९३॥

(प्रे०) 'लोहे' इत्यादि, लोभमार्गणायां मोहस्याऽबन्धकाः सर्वस्तोका ज्ञातव्याः, सूक्ष्मसम्परायाणामबन्धकत्वात् तेषां च शतपृथक्त्वमात्रत्वात्। तेभ्य आयुषो बन्धका अनन्तगुणिता ज्ञातव्याः, वनस्पतिकायिकादीनामायुर्बन्धकत्वाद् वनस्पतिकायिकानां चानन्तत्वात्। तेभ्यः 'तस्य' आयुष एवाऽबन्धकाः संख्यगुणाः, आयुष्कबन्धकानां संख्येयभागप्रमाणत्वादबन्धकानां च बहुसंख्येयभागकल्पत्वात्। तेभ्यो मोहनीयस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' संख्येयभागेना-ऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायराशिमात्रा-ऽनन्ततमभागेन न्यून आयुष्काबन्धकराशा आयुष्कबन्धकराशि क्षेपेण मोहनीयबन्धकराशेरुपलब्धेः। ततः 'षण्णां' मोहनीयायुष्कवर्जानां बन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि तद्बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२९२,२९३॥

अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यो वेदनीयस्य बन्धका अनन्तभागेनाऽधिकाः, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायामुपशान्तमोहक्षीणमोहानामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात्, शेषमार्गणासु चोपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२८६॥

सम्प्रत्यौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां परस्थानाऽल्पबहुत्वमाह—

ओरालमीसजोगे सव्वत्थोवा अबंधगा छण्हं ।
ताओ अणंतगुणिआ बोद्धव्वा बंधगाउस्स ॥२८७॥
तत्तो अबंधगा से संखगुणा ताउ बंधगाऽब्भहिया ।
छण्हं कम्माण तओ हवेज्ज तइअस्स अब्भहिया ॥२८८॥

(प्रे०) 'ओराल०' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां 'षण्णां' वेदनीयायुष्करहितानां ज्ञानावरणादीनामबन्धकाः सर्वस्तोकाः, तत्र समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनामबन्धकत्वात् । तेभ्योऽनन्तगुणिता आयुषो बन्धका बोद्धव्याः, वनस्पतिकायिकादीनां तद्बन्धात् । तेभ्यः 'तस्य' आयुषोऽबन्धकाः संख्येयगुणाः, आयुषो बन्धकानां सख्येयभागमात्रत्वादबन्धकानां च बहुसंख्येयभागप्रमाणत्वात् । तेभ्यः 'षण्णां' वेदनीयायुष्कवर्जानां कर्मणां बन्धका 'अभ्यधिकाः' सख्येयभागेनाधिका भवन्ति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिराशिप्रमाणेनाऽनन्तभागेन न्यून आयुष्काबन्धकराशा आयुष्कबन्धकराशिप्रक्षेपेण षट्कर्मबन्धकराशेरुपलब्धेः । 'ततः' षण्णां बन्धकेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, समुद्घातगतसयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२८७,२८८॥

सम्प्रति कार्मणकाययोगमार्गणायां परस्थानाऽल्पबहुत्वमाह—

कम्मे छण्हं थोवा अबंधगा ताउ बंधगा तासिं ।
होअन्ति अणंतगुणा तत्तो तइअस्स अब्भहिया ॥२८९॥

(प्रे०) 'कम्मे' इत्यादि, 'कार्मे' कार्मणकाययोगमार्गणायां 'षण्णां' वेदनीयायुष्कवर्जानां प्रकृतीनां प्रत्येकमबन्धकाः स्तोका भवन्ति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलित्वात् । तेभ्यः 'तासां' वेदनीयायुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां षण्णां प्रकृतीनां बन्धका अनन्तगुणाः, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनो विना मार्गणागतानां सर्वेषां वनस्पतिकायिकादीनां तद्बन्धकत्वात् । तेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२८९॥

साम्प्रतमपगतवेदमार्गणाया परस्थानाऽल्पबहुत्वमाह—

मोहस्स बंधगाऽप्पा अवगयवेअम्मि हुन्ति ताहिन्तो ।
पंचण्हं अब्भहिया ताओ तइअस्स संखगुणा ॥२९०॥
ताउ अणंतगुणा से अबंधगा ताउ होअन्ते ।
पंचण्हं अब्भहिया तत्तो मोहस्स अब्भहिया ॥२९१॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) 'मोहस्स' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणास्थाने मोहस्य बन्धका अल्पा भवन्ति, अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानसंख्येयभागवर्तित्वात् । तेभ्यः 'पञ्चानां' वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जानां कर्मणां बन्धका'अभ्यधिकाः'विशेषाधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धकाः संख्यगुणा भवन्ति, पूर्वपदेऽनिवृत्तिबादरसम्परायसूक्ष्मसम्परायजीवानां प्रवेशेन परिमाणतः शतपृथक्त्वप्रमाणत्वाद् इह चोपशान्तमोह-क्षीणमोहसयोगिकेवलिनामन्तःपतितत्वेन कोटिपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेभ्यः 'तस्य' वेदनीयस्याऽबन्धका अनन्तगुणाः, अयोगिकेवलिसिद्धानामबन्धकत्वात् सिद्धानां चाऽनन्तत्वात् । तेभ्यः 'पञ्चानां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां प्रत्येकमबन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेना-ऽधिका भवन्ति, उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यो मोहस्याऽबन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२९०,२९१॥

सम्प्रति लोभमार्गणायां परस्थाना-ऽल्पबहुत्वमाह—

लोहे सव्वत्थोवा मोहस्स अबन्धगा मुणेयव्वा ।
तत्तो अणंतगुणिआ णायव्वा बंधगाउस्स ॥२९२॥
तत्तो अबन्धगा से संखगुणा ताउ बन्धगा-ऽब्भहिया ।
मोहस्स तओ-ऽब्भहिया हुन्ति विसेसाहिया छण्हं ॥२९३॥

(प्रे०) 'लोहे'इत्यादि,लोभमार्गणायां मोहस्याऽबन्धकाः सर्वस्तोका ज्ञातव्याः,सूक्ष्मसम्परायाणामबन्धकत्वात् तेषां च शतपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेभ्य आयुषो बन्धका अनन्तगुणिता ज्ञातव्याः, वनस्पतिकायिकादीनामायुर्बन्धकत्वाद् वनस्पतिकायिकानां चानन्तत्वात् । तेभ्यः 'तस्य' आयुष एवाऽबन्धकाः संख्यगुणाः, आयुष्कबन्धकानां संख्येयभागप्रमाणत्वादबन्धकानां च बहुसंख्येयभागकल्पत्वात् । तेभ्यो मोहनीयस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' संख्येयभागेना-ऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायराशिमात्रा-ऽनन्ततमभागेन न्यून आयुष्काबन्धकराशा आयुष्कबन्धकराशिप्रक्षेपेण मोहनीयबन्धकराशेरुपलब्धेः । ततः 'षण्णां' मोहनीयायुष्कवर्जानां बन्धका 'अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि तद्बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२९२,२९३॥

एतर्हि मतिज्ञानादिमार्गणासु बन्धकाबन्धकानां परस्थानाल्पबहुत्वं प्राह—

णाणतिगे ओहिम्मि य पंचण्हऽप्पा अबंधगा तत्तो ।
अहिया मोहस्स तओ असंखियगुणा-ऽत्थि बंधगाउस्स॥२९४॥(गीतिः)
ताउ असंखगुणा से अबंधगा ताउ बंधगाऽब्भहिया ।
मोहस्स तओ अहिया पंचण्ह तओ-ऽहियात्थि तइअस्स ॥२९५॥(गीतिः)

(प्रे०) '**णाणतिगे**' इत्यादि, 'ज्ञानत्रिके' मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञानलक्षणे मार्गणात्रये 'अवधौ' अवधिज्ञानस्य ज्ञानत्रयेण सह निर्देशादवधिदर्शनमार्गणाया च 'पञ्चाना' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा ऽन्तरायाणामबन्धका अल्पाः, उपशान्तमोह क्षीणमोहानामबन्धकत्वात् तेषां च शतपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेभ्यो मोहनीयस्याऽबन्धका विशेषाधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तत आयुषो बन्धका असख्येयगुणा भवन्ति, असख्येयत्वात् । अयं भावः–इह प्रोक्तमार्गणाचतुष्के तिर्यग्वर्जाः शेषास्त्रिगतिका आयुष्कस्य बन्धकाः संख्येया एव भवन्ति । यतस्तासु मार्गणासु ये सम्यग्दृष्टयो मनुष्यगतितो गत्यन्तरे समुत्पस्यन्ते, ते विवक्षितसमय आयुषो बन्धका उत्कृष्टतः सख्येया एव भवन्ति, पर्याप्तमनुष्याणां सख्येयत्वात् । ये पुनः सम्यग्दृष्टयो देवगतितो नरकगतितो वा समुत्पस्यन्ते, तेऽपि विवक्षितसमय उत्कृष्टतः संख्येया एवाऽऽयुष्कं बध्नन्ति, उत्पत्तियोग्यस्थानस्य पर्याप्तमनुष्यत्वाद् आनतादिदेववत् । तिर्यञ्चस्तु सम्यग्दृष्टयो विवक्षितसमय उत्कर्षतोऽसंख्येया आयुष्कं बध्नन्ति, स्वभवस्थान-परभवस्थानयोरुभयोरप्यसंख्येयराशिकत्वात् । अतः प्रोक्तमार्गणाचतुष्के सम्यग्दृष्टितिरश्च आश्रित्याऽऽयुष्कस्य बन्धका असंख्येया भवन्ति, ते च परिमाणद्वारे विस्तरतो दर्शिताः । मोहस्याऽबन्धकास्तु संख्येया एव, सूक्ष्मसम्परायप्रभृतिक्षीणमोहान्तानामबन्धकत्वात् । तेन ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शनलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु मोहस्याऽबन्धकेभ्य आयुषो बन्धका असख्येयगुणाः सिध्यन्ति । गुणकारश्चात्र पल्योपमा-ऽसख्येयमात्रो बोध्यः । तेभ्यः 'तस्य' आयुषोऽबन्धका असख्यगुणा भवन्ति, भागद्वारे बन्धकानामसंख्येयतमभागमात्रत्वप्रतिपादनादबन्धकानां च बहुसख्येयभागमात्रत्वा-ऽभिधानात् ।

'ताउ'इत्यादि,'तेभ्यः'आयुषोऽबन्धकेभ्यो मोहस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः'असंख्येयभागेनाधिका भवन्ति, यतः सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोह-क्षीणमोहराशिना न्यून आयुषोऽबन्धकराशा असख्येयभागप्रमाणानामसंख्येयानामायुर्बन्धकाना राशेः प्रक्षेपेण मोहनीयबन्धकराशेरुपलब्धेः । तेभ्यः 'पञ्चाना' वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जाना बन्धका'अधिकाः'असख्येयभागेना ऽधिका भवन्ति,सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । ततः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका 'अधिकाः'असख्येयभागेना-ऽधिका भवन्ति, उपशान्तमोह-क्षीणमोहानामपि बन्धकत्वेन तेषा तत्र प्रक्षेपात् ॥२९४,२९५॥

सम्प्रति मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां परस्थानाल्पबहुत्वं प्राह—

णेया अबंधगाऽप्पा मणणाणे तितइआइवज्जाणं ।
तो मोहस्सऽब्भहिआ तो संखगुणाऽत्थि बंधगाऽऽउस्स ॥२९६॥(गीतिः)
तत्तो अबंधगा से संखगुणा ताउ बंधगाऽब्भहिआ ।
मोहस्स तओ छण्हं विसेसअहिया मुणेयव्वा ॥२९७॥

(प्रे०) 'णेया' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां 'त्रितृतीयादिवर्जानां' वेदनीयमोहनीयाऽऽयुष्करहितानां कर्मणां=ज्ञानावरण-दर्शनावरण नाम गोत्रा-ऽन्तरायाणामवन्धका अल्पा ज्ञेयाः, उपशान्तमोह-क्षीणमोहत्वात् । ततो मोहस्याऽवन्धका 'अभ्यधिकाः' संख्येययभागेनाधिका भवन्ति, पूर्वोक्तेषु सूक्ष्मसम्परायाणां प्रक्षेपेण तेषां राशेरुपलब्धेः । तेभ्य आयुषो बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति । तेभ्य आयुषोऽबन्धकाः संख्येयगुणाः, आयुष्कबन्धकानामेकसख्येयभागमात्रत्वाद-बन्धकानां च बहुसंख्येयभागप्रमाणत्वात् । तेभ्यो मोहस्य बन्धका विशेषाधिकाः, सूक्ष्मसम्परायो-पशान्तमोह-क्षीणमोहराशिन्यून आयुष्कावन्धकराशा आयुष्कबन्धकराशेः प्रक्षेपात् । ततो मोहनीया-युर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां षण्णां कर्मणां बन्धका विशेषाधिका ज्ञातव्याः, उपशान्तमोह-क्षीणमोहानां प्रक्षेपात् ॥२९६,२९७॥

सम्प्रति शुक्ललेश्यामार्गणास्थाने परस्थाना-ऽल्पबहुत्वमाह—

सुक्काए पंचण्हं अबंधगाऽप्पा तओ विसेसहिया ।
मोहस्स हुंति तत्तो संखगुणा बंधगाउस्स ॥२९८॥
ताउ असंखगुणा से अबंधगा ताउ बंधगाऽब्भहिया ।
मोहस्स हवेज्ज तओ पंचण्हं ताउ तइअस्स ॥२९९॥

(प्रे०) 'सुक्काए' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां 'पञ्चानां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणामबन्धका अल्पाः, उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामबन्धकत्वात् तेषाञ्च कोटिपृथक्त्वमात्रत्वात् । ततो मोहस्याऽबन्धका 'विशेषाधिकाः' संख्येयतमभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्य आयुषो बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, सयोगिकेवलिभ्य आयुषः शुक्ललेश्याकाना बन्धकानां संख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः 'तस्य' आयुषो-ऽबन्धका असंख्येयगुणाः,आनतादिसुराणामपि शुक्ललेश्याकत्वेन **भागद्वारे**-ऽसंख्येयभागमात्राणां बन्धकत्वप्रतिपादनाद्बहुसंख्येयभागमात्राणां चाऽबन्धकत्वाऽभिधानात् । तेभ्यो मोहस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' असंख्येयभागेना-ऽधिका भवन्ति,सूक्ष्मसम्परायो-पशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-

राशिना न्यून आयुष्काऽबन्धकराशावायुष्कबन्धकराशेः प्रक्षेपेण मोहनीयस्य बन्धकराशेः प्राप्तेः । तेभ्यः 'पञ्चानां' वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जानां कर्मणां बन्धका असंख्येयभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां प्रक्षेपात् । तेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका असंख्येय भागेनाऽधिका भवन्ति, उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२९८,२९९॥

इदानीं भव्यमार्गणायां परस्थाना-ऽल्पबहुत्वमाह—

तइअस्स हुन्ति भविये सव्वत्थोवा अबंधगा तत्तो ।
पंचण्ह संखगुणा ओघव्वेत्तो भवे उड्ढं ॥३००॥

(प्रे०) '**तइअस्स**' इत्यादि, भव्यमार्गणायां 'तृतीयस्य' वेदनीयस्याऽबन्धकाः सर्वस्तोका भवन्ति, अयोगिकेवलिनामबन्धकत्वेन पृथक्त्वमात्रत्वात् तेषाम् । तेभ्यः 'पञ्चानां' वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जानामबन्धकाः संख्येयगुणाः, उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिनामप्यबन्धकत्वेन कोटिपृथक्त्वमात्रत्वात् । इत ऊर्ध्वम् 'ओघवत्' सामान्यवत्=चतुःसप्तत्युत्तरद्विशततमगाथाप्रभृतिभिः प्रतिपादितपरस्थाना ऽल्पबहुत्ववद् भवेत् । तथाहि-पञ्चानामबन्धकेभ्यो मोहनीयस्याऽबन्धकाः संख्येयभागेना ऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्य आयुषो बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, वनस्पतिकायिकादीनां बन्धकत्वात् तेषाञ्चाऽनन्तत्वात् । तेभ्य आयुषो-ऽबन्धकाः सख्येयगुणा भवन्ति, आयुषो बन्धकानां संख्येयभागमात्रत्वादबन्धकानां च बहुसंख्येयभागप्रमाणत्वात् । तेभ्यो मोहस्य बन्धकाः सख्येयतमभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यवसानराशिन्यून आयुष्काऽबन्धकराशा आयुष्कबन्धकराशेः प्रक्षेपेण मोहनीयबन्धकराशेरुपलब्धेः । तेभ्यो वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जानां कर्मणां बन्धका अनन्ततमभागेना-ऽभ्यधिका भवन्ति,सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यो वेदनीयस्य बन्धका अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, उपशान्तमोहप्रभृतिसयोगिकेवल्यन्तानामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥३००॥

सम्प्रति सम्यक्त्वसामान्यक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोः परस्थानाऽल्पबहुत्वमाह—

सम्मत्तखाइएसु हवन्ति आउस्स बंधगा थोवा ।
ताउ असंखेज्जगुणा णायव्वा मोहणीयस्स ॥३०१॥
तत्तो पंचण्हऽहिया तत्तो तइअस्स हुन्ति अब्भहिया ।
तत्तो अणंतगुणिआ अबंधगा तस्स विण्णेया ॥३०२॥

तत्तो विसेसअहिया पंचण्हं हुन्ति ताउ विण्णेया ।
मोहस्स विसेसहिया ताओ आउस्स अब्भहिया ॥३०३॥

(प्रे०) ' त्त०' इत्यादि, सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोरायुषो बन्धकाः स्तोका भवन्ति, तेभ्यो मोहनीयस्य बन्धका असंख्येयगुणा ज्ञातव्याः, कुतः ? इति चेत् ,उच्यते–सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां सम्यग्दृष्टिदेवाः सम्यग्दृष्टितिर्यक्तोऽसंख्येयगुणा भवन्ति, ते च सर्वे मोहनीयं बध्नन्ति,तथा सम्यग्दृष्टितिर्यङ्नैरयिकसूक्ष्मसम्परायप्रभृतिसयोगिकेवलिपर्यवसानरहितमनुष्या अपि मोहनीयं बध्नन्ति, आयुष्कस्य तु परिमाणप्राधान्यात् तिर्यञ्चो बन्धकाः, तेन सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायामायुष्कस्य बन्धकेभ्यो मोहनीयबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति। अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामल्पबहुत्वं भाव्यते–क्षायिकसम्यग्दृष्टय आयुष्कबन्धकाः संख्येया एव, मोहनीयबन्धकास्त्वसंख्ययाः । तेनायुषो बन्धकेभ्यः क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मोहनीयबन्धका असंख्येयगुणाः सुघटाः । 'ततः' मोहनीयस्य 'बन्धकेभ्यः 'पञ्चानां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाणां बन्धका 'अधिकाः' असंख्येयभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका 'अधिकाः' असंख्येयभागेना-ऽधिका भवन्ति, उपशान्तमोहप्रभृतिसयोगिपर्यवसानानामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽनन्तगुणाः 'तस्य' वेदनीयस्याऽबन्धका विज्ञेयाः,अयोगिकेवलिसिद्धानामबन्धकत्वात् सिद्धानां चाऽनन्तत्वात् । तेभ्यः 'पञ्चानां' वेदनीयमोहनीयायुष्कविरहितानामबन्धका 'विशेषाधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽभ्यधिका भवन्ति, उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र निक्षेपात् । तेभ्यो मोहस्याऽबन्धका 'विशेषाधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्य आयुषोऽबन्धका अभ्यधिकाः' अनन्ततमभागेनाधिका भवन्ति, असंख्येयभागन्यूनमोहनीयबन्धकानामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥२०१,२०२,२०३॥

सम्प्रत्यौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां परस्थानाल्पबहुत्वं व्याहर्तुकामः प्राह––

पंचण्हं कम्माणं अबंधगा उवसमम्मि सव्वप्पा ।
ताहिन्तो णायव्वा मोहस्स विसेसअब्भहिया ॥३०४॥
ताउ असंखेज्जगुणा णेया से बंधगा तओ हुन्ते ।
पंचण्हं अब्भहिया तत्तो तइअस्स अब्भहिया ॥३०५॥

(प्रे०) 'पंचण्हं' इत्यादि, 'उपशमे' औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां 'पञ्चानां' वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जानां कर्मणामबन्धकाः सर्वाल्पाः, उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्तित्वात् । तेभ्यो मोहस्याऽबन्धका विशेषाधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहलक्षणगुणस्थानकद्वयवर्तित्वात् ।

तेभ्योऽसंख्येयगुणाः 'तस्य' मोहनीयस्य बन्धका ज्ञेयाः, असंख्येयत्वात् । अयं भावः—सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहवर्जाः सर्वे औपशमिकसम्यग्दृष्टयो मोहनीयस्य बन्धका भवन्ति, तेषां चाऽसंख्येयत्वं **परिमाणद्वारे** प्रतिपादितम्, मोहनीयस्याऽबन्धकास्तु संख्येया एव, श्रेणिवर्तित्वात् तेषाम् । तेन मोहनीयस्याऽबन्धकेभ्यो बन्धका असंख्येयगुणाः सूपपद्यन्ते । 'ततः' मोहस्य बन्धकेभ्यः 'पञ्चानां' वेदनीयमोहनीयायुष्कवर्जानां कर्मणां बन्धका 'अभ्यधिकाः' असंख्येयभागेनाऽधिका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । 'तेभ्यः 'तृतीयस्य' वेदनीयस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः' असंख्येयभागेनाधिका भवन्ति, उपशान्तमोहानामपि बन्धकत्वेन तेषा तत्र प्रक्षेपात् ॥३०४,३०५॥

सम्प्रत्यनाहारकमार्गणायां परस्थानाल्पबहुत्व निरूरूपयिषुराह—

सव्वप्पाऽणाहारे तइअस्स अबंधगा तओ णेया ।
छण्हं विसेसअहिया कम्मव्वेत्तो भवे उड्ढं ॥३०६॥

(प्रे०) '**सव्वप्पा**' इत्यादि, अनाहारकमा[र्गणा]यां 'तृतीयस्य' वेदनीयस्याऽबन्धकाः सर्वाल्पाः, अयोगिकेवलिसिद्धानामबन्धकत्वात् । ततः 'षण्णां' वेदनीयस्योक्तत्वादायुष्कस्य चासंभवात् तद्वर्जानां ज्ञानावरणादीनामबन्धका 'विशेषाधिकाः' अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनामप्यबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । इत ऊर्ध्वं 'कार्मवत्' कार्मणकाययोगमार्गणायां यथा परस्थाना-ऽल्पबहुत्वमेकोननवत्युत्तरद्विशतत[मगा]थया प्रागभिहितम्, तथैव 'भवेत्' स्यात् । तथाहि—षण्णामबन्धकेभ्यः षण्णां बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिसिद्धवर्जमार्गणागतानां सर्वेषां वनस्पतिकायिकादीनां बन्धकत्वात् । तेभ्यो वेदनीयस्य बन्धका अनन्ततमभागेनाऽधिका भवन्ति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनामपि बन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् ॥३०६॥

सम्प्रति यासु मार्गणास्वल्पबहुत्वं नास्ति, ता मार्गणाः सगृह्य प्राह—

परठाणऽप्पाबहुगमकसायकेवलदुगाहखायेसुं ।
णेव भवे अप्पबहू सुहुमविउवमीसमीसेसुं ॥३०७॥

(प्रे०) '**परठाण०**' इत्यादि, अकषाय-केवलद्विक-यथाख्यातसंयमलक्षणचतुर्मार्गणास्थानेषु परस्थानाल्पबहुत्व 'नैव भवेत्' नैव स्यात्, अनेकासा हि प्रकृतीनां बन्धे सति परस्थाना-ऽल्पबहुत्वस्य भवनादुक्तमार्गणासु त्वेकस्या एव वेदनीयलक्षणायाः प्रकृत्या बध्यमानत्वात्, स्वस्थाना-ऽल्पबहुत्व तु प्रागभिहितम्, तस्य बन्धकाऽबन्धकमात्रसापेक्षत्वात् । सूक्ष्मसम्परायवैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्ररूपेषु त्रिषु मार्गणाभेदेषु 'अल्पबहुत्वं' स्वस्थानाल्पबहुत्वं परस्थानाल्पबहुत्वं

वा नैव भवेत्, "णेव भवे" ति पदत्रयस्य "घण्टालोला" न्यायेनाऽत्राऽपि सम्बन्धात् । अय भावः– एतासु मार्गणास्वबन्धका न संभवन्ति, तेषां चाऽसम्भवात् स्वस्थानाऽल्पबहुत्वं न सम्भवति । यद्यपि तत्र सूक्ष्मसम्परायादीनामनेकासां प्रकृतीनां बन्धो भवति, तेन परस्थानाल्पबहुत्वसंभवोऽस्ति, तथापि तासां बन्धकानां मिथस्तुल्यत्वादल्पबहुत्वं निषिद्ध तासु मार्गणासु ॥३०७॥

सम्प्रति शेषासु द्वानवतिमार्गणासु परस्थानाल्पबहुत्व प्राह—

सेसासु बंधगाऽप्पा आउस्स तओ अबंधगा तस्स ।
संखेज्जगुणा तत्तो सत्तण्हं बंधगाऽब्भहिया ॥३०८॥

(प्रे०) '**सेसासु**' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितासु मार्गणास्वायुषो बन्धका अल्पा भवन्ति, **भागद्वारेण** तत्तन्मार्गणागतजीवापेक्षया बन्धकानां संख्येयभागमात्रत्वस्य प्रतिपादनात् । ततः 'तस्य' आयुषोऽबन्धकाः संख्येयगुणाः, **भागद्वारेण** तत्तन्मार्गणागतजीवापेक्षयाऽबन्धकाना बहुसंख्येयभागमात्रत्वात् । तेभ्यः सप्तानां बन्धका 'अभ्यधिकाः' संख्येयभागेनाधिका भवन्ति, आयुष्कबन्धकानामपि ज्ञानावरणादिबन्धकत्वेन तेषां तत्र प्रक्षेपात् । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः–नरकगतिसामान्यमार्गणा, प्रथमपृथिवीनरकगतिमार्गणा, पञ्चतिर्यग्भेदाः, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा, देवगतिसामान्य-भवनपति व्यन्तर सर्वार्थसिद्धसुराः, पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जाः सप्तदशेन्द्रियभेदाः, त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायरहिताः कायभेदाश्चत्वारिंशत्, वैक्रियकाययोगाऽऽहारककाययोगाऽऽहारकमिश्रकाययोगाः, त्रयो वेदाः, लोभवर्जास्त्रयः या', सामायिकच्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयमाऽविरतमार्गणाः, अज्ञानत्रयमशुभलेश्यात्रयं तेजोलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणाश्चेति ॥३०८॥

तदेवं गतमल्पबहुत्वद्वारम् । तस्मिंश्च गते समाप्तः प्रथमाधिकारः ।

॥इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकारे पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वार समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे प्रथमाधिकार समाप्त ॥



अल्पबहुत्वम्	वेद्याब० स्तोका. ५कर्माब०सख्य-गुणा तत ऊर्ध्वंमोघवत्	आयुर्ब० अल्पा मोहब०असख्य-गुणा ५ कर्मब०विशेषा-धिका वेद्याब०विशेषा-धिका वेद्याब०अनन्त-गुणा ५कर्माब०विशेषा-धिका मोहाब०विशेषा० आयुरब विशषा०	५कर्माब० स्तोका मोहाब०विशेषा-धिका मोहब०असख्य-गुणा ५कर्मब०विशेषा-धिका	वेद्याब०अल्पा., ६कर्माब०विशेषा-धिका ६ कर्मब०अनन्त-गुणा वेद्यब० विशेषा-धिका	अल्पबहुत्वं नास्ति	आयुब० अल्पा आयुरब० संख्य-गुणा ७ कर्मब० विशेषाधिका
गति			•			शेषा १२
इन्द्रियम्				••	•	शेषा १७
काय	•••			••		शेषा ४०
योग	•				वैक्रियमिश्र	शेषाः ३
वेद				• •		शेषा ३
कषाय					अकषाय	शेषा ३
ज्ञानम्				••	केवलज्ञानम्	शेषा ३
सयम					यथाख्या०सूक्ष्म०	शेषा ४
दर्शनम्					केवलदर्शनम्	••••
लेश्या					•	शेषा ४
भव्य	भव्य		•	•	•••	अभव्य १
सम्यक्त्वम्		सम्यक्त्वसा०, क्षायिक०	औपशमिक०	•	मिश्र०	मिथ्यात्वम् १
सज्ञी				•	•	असज्ञी १
आहारक		•		अनाहारक	••	•••
सर्वा	१	२	१	१	७	६२
गाथाङ्क	३००	३०१,३०२,३०३	३०४ ३०५	३०६	३०७	३०८

॥ अथ बन्धस्थानाधिकारः ॥

सम्प्रति 'ठाण' इत्यनेनोद्दिष्टस्य बन्धस्थानस्य द्वितीयाधिकारस्यावसरः प्राप्तः । तत्रादौ तावत् 'तेसु पढमाईसु' इत्यादिचत्वारिंशत्तमगाथाया सङ्ख्यामात्रेण कथितानि चतुर्दश द्वाराणि नामग्राहं प्राह—

बीए खलु अहिगारे बंधट्ठाणम्मि हुन्ति संतपयं ।
सामित्तसाइआई कालंतरमेगजीवस्स ॥३०९॥
भंगविचयो उ भागो परिमाणं खेत्तफोसणा कालो ।
अंतरभावऽप्पबहू चउदस दाराणि जहाकमसो ॥३१०॥

(प्रे०) 'बए' इत्यादि, 'बन्धस्थाने' बन्धस्थानाभिधे द्वितीयेऽधिकारे सत्पदादीनि चतुर्दश द्वाराणि यथाक्रमशः भन्तीति पिण्डितार्थः । अथ पुनर्व्यासार्थः-बन्धस्थानाख्ये द्वितीयाधिकारे प्रथम सत्पदद्वारम्, ततो द्वितीय स्वामित्वद्वारम्, ततस्तृतीयं साद्यादिद्वारम्, ततश्चतुर्थं कालद्वारम्, ततः पञ्चममन्तरद्वारम्, 'एकजीवस्य' एकजीवसम्बन्धि । 'अन्त्यदीपक''न्यायेनैकजीवपदस्य पञ्चभिरपि द्वारैः सहाभिसम्बन्धात् पञ्चाऽपि सत्पदादीनि द्वाराण्येकजीवसम्बन्धीनि बोद्धव्यानि । ततो नानाजीवाश्रयं षष्ठं भङ्गविचयद्वारम्, ततः सप्तमं भागद्वारम्, ततोऽष्टम परिमाणद्वारम्, ततो नवम क्षेत्रद्वारम्, ततो दशम स्पर्शनाद्वारम्, तत एकादश कालद्वारम्, ततो द्वादशमन्तरद्वारम्, ततस्त्रयोदशं भावद्वारम्, ततश्चतुर्दशमल्पबहुत्वद्वारम् । सर्वाण्येतानि द्वाराणि विशेषतः प्रथमाधिकारद्वारवद् व्याख्येयानि ॥३०९,३१०॥

॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

सम्प्रति बन्धस्थानप्ररूपणा वक्तुकाम आदौ तावत् सत्पदद्वारेण प्रकृतिबन्धस्थानान्योघतो दर्शयति लाघवार्थं च कतिपयासु मार्गणास्वतिदिशति—

अड सत्त छ एगं चउबधट्ठाणाणि मूलपयडीणं ।
अत्थि तहेव तिमणुसदुपणिंदितसपणमणवयेसुं ॥३११॥
कायउरलणाणचउगसंजमणयणेयरोहिसुकासुं ।
भविये तह सम्मत्ते खइए सण्णिम्मि आहारे ॥३१२॥

(प्रे०) 'अड' इत्यादि, अष्टौ सप्त षड् एक चेत्येतानि 'मूलप्रकृतीना' ज्ञानावरणादीना 'चतुर्बन्धस्थानानि' चतुःसङ्ख्यानि बन्धस्थानानि भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्-तिष्ठन्ति

समूहभावेनैकादयो ज्ञानावरणादिरूपप्रकृतयो-ऽस्मिन्निति स्थानम्, "करणाधारे" (सिद्धहेम० ५-३-१२९) इति सूत्रेणाऽऽधारेऽनट् प्रत्ययः। बन्धस्य=बन्धसम्बन्धि स्थानम् बन्धस्थानम्, चतुः-संख्यानि च तानि बन्धस्थानानि च चतुर्बन्धस्थानानि, मध्यमपदलोपात्। न च मध्यमपदलोपि-समासः कुत आश्रीयते, चत्वारि च तानि बन्धस्थानानि च चतुर्बन्धस्थानानीति कर्मधारयेणैव चतुर्बन्धस्थानपदसिद्धेः? इति वाच्यम्, "विशेषण विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च" (सिद्धहेम० ३-१-९६) इति सूत्रेण कर्मधारयसमाससिद्धौ "संख्या-समाहारे च द्विगुश्चा-ऽनाम्न्ययम्" (सिद्धहेम० ३-१-९९) इत्येतत्सूत्रारम्भस्य नियमार्थत्वात्। नियमाकारश्चाऽयम्-संख्यावाचिनः समाहार-संज्ञा-तद्धितो-त्तर-पदेष्वेव समासो भवति, नाऽन्यत्रेति, तेन चत्वारि च तानि स्थानानि चेति विग्रहवाक्या-ऽनन्तरं "विशेषण विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च।" (सिद्धहेम० ३-१-९६) इत्यनेनाऽपि समासो न स्यात्, यथा-अष्टौ प्रवचनमातरः। मिश्रगुणस्थानकवर्जमिथ्यादृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्ता यदाऽऽयुष्कं बध्नन्ति, तदा तैरष्टा अपि प्रकृतयो बध्यन्ते, तेना-ऽष्टप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमायुर्बन्धकाले लभ्यते। मिश्रा-ऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसम्परायाः सदाऽऽयुर्बन्धाभावे च मिश्रवर्जमिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तपर्यवसानाः सप्तप्रकृतीर्बध्नन्ति, तेन तेषां सप्तप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति। मोहनीयाऽऽयुष्के विहाय षट्प्रकृ-तीर्बध्नतां सूक्ष्मसम्परायाणां षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति। उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगि-केवलिनां सातवेदनीयलक्षणामेकामेव प्रकृतिं बध्नतामेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति। तदेव-मोघतः सर्वप्रकृत्यात्मकं प्रथमं बन्धस्थानमष्टप्रकृत्यात्मकम्, आयुष्कं विना सप्तप्रकृत्यात्मकं द्वितीयम्, मोहनीया-ऽऽयुष्के ऋते षट्प्रकृत्यात्मकं तृतीयम्, वेदनीयाख्यैकप्रकृत्यात्मकं चतुर्थं बन्धस्थानं चेति चत्वारि बन्धस्थानानि।

आदेशप्ररूपणायामियं व्याप्तिरनुसरणीया—(१) यासु मार्गणासूपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगि-केवलिनामन्यतमो-ऽपि जीवो भवेत्, तासु मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं स्यात्। (२) यासु मार्गणासु सूक्ष्मसम्परायो भवेत्, तासु मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं स्यात्। (३) यासु मार्गणासु मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामन्यतमो जीवो भवेत्, तास्वायुर्बन्धविरहा-वस्थायां सप्तप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं स्यात्। (४) यासु मार्गणास्वायुर्बन्धः प्राग् निरूपितः, तासु मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमपि स्यात्।

इदानीमादेशतो बन्धस्थानानि सत्पदद्वारेण निरूपयति-'**तहेव**' इत्यादि, '**तथैव**' यथौ-घिकानि चत्वारि बन्धस्थानानि निरूपितानि, तथैव चत्वारि बन्धस्थानानि त्रिमनुष्येषु=मनुष्य-सामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु, द्विशब्दस्य द्वाभ्यां सह योजनाद् द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः, द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाययोः, पञ्चशब्दस्य द्वाभ्यां सहाऽभिसम्बन्धात् पञ्चमनोयोगेषु पञ्चसु वचनयोगेषु

॥ अथ बन्धस्थानाधिकारः ॥

सम्प्रति 'ठाण' इत्यनेनोद्दिष्टस्य बन्धस्थानस्य द्वितीयाधिकारस्यावसरः प्राप्तः । तत्रादौ तावत् 'तेसु पढमाईसु' इत्यादिचत्वारिंशत्तमगाथायां सङ्ख्यामात्रेण कथितानि चतुर्दश द्वाराणि नामग्राहं प्राह—

बीए खलु अहिगारे बंधट्ठाणम्मि हुन्ति संतपयं ।
सामित्तसाइआई कालंतरमेगजीवस्स ॥३०९॥
भंगविचयो उ भागो परिमाणं खेत्तफोसणा कालो ।
अंतरभावऽप्पबहू चउदस दाराणि जहाकमसो ॥३१०॥

(प्रे०) 'बए' इत्यादि, 'बन्धस्थाने' बन्धस्थानाभिधे द्वितीयेऽधिकारे सत्पदादीनि चतुर्दश द्वाराणि यथाक्रमशः मन्तीति पिण्डितार्थः । अयं पुनर्भावार्थः–बन्धस्थानाख्ये द्वितीयाधिकारे प्रथम सत्पदद्वारम् , ततो द्वितीय स्वामित्वद्वारम् , ततस्तृतीय साद्यादिद्वारम् , ततश्चतुर्थं कालद्वारम् , ततः पञ्चममन्तरद्वारम् , 'एकजीवस्य' एकजीवसम्बन्धि । 'अन्त्यदीपक' न्यायेनैकजीवपदस्य पञ्चभिरपि द्वारैः सहाभिसम्बन्धात् पञ्चाऽपि सत्पदादीनि द्वाराण्येकजीवसम्बन्धीनि बोद्धव्यानि । ततो नानाजीवाश्रयं षष्ठं भङ्गविचयद्वारम् , ततः सप्तमं भागद्वारम् , ततोऽष्टमं परिमाणद्वारम् , ततो नवम क्षेत्रद्वारम् , ततो दशम स्पर्शनाद्वारम् , तत एकादशं कालद्वारम् , ततो द्वादशमन्तरद्वारम् , ततस्त्रयोदश भावद्वारम् , ततश्चतुर्दशमल्पबहुत्वद्वारम् । सर्वाण्येतानि द्वाराणि विशेषतः प्रथमाधिकारद्वारवद् व्याख्येयानि ॥३०९,३१०॥

॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

सम्प्रति बन्धस्थानप्ररूपणा वक्तुकाम आदौ तावत् सत्पदद्वारेण प्रकृतिबन्धस्थानान्योघतो दर्शयति लाघवार्थं च कतिपयासु मार्गणास्वतिदिशति—

अड सत्त छ एगं चउबंधट्ठाणाणि मूलपयडीणं ।
अत्थि तहेव तिमणुसदुपणिंदितसपणमणवयेसु ॥३११॥
कायउरलणाणचउगसंजमणयणेयरोहिसुक्कासु ।
भविये तह सम्मत्ते इए सण्णिम्मि आहारे ॥३१२॥

(प्रे०) 'अड' इत्यादि, अष्टौ सप्त षड् एक चेत्येतानि 'मूलप्रकृतीना' ज्ञानावरणादीना 'चतुर्बन्धस्थानानि' चतुःसङ्ख्यानि बन्धस्थानानि भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्-तिष्ठन्ति

समूहभावेनैकादयो ज्ञानावरणादिरूपप्रकृतयो-ऽस्मिन्निति स्थानम्, "करणाधारे" (सिद्धहेम० ५-३-१२९) इति सूत्रेणाऽऽधारेऽनट् प्रत्ययः। बन्धस्य=बन्धसम्बन्धि स्थानम् बन्धस्थानम्, चतुः-संख्यानि च तानि बन्धस्थानानि च चतुर्बन्धस्थानानि, मध्यमपदलोपात्। न च मध्यमपदलोपि-समासः कुत आश्रीयते, चत्वारि च तानि बन्धस्थानानि च चतुर्बन्धस्थानानीति कर्मधारयेणैव चतुर्बन्धस्थानपदसिद्धेः? इति वाच्यम्, "विशेषण विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च" (सिद्धहेम० ३-१-९६) इति सूत्रेण कर्मधारयसमाससिद्धौ "संख्या-समाहारे च द्विगुश्चा-ऽनाम्न्ययम्" (सिद्धहेम० ३-१-९९) इत्येतत्सूत्रारम्भस्य नियमार्थत्वात्। नियमाकारश्चाऽयम्-संख्यावाचिनः समाहार-संज्ञा-तद्धितो-त्तर-पदेष्वेव समासो भवति, नाऽन्यत्रेति, तेन चत्वारि च तानि स्थानानि चेति विग्रहवाक्या-ऽनन्तरं "विशेषण विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च।" (सिद्धहेम० ३-१-९६) इत्यनेनाऽपि समासो न स्यात्, यथा-अष्टौ प्रवचनमातरः। मिश्रगुणस्थानकवर्जमिथ्यादृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्ता यदाऽऽयुष्कं बध्नन्ति, तदा तैरष्टा अपि प्रकृतयो बध्यन्ते, तेना-ऽष्टप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमायुर्बन्धकाले लभ्यते। मिश्रा-ऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसम्परायाः सदाऽऽयुर्बन्धाभावे च मिश्रवर्जमिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तपर्यवसानाः सप्तप्रकृतीर्बध्नन्ति, तेन तेषां सप्तप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति। मोहनीयाऽऽयुष्के विहाय षट्प्रकृ-तीर्बध्नतां सूक्ष्मसम्परायाणां षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति। उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगि-केवलिनां सातवेदनीयलक्षणामेकामेव प्रकृतिं बध्नतामेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति। तदेव-मोघतः सर्वप्रकृत्यात्मकं प्रथमं बन्धस्थानमष्टप्रकृत्यात्मकम्, आयुष्कं विना सप्तप्रकृत्यात्मकं द्वितीयम्, मोहनीया-ऽऽयुष्के ऋते षट्प्रकृत्यात्मकं तृतीयम्, वेदनीयाख्यैकप्रकृत्यात्मकं चतुर्थं बन्धस्थानं चेति चत्वारि बन्धस्थानानि।

आदेशप्ररूपणायामियं व्याप्तिरनुसरणीया-(१) यासु मार्गणासूपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगि-केवलिनामन्यतमो-ऽपि जीवो भवेत्, तासु मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं स्यात्। (२) यासु मार्गणासु सूक्ष्मसम्परायो भवेत्, तासु मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं स्यात्। (३) यासु मार्गणासु मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामन्यतमो जीवो भवेत्, तास्वायुर्बन्धविरहा-वस्थाया सप्तप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं स्यात्। (४) यासु मार्गणास्वायुर्बन्धः प्राग् निरूपितः, तासु मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमपि स्यात्।

इदानीमादेशतो बन्धस्थानानि सत्पदद्वारेण निरूपयति-'तहेव' इत्यादि, 'तथैव' यथौ-घिकानि चत्वारि बन्धस्थानानि निरूपितानि, तथैव चत्वारि बन्धस्थानानि त्रिमनुष्येषु=मनुष्य-सामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु, द्विशब्दस्य द्वाभ्यां सह योजनाद् द्विपञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः, द्वित्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाययोः, पञ्चशब्दस्य द्वाभ्यां सहाऽभिसम्बन्धात् पञ्चमनोयोगेषु पञ्चसु वचनयोगेषु

काययोगमार्गणायामौदारिककाययोगे केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्के संयमस न्ये नयने=चक्षुर्दर्शन-मार्गणास्थाने इतरस्मिन्=अचक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदेऽवधिदर्शनमार्गणायां 'शुक्लायां' शुक्ललेश्यायां भव्यमार्गणाया सम्यक्त्वसामान्यमार्गणास्थाने क्षायिकमम्यक्त्वे संज्ञिमार्गणायामाहारकमार्गणाया च सर्वसंख्यया त्रयस्त्रिशन्मार्गणासु भवन्ति, कुतः ? इति चेत्, उच्यते—उक्तमार्गणास्वायु-र्बन्धस्य प्राक् प्रतिपादितत्वेनाऽऽयुर्बन्धकाले जीवानामष्टप्रकृत्यात्मक बन्धस्थानं भवति, आयुर्बन्ध-विरहकाले तु सप्तप्रकृत्यात्मक बन्धस्थान भवति, तथोक्तमार्गणासु सूक्ष्मसम्परायाणां जीवानामुप-लम्भात् षट्प्रकृत्यात्मक बन्धस्थानं घटते, मध्यममनोयोगद्वय मध्यमवचनद्वय-केवलवर्जज्ञानचतुष्क-केवलवर्जदर्शनत्रिक-संज्ञिरूपासु द्वादशमार्गणासूपशान्तमोहक्षीणमोहानां लाभात् शेषासु च सयोगि-केवलिनामपि लाभादेकप्रकृत्यात्मक बन्धस्थानं भवति ॥३११,३१२॥

सम्प्रत्यौदारिकमिश्रकाययोगादिमार्गणासु बन्धस्थानानि सत्पदद्वारेण निरूपयति—

अड सत्तेगमुरालियमीसे सग विउवमीसमीसेसु ।
कम्माणाहारेसुं सत्तेगं बंधठाणाणि ॥३१३॥

(प्रे०) ' ' इत्यादि, 'अष्टौ' प्रकृत्यात ' ' प्रकृत्यात्मकम् 'एकम्' एक-त्यात्मकं च त्रीणि बन्धस्थानान्यौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां भवन्ति, यतस्तत्रायुर्बन्धसद्भा-वादायुर्बन्धकालेऽष्टप्रकृत्यात्म युर्बन्धविरहकाले च स त्यात्मक बन्धस्थानं लभ्यते, समुद्-घातापन्नसयोगिकेवलिना जीवानामुपलम्भाच्चैकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमासाद्यते । अस्यां मार्ग-णायां सूक्ष्मसम्परायाणामभावात् षट्प्रकृत्यात ं बन्धस्थानं न लभ्यते । एव ऽपि ।

' ' इत्यादि, 'सप्त' प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं वैक्रियमिश्रकाययो र्गणा-मिश्र-मार्गणयोर्भवति, आयुर्बन्धाभावाद् वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां च मिथ्यादृष्टि सास्वादना-ऽ -सम्यग्दृष्टीनां मिश्रमार्गणाया च मिश्रदृष्टीनामुपलम्भात् तैश्च सप्तप्रकृतीनां बन्धात् ।

'क ०' इत्यादि, कार्मणा-ऽनाहारकयोः 'सप्त' सप्तप्रकृत्यात्मकमेकप्रकृत्यात्मकं च द्वे बन्धस्थाने भवतः, उक्तमार्गणाद्वय आयुर्बन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टि--सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-स ्घातापन्नसयोगिकेवलिजीवानाञ्चोपलम्भात् ॥३१३॥

सम्प्रत्यपगतवेदादिमार्गणासु बन्धस्थानानि सत्पदद्वारेण निरूपयितुकाम आह—

गयवेअउवसमेसुं सत्त छ एगं च बंधठाणाणि ।
लोहे विण्णेयाइं अड सत्त छ बंधठाणाणि ॥३१४॥

(प्रे०) 'गयवेए' इत्यादि, गतवेदमार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सप्त त्यात्मकं षट्प्रकृत्यात्मकमेकप्रकृत्यात्मक च त्रीणि बन्धस्थानानि भवन्ति । कुतः ? इति चेद्, उच्यते—

अपगतवेदमार्गणायामनिवृत्तिबादरसम्पराया भवन्ति, तेन तत्राऽऽयुर्विना सप्तप्रकृतयो बध्यन्ते, सूक्ष्मसम्परायजीवाना च तत्रोपलम्भात् षट्प्रकृत्यात्मकमपि बन्धस्थानं घटते, उपशान्तमोहादीना च लाभेनैकप्रकृत्यात्मकमपि बन्धस्थानमासाद्यते। तथौपशमिकसम्यग्दृष्टिमार्गणायामायुर्बन्धाभावे सत्यविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानां जीवानां सद्भावात् सप्तप्रकृत्यात्मक बन्धस्थानं लभ्यते, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहानां च लाभेन षट्प्रकृत्यात्मकमेकप्रकृत्यात्मकं च बन्धस्थान प्राप्यते।

'लोहे' इत्यादि, लोभमार्गणायामष्टप्रकृत्यात्मक सप्तप्रकृत्यात्मकं षट्प्रकृत्यात्मकं च त्रीणि बन्धस्थानानि विज्ञेयानि, तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिसूक्ष्मसम्परायान्तानां सद्भावात् ॥३१४॥

सम्प्रति शेषासु मार्गणासु बन्धस्थानानि व्याजिहीर्षुराह—

एगं बंधट्ठाणमकसायकेवलदुगाहखायेसुं।
छ य सुहुमसंपराये अड सत्त हवन्ति सेसासुं ॥३१५॥

(प्रे०) '**एग**' इत्यादि, अकषाय-केवलद्विक यथाख्यातसयमलक्षणेषु चतुर्षु मार्गणास्थानेष्वेकप्रकृत्यात्मक बन्धस्थानं भवति, वेदनीयस्यैव बन्धात्। सूक्ष्मसम्परायसयममार्गणायां च षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थान भवति, तत्र मोहनीयायुष्कवर्जानां सर्वासां प्रकृतीना बन्धात्।

'अड' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धरितास्वष्टाविंशत्यधिकशतमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकं सप्तप्रकृत्यात्मकं च द्वे बन्धस्थाने भवतः, आयुर्बन्धकालेऽष्टप्रकृत्यात्मकमायुर्बन्धाभावकाले च सप्तप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थान भवतीत्यर्थः। शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—मनुष्यगतिसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीवर्जगतिभेदाश्चतुश्चत्वारिंशत्, पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियरहिता इन्द्रियभेदाः सप्तदश, त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायविमुक्ताः कायभेदाश्चत्वारिंशत्, वैक्रियकाययोगा ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा वेदत्रिक लोभवर्जकषायत्रयमज्ञानत्रिक सामायिकसयम च्छेदोपस्थापनीयसयमपरिहारविशुद्धिकसयम-देशसंयमाख्याश्चत्वारो मार्गणाभेदा अविरतमार्गणा शुक्ललेश्यावर्जलेश्याषट्कमभव्यः क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणाश्चेति। तदेवं गत सत्पदद्वारम् ॥३१५॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारे प्रथम सत्पदद्वार समाप्तम् ॥



मूलप्रकृतिबन्धस्थानानां सत्पदप्ररूपणायाः प्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतोऽष्टप्रकृत्यात्मक (८) सप्तप्रकृत्यात्मक (७) षट्प्रकृत्यात्मकम् (६) एकप्रकृत्यात्मक च बन्धस्थानानि सन्ति (गाथाङ्क. ३११)

बन्धस्थानानि	८,७,६,१	८,७,१	७	७,१	७,६,१	८,७,६	१	६	८,७
गतिः	अपर्याप्तवजत्रिनरा				...		.	.	शेषा ४४
इन्द्रियम	पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ						.	...	शेषा १७
काय	त्रसपर्याप्तत्रसौ			..		.			शेषाः ४०
योग	५ मनोयोगा , ५ वचनयोगा काययोग औदारिकश्च	औदारिक-मिश्र	वैक्रियमिश्र	कार्मण	.	....			शेषा. ३
वेद					अवेद			.	शेषा ३
कषाय						लोभ	अकषाय	.	शेषा ३
ज्ञानम्	मतिश्रुतावधिमन पर्यवाणि	.				.	केवलज्ञानम्	.	शेषा ३
सयम	सयमसामान्यम्						यथाख्यात	सूक्ष्मसम्पराग	शेषा ५
दर्शनम	चक्षुरचक्षुरवधि०		.				केवलदर्शनम्		
लेश्या	शुक्ला	..			..	.			शेषाः ५
भव्य.	भव्य								अभव्य १
सम्यक्त्वम्	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०		मिश्र०	..	औपशमिकम्			.	शेषा ३
सज्ञी	सज्ञी	. .			.	.			असज्ञी १
आहारक	आहारक.			अनाहारक.					
सर्वमार्गणा	३३	१	२	२	२	१	४	१	१२८
गाथाङ्क	३११,३१२	३१३	३१३	३१३	३१४	३१४	३१५	३१५	३१५

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तेन स्वामित्वद्वारेण बन्धस्थानानां स्वामिन वक्तुकामो लाघवार्थमतिदिशति—

सामित्ताईसु विणा भंगविचयमट्ठबंधठाणस्स ।
एगारसदारेसुं परूवणा आउकम्मव्व ॥३१६॥
णवरं सत्तमदारे भागक्खे बधगा असंखंसो ।
सम्मत्तखाइएसुं णेया अडबंधठाणस्स ॥३१७॥

(प्रे०) '**सामित्ताई**' इत्यादि, 'भङ्गविचय' भङ्गविचयाख्यं षष्ठद्वारं विना शेषेष्वेकादशसु स्वामित्व साद्यादि-काला-ऽन्तरादिद्वारेष्वष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य प्ररूपणा 'आयुष्कर्मवत्' आयुष्कर्मणा=आयुष्कर्मप्ररूपणया तुल्या, आयुष्कबन्धा-ऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोर्मिथो व्याप्यव्यापकत्वात् । अयं भावः—यदाऽऽयुष्कं बध्नाति, तदा नियमतोऽष्टप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नाति, यदा त्वष्टप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नाति, तदा नियमत आयुष्कं बध्नाति । तेनौघत आदेशतश्च भङ्गविचयद्वारं विहाय स्वामित्वादिद्वारैरायुर्बन्धः प्राग् यथा निरूपितः, तथैवा-ऽष्टप्रकृत्यात्मक बन्धस्थानं निरूपणीयम् । इदं तु बोध्यम्—प्राग् आयुर्बन्धस्य निरूपणे स्वामित्वद्वारेणाऽऽयुष्कस्याऽबन्धका अपि दर्शिताः, तथा नानाजीवाश्रितेषु भागादिद्वारेष्वायुष्कस्य बन्धकाऽबन्धकोभयापेक्षया प्ररूपणा कृता, इह तु सर्वप्ररूपणा बन्धकाऽपेक्षया ज्ञातव्या । कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, उच्यते—अपवादं दर्शयन् सम्यक्त्वसामान्यक्षायिकसम्यक्त्वयोर्मार्गणयोरष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका असख्येयभागमात्रा इति वक्ष्यति । यदि च बन्धका-ऽबन्धकापेक्षया स्थानप्ररूपणा भवेत्, तर्हि प्रोक्तमार्गणागतजीवानामनन्तत्वादनन्तभागप्रमाणा भवेयुः । न च तथाऽभीष्टम् । तेन बन्धस्थानप्ररूपणायामबन्धका नाऽधिक्रियन्ते । तस्मात् **स्वामित्वद्वारे**ऽबन्धका न दर्शयितव्याः, तथा **भागद्वारे** तत्तन्मार्गणासु ये जीवा अष्टप्रकृत्यात्मकादिबन्धस्थानानि बध्नन्ति, तदपेक्षया भागप्ररूपणा कर्तव्या, **परिमाणद्वारे**ऽप्यष्टप्रकृत्यात्मकादिबन्धस्थानाना बन्धकाना परिमाणं वाच्यम्, न त्वबन्धकानामपि । एवं शेष द्वारेष्वपि बोध्यम् ।

'आउकम्मव्व' इत्यनेन सामान्येना-ऽतिदिश्याऽतिप्रसक्तिं वारयितुकाम आह-'**णवरं**' इत्यादि, नवरं भागाख्ये सप्तमद्वारे सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोरष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽसंख्येयभागमात्रा बन्धका ज्ञेयाः । अयं भावः-अन्यत्र प्रसिद्धस्याऽन्यत्र कथनमतिदेशपदार्थः, इहायुष्कबन्धस्य स्वामित्वादिप्ररूपणा प्रसिद्धा, प्राग् निरूपितत्वात्, साऽत्राऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाननिरूपणे व्याह्रियते, अतिदिष्टायां सत्यां याऽतिप्रसक्तिः समुत्थिता, तां निवारयितुं

'णवर' इत्यादि भणितम् । ननु माऽतिप्रसक्तिः कुतः समुद्भूता, यां निवारयितु भवान् प्रयतेत ? इति चेत्, उच्यते-आयुष्कबन्धनिरूपणे बन्धकाबन्धकोभयापेक्षया भागप्ररूपणा कृता, तेन सम्यक्त्वमार्गणायां बन्धकाऽबन्धकाः समुदिता अनन्ता जीवा भवन्ति स्म, सिद्धानामप्यबन्धकत्वात्, तेनाऽऽयुष्कस्य बन्धका मार्गणागतजीवानामनन्तभागकल्पाः प्रोक्ताः, असख्येयराशिकत्वात् तेषाम् । इह तु तावन्तो न सभवन्ति, यतः स्थानप्ररूपणा केवलबन्धकानाश्रित्य प्रस्तूयते, बन्धकास्तु चतुर्णामपि बन्धस्थानाना सम्यक्त्वमार्गणायामसख्येया एव भवन्ति, तदसख्येयभागप्रमाणाश्चाष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः । तेनाऽतिदेशेन प्राप्तमनन्तभाग वारयितुमसख्येयभागोऽपवादतया निगदितः । एव क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि भावनीयः ॥३१६,३१७॥

सम्प्रति सप्तप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकलक्षणबन्धस्थानद्वयं स्वामित्वद्वारेण निरूपयन्नाह–

सामित्तदुवारं सगबंधट्ठाणस्स मोहणीयव्व ।
सुहुमो छबंधठाण बंधइ एमेव सत्ततीसाए ॥३१८॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**सामित्त०**' इत्यादि, सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य स्वामित्वद्वारं मोहनीयवद् ज्ञेयम्, यथा चतुष्षष्टितमप्रभृतिगाथाभिर्मोहनीयकर्मणो बन्धका ओघत आदेशतश्च निरूपिताः, तथैव सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका बोद्धव्याः, व्यापकीभूतमोहनीयबन्धापेक्षया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य व्याप्यत्वात् । एतदुक्त भवति–व्याप्यो व्यापक विना कुत्रचिदपि न भवति, यथा वह्नि विना कुत्रचिदपि धूमो न भवति । व्यापकस्तु व्याप्येन सह कदाचित् तिष्ठति, कदाचित् तं परित्यज्याऽपि, यथा वह्निः, तथाहि–यद्यपि वह्निर्महानसादौ धूमेन सह तिष्ठति, तथाप्ययोगोलकादिषु धूम परित्यज्याऽप्यवतिष्ठते । प्रकृते मोहनीयबन्ध विना कुत्रचिदपि सप्तप्रकृत्यात्मक बन्धस्थानं न लभ्यते, तस्मात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थान व्याप्यम्, मोहनीयबन्धस्त्वायुष्कबन्धविरहावस्थाया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानेन सह तिष्ठति, आयुष्कबन्धावस्थायां च सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थान विहायाऽवतिष्ठते, तदानीमष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानसद्भावात् । तेन मोहनीयबन्धो व्यापकः । इह व्यापकीभूतमोहनीयबन्धोच्छेदात् पर व्याप्यीभूतसप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽप्यभावाद् व्यापकीभूतमोहनीयबन्धकाद् मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसानानामन्यतमाद् भिन्नः सूक्ष्मसम्परायादीनामन्यतमः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको न सम्भवति, व्यापकविरहे व्याप्यविरहस्य सुप्रसिद्धत्वात्, वह्निविरहे धूमविरहवत् ।

इदमत्र तात्पर्यम्–ओघत आदेशतश्चाऽपर्याप्तमनुष्यवर्जत्रिमनुष्य-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकाय पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोग- काययोगसामान्यौ- दारिककाययोग-वेदत्रय -कषायचतुष्क-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन शुक्ललेश्या भव्य सझ्या हारकरूपासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्या-

त्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायानामन्यतमो भवति, वेदत्रय-कषायत्रिकवर्जमार्गणासु शेषजीवाना सूक्ष्मसम्परायादीनां सद्भावेऽपि तेषामुक्तबन्धस्थानस्य बन्धाभावात् ।

अष्टसु नरकभेदेषु पञ्चाऽनुत्तरवर्जेषु पञ्चविंशतिदेवभेदेषु वैक्रियकाययोगा-ऽसंयमा ऽशुभ-लेश्यात्रयाख्यासु च मार्गणासु सर्वसंख्यया ऽष्टात्रिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यविरतसम्यग्दृष्टिपर्यवसानानामन्यतमो भवति, तासु मार्गणासु देशविर-तादीनामभावात् ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणावर्जेषु तिर्यग्भेदेषु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टिप्रभृतिदेशविरतपर्यवसानानामन्यतमो भवति, प्रमत्तादिसंयतानां तास्वभावात् ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिमार्गणायामपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-वर्जेषु सप्तदशस्विन्द्रियभेदेषु त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जेषु चत्वारिंशत्कायभेदेष्वभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायामसञ्ज्ञिमार्गणायां च सर्वसंख्यया द्वाषष्टिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृ[illegible]वति, तासु मार्गणासु सास्वादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामभावात् ।

पञ्चस्वनुत्तरदेवेषु सप्तकर्मणां बन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति, शेषजीवभेदानां तत्राऽभावात् ।

औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणासु सप्तप्रकृ-त्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टि-सास्वादना ऽविरतसम्यग्दृष्टीनामन्यतमो भवति, वैक्रिय-मिश्रकाययोगमार्गणाया शेषजीवभेदानामभावात्, शेषासु पुनः सयोगिकेवलिजीवानां सद्भावे-ऽपि सयोगिकेवलिनामुक्तबन्धस्थानस्य बन्धाभावात् ।

आहारककाययोगमार्गणायामाहारकमिश्रकाययोगमार्गणाया च सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकः प्रमत्तसंयतो भवति, शेषजीवभेदानां तत्राऽभावात् ।

अपगतवेदमार्गणायामनिवृत्तिबादरसम्परायः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको भवति, सूक्ष्मसम्परायादिभिः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धस्याभावात् ।

मतिज्ञान श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्य-क्त्वमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको ऽविरतसम्यग्दृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यव-सानानामन्यतमो भवति, तत्र सूक्ष्मसम्परायादीना सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धाभावात् ।

मनःपर्यवज्ञान संयमसामान्य-सामायिकसंयम च्छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणासु सप्तप्रकृत्या-त्मकबन्धस्थानस्य बन्धकः प्रमत्तप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामन्यतमो भवति, मिथ्यादृष्ट्या-दीना तत्राऽभावात्, मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणयोश्च शेषाणां सूक्ष्मसम्परायादीनां सद्भावेऽपि तेषा सप्तप्रकृतीना बन्धाभावात् ।

'णवर' इत्यादि भणितम् । ननु माऽतिप्रसक्तिः कुतः समुद्भूता, यां निवारयितु भवान् प्रयतेत ? इति चेत्, उच्यते-आयुष्कबन्धनिरूपणे बन्धकाबन्धकोभयापेक्षया भागप्ररूपणा कृता, तेन सम्यक्त्वमार्गणायां बन्धकाऽबन्धकाः समुदिता अनन्ता जीवा भवन्ति स्म, सिद्धानामप्यबन्धकत्वात्, तेनाऽऽयुष्कस्य बन्धका मार्गणागतजीवानामनन्तभागकल्पाः प्रोक्ताः, असंख्येयराशिकत्वात् तेषाम् । इह तु तावन्तो न सम्भवन्ति, यतः स्थानप्ररूपणा केवलबन्धकानाश्रित्य प्रस्तूयते, बन्धकास्तु चतुर्णामपि बन्धस्थानानां सम्यक्त्वमार्गणायामसंख्येया एव भवन्ति, तदसंख्येयभागप्रमाणाश्चाष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः । तेनाऽतिदेशेन प्राप्तमनन्तभाग वारयितुमसंख्येयभागोऽपवादतया निगदितः । एव क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि भावनीयः ॥३१६,३१७॥

सम्प्रति सप्तप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकलक्षणबन्धस्थानद्वयं स्वामित्वद्वारेण निरूपयन्नाह–

सामित्तदुवारं सगबंधट्ठाणस्स मोहणीयव्व ।
सुहुमो छबंधठाण बंधइ एमेव सत्ततीसाए ॥३१८॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**सामित्त०**' इत्यादि, सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य स्वामित्वद्वारं मोहनीयवद् ज्ञेयम्, यथा चतुष्षष्टितमप्रभृतिगाथाभिर्मोहनीयकर्मणो बन्धका ओघत आदेशतश्च निरूपिताः, तथैव सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका बोद्धव्याः, व्यापकीभूतमोहनीयबन्धापेक्षया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य व्याप्यत्वात् । एतदुक्त भवति–व्याप्यो व्यापक विना कुत्रचिदपि न भवति, यथा वह्नि विना कुत्रचिदपि धूमो न भवति । व्यापकस्तु व्याप्येन सह कदाचित् तिष्ठति, कदाचित् तं परित्यज्याऽपि, यथा वह्निः, तथाहि–यद्यपि वह्निर्महानसादौ धूमेन सह तिष्ठति, तथाप्ययोगोलकादिषु धूम परित्यज्याऽप्यवतिष्ठते । प्रकृते मोहनीयबन्ध विना कुत्रचिदपि सप्तप्रकृत्यात्मक बन्धस्थानं न लभ्यते, तस्मात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थान व्याप्यम्, मोहनीयबन्धस्त्वायुष्कबन्धविरहावस्थाया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानेन सह तिष्ठति, आयुष्कबन्धावस्थायां च सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थान विहायाऽवतिष्ठते, तदानीमष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानसद्भावात् । तेन मोहनीयबन्धो व्यापकः । इह व्यापकीभूतमोहनीयबन्धोच्छेदात् पर व्याप्यीभूतसप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽप्यभावाद् व्यापकीभूतमोहनीयबन्धकाद् मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसानानामन्यतमाद् भिन्नः सूक्ष्मसम्परायादीनामन्यतमः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको न सम्भवति, व्यापकविरहे व्याप्यविरहस्य सुप्रसिद्धत्वात्, वह्निविरहे धूमविरहवत् ।

इदमत्र तात्पर्यम्–ओघत आदेशतश्चाऽपर्याप्तमनुष्यवर्जमनुष्य-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकाय पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-वेदत्रय--कषायचतुष्क-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या भव्य सञ्ज्या हारकरूपासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्या-

त्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामन्यतमो भवति, वेदत्रय-कषायत्रिकवर्जमार्गणासु शेषजीवाना सूक्ष्मसम्परायादीना सद्भावेऽपि तेषामुक्तबन्धस्थानस्य बन्धाभावात् ।

अष्टसु नरकभेदेषु पञ्चाऽनुत्तरवर्जेषु पञ्चविंशतिदेवभेदेषु वैक्रियकाययोगा-ऽसंयमा ऽशुभलेश्यात्रयाख्यासु च मार्गणासु सर्वसंख्ययाऽष्टात्रिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यविरतसम्यग्दृष्टिपर्यवसानानामन्यतमो भवति, तासु मार्गणासु देशविरतादीनामभावात् ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणावर्जेषु तिर्यग्भेदेषु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टिप्रभृतिदेशविरतपर्यवसानानामन्यतमो भवति, प्रमत्तादिसंयतानां तास्वभावात् ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिमार्गणायामपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जेषु सप्तदशस्विन्द्रियभेदेषु त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जेषु चत्वारिंशत्कायभेदेष्वभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां च सर्वसंख्यया द्वाषष्टिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टिर्भवति, तासु मार्गणासु सास्वादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामभावात् ।

पञ्चस्वनुत्तरदेवेषु सप्तकर्मणां बन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति, शेषजीवभेदानां तत्राऽभावात् ।

औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टि-सास्वादना ऽविरतसम्यग्दृष्टीनामन्यतमो भवति, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाया शेषजीवभेदानामभावात्, शेषासु पुनः सयोगिकेवलिजीवाना सद्भावे-ऽपि सयोगिकेवलिनामुक्तबन्धस्थानस्य बन्धाभावात् ।

आहारककाययोगमार्गणायामाहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां च सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकः प्रमत्तसंयतो भवति, शेषजीवभेदानां तत्राऽभावात् ।

अपगतवेदमार्गणायामनिवृत्तिबादरसम्परायः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको भवति, सूक्ष्मसम्परायादिभिः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धस्याभावात् ।

मतिज्ञान श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको ऽविरतसम्यग्दृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसानानामन्यतमो भवति, तत्र सूक्ष्मसम्परायादीना सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धाभावात् ।

मनःपर्यवज्ञान संयमसामान्य-सामायिकसंयम च्छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकः प्रमत्तप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामन्यतमो भवति, मिथ्यादृष्ट्यादीना तत्राऽभावात्, मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणयोश्च शेषाणां सूक्ष्मसम्परायादीना सद्भावेऽपि तेषां सप्तप्रकृतीना बन्धाभावात् ।

अज्ञानत्रिके सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टि-सास्वादनयोरन्यतरो भवति, शेष-जीवभेदानां तत्राऽभावात् ।

परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकः प्रमत्ता-ऽप्रमत्तयोरन्यतरो भवति, शेषजीवभेदानां तत्राऽभावात् ।

देशविरतसयममार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको देशविरतो भवति, शेषजीव-भेदानां तत्राऽभावात् ।

तेजोलेश्या-पद्मलेश्ययोः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्ताना-मन्यतमो भवति, शेषजीवभेदाना तत्राऽभावात् ।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-प्रभृत्यप्रमत्तान्तानामन्यतमो भवति, शेषजीवभेदाना तत्राऽभावात् ।

मिश्रमार्गणायां मिश्रदृष्टिः सास्वादनमार्गणाया च सास्वादनसम्यग्दृष्टिः सप्तप्रकृत्यात्मक-स्थानस्य बन्धको भवति, इतरजीवभेदानां तत्राभावात् ।

सम्प्रति षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकं दिदर्शयिषुरादौ तावदोघत आह–' **छुमो**' इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयतः षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थान बध्नाति, तस्य मोहनीयायुषोर्बन्धाभावात् । एतर्ह्यादेशत आह–'**एमेव**' इत्यादि, "यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे व" (सिद्ध-हेम०-८ १-२७१) इत्यनेन प्राकृतव्याकरणसूत्रेण वकारस्य लुक्, 'एवमेव' यथौघतः षट्प्रकृत्यात्मक-बन्धस्थानस्य बन्धकः सूक्ष्मसम्परायो दर्शितः, तथैव सप्तत्रिशन्मार्गणासु ज्ञातव्य इति शेषः । त्रिशन्मार्गणाः पुनर्नामत इमाः–अपर्याप्तवर्जमनुष्यगतिभेदत्रय-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य - पर्याप्तत्रसकाय- पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग--काययोगसामान्यौ- दारिककाययोगा अपगतवेदो लोभकषायः केवलवर्जज्ञानचतुष्क सयमसामान्य सूक्ष्मसम्परायसंयमौ केवलरहितदर्शन-त्रिक शुक्ललेश्या भव्यमार्गणा सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सङ्ग्या-हारक-मार्गणाश्चेति ।

मूलेऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य स्वाम्यादीन्यतिदिष्टानि, विनेयजनबोधार्थं त्विह तानि विस्त-रेण दर्श्यन्ते–अष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धक ओघत आदेशतश्च मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय पञ्चमनोयोग पञ्चवचन-योग-काययोगसामान्यौ दारिककाययोग वेदत्रय कषायचतुष्क-चक्षुर्दर्शना- ऽचक्षुर्दर्शन- शुभलेश्यात्रय-भव्य सङ्ग्या हारकरूपासु चतुस्त्रिशन्मार्गणासु मिश्रदृष्टिवर्जमिथ्यादृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्तानामन्यतमो भवति, मिश्रदृष्टिनाऽपूर्वकरणादिभिश्चाऽऽयुषो बन्धस्याभावात् ।

सप्तमपृथिवीनरका-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग पर्याप्तमनुष्य-पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-

वर्जसप्तदशेन्द्रियभेद-त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जचत्वारिंशत्कायभेदौ-दारिकमिश्रकाययोगा-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसञ्ज्ञिलक्षणासु चतुष्षष्टिमार्गणासु मिथ्यादृष्टिरष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको भवति, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-सयोगिकेवलिना सद्भावेऽपि तेषां तत्रायुषो बन्धाभावात् , सप्तमपृथिवीनरके च सास्वादन-मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टीनां सद्भावेऽपि तेषां तत्राऽऽयुषो बन्धाभावात् शेषासु चेतरजीवभेदानामभावात् ।

नरकगतिसामान्यमार्गणायां सप्तमनिरयवर्जेषु षड्निरयभेदेषु तथा पञ्चानुत्तरवर्जपञ्चविंशति-देवभेदेषु वैक्रियकाययोगेऽविरतमार्गणायामशुभलेश्यात्रये च सर्वसङ्ख्यया सप्तत्रिंशन्मार्गणासु मिथ्या-दृष्टि-सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टीनामन्यतमोऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको भवति, मिश्र-दृष्टिनाऽऽयुषो बन्धस्याऽभावात् ।

पञ्चस्वनुत्तरसुरेष्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको-ऽविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति, शेषजीवभेदानां तत्राऽभावात् ।

आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोरष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकः प्रमत्तसंयतो भवति, शेषजीवभेदानां तत्राऽभावात् ।

तथाऽपर्याप्ततिर्यग्वर्जेषु चतुर्षु तिर्यग्भेदेष्वष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको मिश्रदृष्टि-वर्जमिथ्यादृष्टिप्रभृतिदेशविरतान्तानामन्यतमो भवति, शेषजीवभेदानां तत्राभावाद् मिश्रदृष्टेश्चायु-र्बन्धस्य निषिद्धत्वात् ।

मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना ऽवधिदर्शन सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-रूपासु सप्तसु मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको-ऽविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्तानामन्य-तमो भवति, अपूर्वकरणादीनामायुर्बन्धाभावात् ।

मनःपर्यवज्ञान-सयमसामान्य-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकेषु प्रमत्ताप्रम-त्तयोरन्यतरोऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको भवति, अपूर्वकरणादीनामायुर्बन्धाभावात् ।

अज्ञानत्रये मिथ्यादृष्टि-सास्वादनयोरन्यतरोऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको भवति, शेष-जीवभेदानां तत्राऽभावात् ।

देशविरतमार्गणायामष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको देशविरतस्तथा सास्वादनमार्गणायां सास्वादनसम्यग्दृष्टिर्भवति, शेषजीवभेदानां तत्राऽभावात् ॥३१८॥

एतर्ह्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमोघतो द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासु च स्वामित्वद्वारेण निरूपयितु-काम आदौ तावदोघतश्चतुर्विंशतिमार्गणासु च व्याहरति—

एगस्स बंधगो खलु उवसंतो खीणगो सजोगी वा ।
एमेव अत्थि तिणरदुपणिंदितसतिमणवयणेसुं ॥३१९॥

कायुरलअवेएसु अकसाये संजमे अहक्खाये ।
सुक्काए तह भविये सम्मे खइअम्मि आहारे ॥३२०॥

(प्रे०) 'एग ' इत्यादि, 'एकस्य' एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकः खलु 'उपशान्तः' उपशान्तमोहो वा 'क्षीणकः' क्षीणमोहो वा 'सयोगी' सयोगिकेवली वा भवति, केवलस्य वेदनीयस्यैवोपशान्तमोहादिभिर्बन्धात् । सम्प्रत्यतिदिशति–'एमेव' इत्यादि, 'एवमेव' यथौघत एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धक उपशान्तमोह क्षीणमोह सयोगिकेवलिनामन्यतमो-ऽभिहितः, तथैवोपशान्तमोह-क्षीणमोह सयोगिकेवलिनामन्यतम एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकोऽपर्याप्तमनुष्यवर्जमनुष्यगतिभेदत्रय पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकाय-मध्यममनोयोगद्वयवर्जमनोयोगत्रय-मध्यमवचनयोगरहितवचनयोगत्रिक-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽपगतवेदरूपेषु मार्गणास्थानेष्वकषायमार्गणायां संयमसामान्यमार्गणायां यथाख्यातसंयममार्गणायां शुक्ललेश्यायां तथा भव्यमार्गणास्थाने सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामाहारकमार्गणायां च सर्वसंख्यया चतुर्विंशतिमार्गणासु भवति, तासूपशान्तमोहप्रभृतिसयोगिकेवलिपर्यवसानानां जीवाना सम्भवात् तैश्चैकस्या एव वेदनीयाख्यायाः प्रकृतेर्बन्धात् ॥३१९,३२०॥

एतर्हि मध्यममनोयोगादिद्वादशमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य स्वामिनमाह—

उवसंतो खीणो वा विण्णेयो दुमणवयणजोगेसु ।
णाणचउक्कम्मि तहा णयणेयरओहिसण्णीसु ॥३२१॥

(प्रे०) 'उव ' इत्यादि, 'एगस्स बंधगो' इति पूर्वतोऽनुवर्तते, उपशान्तमोहो वा क्षीणमोहो वैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धको द्वयोर्मनोयोगयोः = असत्यमनोयोग--सत्यासत्यमनोयोगयोरेवं द्वयोर्मध्यमयोर्वचनयोगयोः,केवलज्ञानवर्जे ज्ञानचतुष्के नयने=चक्षुर्दर्शने इतरस्मिन्=अचक्षुर्दर्शने अवधौ=अवधिज्ञानस्योक्तत्वाद् अवधिदर्शने संज्ञिमार्गणास्थाने च विज्ञेयः, तासु सयोगिकेवलिजीवानामभावात् ॥३२१॥

सम्प्रत्यौदारिकमिश्रकाययोगादिषु षट्सु मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य स्वामिनमाह–

ओरालमीसजोगे कम्मे केवलदुगे अणाहारे ।
होइ सजोगी होज्जा उवसमसम्मम्मि उवसंतो ॥३२२॥

(प्रे०) 'ओराल०' इत्यादि, 'एगस्स बंधगो' इति पूर्वतोऽनुवर्तते, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणकाययोगमार्गणायां 'केवलद्विके' केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणे मार्गणाद्विकेऽनाहारकमार्गणायां च 'सयोगी' एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकः सयोगिकेवली भवति, एतासु मार्गणासूपशान्तमोहक्षीण

मोहानामभावात् तथौदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणासु समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनां केवलद्विके च समुद्घातविरहिता-ऽवस्थायामपि सयोगिकेवलिना लाभात् तैश्चैकस्या एव वेदनीयप्रकृतेर्बन्धात् ।

'छो ।' इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायाम् 'उपशान्तः' उपशान्तमोह एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धको भवति, अस्यां क्षीणमोहसयोगिकेवलिनामभावाद् उपशान्तमोहानां च लाभात् तैश्च वेदनीयमात्रस्य बन्धात् । तदेवं गतं स्वामित्वद्वारम् ॥३२२॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारे द्वितीय स्वामित्वद्वार समाप्तम ॥

मूलप्रकृतिबन्धस्थानानां स्वामिप्रदर्शि यन्त्रम्

ओघतोऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका आयुष्कवत् (मिश्रदृष्टिं विनाऽप्रमत्तान्ता), सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका मोहनीयवत् (अनिवृत्तिबादरसम्परायान्ता) । षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धक सूक्ष्मसम्पराय । एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका उपशान्तमोह क्षीणमोह-सयोगिकेवलिन ।

आदेशत सर्वासु (१६२) मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका आयुष्कवत् । सर्वासु च (१६६) मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका मोहनीयवत् । मनुष्यगत्यादिसप्तत्रिंशन्मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धक सूक्ष्मसम्पराय (गाथाङ्का ३१६, ३१७, ३१८, ३१९) ।

एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य स्वामी	मार्गणा	सर्वमार्गणा	गाथाङ्क
ओघवत्	अपर्याप्तवर्जत्रिमनुष्या , पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ, त्रसपर्याप्तत्रसौ, मध्यमवर्जत्रिमनोयोगा , मध्यमवर्जत्रिवचनयोगा , काययोग , औदारिककाययोग , अवेद , अकषायः, संयमसामान्य , यथाख्यात , शुक्ला, भव्य , सम्यक्त्वसामान्यम् , क्षायिकसम्यक्त्वम् , आहारकः ।	२४	३१९, ३२०
उपशान्तमोह-क्षीणमोहौ	मध्यममनोयोगौ, मध्यमवचनयोगौ, केवलवर्जज्ञानचतुष्कम्, केवलवर्जदर्शनत्रिकम् , सञ्ज्ञी ।	१२	३२१
सयोगिकेवली	औदारिकमिश्र , कार्मण , केवलज्ञानम् , केवलदर्शनम् , अनाहारक ।	५	३२२
उपशान्तमोह	औपशमिकसम्यक्त्वम् ।	१	३२२

॥ अथ तृतीयं साद्यादिद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तेन साद्यादिद्वारेण बन्धस्थानानि भावयितुकाम आह—

णेयाइं एगछसगबंधट्ठाणाणि साइअधुवाणि ।
सव्वासुं ठाणाइं सप्पाओग्गाणि एमेव ॥ ३२३ ॥

(प्रे०) 'णेयाइं' इत्यादि, 'एक षट् सप्तबन्धस्थानानि' एकप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानानि प्रत्येकं 'साद्यध्रुवाणि' सादीन्यध्रुवाणि च विज्ञेयानि, कुतः ? इति चेत्, उच्यते-विवक्षितजीवापेक्षयाऽऽयुर्बन्धारम्भे सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमपगच्छति, अष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं च जायते, तेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवता, अष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च सादिता, अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमायुर्बन्धोपरमेऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवता प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च सादिता । सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्य सादित्वमध्रुवत्वं चाऽन्यथाऽपि दर्शयितुं शक्यते, तद्यथा-यदा कश्चिदुपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं वा समारोहति, तदा सूक्ष्मसम्परायं प्राप्तस्य तस्य सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानं व्यवच्छिद्यते, तेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवता, उपशमश्रेणितः पतितोऽनिवृत्तिबादरसम्पराय देवेषु वाऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं लब्ध्वा पुनः सप्तप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नातीति सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सादिता ।

एकप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोः सादित्वमध्रुवत्वं च सुगमम्, षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य चोपशान्तमोहादिगुणस्थानकेषु लाभात् सूक्ष्मसम्परायादीनां पुनरेकजीवापेक्षया साद्यध्रुवत्वात् ।

भावना त्वित्थं कार्या-कश्चिज्जीव उपशमश्रेणिमारोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये सप्तप्रकृतीनां बन्धं व्यवच्छेद्य सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृतीर्बध्नाति, तदा षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सादिता, अथवोपशान्तमोहगुणस्थानकतश्च्युत्वा सूक्ष्मसम्पराय लभते, तदा प्रथमसमय एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं विहाय षट्प्रकृत्यात्मकस्थानं बध्नातीत्यनेन प्रकारेणाऽपि षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सादिता लभ्यते । यदा श्रेणिमारोहन् सूक्ष्मसम्पराय उपशान्तमोहो वा क्षीणमोहो वा भवति, तदा षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याध्रुवता, उपशान्तमोहक्षीणमोहयोरन्यतरेणैकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धात् । अथवोपशमश्रेणिमारोहन् श्रेणितश्चावरोहन् सूक्ष्मसम्परायः कालं कृत्वा देवतयोत्पद्यते, यद्वा श्रेणितोऽवरोहन् सूक्ष्मसम्परायानन्तरमनिवृत्तिबादरसम्परायं लभते, तदा षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं परित्यज्य सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानं बध्नातीत्यनेन प्रकारेणाऽपि षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवता घटते ।

यदा जीव उपशान्तमोहगुणस्थानं वा क्षीणमोहगुणस्थानकं वा लभते, तदाऽसा एकप्रकृत्यात्मकस्थानं बन्द्धुमुपक्रमत इत्येकप्रकृत्यात्मबन्धस्थानस्य सादित्वम् ।

यदोपशान्तमोहगुणस्थानकतो भवक्षयेण वाऽद्धाक्षयेण वा प्रतिपतति, यद्वा सयोगिकेवलिगुणस्थानं परित्यज्याऽयोगिकेवलिगुणस्थानकं लभते, तदैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवत्वं व्यक्तीभवति, यतो भवक्षयेण पतितः सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, अद्धाक्षयेण च च्युतः षट्, अयोगिकेवली पुनः सर्वथाऽबन्धको भवति ।

अष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं त्वायुष्कबन्धवत् साद्यध्रुवं च भवति ।

सम्प्रत्यादेशत आह–'सव्वा ' इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु स्वप्रायोग्याणि 'स्थानानि' त्रीण्यपि बन्धस्थानानि 'एवमेव' सादीन्यध्रुवाणि च भवन्ति, एकोनषष्ट्यधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य तथा मनुष्यगत्यादिषु सप्तत्रिंशन्मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासु चैकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य सादित्वमध्रुवत्वं चेत्यर्थः, विवक्षितबन्धस्थानस्य नैरन्तर्यस्य प्रतिपक्षबन्धस्थानेन सर्वथा वा बन्धाभावेन व्याघातात् ।

अष्टप्रकृत्यात्मकस्थानमप्यायुर्बन्धप्रायोग्यत्रयःषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वायुष्कबन्धवत् साद्यध्रुवं च भवति । तदेव गतं साद्यादिद्वारम् ॥३२३॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारे तृतीयं साद्यादिद्वार समाप्तम् ॥



॥ अथ चतुर्थं कालद्वारम् ॥

सम्प्रत्येकजीवाश्रयकालद्वारस्याऽवसरः। तत्राऽऽदौ तावदोघतः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्योत्कृष्टकालं वक्तुकाम आह—

कालो अंतमुहुत्तं जहण्णगो सत्तबंधठाणस्स।
उक्कोसो अब्भहिया तेत्तीसा सागरा णेयो ॥३२४॥

(प्रे०) '**कालो**' इत्यादि, सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यक एकजीवाश्रयः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, आयुष्कबन्धशून्यकाले प्रकृतीनां बन्धात्, एकजीवाश्रितस्य चायुष्कबन्धान्तरस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। तथा चोक्तमस्मिन्नेव ग्रन्थे **प्रथमाधिकार** ए **जीवाश्रयान्तरद्वारे**—"वेअस्स अतर णो हस्स छण्ह समयो मुहुत्ततो। आउस्स छण्ह य गुरु अहियाउस्सुदहितेत्तीसा ॥१॥" इति। न च श्रेणिद्वयाऽन्तरालकालस्याऽप्यन्तर्मुहूर्तत्वाद् अन्तरालकाले च कर्मणा बन्धात् कुत आयुर्बन्धस्य जघन्यान्तरमेव सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानजघन्यकाले हेतुतयोपन्यस्तमिति वाच्यम्, श्रेणिद्वयाऽन्तरालस्य बृहत्तराऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् इह च जघन्यकालस्येष्टत्वात्। तथाहि—यदा कश्चिज्जीवः श्रेणितोऽवरोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायं लभते, तदा सप्तप्रकृतीर्बन्द्धुमुपक्रमते, ततः क्रमेणाऽधो गत्वा यथागमं शीघ्रमन्तर्मुहूर्ते गते यः क्षपकश्रेणिमारभते। स क्षपकश्रेणिमारूढोऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये सप्तप्रकृतिबन्धं परित्यज्य सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृतीर्बध्नाति। एवं सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य काल उपशमश्रेण्यवरोहणानिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयप्रभृतिक्षपकश्रेण्यारोहणानिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमयपर्यवसानोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवति, किन्त्वयं काल आयुष्कबन्धान्तरतः संख्येयगुणो भवति। कथम्? इति चेत्, उच्यते—उपशमश्रेणितोऽवरोहतो जीवस्याऽनिवृत्तिबादरसम्परायकालः क्षुल्लकभवतः संख्येयगुणो भवति, यदुक्तं **श्रीकषायप्राभृतचूर्णौ**—"खुद्दाभवग्गहणं विसेसाहिअं। उवसतद्धा दुगुणा। पुरिसवेदस्स पढमट्ठिदी विसेसाहिया। कोहस्स पढमट्ठिदी विसेसाहिया। मोहणीयस्स उवसामणद्धा विसेसाहिया। पडिवदमाणगस्स जाव असखेज्जाणं समयपबद्धाणमुदीरणा, सो कालो सखेज्जगुणो। उवसामगस्स असखेज्जाणं समयपबद्धाणमुदीरणकालो विसेसाहिओ। पडिवदमाणयस्स अणियट्टिअद्धा सखेज्जगुणा।" इति। आयुष्कबन्धस्य जघन्याऽन्तरं त्वष्टादशाधिकशततमगाथायाष्टीकायां क्षुल्लकभवतः संख्येयगुणहीनं साधितम्। तेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल आयुष्कबन्धजघन्याऽन्तरापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो वक्तव्यः, अल्पतमकालस्येष्टत्वात्।

सम्प्रत्युत्कृष्टकालमाह—'**उक्कोसो**' इत्यादि, 'उत्कृष्टः' सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्यैकजीवाश्रय उत्कृष्टः कालः 'अभ्यधिकाः' अन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽधिकास्त्रयस्त्रिंशत् 'सागराः' महत्त्वसाम्यात् सागरोपमा भवन्ति, आयुष्कबन्धान्तरे सप्तप्रकृतीनां बन्धाद् एकजीवाश्रितस्य चोत्कृष्ट-

स्यायुष्कबन्धान्तरस्य यथोक्तमानत्वात् । भावना त्वायुष्कस्य बन्धान्तरस्याऽष्टादशाधिकशततमगाथावृत्तौ यथा कृता, तथा कर्तव्या, विशेषाभावात्, ग्रन्थान्तरे तु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालः षण्मासन्यूनान्यन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि कथ्यते, उक्तं च **सप्ततिकावृत्तौ**–"तथा ता एवाष्टावायुर्वर्जा सप्त, एतासा बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावद् उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानि ।" इति, सोऽप्यधिक-शब्दस्य तथाव्याख्यानात् संगृहीतो द्रष्टव्यः ।

अष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयो जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्चाऽन्तर्मुहूर्तं भवति, उक्तं च **सप्तति [illegible]त्तौ**– तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासा च बन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाण, आयुषि हि बध्यमानेऽष्टाना प्रकृतीना बन्ध प्राप्यते, आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव काल भवति, न ततोऽप्यधिकम् ।" इति । स च काल इह ग्रन्थेऽशीतितमगाथाटीकायां यथाऽऽयुष्कबन्धस्य भावितः, तथाऽत्राऽपि भावनीयः ॥३२४॥

सम्प्रति शेषयोः षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोर्जघन्योत्कृष्टकालमाह—

दोण्ह लहू समयोऽण्णो अंतमुहुत्तं छबंधठाणस्स ।
देसूणपुव्वकोडी णेयो इगबंधठाणस्स ॥३२५॥

(प्रे०) '**दोण्ह**' इत्यादि, 'द्वयोः' षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकयोर्बन्धस्थानयोः 'लघुः' एकजीवाश्रयो जघन्यः कालः समयः, 'अन्यः' उत्कृष्टः पुनः षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तर्मुहूर्तं देशोनपूर्वकोटिश्चैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य 'ज्ञेयः' ज्ञातव्यः । कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, उच्यते-यदा कश्चित् जीव उपशमश्रेणिमारोहन् श्रेणितो वा प्रतिपतन् सूक्ष्मसम्पराये समयमेकं स्थित्वा देवतयोत्पद्यते, तदा षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते, यतोऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये तेन जीवेन सप्तप्रकृतयो बद्धाः, यद्वोपशान्तमोहप्रथमसमय एका प्रकृति र्बद्धा, ततः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृतयो बद्धा', पुनर्देवभवप्रथमसमयात् प्रभृति सप्तप्रकृतयो बध्यन्ते, तेन षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयो भवति, तथा चोक्त **श्रीसप्ततिकावृत्तौ**–"तथा ता एवाष्टावायुर्मोहनीयवर्जा षट्, एतासा च बन्धो जघन्येनैक समयम् ।" इति । यदा तूपशान्तमोहे समयमेकं स्थित्वा देवत्वेन समुत्पद्यते, तदैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्य एकसमयो लभ्यते, सूक्ष्मसम्परायचरमसमये षट्प्रकृतीना देवभवप्रथमसमयाच्च प्रभृति सप्तप्रकृतीनां बन्धात् तथोपशान्तमोहप्रथमसमय एकस्या वेदनीयप्रकृतेर्बन्धाद् ।

षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालस्त्वित्थं परिभावनीयः–सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक एव षट् प्रकृतयो बध्यन्ते, नान्यत्र, तेन सूक्ष्मसम्परायोत्कृष्टकालमात्रः षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य कालो भवति, यद्यप्यारोहकाऽवरोहकयोरुभयोरपि सूक्ष्मसम्परायोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो-

॥ अथ चतुर्थं कालद्वारम् ॥

सम्प्रत्येकजीवाश्रयकालद्वारस्याऽवसरः । तत्राऽऽदौ तावदोघतः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्योत्कृष्टकालं वक्तुकाम आह—

कालो अंतमुहुत्तं जहण्णगो सत्तबंधठाणस्स ।
उक्कोसो अब्भहिया तेत्तीसा सागरा णेयो ॥३२४॥

(प्रे०) **'कालो'** इत्यादि, सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यक एकजीवाश्रयः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, आयुष्कबन्धशून्यकाले सप्तप्रकृतीनां बन्धात्, एकजीवाश्रितस्य चायुष्कबन्धान्तरस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । तथा चोक्तमस्मिन्नेव ग्रन्थे प्रथमाधिकार एकजीवाश्रयान्तरद्वारे—'वेअस्स अंतर णो इस्स छण्ह समयो मुहुत्ततो । आउस्स छण्ह य गुरु अहियाउस्सुदहितेत्तीसा ॥१॥' इति । न च श्रेणिद्वयाऽन्तरालकालस्याऽप्यन्तर्मुहूर्तत्वाद् अन्तरालकाले च कर्मणा बन्धात् कुत आयुर्बन्धस्य जघन्यान्तरमेव सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानजघन्यकाले हेतुतयोपन्यस्तमिति वाच्यम्, श्रेणिद्वयाऽन्तरालस्य बृहत्तराऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् इह च जघन्यकालस्येष्टत्वात् । तथाहि—यदा कश्चिज्जीवः श्रेणितोऽवरोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायं लभते, तदा सप्तप्रकृतीर्बन्द्धुमुपक्रमते, ततः क्रमेणाऽधो गत्वा यथागमं शीघ्रमन्तर्मुहूर्ते गते यः क्षपकश्रेणिमारभते । स क्षपकश्रेणिमारूढोऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये सप्तप्रकृतिबन्धं परित्यज्य सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृतीर्बध्नाति । एवं सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य काल उपशमश्रेण्यवरोहणानिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयप्रभृतिक्षपकश्रेण्यारोहणानिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमयपर्यवसानोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवति, किन्त्वयं काल आयुष्कबन्धान्तरतः संख्येयगुणो भवति । कथम् ? इति चेत्, उच्यते—उपशमश्रेणितोऽवरोहतो जीवस्याऽनिवृत्तिबादरसम्परायकालः क्षुल्लकभवतः संख्येयगुणो भवति, यदुक्तं **श्रीकषायप्राभृतचूर्णौ**—"खुद्दाभवग्गहणं विसेसाहिअं । उवसंतद्धा दुगुणा । पुरिसवेदस्स पढमट्ठिदी विसेसाहिया । कोहस्स पढमट्ठिदी विसेसाहिया । मोहणीयस्स उवसामणद्धा विसेसाहिया । पडिवदमाणगस्स जाव असंखेज्जाण समयपबद्धाणमुदीरणा, सो कालो संखेज्जगुणो । उवसामगस्स असंखेज्जाण समयपबद्धाणमुदीरणकालो विसेसाहिओ । पडिवदमाणयस्स अणियट्टिअद्धा संखेज्जगुणा ।" इति । आयुष्कबन्धस्य जघन्याऽन्तरं त्वष्टादशाधिकशततमगाथायाष्टीकायां क्षुल्लकभवतः संख्येयगुणहीनं साधितम् । तेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल आयुष्कबन्धजघन्याऽन्तरापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो वक्तव्यः, अल्पतमकालस्येष्टत्वात् ।

सम्प्रत्युत्कृष्टकालमाह—**'उक्कोसो'** इत्यादि, 'उत्कृष्टः' सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्यैकजीवाश्रय उत्कृष्टः कालः 'अभ्यधिकाः' अन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽधिकास्त्रयस्त्रिंशत् 'सागराः' महत्त्वसाम्यात् सागरोपमा भवन्ति, आयुष्कबन्धान्तरे सप्तप्रकृतीनां बन्धाद् एकजीवाश्रितस्य चोत्कृष्ट-

ऽऽयुष्कबन्धान्तरस्य यथोक्तमानत्वात्। भावना त्वायुष्कस्य बन्धान्तरस्याऽष्टादशाधिकशततमगाथावृत्तौ यथा कृता, तथा कर्तव्या, विशेषाभावात्, ग्रन्थान्तरे तु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालः षण्मासन्यूनान्यन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि कथ्यते, उक्तं च **सप्ततिकावृत्तौ**–"तथा ता एवाष्टावायुर्वर्जाः सप्त, एतासां बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावद् उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानि।" इति, सोऽप्यधिकशब्दस्य तथाव्याख्यानात् संगृहीतो द्रष्टव्यः।

अष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयो जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्चाऽन्तर्मुहूर्तं भवति, उक्तं च **सप्ततिकावृत्तौ**– तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां च बन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, आयुषि हि बध्यमानेऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते, आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव कालं भवति, न ततोऽप्यधिकम्।" इति। स च काल इह ग्रन्थेऽशीतितमगाथाटीकायां यथाऽऽयुष्कबन्धस्य भावितः, तथाऽत्राऽपि भावनीयः ॥३२४॥

सम्प्रति शेषयोः षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोर्जघन्योत्कृष्टकालमाह—

दोण्ह लहू समयोऽण्णो अंतमुहुत्तं छबंधठाणस्स।
देसूणपुव्वकोडी णेयो इगबंधठाणस्स ॥३२५॥

(प्रे०) '**दोण्ह**' इत्यादि, 'द्वयोः' षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकयोर्बन्धस्थानयोः 'लघुः' एकजीवाश्रयो जघन्यः कालः समयः, 'अन्यः' उत्कृष्टः पुनः षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तर्मुहूर्तं देशोनपूर्वकोटिश्चैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य 'ज्ञेयः' ज्ञातव्यः। कथमेतदवसीयते? इति चेत्, उच्यते-यदा कश्चित् जीव उपशमश्रेणिमारोहन् श्रेणितो वा प्रतिपतन् सूक्ष्मसम्पराये समयमेकं स्थित्वा देवतयोत्पद्यते, तदा षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते, यतोऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये तेन जीवेन सप्तप्रकृतयो बद्धाः, यद्वोपशान्तमोहप्रथमसमय एका प्रकृति र्बद्धा, ततः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृतयो बद्धाः, पुनर्देवभवप्रथमसमयात् प्रभृति सप्तप्रकृतयो बध्यन्ते, तेन षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयो भवति, तथा चोक्तं **श्रीसप्ततिकावृत्तौ**– "तथा ता एवाष्टावायुर्मोहनीयवर्जाः षट्, एतासां च बन्धो जघन्येनैकं समयम्।" इति। यदा तूपशान्तमोहे समयमेकं स्थित्वा देवत्वेन समुत्पद्यते, तदैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते, सूक्ष्मसम्परायचरमसमये षट्प्रकृतीनां देवभवप्रथमसमयाच्च प्रभृति सप्तप्रकृतीनां बन्धात् तथोपशान्तमोहप्रथमसमय एकस्या वेदनीयप्रकृतेर्बन्धाद्।

षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालस्त्वित्थं परिभावनीयः–सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक एव षट्प्रकृतयो बध्यन्ते, नान्यत्र, तेन सूक्ष्मसम्परायोत्कृष्टकालमात्रः षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य कालो भवति, यद्यप्यारोहकाऽवरोहकयोरुभयोरपि सूक्ष्मसम्परायोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो-

भवति, तथाप्यवरोहकसूक्ष्मसम्परायकालत आरोहकसूक्ष्मसम्परायकालो विशेषाधिको भवति, यदुक्तं **श्रीकषायप्राभृतचूर्णौ**—"पडिवदमाणयस्स सुहुमसांपराइयद्धा संखेज्जगुणा, तस्सेव लोभस्स गुणसेढिणिक्खेवो विसेसाहिओ। उवसामगस्स सुहुमसापराइयद्धा किट्टीणमुवसामणद्धासुहुमसापराइयस्स पढमट्ठिदी च तिण्णि वि तुल्लाओ विसेसाहियाओ।" इति। इह च षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालस्येष्टत्वादुपशमश्रेणिमारोहतः सूक्ष्मसम्परायसंयतस्यापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तं षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो बोध्यः।

सम्प्रत्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो भाव्यते—एकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमुपशान्तमोहाः क्षीणमोहाः सयोगिकेवलिनश्च बध्नन्ति। तत्रैकजीवमाश्रित्योपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य चोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं सयोगिकेवलिनश्च साधिकाष्टवर्षन्यूनपूर्वकोटिमात्रो भवति। यदुक्तं **जीवसमासे**—

"तेत्तीस उयहिनामा साईया हुंति अजयसम्माण। देसजइ सजोगीण य पुव्वाणं कोडि देसूणा॥१॥
एएसिं च जहण्ण खवगाण अजोगिखीणमोहाणा। नाणाजीवे एग परापरठिई मुहुत्तंतो॥२॥" इति।

सयोगिकेवलिकाले क्षीणमोहकालस्य प्रक्षेपादपि देशोनपूर्वकोटिकालो लभ्यते, साधिकवर्षाष्टकतः क्षीणमोहकालस्यान्तर्मुहूर्तमात्रत्वेन संख्येयगुणहीनत्वात्। तेनैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो देशोनपूर्वकोटिमात्रः सूपपद्यते, यदुक्तं **श्रीसप्ततिकावृत्तौ**—"तथा समाना प्रकृतीना बन्धव्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपाया प्रकृतेर्बन्ध, स च जघन्येनैक समयम्, एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोना पूर्वकोटि यावत्। स चोत्कर्षेण कस्य वेदितव्य ? इति चेत्, उच्यते—यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तर शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोपरि सयम प्रतिपन्न प्रतिपत्त्यनन्तर च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शन., तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्य।" इति॥३२५॥

सम्प्रत्यादेशत एकजीवाश्रय कालमभिधित्सुरादौ तावत् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालमाह—

कालो अत्थि जहण्णो समयो उ सत्तबंधठाणस्स।
तिणरपणमणवयेसुं कायोरालियविउव्वेसुं॥३२६॥
आहारदुगे कम्मे थीणपुमअवेअचउकसायेसुं।
मणणाणविभंगेसुं संजमसामइअछेएसुं॥३२७॥
सासणआहारियरे समयो अहवा भवे मुहुत्तंतो।
परिहारोहिदुगेसुं सेसासु भवे मुहुत्तंतो॥३२८॥

(प्रे०) 'क ो' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यवर्जेषु त्रिषु मनुष्यभेदेषु पञ्चमनोयोगेषु पञ्चवचनयोगेषु काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-वैक्रियकाययोगेष्वाहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-रूप आहारकद्विके कार्मणकाययोगे स्त्रीवेद नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद चतुष्कषायेषु मनःपर्यवज्ञान विभङ्गज्ञानयोः सयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयमेषु सास्वादन आहारकमार्गणा-भेदे इतरस्मिन्=अनाहारकमार्गणाभेदे च सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्ध-स्थानस्यैकजीवाश्रयो जघन्यः कालः खलु समयो भवति। कुतः ? इति चेत् , उच्यते–सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानभाजा मनोयोगपञ्चक वचनयोगपञ्चकौ दारिककाययोग-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोग कार्मणकाययोग स्त्रीवेद नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद-लोभ-विभङ्गज्ञान-सामायिक च्छेदोपस्थापनीय-सास्वादना ऽनाहारकरूपाणां त्रयोविंशतिमार्गणानां जघन्यकायस्थितेःसमयमात्रत्वात् तासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयजघन्यकाल एकसमयो लभ्यते। तथा श्रीप्रज्ञापनासूत्राद्यभिप्रायेण क्रोध मान मायानां तथा मतान्तरेण मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणयोश्च जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वेऽपि तासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकः समयो लभ्यते। तथाहि–मनःपर्यवज्ञान-सयमसामान्यरूपयोर्मार्गणयोः प्रत्येकं कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितोऽवरोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये सप्तप्रकृत्यात्मकं स्थान बद्ध्वा द्वितीयसमये काल कृत्वा देवतयोत्पद्यते। तेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते, अनिवृत्तिबादरसम्परायतः प्राक् षट्प्रकृतीनां बन्धाद् देवत्वावस्थाया च तयोर्मार्गणयोरुच्छेदात्। एवमेव मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्त-मनुष्य-मानुषीणा जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य जघन्यकाल एकजीवाश्रितः समयो भवति।

तथा कश्चिज्जीवस्तथाऽऽयुष्कं बध्नाति, यथा क्रोधोदयकालद्विचरमसमय आयुष्कबन्धं समापयति। ततः क्रोधोदयचरमसमये सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा कषायान्तरं प्राप्नोति, तस्य जीवस्य सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयः क्रोधमार्गणाया घटते। यद्वा क्रोधोदयद्वितीयसमये कश्चिज्जीव आयुर्बन्धमारभते, तदाऽपि क्रोधमार्गणायामेकजीवस्य सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयो लभ्यते, क्रोधोदयप्रथमसमये सप्तप्रकृतीना बद्धत्वात्। एवं मानमायामार्गणयोरपि भावनीयम्।

तथा कश्चिदाहारकमिश्रकाययोग आयुष्कं तथा बध्नाति, यथाऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाया उपान्त्यसमय आयुष्कबन्धः समाप्तिमियर्ति। तदनन्तरमुक्तमार्गणाचरमसमये समयमेकं सप्तप्रकृत्यात्मक बन्धस्थान बद्ध्वा योगान्तरं गच्छति। तदेव सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकजीवाश्रय एकसमय आसाद्यते। यद्वा कश्चिज्जीव आहारकमिश्रकाययोगद्वितीयसमय आयुर्बन्धमारभते, तदापि सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयो लभ्यते, आहारकमिश्रकाययोगप्रथमसमये सप्तप्रकृतीना बद्धत्वात्।

भवति, तथाप्यवरोहकसूक्ष्मसम्परायकालत आरोहकसूक्ष्मसम्परायकालो विशेषाधिको भवति, यदुक्तं **श्रीकषायप्राभृतचूर्णौ**—"पडिवदमाणयस्स सुहुमसांपराइयद्धा संखेज्जगुणा, तस्सेव लोभस्स गुणसेढिणिक्खेवो विसेसाहिओ। उवसामगस्स सुहुमसांपराइयद्धा किट्टीणमुवसामणद्धासुहुमसांपराइयस्स पढमट्ठिदी च तिण्णि वि तुल्लाओ विसेसाहियाओ।" इति। इह च षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालस्येष्टत्वादुपशमश्रेणिमारोहतः सूक्ष्मसम्परायसंयतस्यापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तं षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो बोध्यः।

सम्प्रत्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो भाव्यते—एकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमुपशान्तमोहाः क्षीणमोहाः सयोगिकेवलिनश्च बध्नन्ति। तत्रैकजीवमाश्रित्योपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य चोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं सयोगिकेवलिनश्च साधिकाष्टवर्षन्यूनपूर्वकोटिमात्रो भवति। यदुक्तं **जीवसमासे**—

"तेत्तीस उयहिनामा साहीया हुंति अजयसम्माणं। देसजइ सजोगीण य पुव्वाणं कोडि देसूणा ॥१॥
एएसिं च जहण्णं खवगाणं अजोगिखीणमोहाणं। नाणाजीवे एगं परापरठिई मुहुत्तंतो ॥२॥" इति।

सयोगिकेवलिकाले क्षीणमोहकालस्य प्रक्षेपादपि देशोनपूर्वकोटिकालो लभ्यते, साधिकवर्षाष्टकतः क्षीणमोहकालस्यान्तर्मुहूर्तमात्रत्वेन संख्येयगुणहीनत्वात्। तेनैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो देशोनपूर्वकोटिमात्रः सूपपद्यते, यदुक्तं **श्रीसप्ततिकावृत्तौ**—"तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपाया प्रकृतेर्बन्धः, स च जघन्येनैकं समयम्, एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोना पूर्वकोटिं यावत्। स चोत्कर्षतः कस्य वेदितव्यः ? इति चेत्, उच्यते—यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोपरि संयमं प्रतिपन्नः प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्यः।" इति ॥३२५॥

सम्प्रत्यादेशत एकजीवाश्रयं कालमभिधित्सुरादौ तावत् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालमाह—

कालो अत्थि जहण्णो समयो खलु सत्तबंधठाणस्स।
तिणरपणमणवयेसुं कायोरालियविउव्वेसुं ॥३२६॥
आहारदुगे कम्मे थीणपुमअवेअचउकसायेसुं।
मणणाणविभंगेसुं संजमसामइअछेएसुं ॥३२७॥
सासणआहारियरे समयो अहवा भवे मुहुत्तंतो।
परिहारोहिदुगेसुं सेसासु भवे मुहुत्तंतो ॥३२८॥

(प्रे०) 'क ो' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यवर्जेषु त्रिषु मनुष्यभेदेषु पञ्चमनोयोगेषु पञ्चवचनयोगेषु काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-वैक्रियकाययोगेष्वाहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-रूप आहारकद्विके कार्मणकाययोगे स्त्रीवेद नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद चतुष्कषायेषु मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञानयोः संयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयमेषु सास्वादन आहारकमार्गणा-भेदे इतरस्मिन्=अनाहारकमार्गणाभेदे च सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्ध-स्थानस्यैकजीवाश्रयो जघन्यः कालः खलु समयो भवति। कुतः? इति चेत्, उच्यते–सप्तप्रकृत्यात्म-कबन्धस्थानभाजां मनोयोगपञ्चक वचनयोगपञ्चकौ दारिककाययोग-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारकका-ययोग कार्मणकाययोग स्त्रीवेद नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद-लोभ-विभङ्गज्ञान-सामायिक च्छेदोपस्थापनीय-सास्वादना ऽनाहारकरूपाणां त्रयोविंशतिमार्गणाना जघन्यकायस्थितेःसमयमात्रत्वात् तासु सप्तप्रकृत्या-त्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयजघन्यकाल एकसमयो लभ्यते। तथा श्रीमत्प्रज्ञापनासूत्राद्यभिप्रायेण क्रोध मान-मायानां तथा मतान्तरेण मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणयोश्च जघन्यकायस्थितेर-न्तर्मुहूर्तमात्रत्वेऽपि तासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकः समयो लभ्यते। तथाहि–मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यरूपयोर्मार्गणयोः प्रत्येकं कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितोऽवरोहन्ननिवृत्ति-बादरसम्परायप्रथमसमये सप्तप्रकृत्यात्मकं स्थान बद्ध्वा द्वितीयसमये काल कृत्वा देवतयोत्पद्यते। तेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते, अनिवृत्तिबादरसम्परायतः प्राक् षट्प्रकृतीनां बन्धाद् देवत्वावस्थायां च तयोर्मार्गणयोरुच्छेदात्। एवमेव मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्त-मनुष्य-मानुषीणा जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य जघन्यकाल एक-जीवाश्रितः समयो भवति।

तथा कश्चिज्जीवस्तथाऽऽयुष्कं बध्नाति, यथा क्रोधोदयकालद्विचरमसमय आयुष्कबन्धं समापयति। ततः क्रोधोदयचरमसमये सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा कषायान्तरं प्राप्नोति, तस्य जीवस्य सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयः क्रोधमार्गणाया घटते। यद्वा क्रोधोदयद्वितीयसमये कश्चिज्जीव आयुर्बन्धमारभते, तदाऽपि क्रोधमार्गणायामेकजीवस्य सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयो लभ्यते, क्रोधोदयप्रथमसमये सप्तप्रकृतीना बद्धत्वात्। एवं मानमायामार्गणयोरपि भावनीयम्।

तथा कश्चिदाहारकमिश्रकाययोग आयुष्कं तथा बध्नाति, यथाऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाया उपान्त्यसमय आयुष्कबन्धः समाप्तिमियर्ति। तदनन्तरमुक्तमार्गणाचरमसमये समयमेकं सप्तप्रकृत्यात्मक बन्धस्थान बद्ध्वा योगान्तरं गच्छति। तदेव सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकजीवाश्रय एकसमय आसाद्यते। यद्वा कश्चिज्जीव आहारकमिश्रकाययोगद्वितीयसमय आयुर्बन्ध-मारभते, तदापि सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयो लभ्यते, आहारकमिश्रकाय-योगप्रथमसमये सप्तप्रकृतीना बद्धत्वात्।

भवति, तथाप्यवरोहकसूक्ष्मसम्परायकालत आरोहकसूक्ष्मसम्परायकालो विशेषाधिको भवति, यदुक्तं **श्रीकषायप्राभृतचूर्णौ**–"पडिवदमाणयस्स सुहुमसापराइयद्धा सखेज्जगुणा, तस्सेव लोभस्स गुणसेढिणिक्खेवो विसेसाहिओ। उवसामगस्स सुहुमसापराइयद्धा किट्टीणमुवसामणद्धासुहुमसापराइयस्स पढमट्ठिदी च तिण्णि वि तुल्लाओ विसेसाहियाओ।" इति । इह च षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालस्येष्टत्वादुपशमश्रेणिमारोहतः सूक्ष्मसम्परायसयतस्यापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तं षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो बोध्यः ।

सम्प्रत्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो भाव्यते––एकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमुपशान्तमोहाः क्षीणमोहाः सयोगिकेवलिनश्च बध्नन्ति । तत्रैकजीवमाश्रित्योपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य चोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं सयोगिकेवलिनश्च साधिकाष्टवर्षन्यूनपूर्वकोटिमात्रो भवति । यदुक्तं **जीवसमासे**—

"तेत्तीस उयहिनामा साहीया हुंति अजयसम्माण । देसजइ सजोगीण य पुव्वाणं कोडि देसूणा ॥१॥
एएसिं च जहण्ण खवगाण अजोगिखीणमोहाणा । नाणाजीवे एग परापरठिई मुहुत्तंतो ॥२॥" इति ।

सयोगिकेवलिकाले क्षीणमोहकालस्य प्रक्षेपादपि देशोनपूर्वकोटिकालो लभ्यते, साधिकवर्षाष्टकतः क्षीणमोहकालस्यान्तर्मुहूर्तमात्रत्वेन संख्येयगुणहीनत्वात् । तेनैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो देशोनपूर्वकोटिमात्रः सूपपद्यते, यदुक्तं **श्रीसप्ततिकावृत्तौ**—"तथा सप्ताना प्रकृतीना बन्धव्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपाया प्रकृतेर्बन्ध, स च जघन्येनैक समयम्, एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोना पूर्वकोटि यावत् । स चोत्कर्षेन कस्य वेदितव्य ? इति चेन्, उच्यते—यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तर शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोपरि सयम प्रतिपन्न प्रतिपत्त्यनन्तर च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्य ।" इति ॥३२५॥

सम्प्रत्यादेशत एकजीवाश्रय कालमभिधित्सुरादौ तावत् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालमाह––

कालो अत्थि जहण्णो समयो खलु सत्तबंधठाणस्स ।
तिणरपणमणवयेसुं कायोरालियविउव्वेसुं ॥३२६॥
आहारदुगे कम्मे थीणपुमअवेअचउकसायेसुं ।
मणणाणविभंगेसुं संजमसामइअछेएसुं ॥३२७॥
सासणआहारियरे समयो अहवा भवे मुहुत्तंतो ।
परिहारोहिदुगेसुं सेसासु भवे मुहुत्तंतो ॥३२८॥

(प्रे०) 'कालो' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यवर्जेषु त्रिषु मनुष्यभेदेषु पञ्चमनोयोगेषु पञ्चवचनयोगेषु काययोगसामान्यौदारिककाययोग-वैक्रियकाययोगेष्वाहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगरूप आहारकद्विके कार्मणकाययोगे स्त्रीवेद नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद चतुष्कषायेषु मनःपर्यवज्ञान विभङ्गज्ञानयोः सयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयमेषु सास्वादन आहारकमार्गणाभेदे इतरस्मिन्=अनाहारकमार्गणाभेदे च सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयो जघन्यः कालः खलु समयो भवति। कुतः ? इति चेत्, उच्यते-सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानभाजां मनोयोगपञ्चक वचनयोगपञ्चकौदारिककाययोग-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोग कार्मणकाययोग स्त्रीवेद नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद-लोभ-विभङ्गज्ञान-सामायिक च्छेदोपस्थापनीय-सास्वादना ऽनाहारकरूपाणां त्रयोविंशतिमार्गणानां जघन्यकायस्थितेःसमयमात्रत्वात् तासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयजघन्यकाल एकसमयो लभ्यते। तथा श्रीप्रज्ञापनासूत्राद्यभिप्रायेण क्रोध मान-मायानां तथा मतान्तरेण मनःपर्यवज्ञान-सयमसामान्यमार्गणयोश्च जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वेऽपि तासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकः समयो लभ्यते। तथाहि—मनःपर्यवज्ञान-सयमसामान्यरूपयोर्मार्गणयोः प्रत्येक कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितोऽवरोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये सप्तप्रकृत्यात्मकं स्थान बद्ध्वा द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवत्वयोत्पद्यते। तेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते, अनिवृत्तिबादरसम्परायतः प्राक् षट्प्रकृतीना बन्धाद् देवत्वावस्थायां च तयोर्मार्गणयोरुच्छेदात्। एवमेव मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीणा जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य जघन्यकाल एकजीवाश्रितः समयो भवति।

तथा कश्चिज्जीवस्तथाऽऽयुष्कं बध्नाति, यथा क्रोधोदयकालद्विचरमसमय आयुष्कबन्धं समापयति। ततः क्रोधोदयचरमसमये सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा कषायान्तरं प्राप्नोति, तस्य जीवस्य सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयः क्रोधमार्गणायां घटते। यद्वा क्रोधोदयद्वितीयसमये कश्चिज्जीव आयुर्बन्धमारभते, तदाऽपि क्रोधमार्गणायामेकजीवस्य सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयो लभ्यते, क्रोधोदयप्रथमसमये सप्तप्रकृतीना बद्धत्वात्। एवं मानमायामार्गणयोरपि भावनीयम्।

तथा कश्चिदाहारकमिश्रकाययोग आयुष्क तथा बध्नाति, यथाऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाया उपान्त्यसमय आयुष्कबन्धः समाप्तिमियर्ति। तदनन्तरमुक्तमार्गणाचरमसमये समयमेकं सप्तप्रकृत्यात्मक बन्धस्थान बद्ध्वा योगान्तरं गच्छति। तदेव सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकजीवाश्रय एकसमय आसाद्यते। यद्वा कश्चिज्जीव आहारकमिश्रकाययोगद्वितीयसमय आयुर्बन्धमारभते, तदापि सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयो लभ्यते, आहारकमिश्रकाययोगप्रथमसमये सप्तप्रकृतीना बद्धत्वात्।

कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितस्तथाऽवतरति, यथा काययोगाद्धाचरमसमयेऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयं प्राप्नोति, तदानीं च सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, तदनन्तरसमये तु योगान्तरप्राप्तेः काययोगमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयो लभ्यते। यद्वा क्रोधमार्गणावद् आयुष्कबन्धो वाच्यः।

यदा कश्चिज्जन्तुरुपशमश्रेणितः प्रतिपतन्ननिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा कालं कृत्वा विग्रहगत्योत्पद्यते, तदाऽऽहारकमार्गणाया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते, विग्रहगता अनाहारकत्वात्।

'**समयो**' इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायाम् अवधिद्विके=अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनलक्षणे मार्गणाद्वये च सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयो जघन्यकालः समयः '**प्रज्ञापना-सूत्रा**ऽभिप्रायेण, अथवाशब्दो मतान्तरप्रदर्शनार्थकः, मतान्तरेणाऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उक्तमार्गणात्रयस्य जघन्यकायस्थितेर्यथोक्तमानत्वात्।

'शेषासु' उक्तोद्धरितासु त्रयस्त्रिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकजीवाश्रयो 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं 'भवेत्' स्यात्, तत्रैकसमयादिकालस्याऽसंभवात्। तथाहि—मनुष्यगतिसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीवर्जेषु चतुश्चत्वारिंशद्गतिभेदेषु (४४), पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरहितेषु सप्तदशसु (१७) इन्द्रियभेदेषु, त्रसकायपर्याप्तत्रसकायवर्जेषु चत्वारिंशत्कायभेदेषु (४०) औदारिकमिश्रकाययोगे पुरुषवेदे चक्षुर्दर्शने संज्ञिमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां च सर्वसंख्यया षडधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमायुष्कं तथा बध्नाति, यथाऽऽयुष्कबन्धानन्तरं तस्मिन् भवे तत्तन्नारकादिपर्यायः सर्वस्तोककालं तिष्ठेत्। तस्मिंश्च काले सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, स च काल आयुष्कबन्धानन्तरं विश्रान्तिकाललक्षणोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवति, तस्मिन् काले व्यतिक्रान्ते प्रोक्तमार्गणातो भिन्नासु मार्गणासूत्पद्यते, तेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एकजीवाश्रित उक्तमार्गणासु लभ्यते, अन्तर्मुहूर्तात् परतो विवक्षितमार्गणाया एवोच्छेदात्। यद्वा प्रोक्तषडुत्तरशतमार्गणास्वायुष्कबन्धान्तरस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकस्य स्थानस्य बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम्। अनयोर्यः केवलिदृष्ट्या जघन्यः, स इह ग्राह्यः।

वैक्रियमिश्रकाययोग मिश्रमार्गणयोर्जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालस्तत्राऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते, आयुर्बन्धाभावाद् हि ततो हीनः कालस्तत्र न प्राप्यते।

मत्यज्ञान श्रुताज्ञाना -ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना ऽशुभलेश्यात्रय-मिथ्यात्व-भव्या- ऽभव्यमार्गणास्वायुष्कबन्धान्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादायुर्बन्धान्तरालकाले च सप्तप्रकृतीनां बन्धात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते। न च मत्यज्ञान श्रुताज्ञाना-ऽविरत-मिथ्यात्वानां प्रत्येक जघन्यकायस्थितेर्लाभाद् वैक्रियमिश्रकाययोगवद् जघन्यकायस्थितिः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानजघन्य-

कालत्वेन कुतो न भण्यते ? इति वाच्यम्, उक्तमार्गणासु जघन्यकायस्थितित आयुष्कबन्धजघन्यान्तरस्य संख्येयगुणहीनत्वसम्भवाद् इह च यथासंभवं जघन्यबन्धकालस्येष्टत्वात् ।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणः कालो जघन्यकायस्थित्यपेक्षयाऽऽयुष्कजघन्यान्तरापेक्षया च लभ्यते, तयोर्मध्य आयुष्कबन्धजघन्यान्तरकालः स्तोकः सभाव्यते, स इह ग्राह्यः ।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितः पतित्वाऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयात् प्रभृति सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं बध्नाति । ततः शीघ्रतरमौपशमिकसम्यक्त्वतः प्रतिपतति । यद्वोपशमश्रेणिमारुरुक्षोरौपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तितः प्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमयं यावत् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते । एतयोर्यः केवलिदृष्ट्या स्तोकः, सोऽत्र जघन्यत्वेन बोद्धव्यः ॥३२८॥

सम्प्रति सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽऽदेशत एकजीवाश्रितमुत्कृष्टकाल निरूपयितुमनाः प्राह–

सव्वणिरयदेवेसुं उरालमणपज्जवेसु विभंगे ।
संजमसामइएसुं छेए परिहारदेसेसुं ॥३२९॥
तह छसु लेसा भवे जे हो देसूणजे कायठिई ।
गुरुकायठिई कम्मणसासणणाहारगेसु भवे ॥३३०॥

(प्रे०)'सव्व०' इत्यादि, सर्वनिरयदेवेषु, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वनिरयेषु=अष्टसंख्यकेषु निरयभेदेषु, सर्वदेवेषु=त्रिंशत्सुरमार्गणाभेदेषु, औदारि ायमार्गणामनःपर्यवज्ञानमार्गणयोविंभङ्गज्ञानमार्गणायां संयमसामान्यमार्गणायां सामायिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनीसंयममार्गणास्थाने परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणास्थाने देशविरतमार्गणायां षट्सु च लेश्यासु सर्वसंख्यया द्वापञ्चाशन्मार्गणासु ज्येष्ठ एकजीवाश्रित उत्कृष्टकालो देशोनज्येष्ठकायस्थितिः 'भवेत्' स्यात् । भावार्थः पुनरयम्–प्रोक्तमार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितिश्चतुरशीतितमगाथाप्रभृति ाथाकदम्बतोऽवसेया । प्रोक्तमार्गणासूत्कृष्टकायस्थिति गमयन् स्वभवेऽन्तमुहूर्तमात्रावशेषे नियमतः पारभविकमायुर्बध्नाति जीवः, आयुष्कं बध्नतश्चाऽष्टप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति । तेन प्रोक्तमार्गणानां योत्कृष्टकायस्थितिरभिहिता, साऽन्तर्मुहूर्तन्यूना सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानोत्कृष्ट त्वेनाऽभिधातव्या ।

' ०' इत्यादि, गुरुकायस्थितिः कार्मण-सास्वादना-ऽनाहारकेषु त्रिषु मार्गणाभेदेषु 'भवेत्' सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालः स्यात्, उत्कृष्टकायस्थिति गमयतः सास्वादनमार्गणायामायुष्कबन्धस्याऽवश्यभावात् शेषयोश्च मार्गणयोरायुर्बन्धाऽसंभवात् प्रोक्तमार्गणात्रये सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रय उत्कृष्टकाल उत्कृष्टकायस्थितिर्भवति ॥३२९, ३३०॥

सम्प्रति तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालमाह–

कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितस्तथाऽवतरति, यथा काययोगाद्धाचरमसमयेऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयं प्राप्नोति, तदानीं च सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, तदनन्तरसमये तु योगान्तरप्राप्तेः काययोगमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयो लभ्यते। यद्वा क्रोधमार्गणावद् आयुष्कबन्धो वाच्यः।

यदा कश्चिज्जन्तुरुपशमश्रेणितः प्रतिपतन्ननिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा काल कृत्वा विग्रहगत्योत्पद्यते, तदाऽऽहारकमार्गणाया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते, विग्रहगता अनाहारकत्वात्।

'**समयो**' इत्यादि, परिहारविशुद्धिसयममार्गणायाम् अवधिद्विके=अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनलक्षणे मार्गणाद्वये च सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयो जघन्यकालः समयः '**प्रज्ञापना-सूत्रा**ऽभिप्रायेण, अथवाशब्दो मतान्तरप्रदर्शनार्थकः, मतान्तरेणाऽन्तमुर्हूर्तम् , उक्तमार्गणात्रयस्य जघन्यकायस्थितेर्यथोक्तमानत्वात्।

'शेषासु' उक्तोद्धरितासु त्रयस्त्रिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकाल एकजीवाश्रयो 'मुहूर्तान्तः' अन्तमुर्हूर्तं 'भवेत्' स्यात् , तत्रैकसमयादिकालस्याऽसंभवात्। तथाहि—मनुष्यगतिसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुपीवर्जेषु चतुश्चत्वारिंशद्गतिभेदेषु (४४), पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरहितेषु सप्तदशसु (१७) इन्द्रियभेदेषु, त्रसकायपर्याप्तत्रसकायवर्जेषु चत्वारिंशत्कायभेदेषु (४०) औदारिकमिश्रकाययोगे पुरुषवेदे चक्षुर्दर्शने संज्ञिमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां च सर्वसंख्यया षडधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमायुष्कं तथा बध्नाति, यथाऽऽयुष्कबन्धानन्तरं तस्मिन् भवे तत्तन्नारकादिपर्यायः सर्वस्तोककालं तिष्ठेत्। तस्मिंश्च काले सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, स च काल आयुष्कबन्धानन्तरं विश्रान्तिकाललक्षणोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवति, तस्मिन् काले व्यतिक्रान्ते प्रोक्तमार्गणातो भिन्नासु मार्गणासूत्पद्यते, तेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालोऽन्तमुर्हूर्तप्रमाण एकजीवाश्रित उक्तमार्गणासु लभ्यते, अन्तमुर्हूर्तात् परतो विवक्षितमार्गणाया एवोच्छेदात्। यद्वा प्रोक्तषडुत्तरशतमार्गणास्वायुष्कबन्धान्तरस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकस्य स्थानस्य बन्धकालोऽन्तमुर्हूर्तम्। अनयोर्यः केवलिदृष्ट्या जघन्यः, स इह ग्राह्यः।

वैक्रियमिश्रकाययोग मिश्रमार्गणयोर्जघन्यकायस्थितेरन्तमुर्हूर्तमात्रत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालस्तत्राऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते, आयुर्बन्धाभावाद् हि ततो हीनः कालस्तत्र न प्राप्यते।

मत्यज्ञान श्रुताज्ञाना-ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना ऽशुभलेश्यात्रय-मिथ्यात्व-भव्या- ऽभव्यमार्गणास्वायुष्कबन्धान्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादायुर्बन्धान्तरालकाले च सप्तप्रकृतीनां बन्धात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्त लभ्यते। न च मत्यज्ञान श्रुताज्ञाना-ऽविरत-मिथ्यात्वानां प्रत्येक जघन्यकायस्थितेर्लाभाद् वैक्रियमिश्रकाययोगवद् जघन्यकायस्थितिः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानजघन्य-

कालत्वेन कुतो न भण्यते ? इति वाच्यम्, उक्तमार्गणासु जघन्यकायस्थितित आयुष्कबन्धजघन्यान्तरस्य संख्येयगुणहीनत्वसम्भवाद् इह च यथासंभवं जघन्यबन्धकालस्येष्टत्वात् ।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणः कालो जघन्यकायस्थित्यपेक्षयाऽऽयुष्कजघन्यान्तरापेक्षया च लभ्यते, तयोर्मध्य आयुष्कबन्धजघन्यान्तरकालः स्तोकः सभाव्यते, स इह ग्राह्यः ।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितः पतित्वाऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयात् प्रभृति सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं बध्नाति । ततः शीघ्रतरमौपशमिकसम्यक्त्वतः प्रतिपतति । यद्वोपशमश्रेणिमारुरुत्सोरौपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तितः प्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमयं यावत् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते । एतयोर्यः केवलिदृष्ट्या स्तोकः, सोऽत्र जघन्यत्वेन बोद्धव्यः ॥३२८॥

सम्प्रति सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽऽदेशत एकजीवाश्रितमुत्कृष्टकाल निरूपयितुमनाः प्राह–

सव्वणिरयदेवेसुं उरालमणपज्जवेसु विब्भंगे ।
संजमसामइएसुं छेए परिहारदेसेसुं ॥३२९॥
तह छसु लेसासु भवे जेट्ठो देसूणजेट्ठकायठिई ।
गुरुकायठिई कम्मणसासणणाहारगेसु भवे ॥३३०॥

(प्रे०)'सव्व०' इत्यादि, सर्वनिरयदेवेषु, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वनिरयेषु=अष्टसंख्यकेषु निरयभेदेषु, सर्वदेवेषु=त्रिंशत्सुरमार्गणाभेदेषु, औदारिककायमार्गणामनःपर्यवज्ञानमार्गणयोर्विभङ्गज्ञानमार्गणायां संयमसामान्यमार्गणायां सामायिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनीसंयममार्गणास्थाने परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणास्थाने देशविरतमार्गणायां षट्सु च लेश्यासु सर्वसंख्यया द्वापञ्चाशन्मार्गणासु ज्येष्ठ एकजीवाश्रित उत्कृष्टकालो देशोनज्येष्ठकायस्थितिः 'भवेत्' स्यात् । भावार्थः पुनरयम्–प्रोक्तमार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितिश्चतुरशीतितमगाथाप्रभृतिगाथाकदम्बतोऽवसेया। प्रोक्तमार्गणासूत्कृष्टकायस्थिति गमयन् स्वभवेऽन्तर्मुहूर्तमात्रावशेषे नियमतः पारभविकमायुर्बध्नाति जीवः, आयुष्क बध्नतश्चाऽष्टप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति । तेन प्रोक्तमार्गणानां योत्कृष्टकायस्थितिरभिहिता, साऽन्तर्मुहूर्तन्यूना सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानोत्कृष्टकालत्वेनाऽभिधातव्या ।

'गुरु०' इत्यादि, गुरुकायस्थितिः कार्मण-सास्वादना-ऽनाहारकेषु त्रिषु मार्गणाभेदेषु 'भवेत्' सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालः स्यात्, उत्कृष्टकायस्थितिं गमयतः सास्वादनमार्गणायामायुष्कबन्धस्याऽवश्यभावात् शेषयोश्च मार्गणयोरायुर्बन्धाऽसंभवात् प्रोक्तमार्गणात्रये सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रय उत्कृष्टकाल उत्कृष्टकायस्थितिर्भवति ॥३२९, ३३०॥

सम्प्रति तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालमाह–

सव्वेसुं तिरियम सएगिंदियविगलपंचकायेसुं ।
असमत्तपणिंदितसेसु साहिया भवठिई जेट्ठा ॥३३१॥

(प्रे०) 'सव्वेसुं' इत्यादि, सर्वेषु तिर्यक्षु=पञ्चसु तिर्यग्भेदेषु, सर्वमनुष्येषु=चतुर्षु मनुष्यमार्गणाभेदेषु सर्वैकेन्द्रियेषु=सप्तस्वेकेन्द्रियमार्गणास्थानेषु सर्वविकलेषु=त्रिषु द्वीन्द्रियेषु त्रिषु त्रीन्द्रियेषु त्रिषु च चतुरिन्द्रियेषु सर्वपञ्चकायेषु=सप्तपृथिवीकाय-सप्ताऽप्काय-सप्ततेजःकाय सप्तवायुकायै-कादशवनस्पतिकायरूपास्वेकोनचत्वारिंशन्मार्गणासु 'असमत्त०' इत्यादि, असमाप्तशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणयोश्च सर्वसंख्यया पट्षष्टिमार्गणासु 'साधिका' अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जेषु चतुर्षु तिर्यग्मार्गणाभेदेष्वपर्याप्तमनुष्यवर्जेषु त्रिषु मनुष्यभेदेष्वन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेन शेषासु चाऽन्तर्मुहूर्तन्यूनतत्तद्भवोत्कृष्टस्थितित्रिभागेनाऽधिका 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा भवस्थितिः प्रकृत्यात्मकस्थानस्योत्कृष्टबन्धकालो भवति, आयुर्बन्धस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टा-ऽन्तरस्य तावन्मात्रत्वाद् आयुष्कबन्धान्तरे च सप्तानां प्रकृतीनां बन्धात् । भावना त्वायुष्कबन्धान्तरवत् कर्तव्या ॥३३१॥ सम्प्रति मनोयोगादिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालमाह—

पणमणवयुरलमीसगविउवाहारदुगचउकसायेसुं ।
अवगयवेए मीसे तहा उवसमे मुहुत्तंतो ॥३३२॥

(प्रे०) 'पण०' इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ-दारिकमिश्रकाययोग वैक्रियकाययोगतन्मिश्रकाययोगा ऽऽहारकद्विकेषु चतुष्कषायेष्वपगतवेदमार्गणायां मिश्रमार्गणायां तथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशतिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालः 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवति, कुतः ? इति चेत्, उच्यते—इहौदारिकमिश्रकाययोगाऽपगतवेदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणावर्जानामेकोनविंशतिमार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् तासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति ।

औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायास्तूत्कृष्टकायस्थितिर्यद्यप्यन्तर्मुहूर्तप्रमिता प्रागभिहिता, तथापि साऽत्र सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालत्वेन न सम्भवति, तस्याः संख्यातभवैर्निष्पन्नत्वात् । तेनौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां भवद्वयापेक्षया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानोत्कृष्टकालः साधिको ऽपर्याप्तजीवैकभवस्थितिमात्रो भवति, स चाऽऽयुष्कबन्धोत्कृष्टान्तरप्रमाणो भवति ।

कश्चिज्जीवः स्त्रीवेदोदयेन नपुंसकवेदोदयेन वोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । अनिवृत्तिबादरसम्परायस्य बहुसंख्येयभागेषु गतेषु सोऽपगतवेदो जायते, ततः प्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमयं यावत् सप्तप्रकृत्यात्मकं स्थानं बध्नाति, परतस्तु षट्प्रकृत्यात्मकम् । तदेवमपगतवेदमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रित उत्कृष्टकालोऽनिवृत्तिबादरसम्परायसंख्येयभागमात्राऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो लभ्यते ।

यद्यप्यौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुत्कृष्टकायस्थितेरन्तमुर्हूर्तप्रमाणत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्ध-स्थानस्योत्कृष्टकालोऽन्तमुर्हूर्तमात्रो मनोयोगादिवद् भवति, तथापि विनयजनबुद्धिवैशद्यार्थं कश्चिद् विशेषोऽभिधीयते–औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालः प्रथमौप-शमिकसम्यक्त्वापेक्षया वाच्यः। न चौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तिसमयतः प्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमयं यावदन्तमुर्हूर्तं सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालः कथं न स्यादिति वाच्यम्, श्रेणिगतौपशमिकसम्यक्त्वकालतः प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वकालस्य प्रभूततर-त्वादुत्कृष्टकायस्थितेश्च प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वापेक्षया प्राक् कायस्थितिनिरूपणे दर्शितत्वात् प्रथमौप-शमिकसम्यक्त्वदशायामपि सप्तप्रकृतीना बन्धाच्च ॥३३२॥

सम्प्रति काययोगसामान्य स्त्रीवेदमार्गणयोः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालमाह––

देसूणतिभागाहियजेट्ठपुहविभवठिई भवे काये।
थीए पंचावण्णा पलिआ-ऽब्भहिया मुणेयव्वो ॥३३३॥

(प्रे०) '**देसूण०**' इत्यादि, काययोगसामान्यमार्गणायां देशोनेन=अन्तमुर्हूर्तकालन्यूनेन त्रिभागेनाऽधिकोत्कृष्टपृथिवीकायभवस्थितिः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रय उत्कृष्टकालो भवेत्, पृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितिस्तु द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि प्रागभिहिता। तथा स्त्रीवेदमार्गणायाम् अन्तमुर्हूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽभ्यधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थान-स्य कालो ज्ञातव्यः, यतो भणितमार्गणाद्वय आयुष्कबन्धान्तरं यथोक्तमानमभिहितम्। अक्ष-राणि त्वेवम् ––

"कायम्मि भूभवठिई देसूणतिभागसंजुआ जेट्ठा। ×××॥१॥ थीए पचावण्णा पलिया-ऽब्भहिया मुणेयव्वा॥२॥" इति। आयुर्बन्धविरहा-ऽवस्थायां च सप्तप्रकृतयो बध्यन्ते, आयुष्कबन्धावस्थायां त्वष्टौ। तेनोक्त-मार्गणाद्वये प्रस्तुतकालो यथोक्तमानः प्राप्यते, भावना त्वायुष्कबन्धान्तरवत्कर्तव्या ॥३३३॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रितमुत्कृष्टकालमाह––

अमणम्मि पुव्वकोडी देसूणतिभागसंजुआ णेयो।
साहियतेत्तीसुदही तेवीसाएऽत्थि सेसासुं ॥३३४॥

(प्रे०) '**अमणम्मि**' इत्यादि, 'अमनसि' असंज्ञिमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैक-जीवाश्रित उत्कृष्टकालो देशोनत्रिभागसयुता पूर्वकोटिर्ज्ञातव्यः, तत्रैकजीवापेक्षयाऽऽयुष्कबन्धोत्कृष्टा-न्तरस्य यथोक्तमानत्वात्। भावना त्वायुष्कबन्धान्तरवत् कार्या।

'**साहिय०**' इत्यादि, 'त्रयोविंशतौ' त्रयोविंशतिसंख्याकासु 'शेषासु' पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु 'साधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयः' अन्तमुर्हूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सप्त-

प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालोऽस्ति, ताम्वायुष्कबन्धान्तरस्य यथोक्तमानत्वात् । शेषमार्गणाश्च नामतः पुनरिमाः-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-नपुंसकवेद मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽज्ञानद्वया-ऽविरत-चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-भव्या ऽभव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्व सञ्ज्या हारकमार्गणा इति । तदेवं निरूपित आदेशतः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्यैकजीवाश्रयो जघन्योत्कृष्टकालः ॥३३४॥

सम्प्रति षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयजघन्योत्कृष्टकालमाह—

जासु खलु मग्गणासुं छबंधठाणोऽत्थि सत्ततीसाए ।
ओघव्व जहण्णियरो कालो से तासु बोद्धव्वो ॥३३५॥

(प्रे०) ' ' इत्यादि, यासु खलु मनुष्यगत्यादिसप्तत्रिंशन्मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमस्ति, तासु मार्गणासु 'तस्य' षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्य उत्कृष्टश्चैकजीवाश्रयः कालः 'ओघवद् बोद्धव्यः' जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतश्चाऽन्तमुहूर्तं ज्ञातव्यः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते—षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकः सूक्ष्मसम्परायसंयतो भवति, सूक्ष्मसम्परायसंयतश्च जघन्यत एकसामयिक उत्कृष्टतश्चान्तर्मौहूर्तिको भवति । तेनोक्तमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्य उत्कृष्टकालश्चैकजीवाश्रयो यथोक्तमानो लभ्यते । प्रस्तुतगाथायाम् "ओघव्व" इत्यनेन सप्तत्रिंशन्मार्गणासूत्कृष्टकालो योऽतिदिष्टः, स सामान्यतोऽन्तमुहूर्तमात्रो बोद्धव्यः, न तु सर्वासु सप्तत्रिंशन्मार्गणासु विशेषत औघिका-ऽन्तमुहूर्तप्रमाणः, यतो यद्यपि मनुष्यगत्यादिमार्गणास्वौघिका-ऽन्तमुहूर्तप्रमाणः संभवति, तथापि मनोयोगादिमार्गणासु न संभवति, सूक्ष्मसम्परायकालतो मनोयोगाद्युत्कृष्टकालस्य हीनत्वात् । तेन सप्तत्रिंशन्मार्गणासु यथासंभवमौघिका-ऽन्तमुहूर्तमात्रः सामान्येनाऽन्तमुहूर्तमात्रो वा षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो भावनीयः । सप्तत्रिंशन्मार्गणाश्चेमाः-अपर्याप्तमनुष्यवर्जशेषमनुष्यभेदत्रय-पञ्चेन्द्रियसामान्य--पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौ दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-लोभ-केवलवर्जज्ञानचतुष्क-संयमसामान्य-सूक्ष्मसम्पराय-केवलवर्जदर्शनत्रय-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सञ्ज्ञिमार्गणा आहारकमार्गणा चेति ॥३३५॥

सम्प्रत्यादेशत एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रितं जघन्योत्कृष्टकाल व्याहर्तुकाम आदौ तावज्जघन्यकालमाह—

कम्माणाहारेसुं लहू तिसमयेगबंधठाणस्स ।
अंतमुहुत्तं केवलदुगम्मि समयोऽत्थि सेसासुं ॥३३६॥

(प्रे०) 'कम्मा०' इत्यादि, कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोरेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य 'लघुः' एकजीवाश्रयो जघन्यकालस्त्रिसमया भवति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिभिरुक्तमार्गणये रे-

न्यात् कार्मणकाययोगिनामनाहारकाणां च समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनां जघन्योत्कृष्टतस्त्रिसमयस्थायित्वात् ।

'केवलद्विके' केवलज्ञाने केवलदर्शने चैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, यतस्तत्र सयोगिकेवलिन एकां प्रकृतिं बध्नन्ति, ते च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तस्थायिनः, यदुक्तं श्रीपञ्चसंग्रहवृत्तौ श्रीमन्मलयगिरिपादैः "तथा'देसस्सव जोगिणो कालो' देशस्येव देशविरतस्येव योगिन सयोगिकेवलिन कालो वेदितव्यो, जघन्योऽन्तर्मुहूर्त्तं उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीत्यर्थ." इति ।

सम्प्रति शेषास्वष्टात्रिंशन्मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मबन्धस्थानकस्य जघन्यकालमाह 'समयोऽत्थि से ...' ति, 'शेषासु'अपर्याप्तमनुष्यवर्जत्रिमनुष्यभेद--पञ्चेन्द्रियसामान्य--पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग तन्मिश्रकाययोगा ऽपगतवेदा-ऽकषाय-केवलवर्जज्ञानचतुष्क संयमसामान्य-यथाख्यातसंयम-केवलवर्जदर्शनत्रय-शुक्ललेश्या भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या हाररूपास्वष्टात्रिंशन्मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यकालः समयोऽस्ति, यत औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिन एकां प्रकृतिं बध्नन्ति, औदारिककाययोगिनश्च सयोगिकेवलिनो जघन्यत एकसमयस्थायिनः । शेपासु मार्गणासूपशान्तमोहा अप्येकां प्रकृतिं बध्नन्ति । तेऽपि जघन्यत एकसमयस्थायिनः, यदुक्तं श्रीप ... ग्रहे "समयाओ अंतमुहू अपुव्वकरणाउ जाव उवसंतो ।" इति । ॥३३६॥

सम्प्रत्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टमेकजीवाश्रयकालमाह--

जेट्ठो अंतमुहुत्तं पणमणवयकायउरलजोगेसु ।
तह चउणाणतिदरिसणउवसमसण्णीसु विण्णेयो ॥३३७॥

(प्रे०) 'जेट्ठो' इत्यादि, "एगबंधठाणस्स" इति पूर्वतोऽनुवर्तते । पञ्चमनोयोगेषु पञ्चवचनयोगेषु काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगयोः केवलवर्जज्ञानचतुष्क-केवलवर्जदर्शनत्रयौ-पशमिकसम्यक्त्व-सञ्ज्ञिमार्गणासु च सर्वसंख्ययैकविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयः, चतुर्ज्ञानदर्शनत्रयरूपासु सप्तसु मार्गणासूपशान्तमोह-क्षीणमोहयोरेवैकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धादुपशान्तमोहक्षीणमोहयोश्चोत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तस्थायित्वात् तथा शेषासूपशान्तमोह-क्षीणमोहसयोगिकेवलिनामन्यतरस्योक्तस्थानबन्धकत्वेऽप्युपशान्तमोहादीनां तासूत्कर्षेणाऽन्तर्मुहूर्ततः परतोऽवस्थानाभावात् ॥३३७॥

सम्प्रति शेषास्वेकविंशतिमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालमाह--

समयदुगमुरलमीसे कम्माणाहारगेसु समयतिगं ।
देसूणपुव्वकोडी अट्ठारससु खलु सेसासु ॥३३८॥

(प्रे०) 'स ०' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकाल एकजीवाश्रितः 'समयद्विकं' द्वौ समयौ भवति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनां षष्ठसमयसप्तमयर्योरौदारिकमिश्रकाययोगित्वात् तैश्चैकप्रकृतेर्बन्धात् ।

कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोरेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकाल एकजीवाश्रयः 'समयत्रिकं' त्रिसामयिको भवति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनां तृतीयचतुर्थप समयेषु कार्मणकाययोगित्वादानाहारकत्वाच्च तैश्चैकप्रकृतेर्बन्धात् ।

शेषासु मार्गणासु प्रस्तुतकालमाह-'देसूण०' इत्यादि, देशेन=सातिरेकवर्षाष्टकेन ऊना=न्यूना पूर्वकोटिः साधिकाष्टवर्षन्यूनपूर्वकोटिवर्षाणीत्यर्थः, शेषासु खल्वष्टादशसु मनुष्यगत्यादिमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालो भवति, केवलद्विके सयोगिकेवलिनां बन्धकत्वात् तेषां च यथोक्तकालस्थायित्वात् शेषासु पुनः षोडशमार्गणासु क्षीणमोहस्यापि बन्धकत्वात् सयोगिकेवलिकाले क्षीणमोहकालस्य प्रक्षेपेणैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालप्राप्तेः । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः-मनुष्यगतिसामान्य पर्याप्तमनुष्य-मानुषी पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपगतवेदा-ऽकषाय केवलज्ञान संयमसामान्य-यथाख्यातसंयम-केवलदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽऽहारकमार्गणा इति ।

यासु त्रयःषष्टयां शतमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमस्ति, तासु सर्वासु मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्चैकजीवाश्रयः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, आयुष्कबन्धकालस्य यथोक्तमानत्वात् । नवरं मनोयोगादिमार्गणासु जघन्यकालः समयमात्रो बोद्धव्यः, योगकषायाणामायुर्बन्धकालेऽपि परावर्तमानत्वात् । विशेषार्थिनाऽऽयुष्कबन्धकालप्ररूपणं विलोकनीयम् । तदेवमेकजीवाश्रयं कालद्वारं गतम् ॥२३८॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारे चतुर्थं कालद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ पञ्चममन्तरद्वारम् ॥

सम्प्रति बन्धस्थानानामेकजीवाश्रितमन्तरं प्ररुरूपयिपुरादौ तावदोघत आह—

अह सत्तबंधठाणस्स लहुं समयो गुरुं मुहुत्तंतो।
इगछण्ह य लहु जेट्ठं पुण देसूणद्धपरिअट्टो ॥३३१॥

(प्रे०) 'अह' इत्यादि, 'अथ' अथशब्दोऽनन्तरार्थसूचकः, स च कालप्ररूपणानन्तरमन्तरद्वारमिति सूचयति, 'सप्तबन्धस्थानस्य' सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य 'लघु' एकजीवाश्रितं जघन्यान्तरं समयो भवति, 'गुरु' उत्कृष्टान्तरं च 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवति। कथम्? इति चेत्, उच्यते—यदा कश्चिज्जीव उपशमश्रेणिमारोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवच्छेद्य सूक्ष्मसम्परायं गच्छति, तत्र षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमेकसमयं बद्ध्वा कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नः पुनः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं बध्नाति, तदा सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यान्तरमेकसमयमात्रं लभ्यते। यदा कश्चिदुपशमश्रेणिमारूढोऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये सप्तप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं व्यवच्छेद्य क्रमेणाऽऽरोहणसूक्ष्मसम्परायो-पशान्तमोहा-ऽवरोहणसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकानि स्पृशति, ततोऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयमधिगतो भूयः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं बध्नाति, तदा सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टाऽन्तरमारोहणा-ऽवरोहणसूक्ष्मसम्परायो-पशान्तमोहकालमात्रमन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते।

सम्प्रत्येकप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोरेकजीवाश्रितं जघन्यान्तरमाह— **'इग०'** इत्यादि, एकप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोश्च 'लघु' एकजीवाश्रयजघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं भवति, मुहूर्तान्तरित्यस्यात्राऽपि सम्बन्धात्। भावना त्वेवं कार्या-कश्चिदपि जीव उपशान्तमोहगुणस्थानके वेदनीयाख्यैकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नाति। ततश्च्युत्वा सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नाति, ततः क्रमेणाऽधो गत्वा शीघ्रमेव क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, प्रतिपन्नोऽसौ लब्धक्षीणमोहगुणस्थानको भूयो वेदनीयाख्यामेकां प्रकृतिं बध्नाति, तदेवमेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं भवति, तच्चोपशान्तमोहगुणस्थानकैकजीवाश्रयजघन्याऽन्तरमात्रं भवति।

यदा कश्चिज्जीव उपशमश्रेणिमारूढः सूक्ष्मसम्परायचरमसमये षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवच्छेद्योपशान्तमोहगुणस्थानक एकप्रकृत्यात्मकं स्थानं बध्नंस्तत्राऽन्तर्मुहूर्तं यावदवस्थाय प्रतिपतति, अद्धाक्षयेण प्रतिपततो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावदुपशान्तमोहगुणस्थानकेऽवस्थितेः। प्रतिपतितोऽसौ सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयतः प्रभृति भूयः षट्प्रकृत्यात्मकं स्थानं बध्नाति, तदेवं षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयजघन्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तच्चैकजीवाश्रयसूक्ष्मसम्प-

रायगुणस्थानकाऽन्तरमात्रं भवति। सम्प्रत्यनयोः स्थानयोरुत्कृष्टान्तरमाह-'जेट्ठं' इत्यादि, 'ज्येष्ठ पुनः' एकप्रकृत्यात्मक षट्प्रकृत्यात्मकयोर्द्वयोर्बन्धस्थानयोरुत्कृष्टान्तरं पुनर्देशोनार्धपुद्गलपरावर्तो भवति, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहयोरुत्कृष्टान्तरस्य तावन्मात्रत्वात्, उक्तस्थानयोश्च यथाक्रममुपशान्तमोह सूक्ष्मसम्परायलक्षणगुणस्थानकद्वये लाभात् ॥३३९॥

सम्प्रत्यादेशतोऽन्तरमभिधातुमना लाघवार्थं यासु मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तर न संभवति, ता मार्गणाः सगृह्य प्राह—

वेउव्वमीसजोगे कम्मणमीसेसु तह अणाहारे।
णो चेव अंतरं खलु हवए सगबंधठाणस्स ॥३४०॥

(प्रे०) 'वेउव्व०' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां 'कार्मणमिश्रयोः' कार्मणकाययोगमार्गणायां सम्यङ्मिथ्यात्वमार्गणायां च, तथाऽनाहारकमार्गणास्थाने सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरं खलु नैव भवति। कुतः? इति चेत्, उच्यते—वैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्रमार्गणयोरन्यबन्धस्थानस्याभावेन व्यवधायकाभावादन्तराभावः। कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः सयोगिकेवलिभिरन्यबन्धस्थानस्यैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानलक्षणस्य लाभेऽपि तेषां प्रतिपाताभावाद् न भवत्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य व्यवधायकम्। तेन मार्गणाद्वये प्रस्तुतबन्धस्थानस्यान्तरं नास्ति ॥३४०॥

सम्प्रति शेषासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरमाह—

दुपणिंदितसेसु तहा काये लोहम्मि मइसुओहीसुं।
णयणेयरओहीसुं सुक्कभवियसम्म इएसुं ॥३४१॥
उवसमसण्णीसु तहा आहारे अंतरं मुणेयव्वं।
ओघव्व जहण्णियरं सेसासु भवे मुहुत्तन्तो ॥३४२॥

(प्रे०) 'दुपणिदि०' इत्यादि, द्विशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् द्वयोः पञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिययोः, द्वयोस्त्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रस मार्गणयोः काययोगमार्गणायां लोभमार्गणायां मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानलक्षणमार्गणात्रये 'नयनेतरावधिषु' चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शना ऽवधिदर्शनमार्गणासु शुक्ललेश्या-भव्य--सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽऽख्यमार्गणास्वौ-पशमिकसम्यक्त्व सञ्ज्ञिमार्गणयोराहारकमार्गणायां च सर्वसख्ययैकोनविंशतिमार्गणासु 'जघन्येतर' सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयं जघन्याऽन्तरमुत्कृष्टान्तरं च 'ओघवद्' जघन्यतः समय उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यम्, उक्तमार्गणाना देवगतावपि लाभात्, उपशमश्रेण्यारोहणस्य चाऽप्रतिषेधात्। भावना त्वोघवत्कर्तव्या। नवरमुत्कृष्टान्तरं काययोगलोभमार्गणयोरित्थं

भावनीयम्-कश्चिदनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये काययोगी भूत्वा क्रमेण सूक्ष्मसम्पराये तदुत्कृष्ट-काययोगकालमन्तमुहूर्तप्रमाणं व्यतिक्रम्य देवत्वेनोत्पद्यते, तत्र प्रथमसमयतो भूयः सप्तप्रकृती-र्बध्नाति, तेन काययोगमार्गणायां प्रस्तुताऽन्तरमन्तमुहूर्तमात्र लभ्यते । यः पुनरनिवृत्तिबादरस-म्परायचरमसमये सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा सूक्ष्मसम्परायाद्धां व्यतिक्रम्य देवत्वेनोत्पन्नः सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, तस्य लोभमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टान्तरमारोहणसूक्ष्मसम्परायाद्धाप्रमाणमन्त-र्मुहूर्तं लभ्यते ।

'शेषासु' उक्तोद्धरितासु पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यमुत्कृष्टश्चाऽन्तरं मुहूर्तान्तर्भवेत्, कासुचिद् नरकगत्यादिमार्गणास्वायुर्बन्धकालेन कासुचित् चाऽपगतवेदादिमार्गणासूपशमश्रेणिकालेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य व्यवहितत्वात् । इदमुक्तं भवति–इह यः कश्चिज्जीवोऽष्टाकर्षैरायुष्कं बध्नाति, स यदाऽष्टमाकर्षेणायुष्कं बध्नाति, तदाऽसा आयुष्कं येन स्तोकेनाऽन्तमुहूर्तकालेन बध्नाति, तेन कालेन नरकगत्यादिसप्तचत्वारिंशद्गति-भेदेषु पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियभेदेषु त्रसकायपर्याप्तत्रसकायवर्जचत्वा-रिंशत्कायभेद-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारकद्विकौ-दारिककाययोग -तन्मिश्र-काययोग वेदत्रय लोभवर्ज कषायत्रिक-मनःपर्यवज्ञाना ऽज्ञानत्रय-संयमसामान्य सामायिक-च्छेदोपस्था-पनीय परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरता-ऽविरत -शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्चका ऽभव्य - क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व-सास्वादन-मिथ्यात्वा ऽसंज्ञिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवधीयते, आयुषि बध्य-मानेऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सद्भावात् । स च कालोऽन्तमुहूर्तमात्रो भवति, जघन्यतोऽप्यायु-र्बन्धकालस्याऽन्तमुहूर्तप्रमाणत्वात् । तेनोक्तासु पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मक-बन्धस्थानस्य जघन्यान्तरमन्तमुहूर्तं लभ्यते, न चोपशमश्रेण्यारोहणाऽवरोहणाभ्यामपि सप्तप्रकृत्या-त्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरमन्तमुहूर्तं लभ्यते, तत् कुतः केवलमायुर्बन्धमाश्रित्य भाव्यते ? इति वाच्यम्, अष्टमाकर्षकालतः श्रेण्यारोहणाऽवरोहणकालस्य प्रभूतत्वाद् इह च जघन्यान्तरस्येष्टत्वे-नाऽल्पकालस्यैव प्रयोजनात् ।

अपगतवेदमार्गणाया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्याऽन्तरमारोहणा ऽवरोहणसूक्ष्म-सम्परायोपशान्तमोहाद्धामात्र बोध्यम् ।

यः खल्वेकेनैवाकर्षेणायुष्कं बध्नाति, तस्यायुष्कबन्धकालः प्रभूतो भवति, तेन कालेन मनुष्य-गतिसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीवर्जगतिभेदचतुश्चत्वारिंशत्क- पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्ज-सप्तदशेन्द्रियभेद-त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जकायभेदचत्वारिंशत्क-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयो-गौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग- वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारकद्विक-वेदत्रय--कषायत्रया -ऽज्ञानत्रिक-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरता-ऽविरत-शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्चका-

रायगुणस्थानकाऽन्तरमात्र भवति। सम्प्रत्यनयोः स्थानयोरुत्कृष्टान्तरमाह-'जेट्ठं' इत्यादि, 'ज्येष्ठं पुनः' एकप्रकृत्यात्मक षट्प्रकृत्यात्मकयोर्द्वयोर्बन्धस्थानयोरुत्कृष्टान्तरं पुनर्देशोनार्धपुद्गलपरावर्तो भवति, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहयोरुत्कृष्टान्तरस्य तावन्मात्रत्वात्, उक्तस्थानयोश्च यथाक्रम-मुपशान्तमोह सूक्ष्मसम्परायलक्षणगुणस्थानकद्वये लाभात् ॥३३९॥

सम्प्रत्यादेशतोऽन्तरमभिधातुमना लाघवार्थं यासु मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्या-ऽन्तर न संभवति, ता मार्गणाः सगृह्य प्राह—

वेउव्वमीसजोगे कम्मणमीसेसु तह अणाहारे।
णो चेव अंतरं खलु हवए सगबंधठाणस्स ॥३४०॥

(प्रे०) 'वेउव्व०' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां 'कार्मणमिश्रयोः' कार्मणका-ययोगमार्गणायां सम्यङ्मिथ्यात्वमार्गणायां च, तथाऽनाहारकमार्गणास्थाने सप्तप्रकृत्यात्मकबन्ध-स्थानस्याऽन्तरं खलु नैव भवति। कुतः? इति चेत्, उच्यते-वैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्रमार्गणयोर-न्यबन्धस्थानस्याभावेन व्यवधायकाभावादन्तराभावः। कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः सयो-गिकेवलिभिरन्यबन्धस्थानस्यैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानलक्षणस्य लाभेऽपि तेषां प्रतिपाताभावाद् न भवत्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य व्यवधायकम्। तेन मार्गणाद्वये प्रस्तु-तबन्धस्थानस्यान्तरं नास्ति ॥३४०॥

सम्प्रति शेषासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरमाह—

दुपणिंदितसेसु तहा काये लोहम्मि मइसुओहीसुं।
णयणेयरओहीसुं सुक्कभवियसम्म इएसुं ॥३४१॥
उवसमसण्णीसु तहा आहारे अंतरं मुणेयव्वं।
ओघव्व जहण्णियरं सेसासु भवे मुहुत्तन्तो ॥३४२॥

(प्रे०) 'दुपणिंदि०' इत्यादि, द्विशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् द्वयोः पञ्चेन्द्रिययोः= पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिययोः, द्वयोस्त्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायमार्गणयोः काय-योगमार्गणायां लोभमार्गणाया मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानलक्षणमार्गणात्रये 'नयनेतरावधिषु' चक्षु-र्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शना ऽवधिदर्शनमार्गणासु शुक्ललेश्या-भव्य--सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽऽ-ख्यमार्गणास्वौ-पशमिकसम्यक्त्व सञ्ज्ञिमार्गणयोराहारकमार्गणायां च सर्वसख्ययैकोनविंशतिमार्ग-णासु 'जघन्येतर' सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयं जघन्याऽन्तरमुत्कृष्टान्तरं च 'ओघवद्' जघन्यतः समय उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यम्, उक्तमार्गणानां देवगतावपि लाभात्, उपशमश्रेण्या-रोहणस्य चाऽप्रतिषेधात्। भावना त्वोघवत्कर्तव्या। नवरमुत्कृष्टान्तर काययोगलोभमार्गणयोरित्थं

भावनीयम्-कश्चिदनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये काययोगी भूत्वा क्रमेण सूक्ष्मसम्पराये तदुत्कृष्ट-काययोगकालमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं व्यतिक्रम्य देवत्वेनोत्पद्यते, तत्र प्रथमसमयतो भूयः सप्तप्रकृती-र्बध्नाति, तेन काययोगमार्गणायां प्रस्तुताऽन्तरमन्तर्मुहूर्तमात्र लभ्यते । यः पुनरनिवृत्तिबादरस-म्परायचरमसमये सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा सूक्ष्मसम्परायाद्धां व्यतिक्रम्य देवत्वेनोत्पन्नः सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, तस्य लोभमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टान्तरमारोहणसूक्ष्मसम्परायाद्धाप्रमाणमन्त-र्मुहूर्तं लभ्यते ।

'शेषासु' उक्तोद्धरितासु पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्चाऽन्तरं मुहूर्तान्तर्भवेत् , कासुचिद् नरकगत्यादिमार्गणास्वायुर्बन्धकालेन कासुचित् चाऽपगतवेदादिमार्गणासूपशमश्रेणिकालेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य व्यवहितत्वात् । इदमुक्तं भवति–इह यः कश्चिज्जीवोऽष्टाकर्षैरायुष्कं बध्नाति, स यदाऽष्टमाकर्षेणायुष्कं बध्नाति, तदाऽसा आयुष्कं येन स्तोकेनाऽन्तर्मुहूर्तकालेन बध्नाति, तेन कालेन नरकगत्यादिसप्तचत्वारिंशद्गति-भेदेषु पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियभेदेषु त्रसकायपर्याप्तत्रसकायवर्जचत्वा-रिंशत्कायभेद-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारकद्विकौ-दारिककाययोग -तन्मिश्र-काययोग वेदत्रय लोभवर्ज कषायत्रिक मनःपर्यवज्ञाना ऽज्ञानत्रय-संयमसामान्य सामायिक-च्छेदोपस्था-पनीय परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरता ऽविरत--शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्चका ऽभव्य - क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व-सास्वादन-मिथ्यात्वा ऽसंज्ञिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवधीयते, आयुषि बध्य-मानेऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सद्भावात् । स च कालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवति, जघन्यतोऽप्यायु-र्बन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । तेनोक्तासु पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मक-बन्धस्थानस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं लभ्यते, न चोपशमश्रेण्यारोहणाऽवरोहणाभ्यामपि सप्तप्रकृत्य-त्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं लभ्यते, तत् कुतः केवलमायुर्बन्धमाश्रित्य भाव्यते ? इति वाच्यम् , अष्टमाकर्षकालतः श्रेण्यारोहणाऽवरोहणकालस्य प्रभूतत्वाद् इह च जघन्यान्तरस्येष्टत्वे-नाऽल्पकालस्यैव प्रयोजनात् ।

अपगतवेदमार्गणाया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्याऽन्तरमारोहणा ऽवरोहणसूक्ष्म-सम्परायोपशान्तमोहाद्धामात्र बोध्यम् ।

यः खल्वेकेनैवाकर्षेणायुष्कं बध्नाति, तस्यायुष्कबन्धकालः प्रभूतो भवति, तेन कालेन मनुष्य-गतिसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीवर्जगतिभेदचतुश्चत्वारिंशत्क- पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्ज-सप्तदशेन्द्रियभेद-त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जकायभेदचत्वारिंशत्क-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयो-गौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग- वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारकद्विक-वेदत्रय--कषायत्रया -ऽज्ञानत्रिक-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरता-ऽविरत-शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्चका-

रायगुणस्थानकाऽन्तरमात्रं भवति। सम्प्रत्यनयोः स्थानयोरुत्कृष्टान्तरमाह-'जेट्ठं' इत्यादि, 'ज्येष्ठं पुनः' एकप्रकृत्यात्मक षट्प्रकृत्यात्मकयोर्द्वयोर्बन्धस्थानयोरुत्कृष्टान्तरं पुनर्देशोनार्धपुद्गलपरावर्तो भवति, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहयोरुत्कृष्टान्तरस्य तावन्मात्रत्वात्, उक्तस्थानयोश्च यथाक्रममुपशान्तमोह सूक्ष्मसम्परायलक्षणगुणस्थानकद्वये लाभात् ॥३३९॥

सम्प्रत्यादेशतोऽन्तरमभिधातुमना लाघवार्थं यासु मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तर न संभवति, ता मार्गणाः सगृह्य प्राह—

वेउव्वमीसजोगे कम्मणमीसेसु तह अणाहारे ।
णो चेव अंतरं खलु हवए सगबंधठाणस्स ॥३४०॥

(प्रे०) 'वेउव्व०' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां 'कार्मणमिश्रयोः' कार्मणकाययोगमार्गणायां सम्यङ्मिथ्यात्वमार्गणायां च, तथाऽनाहारकमार्गणास्थाने सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरं खलु नैव भवति। कुतः ? इति चेत्, उच्यते—वैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्रमार्गणयोरन्यबन्धस्थानस्याभावेन व्यवधायकाभावादन्तराभावः। कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः सयोगिकेवलिभिरन्यबन्धस्थानस्यैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानलक्षणस्य लाभेऽपि तेषां प्रतिपाताभावाद् न भवत्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य व्यवधायकम्। तेन मार्गणाद्वये प्रस्तुतबन्धस्थानस्यान्तरं नास्ति ॥३४०॥

सम्प्रति शेषासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरमाह—

दुपणिंदितसेसु तहा ये लोहम्मि मइसुओहीसुं ।
णयणेयरओहीसुं सुक्कभवियसम्म इएसुं ॥३४१॥
उवसमसण्णीसु तहा आहारे अंतरं मुणेयव्वं ।
ओघव्व जहण्णियरं सेसासु भवे मुहुत्तन्तो ॥३४२॥

(प्रे०) 'दुपणिंदि०' इत्यादि, द्विशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् द्वयोः पञ्चेन्द्रिययोः=पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिययोः, द्वयोस्त्रसयोः=त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायमार्गणयोः काययोगमार्गणायां लोभमार्गणाया मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानलक्षणमार्गणात्रये 'नयनेतरावधिषु' चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शना ऽवधिदर्शनमार्गणासु शुक्ललेश्या-भव्य--सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽऽख्यमार्गणास्वौ-पशमिकसम्यक्त्व संज्ञिमार्गणयोराहारकमार्गणायां च सर्वसख्ययैकोनविंशतिमार्गणासु 'जघन्येतर' सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकजीवाश्रयं जघन्याऽन्त त्कृष्टान्तरं च 'ओघवद्' जघन्यतः समय उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यम्, उक्तमार्गणानां देवगतावपि लाभात्, उपशमश्रेण्यारोहणस्य चाऽप्रतिषेधात्। भावना त्वोघवत्कर्तव्या। नवरमुत्कृष्टान्तरं काययोगलोभमार्गणयोरित्थं

भावनीयम्-कश्चिदनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमये काययोगी भूत्वा क्रमेण सूक्ष्मसम्पराये तदुत्कृष्ट-काययोगकालमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं व्यतिक्रम्य देवत्वेनोत्पद्यते, तत्र प्रथमसमयतो भूयः सप्तप्रकृती-र्बध्नाति, तेन काययोगमार्गणायां प्रस्तुताऽन्तरमन्तर्मुहूर्तमात्र लभ्यते । यः पुनरनिवृत्तिबादरस-म्परायचरमसमये सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा सूक्ष्मसम्परायाद्धां व्यतिक्रम्य देवत्वेनोत्पन्नः सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, तस्य लोभमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टान्तरमारोहणसूक्ष्मसम्परायाद्धाप्रमाणमन्त-र्मुहूर्तं लभ्यते ।

'शेषासु' उक्तोद्धरितासु पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्चाऽन्तरं मुहूर्तान्तर्भवेत् , कासुचिद् नरकगत्यादिमार्गणास्वायुर्बन्धकालेन कासुचित् चाऽपगतवेदादिमार्गणासूपशमश्रेणिकालेन सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य व्यवहितत्वात् । इदमुक्तं भवति–इह यः कश्चिज्जीवोऽष्टाकर्षैरायुष्कं बध्नाति, स यदाऽष्टमाकर्षेणायुष्कं बध्नाति, तदाऽसा आयुष्कं येन स्तोकेनाऽन्तर्मुहूर्तकालेन बध्नाति, तेन कालेन नरकगत्यादिसप्तचत्वारिंशद्गति-भेदेषु पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियभेदेषु त्रसकायपर्याप्तत्रसकायवर्जचत्वा-रिंशत्कायभेद-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारकद्विकौ-दारिककाययोग -तन्मिश्र-काययोग वेदत्रय लोभवर्जकषायत्रिक मनःपर्यवज्ञाना ऽज्ञानत्रय-संयमसामान्य सामायिक-च्छेदोपस्था-पनीय परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरता ऽविरत--शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्चका-ऽभव्य - क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व-सास्वादन-मिथ्यात्वा ऽसंज्ञिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवधीयते, आयुषि बध्य-मानेऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सद्भावात् । स च कालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवति, जघन्यतोऽप्यायु-र्बन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । तेनोक्तासु पञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मक-बन्धस्थानस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं लभ्यते, न चोपशमश्रेण्यारोहणाऽवरोहणाभ्यामपि सप्तप्रकृत्य-त्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं लभ्यते, तत् कुतः केवलमायुर्बन्धमाश्रित्य भाव्यते ? इति वाच्यम् , अष्टमाकर्षकालतः श्रेण्यारोहणाऽवरोहणकालस्य प्रभूतत्वाद् इह च जघन्यान्तरस्येष्टत्वे-नाऽल्पकालस्यैव प्रयोजनात् ।

अपगतवेदमार्गणाया सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्याऽन्तरमारोहणा ऽवरोहणसूक्ष्म-सम्परायोपशान्तमोहाद्धामात्र बोध्यम् ।

यः खल्वेकेनैवाकर्षेणायुष्कं बध्नाति, तस्यायुष्कबन्धकालः प्रभूतो भवति, तेन कालेन मनुष्य-गतिसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीवर्जगतिभेदचतुश्चत्वारिंशत्क- पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्ज-सप्तदशेन्द्रियभेद-त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जकायभेदचत्वारिंशत्क-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयो-गौदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग- वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारकद्विक-वेदत्रय--कषायत्रया -ऽज्ञानत्रिक-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय- परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरता-ऽविरत-शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्चका-

भव्यक्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिरूपासु चत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवधीयते, आयुषि बध्यमानेऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य भावात् । स च कालोऽन्तमुहूर्तमात्रो भवति, उत्कृष्टतोऽप्यायुष्कबन्धकालस्याऽन्तमुहूर्तप्रमाणत्वात् ।

मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य--मानुषी गतवेद--मनःपर्यवज्ञान--संयमसामान्यरूपासु षट्सु मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टान्तरमन्तमुहूर्तमात्रमोघवद् भावनीयम् । यद्यप्यपगतवेदवर्जमनुष्यगत्यादिमार्गणापञ्चके आयुष्कबन्धकाले सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरं लभ्यते, तथाप्यायुष्कबन्धकालतोऽनिवृत्तिबादरसम्परायाऽन्तरालकालस्य प्रभूतत्वात् श्रेण्यपेक्षयोत्कृष्टान्तरं दर्शितम् ।

अकषाय-केवलद्विक सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यातसंयममार्गणासु प्रस्तुतबन्धस्थानस्याभावात् तस्यान्तरचिन्ताया नाऽस्त्यवकाशः ॥३४१,३४२॥

सम्प्रति षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यान्तरं विभणिषुरादौ तावद् यासु मार्गणासु तदन्तरं नास्ति, ता मार्गणाः संगृह्याऽऽह—

पणमणवयकायेसुं ओरालियलोहसुहुमेसुं ।
होएज्ज अंतरं खलु णो चेव छबंधठाणस्स ॥३४३॥

(प्रे०) 'पण०' इत्यादि, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकमभियोजनात् पञ्चमनोयोगमार्गणासु पञ्चवचनयोगमार्गणासु काययोगसामान्यमार्गणायामौदारिककाययोगमार्गणायां लोभमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां च सर्वसंख्यया चतुर्दशमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरं खलु नैव भवति । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते--पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगमार्गणासु न तावदेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानेन षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य व्यवधानं संभवति, उपशान्तमोहकालतः श्रेणा उक्तमार्गणाकालस्य हीनत्वात् । नाऽपि सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानेन, उपशान्तमोहकालतोऽप्यनिवृत्तिबादरसम्परायादिकालस्याधिकत्वात् । अयं भावः-यदि श्रेणौ मनोयोगादिमार्गणानां काल उपशान्तमोहकालतः प्रभूतो भवेत् ,तर्हि सूक्ष्मसम्परायचरमसमये षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवच्छेद्य तत उपशान्तमोहकालं व्यतिक्रम्य सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृतीर्बद्ध्वा षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरं लभेत, न चैवं भवति, उपशान्तमोहकालतः श्रेणौ मनोयोगादिमार्गणानां कालस्य हीनत्वात् । एवमनिवृत्तिबादरसम्परायादिकालतोऽपि मनोयोगादिमार्गणाकालस्य हीनत्वाद् न संभवति प्रस्तुतान्तरम् । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां त्वेकस्यैव-षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सत्त्वात् न तद् व्यवधातुं शक्यते । लोभमार्गणायां यद्यपि सप्तप्रकृत्यात्मकमष्टप्रकृत्यात्मकं च बन्धस्थानं भवतः, तथापि न ताभ्यां षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवधीयते । तथाहि-न तावदष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानेन तत्र षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवधीयते,

षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य श्रेणा एव सत्त्वेनाऽऽयुष्कबन्धाऽभावात् । नाऽपि सप्तप्रकृत्यात्मकबन्ध स्थानेन, श्रेणितोऽवतरणानन्तरं भूय उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानानां नियमतः कषायपरावृत्तेः ॥३४३॥

शेषासु यासु त्रयोविंशतिमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यमुत्कृष्टं चैकजीवाश्रितमन्तरमस्ति, ता मार्गणाः संगृह्य प्राह—

सेसासु मुहुत्तंतो हस्सं गयवेअसुक्कुवसमेसुं ।
जेट्ठं पि भवे पुव्वा कोडिपुहुत्तं तिमणुसेसुं ॥३४४॥
ओघव्व जाणियव्वं अचक्खुभवियेसु मग्गणासु भवे ।
सेसासु पंचदससु देसूणा जेट्ठकायठिई ॥३४५॥

(प्रे०) '**सेसा**' इत्यादि, 'शेषासु' सप्तत्रिंशन्मार्गणास्वेव षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सत्त्वात् चतुर्दशमार्गणासु चाऽन्तरस्य निषिद्धत्वादवशेषासु त्रयोविंशतिमार्गणासु '**मुहुत्तंतो हस्सं**' ति, षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य 'ह्रस्वं' जघन्यान्तरं 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवति, सूक्ष्मसम्पराय-गुणस्थानकजघन्यान्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वात् । भावना तु यथौघप्ररूपणायां कृता, तथैव कर्तव्या, विशेषाभावात् । शेषमार्गणाः पुनरिमाः मनुष्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाया ऽपगतवेद-केवलवर्जज्ञानचतुष्क-संयमसामान्य चक्षुर्दर्शना -ऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या भव्य सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञया-हारक-मार्गणा इति ।

सम्प्रत्युक्तत्रयोविंशतिमार्गणासूत्कृष्टान्तरमभिधातुमना आदौ यासु मार्गणासूत्कृष्टमप्यन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, ता मार्गणाः संगृह्य भणति–'**गय०**' इत्यादि, अपगतवेदशुक्ललेश्यौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु 'ज्येष्ठमपि' षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टमप्यन्तरं 'मुहूर्तान्तः' उपशान्तमोहगुणस्थानककालप्रमाणमन्तर्मुहूर्तं भवेत् , एकजीवापेक्षया प्रोक्तमार्गणात्रय उत्कृष्टत उपशान्तमोहगुणस्थानककालेन षट्प्रकृतीनां बन्धस्य व्यवहितत्वाद् उपशान्तमोहकालस्य चान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । न चैतासु मार्गणासु श्रेणिद्वयान्तरालकाल उत्कृष्टान्तरत्वेन कुतो न गृहीतः ? इति वाच्यम् , द्वितीयवारमुपशमश्रेण्यारोहणावसरं यावत् प्रोक्तमार्गणानामनवस्थानात् ।

'**पुव्वा**' इत्यादि, 'त्रिमनुष्येषु' मनुष्यसामन्य-पर्याप्तमनुष्य मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटिवर्षपृथक्त्वं भवति, तत्र सूक्ष्मसम्परायोत्कृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । न चाऽत्र देशोनकायस्थितिः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकत्रिपल्योपममात्री षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानोत्कृष्टान्तरत्वेन कुतो न लभ्यते ? इति वाच्यम् ,युगलधर्मिणा श्रेण्यभावात् ।

'**ओघव्व**' इत्यादि, अचक्षुर्दर्शन भव्ययोर्मार्गणयोः 'ओघवत्' षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थान-

स्योत्कृष्टान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमात्रं भवति, उक्तमार्गणाद्वये सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् ।

'` ासु' इत्यादि, शेषासु पञ्चदशसु पञ्चेन्द्रियसामान्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य -पर्याप्तत्रसकाय-केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्क-संयमसामान्य-चक्षुर्दर्शना -ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व संज्ञा-हारकरूपासु मार्गणासु 'देशोना ज्येष्ठकायस्थितिः' षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टान्तरं किञ्चिन्न्यूनस्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिर्भवेत्, कायस्थित्यारम्भ उपशमश्रेण्यारोहणानन्तरं प्रतिपतितानां स्वस्वकायस्थितिपर्यवसाने भूयः श्रेणिमारूढानामुत्कृष्टान्तरलाभात् । उत्कृष्टकायस्थितिस्तु षण्णवतितमगाथाप्रभृतिकालद्वारोक्तगाथातो ज्ञेया ॥३४४,३४५॥

सम्प्रति द्वाचत्वारिंशन्मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यमुत्कृष्टं चाऽन्तरमाह--

पणमणवयकायेसुं उरालदुगकम्मणेसु गयवेए ।
अकसाये तह केवलदुगे अहक्खायसुक्कासु ॥३४६॥
उवसम-ऽणाहारेसु णंतरमत्थि इगबंधठाणस्स ।
सेसासुं वीसाए छबंधठाणव्व दुविहं पि ॥३४७॥

(प्रे०) 'पण०' इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्येषु औदारिकद्विके=औदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगरूपमार्गणाद्वये कार्मणकाययोगे ऽपगतवेदमार्गणायामकषायमार्गणायां तथा 'केवलद्विके' केवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणे मार्गणाद्वये यथाख्यातसंयम-शुक्ललेश्यामार्गणयोरौपशमिकसम्यक्त्वा ऽनाहारकमार्गणयोश्चैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरं नास्ति । कुतः ? इति चेत्, उच्यते-इह तावदकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन यथाख्यातसंयमलक्षणेषु चतुर्षु मार्गणास्थानेषु न केनचिदपि बन्धस्थानेनैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं व्यवधीयते,तदन्यबन्धस्थानानां तत्राऽभावात् । कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सद्भावेऽप्यौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां चाऽष्टप्रकृत्यात्मकस्य बन्धस्थानस्य लाभेऽपि न तेन बन्धस्थानेनैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं तत्र व्यवधीयते, उक्तमार्गणात्रय एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य केवलिसमुद्घाताऽवस्थायां लाभात् केवलिनां च प्रतिपाताभावात् ।

शुक्ललेश्यौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोरप्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानान्तरं न लभ्यते, यत उपशमश्रेणितोऽद्धाक्षयेण प्रतिपतितानां भूयः श्रेण्यारोहणेन प्रस्तुताऽन्तरं संभवति, उपशमश्रेणितश्च प्रतिपतितानां लेश्यापरावृत्तिं तथा क्षायोपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तिं विना न भूयः श्रेणेरारोहणं सम्भवति, तेनोक्तमार्गणाद्वये न प्रस्तुताऽन्तरं लभ्यते । एवमपगतवेदमार्गणायामपि प्रस्तुता-ऽन्तरं नाऽऽसाद्यते, श्रेणितोऽवतरतां जीवानां नियमतो वेदोदयेनापगतवेदमार्गणापरावृत्तेः । मनोयोगपञ्चक-

वचनयोगपञ्चक---काययोगसामान्यौ---दारिककाययोगमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तराभावः सुगमः, उपशान्तमोहकालतः श्रेणा उक्तमार्गणाना कालस्य हीनत्वेन केवलश्रेण्यवरोहणकालतोऽपि हीनत्वात् , अन्तरस्य पुनरवरोहणेनाऽऽरोहणेन च लाभात् ।

'सेसासु' इत्यादि, शेषासु 'विंशतौ' विंशतिसंख्यकासु मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी- पञ्चेन्द्रियसामान्य--पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय -त्रसकायसामान्य- पर्याप्तत्रसकाय- केवलवर्जज्ञानचतुष्क-संयमसामान्य-केवलवर्जदर्शनत्रिक-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-हारकरूपासु मार्गणासु 'द्विविधमपि' एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यमुत्कृष्टं चाऽप्यन्तरं षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानवत् भवति। तथाहि—मार्गणाना विंशत्यामप्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, यतः कश्चिदुपशान्तमोहतः प्रच्युत्य प्रमत्तसंयतो वाऽप्रमत्तसंयतो वा भूत्वा पुनरन्तमुहूर्तेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः क्षीणमोहे भूय एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानमुपलभते। तदेवमेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धो जघन्यतोऽन्तमुहूर्तकालेन व्यवधीयते ।

अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां चैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तो भवति, मनुष्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपासु तिसृषु मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टान्तर पूर्वकोटीपृथक्त्वमात्र भवति, शेषासु पञ्चदशमार्गणासु पुनर्देशोना स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति ।

प्रथमाधिकारे द्वाविंशत्यधिकशततमगाथाप्रभृतिगाथास्वायुष्कबन्धाऽन्तरमादेशतो मार्गणासु यथा कथितम् , तथैवाऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरं वाच्यम् । तदेवं समाप्तमन्तरद्वारम् । तत्समाप्तौ च समाप्तान्येकजीवाश्रितानि द्वाराणि ॥३४६,३४७॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारे पञ्चममन्तरद्वार समाप्तम् ॥



ओघत आदेशतश्च सर्वमार्गणासु (१६३) अष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽन्तरमायुष्कर्मबन्धान्तरवद्भवति ।

	सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य			षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य		
जघन्यम्	अन्तर नास्ति	१ समय.	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर नास्ति	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्
उत्कृष्टम्		अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्		अन्तर्मुहूर्तम्	पूर्वकोटीपृथक्त्वम्
गतिः			सर्वा ४७		•	अपर्याप्तवर्जत्रि-मनुष्या
इन्द्रियम्		पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ	शेषा १७			
काय		त्रसपर्याप्तत्रसौ	शेषा ४०			
योग	वैक्रियमिश्र कार्मण	काययोगसा०	शेषा १५	५ मनोयो० ५ वचन० काय० औदारिक० १२	•••	
वेद			सर्वा ४		गतवेदः	•
कषायः		लोभ	शेषा ३	लोभ	•••	
ज्ञानम्		मतिश्रुतावधि० ३	शेषा. ४		••	
संयम			सर्वा ६	सूक्ष्मसम्पराय०	•••	
दर्शनम्		चक्षुरचक्षुरवधि० ३			•••	
लेश्या		शुक्ला	शेषा ५		शुक्ला	
भव्य		भव्यः	अभव्य		•	
सम्यक्त्वम्	मिश्र०	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०, औपशमि०	शेषा ३		औपशमिक०	
सञ्ज्ञी		सञ्ज्ञी	असञ्ज्ञी १		••	
आहारक.	अनाहारक	आहारक		•••		
सर्वा	४	१९	१४६	१४	३	३
गाथाङ्कः	३४०	३४१,३४२	३४२	३४३	३४४	३४४

अन्तरस्य प्रदर्शि यन्त्रम्

ओघतः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य जघन्यान्तरमेकसमय, उत्कृष्टञ्चान्तर्मुहूर्तम् । षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम, उत्कृष्टञ्च देशोनार्धपुद्गलपरावर्त (गाथा ३३९)

	षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य		एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य			
जघन्यम्	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर नास्ति	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्
उत्कृष्टम्	ओघवत्	देशोनोत्कृष्टकायस्थिति		पूर्वकोटिपृथक्त्वम्	ओघवत्	देशोनोत्कृष्टकायस्थिति
गति				अपर्याप्तवर्जनिमनुष्या:		
इन्द्रियम्		पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ				पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ
काय		त्रसपर्याप्तत्रसौ				त्रसपर्याप्तत्रसौ
योग	..		आहारकौदारिकवैक्रियिकद्विकवर्जा १४			
वेद			गतवेद			
कषाय		..	अकषाय:			
ज्ञानम्		केवलवर्जज्ञानचतुष्कम्	केवलज्ञानम्	.		केवलवर्जज्ञानचतुष्कम्
संयम:		संयमसा०	यथाख्यात			संयमसा०
दर्शनम्	अचक्षुदर्शनम्	चक्षुरवधि०	केवलदर्शनम्		अचक्षुदर्शन०	चक्षुरवधि०
लेश्या			शुक्ला			
भव्य	भव्य				भव्य	
सम्यक्त्वम्	..	सम्यक्त्वसा० क्षायिक० △	औपशमिक०			सम्यक्त्वसा०, क्षायिकस० △
संज्ञी		संज्ञी	...			संज्ञी
आहारक		आहारक	अनाहारक:			आहारक
संख्या	२	१५	२२	३	२	१५
गाथाङ्क	३४४,३४५	३४४,३४५	३४६,३४७	३४७	३४७	३४७

△ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामुत्कृष्टान्तर सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ।

॥ थ षष्ठं भङ्गविचयद्वारम् ॥

सम्प्रति नानाजीवाश्रिते क्रमप्राप्ते भङ्गविचयद्वारे भङ्गविचयप्ररूपणां विधातुकामो वक्ष्य-करणेन भङ्गान् प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदष्टप्रकृत्यात्मकस्थानादिबन्धकानां ध्रुवत्वादिकमाह—

णियमाऽत्थि बंधगा लु इगसत्तऽट्ठण्ह बंधठाणाणं ।
होअन्ति बंधगा लु छबंधठाणस्म भयणीआ ॥३४८॥

(प्रे०) 'णियमाऽत्थि' इत्यादि, एकप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मकानां बन्धस्थानानां बन्धकाः खलु नियमात् 'सन्ति' भवन्ति, सयोगिकेवलिनामेकेन्द्रियादीनां च सार्वकालिकत्वात् । अयं भावः—एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः सयोगिकेवलिनोऽपि भवन्ति, सयोगिकेवलिनश्च सार्वकालिकाः, तेनैकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका नियमाद् लभ्यन्ते । सप्त-प्रकृत्यात्मकस्थानस्याऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य चैकेन्द्रियजीवैः सदैव बन्धात् तयोर्बन्धकाः नियमाद् लभ्यन्ते ।

'होअन्ति' इत्यादि, षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः भजनीया भवन्ति, कदाचिद् भवन्ति, कदाचिद् न भवन्तीत्यर्थः। : ? इति चेत्, उच्यते—षट्प्रकृत्यात्म नं केवलैः सूक्ष्मसम्परायसंयतैरेव बध्यते, सूक्ष्मसम्परायाश्च कादाचित्काः, सिद्धान्ते नानाजीवापेक्षया म-सम्परायसंयतानामन्तरस्य दितत्वात् । ध्रुवाध्रुवबन्धकापेक्षया वक्ष्यमाणकरणेन भङ्गा उपलप्स्यन्त इति कृत्वा भङ्गविचयद्वारे प्रथमतो ध्रुवाध्रुवत्वं प्रतिपादितम् ।।३४८॥

सम्प्रत्यादेशतश्चतुर्णामपि बन्धस्थान बन् ां भजनीया-ऽभजनीयत्वं दर्शयति—

जहि अट्ठमोऽत्थि भंगो ।उस्स तहि अडबंधठाणस्स ।
णियमाऽत्थि बंधगा लु सेसासुं हुन्ति भयणीआ ॥३४९॥

समत्तणरे विक्कियमीसे ।हारदुगअवेएसुं ।
छेए तह परिहारे उवसमसासाणमीसे ॥३५०॥
भयणीआ सत्तण्हं सेसा हुन्ति बंधगा णियमा ।
भयणी । सव्वासुं छबंधठाणस्स होअन्ते ॥३५१॥
दुमणवयेसु उरालियमीसे कम्मम्मि णाणचउगम्मि ।
तिदरिसणेसु उवसमे सण्णिम्मि तहा णाहारे ॥३५२॥
होअन्ति बंधगा खलु भयणीआ एगबंधठाणस्स ।
सेसासु छवीसाए विण्णेया बंधगा णिय ॥३५३॥

(प्रे०) 'जहिं' इत्यादि, 'यत्र' यासु तिर्यग्गतिसामान्यादिद्वाषष्टिमार्गणास्वायुषोऽष्टमो भङ्ग आयुष्कस्याऽनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इत्येवंरूपः 'अस्ति' प्राक् निरूपितोऽस्ति, 'तत्र'तासु द्वाषष्टिमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः खलु नियमाद् भवन्ति, तासु मार्गणासु नानाजीवापेक्षयाऽऽयुर्बन्धविच्छेदाभावेन सदैवाऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामुपलब्धेः। अथ द्वाषष्टिमार्गणा नामग्राहं पठ्यन्ते-तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणा, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तबादरपृथिवीकायवर्जाः पृथिवीकायभेदाः षट्, एवं षडप्कायभेदाः, षट्तेजःकायभेदाः, षड्वायुकायभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायरहिता दश वनस्पतिकायभेदाः काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग तन्मिश्रकाययोगा नपुंसकवेदः क्रोध-मान-माया लोभा अज्ञानद्वयमविरतमार्गणाऽचक्षुर्दर्शनं कृष्णलेश्या-नीललेश्या कापोतलेश्या भव्याऽभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञिमार्गणा-ऽऽहारकमार्गणा चेति।

'सेसा' इत्यादि, 'शेषासु' एकाधिकशतमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका भजनीया भवन्ति, तासु नानाजीवापेक्षयाऽऽयुर्बन्धान्तरस्योपलम्भात्। एकाधिकशतमार्गणा नामतः पुनरिमाः—तिर्यग्गतिसामान्यवर्जा गतिभेदाः षट्चत्वारिंशद् एकेन्द्रियसप्तभेदविरहिता इन्द्रियभेदा द्वादश पर्याप्तबादरपृथिवीकायः पर्याप्तबादराऽप्कायः पर्याप्तबादरतेजःकायः पर्याप्तबादरवायुकायः पर्या प्त्येकवनस्पतिकायस्त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपर्याप्तत्रसकायाः पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा -ऽऽहारकमिश्रकाययोगाः स्त्रीवेदपुरुषवेदा अज्ञानद्वयकेवलज्ञानवर्जाः पञ्च ज्ञानमार्गणाभेदा यथाख्यातसूक्ष्मसम्परायाऽविरतविमुक्ताः पञ्च संयममार्गणाभेदाश्चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं शुभलेश्यात्रयं सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादनमार्गणाः संज्ञिमार्गणा चेति।

सम्प्रति सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां ध्रुवाध्रुवत्वमाह—'असमत्तणरे' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्ये वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा ऽपगतवेद च्छेदोपस्थापनीयसंयमेषु तथा परिहारविशुद्धिकसंयमौ-पशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-मिश्रमार्गणासु सर्वसंख्यया दशमार्गणासु 'सप्तानां' सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका भजनीया भवन्ति, नानाजीवाऽपेक्षया नवानां मार्गणानामेवाऽध्रुवत्वादपगतवेदमार्गणायाश्च ध्रुवत्वेऽपि तत्राऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकवर्तिभिरेव सप्तप्रकृतीनां बन्धेन तद्बन्धकानां कादाचित्कत्वात्।

शेषास्वेकोनषष्ट्यधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका नियमाद् भवन्ति, तासां मार्गणानां ध्रुवत्वाद् नानाजीवापेक्षया च सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामपि तासु ध्रुवत्वात्।

अथ षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां ध्रुवत्वाभावेन भजनीयत्वमाह—'भयणीआ' इत्यादि, 'सर्वासु' सप्तत्रिंशन्मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका भजनीया भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायसंयतैरेव तस्य बन्धात् सूक्ष्मसम्परायाणां चाऽन्तरोपलम्भेनाऽध्रुवत्वात्।

एतर्ह्येकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां भजनीया-ऽभजनीयत्वं वक्तुकाम आह–'**दुमण०**' इत्यादि, मध्यममनोयोगद्वय मध्यमवचनयोगद्वयौ-दारिकमिश्रकाययोग कार्मणकाययोग-केवलज्ञान-वर्जज्ञानचतुष्क केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिकौ-पशमिकसम्यक्त्व सञ्ज्ञिमार्गणासु तथाऽनाहारकमार्गणाया-मेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः खलु भजनीया भवन्ति, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुपशान्त-मोहैरेवैकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धादौदारिकमिश्रकाययोगकार्मणकाययोगाऽनाहारकवर्जशेषद्वादश-मार्गणासु पुनः क्षीणमोहैरपि बन्धाद् नानाजीवापेक्षया चोपशान्तमोहक्षीणमोहानामन्तरोपलम्भेनाऽ-ध्रुवत्वादौदारिकमिश्रकाययोग कार्मणकाययोगा ऽनाहारकमार्गणासु च सयोगिकेवलिनां प्रोक्तस्थानस्य बन्धेऽपि सिद्धिगमनस्याऽन्तरदर्शनेन समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनाममार्वकालिकत्वात् ।

सम्प्रत्येकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामभजनीयत्वमाह–'**सेसासु**' 'शेषासु' मध्यममनो-योगादिषोडशकवर्जितासु 'षड्विंशतौ' षड्विंशतिसंख्यासु मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका नियमाद् 'विज्ञेयाः' बोद्धव्याः, एतासु मार्गणासु प्रधानतः सयोगिकेवलिनां प्रस्तुत-स्थानस्य बन्धकत्वात् नानाजीवापेक्षया च प्रोक्तमार्गणासु सयोगिकेवलिनां ध्रुवत्वात् । नामतः शेषमार्गणाः पुनरिमाः–मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यः पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ त्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकाय मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा ऽसत्यामृषामनोयोग-वचनयोगसा-मान्य-सत्यवचनयोगा-ऽसत्यामृषावचनयोग काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा अपगतवेदो-ऽकषायः केवलद्विक संयमसामान्य-यथाख्यातसंयमौ शुक्ललेश्या भव्यमार्गणा सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्य-क्त्वा ऽऽहारकमार्गणाश्चेति ॥३४९-३५३॥

सम्प्रति चतुर्णामपि बन्धस्थानाना ध्रुवाध्रुवत्वं प्रतिपाद्य भङ्गानयनाय करण व्याहर्तुकामः प्राह–

संखुक्कमेण ठप्पा अधुवाण कमा अहो ठविअ भज्जा ।
गुण्णा पुव्वेण कमा भंगा एगाइसंजोगा ॥३५४॥
ते एगणेगभेआ गुण्णा हि दुगेण दुदुगुणेण कमा ।
ते सव्वे अधुवाणं भंगेगहियाऽत्थि सधुवाणं ॥३५५॥

(प्रे०) '**संखुक्कमेण**' इत्यादि, अध्रुवाणां पदानां 'संख्याः' एककाद्यङ्का उत्क्रमेण 'स्थाप्याः' न्यसनीयाः, 'अधः' तदधस्तात् क्रमात् स्थापयित्वा भाज्याः । ततः पूर्वेण राशिना गुण्याः । तदेवमेकादिसयोगा भङ्गा भवन्ति । अयं भावः-अध्रुवपदानामेककाद्या उत्क्रमेण स्थापनीयाः । ततस्तदधस्तादेककाद्याः क्रमेण स्थापनीयाः । तत उपरितनो राशिरधस्तनेन राशिना विभजनीयः । विभज्य च पूर्वभङ्गराशिना क्रमादुत्तरोत्तरराशिगुण्यते, तदैकादिसंयोगभङ्गा लभ्यन्ते । यथाऽसत्य-मनोयोगमार्गणायामष्टप्रकृत्यात्मकं षट्प्रकृत्यात्मकमेकप्रकृत्यात्मक च त्रीणि बन्धस्थानान्यध्रुवाणि ।

तेनाऽध्रुवपदानि त्रीणि। तत आदौ त्रिकः स्थाप्यः, ततो द्विकः, तत एककः (३,२,१)। अथ त्रिकस्याधस्तादेककः स्थाप्यः, द्विकस्याधस्ताद् द्विको न्यास्यः, एककस्याधस्तात् त्रिकः स्थापनीयः ($\frac{३}{१}$, $\frac{२}{२}$, $\frac{१}{३}$,)। तत उपरितनो राशिरधस्तनेन राशिना विभज्यते ($\frac{३}{१}$, $\frac{२}{२}$, $\frac{१}{३}$), एकेन त्रिको विभज्यते, तदा त्रिक एव लभ्यते, तेनैकसंयोगविकल्पास्त्रयः प्राप्यन्ते। अथैकसंयोगभङ्गराशिना द्वितीयराशिर्हन्यते, तदा द्विसंयोगविकल्पास्त्रयः प्राप्यन्ते ($३\times\frac{२}{२}=३$)। ततो द्विसंयोगभङ्गराशिना तृतीयराशिस्ताड्यते, तदा त्रिसंयोगविकल्प एकोऽवाप्यते ($३\times\frac{१}{३}=१$)। उक्तं चैतत् करण लीलावतीग्रन्थे—"एकाद्येकोत्तरा अङ्का व्यस्ता भाज्या क्रमस्थितैः। पर पूर्वेण स गुण्यस्तत्परस्तेन तेन च ॥१॥ एकद्वित्र्यादिभेदा स्युरिद साधारण स्मृतम्। ।" इति।

तदेवं बन्धकसामान्यापेक्षयैकसंयोगादिविकल्पाः प्रदर्शिताः। एकसंयोगादिभङ्गानेकानेक-बन्धकापेक्षया प्रतिपादयितुकामः प्राह—'ते' इत्यादि, 'एकानेकभेदाद्' अेकानेकभेदमाश्रित्य 'ते' एकसंयोगादिभङ्गा द्विकेन द्विद्विगुणेन च क्रमाद् गुण्याः, तदाऽध्रुवपदानां सर्वे 'ते' एकसंयोगादि-भङ्गा भवन्ति। ते भङ्गा एकाधिकाः 'सध्रुवाणां' ध्रुवाध्रुवाणां भवन्ति। इदमुक्तं भवति—प्राग्दर्शित-करणप्राप्तानामेकसंयोगभङ्गानामधस्ताद् द्विकः स्थाप्यः। ततो द्विगुणश्चतुष्क इत्यर्थः, द्विसंयोगभङ्गा-नामधस्तात् स्थाप्यः। ततो द्विगुणोऽष्टक इत्यर्थः. त्रिसंयोगभङ्गानामधस्तात् स्थाप्यः। एवमग्रेऽपि द्विगुणो द्विगुणः स्थाप्यः। ततोऽधस्तनराशिनोपरितनराशिर्गुणयितव्यः, गुणिते च यल्लभ्यते, तत्सकलने कृतेऽध्रुवपदानां सर्वे भङ्गा आगाद्यन्ते। तेष्वेकस्य प्रक्षेपे सति ध्रुवाध्रुवपदानां भङ्गा अवाप्यन्ते। यथाऽसत्यमनोयोगमार्गणायामेकसंयोगभङ्गास्त्रयः, तेषामधो द्विकः स्थाप्यः। द्विसंयोगभङ्गा अपि त्रयः, तेषामधस्तात् चतुष्को न्यसनीयः। त्रिसंयोगभङ्ग एकः, तस्याधोऽष्टकः स्थापनीयः। अथैकसंयोगभङ्गास्त्रयो द्विकेन गुण्यन्ते, तदा जाताः षट्, द्विसंयोगभङ्गास्त्रयश्चतुष्केण भङ्गा गुणिता जाता द्वादश, त्रिसयोगभङ्ग एकोऽष्टकेन गुण्यते, तदा जाता भङ्गा अष्टौ। तेषां संकलने कृते जाता अध्रुवपदानामेकसंयोगादिभङ्गाः षड्विंशतिः(६+१२+८)। असत्यमनोयोगमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य सार्वदिकत्वेन ध्रुवस्य सत्त्वात् षड्विंशता एकस्य प्रक्षेपात् सप्तविंशति-भङ्गा भवन्ति। न्यासश्चेत्थं कार्यः—

एकसयोगा		द्विसयोगा		त्रिसयोगा	
३		३		१	
× २		× ४		× ८	
६	+	१२	+	८	=२६+१=२७

एवमसत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यवचनयोग सत्यासत्यवचनयोग-मतिज्ञान-श्रुत-ज्ञानाऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञाना-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-संज्ञिमार्गणासु सप्तविंशतिर्भङ्गा वाच्याः।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां तु ध्रुवपदविरहात् त्रयाणां च पदानामध्रुवत्वात् षड्विंशति-र्भङ्गा भवन्ति।

यासु मार्गणासु द्वेऽध्रुवपदे, एकं च ध्रुवपदम् , तासु नव भङ्गा भवन्ति । ते च प्रस्तुतप्रकरणा-नुसारेण स्थापनया दर्श्यन्ते ।

$\frac{२}{१}$ $\frac{१}{२}$ एकसयोगौ । द्विसयोग. एकसयोग। द्विसयोगा'
२ १ । २ १
×$\frac{२}{४}$ ×$\frac{४}{४}$ +१=९

यथा मनुष्यगतिसामान्य पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-सामान्य- पर्याप्तत्रसकाय--मनोयोगसामान्य--सत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोग--वचनयोगसामान्य-सत्यवचनयोगा-ऽसत्यामृषवचनयोगा-ऽवेदा-ऽचक्षुदर्शन-शुक्ललेश्या सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्य-क्त्वरूपास्वष्टादशमार्गणासु नव भङ्गा भवन्ति, अवेदमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकयोर्बन्ध-स्थानयोरध्रुवत्वाद् एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च ध्रुवत्वात् , अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्म-कैकप्रकृत्यात्मकयोर्बन्धस्थानयोरध्रुवत्वादष्टप्रकृत्यात्मकसप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोश्च ध्रुवत्वात् तथा शेषासु मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकयोर्बन्धस्थानयोरध्रुवत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकैक-प्रकृत्यात्मकस्थानयोश्च ध्रुवत्वात् ।

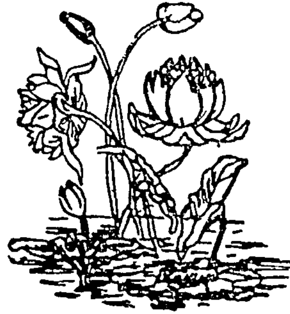
अपर्याप्तमनुष्या - ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-सास्वादनमार्गणासु ध्रुवपदविरहाद् द्वयोश्च पदयोरध्रुवत्वादष्टौ भङ्गा भवन्ति । छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोर्भङ्गा स्वयमेव भावनीयाः । वैक्रियमि ाययोग-मिश्रमार्गणयोरेकस्य प्रकृत्यात्मकस्थानस्य सूक्ष्म-सम्परायमार्गणायां च षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्याध्रुवत्वाद् द्वौ भङ्गौ भवतः ।

तिर्यग्गतिसामान्य - सप्तैकेन्द्रियभेद-पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवी-काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय बादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाया-ऽप्कायसामान्य-सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया - ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय - बादराप्काया - ऽपर्याप्तबादराप्काय - तेजःकायसामान्य-सूक्ष्मतेजःकाय - पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया- ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-बादरतेजःकाया-ऽपर्याप्तबादरतेजःकाय-वायुकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय - बादरवायुकाया ऽपर्याप्त बादरवायुकाय-वनस्पतिकायसामान्य-सप्तनिगोदभेद- प्रत्येकवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का ऽज्ञानद्वया -ऽसंयम-कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा ऽसञ्ज्ञिरूपासु षट्पञ्चाशन्मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकयोर्बन्धस्थानयोर्ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो लभ्यते । एवमकषाय-केवलज्ञान-यथाख्यातसंयम-केवलदर्शनेष्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो लभ्यते ।

शेषासु सप्तसप्ततिमार्गणासु त्रयो भङ्गा भवन्ति, कार्मणकाययोगा ऽनाहारकमार्ग-णयोरेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याध्रुवत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च ध्रुवत्वात् , औदा-

रिककाययोगमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवत्वात् , अष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानानां ध्रुवत्वात् , औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवत्वाद् अष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोर्ध्रुवत्वात् , भव्यमार्गणाऽऽहारकमार्गणयोः षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्याऽध्रुवत्वाद् अष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानानां ध्रुवत्वात् , शेषासु चाऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च ध्रुवत्वात् ॥३५४,३५५॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीयस्मिन् बन्धस्थानाधिकारे षष्ठ भङ्गविचयद्वार समाप्तम् ॥



यासु मार्गणासु द्वेऽध्रुवपदे, एकं च ध्रुवपदम् , तासु नव भङ्गा भवन्ति । ते च प्रस्तुतकरणानुसारेण स्थापनया दर्श्यन्ते ।

$\frac{२}{९}$　$\frac{१}{२}$　एकसयोगौ । द्विसयोग.　एकसयोग।　द्विसयोगा
　　　　२　　१　|　२　　१
　　　　　　×$\frac{२}{४}$　　×$\frac{४}{४}$ +१=९

यथा मनुष्यगतिसामान्य पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य- पर्याप्तत्रसकाय--मनोयोगसामान्य--सत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोग--वचनयोगसामान्य-सत्यवचनयोगा-ऽसत्यामृषवचनयोगा-ऽवेदा-ऽचक्षुदर्शन-शुक्ललेश्या सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वरूपास्वष्टादशमार्गणासु नव भङ्गा भवन्ति, अवेदमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकयोर्बन्धस्थानयोरध्रुवत्वाद् एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च ध्रुवत्वात् , अचक्षुदर्शनमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकयोर्बन्धस्थानयोरध्रुवत्वादष्टप्रकृत्यात्मकसप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोश्च ध्रुवत्वात् तथा शेष मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकयोर्बन्धस्थानयोरध्रुवत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोश्च ध्रुवत्वात् ।

अपर्याप्तमनुष्या - ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-सास्वादनमार्गणासु ध्रुवपदविरहाद् द्वयोश्च पदयोरध्रुवत्वादष्टौ भङ्गा भवन्ति । छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोर्भङ्गा स्वयमेव भावनीयाः । वैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्रमार्गणयोरेकस्य सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां च षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्याध्रुवत्वाद् द्वौ भङ्गौ भवतः ।

तिर्यग्गतिसामान्य - सप्तैकेन्द्रियभेद-पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवी-ा-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय बादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाया-ऽप्कायसामान्य-सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया - ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय - बादराप्काया - ऽपर्याप्तबादराप्काय - तेजःकायसामान्य-सूक्ष्मतेजःकाय - पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया- ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-बादरतेजःकाया-ऽपर्याप्तबादरतेजःकाय-वायुकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय - बादरवायुकाया ऽपर्याप्तबादरवायुकाय-वनस्पतिकायसामान्य-सप्तनिगोदभेद- प्रत्येकवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का ऽज्ञानद्वया -ऽसंयम-कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसञ्ज्ञिरूपासु षट्पञ्चाशन्मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकयोर्बन्धस्थानयोर्ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो लभ्यते । एवमकषाय-केवलज्ञान-यथाख्यातसंयम-केवलदर्शनेष्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो लभ्यते ।

शेषासु सप्तसप्ततिमार्गणासु त्रयो भङ्गा भवन्ति, कार्मणकाययोगा ऽनाहारकमार्गणयोरेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याध्रुवत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च ध्रुवत्वात् , औदा-

रिककाययोगमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवत्वात् , अष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकै-कप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानानां ध्रुवत्वात् , औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थान-स्याऽध्रुवत्वाद् अष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोर्ध्रुवत्वात् , भव्यमार्गणाऽऽहारकमार्ग-णयोः षट्प्रकृत्यात्मकस्थान ऽध्रुवत्वाद् अष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकै-कप्रकृत्यात्मकबन्धस्था-नां ध्रुवत्वात् , शेषासु चाऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्याऽध्रुवत्वात् सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थान-स्य च ध्रुवत्वात् ॥२५४,२५५॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीयस्मिन् बन्धस्थानाधिकारे षष्ठ भङ्गविचयद्वार समाप्तम् ॥



मूलप्रकृतिबन्धस्थानानां बन्धकानां भजनीयाऽभजनीयत्वप्रदर्शि यन्त्रम्

ओघत आदेशतश्च सप्तत्रिंशन्मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका भजनीया भवन्ति (गाथा ३४८,३५१)

ओघतोऽष्टप्रकृत्यात्मकसप्तप्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानानां बन्धका नियमतो भवन्ति (३४८)।

	अष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य		सप्तप्रकृत्यात्मकस्य		एकप्रकृत्यात्मकस्य	
	अभजनीया	भजनीया	भजनीया	अभजनीया	भजनीया	अभजनीया
गति॰	तिर्यग्गतिसा॰	शेषा ४६	अपर्याप्तनर	शेषा ४६	..	अपर्याप्तवर्जत्रिनरा
इन्द्रियम्	सर्वैकेन्द्रिया ७	शेषा १२		सर्वा १९		पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ
काय	△ ३४ कायभेदा	शेषा ८		सर्वा ४२	.	त्रसपर्याप्तत्रसौ
योग	काययोग औदारिक-द्विकम्	शेषा १३	वैक्रियमिश्र आहारकद्विकम्	शेषा १५	मध्यममन॰ मध्यमवचो॰ कार्मण औदारिक	त्रिमनो॰त्रिवचन॰ औदा॰ काय॰
वेद	नपुंसकवेद	शेषे २	गतवेद	शेषा ३		गतवेद
कषाय	कषाया ४			कषाया ४		अकषाय
ज्ञानम्	अज्ञानद्विकम्	शेषा ५		सर्वा ७	केवलवर्जचतु-र्ज्ञानानि	केवलज्ञानम्
संयम	असंयम	शेषा ५	छेदो॰ परिहार॰	शेषा ४		संयमसा॰ यथा॰
दर्शनम्	अचक्षुर्दर्शनम्	चक्षुरवधि॰		सर्वा ३	दर्शनत्रिकम् ३	केवलदर्शनम्
लेश्या	तिस्रोऽशुभा	शुभा ३	..	सर्वा ६		शुक्ला
भव्य	भव्याभव्यौ			भव्याभव्यौ	...	भव्य
सम्यक्त्वम्	मिथ्यात्वम्	शेषा ४	औपशमिक॰सा-स्वादन॰मिश्र॰	शेषा ४	औपशमि॰	सम्य॰ क्षायिक॰
संज्ञी	असंज्ञी	संज्ञी		संज्ञ्यसंज्ञि॰ २	संज्ञी	
आहारक	आहारक			आहारानाहारौ	अनाहार	आहार
सर्वा	६२	१०१	१०	१५९	१६	२६
गाथाङ्क	३४९	३४९	३५०,३५१	३५१	३५२,३५३	३५३

△ पृथिवीकायसामान्य–सूक्ष्मपृथिवीकाय- पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय--बादरपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाया-ऽप्कायसामान्य-सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-बादराप्काया-ऽपर्याप्तबादराप्काय-तेज कायसामान्य-सूक्ष्मतेज काय पर्याप्तसूक्ष्मतेज काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेज काय-बादरतेज काया-ऽपर्याप्तबादरतेज -काय वायुकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय-बादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकाय-वनस्पतिकायसामान्य-सप्तनिगोदभेद-प्रत्येकवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणाश्चतुश्चत्वारिंशद् मार्गणा ।

मूलप्रकृतिबन्धस्थानानां बन्धकानां भङ्गप्रदर्शि यन्त्रम् (गाथा–३५५)

	अध्रुवपदानि ३	अध्रुवपदानि ३ एक ध्रुवपदम्	अध्रुवपदे २	अध्रुवपदे २ एक वा द्वे वा ध्रुवपदे	'अनित्यमार्गणा स्वेकमध्रुवपदम्	नित्यमार्गणास्वेक ध्रुवपदम्	द्वे ध्रुवपदे	एकमध्रुवपदमेकं वाऽनेकानि वा ध्रुवपदानि
गति			अपर्याप्तनर	शेषमनुष्या ३			तिर्यग्गतिसा०	शेषा ४२
इन्द्रियम्				पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ			सर्वैकेन्द्रिया ७	शेषा १०
काय				त्रसपर्याप्तत्रसौ		•	△ ३४ काय-भेदा	शेषा ६
योग		मध्यममनो० मध्यम-वचन० ४	आहारकद्विकम्	त्रिमनो०त्रिवचन०	वैक्रियमिश्र	•		शेषा ५
वेद	•			अवेद		•••	नपुंसकवेद	शेषे २
कषाय		••	••	•		अकषाय	कषाया ४	
ज्ञानम्		केवलवर्जज्ञानचतु-ष्कम् ४	•••		••	केवलज्ञानम्	अज्ञानद्विकम्	विभङ्गज्ञानम् १
संयम					सूक्ष्मसम्पराय	यथाख्यात	असंयम	शेषा ५
दर्शनम्		चक्षुरवधि० २		अचक्षुदर्शनम्		केवलदर्शनम्		
लेश्या		•••	••	शुक्ला	• •		तिस्रोऽशुभा	शेषे २
भव्य			••				अभव्य	भव्य १
सम्यक्त्वम्	औपशमिक०		सास्वादन०	सम्यक्त्वसा० क्षायिकस०	मिश्र०		मिथ्यात्वम्	क्षायोपशमिक० १
संज्ञी		संज्ञी १	•				असंज्ञी	
आहारक								आहारानाहारौ
सर्वा	१	११	४	१८	३	४	५६	७७卐
भङ्गा	२६	२७	८	९	२	१	१	३

△ चतुष्षष्ठ्यधिकचतुःशततमपृष्ठस्य टिप्पनी विलोकनीया । 卐 परिहारविशुद्धिकसंयमच्छेदोपस्थापनीयसंयमयोर्भङ्गा स्वयमेव भावनीया ।

॥ अथ सप्तमं भागद्वारम् ॥

सम्प्रति प्रकृतिबन्धस्थानानां बन्धकान् भागद्वारेण चिन्तयितुमनाः प्राह—

संखेज्जा बहुभागा बोद्धव्वा सत्तबंधठाणस्स ।
होन्ते अणंतभागो खलु एगछबंधठाणाणं ॥३५६॥

(प्रे०) 'संखेज्जा' इत्यादि, 'सप्तबन्धस्थानस्य' सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका जीवाः 'संख्येया बहुभागाः' सर्वबन्धकजीवानां बहुसंख्येयभागप्रमाणा बोद्धव्याः । भावार्थः पुनरयम्–इह चतुर्णां बन्धस्थानानां बन्धकापेक्षया भागप्ररूपणाऽधिक्रियते । तत्रौघतश्चतुर्णां बन्धस्थानानां समुदिता बन्धका जीवा अनन्ता भवन्ति, सप्तप्रकृत्यात्मकस्थाना-ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोरेकेन्द्रियैरपि बन्धात् । तथैकप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोर्बन्धकानां संख्येयत्वेनाऽनन्तभागमात्रास्ते भवन्ति, अष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य तु बन्धकानामनन्तत्वेऽपि बन्धस्थानचतुष्टयबन्धकापेक्षया संख्येय भागमात्रास्ते भवन्ति, संख्येयभागमात्रैरेवाऽऽयुषो बन्धात् । तेन च बन्धस्थानत्रयबन्धकविरहिताः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका बन्धस्थानचतुष्टयबन्धकापेक्षया बहुसंख्येयभागमात्रा भवन्ति ।

'होन्ते' इत्यादि, 'एकषड्बन्धस्थानयोः' एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य षट्प्रकृत्यात्मक-बन्धस्थानस्य च बन्धका 'अनन्तभागः' अनन्ततमभागप्रमाणाः खलु भवन्ति, बन्धस्थानचतुष्क-बन्धकानामनन्तत्वात् प्रस्तुतस्थानद्वयस्य च प्रत्येकं बन्धकानां विशिष्टमनुष्यत्वेन संख्येयत्वात् ।

अष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः षोडशाधिकत्रिशततमगाथोक्ताऽतिदेशेन संख्येयभाग-प्रमाणाः प्राप्यन्ते, आयुषो बन्धकानां तावन्मात्रत्वात् । एतावांस्तु विशेषः–ओघत आदेशतश्चायुषो बन्धकानां भागप्ररूपणा पञ्चषष्ट्यधिकशततमगाथाप्रभृतिभिः प्राग् बन्धकाबन्धकापेक्षया कृता, अत्र तु बन्धका-ऽपेक्षयैव कर्तव्या । न चैवमोघतः सिद्धानां बन्धाभावेन भाजकराशितः सिद्धराशेरपगमादष्ट-प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां भागे विशेषः कुतो नोपलभ्यत इति वाच्यम् , सिद्धराशेरेकेन्द्रि-यजीवराश्यनन्ततमभागमात्रत्वेनाऽकिञ्चित्करत्वात् ॥३५६॥

सम्प्रत्यादेशतो भागं प्ररूपयितुकाम आदौ तावच्चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मक-बन्धस्थानस्य बन्धकानां भागप्ररूपणां व्याहरन् वैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्रमार्गणयोश्च तां निषेधन्नाह–

बीआइछणिरयेसुं छवीसजोइससुराइमेएसुं ।
णाणतिगे देसावहिपउमसुइलसम्मखइएसुं ॥३५७॥
वेअगसासाणेसुं तहुवसमे सत्तबंधठाणस्स ।
अत्थि असंखियभागा णत्थि विउवमीसमीसेसुं ॥३५८॥

(प्रे०) 'बीआइ०' इत्यादि, द्वितीयादिषड्निरयेषु 'षड्विंशतिज्योतिष्कसुरादिभेदेषु' ज्योतिष्कसुरप्रभृत्यपराजितान्तसुरमार्गणाभेदेषु 'ज्ञानत्रिके' मति श्रुता-ऽवधिज्ञानलक्षणे ज्ञानत्रये देशविरता ऽवधिदर्शन-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्या सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वेषु क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व-सास्वादनयोस्तथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु सप्त-प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका 'असंख्यभागाः' बहुवचननिर्देशाद् बहुसंख्येयभागप्रमाणाः सन्ति, ज्ञानत्रया-ऽवधिदर्शन -शुक्ललेश्या - सम्यक्त्वसामान्य -क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु शेषबन्धस्थानत्रयस्य समुदितानामपि बन्धकानामसंख्येयभागमात्रत्वाच्छेषासु च मार्गणासु तदन्यस्य केवलस्याष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य सत्त्वेनाऽसंख्येयभागमात्रैरेव तस्य बन्धात् ।

'णत्थि' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्रमार्गणयोः 'नास्ति' प्रस्तुतत्वात् सप्तप्रकृत्या-त्मकबन्धस्थानस्य भागप्ररूपणा नास्ति, उक्तमार्गणाद्वयेऽन्यस्थानस्य बन्धविरहात् ॥३५७,३५८॥

सम्प्रति शेषासु मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकान् भागद्वारेणाऽऽह—

कम्माणाहारेसुं बोद्धव्वा बंधगा अणंतंसा ।
गयवेए संखंसो णेया सेसासु संखंसा ॥३५९॥

(प्रे०) 'कम्मा०' इत्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः 'बन्धकाः' सप्तप्रकृत्या-त्मकस्थानस्य बन्धका 'अनन्तांशाः' बह्वनन्तभागमात्रा बोद्धव्याः, तत्रैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां संख्येयत्वेनाऽनन्ततमभागमात्रत्वाच्छेषबन्धस्थानयोश्च विरहात् ।

'गयवेए' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः 'संख्यांशः' संख्येयभागमात्रा भवन्ति । कुतः ? इति चेत् , उच्यते—अपगतवेदमार्गणायामनिवृत्तिबादरसम्पराया एव सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका भवन्ति, ते चोत्कर्षतोऽपि शतपृथक्त्वमात्राः संभवन्ति, उक्तमार्गणायां च स्थानत्रयस्य समुदिता बन्धकास्तु कोटीपृथक्त्वप्रमाणा भवन्ति, सयोगिकेवलि-भिरप्येकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धात् तेषां च कोटीपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेनाऽपगतवेदमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयभागमात्रा भवन्ति ।

'णेया' इत्यादि, 'शेषासु' विंशत्यधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः 'संख्यांशाः' तत्तन्मार्गणागतजीवानां बहुसंख्येयभागकल्पा 'ज्ञेयाः' बोद्धव्याः, सप्तप्रकृत्यात्मकस्थान-वर्जाना शेषाणां स्वस्वबन्धस्थानानां बन्धकानां तत्तन्मार्गणागतबन्धकसंख्येयभागमात्रत्वात् । तथाहि—नरकसामान्य-प्रथमपृथिवीनिरय-तिर्यग्गतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिरश्च्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तमनुष्य-देवगतिसामान्य-भवनपति-व्यन्तर-सर्वार्थसिद्ध-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त-पञ्चेन्द्रियवर्जेन्द्रियभेदसप्तदशक - त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायविरहितकायभेदचत्वारिंशत्क- वैक्रि-यकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-वेदत्रय-क्रोध-मान-माया-मत्यज्ञान श्रुताज्ञान—विभङ्ग-

ज्ञान-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयमा-ऽसंयमा-ऽशुभलेश्यात्रय-तेजोलेश्या ऽभव्या-मिथ्यात्व-संज्ञिरूपासु द्विनवतिसंख्याकासु मार्गणास्वायुषो बन्धकानां संख्येयभागमात्रत्वेनाऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां संख्येयभागमात्रत्वाद् षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोश्च बन्धाभावात् तथा मनुष्यत्रिक पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग काययोगसामान्यौदारिककाययोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञ्या--हारकरूपासु षड्विंशतिमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानानां समुदितानां बन्धकानां तत्तन्मार्गणागतबन्धकराशिसंख्येयभागप्रमाणत्वादौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां चैकप्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोः समुदितानां बन्धकानां संख्येयभागप्रमाणत्वात् तथा लोभमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोः समुदितानां बन्धकानां संख्येयभागप्रमितत्वात् विशे मार्गणाशते सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति ॥३५९॥

सम्प्रति षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां भागमाह—

पज्जमणुसमणुसीसुं अवेअमणणाणसंजमेसुं च ।
संखेज्जइमो भागो छबंधठाणस्स णायव्वा ॥३६०॥

(प्रे०) 'पज्ज०' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य मानुष्योरपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणासु च षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः 'संख्येयतमो भागः' संख्येयतमभागप्रमाणा ज्ञातव्याः, सूक्ष्मसम्परायसंयतैरेव षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धात् सूक्ष्मसम्परायाणां च तत्तन्मार्गणागतबन्धकजीवराशिसंख्येयभागप्रमाणत्वात् ॥३६०॥

एतर्हि शेषासु मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकान् भागद्वारेण प्राह—

कायुरललोहअणयणभवियाहारेसु होज्जऽणंतंसो ।
णत्थि च भागो सुहुमे असंखभागोऽत्थि सेसासुं ॥३६१॥

(प्रे०) 'कायु०' इत्यादि, काययोगसामान्यौदारिककाययोग-लोभा ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या ऽऽहारकमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः 'अनन्तांशः' अनन्ततमभागप्रमाणा भवन्ति, उक्तमार्गणास्वेकेन्द्रियाणामपि प्रवेशेन सर्वबन्धकानामनन्तत्वात् षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य च बन्धकानां संख्येयत्वात् ।

'णत्थि' इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां 'भागो नास्ति' षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाना भागप्ररूपणा नास्ति, तत्राऽन्यबन्धस्थानस्याऽभावात् ।

'असंखभागोऽत्थि सेसासु" त्ति, 'शेषासु' उक्ताऽन्यासु पञ्चविंशतिमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका 'असंख्यभागः' असंख्येयभागप्रमाणाः सन्ति, तासु बन्धकराशेरसंख्येयत्वात् षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य च बन्धकराशेः सख्येयत्वात्। शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—मनुष्यसामान्य-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियास्त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायौ पञ्चमनोयोगाः पञ्चवचनयोगा ज्ञानत्रिकं चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं शुक्ललेश्या सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व संज्ञिमार्गणाश्चेति ॥३६१॥

इदानीमेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां भागमभिधातुकामः पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणाः संगृह्य प्राह—

पज्जणरमणुस्सीसुं मणपज्जवणाणसंजमेसुं च।
संखेज्जइमो भागो णेया इगबंधठाणस्स ॥३६२॥

(प्रे०) 'पज्ज०' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्यमानुष्योर्मनःपर्यवज्ञान सयमसंयमेत्यलक्षणमार्गणाद्वये चैकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः 'सख्येयतमो भागः' तत्तन्मार्गणागतबन्धकजीवानां संख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, उक्तमार्गणासु पर्याप्तमनुष्याणामेव सत्त्वात् चतुर्णामपि स्थानानां बन्धकानां संख्येयत्वात्, एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य चोपशान्तमोहगुणस्थानकादिषु लाभेनोपशान्तमोहादिजीवानां तत्तन्मार्गणागतबन्धकजीवराशिसंख्येयभागप्रमाणत्वात् ॥३६२॥

सम्प्रति काययोगादिमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकान् भागद्वारेण प्राह—

कायोरालदुगेसुं कम्मणजोगे अचक्खुभवियेसुं ।
आहारगेयरेसुं अणंतभागो मुणेयव्वा ॥३६३॥

(प्रे०) 'कायो०' इत्यादि, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगेषु तथा कार्मणकाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन भव्या-ऽऽहारका-ऽनाहारकमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका अनन्ततमभागप्रमाणा ज्ञातव्याः, उक्तमार्गणाऽष्टके (८) एकेन्द्रियाणामपि प्रवेशेन सर्वबन्धस्थानानां बन्धकानामनन्तत्वादेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च संख्येयैरेव जीवैर्बन्धात् ॥३६३॥

अथाऽकषायादिमार्गणाचतुष्टये भागप्ररूपणां निषेधयन् शेषमार्गणासु च भागद्वारेण बन्धकान् प्रतिपादयन्नाह—

णो खलु भागो अत्थि अकसायकेवलदुगाहखायेसुं ।
गयवेए संखंसा असंखभागोऽत्थि सेसासुं ॥३६४॥

(प्रे०) 'णो' इत्यादि, अकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातसंयममार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य 'भागो' भागप्ररूपणा नास्ति, तास्वन्यबन्धस्थानविरहात्। अपगतवेदमार्गणायामेक-

प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः 'संख्यांशाः' बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । कुतः ? इति चेत्, उच्यते—प्रस्तुतमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सूक्ष्मसम्परायाः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य चाऽनिवृत्तिबादरसम्परायाः भवन्ति, ते च परिमाणतः शतपृथक्त्व भवन्ति । एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकास्तु सयोगिकेवलिनोऽपि भवन्ति, ते च परिमाणतः कोटिपृथक्त्वं भवन्ति । तेनोक्तमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, षट्प्रकृत्यात्मकसप्तप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धकानां संख्येयभागप्रमाणत्वात् ।

'असंख०' इत्यादि, 'शेषासु' पञ्चविंशतिसंख्यासु शेषमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, तासु चतुर्णां स्थानानां बन्धकजीवराशेरसंख्येयत्वादेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य च बन्धकराशेः संख्येयत्वात् । शेषमार्गणाः पुनरिमाः—मनुष्यगतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायमार्गणाः पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगा ज्ञानत्रय चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शने शुक्ललेश्या सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणाश्चेति ।

अथाष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका भागद्वारेण विनयजनानुग्रहार्थमभिधीयन्ते—

द्वितीयादिषड्निरय ज्योतिष्कसौधर्मादिषड्विंशतिसुरभेद-मति श्रुता-ऽवधिज्ञान-देशविरता-ऽवधिदर्शन-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्या सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादनरूपासु त्रयश्चत्वारिंशन्मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकास्तत्तन्मार्गणागतसर्वबन्धकानामसंख्येयभागमात्रा भवन्ति ।

शेषासु विंशत्यधिकशतमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकास्तत्तन्मार्गणागतसर्वबन्धकानां संख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । विशेषार्थिनैकोनाशीत्यधिकशततमगाथाप्रभृतिवृत्तिरवलोकनीया । तदेवं गत भागद्वारम् ॥३६४॥

॥ श्री बन्धविधाने प्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारे सप्तम भागद्वार समाप्तम् ॥



ओघत आदेशतश्च सम्यक्त्वसामान्यक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणावर्जास्वेकषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाना भागप्ररूपणाऽऽयुष्ककर्मवद् बोध्या । सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोरष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असङ्ख्येयभागप्रमाणा बोद्धव्या. (गाथा-३१८) ।

ओघत सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका बहुसङ्ख्येयभागमात्रा, षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य च बन्धका अनन्तभागप्रमाणा. (गाथा ३५६) ।

	सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य					षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य	
बन्धका	बहुसंख्यभागा	भागप्ररूपणा नास्ति	बहुनन्तभाग-प्रमाणा	संख्यभाग	बहुसंख्यभाग	संख्यभाग	अनन्तभाग
गति	द्वितीयादिषड्नरक-ज्योतिष्कादिग्ग्विंशतिदेवा ३२		...	..	शेषा १५	पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यौ	
इन्द्रियम्	.	.	.	.	सर्वा १९		
काय		..			सर्वा ४२		..
योग		वैक्रियमिश्र	कार्मण.	..	शेषा १६		काय औदारिक
वेद				गतवेद·	शेषा ३	गतवेद	
कषाय		.			सर्वा ४		लोभ.
ज्ञानम्	मतिश्रुतावधि० ३		..		शेषा ४	मनःपर्यव०	...
संयम	देशविरत० १	...	..		शेषा ५	संयमसा०	..
दर्शनम्	अवधि० १				शेषे २		अचक्षुर्दर्शनम्
लेश्या	पद्मलेश्या शुक्ललेश्या २	.			शेषा ४	.	
भव्य					भव्याभव्यौ		भव्य
सम्यक्त्वम्	मिश्रमिथ्यात्ववर्जा २	मिश्र०			मिथ्यात्वम् १		...
संज्ञी					संज्ञ्यसंज्ञि०		.
आहारक			अनाहारक		आहार		आहार
सर्वा	४४	२	२	१	१२०	५	६
गाथाङ्क	३५७,३५८	३५८	३५९	३५९	३५९	३६०	३६१

मूलप्रकृतिस्थानबन्धकभागप्रदर्शियन्त्रम् (पूर्वतोऽनुवर्तते)

ओघत एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका अनन्तभागप्रमाणा (गाथा-३ ६)।

	षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य		एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य				
	भागप्ररूपणा नास्ति	असख्यभाग	सख्यभाग	अनन्तभाग	नास्ति	बहुसख्यभागा	असख्यभाग
गति॰		मनुष्यसामान्यम्	पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यौ	•	•		मनुष्यसामान्यम्
इन्द्रियम्		पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ					पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ
काय	...	त्रसपर्याप्तत्रसौ			•		त्रसपर्याप्तत्रसौ
योग		५ मनो० ५ वचन०		काय० औदा-रिकद्विकम् कार्मण			५ मनो०५वचन०
वेद						गतवेद	
कषाय					अकषाय		•
ज्ञानम्		मतिश्रुतावधि०	मन पर्यव०		केवलज्ञानम्		मतिश्रुतावधि०
सयम॰	सूक्ष्मसम्प-राय	...	सयमसा०		यथाख्यात		
दर्शनम्	...	चक्षुरवधि०		अचक्षुदर्शनम्	केवलदर्शनम्	—	चक्षुरवधि०
लेश्या	•	शुक्ला					शुक्ला
भव्य				भव्य			
सम्यक्त्वम्	—	सम्यक्त्वसा०क्षायिक औपशमिक०		...	•		सम्यक्त्वसा० क्षायिक०औप-शमिक०
सज्ञी		सज्ञी				...	सज्ञी
आहारक	..			आहाराना-हारौ			
सर्वा	१	२५	४	८	४	१	२५
गाथाङ्क	३६१	३६१	३६२	३६३	३६४	३६४	३६४

॥ अथाऽष्टमं परिमाणद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य परिमाणद्वारस्यावसरः। तत्र लाघवार्थी सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां परिमाणादिद्वाराणि सापवादमतिदिदिक्षुराह—

परिमाणाईसु सगबंधट्ठाणस्स मोहणीयव्व ।
णवरि जहण्णो कालो भिन्नमुहुत्तो अपज्जणरे ॥३६५॥
आहारमीसजोगे समयो होइ परिहारछेएसु ।
सय ज्झो अंतरमवि जहण्णगं दोसु सयमुज्झं ॥३६६॥

(प्रे०) '**परिमाणाई**' इत्यादि, परिमाणादिषु द्वारेषु, आदिशब्दात् क्षेत्र-स्पर्शना काला-ऽन्तराणां परिग्रहः, अल्पबहुत्वस्य पृथग् वक्ष्यमाणत्वात्, सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका इति गम्यते, मोहनीयकर्मवद् बोध्याः, उक्तद्वारेषु मोहनीयकर्मतः प्रायो विशेषाऽभावात्। प्रायो-ग्रहणात् परिमाणद्वारे मोहनीयबन्धकापेक्षयौघेन कासुचिन्मार्गणासु च सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः किञ्चिन्न्यूनाः संभवन्ति, आयुषि बध्यमाने सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धविरहाद् मोह-नीयस्य च बन्धाविरहात्। सामान्येनाऽतिदिश्याऽपवादमाह—'**णवरि**' इत्यादि, नवरं नाना-जीवाश्रिते कालद्वारेऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां नानाजीवा-श्रितो जघन्यकालो भिन्नमुहूर्तो ज्ञेयः, आहारकमिश्रकाययोगे चैकः समयो भवति। अय भावः— अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमगाथया नानाजीवापेक्षया मोहनीयस्य बन्ध-कानां जघन्यकालः क्षुल्लकभवप्रमाणो विहितः, इह तु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां तावान् कालो न संभवति, नानाजीवाश्रिते तत्तन्मार्गणाजघन्यकालेऽप्यायुर्बन्धावस्थायामष्टप्रकृत्यात्मकबन्ध-स्थानेन क्षुल्लकभवव्याघातात्। तेनाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां जघन्यकालः क्षुल्लकभवस्य सङ्ख्येयभागकल्पः संभवति, स्वायुषो द्वित्रिभागयोर्गतयोः सतोः परत आयुर्बन्धाद् जघन्यकालस्य चेदृष्टत्वेन तृतीयभागस्य संख्येयभागमात्रा-ऽवशेष आयुर्बन्धाद् आयुर्बन्ध-विरमणाच्च परस्य कालस्य यथोक्तमानत्वात्।

न चैको वाऽनेके वा सर्वेऽपर्याप्तमनुष्या विवक्षितसमय आयुर्बन्धतो विरताः, ततः समया-न्तरे भूयस्तेषामायुर्बन्धेन सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां जघन्यकाल एकसमयो लभ्यत इति वाच्यम्, आयुर्बन्धतो विरमणात् समयान्तरे भूय आयुर्बन्धाभावात्। न च तथापि विवक्षित-समय एको वाऽनेके वाऽऽयुर्बन्धत उपरताः, ततः समयान्तरे भूय एकेन वाऽनेकैर्वाऽन्यैरायुर्बन्धः प्रारब्धः, तदा सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां जघन्यकाल एकसमयो लभ्यत इत्याशङ्कनीयम्, यतो विवक्षितसमये यदैको वाऽनेके वा ऽऽयुर्बन्धतो निवृत्ताः, तदाप्यन्यैः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य

६० अ

बध्यमानत्वेन बन्धकानामेकसमयमात्रकालस्याऽनुपपत्तिः। नानाशब्दस्य बन्धकसन्ततिपरत्वव्याख्यानं तु पञ्चत्रिंशदुत्तरद्विशततमगाथोक्तटीकायामाविष्कृतमेवेत्यलम्।

'परिहारछेए' परिहारविशुद्धिकसंयम च्छेदोपस्थापनीयसंयमयोः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य नानाजीवाश्रितो जघन्यः कालः स्वयमेवोह्यः, नानाजीवाश्रितजघन्यान्तरमपि स्वयमेवोह्यम्, परिमाणनिर्णयाभावात् ॥२६५,२६६॥

तदेवं लाघवार्थं सापवादं सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानतिदिश्य परिमाणद्वारेणैकप्रकृत्यात्मक षट्प्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धकान्निरूपयितुकाम आह—

परिमाणे संखेज्जा बोद्धव्वा इगछबंधठाणाणं।
जहि होन्ते ते तहि खलु संखेज्जा चेव णायव्वा ॥२६७॥

(प्रे०) 'परि[माणे]' इत्यादि, परिमाणद्वार एकप्रकृत्यात्मक षट्प्रकृत्यात्मकस्थानयोः प्रत्येकं बन्धकाः संख्येया बोद्धव्याः, एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामुपशान्तमोहादित्वेन षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य च बन्धकानां सूक्ष्मसम्परायसंयतत्वेन संख्येयराशितोऽधिकत्वाऽभावात्।

सम्प्रत्यादेशत आह–'जहि' इत्यादि, 'ते' तच्छब्देन पूर्वप्रक्रान्तत्वपरामर्शाद् एकप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकस्थानयोः प्रत्येक बन्धका 'यत्र'यासु मार्गणासु भवन्ति, 'तत्र' तासु द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासु मनुष्यगत्यादिष्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य च बन्धका मनुष्यगत्यादिषु सप्तत्रिंशन्मार्गणासु सख्येयाश्चैव ज्ञातव्याः, ओघतः संख्येयत्वेनाऽऽदेशेन ततोऽनतिरेकात्। द्वाचत्वारिंशन्मार्गणा नामत इमाः–मनुष्यगति-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय–त्रसकायसामान्य–पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग--पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौ दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगा अपगतवेदा-ऽकषाय-ज्ञानपञ्चक संयमसामान्य-यथाख्यातसयम दर्शनचतुष्क-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य- क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सञ्ज्या-हारका-ऽनाहारकाश्चेति। औदारिकमिश्रकाययोगकार्मणकाययोगाऽकषायकेवलद्विकयथाख्यातसंयमाऽनाहारकवर्जितास्वनन्तरोक्तासु मनुष्यगत्यादिमार्गणासु लोभमार्गणासूक्ष्मसम्परायसयममार्गणाप्रक्षेपेण सप्तत्रिंशन्मार्गणा बोद्धव्याः।

अतिदेशेन लब्धाः सप्तप्रकृत्यात्मकाऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धका विस्तरतो निरूप्यन्ते नरकगतिसामान्य-सप्तनरकभेद--तिर्यग्गतिसामान्यवर्जतिर्यग्भेदचतुष्क-मनुष्यगतिसामान्या--ऽपर्याप्तमनुष्य-सर्वार्थसिद्धवर्जसुरभेदैकोनत्रिंशत्क–सप्तैकेन्द्रियभेदवर्जद्वादशेन्द्रियभेद –वनस्पतिकायसामान्यसहित-निगोदभेदवर्जचतुस्त्रिंशत्कायभेद–पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोग– वैक्रियद्विक स्त्रीवेद–पुरुषवेद-ज्ञानत्रिक-विभङ्गज्ञान-देशविरत चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुभलेश्यात्रय-सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्[य]क्त्व-मिश्र सास्वादन-सञ्ज्ञिरूपासु विंशत्यधि[क] मार्गणासु

सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असंख्येया भवन्ति, तासु मोहनीयबन्धकानामसंख्येयत्वात् ।

अ प्रभृत्यपराजितान्तसप्तदशसुरभेदवैक्रियमिश्रकाययोगशुक्ललेश्याक्षायिकसम्यक्त्वौपशमिकसम्यक्त्वमिश्रवर्जास्वनन्तरोक्तास्वष्टनवतिमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असंख्येया भवन्ति, आयुष्कस्य बन्धकानामसंख्येयत्वात् ।

पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-सर्वार्थसिद्धा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयमरूपास्वेकादशमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येया भवन्ति ।

पर्याप्तमनुष्य-मानुष्या-नतप्रभृतिसर्वार्थसिद्धपर्यवसानाष्टादशसुरभेदा ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम- परिहारविशुद्धिकसंयम शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वरूपास्वेकोनत्रिशन्मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्य बन्धकाः संख्येया भवन्ति, आयुष्कस्य बन्धकानां संख्येयत्वात् ।

तिर्यग्गतिसामान्य-सप्तैकेन्द्रियभेद-साधारणशरीरवनस्पतिकाय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायलक्षणसप्तनिगोदभेद-वनस्पतिकायसामान्य-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्विका ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रय-भव्या -ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्याहारकरूपास्वष्टात्रिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका अनन्ता भवन्ति, तासु मार्गणासु जीव मनन्तत्वात् तेषां च बहुभागैः प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धात् ।

कार्मणकाययोगाऽनाहारकवर्जास्वनन्तरोक्तासु षट्त्रिंशन्मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका अनन्ता भवन्ति, तास्वायुषो बन्धकानामनन्तत्वात् । तदेवं गतं परिमाणद्वारम् ॥३६७॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारेऽष्टम परिमाणद्वार समाप्तम् ॥



॥ अथ नवमं क्षेत्रद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य क्षेत्रद्वारस्याऽवसरः। तत्र सप्तप्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धकानां क्षेत्रं प्रागुक्ताऽतिदेशेन गतम्।

अयं भावः–ओघतः सप्तप्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोः प्रत्येकं बन्धकाः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति, एकेन्द्रियाणामपि बन्धकत्वात् तेषां च सर्वलोकव्यापित्वात्।

आदेशतः पुनस्तिर्यग्गतिसामान्य-सप्तैकेन्द्रियभेद-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायवर्जदशवनस्पतिकायभेदेषु पर्याप्तबादरवर्जेषु षट्सु पृथिवीकायभेदेषु षट्स्वप्कायभेदेषु षट्सु तेजःकायभेदेषु षट्सु च वायुकायभेदेषु काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग -तन्मिश्रकाययोग- कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्वया-ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रय-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-हारका-ऽनाहारकेषु च सर्वसंख्यया चतुष्षष्टिमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति, कासुचिद् मार्गणासु सर्वलोकवर्तिनां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां प्रवेशात् कासुचित् पुनर्मारणसमुद्घातेन सर्वलोकव्यापिनां बादरैकेन्द्रियाणां प्रवेशात् तैश्च सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धात्।

पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका देशोनलोकवर्तिनो भवन्ति, पर्याप्तबादरवायुकायिकानां मारणसमुद्घातेनाऽपि तावन्मात्रक्षेत्रवर्तित्वात् तैश्च सप्तप्रकृतीनां बन्धात्।

शेषासु चतुरधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका लोका-ऽसंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति, तासु मोहनीयकर्मणो बन्धकानां तावन्मात्रक्षेत्रवर्तित्वात्। विशेषार्थिना सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य क्षेत्रप्ररूपणायै मोहनीयबन्धकक्षेत्रप्ररूपणाऽवलोकनीया, तस्या विस्तरेण दर्शितत्वात्।

बादरैकेन्द्रियसामान्य-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-बादरसामान्या-ऽपर्याप्तबादरपृथिव्यादिचतुष्कभेद-बादरसामान्य-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तबादरनिगोद-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय-कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकरूपाण्यष्टादशमार्गणास्थानानि विना पूर्वोक्तासु यासु तिर्यग्गतिसामान्यादिषट्चत्वारिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सर्वलोकवर्तिनः, तास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्याऽपि बन्धकाः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति, तास्वायुष्कबन्धकानां जीवानां सर्वलोकभावित्वात्।

बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकाया ऽपर्याप्तबादरवायुकायलक्षणासु षट्सु मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका लोकबहुसंख्येयभागव्यापिनो भवन्ति, तासु मार्गणासु जीवानां स्वस्थानापेक्षया क्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात् स्वस्थान एव चाऽऽयुर्बन्धात्।

शेषास्वेकादशाधिकशतमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका लोकाऽसंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति, तासु मार्गणासु स्वस्थानापेक्षया गमनागमनापेक्षया वा क्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वात् स्वस्थान-क्षेत्रगमनागमनक्षेत्रयोश्चायुर्बन्धस्याऽप्रतिषेधात् ।

अथैकप्रकृत्यात्मक-षट्प्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धकानां क्षेत्रमभिधित्सुरादौ तावदोघत आह–

लोगासंखियभागे छबंधठाणस्स बंधगा णेया ।
केवलिखेत्ते उण इगबंधट्ठाणस्स बोद्धव्वा ॥३६८॥

(प्रे०) 'लोगा०' इत्यादि, षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका लोकाऽसंख्येयभागवर्तिनो ज्ञेयाः, सूक्ष्मसम्परायसंयतैस्तस्य बन्धात् तेषां च क्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वात् । एकप्रकृत्यात्मकबन्ध-स्थानस्य बन्धकाः पुनः 'केवलिक्षेत्रे' कदाचिद् लोकाऽसंख्येयभागे कदाचिद् लोकस्य बहुसंख्येय-भागेषु, कदाचित् पुनः सर्वलोके 'बोद्धव्याः' ज्ञातव्याः, सयोगिकेवलिभिरप्युक्तस्थानस्य बन्धात् , तेषां च केवलिक्षेत्रभाक्त्वात् ॥३६८॥

अथ प्रस्तुतस्थानयोर्बन्धकानामादेशतः क्षेत्रमाह—

ओघव्व बंधगा खलु छबंधठाणस्स सत्ततीसाए ।
पणमणवयणउरलदुगचउणाणेसु तिदरिसणेसु ॥३६९॥
उवसमसण्णीसु तहा आहारे बन्धगा मुणेयव्वा ।
लोगस्स असंखयमे भागे इगबन्धठाणस्स ॥३७०॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, सप्तत्रिंशति मनुष्यादिमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः खलु 'ओघवद्' लोकासंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति, प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकानां सूक्ष्मसम्प-रायसंयतत्वात् तेषां च लोकाऽसंख्येयभागवर्तित्वात् । तदेवं भणितमादेशतः षट्प्रकृत्यात्मकस्थान-स्य बन्धकाना क्षेत्रम् ।

सम्प्रत्येकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां क्षेत्रमादेशतोऽभिधित्सुरादौ तावन्मनोयोगादि-मार्गणास्वाह–'पण०' इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग केव-लज्ञानवर्जज्ञानचतुष्केषु केवलदर्शनरहितासु त्रिदर्शनमार्गणास्वौपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणयोराहारक-मार्गणायां च सर्वसंख्यया द्वाविंशतिमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका लोकस्याऽसंख्येयतमे भागे ज्ञातव्याः । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुपशान्तमोहा एवैकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका भवन्ति, मध्यममनोयोगद्वय-मध्यमवचनयोगद्वय-ज्ञानचतु-ष्क-दर्शनत्रय-संज्ञिमार्गणासु पुनरुपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च भवन्ति, उपशान्तमोह-क्षीणमोहानां च

क्षेत्रस्य तावन्मात्रत्वादुक्तत्रयोदशमार्गणासु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धका लोकाऽसंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति ।

शेषत्रिमनोयोग त्रिवचनयोगेषु यद्यपि सयोगिकेवलिनोऽप्येकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका भवन्ति, तथापि न ते तासु मार्गणासु केवलिसमुद्घातं कुर्वन्ति, केवलिक्षेत्रं तु केवलिसमुद्घातेनैव लभ्यते, अन्यथा तु सयोगिकेवलिनां मनुष्यक्षेत्रवर्तित्वात् ते लोका-ऽसंख्येयभागवर्तिनो भवन्ति, उक्तमार्गणावर्तिनश्चोपशान्तमोहक्षीणमोहा अपि लोकासंख्येयभागवर्तिनः, तेनोक्तषड्मार्गणासु प्रस्तुत-स्थानस्य बन्धका लोकाऽसंख्येयभागे भवन्ति । औदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोगा-ऽऽहारकमार्गणासु सयोगकेवलिनः पुनः केवलिसमुद्घातं कुर्वन्ति, किन्तु तासु मन्थानं लोकपूरणं वा न कुर्वन्ति । तदेव-मुपशान्तमोह-क्षीणमोहानां मन्थानलोकपूरणविरहितसयोगिकेवलिना लोकाऽसंख्येयभागस्थायित्वात् तिसृषु मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका लोका ऽसख्येयभागवर्तिनः ॥३६९,३७०॥

सम्प्रति विशतिमार्गणासु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकानां क्षेत्रमाह—

कम्माणाहारे ं असं भागेसु संति लोगस्स ।
अहवाऽत्थि सव्वलोगे सेसासु ं केवलिअखेत्ते ॥३७१॥

(प्रे०) ' ०' इत्यादि, "बधगा इगबधठाणस्स" इत्येतत्पदद्वयं पूर्वतोऽनुवर्तते । कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोरेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका लोकस्याऽसंख्येयभागेषु 'सन्ति' भवन्ति, अथवा सर्वलोके सन्ति, एतयोर्मार्गणयोः सयोगिकेवलिनां मन्थान-लोकपूरण-करणाद् मन्थानावस्थालोकपूरणावस्थयोश्च यथाक्रमं लोकबहुसंख्येयभाग-सर्वलोकवर्तित्वात् सयो-गकेवलिनाम् । इदं तु बोध्यम्—उक्ता-ऽवस्थाविरहे सयोगिकेवलिनां कार्मणकाययोगोऽनाहारकत्वं च न संभवतः, तेन लोका-ऽसंख्येयभागमात्रं क्षेत्रं प्रस्तुतबन्धकानामुक्तमार्गणाद्वये न प्राप्यते ।

'सेसा ' इत्यादि, शेषास्वष्टादशमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः 'केवलिक-क्षेत्रे' लोकस्याऽसंख्येयभागे वा बहुसख्येयभागेषु वा सर्वलोके वा भवन्ति, तासु सयोगिकेवलिभिः केवलिसमुद्घातस्याऽपि निर्वर्तनात् तैश्चैकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धात् । शेषमार्गणाः पुनरिमाः—मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणाः पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ त्रसकायसामा-न्य-पर्याप्तत्रसकायौ काययोगो-ऽपगतवेदोऽकषायः केवलद्विकं संयमसामान्य-यथाख्यातसंयमौ-शुक्लेश्या भव्यः सम्यक्त्वसामान्यमार्गणा क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणा चेति । तदेव गतं क्षेत्र-द्वारम् ॥३७१॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारे नवम क्षेत्रद्वार समाप्तम् ॥

卐

॥ अथ दशमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

सम्प्रति स्पर्शनाद्वारस्याऽवसरः। तत्र सप्तप्रकृत्यात्मका ऽष्टप्रकृत्यात्मकयोर्बन्धकानां स्पर्शना-ऽतिदेशेन लब्धेमा–ओघतः सप्तप्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धकैरतीतकाले सर्वलोकः स्पृष्टः, एकेन्द्रियाणामपि बन्धकत्वात् तेषां च सर्वलोकस्पर्शित्वात्।

आदेशतो नरकगतिसामान्य-सप्तमपृथिवीनरका-ऽऽनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युत शुक्ललेश्यामार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैः षट् त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः, अतीतकालापेक्षया नारकादीनां स्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वात्।

प्रथमनरक नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तर-वैक्रियमिश्रकाययोगा ऽऽहारककाययोग तन्मिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयमरूपेषु चतुर्विंशतिमार्गणास्थानेषु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैर्लोका ऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, अतीतकालापेक्षया प्रथमपृथिवीनारकादीनां स्पर्शनाया यथोक्तमानत्वात्।

द्वितीयपृथिवीनरकमार्गणायामेकस्त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागः, तृतीयपृथिवीनरकगतिमार्गणायां पुनर्द्वौ चतुर्दशभागौ, चतुर्थपृथिवीनरकगतिमार्गणायां त्रयश्चतुर्दशभागाः, पञ्चमपृथिवीनरकगति-मार्गणायां चत्वारश्चतुर्दशभागाः, षष्ठपृथिवीनरकगतिमार्गणायां च पञ्च चतुर्दशभागाः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैः परिस्पृष्टाः, द्वितीयादिपृथिवीनारकाणा स्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वात्।

वैक्रियकाययोगमार्गणायां त्रयोदश त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैः स्पृष्टाः, अतीतकालापेक्षया वैक्रियकाययोगिना स्पर्शनाया यथोक्तमानत्वात्।

देशविरतमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैः पञ्च त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः परिस्पृष्टाः, अतीतकालापेक्षया देशविरतानां स्पर्शनाया यथोक्तमानत्वात्।

सास्वादनमार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाना स्पर्शना द्वादश त्रसनाड्याश्चतुर्दश-भागा भवति, अतीतकालापेक्षया सास्वादनसम्यग्दृष्टीनां स्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वात्। देवगतिसामान्य-भवनपति व्यन्तर ज्योतिष्क-सौधर्मै-शानसुर तेजोलेश्यालक्षणसप्तमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैर्नव त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः, अतीतकालापेक्षया भवनपत्यादिभिर्यथोक्तक्षेत्रस्य स्पृष्टत्वात्।

सनत्कुमारप्रभृतिसहस्रारान्तसुर-मति श्रुता-ऽवधिज्ञाना ऽवधिदर्शन पद्मलेश्या सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्ररूपषोडशमार्गणासु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकैरष्टौ त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः परिस्पृष्टाः, अतीतकालापेक्षया सनत्कुमारादिभिर्यथोक्तक्षेत्रस्य स्पृष्टत्वात्।

शेषासु सप्ताधिकशतमार्गणासु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, तासु नानाजीवैर-तीतकाले यथोक्तक्षेत्रस्य स्पृष्टत्वात्।

तिर्यग्गतिसामान्यै केन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियेषु पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायलक्षणेषु चतुर्षु पृथिवीकायभेदेषु, एवं चतुःसंख्याकाप्काय-तेजःकाय-वायुकाय-साधारणशरीरवनस्पतिकायभेदेषु वनस्पतिकायसामान्य-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्विका-ऽविरता ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-हारकमार्गणासु च सर्वसंख्यया षट्चत्वारिंशन्मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, एकेन्द्रिया-दीनामन्यत्र गमनाभावेनाऽऽयुर्बन्धस्य स्वस्थान एव सम्भवात्, एतासु च मार्गणासु तेषां स्वस्थान-क्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वात् ।

बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैर्देशोनलोकः स्पृष्टः, बादरैकेन्द्रिया-दीनामायुष्कबन्धस्य स्वस्थान एव सम्भवात्, स्वस्थानक्षेत्रस्य च तेषां यथोक्तमानत्वात् ।

सुरसामान्य-भवनपति-व्यन्तर ज्योतिष्क-सौधर्मप्रभृतिसहस्रारान्तसुर-पञ्चेन्द्रियसामान्य पर्याप्तप-ञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन - तेजोलेश्या पद्मलेश्या - सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व- क्षायौपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणासु द्वाचत्वारिंशत्संख्यास्वष्टप्रकृत्या-त्मकस्थानस्य बन्धकैरष्टौ त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः, उक्तमार्गणावर्तिजीवैरच्युतसुराणां साहाय्ये-नोर्ध्वलोके गमनागमनेन षण्णां त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागानां स्पृष्टत्वात् स्वशक्त्या च तृतीयनरकपृथिवीं यावद् गमनागमनेनाऽधोलोके द्वयोस्त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागयोः स्पृष्टत्वात्, गमनागमन विदधतां चाऽऽयुर्बन्धस्याऽप्रतिषिद्धत्वात् ।

आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतसुर शुक्ललेश्यास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैः षट् त्रसनाड्या-श्चतुर्दशभागाः परिस्पृष्टाः, आनतादिसुराणां तिर्यग्लोकादधो गमनाभावेन गमनागमनक्षेत्रस्य ताव-न्मात्रत्वात् । शेषासु चतुःषष्टिमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, नारकादीनां लोकाऽसंख्येयभागस्पर्शित्वात् । विशेषार्थिना त्वायुर्बन्धकाना स्पर्शना विलोकनीया, या प्राग् न्यक्षेण प्रतिपादिता ।

अथ शेषयोर्द्वयोः स्थानयोर्बन्धकाना स्पर्शनामभिधित्सुरादौ तावदोघत आह—

लोगासंखियभागो छबंधठाणस्स बन्धगेहि भवे ।

फुसिओऽत्थि सव्वलोगो छुहिओ इगबन्धठाणस्स ॥३७२॥

(प्रे०) 'लोगा०' इत्यादि, षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टो भवेत्, यतः सूक्ष्मसम्परायसयताः षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः, सूक्ष्मसम्परायसयतैश्चाऽतीत-कालापेक्षया लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः, यदुक्त **जीवसमासवृत्तौ**—"प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणादि-

गुणस्थानकजीवैर्लोकस्यासख्येयतमो भाग स्पृष्ट ।" इति ।

एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, अतीतकालेऽनन्तैः सयोगिकेवलिभिः समुद्घातेन सर्वलोकस्य स्पृष्टत्वात्, केवलिभिश्चापि प्रस्तुतस्थानस्य बन्धात् ॥२७२॥

सम्प्रति प्रस्तुतस्थानयोर्बन्धकानां स्पर्शनामादेशतो व्याजिहीर्षुराह—

ओघव्व अत्थि फुसिओ छबन्धठाणस्स सत्ततीसाए ।
पणमणवयणउरलदुगचउणाणेसु दरिसणतिगे ॥२७३॥
उवसमसण्णीसु तहा आहारे एगबन्धठाणस्स ।
लोगासंखयभागो छुहिओ सेसासु सव्वजगं ॥२७४॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, सप्तत्रिंशति मनुष्यगतिसामान्यादिमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैः 'ओघवद्' लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टोऽस्ति, तासु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकानां सूक्ष्मसम्परायसंयतत्वात्, सूक्ष्मसम्परायसंयतानां च लोकाऽसख्येयभागस्पर्शित्वात् ।

सम्प्रत्यादेशत एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां स्पर्शनामाह—'पण०' इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ दारिकद्विक-केवलवर्जचतुर्ज्ञानेषु केवलदर्शनवर्जत्रिदर्शनेष्वौपशमिकसम्यक्त्वे सञ्ज्ञिमार्गणायां तथाऽऽहारकमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैर्लोकाऽसंख्येयभागः स्पृष्टः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते—प्रस्तुतस्थानस्य बन्धका औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुपशान्तमोहा एव, मध्यममनोयोग-मध्यमवचोयोग-ज्ञानचतुष्क दर्शनत्रिक-सञ्ज्ञिषु पुनरुपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च, उपशान्तमोहक्षीणमोहैश्च लोकाऽसख्येयभागः स्पृष्टः, जीव ासादिग्रन्थेषु तथोक्तत्वात् । तेनैतासु त्रयोदशमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका लोकाऽसंख्येयभागस्पर्शिनः, शेषमनोयोगत्रय-वचनयोगत्रिकेषु यद्यपि सयोगिकेवलिनोऽपि प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकाः, तथापि न तैः प्रोक्तयोगेषु समुद्घातः क्रियते, सर्वलोक-देशोनलोकव्यापन तु समुद्घातेनैव भवति, तेनैतासु यथोक्तमाना स्पर्शना बन्धकानां भवति, शेषासु तिसृषु मार्गणासु समुद्घात कुर्वन्ति यद्यपि सयोगिकेवलिनः, तथापि न ते तत्र मन्थानं लोकपूरण च विदधतीति न लभ्यते प्रोक्तस्पर्शनातोऽधिका ।

'सेसासु' इत्यादि, शेषासु मनुष्यगतिसामान्यादिविंशतिमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टम्, तासु केवलिसमुद्घातेन लोकपूरणस्याऽप्रतिषिद्धत्वेनाऽनन्तैः समुद्घातगतैः सयोगिकेवलिभिः सकललोकस्य स्पृष्टत्वात् । ताश्च मार्गणा नामत इमाः—मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियसामान्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकायाः काययोग-सामान्य-कार्मणकाययोगा अपगतवेदोऽकषायः केवलद्विक संयमसामान्य यथाख्यातसयमः शुक्ललेश्या भव्यः सम्यक्त्वसामान्यं क्षायिकसम्यक्त्वमनाहारकश्चेति । तदेवं समर्थिताः स्पर्शनाद्वारेण प्रकृतिस्थानाना बन्धकाः ॥२७३,२७४॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारे दशम स्पर्शनाद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथैकादशं कालद्वारम् ॥

सम्प्रति नानाजीवाश्रितकालद्वारस्यावसरः। तत्रादौ तावदतिदेशप्राप्तः सप्तप्रकृत्यात्मका ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्नानाजीवाश्रितः कालोऽभिधीयते—ओघतः सप्तप्रकृत्यात्मका—ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा भवति, एकेन्द्रियादीनामपि तद्बन्धकत्वात्।

आदेशतोऽपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रकाययोगौ-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्रमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य नानाजीवापेक्षया बन्धकानां कालो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतः पुनः पल्योपमाऽसंख्येयभागः।

सास्वादनमार्गणायां जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतश्च पल्योपमाऽसंख्येयभागः।

आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणासु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकानां कालो जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतश्चाऽन्तर्मुहूर्तम्। छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयमयोस्तु स्वयमेव भाव्यः।

शेषासु नवपञ्चाशदधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति, तासा मार्गणानां सार्वकालिकत्वाद् नानाजीवापेक्षया च प्रस्तुतस्थानस्य निरन्तर बन्धात्।

तिर्यग्गतिसामान्य सप्तैकेन्द्रियभेद -पर्याप्तबादरवर्जपृथिवीकायभेदषट्का-ऽप्कायभेदषट्क-तेजःकायभेदषट्क वायुकायभेदषट्क पर्याप्तप्रत्येकशरीरवर्जवनस्पतिकायभेददशक-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्वया-ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रय-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या हारकरूपासु द्वाषष्टिमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां कालः सर्वाद्धा, एकेन्द्रियाणामपि तद्बन्धकत्वात्।

पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगेष्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यकाल एकसमय उत्कृष्टश्च पल्योपमाऽसंख्येयभागः, आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोरपि जघन्यः काल एकसमयः, उत्कृष्टस्त्वन्तमुहूर्तम्।

पर्याप्तमनुष्य मानुष्या-नतप्रभृतिसर्वार्थसिद्धपर्यवसानसुर मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिकसयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वेषु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकानां जघन्यत उत्कृष्टतश्च कालोऽन्तमुहूर्तम्, शेषासु नरकगतिसामान्यादिष्वेकषष्टिमार्गणासु पुनर्जघन्यतोऽन्तमुहूर्तमुत्कृष्टतश्च पल्योपमाऽसंख्येयभागः। विशेषार्थिना प्राक् प्रतिपादितो मोहनीयाऽऽयुष्कर्मणोर्बन्धकाना नानाजीवाश्रयः कालो विलोकनीयः, सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकनानाजीवाश्रयकालप्ररूपणाया मोहनीयबन्धकनानाजीवाश्रयकालप्ररूपणातुल्यत्वात्, अष्टप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकनानाजीवाश्रकालप्ररूपणायाश्चायुर्बन्धकनानाजीवाश्रयकालप्ररूपणासमानत्वात्

अथ शेषयोर्द्वयोः स्थानयोर्बन्धकाना जघन्योत्कृष्टकालमभिधातुकाम आदौ तावदोघत आह—

कालो णेयो समयो छबंधठाणस्स बन्धगाण लहू ।
जेट्ठो भिन्नमुहुत्तमिगबन्धठाणस्स सव्वद्धा ॥३७५॥

(प्रे०) ' ' इत्यादि, षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां 'लघुः' जघन्यः कालः समयो ज्ञेयः, 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टश्च भिन्नमुहूर्तो भवति, यत उक्तस्थानस्य बन्धकाः सूक्ष्मसम्परायसंयताः, सूक्ष्मसम्परायसंयतानां च नानाजीवाश्रितो जघन्योत्कृष्टकालो यथोक्तमानः, यदुक्तं श्रीव्याख्याप्रज्ञप्तौ-"सुहुमसंपरागसंजयाणं भंते ! पुच्छा, जह० एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।" इति ॥३७५॥

ओघत एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति, यतः प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकाः सयोगिकेवलिनोऽपि भवन्ति, सयोगिकेवलिनश्च नानाजीवापेक्षया सार्वकालिकाः ।

सम्प्रत्यादेशतः षट्प्रकृत्यात्मकस्थानैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धकानां कालमाह—

ओघव्व होइ दुविहो छबन्धठाणस्स सत्ततीसाए ।
दुमणवयणजोगेसुं णाणचउक्के दरिसणतिगे ॥३७६॥
तह उवसमसण्णीसुं जहण्णगो एगबन्धठाणस्स ।
समयो होअइ जेट्ठो भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥३७७॥

(प्रे०) 'ओघव्व इत्यादि, सप्तत्रिंशति मनुष्यगत्यादिमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां 'द्विविधः' जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नः कालः 'ओघवद् भवति' जघन्य एकसमय उत्कृष्टश्चाऽन्तर्मुहूर्तं भवति, तासु सूक्ष्मसम्परायाणामेव प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकत्वात् सूक्ष्मसम्परायसंयतानां च द्विविधकालस्य यथोक्तप्रमाणत्वात् ।

सम्प्रत्येकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामादेशतः कालमाह–'दुमण०' इत्यादि, मध्यममनोयोग-मध्यमवचनयोगेषु केवलवर्जज्ञानचतुष्के केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिके तथौपशमिकसम्यक्त्वसंज्ञिमार्गणयोरेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां जघन्यकः कालः समयो भवति, ज्येष्ठश्च भिन्नमुहूर्तो ज्ञातव्यः, यतस्तासु सयोगिकेवलिनः प्रस्तुतस्थानस्य बन्धका न भवन्ति, किन्तूपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च भवन्ति, ते च नानाजीवाऽपेक्षयाऽपि यथोक्तकालस्थायिनः ॥३७६,३७७॥

शेषास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां काल व्याहर्तुकाम आह–

समयो उरालमीसे भवे लहू म्मणे अणाहारे ।
समयतिगं तीसु गुरू सं । समया परासु सव्वद्धा ॥३७८॥ (गीतिः)

(प्रे०) ' यो' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां 'लघुः' जघन्यकालः समयो भवेत्, तथा कार्मणकाययोगेऽनाहारकमार्गणाया च समयत्रिकं भवति । कथमेतदवसीयते ? इति चेत्, यदैको वाऽनेके वा सयोगिकेवलिनो युगपत् समुद्घातं कुर्व-

न्ति, तदा समुद्घातद्वितीयसमये कपाटं कुर्वतां तेषामौदारिकमिश्रकाययोगो भवति, स चैकसामयिकः, समुद्घाततृतीयसमयात् प्रभृति कार्मणकाययोगप्रवृत्तेः । समुद्घातापन्ना अपि केवलिनः सातवेदनीयस्य बन्धकाः, तेनौदारिककाययोगमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य नानाजीवापेक्षया बन्धकानां जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते । समुद्घातापन्नानां सयोगिकेवलिनां कार्मणकाययोगस्य जघन्यतस्तृतीयतुरीयपञ्चमलक्षणत्रिसमयस्थायित्वात् कार्मणकाययोगमार्गणायां प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकानां जघन्यतः कालः समयत्रिकं भवति, एवमनाहारकमार्गणायामपि वाच्यः, कार्मणकाययोगिनामनाहारकत्वात् । एतासु तिसृषु मार्गणासूत्कृष्टकालमाह–'तीसु' इत्यादि, 'तिसृषु' औदारिकमि ययोग-कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणासु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकानां 'गुरुः' उत्कृष्टकालः संख्येयाः या भवति, नानाजीवापेक्षयाऽपि समुद्घातापन्नानां सयोगिकेवलिनां संख्येयसमयस्थायित्वात् ।

'परासु' इत्यादि, **'परासु'** शेषासु षड्विंशतिमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति, तासु सयोगिकेवलिभिः प्रस्तुतस्थानस्य बन्धात् सयोगिकेवलिनां च सार्वका त्वात् । शेषमार्गणाः पुनरिमाः–मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाया मध्यमवर्जमनोयोगत्रिक-वचनयोगत्रिक-काययोगसामान्यौदारिककाययोगा अपगतवेदो ऽकषायः केवलद्विक संयमसामान्य-यथाख्यातसंयम-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वा-ऽऽहारकमार्गणाश्चेति । तदेवं प्रतिपादितश्चतुर्णामपि प्रकृतिस्थानानां बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः ॥३७८॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकार एकादश कालद्वार समाप्तम् ॥



॥ अथ द्वादशमन्तरद्वारम् ॥

सम्प्रति प्रकृतिस्थानानां बन्धकानां नानाजीवाश्रितस्यान्तरस्य प्रतिपादनाऽवसरः। तत्र सप्तप्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धकानामन्तरमतिदेशेनैव गतम्, तथापि विनेयजनानुग्रहार्थमिह प्रतिपाद्यते। तथाहि—ओघतोऽनयोर्द्वयोः स्थानयोर्बन्धकानामन्तर नास्ति, बन्धकानां सार्वकालिकत्वात्।

आदेशतोऽपर्याप्तमनुष्य-सास्वादन-मिश्रमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां जघन्यतोऽन्तरमेकसमय उत्कृष्टतश्च पल्योपमाऽसंख्येयभागः, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां जघन्यत एकः समय उत्कृष्टतश्च द्वादश मुहूर्ताः, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां च जघन्यत एकसमयः, उत्कृष्टतः पुनः सप्तदिवसाः, आहारकद्विके च सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां जघन्यत एकसमयः, उत्कृष्टतश्च वर्षपृथक्त्वम्, अपगतवेदमार्गणायां पुनर्जघन्यतः समय उत्कृष्टतश्च मासषट्कम्। परिहारविशुद्धिकच्छेदोपस्थापनीययोः स्वयं वक्तव्यम्।

शेषास्वेकोनषष्टयधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामन्तरं नास्ति, सार्वकालिकत्वाद् बन्धकानाम्।

तिर्यग्गतिसामान्य-सप्तैकेन्द्रियभेद-पर्याप्तबादरवर्जपृथिवीकायभेदषट्का-ऽप्कायभेदषट्क-तेजःकायभेदषट्क वायुकायभेदषट्क पर्याप्तप्रत्येकशरीरवर्जवनस्पतिकायभेददशक काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का ऽज्ञानद्वया - ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रय-भव्या ऽभव्य मिथ्यात्वा ऽसंज्ञया-हारकरूपासु द्वाषष्टिमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामन्तरं न भवति, बन्धकानां सार्वकालिकत्वात्।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-द्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया -ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय—पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्दिय—त्रसकाया—ऽपर्याप्तत्रसकायरूपासु द्वादशमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामन्तरं जघन्यत एकः समय उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तं भवति। शेषासु नवाशीतिमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां जघन्यान्तरमेकसमयः, उत्कृष्टान्तरं तु स्वयमेव भाव्यम्।

विशेषार्थिना प्राक् प्रतिपादित मोहनीया-ऽऽयुष्ककर्मणोर्बन्धकाना नानाजीवाश्रयमन्तरं प्रेक्षणीयम्, सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकनानाजीवाश्रयान्तरप्ररूपणाया मोहनीयबन्धकनानाजीवाश्रयान्तरप्ररूपणासमानत्वात्, अष्टप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकनानाजीवाश्रयान्तरमप्ररूपणायाश्चाऽऽयुर्बन्धकनानाजीवाश्रयान्तरप्ररूपणातुल्यत्वात्।

इदानी शेषयोर्द्वयोः स्थानयोर्नानाजीवाश्रितं बन्धकानामन्तरमभिधित्सुरादौ तावदोघत आह—

समयोऽत्थि बंधगाणं छबंधठाणस्स अंतरं हस्सं।
उक्कोसं छम्मासा ण भवे इगबंधठाणस्स ॥२७९॥

(प्रे०) ' योऽत्थि' इत्यादि, षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानां 'ह्रस्वं' नानाजीवाश्रितं जघन्यमन्तरं समयोऽस्ति, उत्कृष्टं च षण्मासाः, यतः सूक्ष्मसम्परायसंयताः षट्प्रकृत्यात्मकस्थानं बध्नन्ति, सूक्ष्मसम्परायाणां च जघन्योत्कृष्टाऽन्तरं सिद्धान्ते यथोक्तमानं प्रतिपादितम् ,तथा चोक्तं **श्रीपञ्चसंयतप्रकरणे**–'सव्वे पडुच सामाइय-अहखायाण अतर नत्थि । सुहुमाण एगसमयो, जह ण्णमुक्कोस छम्मासा" इति ।

'ण' इत्यादि, एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकानामन्तर नास्ति, सयोगिकेवलिभिरपि तस्य बन्धात् , सयोगिकेवलिनां च सार्वकालिकत्वात् ॥३७९॥

सम्प्रत्यादेशतोऽभिधित्सुरादौ तावत् षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां जघन्योत्कृष्टान्तरमाह–

समयो होइ जहण्णं छबंधठाणस्स सत्ततीमाए ।
जेट्ठं वासपुहुत्तं मणुसीमणणाणुवसमेसुं ॥३८०॥

(प्रे०) ' यो' इत्यादि, सप्तत्रिंशति मार्गण षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां जघन्यमन्तरं समयो भवति, सूक्ष्मसम्परायाणां तस्य बन्धात् तेषां च जघन्याऽन्तरस्यैकसमयमात्रत्वात् । एतदुत्कृष्टान्तरमाह–'जेट्ठ' इत्यादि, मानुषी मनःपर्यवज्ञानौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां 'ज्येष्ठम्' उत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, तासु नानाजीवाऽपेक्षया सूक्ष्मसम्परायाणामुत्कृष्टान्तरस्य यथोक्तप्रमाणत्वात् ॥३८०॥

शेषासु चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तरमाह—

ओहिदुगे णायव्वं वासपुहुत्तं सअहियवासो वा ।
छम्मासा सेसासुं बत्तीसाए मुणेयव्वं ॥३८१॥

(प्रे०) 'ओहिदुगे' इत्यादि, 'अवधिद्विके' अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनलक्षणे मार्गणाद्वये षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तर वर्षपृथक्त्वं साधिकवर्षो वा भवति, तयोर्मार्गणयोः सूक्ष्मसम्परायाणां नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् । नन्ववधिद्विके मोहनीयस्याऽबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं साधिकवर्षमात्रमेवाऽभिहितम् , मोहनीया-ऽबन्धकेषु च सूक्ष्मसम्पराया अप्यन्तर्भूताः, अत्र पुनर्विकल्पद्वयं कुतो दर्श्यते ? इति चेत् , उच्यते–केचिद् **महाबन्धकारादयो**ऽवधिद्विके सूक्ष्मसम्परायाणामुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं स्वीकुर्वन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं प्रथमविकल्प उक्तः । **सिद्धप्राभृतवृत्तिकारादीनां** मतेन त्ववधिद्विके सूक्ष्मसम्परायाणामुत्कृष्टान्तरं साधिकवर्षं सम्भवति, तेषां मतेनाऽवधिज्ञानपश्चात्कृतानां सिद्धानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् । प्रथमाऽधिकारे तु द्वितीयमतमेवाश्रित्य प्रोक्तमित्यदोषः । एवमग्रेऽप्यवधिद्विक एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं मतद्वयेन बोध्यम् , प्रथममतेनाऽवधिद्विक उपशान्तमोह क्षीणमोहानामुत्कृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्वमात्रत्वाद् द्वितीयमतेन पुनः साधिकवर्षप्रमाणत्वात् ।

'छम्मासा' इत्यादि, शेषासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासा भवति, तासु मार्गणासु सूक्ष्मसम्परायाणामुत्कृष्टान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् । अथ शेषमार्गणा नामग्राहं पठ्यन्ते-मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायाः पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग- काययोगसामान्यौ दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-लोभ-मतिज्ञान-श्रुतज्ञान संयमसामान्य--सूक्ष्मसम्परायसंयमाश्चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन -शुक्ललेश्या-भव्य सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणा-सञ्ज्ञिमार्गणा ऽऽहारकमार्गणाश्चेति ॥३८१॥

सम्प्रत्येकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य नानाजीवाश्रितं बन्धकानामन्तरमभिधित्सुराह—

जहि बंधगाण कालो सव्वद्धा एगबंधठाणस्स ।
तहि अंतरं ण होज्जा सेसासु भवे लहुं समयो ॥३८२॥

(प्रे०) **'जहि'** इत्यादि, 'यत्र' यासु मनुष्यगत्यादिषड्विंशतिमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य नानाजीवाऽपेक्षया बन्धकाना कालः सर्वाद्धा भवति, तासु मार्गणासु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकानामन्तरं न भवति, सार्वकालिकत्वात् तेषाम् । शेषासु षोडशमार्गणासु प्रस्तुतस्थानस्य बन्धकानां 'लघु' जघन्यान्तरं समयो भवति, मध्यममनोयोगादित्रयोदशमार्गणासूपशान्तमोह-क्षीणमोहानामेव, औदारिकमिश्रकाययोग कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणासु पुनः समुद्घातगतविशिष्टावस्था-ऽऽपन्नानामेव सयोगिकेवलिनां बन्धकत्वाद् , उपशान्तमोहादीना च जघन्यतो नानाजीवाश्रयान्तरस्य समयमात्रत्वात् ॥३८२॥

सम्प्रति षोडशमार्गणासु नानाजीवापेक्षया प्रस्तुतबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं निजिगदिषुराह—

दुमणवयणाणदंसणसण्णीसु गुरुं हवेज्ज छम्मासा ।
अण्णह वासपुहुत्तं ओहिदुगे अहियवासो व ॥३८३॥

(प्रे०) **'दुमण'** इत्यादि, द्विशब्दस्य चतुर्भिः पदैः सहाऽभिसम्बन्धाद् मध्यममनोयोगद्वय-मध्यमवचोयोगद्वय- मतिज्ञानश्रुतज्ञानलक्षणज्ञानद्वय—चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनरूपदर्शनद्विक—सञ्ज्ञिमार्गणासु 'गुरु' नानाजीवाश्रितमेकप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकानामुत्कृष्टान्तर षड्मासा भवेत् , तासा मार्गणानां क्षपकश्रेण्यामवश्यंभावाद् नानाजीवापेक्षया च क्षपकश्रेणेरुत्कृष्टान्तरस्य यथोक्तकालमानत्वात् । 'अन्यत्र' उक्तशेषासु सप्तस्वौदारिकमिश्रकाययोग कार्मणकाययोग-मनःपर्यवज्ञाना-ऽवधिद्विकौपशमिकसम्यक्त्वाऽनाहारकरूपासु मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्व भवति, मनःपर्यवज्ञाना ऽवधिद्विकौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु यथासभवं क्षपकश्रेण्युपशमश्रेण्योर्नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्य शेषासु च केवलिसमुद्घातस्योत्कृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्वमात्रत्वात् ।

अथ मतान्तरं दर्शयति-'ओहिदुगे' इत्यादि, 'अवधिद्विके' अवधिज्ञाना ऽवधिदर्शनलक्षणे मार्गणाद्विक एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तरमधिकवर्षो 'वा' मतान्तरेण भवति, सुगममेतत् , प्राक् प्रतिपादितत्वात् ॥३८३॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे बन्धस्थानाधिकार एकादशमन्तरद्वार समाप्तम् ॥



मूलप्रकृतिस्थानानां बन्धकानां परिमाण क्षेत्र-स्पर्शना-काला-ऽन्तरप्रदर्शियन्त्रम्

ओघत आदेशतश्च सर्वासु (१६३) मार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य परिमाणादिकान्यायुष्ककर्मबन्धकवद् बोध्यानि। (गाथा ३१८)

ओघत आदेशतश्च सर्वासु (१६९) मार्गणासु सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाना परिमाणादिद्वाराणि मोहनीयबन्धकवद् बोध्यानि। नवरमपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाना नानाजीवाश्रयो जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, आहारकमिश्रकाययोगे जघन्यकाल एकसमय, परिहारविशुद्धिक च्छेदोपस्थापनीयसयमयोश्च जघन्यकालो जघन्यान्तर च स्वयमेवोह्यम् (गाथा ३६५-३६६.।

ओघत आदेशतश्च सर्वासु (३७ मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाना परिमाणत सख्येयत्वम्, क्षेत्रस्पर्शने लोकासख्येयभागप्रमाणे, नानाजीवाश्रित कालो जघन्यत एकसमय उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तम्, ओघतो नानाजीवाश्रितमन्तर जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतश्च षण्मासा ,(गाथा ३६७, ३६८, ३७२, ३७३, ३७५, ३७६ ३७६)।

ओघत एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाना परिमाणत सख्यातत्वम्, क्षेत्र 卐 केवलिक्षेत्रम्, स्पर्शना सर्वलोक, नानाजीवाश्रय काल. सर्वाद्वा, अन्तर च नास्ति। (गाथा ३६७ ३६८, ३७२, ३७५, ३७६)।

आदेशत सर्वासु ४२। मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकत्मकस्य बन्धका सख्येया (गाथा ३६७)।

卐 केवलिक्षेत्रम्=लोकासख्येयभागो वा, लोकस्य बहुसख्येयभागा वा, सवलोको वा।

	क्षेत्रम्			स्पर्शना	
	लोकासंख्येयभाग	लोकासंख्यभागा सर्वलोको वा	केवलिक्षेत्रम्	लोकासंख्यभाग	सर्वलोक
गति			अपर्याप्तवर्जत्रिनरा		अपर्याप्तवर्जत्रिनरा
इन्द्रियम्			पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ		पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ
काय			त्रसपर्याप्तत्रसौ		त्रसपर्याप्तत्रसौ
योग	५मनो०५वचन० औदारिकद्विकम्	कार्मण	काययोग	५ मनो० ५ वचन० औदारिकद्विकम्	काययोगसा०कार्मण०
वेद			अवेद		अवेद
कषाय		••	अकषाय		अकषाय
ज्ञानम्	केवलवर्जज्ञान-चतुष्कम्		केवलज्ञानम्	केवलवर्जज्ञानचतुष्कम्	केवलज्ञानम्
संयम			संयमसा०यथाख्यात०		संयमसा० यथाख्यात
दर्शनम्	केवलवर्जदर्शन त्रिकम्		केवलदर्शनम्	केवलवर्जदर्शनत्रिकम्	केवलदर्शनम्
लेश्या			शुक्ला		शुक्ला
भव्य			भव्य		भव्य
सम्य-क्त्वम्	औपशमिक०		सम्यक्त्वसा० क्षायिक०	औपशमिक०	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०
संज्ञी	संज्ञी			संज्ञी	
आहारक	आहारक	अनाहारक		आहारक	अनाहारक
सर्वा	२२	२	१८	२२	२०
गाथाङ्क	३६९,३७०	३७१	३७१	३७३,३७५	३७४

 एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितकालस्यैकप्रकृत्यात्मकषट्प्रकृत्यात्मकस्थानयोश्च बन्धकानां नानाजीवाश्रितान्तरस्य प्रदर्शि यन्त्रम्

	एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य काल				एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्यान्तरम्			षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्यान्तरम्	
	जघन्य १समय उत्कृष्टोऽन्तमुहूर्तम्,	जघन्य १ समय उत्कृष्ट सख्य-समया	जघन्य समयत्रिकम, उत्कृष्ट सख्यसमया	सर्वाद्धा	जघन्य १ समय उत्कृष्ट ६ मासा	जघन्य १समय उत्कृष्ट वर्ष-पृथक्त्वम	नास्ति	जघन्य १समय उत्कृष्ट वर्षपृथक्त्व	जघन्य समय उत्कृष्ट ६ मासा.
गति				अपर्याप्तवर्जत्रिनरा			अपर्याप्तवर्जत्रिनरा	मानुषी	नरपर्याप्तनरी
इन्द्रियम	•	•••		पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ			पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ		पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ
काय				त्रसपर्याप्तत्रसौ			त्रसपर्याप्तत्रसौ		त्रसपर्याप्तत्रसौ
योग	२मध्यममनो० २मध्यमवचो०	औदारिकमिश्र	कार्मण	त्रिमनो०त्रिवचन० काय औदारिक	२ मध्यममनो० २मध्यमवचन०	औदारिकमिश्र कार्मणौ	त्रिमनो०त्रिवचन० औदारिक		५मनो०५वचन काय औदारिक
वेद				अवेदः			अवेद	•••	अवेद
कषाय				अकषाय			अकषाय		लोभ
ज्ञानम	केवलवर्जज्ञा-नचतुष्कम			केवलज्ञानम्	मतिश्रुतज्ञान०	मन पर्यव० अवधिज्ञा० 卐	केवलज्ञानम्	मन पर्यव० अवधिज्ञा 卐	मतिश्रुत०
संयम				सयमसा० यथाख्यात			सयमसा० यथाख्यात		संयमसा० सूक्ष्म-सम्परायसयम
दर्शनम्	केवलवर्जदर्शनत्रिकम्			केवलदर्शनम्	चक्षुरचक्षुदर्शन०	अवधिदर्शनम 卐	केवलदर्शनम्	अवधिद० 卐	चक्षुरचक्षु०
लेश्या				शुक्ला			शुक्ला		शुक्ला
भव्य		/	•	भव्य			भव्य		भव्य'
सम्य-क्त्वम्	औपशमिक०		•••	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०	•	औपशमिक०	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०	औपशमि०	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०
सञ्ज्ञी	सञ्ज्ञी				सञ्ज्ञी		••		सञ्ज्ञी
आहारक			अनाहारक	आहारक		अनाहारक	आहारक		आहारक
सर्व	१३	१	२	२६	१	५+२	२६	३+२	३२
गाथाङ्क	३७६ ३७७	३७८	३७८	३७८	३८२ ३८३	३८२ ३८३	३८२	३८०,३८१	३८०,३८१

卐 अवधिद्विके षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोरुत्कृष्टान्तर मतान्तरेण साधिकवर्षम् ।

॥ अथ त्रयोदशं भावद्वारम् ॥

सम्प्रति भावद्वारस्याऽवसरः प्राप्तः । तत्रौघत आदेशतश्च मनुष्यगतिसामान्यादिमार्गणासु वर्तमानानां जीवानां षट्प्रकृत्यात्मकस्थानबन्ध एकप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धश्च येन भावेन भवति, तं व्याहर्तुकामः प्राह—

भावेणोदइएणं छबंधठाणेगबंधठाणाणं ।
बंधो एमेव कमा सगतीसाए दुचत्ताए ॥३८४॥

(प्रे०) '**भावेणोदइएणं**' इत्यादि, षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्ध औदयिकेन भावेन भवति । एतदुक्तं भवति–षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धः कषाययोगलक्षणौदयिकभावेनैकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य च बन्धो योगात्मकौदयिकेन भावेन भवति । '**एमेव**' इत्यादि, 'एवमेव' यथौघतः षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्ध औदयिकभावेन प्रतिपादितः, तथैव क्रमात् सप्तत्रिंशति मनुष्यगतिसामान्यादिमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धः कषाययोगरूपौदयिकभावेन द्वाचत्वारिंशति मनुष्यगतिसामान्यादिमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धो योगलक्षणौदयिकेन भावेन भवति ।

शेषयोरष्टप्रकृत्यात्मकस्थान सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्ध ओघत आदेशतश्च नरकगतिसामान्यादिमार्गणासु यथासम्भवं मिथ्यात्वाऽविरतिकषाययोगरूपेण वाऽविरतिकषाययोगात्मकेन वा कषाययोगलक्षणेन वौदयिकभावेन भवतीति षोडशाधिकत्रिशततमगाथा-पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशततमगाथोक्तातिदेशतोऽवसेयम् ॥३८४॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीयस्मिन् बन्धस्थानाख्याधिकारे त्रयोदश भावद्वारं समाप्तम् ॥



सम्प्रति मनुष्यादिमार्गणासु प्रकृतिबन्धस्थानानां बन्धकानामल्पबहुत्वमाह—

णरदुपणिंदितसेसुं तिमणवयेसुं हवेज्ज ओघव्व ।
णवरि असंखेज्जगुणा णेया अडबंधठाणस्स ॥३८९॥

(प्रे०) 'णर०' इत्यादि, मनुष्यगतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकाय-सामान्य-पर्याप्तत्रसकायेषु मनोयोगसामान्य-सत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषमनोयोग-वचनयोगसामान्य-सत्यवचनयोगा-ऽसत्यामृषवचनयोगेषु चतुर्णां बन्धस्थानानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, नवरमष्ट-प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धका असंख्येयगुणा ज्ञेयाः, न त्वोघवदनन्तगुणाः । भावार्थः पुन-रयम् मनुष्याद्येकादशमार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सर्वस्तोका भवन्ति, तेषां सूक्ष्म-सम्परायसंयतत्वेन शतपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेभ्य एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः सयोगिकेवलिनामपि तद्बन्धेन कोटिपृथक्त्वप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असंख्येयगुणाः,मनुष्यादिमार्गणास्वसंख्येयैर्जीवैरायुषो बन्धात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, बहुसंख्येयभागमात्राणां मनुष्यादीनामायुषोऽबन्धात् ॥३८९॥

सम्प्रति पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्रस्तुताल्पबहुत्वमाह—

दुमणुस्ससंजमेसुं छबंधठाणस्स बंधगा थोवा ।
ताउ कमा सं गुणा इगऽट्ठसगबंधठाणाणं ॥३९०॥

(प्रे०) 'दुमणुस्स०' इत्यादि, 'द्विमनुष्यसंयमेषु' पर्याप्तमनुष्य मानुषी संयमसामान्येषु षट्प्र-कृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः सर्वस्तोका भवन्ति, सूक्ष्मसम्परायसंयतत्वात् । तेभ्यः क्रमात् संख्येयगुणा एकप्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानानां बन्धकाः । इदमुक्तं भवति-प्रोक्तासु तिसृषु मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः स्तोकाः, सूक्ष्मसम्परायसंयतै-स्तस्य बन्धात् । तेभ्य एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, सयोगिकेवलिनामपि तद्बन्धेन कोटिपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, सयोगिकेवलिभ्य आयुषो बन्धकानां संख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, तत्रायुषो बन्धकेभ्योऽबन्धकानां संख्येयगुणत्वात् ॥३९०॥

अथ मनोयोगादिमार्गणासु प्रस्तुताल्पबहुत्वमाह—

छिगबंधट्ठाणाणं थोवा दुमणवयचक्खुसण्णीसुं ।
तत्तो अडसगबंधट्ठाणाण कमा असंखसं गुणा ॥३९१॥

(प्रे०) 'छिगबंधट्ठाणाणं' इत्यादि, मध्यमयोर्द्वयोर्मनोयोगयोर्मध्यमयोर्द्वयोर्वचनयोगयोश्चक्षु-दर्शनमार्गणाया संज्ञिमार्गणायां च षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोः समुदिता बन्धकाः स्तोकाः,

संख्येयत्वात् । तेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकसप्तप्रकृत्यात्मकस्थानयोः प्रत्येकं बन्धकाः क्रमादसंख्यगुणाः संख्यगुणाश्च । तथाहि–मध्यममनोयोगादिषड्मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असंख्येयगुणाः, असंख्येयत्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, तासु बहुसंख्येयभागमात्रैर्जीवैरायुषोऽबन्धात् ॥३९१॥

सम्प्रत्यौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां त्रयाणां प्रकृतिस्थानानां बन्धकानामल्पबहुत्वं प्राह-

ओरालमीसजोगे अत्थि इगअडसगबंधठाणाणं ।
कमसो सव्वत्थोवा अणंत णिया य संखगुणा ॥३९२॥

(प्रे०) 'ओराल०' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मका ऽष्टप्रकृत्या-सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानानां बन्धकाः क्रमशः सर्वस्तोका अनन्तगुणिताः सख्येयगुणाश्च । भावार्थः पुनरयम्-औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सर्वस्तोकाः, केवलिसमुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनां तस्य बन्धात् । तेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका अनन्तगुणाः, अपर्याप्तनिगोदादीनामप्यायुषो बन्धात् तेषाञ्चानन्तत्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सख्येयगुणाः, बहुसंख्येयभागप्रमाणानां निगोदादीनामायुषोऽबन्धात् ॥३९२॥

एतर्हि वैक्रियमिश्रकाययोगादिमार्गणासु प्रकृतिस्थानबन्धकाल्पबहुत्वं निषेधन्नाह—

वेउव्वमीसजोगे अकसायम्मि तह केवलदुगम्मि ।
सुहुमाहक्खायेसुं मीसे अप्पाबहू णत्थि ॥३९३॥

(प्रे०) 'वेउव्व०' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामकषायमार्गणास्थाने केवलज्ञान-केवलदर्शनमार्गणयोः सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यातसंयमयोर्मिश्रमार्गणायां च प्रस्तुताल्पबहुत्वं नास्ति, एकस्यैव प्रकृतिस्थानस्य बन्धात् ॥३९३॥

सम्प्रति कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोर्द्वयोर्बन्धस्थानयोर्बन्धकानामल्पबहुत्वं प्राह—

कम्माणाहारेसुं सव्वप्पा एगबंधठाणस्स ।
तत्तो अणंतगुणिआ हवन्ति सगबंधठाणस्स ॥३९४॥

(प्रे०) 'कम्माणाहारेसु' इत्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोरेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सर्वाल्पाः, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलित्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, विग्रहगतिप्राप्तानां निगोदादीनां तस्य बन्धात् ॥३९४॥

सम्प्रत्यपगतवेदमार्गणायां त्रिप्रकृतिस्थानबन्धकानामल्पबहुत्वं प्राह—

थोवाऽत्थि बंधगा खलु गयवेए छसगबधठाणाणं ।
तत्तो संखेज्जगुणा हवेज्ज इगबधठाणस्स ॥३९५॥

(प्रे०) 'थोवाऽत्थि' इत्यादि, 'गतवेदे' अपगतवेदमार्गणायां खलु षट्प्रकृत्यात्मकसप्तप्रकृत्यात्मकस्थानयोः समुदिता बन्धकाः स्तोका भवन्ति, शतपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेभ्य एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, कोटीपृथक्त्वप्रमाणत्वात् ॥३९५॥

एतर्हि लोभमार्गणायां त्रयाणां प्रकृतिस्थानाना बन्धकानामल्पबहुत्वं भणति--

लोहे सव्वत्थोवा छबंधठाणस्स तो अणंतगुणा ।
संखेज्जगुणा णेया कमाट्ठसगबंधठाणाणं ॥३९६॥

(प्रे०) 'लोहे' इत्यादि, लोभमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः स्तोका भवन्ति, संख्येयत्वात् । ततोऽनन्तगुणाः संख्येयगुणाश्च क्रमादष्टप्रकृत्यात्मकसप्तप्रकृत्यात्मकस्थानयोर्बन्धका ज्ञेयाः । एतदुक्तं भवति–लोभमार्गणाया षट्प्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका अनन्तगुणाः, निगोदानामप्यायुषो बन्धाद् निगोदाना चाऽनन्तत्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, बहुसंख्येयभागमात्राणा निगोदानामायुषोऽबन्धात् ॥३९६॥

इदानी मतिज्ञानादिमार्गणासु चतुर्णा प्रकृतिस्थानानां बन्धकानामल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिषुराह--

छिगबंधट्ठाणा तिणाणओहीसु बंधगा णेया ।
ताउ अडसत्तबंधट्ठाणाण कमा असंखगुणा ॥३९७॥

(प्रे०) 'छिगबंधट्ठाणाणं' इत्यादि, 'त्रिज्ञानाऽवधिषु' मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञानमार्गणास्ववधिदर्शनमार्गणाया च षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोः समुदिता बन्धकाः स्तोकाः, संख्येयत्वात् । तेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानयोः प्रत्येकं बन्धकाः क्रमादसंख्येयगुणाः । इदमुक्तं भवति–मतिज्ञानादिचतुर्मार्गणासु षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति, तत्रासंख्यैर्जीवैरायुषो बन्धात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति, तत्र बहुसंख्येयभागप्रमाणानां जीवानामायुषोऽबन्धात् ॥३९७॥

सम्प्रति मनःपर्यवज्ञानमार्गणाया चतुर्णा प्रकृतिबन्धस्थानानां बन्धकानामल्पबहुत्वं प्राह--

मणणाणे सव्वप्पा विण्णेया छेगबंधठाणाणं ।
तत्तो कमाऽत्थि अडसगबंधट्ठाणाण संखगुणा ॥३९८॥

(प्रे०) 'मणणाणे' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोः समुदिता बन्धकाः सर्वाल्पा विज्ञेयाः, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहैस्तयोर्बन्धात् । ततोऽष्टप्रकृत्यात्मकसप्तप्रकृत्यात्मकस्थानयोः प्रत्येकं बन्धकाः क्रमात् संख्येयगुणा भवन्ति । भावार्थः

पुनरयम्—मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहेभ्यस्तत्रायुषो बन्धकानां संख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सख्येयगुणा भवन्ति, बहुसख्येयभागमात्रैर्मनःपर्यवज्ञानिभिरायुषोऽबन्धात् ।।३९८।।

सम्प्रत्यचक्षुर्दर्शनमार्गणायां प्रस्तुताल्पबहुत्वमाह—

छिगबंधट्ठाणाणं थोवाऽणयणे तओ अणंतगुणा ।
संखगुणा विण्णेया कमाऽडसगबंधठाणाणं ।।३९९।।

(प्रे०) 'छिगबंधट्ठाणाणं' इत्यादि, 'अनयने' अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोः समुदिता बन्धकाः स्तोकाः, संख्येयत्वात् तेषाम् । ततोऽनन्तगुणाः संख्येयगुणाश्च क्रमादष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानयोः प्रत्येकं बन्धका विज्ञेयाः । इदमुक्तं भवति—अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, अनन्तैरचक्षुर्दर्शनिभिरायुषो बन्धात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, बहुसंख्येयभागमात्रैरचक्षुर्दर्शनिभिरायुषोऽबन्धात् ।।३९९।।

सम्प्रति शुक्ललेश्यामार्गणायां चतुर्णां प्रकृतिबन्धस्थानानां बन्धकानामल्पबहुत्वं व्याहरति—

सुक्काए सव्वप्पा छबंधठाणस्स ताउ संखगुणा ।
संखगुणअसंखगुणा कमेगअडसत्तबंधठाणाणं ।।४००।। (गीतिः)

(प्रे०) 'सुक्काए' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकाः सर्वाल्पाः, सूक्ष्मसम्परायसंयतैस्तस्य बन्धात् । तेभ्यः सख्यगुणाः सख्यगुणा असंख्यगुणाश्च क्रमादेकप्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानानां बन्धका भवन्ति । तथाहि—शुक्ललेश्यामार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकेभ्य एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, सयोगिकेवलिभिरपि तस्य बन्धात् सयोगिकेवलिना च कोटीपृथक्त्वप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सख्येयगुणाः, सयोगिकेवलिभ्य आयुषो बन्धकानां संख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति, असंख्येयैः शुक्ललेश्याकैरायुषोऽबन्धात् ।।४००।।

सम्प्रति सम्यक्त्वसामान्यमार्गणाया चतुर्णां प्रकृतिबन्धस्थानानां बन्धकानामल्पबहुत्वं प्राह—

सम्मत्ते सव्वप्पा छबंधठाणस्स बंधगा णेया ।
तत्तो संखेज्जगुणा हवन्ति इगबंधठाणस्स ।।४०१।।
ताउ असंखेज्जगुणा बोद्धव्वा अट्ठबंधठाणस्स ।
ताउ असंखेज्जगुणा हवेज्ज सगबंधठाणस्स ।।४०२।।

(प्रे०) 'सम्मत्ते' इत्यादि, सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सर्वाल्पा ज्ञेयाः, सूक्ष्मसम्परायसंयतैस्तस्य बन्धात् । तेभ्य एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सङ्ख्येयगुणा भवन्ति, सयोगिकेवलिभिरपि तस्य बन्धात् सयोगिकेवलिनां च कोटिपृथक्त्वमात्रत्वात् । तेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असङ्ख्येयगुणा बोद्धव्याः, आयुषो बन्धकानामसङ्ख्येयत्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धका असङ्ख्येयगुणा भवन्ति, बहुसङ्ख्येयभागमात्रैः सम्यग्दृष्टिभिरायुषोऽबन्धात् ॥४०१।४०२॥

सम्प्रति क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां चतुर्णां प्रकृतिस्थानानां बन्धकानामल्पबहुत्वं प्राह—

खइए सव्वत्थोवा छबंधठाणस्स ताउ संखगुणा ।
संखगुणअसंखगुणा कमेगअडसत्तबंधठाणाणं ॥४०३॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'खइए' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सर्वस्तोकाः,शतपृथक्त्वप्रमाणैः सूक्ष्मसम्परायसंयतैस्तस्य बन्धात् । तेभ्यः सङ्ख्यगुणाः सङ्ख्यगुणा असङ्ख्यगुणाश्च क्रमादेकप्रकृत्यात्मका-ऽष्टप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानानां बन्धका भवन्ति । अयं भावः—क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकेभ्य एकप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सङ्ख्येयगुणाः, कोटीपृथक्त्वप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः सङ्ख्येयगुणाः, सयोगिकेवलिभ्य आयुषो बन्धकानां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां सङ्ख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असङ्ख्येयगुणाः, असंख्येयत्वात् ॥४०३॥

अथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां त्रयाणां प्रकृतिबन्धस्थानानां बन्धकानामल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिषुराह—

छिगबंधट्ठाणाणं सव्वप्पा बंधगा उवसमम्मि ।
ताउ असंखेज्जगुणा हवेज्ज सगबंधठाणस्स ॥४०४॥

(प्रे०) 'छिगबधट्ठाणाणं' इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां षट्प्रकृत्यात्मकैकप्रकृत्यात्मकस्थानयोः समुदिता बन्धकाः सर्वाल्पाः, संख्येयत्वात् । तेभ्यः सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति, असङ्ख्येयैरौपशमिकसम्यग्दृष्टिभिस्तस्य बन्धात् ॥४०४॥

एतर्हि शेषासु द्वानवतिमार्गणासु द्वयोर्बन्धस्थानयोर्बन्धकानामल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिषुराह—

सेसासु बंधगाऽप्पा बोद्धव्वा अट्ठबंधठाणस्स ।
तत्तो सखेज्जगुणा हवन्ति सगबंधठाणस्स ॥४०५॥

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, 'शेषासु' नरकगतिसामान्यादिद्वानवतिमार्गणास्वष्टप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धका अल्पा बोद्धव्याः, तास्वेकसंख्येयभागप्रमाणैर्जीवैरायुषो बन्धात् । तेभ्यः सप्तप्र-

कृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, बहुसंख्येयभागप्रमाणैर्नारकादिजीवैरायुषो-ऽबन्धात् । शे ार्गणा नामतः पुनरिमाः-नरकगतिसामान्यमार्गणा, प्रथमपृथिवीनरकगतिमार्गणा, पञ्चतिर्यग्भेदाः, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा, देवगतिसामान्य-भवनपति व्यन्तर-सर्वार्थसिद्धसुराः, पञ्चे-न्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जाः सप्तदशेन्द्रियभेदाः, त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायरहिताः कायभेदाश्चत्वारिंशत्, वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा ऽऽहारकमिश्रकाययोगाः, त्रयो वेदाः, लोभवर्जास्त्रयः कषायाः, अज्ञानत्रयम्, सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयमा-ऽविरतमार्गणाः, अशुभलेश्यात्रयं तेजोलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसञ्ज्ञिमार्गणाश्चेति ।।४०५।।

तदेव थितमल्पबहुत्वद्वारम्, तस्मिंश्च समथिते समाप्तो बन्धस्थानाख्यो द्वितीयाधि : ।

।। इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे द्वितीये बन्धस्थानाधिकारेऽल्पबहुत्वद्वार समाप्तम् ।।

।। इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिब धे द्वितीयो ब न्धस्थानाधिकार समाप्त ।।



मूलप्रकृतिस्थानबन्धकाल्पबहुत्वप्रदर्शियन्त्रम् (पूर्वतोऽनुवर्तते)

अल्प-बहुत्वम्	६,७बन्धका अल्पा १ बन्धका संख्यगुणा	६ अबन्धका अल्पा ८ बन्धका अनन्तगुणा ७ बन्धका संख्यातगुणा	६,१बन्धका अल्पा ८बन्धका असंख्यगुणा ७ बन्धका असंख्यगुणा	६,१बन्धका अल्पा ८ बन्धका संख्यगुणा ७ बन्धका असंख्यगुणा	२,१ बन्धका अल्पा ८ बन्धका अनन्तगुणा, ७ बन्धका संख्यगुणा	६ बन्धका अल्पा १ बन्धका संख्य-गुणा ८बन्धका संख्यगुणा ७ बन्धका असंख्य-गुणाः	६बन्धका अल्पा १ बन्धका संख्य-गुणा ८बन्धका असंख्यगुणा ७ बन्धका असंख्यगुणा	६बन्धका अल्पा १ बन्धका संख्य-गुणा ८ बन्धका संख्यगुणा ७ बन्धका असंख्यगुणा'	६,१बन्धका अल्पा ७ बन्धका संख्यगुणा	८ बन्धका अल्पा ७ बन्धका, संख्यगुणा
गति.										शेषा १२
इन्द्रियम										शेषा. १७
काय										शेषा ४०
योग										शेषा ३
वेद	अवेद									शेषा ३
कषाय'		लोभ								शेषा ३
ज्ञानम्			मतिश्रुतावधि	मन पर्यव०					•	शेषा ३
संयम									•	शेषा ४
दर्शनम्			अवधिदर्शनम्		अचक्षुर्दर्शनम्					
लेश्या						शुक्ललेश्या			...	शेषा ४
भव्य							...			अभव्य १
सम्यक्त्वम्							सम्यक्त्वम्	क्षायिकस०	औपशमिक०	मिथ्यात्वम् १
संज्ञी										असंज्ञी १
आहारक										
सर्वा	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
गाथाङ्क	३९५	३९६	३९७	३९८	३९९	४००	४०१,४०२	४०३	४०४	४०५

॥ अथ भूयस्काराधिकारः ॥

अथ भूयस्काराख्यस्य तृतीयाधिकारस्यावसरः प्राप्तः । तत्रादौ तावत् 'तसु पढमाईसु' इत्यादिचत्वारिंशत्तमगाथायां सङ्ख्यामात्रेण कथितानां त्रयोदशद्वाराणां नामानि प्राह—

तइए भूओगारे अहिगारम्मि हविरे दुआराइं ।
तेरस संतपयं तह सामी कालंतराइं च ॥४०६॥
भंगविचयो उ भागो परिमाणं खेत्तफोसणाउ तहा ।
कालो अंतरभावा अप्पाबहुगं जहाकमसो ॥४०७॥

(प्रे०) 'तइए' इत्यादि, तृतीये भूयस्काराभिधेऽधिकारे त्रयोदश द्वाराणि यथाक्रमेण सत्पदादीनि भवन्तीति समुदितार्थः । अयं पुनर्व्यासार्थः—भूयस्कारनाम्नि तृतीयाधिकारे प्रथम सत्पदद्वारम्, ततो द्वितीयं स्वामित्वद्वारम्, ततस्तृतीयमेकजीवाश्रितं कालद्वारम्, ततश्चतुर्थमेक जीवाश्रयमन्तरद्वारम्, ततः पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम्, ततः षष्ठं भागद्वारम्, ततः सप्तमं परिमाण-द्वारम्, ततोऽष्टमं क्षेत्रद्वारम्, ततो नवमं स्पर्शनाद्वारम्, ततो दशमं नानाजीवाश्रित कालद्वारम्, तत एकादशमन्तरद्वारम्, ततो द्वादश भावद्वारम्, ततस्त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् । सर्वाण्येतानि द्वाराणि विशेषतः प्रथमाधिकारद्वारवद् विवेचनीयानि ॥४०६।४०७॥

॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

भूयस्कारादिबन्धं प्ररूपयिषुरादौ तावत् सत्पदद्वारेण प्रतिपादयति—

मूलपयडीण भूओगारोऽप्पयरो अवट्ठिओ अत्थि ।
एवं सव्वासु णवरि अवट्ठिओ केवलो होइ ॥४०८॥
वेउव्वमीसजोगे कम्मणअकसायकेवलदुगेसु ।
सुहुमाहक्खायेसुं मीसाणाहारगेसुं च ॥४०९॥

(प्रे०) 'मूल०' इत्यादि, 'मूलप्रकृतीनां' ज्ञानावरणादिरूपाणां प्रकृतीनां भूयस्कारोऽल्पतरोऽवस्थितश्च बन्धोऽस्ति, इह चशब्द विनाऽपि "अहरह०"इत्यादिवत् समुच्चयार्थो गम्यते, स च अवस्थितश्चेत्यत्र योजितः । भूयस्कारादीनां भावनां तु दर्शयिष्यामः ।

अथाऽऽदेशतो वक्तुकाम आह—'एवं' इत्यादि, एवं सर्वासु मार्गणासु भूयस्कारोऽल्पतरोऽवस्थितश्च प्रत्येकं बन्धो भवति । सामान्येनाऽतिदिश्याऽतिप्रसक्तिवारणाय प्राह—'णवरि' इत्यादि, नवरं केवलोऽवस्थितो बन्धो भवति, परिणामविशेषतो बन्धस्थानस्य परावृत्त्यभावात्, कासु

मार्गणासु ? इत्याह–'वेउव्व०' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणकाययोगा-ऽकषाय-केवलज्ञानदर्शनेषु सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यातसंयमयोर्मिश्रा-ऽनाहारकयोश्च। वैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्रमार्गणयोः केवलं सप्तप्रकृत्यात्मकं सूक्ष्मसम्परायसंयमे केवलं षट्प्रकृत्यात्मकमकषाय-केवलद्विकयथाख्यातमार्गणासु च केवलमेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति, तेन न तत्र भूयस्कारा-ऽल्पतरयोः सम्भवः, बन्धस्थानान्तराऽभावात् । कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकयोर्यद्यपि बन्धस्थानद्वयमेकप्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकरूपं विद्यत एव, तथापि न कोऽपि जीव उक्तमार्गणाद्वय एकां प्रकृतिं बद्ध्वाऽनन्तरसमये सप्त बध्नाति, तद्बन्धकानां सयोगिकेवलित्वेन प्रतिपाताऽभावात् । न च बद्ध्वाऽनन्तरसमय एकां प्रकृतिं बध्नाति, तस्य विग्रहगतौ वर्तमानत्वेनाऽनन्तरसमये श्रेण्यसम्भवात् । तदेवं वैक्रियमिश्रकाययोगादिषु नवमार्गणासु केवलमवस्थितबन्धो भवति, शेषासु च नरकगत्यादिपञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणासु पुनस्त्रयोऽपि भूयस्कारा ऽल्पतरा-ऽवस्थितबन्धा भवन्ति । ॥४०८।४०९॥

सम्प्रति भूयस्कारादीनां लक्षणमाह–

> **पुव्वसमयाउ समये अणंतरे बंधए पहुत्तयरं ।**
> **बंधो स भू गारोऽप्पयरं बंधइ स अप्पयरो ॥४१०॥**
> **तावइअं चिअ बंधइ सो णायव्वो अवट्ठिओ बंधो ।**
> **होउं अबंधगो उण बंधइ स हवइ अवत्तव्वो ॥४११॥**

(प्रे०) 'पुव्व०' इत्यादि, पूर्वसमयाद् अनन्तरसमये यदा 'प्रभूततरां' गौ एकवचननिर्देशाद् बहुप्रकृतीर्बध्नाति, तदा 'स' बध्नातीत्यस्यैकदेशो बन्धो भूयस्कार उच्यत इति शेषः । यदा पूर्वसमयादनन्तरसमयेऽल्पतरां प्रकृतिं बध्नाति, तदा 'स' बध्नातीत्यस्यैकदेशो बन्धोऽल्पतरो निगद्यत इत्युपस्कारः । यदा तु पूर्वसमयादनन्तरसमये तावतीमेव प्रकृतिं बध्नाति, तदा 'स' बध्नातीत्यस्यैकदेशो बन्धोऽवस्थितो ज्ञातव्यः । यदा तु 'अबन्धकः' प्रकृतीनामबन्धको भूत्वा पुनर्बध्नाति, तदा 'स' बध्नातीत्यस्यैकदेशो बन्धोऽवक्तव्यो भण्यते, यदुक्तं **श्रीकर्मप्रकृतौ श्रीमच्छिवशर्मसूरिपादैः**–"एगादहिगे पढमो एगाई ऊणगम्मि बिइओ उ । तत्तिअमेत्तो तइओ पढमे समये अवत्तव्वो ।" इति ।

सम्प्रति भावार्थो दर्श्यते–इह मूलप्रकृतीनां कदाचिदष्टानां कदाचित् सप्तानां कदाचित् षण्णां कदाचिच्चैकस्या बन्धः । यदाऽव्यवहितपूर्वसमयत उत्तरसमये परिणामविशेषाद् भूयसीः प्रकृतीर्बध्नाति, तदानीं बन्धो भूय उच्यते, यथा बद्ध्वाऽष्टौ बध्नाति, यद्वा षड् बद्ध्वा बध्नाति, अथवैकां बद्ध्वा षट् वा बध्नाति, तदा भूयस्कारबन्धो भवति । तथाहि–आयुर्बन्ध-

रहाव ' सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टौ बध्नाति, अथवा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षट्-प्रकृतीर्बद्ध्वाऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये निधनत्वं प्राप्तोऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकप्रथम-समये वा सप्त बध्नाति । यद्वोपशान्तमोहगुणस्थानक एकां प्रकृतिं बद्ध्वाऽद्धाक्षयेण प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षड् भवक्षयेण च प्रच्युत्याऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके सप्त बध्नाति, तदाऽसौ त्रिप्रकारोऽपि बन्धः मसमये भूयस्कार इति व्यवह्रियते ।

यदा कश्चिज्जीवोऽव्यवहितपूर्वसमयत उत्तरसमयेऽल्पाः प्रकृतीर्बध्नाति, तदा तस्य जीवस्य बन्धोऽल्पतर उच्यते, यथाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टौ प्रकृतीर्बद्ध्वा तद्विरमणे सप्त बध्नाति, अथवाऽनिवृत्ति-बादरसम्परायगुणस्थानके सप्त बद्ध्वा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षड् बध्नाति, यद्वा सूक्ष्मसम्पराय-गुणस्थानके षड् बद्ध्वोपशान्तमोहगुणस्थानके क्षीणमोहगुणस्थानके वैकां बध्नातीति त्रिप्रकारो-ऽपि बन्धोऽल्पतरः ।

अवतिष्ठति स्मेत्यवस्थितः, "गत्यर्थाऽकर्मकपिबभुजे" (सिद्धहेम०-५-१-११) इत्यनेन अवपूर्वकात् स्थाधातोः कर्तरि क्तप्रत्ययः, "दो-सो-मा-स्थ इ" (सिद्धहेम०४-४-११) इति सूत्रेण धातोराकारस्य इः, ततश्च अवस्थित इति शब्दसिद्धिः ।

पदार्थः पुनरेवम्-यदा कश्चिद् अव्यवहितपूर्वसमये यावतीः प्रकृतीर्बद्ध्वा तावतीरेवोत्तरसमये-ऽपि बध्नाति, यथैकां सातवेदनीयलक्षणां बद्ध्वोत्तरोत्तरसमये तामेवैकां प्रकृतिं बध्नाति, यद्वा षड् वा वाऽष्टौ वा बद्ध्वोत्तरोत्तरसमये तावतीरेव बध्नाति । अयं भावः-मिश्रापूर्वकरणादिवर्जः प्रथमसमये-ऽष्टप्रकृतीर्बद्ध्वा द्वितीयादि येष्वपि तावतीरेव बध्नाति, अथवाऽऽयुर्बन्धविरमणप्रथमसमये सप्त तीर्बध्नाति, ततो द्वितीयादिष्वपि समयेषु तावतीरेव बध्नाति, अथवा सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृतीर्बद्ध्वा द्वितीयादिसमयेष्वपि तावतीरेव बध्नाति, यद्वोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेव-लिनामन्यतमः प्रथमसमय एकां प्रकृतिं बद्ध्वा द्वितीयादिसमयेष्वप्येकामेव बध्नातीत्येवं चतुष्प्र-कारोऽवस्थितबन्धः ।

सङ्क्षेपतो बन्धसद्भावे भूयस्कारा-ऽल्पतर-वक्ष्यमाणावक्तव्यबन्धविरहा-ऽवस्थायां बन्धोऽवस्थि-तबन्धो भण्यते, बन्धसद्भावनिवेशाद् अयोगिकेवलिनां भूयस्काराद्यभावेऽपि नाऽवस्थितबन्धा-पत्तिः । भूयस्कारादिबन्धविरहावस्थाप्रवेशाद् भूयस्काराद्यवस्थायां नाऽवस्थितबन्धापत्तिः । यदुक्तं श्रीशतकचूर्णौ-"एएसि भत्थो इमो एगविह् बन्धमाणो छव्विहाइ बधइ त्ति तिन्नि भूओकारा, एसो एकसमइओ पडिवत्तिकाले, सेसकालं अवट्ठिअबधो, अट्ठविहाओ सत्तविहाइगमण अप्पतरबंधो तिविगप्पो अवट्ठिअबधो चउविगप्पो अट्ठविहाइसु । अवत्तव्वबन्धो अबन्धाओ बन्धगमण" इति ।

न वक्तु शक्यो भूयस्कारादिपदैरित्यवक्तव्यः, "तव्यानीयौ" (सिद्धहेम -५-१-४५) इति सूत्रेण शक्यार्थे वच्धातोस्तव्यप्रत्ययः। 'चज कगम्' (सिद्धहेम० ४-२-४५) इत्यनेन प्रकृतिचकारस्य ककारः

मार्गणासु ? इत्याह–'वेउव्व०' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणकाययोगा-ऽकषाय-केवलज्ञानदर्शनेषु सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यातसंयमयोर्मिश्रा-ऽनाहारकयोश्च । वैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्रमार्गणयोः केवलं सप्तप्रकृत्यात्मकं सूक्ष्मसम्परायसंयमे केवलं षट्प्रकृत्यात्मकमकषाय-केवलद्विकयथाख्यातमार्गणासु च केवलमेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं भवति, तेन न तत्र भूयस्कारा-ऽल्पतरयोः सम्भवः, बन्धस्थानान्तराऽभावात् । कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकयोर्यद्यपि बन्धस्थानद्वयमेक-प्रकृत्यात्मक-सप्तप्रकृत्यात्मकरूपं विद्यत एव, तथापि न कोऽपि जीव उक्तमार्गणाद्वय एकां प्रकृतिं बद्ध्वाऽनन्तरसमये सप्त बध्नाति, तद्बन्धकानां सयोगिकेवलित्वेन प्रतिपाताऽभावात् । न च बद्ध्वाऽनन्तरसमय एकां प्रकृतिं बध्नाति, तस्य विग्रहगतौ वर्तमानत्वेनाऽनन्तरसमये श्रेण्यसम्भवात् । तदेवं वैक्रियमिश्रकाययोगादिषु नवमार्गणासु केवलमवस्थितबन्धो भवति, शेषासु च नरकगत्यादिपञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणासु पुनस्त्रयोऽपि भूयस्कारा ऽल्पतरा-ऽवस्थितबन्धा भवन्ति । ॥४०८।४०९॥

सम्प्रति भूयस्कारादीनां लक्षणमाह–

पुव्वसमयाउ समये अणंतरे बंधए पहुत्तयरं ।
बंधो स भू गारोऽप्पयरं बंधइ स अप्पयरो ॥४१०॥
तावइअं चिअ बंधइ सो णायव्वो अवट्ठिओ बंधो ।
होउं बंधगो उण बंधइ स हवइ अवत्तव्वो ॥४११॥

(प्रे०) 'पुव्व०' इत्यादि, पूर्वसमयाद् अनन्तरसमये यदा 'प्रभूततरां' गौ एकवचननिर्देशाद् बहुप्रकृतीर्बध्नाति, तदा 'स' बध्नातीत्यस्यैकदेशो बन्धो भूयस्कार उच्यत इति शेषः । यदा पूर्वसमयादनन्तरसमयेऽल्पतरां प्रकृतिं बध्नाति, तदा 'स' बध्नातीत्यस्यैकदेशो बन्धोऽल्पतरो निगद्यत इत्युपस्कारः । यदा तु पूर्वसमयादनन्तरसमये तावतीमेव प्रकृतिं बध्नाति, तदा 'स' बध्नातीत्यस्यैकदेशो बन्धोऽवस्थितो ज्ञातव्यः । यदा तु 'अबन्धकः' प्रकृतीनामबन्धको भूत्वा पुनर्बध्नाति, तदा 'स' बध्नातीत्यस्यैकदेशो बन्धोऽवक्तव्यो भण्यते, यदुक्तं **श्रीकर्मप्रकृतौ श्रीमच्छिवशर्मसूरिपादैः**–"एगादहिगे पढमो एगाई ऊणगम्मि बिइओ उ । तत्तिअमेत्तो तइओ पढमे समये अवत्तव्वो ।" इति ।

सम्प्रति भावार्थो दर्श्यते--इह मूलप्रकृतीना कदाचिदष्टाना कदाचित् सप्ताना कदाचित् षण्णा कदाचिच्चैकस्या बन्धः । यदाऽव्यवहितपूर्वसमयत उत्तरसमये परिणामविशेषाद् भूयसीः प्रकृतीर्बध्नाति, तदानीं बन्धो भूयस्कार उच्यते, यथा सप्त बद्ध्वाऽष्टौ बध्नाति, यद्वा षड् बद्ध्वा बध्नाति, अथवैकां बद्ध्वा षट् वा बध्नाति, तदा भूयस्कारबन्धो भवति । तथाहि–आयुर्बन्ध-

रहाव सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टौ बध्नाति, अथवा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षट्-
तीर्बद्ध्वाऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये निधनत्वं प्राप्तोऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकप्रथम-
समये वा सप्त बध्नाति । यद्वोपशान्तमोहगुणस्थानक एकां प्रकृतिं बद्ध्वाऽद्धाक्षयेण प्रतिपत्य
सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षड् भवक्षयेण च प्रच्युत्याऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके सप्त बध्नाति,
तदाऽसौ त्रिप्रकारोऽपि बन्धः समये भूयस्कार इति व्यवह्रियते ।

यदा कश्चिज्जीवोऽव्यवहितपूर्वसमयत उत्तरसमयेऽल्पाः प्रकृतीर्बध्नाति, तदा तस्य जीवस्य
बन्धोऽल्पतर उच्यते, यथाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टौ प्रकृतीर्बद्ध्वा तद्विरमणे सप्त बध्नाति, अथवाऽनिवृत्ति-
बादरसम्परायगुणस्थानके सप्त बद्ध्वा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षड् बध्नाति, यद्वा सूक्ष्मसम्पराय-
गुणस्थानके षड् बद्ध्वोपशान्तमोहगुणस्थानके क्षीणमोहगुणस्थानके वैका बध्नातीति त्रिप्रकारो-
ऽपि बन्धोऽल्पतरः ।

अवतिष्ठति स्मेत्यवस्थितः, "गत्यर्थाऽकर्मकपिबभुजे" (सिद्धहेम० ५-१-११) इत्यनेन अवपूर्वकात्
स्थाधातोः कर्तरि क्तप्रत्ययः, "दो-सो-मा-स्थ इ" (सिद्धहेम०४-४-११) इति सूत्रेण धातोराकारस्य
इकारः, ततश्च अवस्थित इति शब्दसिद्धिः ।

पदार्थः पुनरेवम्-यदा कश्चिद् अव्यवहितपूर्वसमये यावतीः प्रकृतीर्बद्ध्वा तावतीरेवोत्तरसमये-
ऽपि बध्नाति, यथैकां सातवेदनीयलक्षणां बद्ध्वोत्तरोत्तरसमये तामेवैकां प्रकृतिं बध्नाति,यद्वा वा
वाऽष्टौ वा बद्ध्वोत्तरोत्तरसमये तावतीरेव बध्नाति । अयं भावः-मिश्रापूर्वकरणादिवर्जः प्रथमसमये-
कृतीर्बद्ध्वा द्वितीयादि येष्वपि तावतीरेव बध्नाति, अथवाऽऽयुर्बन्धविरमणप्रथमसमये सप्त
प्रकृतीर्बध्नाति, ततो द्वितीयादिष्वपि समयेषु तावतीरेव बध्नाति, अथवा सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये
षट्प्रकृतीर्बद्ध्वा द्वितीयादिसमयेष्वपि तावतीरेव बध्नाति, यद्वोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेव-
लिनामन्यतमः प्रथमसमय एकां प्रकृतिं बद्ध्वा द्वितीयादिसमयेष्वप्येकामेव बध्नातीत्येवं चतुष्प्र-
कारोऽवस्थितबन्धः ।

सङ्क्षेपतो बन्धसद्भावे भूयस्कारा-ऽल्पतर-वक्ष्यमाणावक्तव्यबन्धविरहा-ऽवस्थायां बन्धोऽवस्थि-
तबन्धो भण्यते, बन्धसद्भावनिवेशाद् अयोगिकेवलिना भूयस्कारा्द्यभावेऽपि नाऽवस्थितबन्धा-
पत्तिः । भूयस्कारादिबन्धविरहावस्थाप्रवेशाद् भूयस्काराद्यवस्थायां नाऽवस्थितबन्धापत्तिः । यदुक्तं
श्रीशतकचूर्णौ-"एएसि अत्थो इमो एगविह बन्धमाणो छव्विहाइ बधइ त्ति तिन्नि भूओकारा, एसो
एकसमइओ पडिवत्तिकाले, सेसकाल अवट्ठिअबंधो, अट्ठविहाओ सत्तविहाइगमण अप्पतरबंधो तिविगप्पो
अवट्ठिअबधो चउविगप्पो अट्ठविहाइसु । अवत्तव्वबन्धो अबन्धाओ बन्धगमण" इति ।

न वक्तुं शक्यो भूयस्कारादिपदैरित्यवक्तव्यः, "तव्यानीयौ" (सिद्धहेम -५-१-४५) इति सूत्रेण
शक्यार्थे वच्धातोस्तव्यप्रत्ययः। 'चज कगम्' (सिद्धहेम० ४-३-४५) नेन प्रकृतिचकारस्य र:

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

सम्प्रति भूयस्कारादिबन्धाना स्वामिनः प्रवक्तुकाम आदौ तावद् ओघतो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनं प्राह---

मिच्छत्ती सासाणो सम्मो देसविरओ पमत्तमुणी ।
अणियट्टी तह सुहुमो भूओगारस्स बंधगा णेया ॥४१२॥

(प्रे०) '**मिच्छत्ती**' इत्यादि, भूयस्कारस्य बन्धका मिथ्यात्वी सास्वादनोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्देशविरत. प्रमत्तमुनिरनिवृत्तिबादरसम्परायस्तथा सूक्ष्मसम्परायः प्रत्येकं ज्ञेयाः, मिश्रवर्जाना मिथ्यादृष्टिप्रभृतिप्रमत्तान्तानामायुर्बन्धकाले सप्तप्रकृतितोऽष्टौ बध्नतां प्रतिपातानिवृत्तिबादरसम्पराय सूक्ष्मसम्पराययोश्च प्रथमसमये यथाक्रमं षट्प्रकृतित एकप्रकृतितश्च क्रमेण सप्त षट् च बध्नता भूयस्कारबन्धात् । इयमत्र भावना-मिश्रवर्जाः प्रमत्तान्ता यदाऽऽयुष्कं बन्द्धुमारभन्ते, तदा प्रथमसमये तेषा भूयस्कारबन्धो भवति,सप्तप्रकृतिपरित्यागेनाऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धात् । अप्रमत्तयतयस्त्वायुर्बन्ध नारभन्ते, किन्तु पूर्वप्रवृत्तमेवायुर्बन्ध त उपरचयन्ति, तेनाऽप्रमत्तानां भूयस्कारबन्धो न भवति । श्रेणिस्थ उपशान्तमोहगुणस्थानकं एकप्रकृति सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके वा षट्प्रकृतीर्बद्ध्वा मृतो देवत्वेनोत्पन्नः सप्तप्रकृतीर्बध्नातीत्यनया रीत्याऽप्यविरतसम्यग्दृष्टेर्देवस्य भूयस्कारबन्धो भवति । यदा तु कश्चिज्जीव उपशान्तमोहगुणस्थानकतः प्रच्युत्य सूक्ष्मसम्परायत्वं गच्छति, तदा प्रथमसमये तस्य भूयस्कारबन्धो भवति, वेदनीयाख्यैकप्रकृतिपरित्यागेन षण्णां प्रकृतीनां बन्धात् । यदा कश्चिज्जीवः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकतः परिभ्रश्याऽनिवृत्तिबादरसम्परायत्वमधिगच्छति, तदा प्रथमसमये तस्य भूयस्कारबन्धो भवति,प्रकृतिषट्कप्रोज्झनेन तस्य सप्तानां प्रकृतीनां बन्धात् ॥४१२॥

सम्प्रत्यल्पतरबन्धस्य स्वामिनमाह--

अप्पयरस्स हवेज्जा मिच्छत्ती सासणो य सम्मत्ती ।
देसपमत्तियरजई सुहुमो उवसंतखीणा य ॥४१३॥

(प्रे०) '**अप्पयरस्स**'इत्यादि, अल्पतरस्य बन्धका मिथ्यात्वी सास्वादनोऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तमुनयः सूक्ष्मसम्पराय उपशान्तमोहक्षीणमोहौ च प्रत्येकम् ,आयुर्बन्धविरमणप्रथमसमये मिश्रवर्जा-ऽप्रमत्तान्ताना सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहानां च स्वप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धात् । तथाहि-यदा मिश्रवर्जा अप्रमत्तान्ता आयुष्कं बध्नन्ति, तदा तेषामष्टप्रकृतीना बन्धो भवति, तत आयुष्कबन्धविरमणप्रथमसमये ते सप्तप्रकृतीर्बध्नन्ति, तेन तेऽल्पतरस्य बन्धका भवन्ति । यदा कश्चिज्जीवोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षट्प्रकृतीर्बध्नाति, तदा तस्य सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति । यदा पुनः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षट्-

नञ्शब्दस्य च "नञत्" (सिद्धहेम०३-२-१२२) इति सूत्रेणाऽकारः, सर्वथा बन्धव्यवच्छेदे जाते यदा भूयो बन्ध आरभ्यते, तदा बन्धोऽवक्तव्य उच्यते । इह मूलप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धो नास्ति, तासा सर्वथाऽबन्धकस्याऽयोगिकेवलिनः सिद्धस्य च प्रतिपाताभावेन पुनर्बन्धाभावात् , यदुक्तं **श्रीशतक-चूर्णौ**—अवत्तव्वबधो अबधाओ बन्धगमण, मूलपगईसु णत्थि,मूलपगईण सव्ववे वोच्छिन्ने पुणो वधो णत्थि त्ति काउ ॥ " इति । तदेव गत सत्पदद्वारम् ॥४१०।४११॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे प्रथम सत्पदद्वार समाप्तम् ॥

मूलप्रकृतिभूयस्कारादिबन्धसत्पदद्वारप्रदर्शियन्त्रम्

ओघतो भूयस्कारा ऽल्पतरा-ऽवस्थितबन्धा सन्ति । (गाथा–४०८)

भूयस्कार	नास्ति	अस्ति
अल्पतर	नास्ति	अस्ति
अवस्थित	अस्ति	अस्ति
गति		सर्वा ४७
इन्द्रियम्		सर्वा १९
काय		सर्वा ४२
योग	वैक्रियमिश्र कार्मण	शेषा १६
वेद		सर्वा ४
कषाय	अकषाय	शेषा ४
ज्ञानम्	केवलज्ञानम्	शेषा ३
सयम	सूक्ष्मसम्पराय , यथाख्यात सयम	शेषा ६
दर्शनम्	केवलदर्शनम्	शेषा ३
लेश्या		सर्वा ६
भव्य		भव्याभव्यौ २
सम्यक्त्वम्	मिश्र०	शेषा ६
सज्ञी		सज्ज्यसज्ञि०
आहारक	अनाहारक	आहारक
सर्वा	९	१६५
गाथाङ्क	४०८,४०९	४०८ ४०६

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

सम्प्रति भूयस्कारादिबन्धानां स्वामिनः प्रवक्तुकाम आदौ तावद् ओघतो भूयस्कारबन्धस्य स्वामिनं प्राह---

मिच्छत्ती सासाणो सम्मो देसविरओ पमत्तमुणी ।
अणियट्टी तह सुहुमो भूओगारस्स बंधगा णेया ॥४१२॥

(प्रे०) '**मिच्छत्ती**' इत्यादि, भूयस्कारस्य बन्धका मिथ्यात्वी सास्वादनोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्देशविरतः प्रमत्तमुनिरनिवृत्तिबादरसम्परायस्तथा सूक्ष्मसम्परायः प्रत्येकं ज्ञेयाः, मिश्रवर्जाना मिथ्यादृष्टिप्रभृतिप्रमत्तान्तानामायुर्बन्धकाले सप्तप्रकृतितोऽष्टौ बध्नतां प्रतिपातानिवृत्तिबादरसम्पराय सूक्ष्मसम्परायोश्च प्रथमसमये यथाक्रमं षट्प्रकृतित एकप्रकृतितश्च क्रमेण सप्त षट् च बध्नता भूयस्कारबन्धात् । इयमत्र भावना-मिश्रवर्जाः प्रमत्तान्ता यदाऽऽयुष्क बन्द्धुमारभन्ते, तदा प्रथमसमये तेषा भूयस्कारबन्धो भवति, सप्तप्रकृतिपरित्यागेनाऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धात् । अप्रमत्तयतयस्त्वायुर्बन्ध नारभन्ते, किन्तु पूर्वप्रवृत्तमेवायुर्बन्ध त उपरचयन्ति, तेनाऽप्रमत्तानां भूयस्कारबन्धो न भवति । श्रेणिस्थ उपशान्तमोहगुणस्थानक एकप्रकृति सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके वा षट्प्रकृतीर्बद्ध्वा मृतो देवत्वेनोत्पन्नः सप्तप्रकृतीर्बध्नातीत्यनया रीत्याऽप्यविरतसम्यग्दृष्टेर्देवस्य भूयस्कारबन्धो भवति । यदा तु कश्चिज्जीव उपशान्तमोहगुणस्थानकतः प्रच्युत्य सूक्ष्मसम्परायत्वं गच्छति, तदा प्रथमसमये तस्य भूयस्कारबन्धो भवति, वेदनीयाख्यैकप्रकृतिपरित्यागेन षण्णां प्रकृतीना बन्धात् । यदा कश्चिज्जीवः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकतः परिभ्रश्याऽनिवृत्तिबादरसम्परायत्वमधिगच्छति, तदा प्रथमसमये तस्य भूयस्कारबन्धो भवति, प्रकृतिषट्कप्रोज्झनेन तस्य सप्तानां प्रकृतीनां बन्धात् ॥४१२॥

सम्प्रत्यल्पतरबन्धस्य स्वामिनमाह--

अप्पयरस्स हवेज्जा मिच्छत्ती सासणो य सम्मत्ती ।
देसपमत्तियरजई सुहुमो उवसंतखीणा य ॥४१३॥

(प्रे०) '**अप्पयरस्स**' इत्यादि, अल्पतरस्य बन्धका मिथ्यात्वी सास्वादनोऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तमुनयः सूक्ष्मसम्पराय उपशान्तमोहक्षीणमोहौ च प्रत्येकम्, आयुर्बन्धविरमणप्रथमसमये मिश्रवर्जा-ऽप्रमत्तान्ताना सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहानां च स्वप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धात् । तथाहि—यदा मिश्रवर्जा अप्रमत्तान्ता आयुष्कं बध्नन्ति, तदा तेषामष्टप्रकृतीना बन्धो भवति, तत आयुष्कबन्धविरमणप्रथमसमये ते सप्तप्रकृतीर्बध्नन्ति, तेन तेऽल्पतरस्य बन्धका भवन्ति । यदा कश्चिज्जीवोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके सप्तप्रकृतीर्बद्ध्वा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षट्प्रकृतीर्बध्नाति, तदा तस्य सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति । यदा पुनः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षट्-

प्रकृतीर्बध्नन्नौपशमकः क्षपकश्च यथाक्रममुपशान्तमोहे क्षीणमोहे चैकां प्रकृतिं बध्नतः, तदा तयोः प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति ॥४१३॥

सम्प्रत्यवस्थितबन्धस्य स्वामिनमादेशतश्च मनुष्यगतिसामान्यादिमार्गणासु भूयस्कारादीनां बन्धकानाह—

मिच्छादिट्ठिप्पभुई सजोगिअंता अवट्ठिअस्सऽत्थि ।
तिपयाणोघव्वऽत्थि तिणरदुपणिंदितसभविगेसु ॥४१४॥

(प्रे०) 'मिच्छादिट्ठि०' इत्यादि, मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः सयोगिकेवल्यन्ता अवस्थितस्य बन्धका भवन्ति । इदमुक्तं भवति—मिश्रवर्जाना मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्तानामन्यतमोऽवस्थितबन्धस्य स्वाम्यष्टप्रकृत्यात्मकस्थानं सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानं चाश्रित्य भवति, सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानं च प्रतीत्य मिश्रदृष्ट्यपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाणामन्यतमोऽवस्थितबन्धस्य स्वामी भवति, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकवर्ती षट्प्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धस्य स्वामी भवति, तथैकप्रकृतिमाश्रित्योपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामन्यतमोऽवस्थितबन्धस्य स्वामी भवति ।

इदानीमादेशत आह-'तिपया०' इत्यादि, त्रिनरेषु=मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीभेदेषु पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकाय-भव्येषु च सर्वसंख्यया-ऽष्टमार्गणास्थानेषु 'त्रिपदानां' त्रयाणां भूयस्कारादीनां बन्धका 'ओघवत्' यथौघतो बन्धकानां प्ररूपणा कृता, तथाऽत्राऽपि कर्तव्या, विशेषाभावात् ॥४१४॥

सम्प्रति पञ्चमनोयोगादिषु भूयस्कारादिबन्धानां स्वामिनमाह—

पणमणवयकायउरलचक्खुअचक्खूसु सुक्कसण्णीसु ।
आहारे दुपयाणं ओघव्व अवट्ठिअस्स अण्णयरो ॥४१५॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'पण०' इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणासु शुक्ललेश्यासंज्ञिमार्गणयोराहारकमार्गणायां च सर्वसंख्यया सप्तदशमार्गणासु 'द्विपदयोः' भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोर्बन्धका ओघवद् भवन्ति, अवस्थितस्य बन्धकोऽन्यतरो ज्ञातव्य इति शेषः । इयं ग्रन्थकारस्येह शैली-यत्राऽन्यतरशब्द प्रयुङ्क्ते, तत्र तत्तन्मार्गणागतगुणस्थानकवर्तिजीवानामन्यतमो जीवो ज्ञातव्यः । प्रकृते तु मध्यममनोयोगद्वय-मध्यमवचनयोगद्वय-चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शन-संज्ञिमार्गणासु मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीणमोहान्तानामन्यतमः शेषासु च दशसु मार्गणासु मिथ्यादृष्टिप्रभृति-सयोगिकेवलिपर्यन्तानामन्यतमोऽवस्थितस्य बन्धको भवति । तथा प्रोक्तासु सर्वासु मार्गणासु चत्वार्यपि बन्धस्थानानि प्रतीत्याऽवस्थितबन्धको लभ्यते ॥४१५॥

इदानीमौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां भूयस्कारादिबन्धानां स्वामिनमाह—

ओरालमीसजोगे मिच्छत्ती बंधगो मुणेयव्वो ।
भूगारप्पयराणं अवट्ठिअस्स उण अण्णयरो ॥ ४१६ ॥

(प्रे०) 'ओरालमी जोगे' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां भूयस्कारा ऽल्पतरयोर्बन्धको मिथ्यात्वी ज्ञातव्यः, उक्तमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तानामेवाऽऽयुषो बन्धादायुर्बन्धारम्भतद्विरमणप्रथमसमये च यथाक्रमं भूयस्कारा ऽल्पतरबन्धयोर्निर्वर्तनाद् लब्ध्यपर्याप्तानां च सर्वेषां जीवानां मिथ्यादृष्टित्वात् । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामवस्थितस्य बन्धकः पुनः 'अन्यतरः' मिथ्यादृष्टि-सास्वादना ऽविरतसम्यग्दृष्टि-सयोगिकेवलिभिर्विवक्षितसमयत उत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीनां बन्धाद् तन्मार्गणागतानां मिथ्यादृष्टि-सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि--सयोगिकेवलिनामन्यतमो भवति । तत्र मिथ्यादृष्टिरष्टप्रकृतीः सप्तप्रकृतीर्वाऽऽश्रित्याऽवस्थितबन्धकः, सास्वादनोऽविरतसम्यग्दृष्टिश्च सप्तप्रकृतीः प्रतीत्य, सयोगिकेवली त्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानं प्रतीत्य । ननु यथाऽवस्थितबन्धकः सयोगिकेवल्यपि भवति, तथा भूयस्कारा ऽल्पतरयोरपि स कुतः न भवति ? इति चेत्, उच्यते—न ह्यौदारिकमिश्रकाययोगी सयोगिकेवल्यवस्थायां सप्तप्रकृतिबन्धं परित्यज्यैकां प्रकृतिं बध्नाति, नवा सयोगिकेवल्यवस्थायामेकप्रकृतिबन्धं परित्यज्य सप्तप्रकृत्यादिकं बध्नाति, किन्त्वेकामेव प्रकृतिं बध्नन् सयोगिकेवली समुद्घातावस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगी भूत्वाऽप्येकामेव प्रकृतिं बध्नाति । तेन नाऽल्पतरस्य न वा भूयस्कारस्यौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां बन्धकः सयोगिकेवली । एवं सास्वादनसम्यग्दृष्टिरविरतसम्यग्दृष्टिश्च सप्तैव प्रकृतीर्बध्नन्तौ मृत्वौदारिकमिश्रकाययोगिनौ भूत्वाऽपि सप्तैव प्रकृतीर्बध्नतः । तेन न तौ औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां भूयस्कारस्याऽल्पतरस्य च बन्धकौ ॥४१६॥

सम्प्रति षट्सु मार्गणासु भूयस्कारादीनां बन्धकानाह—

वेअकसायतिगे लु भूओगारस्स अत्थि मिच्छत्ती ।
सासायणो य सम्मो देसजई तह पमत्तमुणी ॥४१७॥
अप्पयरस्स हवेज्जा मिच्छो सासायणो य सम्मत्ती ।
देसो य पमत्तियरो अवट्ठिअस्स उण अण्णयरो ॥४१८॥

(प्रे०) 'वेअ०' इत्यादि, 'वेदकषायत्रिके' त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् स्त्रीनपुंसकपुरुषवेदलक्षणे वेदत्रिके, लोभमार्गणास्थानस्य वक्ष्यमाणत्वात् क्रोध मान-मायालक्षणकषायत्रिके च प्रत्येकं खलु भूयस्कारस्य बन्धका मिथ्यात्वी सास्वादनसम्यग्दृष्टिरविरतसम्यग्दृष्टिदेशयतिस्तथा प्रमत्तमुनिः सन्ति, तासु मिश्रवर्जप्रमत्तान्तैरायुर्बन्धकालप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य

प्रकृतीर्बद्ध्वोपशमकः क्षपकश्च यथाक्रममुपशान्तमोहे क्षीणमोहे चैकां प्रकृतिं बध्नतः, तदा तयोः प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो भवति ॥४१३॥

सम्प्रत्यवस्थितबन्धस्य स्वामिनमादेशतश्च मनुष्यगतिसामान्यादिमार्गणासु भूयस्कारादीना बन्धकानाह—

मिच्छादिट्ठिप्पभई सजोगिअंता अवट्ठिअस्सऽत्थि ।
तिपयाणोघव्वऽत्थि तिणरदुपणिंदितसभवियेसु ॥४१४॥

(प्रे०) '**मिच्छादिट्ठि०**' इत्यादि, मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः सयोगिकेवल्यन्ता अवस्थितस्य बन्धका भवन्ति । इदमुक्तं भवति–मिश्रवर्जानां मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्तानामन्यतमोऽवस्थितबन्धस्य स्वाम्यष्टप्रकृत्यात्मकस्थानं सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानं चाश्रित्य भवति, सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानं च प्रतीत्य मिश्रदृष्ट्यपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाणामन्यतमोऽवस्थितबन्धस्य स्वामी भवति, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकवर्ती षट्प्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धस्य स्वामी भवति, तथैकप्रकृतिमाश्रित्योपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनामन्यतमोऽवस्थितबन्धस्य स्वामी भवति ।

इदानीमादेशत आह-'**तिपया०**' इत्यादि, त्रिनरेषु=मनुष्यगतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीभेदेषु पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय--त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-भव्येषु च सर्वसंख्यया-ऽष्टमार्गणास्थानेषु 'त्रिपदानां' त्रयाणा भूयस्कारादीनां बन्धका 'ओघवत्' यथौघतो बन्धकानां प्ररूपणा ।, तथाऽत्राऽपि कर्तव्या, विशेषाभावात् ॥४१४॥

सम्प्रति पञ्चमनोयोगादिषु भूयस्कारादिबन्धानां स्वामिनमाह—

पणमणवयकायउरलचक्खुअचक्खूसु सुक्कसण्णीसु ।
आहारे दुपयाणं ओघव्व अवट्ठिअस्स अण्णयरो ॥४१५॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**पण०**' इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौ दारिककाययोग-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणासु शुक्ललेश्यासंज्ञिमार्गणयोराहारकमार्गणायां च सर्वसंख्यया सप्तदशमार्गणासु 'द्विपदयोः' भूयस्कारा ऽल्पतरबन्धयोर्बन्धक ओघवद् भवति,अवस्थितस्य बन्धकोऽन्यतरो ज्ञातव्य इति शेषः । इयं ग्रन्थकारस्येह शैली-यत्राऽन्यतरशब्द प्रयुक्ते, तत्र तत्तन्मार्गणागतगुणस्थानकवर्तिजीवानामन्यतमो जीवो ज्ञातव्यः । प्रकृते तु मध्यममनोयोगद्वय-मध्यमवचनयोगद्वय-चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शन-संज्ञिमार्गणासु मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीणमोहान्तानामन्यतमः शेषासु च दशसु मार्गणासु मिथ्यादृष्टिप्रभृति-सयोगिकेवलिपर्यन्तानामन्यतमोऽवस्थितस्य बन्धको भवति । तथा प्रोक्तासु सर्वासु मार्गणासु चत्वार्यपि बन्धस्थानानि प्रतीत्याऽवस्थितबन्धको लभ्यते ॥४१५॥

इदानीमौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां भूय रादिबन्धाना स्वामिन –

ओरालमीसजोगे मिच्छत्ती बंधगो मुणेयव्वो ।
भूगारप्पयराणं अवट्ठिअस्स उण अण्णयरो ॥ ४१६ ॥

(प्रे०) 'ओरालमीसजोगे' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धको मिथ्यात्वी ज्ञातव्यः, उक्तमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तानामेवाऽऽयुषो बन्धादायुर्बन्धारम्भतद्विरमणप्रथमसमये च यथाक्रमं भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोर्निर्वर्तनाद् लब्ध्यपर्याप्तानां च सर्वेषां जीवानां मिथ्यादृष्टित्वात् । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामवस्थितस्य बन्धकः पुनः 'अन्यतरः' मिथ्यादृष्टि-सास्वादनाऽविरतसम्यग्दृष्टि-सयोगिकेवलिभिर्विवक्षितसमयत उत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीनां बन्धाद् तन्मार्गणागतानां मिथ्यादृष्टि-सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-सयोगिकेवलिनामन्यतमो भवति । तत्र मिथ्यादृष्टिरष्टप्रकृतीः सप्तप्रकृतीर्वाऽऽश्रित्याऽवस्थितबन्धकः, सास्वादनोऽविरतसम्यग्दृष्टिश्च सप्तप्रकृतीः प्रतीत्य, सयोगिकेवली त्वेकप्रकृत्यात्मकस्थानं प्रतीत्य । ननु यथाऽवस्थितबन्धकः सयोगिकेवल्यपि भवति, तथा भूयस्काराऽल्पतरयोरपि स कुतः न भवति ? इति चेत्, उच्यते—न ह्यौदारिकमिश्रकाययोगी सयोगिकेवल्यवस्थायां सप्तप्रकृतिबन्धं परित्यज्यैकां प्रकृतिं बध्नाति, नवा सयोगिकेवल्यवस्थायामेकप्रकृतिबन्धं परित्यज्य सप्तप्रकृत्यादिकं बध्नाति, किन्त्वेकामेव प्रकृतिं बध्नन् सयोगिकेवली समुद्घातावस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगी भूत्वाऽप्येकामेव प्रकृतिं बध्नाति । तेन नाऽल्पतरस्य न वा भूयस्कारस्यौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां बन्धकः सयोगिकेवली । एवं सास्वादनसम्यग्दृष्टिरविरतसम्यग्दृष्टिश्च सप्तैव प्रकृतीर्बध्नन्तौ मृत्वौदारिकमिश्रकाययोगिनौ भूत्वाऽपि सप्तैव प्रकृतीर्बध्नतः । तेन न तौ औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां भूयस्कारस्याऽल्पतरस्य च बन्धकौ ॥४१६॥

सम्प्रति षट्सु मार्गणासु भूयस्कारादीनां बन्धकानाह—

वेअकसायतिगे उ भूओगारस्स अत्थि मिच्छत्ती ।
सासायणो य सम्मो देसजई तह पमत्तमुणी ॥४१७॥
अप्पयरस्स हवेज्जा मिच्छो सासायणो य सम्मत्ती ।
देसो य पमत्तियरो अवट्ठिअस्स उण अण्णयरो ॥४१८॥

(प्रे०) 'वेअ०' इत्यादि, 'वेदकषायत्रिके' त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् स्त्रीनपुंसकपुरुषवेदलक्षणे वेदत्रिके, लोभमार्गणास्थानस्य वक्ष्यमाणत्वात् क्रोध मान-मायालक्षणकषायत्रिके च प्रत्येकं खलु भूयस्कारस्य बन्धकाः मिथ्यात्वी सास्वादनसम्यग्दृष्टिरविरतसम्यग्दृष्टिर्देशयतिस्तथा प्रमत्तमुनिः सन्ति, तासु मिश्रवर्जप्रमत्तान्तैरायुर्बन्धकालप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य

निर्वर्तनात् । अल्पतरस्य बन्धका मिथ्यादृष्टिः सास्वादनोऽविरतसम्यग्दृष्टिश्च देशविरतश्च प्रमत्त इतरः=अप्रमत्तश्च भवन्ति, आयुर्बन्धविरमणप्रथमसमये मिश्रवर्जा-ऽप्रमत्तान्तैरल्पतरबन्धस्य निर्वर्तनात् । उक्तमार्गणाषट्केऽवस्थितबन्धस्य पुनर्बन्धकः 'अन्यतरः' मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामन्यतमो भवति, अनिवृत्तिबादरसम्परायान्तैर्विवक्षितसमयत उत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीना बन्धात् । तत्र मिश्रवर्जाप्रमत्तान्तानामन्यतमः सप्त वा ऽष्टौ वा प्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धस्य निर्वर्तकः, मिश्रा-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाणाञ्चाऽन्यतमः सप्तप्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धकः, मिश्रादिभिरायुषो बन्धाभावात् ॥४१७।४१८॥

सम्प्रत्यपगतवेदमार्गणायां भूयस्काराऽवस्थितयोर्बन्धकानाह—

भूगारस्स अवेए ऽणियट्टिसुहुमा ऽत्थि अप्पयरगस्स ।
सुहुमउवसंतखीणा अवट्ठिअस्स सहजोगंता ॥४१९॥

(प्रे०) '**भूगारस्स**' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणास्थाने भूयस्कारस्य बन्धका अनिवृत्तिबादरसम्पराय-सूक्ष्मसम्परायौ प्रत्येकं भवतः, उपशमश्रेणितः प्रच्यवमानस्यैकप्रकृतितः षट्प्रकृतीर्बध्नतो जीवस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथमसमये, षट्प्रकृतितोऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये सप्त बध्नतो भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात् । अपगतवेदमार्गणायामल्पतरस्य बन्धकाः सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहाः प्रत्येकं भवन्ति, श्रेणिसमारोहणावस्थायां सप्तप्रकृतितः षट्प्रकृतीर्बध्नता सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये, षट्प्रकृतित एकां प्रकृतिं बध्नतोपशान्तमोहप्रथमसमये क्षीणमोहप्रथमसमये चाऽल्पतरबन्धस्य निर्वर्तनात् । अपगतवेदमार्गणायामवस्थितबन्धस्य निर्वर्तकाः 'सहयोगान्ताः' अनिवृत्तिबादरसम्परायप्रभृतिसयोगिकेवल्यन्ताः प्रत्येकं ज्ञातव्याः, तत्र विवक्षितसमयत उत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीना बन्धाद् अयोगिकेवलिसिद्धानां चाबन्धकत्वात् ॥४१९॥

सम्प्रति लोभमार्गणाया भूयस्कारादीना बन्धकान् प्रदर्शयितुकाम आह—

लोहे मिच्छो सासणसम्मा देसविरओ पमत्तमुणी ।
अणियट्टिबायरो खलु भूओगारस्स बोद्धव्वा ॥४२०॥
मिच्छो सासणसम्मा देसपमत्तापमत्तसुहुमा ऽत्थि ।
अप्पयरस्स हवेज्जा अवट्ठिअस्स उण अण्णयरो ॥४२१॥

(प्रे०) '**लोहे**' इत्यादि, लोभमार्गणायां भूयस्कारबन्धस्य बन्धका मिथ्यादृष्टिः सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टी देशविरतः प्रमत्तमुनिरनिवृत्तिबादरसम्परायश्च खलु बोद्धव्याः, मिश्रवर्जाना सप्तप्रकृतितोऽष्टौ बध्नतां प्रमत्तान्तानामायुर्बन्धप्रथमसमये, उपशमश्रेणितश्च प्रच्युतस्याऽनिवृत्तिबादर-

सम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृतितः सप्तप्रकृतीर्बध्नता, श्रेणौ वा मृत्वा देवभूयं गतेन षट्तः सप्त बध्नतोऽविरतसम्यग्दृष्टेः प्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात् ।

लोभमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिः सास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टी देशविरतप्रमत्ताप्रमत्त-सूक्ष्मसम्परायाश्च प्रत्येकमल्पतरस्य बन्धका भवन्ति, आयुर्बन्धविरमणप्रथमसमय मिश्रवर्जा-ऽप्रमत्तान्तैरल्पतरबन्धस्य प्रकल्पनाद् अनिवृत्तिबादरसम्परायतश्चोर्ध्वं गतेन सप्ततः षड् बध्नता सूक्ष्मसम्परायेण स्वप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धस्य निर्वर्तनात् ।

लोभमार्गणायामवस्थितबन्धस्य बन्धकः पुनः 'अन्यतरः' मिथ्यादृष्टिप्रभृतिसूक्ष्मसम्परायाणामन्यतमो ज्ञातव्यः, सूक्ष्मसम्परायान्तैर्जीवैर्विवक्षितसमयापेक्षयोत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीना बन्धात् । तत्र सप्त वाऽष्टौ वा प्रकृतीराश्रित्य मिश्रवर्जा-ऽप्रमत्तान्तानामन्यतमोऽवस्थितबन्धस्य निर्वर्तकः । मिश्रदृष्ट्यपूर्वकरणा ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाणामन्यतमः सप्तप्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धस्य निर्वर्तकः, तैरायुषोऽबन्धात् । सूक्ष्मसम्परायस्तु षट्प्रकृतीः प्रतीत्याऽवस्थितबन्धस्य निर्वर्तकः, शेषप्रकृतिस्थानानां तैरबन्धात् ॥४२०,४२१॥

सम्प्रत्यकषायादिमार्गणाचतुष्टयेऽवस्थितबन्धस्वामिनमाह--

अकसायेऽहक्खाये विण्णेयाऽवट्ठिअस्स उवसंतो।
खीणकसायसजोगी केवलजुगलम्मि य सजोगी ॥४२२॥

(प्रे०) 'अकसाये' इत्यादि, अकषायमार्गणायां यथाख्यातसंयममार्गणायां चाऽवस्थितबन्धस्य बन्धका उपशान्तमोहक्षीणकषायसयोगिकेवलिनो विज्ञेयाः, यथासंभवमयोगिकेवलिनां सिद्धानां चाऽबन्धकत्वात् तथाऽकषाययथाख्यातसंयतैरुपशान्तमोहादिगुणस्थानकेष्वेकस्या एव प्रकृतेर्बन्धात् ।

'केवलयुगले' केवलज्ञान केवलदर्शनलक्षणे केवलद्विकेऽवस्थितबन्धस्य स्वामी सयोगिकेवली भवति, सिद्धानामयोगिकेवलिनां च बन्धाभावात् सयोगिकेवलिभिश्चैकस्या एव प्रकृतेर्बन्धात् ॥४२२॥

सम्प्रति मतिज्ञानश्रुतज्ञाना ऽवधिद्विकमार्गणासु प्रस्तुतमाह--

णाणतिगे ओहिम्मि य भूओगारस्स बंधगा णेया ।
सम्मत्ती देसजई पमत्तअणियट्टिसुहुमा य ॥४२३॥
अप्पयरस्स हवन्ते सम्मो देसविरई पमत्तियरो ।
सुहुमउवसंतखीणा अवट्ठिअस्सऽत्थि अण्णयरो ॥४२४॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, 'ज्ञानत्रिके' मतिश्रुताऽवधिज्ञानलक्षणे ज्ञानत्रये 'अवधौ' अवधिदर्शनमार्गणास्थाने च भूयस्कारस्य बन्धकाः 'सम्यक्त्वी' अविरतसम्यग्दृष्टिर्देशयतिः प्रमत्ता ऽनिवृत्तिबादरसम्पराय-सूक्ष्मसम्परायाश्च प्रत्येक ज्ञेयाः, सप्तप्रकृतितोऽष्टौ बध्नताऽविरतसम्यग्दृष्टि-

निर्वर्तनात् । अल्पतरस्य बन्धका मिथ्यादृष्टिः सास्वादनोऽविरतसम्यग्दृष्टिश्च देशविरतश्च प्रमत्त इतरः=अप्रमत्तश्च भवन्ति, आयुर्बन्धविरमणप्रथमसमये मिश्रवर्जा-ऽप्रमत्तान्तैरल्पतरबन्धस्य निर्वर्तनात् । उक्तमार्गणाषट्केऽवस्थितबन्धस्य पुनर्बन्धकः 'अन्यतरः' मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामन्यतमो भवति, अनिवृत्तिबादरसम्परायान्तैर्विवक्षितसमयत उत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीनां बन्धात् । तत्र मिश्रवर्जोऽप्रमत्तान्तानामन्यतमः सप्त वा ऽष्टौ वा प्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धस्य निर्वर्तकः, मिश्रा-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाणाञ्चाऽन्यतमः सप्तप्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धकः, मिश्रादिभिरायुषो बन्धाभावात् ॥४१७।४१८॥

सम्प्रत्यपगतवेदमार्गणायां भूयस्काराऽवस्थितयोर्बन्धकानाह——

भूगारस्स अवेएऽणियट्टिसुहुमाऽत्थि अप्पयरगस्स ।
सुहुमउवसंतखीणा अवट्ठिअस्स सहजोगंता ॥४१९॥

(प्रे०) 'भूगारस्स' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणास्थाने भूयस्कारस्य बन्धका अनिवृत्तिबादरसम्पराय-सूक्ष्मसम्परायौ प्रत्येकं भवतः, उपशमश्रेणितः प्रच्यवमानस्यैकप्रकृतितः षट्प्रकृतीर्बध्नतो जीवस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथमसमये, षट्प्रकृतितोऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये सप्त बध्नतो भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात् । अपगतवेदमार्गणायामल्पतरस्य बन्धकाः सूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहाः प्रत्येकं भवन्ति, श्रेणिसमारोहणावस्थाया सप्तप्रकृतितः षट्प्रकृतीर्बध्नता सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये, षट्प्रकृतित एकां प्रकृतिं बध्नतोपशान्तमोहप्रथमसमये क्षीणमोहप्रथमसमये चाऽल्पतरबन्धस्य निर्वर्तनात् । अपगतवेदमार्गणायामवस्थितबन्धस्य निर्वर्तकाः 'सहयोगान्ताः' अनिवृत्तिबादरसम्परायप्रभृतिसयोगिकेवल्यन्ताः प्रत्येकं ज्ञातव्याः, तत्र विवक्षितसमयत उत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीना बन्धाद् अयोगिकेवलिसिद्धानां चाबन्धकत्वात् ॥४१९॥

सम्प्रति लोभमार्गणायां भूयस्कारादीनां बन्धकान् प्रदर्शयितुकाम आह——

लोहे मिच्छो सासणसम्मा देसविरओ पमत्तमुणी ।
अणियट्टिबायरो खलु भूओगारस्स बोद्धव्वा ॥४२०॥
मिच्छो सासणसम्मा देसपमत्तापमत्तसुहुमाऽत्थि ।
अप्पयरस्स हवेज्जा अवट्ठिअस्स उण अण्णयरो ॥४२१॥

(प्रे०) 'लोहे' इत्यादि, लोभमार्गणायां भूयस्कारबन्धस्य बन्धका मिथ्यादृष्टिः सास्वादनाऽविरतसम्यग्दृष्टी देशविरतः प्रमत्तमुनिरनिवृत्तिबादरसम्परायश्च खलु बोद्धव्याः, मिश्रवर्जाना सप्तप्रकृतितोऽष्टौ बध्नतां प्रमत्तान्तानामायुर्बन्धप्रथमसमये, उपशमश्रेणितश्च प्रच्युतस्याऽनिवृत्तिबादर-

प्रभृतिप्रमत्तान्तानामन्यतमेन जीवेनाऽऽयुर्बन्धकालप्रथमसमये, उपशमश्रेणिकाले सूक्ष्मसम्पराये वोपशान्तमोहे वा मृत्वा देवत्वेनोत्पन्नस्य यथासंख्यं षट्त एकतश्च सप्तप्रकृतीर्बध्नतोऽविरतसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य देवभवप्रथमसमये, सूक्ष्मसम्परायतः प्रच्युतस्य षट्प्रकृतितः सप्त बध्नतोऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये, उपशान्तमोहतश्च परिभ्रष्टस्यैकप्रकृतितः षट्प्रकृतीर्बध्नतो जीवस्य सूक्ष्म सम्परायप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात् । उक्तमार्गणाचतुष्टयेऽल्पतरस्य बन्धका अविरतसम्यग्दृष्टिर्देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च सूक्ष्मसम्परायो-पशान्तमोह-क्षीणमोहाश्च प्रत्येकं भवन्ति, अष्टप्रकृतितः सप्त बध्नताऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तानामन्यतमेनाऽऽयुर्बन्धविरमणप्रथमसमये, स : षड् बध्नता सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये, षट्तश्चैकां बध्नतोपशान्तमोहप्रथमसमये क्षीणमोहप्रथमसमये वाऽल्पतरबन्धस्योपरचनात् । अनन्तरोक्तमार्गणाचतुष्केऽवस्थितबन्धस्य बन्धकस्तु 'अन्यतरः' अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतिक्षीणमोहान्तानामन्यतमोऽस्ति, अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिभिर्विवक्षितसमयतस्तदुत्तरसमये तीनां तीनां बन्धात् । तत्राऽविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्ताः सप्त वाऽष्टौ वा प्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धका अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायौ पुनः सप्तप्रकृतीः प्रतीत्य, सूक्ष्मसम्परायस्तु षट्प्रकृतीराश्रित्य, उपशान्तमोहक्षीणमोहौ पुनरेकप्रकृति समाश्रित्याऽवस्थितबन्धकौ स्तः ।।४२३,४२४।।

सम्प्रति मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणयोः प्रकृतस्वामिनमाह—

मणणाणम्मि पमत्तोऽणियट्टिसुहुमाऽत्थि भूअगारस्स ।
अप्पयरस्स पमत्तो अपमत्तो य हुमाइखीणंता ॥४२५॥ (गीतिः)
हवए अवट्ठिअस्स उ अण्णयरो संजमे तहेवऽत्थि ।
णवरं पमत्तआई सजोगअंता अवट्ठिअस्सऽत्थि ॥४२६॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**मणणाणम्मि**' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां भूयस्कारस्य बन्धकाः प्रमत्तो-ऽनिवृत्तिबादरसम्पराय-सूक्ष्मसम्परायौ च सन्ति, सप्तप्रकृतितोऽष्टौ बध्नतः प्रमत्तस्याऽऽयुर्बन्धकालप्रथमसमये, सूक्ष्मसम्परायतः प्रतिपतता षट्तः सप्त बध्नताऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये, उपशान्तमोहतः पुनः प्रच्यवमानेनैकतः षड् बध्नता सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात् ।

उक्तमार्गणायामल्पतरस्य बन्धकाः प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च सूक्ष्मसम्परायादिक्षीणमोहान्ताश्च भवन्ति, अष्टतः सप्त बध्नता प्रमत्ताप्रमत्तयोरन्यतरेणाऽऽयुर्बन्धविरमणप्रथमसमये, सप्ततः षड् बध्नता सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये, षट्तश्चैकां बध्नतोपशान्तमोह-क्षीणमोहप्रथमसमये ऽल्पतरबन्धस्य निर्वर्तनात् ।

अवस्थितबन्धस्य बन्धको मनःपर्यवज्ञानमार्गणायाम् 'अन्यतरः' प्रमत्तप्रभृतिक्षीणमोहान्तानामन्यतमो भवति, क्षीणमोहान्तैर्विवक्षितसमयतस्तदुत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीनां बन्धात् । तत्र मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां प्रमत्ताप्रमत्तौ सप्त वाऽष्टौ वा प्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धकौ, अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायौ पुनः सप्तप्रकृतीः प्रतीत्य, सूक्ष्मसम्परायस्तु षट्प्रकृतीरवलम्ब्योपशान्तमोह-क्षीणमोहौ पुनरेकां प्रकृतिं वेदनीयाख्यां प्रतीत्याऽवस्थितबन्धकौ भवतः ।

अथ लाघवार्थं संयममार्गणायामतिदिशन्नाह–'संजमे' इत्यादि, संयमसामान्यमार्गणायां 'तथैव' यथा मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां बन्धकः प्रतिपादितः, तथैव भवतीत्यर्थः । अतिप्रसक्तिवारणाय प्राह–'णवरं' इत्यादि, नवरं प्रमत्तादयः सयोगान्ता अवस्थितबन्धस्य बन्धकाः सन्ति, न तु पूर्ववत् प्रमत्तादिक्षीणमोहान्ताः । इदमुक्तं भवति–संयमसामान्यमार्गणायां भूयस्कारस्य बन्धकः प्रमत्ता ऽनिवृत्तिबादरसम्पराय सूक्ष्मसम्परायाणामन्यतमः, अल्पतरस्य पुनः प्रमत्ता ऽप्रमत्त-सूक्ष्मसम्परायो-पशान्तमोह-क्षीणमोहानामन्यतमः, अवस्थितबन्धस्य तु प्रमत्तप्रभृतिसयोगिकेवल्यन्तानामन्यतमो भवति । क्षीणमोहस्पर्शमन्तरेण सयोगिकेवलिगुणस्थानकप्राप्त्यभावेन सयोगिकेवली संयममार्गणायामल्पतरस्य बन्धको न भवति, अवस्थितस्य त्वसौ भवत्येव बन्धकः, सयोगिकेवलिनाऽप्युत्तरोत्तरसमय एकस्या एव प्रकृतेर्बन्धात् ॥४२५-४२६॥

एतर्हि संयममार्गणाया उत्तरभेदेषु प्रकृतं प्रकथयितुकाम आदौ तावत्सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयमयोर्भूयस्कारादीनां बन्धकान् निगदति—

भूगारस्स पमत्तो समइअछेएसु अप्पयरगस्स ।
अत्थि पमत्तियरजई अवट्ठिअस्सऽत्थि अण्णयरो ॥४२७॥

(प्रे०) 'भूगारस्स' इत्यादि, सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयमयोर्भूयस्कारस्य बन्धकः प्रमत्तो भवति, सप्ततोऽष्टौ बध्नता प्रमत्तेनाऽऽयुर्बन्धकालप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात् । ननूपशमश्रेणितोऽवतरतः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके षट्प्रकृतीनां बन्धानन्तरं जीवस्याऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये षट्प्रकृतिबन्धपरित्यागेन सप्तप्रकृतीनां बन्धादनिवृत्तिबादरसम्परायो भूयस्कारबन्धकत्वेनेह कुतो नाऽभिहितः ? इति वाच्यम्, सूक्ष्मसम्परायचरमसमय एव षट्प्रकृतीना बन्धात्, तत्र चोक्तमार्गणयोरभावात् । उक्तमार्गणाद्वयेऽल्पतरस्य बन्धकौ प्रमत्तः इतरयतिः=अप्रमत्तयतिश्च भवतः, अष्टप्रकृतितः सप्त बध्नता प्रमत्ताप्रमत्तयोरन्यतरेणाऽऽयुर्बन्धविरमणप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धस्योपरचनात् । प्रस्तुतमार्गणाद्विकेऽवस्थितबन्धस्य बन्धकः 'अन्यतरः' प्रमत्ता ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणा ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाणामन्यतमोऽस्ति, प्रमत्ताद्यनिवृत्तिबादरसम्परायान्तैर्विवक्षितसमयतस्तदुत्तरसमये तावतीना प्रकृतीना बन्धात् । तत्र प्रमत्ताप्रमत्तौ सप्त वाऽष्ट वा प्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धकौ भवतः, शेषौ तु सप्तप्रकृतीः प्रतीत्य ॥४२७॥

सम्प्रति परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां भूयस्कारादीनां बन्धकान् व्याहर्तुकामो निगदति—

परिहारम्मि पमत्तो भूओगारस्स बंधगो णेयो ।
अण्णयरो बोद्धव्वो अप्पयरा-ऽवट्ठिआणं तु ॥४२८॥

(प्रे०) 'परिहारम्मि' इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां भूयस्कारस्य बन्धकः प्रमत्तो ज्ञातव्यः, सप्ततोऽष्टौ बध्नता परिहारविशुद्धिकसंयमविशिष्टप्रमत्तेनाऽऽयुर्बन्धकालप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात् । 'अन्यतरः' परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणागतजीवयोः प्रमत्ताप्रमत्तयोरन्यतरस्तु परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामल्पतरा-ऽवस्थितयोर्बन्धको भवति, उभयाभ्यामष्टतः सप्त बध्नद्भ्यामायुर्बन्धविरमणप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धस्य, विवक्षितसमयतश्च तदुत्तरसमये सप्तानामष्टानां वा तावतीनां प्रकृतीनां बन्धेनाऽवस्थितबन्धस्य निर्वर्तनात् ॥४२८॥

सम्प्रति तेजोलेश्या-पद्मलेश्ययोः प्रकृतस्वामिनमाह—

तेउपउमलेसासुं भूओगारस्स अत्थि मिच्छत्ती ।
सासाणो सम्मत्ती देसजई तह पमत्तमुणी ॥४२९॥
अप्पयरस्स हवेज्जा मिच्छादिट्ठी य सासणो सम्मो ।
देसपमत्तियरजई अण्णयरोऽवट्ठिअस्स भवे ॥४३०॥

(प्रे०) 'तेउ०' इत्यादि, तेजोलेश्यापद्मलेश्ययोर्भूयस्कारस्य बन्धका मिथ्यादृष्टिः सास्वादनसम्यग्दृष्टिरविरतसम्यक्त्वी देशयतिस्तथा प्रमत्तमुनिः सन्ति, उक्तमार्गणाद्वये मिश्रवर्जैः प्रमत्तान्तैः सप्ततोऽष्टौ बध्नद्भिरायुर्बन्धकालप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात् ।

उक्तलेश्याद्वयेऽल्पतरस्य बन्धका मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ता-ऽप्रमत्तयतयो भवन्ति, अष्टप्रकृतितः सप्त बध्नद्भिर्मिश्रवर्जैरप्रमत्तान्तैरायुर्बन्धविरमणप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धस्योपरचनात् ।

'अन्यतरः' तेजोलेश्या पद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्तानामन्यतमोऽवस्थितस्य बन्धको भवेत् , अप्रमत्तान्तैर्विवक्षितसमयतस्तदुत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीनां बन्धात् । तत्रापि मिश्रदृष्टिः सप्तप्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धकः, शेषास्तु सप्त वाऽष्टौ वा प्रतीत्य ॥४२९,४३०॥

सम्प्रति सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्भूयस्कारादीनां बन्धकानाह—

भूगारप्पयराणं णेयो सम्मखइएसु ओहिव्व ।
सम्मादिट्ठीयाई सजोगिअंता अवट्ठिअस्स भवे ॥४३१॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'भूगार०' इत्यादि, सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धकोऽवधिज्ञानवद् ज्ञेयः । तथाहि—अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता ऽनिवृत्तिबादरसम्प-

राय सूक्ष्मसम्परायाणामन्यतमो भूयस्कारस्य बन्धकः, यतः सप्तप्रकृतितोऽष्टौ बध्नद्भिरविरत-सम्यग्दृष्टि देशविरत-प्रमत्तैरायुर्बन्धप्रथमसमये, सूक्ष्मसम्पराय उपशान्तमोहे वा कालं कृत्वा षट्प्रकृतित एकप्रकृतितो वा सप्त बध्नताऽविरतसम्यग्दृष्टिना देवभवप्रथमसमये, उपशान्तमोहतः पतित्वैकप्रकृतितः षड् बध्नता सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये, सूक्ष्मसम्परायतश्च प्रच्युत्य षट्प्रकृतितः सप्त बध्नताऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये भूयस्कारबन्धो निर्वर्त्यते। अल्पतरस्य तु बन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्त-सूक्ष्मसम्परायो-पशान्तमोह-क्षीणमोहानामन्यतमो भवति, यतोऽष्टप्रकृतितः सप्त बध्नताऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तान्तानामन्यतमेना-ऽऽयुर्बन्धविरमणप्रथमसमये,सप्तप्रकृतितः षड् बध्नताऽऽरोहणसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये, षट्प्रकृतितश्चैका बध्नतोपशान्तप्रथमसमये वा क्षीणमोहप्रथमसमये वाऽल्पतरबन्धो निर्वर्त्यते।

सम्प्रत्यवस्थितस्य बन्धकान् निरूपयति–'**सम्मा०**' इत्यादि, उक्तमार्गणाद्वयेऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयः सयोगिकेवलिपर्यवसाना अवस्थितस्य तु बन्धका भवेयुः,तैर्विवक्षितसमयत उत्तरोत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीनां बन्धात् ॥४३१॥

इदानीं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां भूयस्कारादीना बन्धकानाह—

वेअगसम्मे सम्मो देसपमत्ताऽत्थि भूअगारस्स।
अप्पयरऽवट्ठिआणं अण्णयरो वंधगो हवए ॥४३२॥

(प्रे०) '**वेअगसम्मे**' इत्यादि, 'वेदकसम्यक्त्वे' क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्थानेऽविरतसम्यग्दृष्टिर्देशविरतप्रमत्तौ च भूयस्कारस्य बन्धका भवन्ति, सप्तप्रकृतितोऽष्टौ बध्नद्भिरविरत-सम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयतैरायुर्बन्धप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात्। अल्पतराऽवस्थितबन्धयोर्बन्धकः 'अन्यतरः' अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्यप्रमत्तान्तानामन्यतमो भवति, अविरत-सम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तैरष्टप्रकृतितः सप्त बध्नद्भिरायुर्बन्धविरमणकालप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धस्य, विवक्षितसमयतः पुनस्तदुत्तरसमये सप्तानामष्टानां वा तावतीनां प्रकृतीना बन्धेनाऽवस्थित-बन्धस्य निर्वर्तनात् ॥४३२॥

क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रस्तुतस्वामिनोऽभिधायौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह–

भूगारस्स उवसमे सम्मो अणियट्टिबायरो सुहुमो।
अप्पयरस्स य सुहुमो उवसंतोऽवट्ठिअस्स अण्णयरो ॥४३३॥(गीतिः)

(प्रे०) '**भूगारस्स**' इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया भूयस्कारस्य बन्धका अविरतसम्यग्दृष्टिरनिवृत्तिबादरसम्परायः सूक्ष्मसम्परायश्च भवन्ति, यत उपशान्तमोहे पञ्चत्व गत्वैकप्रकृतितः सप्तप्रकृती. सूक्ष्मसम्पराये वा मृत्वा प्रकृतिषट्कतः सप्त बध्नताऽविरतसम्यग्दृष्टिना देवभव-

प्रथमसमये, उपशान्तमोहगुणस्थानकतश्च च्युत्वैकप्रकृतितः षड् बध्नता सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये तथा सूक्ष्मसम्परायतः पतित्वा षट्प्रकृतितः सप्त बध्नताऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये भूयस्कारबन्धो निर्वर्त्यते । अल्पतरबन्धस्य च बन्धकः सूक्ष्मसम्परायसंयत उपशान्तमोहश्च भवतः, यत औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुपशमश्रेणिमारोहता सप्तप्रकृतितः षट् प्रकृतीर्बध्नता सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये, षट्प्रकृतितश्चैकां बध्नतोपशान्तमोहप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धो विरच्यते ।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामवस्थितबन्धस्य निर्वर्तकः 'अन्यतरः' अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृत्युपशान्तमोहानामन्यतमो भवति, अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिभिर्विवक्षितसमयतस्तदुत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीनां बन्धात् । तत्राप्यौपशमिकसम्यग्दृष्टीनामायुर्बन्धाऽध्यवसायशून्यत्वादविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तमुनयस्तथाऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसम्परायवर्त्तिनः सप्तप्रकृतीराश्रित्याऽवस्थितबन्धकाः, सूक्ष्मसम्परायस्तु षट्प्रकृतीरधिकृत्य, उपशान्तमोहश्चैकां प्रकृतिं प्रतीत्याऽवस्थितबन्धकः ॥४३३॥

सम्प्रत्यनाहारकमार्गणायामवस्थितबन्धस्य स्वामिनं प्राह--

मिच्छत्ती सासाणो सम्मादिट्ठी सजोगिकेवलिओ ।
होएज्ज बंधगा खलु अवट्ठिअस्स उ अणाहारे ॥४३४॥

(प्रे०) '**मिच्छत्ती**' इत्यादि, अनाहारकमार्गणायामवस्थितस्य तु बन्धकाः खलु मिथ्यात्वी सास्वादनसम्यग्दृष्टिरविरतसम्यग्दृष्टिः सयोगिकेवलिकश्च भवन्ति, विग्रहगतौ वर्तमानैरेकेन्द्रियादिभिरुत्तरोत्तरसमये सप्तानामेव प्रकृतीनां बन्धात् समुद्घातापन्नैश्च सयोगिकेवलिभिरेकस्या एव प्रकृतेर्बन्धात् ॥४३४॥

सम्प्रति विंशे मार्गणाशते भूयस्कारादीनां बन्धकमाह--

सेसासु सपयाणं अण्णयरो णवरि ण हवए मीसो ।
भूगारप्पयराणं सव्वेसु णिरयभेएसु ॥४३५॥
तिरिय-तिपणिंदियतिरिय-सुरगेविज्जंतदेवभेएसु
वेउव्वियअजएसु तीसु अपसत्थलेसासु ॥४३६॥

(प्रे०) '**सेसासु**' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धृतासु विंशत्यधिकशतमार्गणासु '**स्वपदानां**' तत्तन्मार्गणासु सम्भाव्यमानानां भूयस्कारादिपदानां बन्धकः 'अन्यतरः' तत्तन्मार्गणागतमिथ्यादृष्ट्यादिजीवानामन्यतमो भवति । नन्वन्यतमस्य बन्धकत्वेन प्रतिपादनाद् नरकगत्यादिमार्गणासु मिश्रदृष्टिरपि भूयस्कारादिबन्धकत्वेनाऽतिप्रसजति, तत्त्वतस्तु मिश्रदृष्टिर्न भवति भूयस्कराऽल्पतरयोर्बन्धकः, मिश्रदृष्टिना सदैवाऽवस्थितबन्धस्यैव निर्वर्तनात् । अतोऽतिप्रसक्तिवारणाय

प्राह--'णवरि' इत्यादि, नवरं न भवति 'मिश्रः' सम्यङ्मिथ्यादृष्टिर्भूयस्कारा-ऽल्पतरयोर्बन्धकः, कासु मार्गणासु ? इत्यत आह -'सव्वेसु'इत्यादि,'सर्वेषु निरयभेदेषु' नरकगतिसामान्य-प्रथमादिसप्तपृथिवीनरकेषु तिर्यग्गतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगाख्यत्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-सुरसामान्य-भवनपतिप्रभृतिग्रैवेयकान्तचतुर्विंशतिदेवभेदेषु वैक्रियकाययोगा-ऽविरतमार्गणयोः, तिसृषु 'अप्रशस्तलेश्यासु' कृष्णलेश्या नीललेश्या-कापोतलेश्यासु च सर्वसंख्यया द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासु ।

इदमुक्तं भवति–नरकगतिसामान्य-सप्तनरकभेद-पञ्चानुत्तरवर्जपञ्चविंशतिसुरभेद-वैक्रियकाययोगा-ऽविरत-कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्यारूपास्वष्टात्रिंशन्मार्गणासु भूयस्कारा ऽल्पतरयोर्बन्धको मिथ्यादृष्टि-सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टीनामन्यतमो भवति, आयुर्बन्धप्रारम्भ-तद्विरमणप्रथमसमये यथाक्रमं भूयस्कारा ऽल्पतरबन्धयोर्निर्वर्तनात् । अवस्थितबन्धस्य तु मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रदृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टीनामन्यतमो भवति, मिथ्यादृष्ट्यादिभिर्विवक्षितसमयापेक्षया तदुत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीनां बन्धात् । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जासु चतसृषु तिर्यङ्मार्गणासु भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धको मिश्रवर्जमिथ्यादृष्ट्यादिदेशविरतान्तानामन्यतमो भवति, आयुर्बन्धप्रारम्भ-तद्विरमणप्रथमसमये यथाक्रम भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोर्निर्वर्तनात् । अवस्थितबन्धस्य तु निर्वर्तको मिथ्यादृष्टिप्रभृतिदेशविरतान्तानामन्यतमो भवति, मिथ्यादृष्ट्यादिभिर्विवक्षितसमयतस्तदुत्तरसमये तावतीनां प्रकृतीनां बन्धात् ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तमनुष्य-पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियभेद-त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जचत्वारिंशत्कायभेदा-ऽभव्य मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिलक्षणेषु द्वाषष्टिमार्गणाभेदेषु भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितानां बन्धको मिथ्यादृष्टिर्भवति, तेष्वन्यगुणस्थानकवर्तिजीवाभावात् । पञ्चाऽनुत्तरभेदेषु भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थिताना बन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति । आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगयोः पुनः प्रमत्तमुनिर्भवति, तयोरन्यगुणस्थानकवर्तिनामभावात् । अवस्थितबन्धस्य निर्वर्तको वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां मिथ्यादृष्टि-सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टीनामन्यतमः, विवक्षितसमयतस्तदुत्तरसमये सप्तानामेव प्रकृतीनां बन्धात् । कार्मणकाययोगमार्गणायां मिथ्यादृष्टि-सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-सयोगिकेवलिनामन्यतमो भवति, कार्मणकाययोगिभिर्विवक्षितसमयतस्तदुत्तरसमये सप्तप्रकृतितः सप्तानामेकप्रकृतितश्चैकप्रकृतेरेव बन्धात् ।

सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसयतो भवति, तस्यां षट्प्रकृत्यात्मकस्थानस्यैव बन्धाद् अन्यगुणस्थानकवर्तिजीवाभावाच्च ।

मिश्रमार्गणाया तु मिश्रदृष्टिः, तस्यामेकस्यैव सप्तप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धादन्यगुणस्थानकवर्तिजीवाभावाच्च । मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरा ऽवस्थितानां

बन्धको मिथ्यादृष्टि-सास्वादनयोरन्यतरो भवति, प्रोक्तमार्गणात्रये प्रथमद्वितीयगुणस्थानकवर्जशेष-गुणस्थानकवर्तिजीवाभावात् , मिथ्यादृष्टि सास्वादनाभ्यामायुर्बन्धप्रारम्भ-तद्विरमणयोः प्रथमसमये यथाक्रम भूयस्कारा ऽल्पतरबन्धयोर्निर्वर्तनात् शेषकाले चाऽवस्थितबन्धस्योपरचनात् । देशविरतमार्गणायां भूयस्कारा ऽल्पतरा-ऽवस्थिताना बन्धको देशविरतः, सास्वादनमार्गणाया च सास्वादनो भवति, उक्तमार्गणयोरन्यगुणस्थानकवर्तिजीवाभावात् , आयुर्बन्धप्रारम्भ तद्विरमणयोश्च प्रथमसमये-ऽनुक्रमं भूयस्कारा ऽल्पतरबन्धयोर्निर्वर्तनात् शेषकाले त्ववस्थितबन्धस्योपरचनात् ।

तदेवं समर्थितं स्वामित्वद्वारम् ॥४३५ ४३६॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे द्वितीय स्वामित्वद्वारम् ॥



मूलप्रकृतिभूयस्कारादिबन्धस्वामित्वप्रदर्शियन्त्रम्

ओघतो भूयस्कारस्य बन्धका १,२,४,५,६,९,१० । अल्पतरस्य १,२,४,५,६,७,१०,११,१२ अवस्थितस्य १-१३ । (गाथा ४१२, ४१३, ४१४) ।

सकेतसूचि –१=मिथ्यादृष्टि, २=सास्वादन, ३=मिश्रदृष्टि, ४=अविरतसम्यग्दृष्टि ५=देशविरत, ६=प्रमत्तसयत, ७=अप्रमत्तसयत ८=अपूर्वकरणवर्ती, ९=अनिवृत्तिबादरसम्पराय, १०=सूक्ष्मसम्पराय, ११=उपशान्तमोहवीतराग, १२=क्षीणमोहवीतराग १३=सयोगिकेवली ।

भूयस्कार	ओघवत्	ओघवत्	१	१,२,४-६	६ ७०	१,२,४ ६,९	
अल्पतर	,,	ओघवत्	१	१,२,४ ७	१० ११ १२	१ २,४ ७,१०	
अवस्थित	,,	△ अन्यतम	अन्यतम	अन्यतम	६,१०,११,१२,१३	अन्यतम	११ १३
गति	अपर्याप्तवर्जत्रिनरा						
इन्द्रियम्	पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ						
काय	त्रस-पर्याप्तत्रसौ						
योग	त्रिमनो० त्रिवचा० काययोग औदारिक	द्विमनो० द्विवचन०	औदारिक मिश्र	त्रिवेदा	अवेद		
वेद							
कषाय				क्रोधमानमाया		लाभ	अकषाय
ज्ञानम्							
सयम							यथ ख्यात
दर्शनम्		चक्षुरचक्षुदर्शन०					
लेश्या	शुक्ला			द्वे शुभे			
भव्य	भव्य						
सम्यक्त्वम्							
सञ्ज्ञी		सञ्ज्ञी					
आहारक	आहारक						
सर्वा	१८	७	१	१८	१	१	२
गाथाङ्क	४१४,४१५	४१५	४१६	४१७,४१८ ४२९,४३०	४१९	४२०, ४२१	४२२

△ इह सर्वत्र अन्यतमशब्देन तत्तन्मार्गणागतगुणस्थानवर्तिजीवानामन्यतमो गृह्यते ।

मूलप्रकृतिभूयस्कारादिबन्धस्वामित्वप्रदर्शियन्त्रम् (पूर्वतोऽनुवर्तते)

भूयस्कार		४-६ ६,१०	६,९,१०	६	४-६	४,९,१०		मिश्रवर्जानामन्यतम	अन्यतम
अल्पतर		४ ७,१०-१२	६,७,१० १२	६,७	अन्यतम	१० ११		,,	अन्यतम.
अवस्थित	१३	अन्यतम	अन्यतम	अन्यतम	अन्यतम	अन्यतम	१२ ४,१३	अन्यतम	अन्यतम
गति								८ नरकभेदा ,अपर्याप्त-वर्जास्तिर्यग्भेदा ४ सुरसामान्यग्रैवेयकान्ता २५	शेषा ७
इन्द्रियम्									शेषा १७
काय								--	शेषा ४०
योग								वैक्रियकाययोग	वैक्रियमिश्र कामण 卐 आहारकद्विकम्
वेद					·				
कषाय							·		
ज्ञानम्	केवलज्ञानम्	त्रिज्ञानानि	मन पयव०						अज्ञानत्रिकम्
संयम			△ संयममा०	सामायिक० छेदोप०❀पारिहार०	·			असंयम	देशविरत०卐सूक्ष्म-सम्पराय०
दर्शनम्	केवलदर्शनम्	अवधिदर्शनम्					·	··	
लेश्या								अशुभास्तिस्र	···
भव्य					--				अभव्य
सम्यक्त्वम्		सम्यक्त्वसा० क्षायिक०	--		क्षायोपश०	औपशमिक०		·	शेषा ३ 卐
संज्ञी									असंज्ञी
आहारक							अनाहारक		
सर्वा	८	४+२	१+१	३	१	१	१	४२	७४+४
गाथाङ्क	४२२	४२३,४२४	४२५ ४२६	४२७ ४२८	४३२	४३३	४३४	४३५,४३६	४३५,४३६

△ नवरमवस्थितस्य बन्धका सयोगिकेवलिपर्यवसाना । ❀ नवरमल्पतरस्य बन्धकोऽन्यतर ।

卐 नवरं वैक्रियमिश्रकाययोग कार्मणकाययोग-सूक्ष्मसम्पराय-मिश्रमार्गणास्ववस्थितस्यैव बन्धको बोध्य , भूयस्काराल्पतरयोरभावात ।

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

सम्प्रत्येकजीवाश्रितस्य कालद्वारस्याऽवसरः प्राप्तः । तत्रादौ तावदोघतो भूयस्कारादिपदानां कालमाह—

तिण्ह जहण्णो समयो अप्पयरस्स परमो वि दो समया ।
भूगारस्स अहियुदहितेत्तीसा-ऽवट्ठिअस्स भवे ॥४३७॥

(प्रे०) 'तिण्ह' इत्यादि, 'त्रयाणा' भूयस्कारा ऽल्पतरा ऽवस्थितबन्धाना जघन्यः प्रस्तुतत्वादेकजीवाश्रयः कालः समयो भवतीत्युपस्कारः, भूयस्कारादीनामन्यतमस्य बन्धस्याऽनन्तरसमये तदन्यस्य भावात् । तथाहि- कश्चिज्जीवः सप्तप्रकृतितोऽष्टा आयुर्बन्धकाले, पट्प्रकृतितो वा सप्त-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये, एकप्रकृतितः पट् सप्त च यथाक्रम सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये देवभवप्रथमसमये च बध्नाति । ततोऽनन्तरसमये तावतीरेव प्रकृतीर्बध्नाति, तदा भूयस्कारबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो लभ्यते ।

अल्पतरबन्धोऽप्येकसामयिकः, अनन्तरसमये भूयस्कारा ऽवस्थितबन्धयोरन्यतरस्य नियमेन भवनात् । तद्यथा--यदा कश्चिज्जीवोऽष्टप्रकृतितः सप्तप्रकृतीरायुर्बन्धविरमणप्रथमसमये बध्नाति, ततो द्वितीयसमये नियमतोऽवस्थितबन्ध निर्वर्तयति, यद्वा कश्चित् सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये सप्तप्रकृतितः षड् बध्नाति, सोऽनन्तरसमये मृत्वा सप्त बध्नन् भूयस्कारबन्धं विधत्ते, सूक्ष्मसम्पराय एव वा स्थितोऽवस्थितबन्ध निर्वर्तयति, एवं पट्प्रकृतित एका बद्ध्वाऽनन्तरसमये भूयस्कारबन्धमवस्थितबन्ध वा निर्वर्तयति, तेनाऽल्पतरबन्धस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्चोभयथाऽपि काल एकः समयो भवति, उत्कृष्टतस्तु 'अप्पयरस्स परमो वि' इत्यनेन वक्ष्यते ।

अवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयः, अनन्तरसमये भूयस्कारबन्धस्याऽपि भावात् । तथाहि-य आरोहणा-ऽवरोहणसूक्ष्मसम्परायद्वितीयसमय उपशान्तमोहद्वितीयसमये वाऽवस्थितबन्धं सम्पाद्य ततो मृत्वा देवत्वेन समुत्पद्यते, स देवभवप्रथमसमये भूयस्कारबन्धं निर्वर्तयति, षट्प्रकृतित एकप्रकृतितो वा सप्ताना बन्धात् । तदेवमवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः ।

सम्प्रति त्रयाणामपि पदानामुत्कृष्टकालमाह-'अप्पयर ' इत्यादि, अल्पतरबन्धस्य 'परमोऽपि' उत्कृष्टोऽप्येकजीवाश्रयः कालः समयो भवति, अनन्तरसमये भूयस्कारा ऽवस्थितबन्धयोरन्यतरस्य भावात् । तथा द्वौ समयौ भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालः । तथाहि—कश्चिज्जीव उपशान्तमोहतः प्रच्युत्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथमसमय एकप्रकृतितः षड् बध्नातीति तस्य तदानी भूयस्कारबन्धः, द्वितीयसमये च निधनत्व गत्वा देवभवप्रथमसमये पट्प्रकृतितः सप्त बध्नातीति तस्य तदानीमपि भूयस्कारबन्धः, ततः पर त्ववस्थितबन्धो भवति तस्य । तदेव सततं भूयस्कारबन्धो द्वौ समयौ यावद् लभ्यते, न ततः परम् ।

अवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः 'अधिकोदधित्रयस्त्रिंशद्' अन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽधिका उदधीनां=सागरोपमाणां त्रयस्त्रिंशद् भवति, एकजीवापेक्षयाऽऽयुर्बन्धोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् तावन्मात्रे चायुर्बन्धान्तरे सप्तानामेव प्रकृतीनां सतत बन्धात् । अयं तु विशेषः–आयुर्बन्धोत्कृष्टान्तरापेक्षयैकसमयेन न्यूनः कालोऽवस्थितबन्धोत्कृष्टकालत्वेन द्रष्टव्यः, आयुर्बन्धोपरमसमयेऽल्पतरबन्धसद्भावेन द्वितीयसमयतः प्रभृत्यवस्थितबन्धस्य निर्वर्तनात् ॥४३७॥

सम्प्रत्यादेशतो भूयस्कारादिबन्धानां कालमभिधित्सुरादौ तावद् भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः कालमाह—

भूगारप्पयराणं समयो कालो दुहात्थि सव्वासु ।
णवरं जेट्ठो णेओ भूओगारस्स दो समया ॥ ४३८॥
दुपणिंदितसेसु तहा काये णाणतिगदंसणतिगेसु ।
सुक्कभवियसम्मखइ उवसमसण्णीसु आहारे ॥ ४३९ ॥

(प्रे०) '**भूगार०**' इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः 'द्विधा' द्विप्रकारः जघन्योत्कृष्टलक्षणः कालः समयो भवति, कुतः ? इति चेत् , उच्यते इह तावद् यासु नरकगत्यादिमार्गणासूपशमश्रेणिर्नास्ति, तासु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टतोऽपि काल एकसमयो भवति, कासुचिद् नरकगत्यादिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धस्य भवनात् कासुचिच्च वैक्रियकाययोगादिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धस्य भावाद् मार्गणाया एव वोच्छेदात् । यासु मनुष्यगत्यादिमार्गणासूपशमश्रेणिर्भवति, किन्तु देवमनुष्यलक्षणभवद्वयं निरन्तरं न लभ्यते, तास्वपि मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टतः कालः समयो भवति, भूयस्काराल्पतरबन्धयोरनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धस्य निर्वर्तनाद् मार्गणाया एव वोच्छेदात् ।

सामान्येनाभिधायाऽपवादमाह '**णवरं**' इत्यादि, नवरं भूयस्कारबन्धस्य 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, कासु मार्गणासु ? इत्यत आह–'**दुपणिदि०**' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकायेषु तथा काययोगसामान्ये ज्ञानत्रिके=मतिज्ञान श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञानरूपे ज्ञानत्रये दर्शनत्रिके=चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनाख्ये च मार्गणात्रिके शुक्ललेश्या-भव्यसम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वौ पशमिकसम्यक्त्व-सञ्ज्ञिषु तथाऽऽहारकमार्गणायाम् ,उक्तमार्गणानामुपशमश्रेणौ तथा देवमनुष्याख्ययोरुभयोर्गत्योर्लाभेनौघवद् यथोक्तकालस्य सुघटत्वात् । भावार्थः पुनरयम्--आयुर्बन्धप्रारम्भात् प्राग् आयुर्बन्धसमाप्तितः परं वाऽन्तर्मुहूर्तं यावद् या मार्गणा न परावर्तन्ते, तासु यद्यष्टप्रकृतीरेवाश्रित्य भूयस्कारबन्धो जायते, तर्हि भूयस्कारा-ऽल्पतरयोरन्यतरबन्धस्याऽनन्तरसमये नियमतस्तासु मार्गणास्ववस्थितबन्धो जायते, भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोर्यथाक्रममायु-

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

सम्प्रत्येकजीवाश्रितस्य कालद्वारस्याऽवसरः प्राप्तः । तत्रादौ तावदोघतो भूयस्कारादिपदानां कालमाह—

तिण्ह जहण्णो समयो अप्पयरस्स परमो वि दो समया ।
भूगारस्स अट्ठियुदहितेत्तीसा-ऽवट्ठिअस्स भवे ॥४३७॥

(प्रे०) 'तिण्ह' इत्यादि, 'त्रयाणां' भूयस्कारा ऽल्पतरा ऽवस्थितबन्धानां जघन्यः प्रस्तुतत्वादेकजीवाश्रयः कालः समयो भवतीत्युपस्कारः, भूयस्कारादीनामन्यतमस्य बन्धस्याऽनन्तरसमये तदन्यस्य भावात् । तथाहि- कश्चिज्जीवः सप्तप्रकृतितोऽष्टा आयुर्बन्धकाले, षट्प्रकृतितो वा सप्ता-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये, एकप्रकृतितः षट् सप्त च यथाक्रम सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये देवभवप्रथमसमये च बध्नाति । ततोऽनन्तरसमये तावतीरेव प्रकृतीर्बध्नाति, तदा भूयस्कारबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो लभ्यते ।

अल्पतरबन्धोऽप्येकसामयिकः, अनन्तरसमये भूयस्कारा ऽवस्थितबन्धयोरन्यतरस्य नियमेन भवनात् । तद्यथा--यदा कश्चिज्जीवोऽष्टप्रकृतितः सप्तप्रकृतीरायुर्बन्धविरमणप्रथमसमये बध्नाति, ततो द्वितीयसमये नियमतोऽवस्थितबन्ध निर्वर्तयति, यद्वा कश्चित् सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये सप्तप्रकृतितः षड् बध्नाति, सोऽनन्तरसमये मृत्वा सप्त बध्नन् भूयस्कारबन्धं विधत्ते, सूक्ष्मसम्पराय एव वा स्थितोऽवस्थितबन्ध निर्वर्तयति, एवं षट्प्रकृतित एका बद्ध्वाऽनन्तरसमये भूयस्कारबन्धमवस्थितबन्ध वा निर्वर्तयति, तेनाऽल्पतरबन्धस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्चोभयथाऽपि काल एकः समयो भवति, उत्कृष्टतस्तु 'अप्पयररस परमो वि' इत्यनेन वक्ष्यते ।

अवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयः, अनन्तरसमये भूयस्कारबन्धस्याऽपि भावात् । तथाहि-य आरोहणा-ऽवरोहणसूक्ष्मसम्परायद्वितीयसमय उपशान्तमोहद्वितीयसमये वाऽवस्थितबन्धं सम्पाद्य ततो मृत्वा देवत्वेन समुत्पद्यते, स देवभवप्रथमसमये भूयस्कारबन्धं निर्वर्तयति, षट्प्रकृतित एकप्रकृतितो वा सप्तानां बन्धात् । तदेवमवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः ।

सम्प्रति त्रयाणामपि पदानामुत्कृष्टकालमाह—'अप्पयर ' इत्यादि, अल्पतरबन्धस्य 'परमोऽपि' उत्कृष्टोऽप्येकजीवाश्रयः कालः समयो भवति, अनन्तरसमये भूयस्कारा ऽवस्थितबन्धयोरन्यतरस्य भावात् । तथा द्वौ समयौ भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालः । तथाहि—कश्चिज्जीव उपशान्तमोहतः प्रच्युत्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथमसमय एकप्रकृतितः षड् बध्नातीति तस्य तदानी भूयस्कारबन्धः, द्वितीयसमये च निधनत्व गत्वा देवभवप्रथमसमये षट्प्रकृतितः सप्त बध्नातीति तस्य तदानीमपि भूयस्कारबन्धः, ततः पर त्ववस्थितबन्धो भवति तस्य । तदेव सततं भूयस्कारबन्धो द्वौ समयौ यावद् लभ्यते, न ततः परम् ।

अवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः 'अधिकोदधित्रयस्त्रिंशद्' अन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽधिका उदधीनां=सागरोपमाणां त्रयस्त्रिंशद् भवति, एकजीवापेक्षयाऽऽयुर्बन्धोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् तावन्मात्रे चायुर्बन्धान्तरे सप्तानामेव प्रकृतीना मतत बन्धात् । अय तु विशेषः–आयुर्बन्धोत्कृष्टान्तरापेक्षयैकसमयेन न्यूनः कालोऽवस्थितबन्धोत्कृष्टकालत्वेन द्रष्टव्यः, आयुर्बन्धोपरमसमयेऽल्पतरबन्धसद्भावेन द्वितीयसमयतः प्रभृत्यवस्थितबन्धस्य निर्वर्तनात् ।।४३७।।

सम्प्रत्यादेशतो भूयस्कारादिबन्धानां कालमभिधित्सुरादौ तावद् भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः कालमाह—

भूगारप्पयराणं समयो कालो दुहात्थि सव्वासुं ।
णवरं जेट्ठो णेयो भूओगारस्स दो समया ॥ ४३८॥
दुपणिंदितसेसु तहा काये णाणतिगदंसणतिगेसुं ।
सुक्कभवियसम्मखइ उवसमसण्णीसु आहारे ॥ ४३९ ॥

(प्रे०) **'भूगार०'** इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः 'द्विधा' द्विप्रकारः जघन्योत्कृष्टलक्षणः कालः समयो भवति, कुतः ? इति चेत् , उच्यते इह तावद् यासु नरकगत्यादिमार्गणासूपशमश्रेणिर्नास्ति, तासु मार्गणासु भूयस्कारात्पतरबन्धयोरुत्कृष्टतोऽपि काल एकसमयो भवति, कासुचिद् नरकगत्यादिमार्गणासु भूयस्कारात्पतरबन्धयोरनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धस्य भवनात् कासुचिच्च वैक्रियकाययोगादिमार्गणासु भूयस्कारात्पतरबन्धयोरनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धस्य भावाद् मार्गणाया एव वोच्छेदात् । यासु मनुष्यगत्यादिमार्गणासूपशमश्रेणिर्भवति, किन्तु देवमनुष्यलक्षणभवद्वयं निरन्तरं न लभ्यते, तास्वपि मार्गणासु भूयस्कारात्पतरबन्धयोरुत्कृष्टतः कालः समयो भवति, भूयस्कारात्पतरबन्धयोरनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धस्य निर्वर्तनाद् मार्गणाया एव वोच्छेदात् ।

सामान्येनाभिधायाऽपवादमाह **'णवरं'** इत्यादि, नवरं भूयस्कारबन्धस्य 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, कासु मार्गणासु ? इत्यत आह–**'दुपणिंदि०'** इत्यादि, पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकायेषु तथा काययोगसामान्ये ज्ञानत्रिके=मतिज्ञान श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञानरूपे ज्ञानत्रये दर्शनत्रिके=चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनाख्ये च मार्गणात्रिके शुक्ललेश्या-भव्यसम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिषु तथाऽऽहारकमार्गणायाम् ,उक्तमार्गणानामुपशमश्रेणौ तथा देवमनुष्याख्ययोरुभयोर्गत्योर्लाभेनौघवद् यथोक्तकालस्य सुघटत्वात् । भावार्थः पुनरयम्--आयुर्बन्धप्रारम्भात् प्राग् आयुर्बन्धसमाप्तितः परं वाऽन्तर्मुहूर्तं यावद् या मार्गणा न परावर्तन्ते, तासु यद्यष्टप्रकृतीरेवाश्रित्य भूयस्कारबन्धो जायते, तर्हि भूयस्कारा-ऽल्पतरयोरन्यतरबन्धस्याऽनन्तरसमये नियमतस्तासु मार्गणास्ववस्थितबन्धो जायते, भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोर्यथाक्रममायु-

बन्धप्रारम्भतदुपरसमयोः प्रथमसमये प्राप्यमाणत्वेनाऽनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धस्य न्याय्यत्वात् । ताश्च मार्गणा नामत इमाः-नरकगतिसामान्य प्रथमपृथिवीनरकप्रभृतिसप्तनरक पञ्चतिर्यग्भेदा-ऽपर्याप्त-मनुष्य-त्रिंशद्देवभेदाः पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जेन्द्रियभेदाः सप्तदश त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायवर्जकायभेदाश्चत्वारिंशत् स्त्री नपुंसक-पुरुषवेदा अज्ञानत्रयं सामायिकसयम-च्छेदोपस्था-पनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरता-ऽविरत-सास्वादनमार्गणाः शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्च-कमभव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्वा ऽसंज्ञिनश्चेति ।

या मार्गणा आयुर्बन्धसमाप्तितः प्राक् परित्यज्यन्तेऽपि, तन्मार्गणागतजीवैस्तासु मार्ग-णासु यद्यष्टप्रकृतीरेव प्रतीत्य भूयस्कारबन्धो भवेत् , तर्हि तासु मार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयो-रन्यतरस्यानन्तरसमये मार्गणायाः परावृत्तिरवस्थितबन्धो वा भवति, तेन तासु मार्गणासु भूयस्का-राऽल्पतरबन्धयोर्द्विविधोऽपि काल एकसमयो लभ्यते । यथा कश्चिद् वैक्रियकाययोगस्थायुर्बन्ध प्रारभते, ततः प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं सम्पादयति, ततो द्वितीयसमये तु योगान्तरं गतः, तेन तस्यां मार्गणाया भूयस्कारबन्धस्य काल एकसमयः, अथवा द्वितीयसमये वैक्रियकाय-योगे सत्यप्यवस्थितबन्धं निर्वर्तयति, अष्टप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकालस्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । एवमल्पतरबन्धकालोऽपि भावनीयः । एताश्च मार्गणा नामत इमाः-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारकका-ययोग-तन्मिश्रकाययोगा लोभवर्जकषायत्रिकं चेति ।

पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-केवलवर्जदर्शनत्रिक-शुक्ललेश्या-भव्य- सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिक-सम्यक्त्व-संज्ञ्या हारकेषु भूयस्कारबन्धस्य जघन्यत एकसमयः, अनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धस्य भव-नात् , उत्कर्षतः पुनः समयद्वयम् , भावना त्वोघवत् कार्या । अल्पतरबन्धस्य तु द्विविधोऽपि कालः समयः, एतासु मार्गणासु सप्तप्रकृत्यपेक्षयाऽल्पतरबन्धे जातेऽनन्तरसमये नियमतोऽवस्थितबन्धस्य भावात् , षट्प्रकृत्यपेक्षयैकप्रकृत्यपेक्षया वाऽल्पतरबन्धे जाते तद्भवेऽनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धस्य भावाद् मरणानन्तर च देवगतिप्राप्तानां भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनात् ।

शेषासु मनुष्यादिमार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोर्जघन्योत्कृष्टकालः समयो भवति, अनन्तरसमये तत्तन्मार्गणापरावृत्तेरवस्थितबन्धसद्भावाद्वा । तथाहि-मनुष्यगतिमार्गणायां यः कश्चि-ज्जीवः सप्तप्रकृतितोऽष्टौ बध्नाति, स द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्ध निर्वर्तयति । यः पुनरेकप्रकृ-तितः षट् षट्प्रकृतितो वा सप्त बध्नाति, सोऽनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धमुपरचयति, यद्वा काल कृत्वा मनुष्यगतिमार्गणा परित्यजति । तेन मनुष्यगतिमार्गणायां भूयस्कारबन्धस्य कालः समयो लभ्यते । मनुष्यमार्गणाया यः कश्चिदष्टप्रकृतितः सप्तप्रकृतीर्बध्नाति, स द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं करोति, यद्वा यः सप्तत. षट् ,षट्प्रकृतितो वैका बध्नाति,सोऽप्यऽनन्तरसमयेऽवस्थितबन्धं निर्वर्तयति, यद्वा कालं कृत्वा तन्मार्गणामेव परित्यजति, तेन मनुष्यगतिमार्गणायामल्पतरबन्धकाल एक समयो लभ्यते ।

एवं पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणास्वपि भावनीयः, नवरं पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोगेषु मरणाभावेऽपि तत्तन्मार्गणापरावृत्तेर्भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोरेकसमयो जघन्यकालो लभ्यते।

मनुष्यमार्गणावदपगतवेदमार्गणाया भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः काल एकसमयो भावनीयः, नवरमष्टप्रकृतीराश्रित्य भूयस्कारबन्धकालः सप्तप्रकृतीश्च प्रतीत्याऽल्पतरबन्धकालो न भावनीयः, आयुर्बन्धाभावात् ॥४३८,४३९॥

सम्प्रत्यवस्थितबन्धस्य जघन्यकालमार्याचतुष्केणाह—

तिणरदुपंचिदियतसपणमणवयकायुरालियदुगेसुं ।
विउवे आहारदुगे कम्मणइत्थीणपुंसेसुं ॥ ४४० ॥
गयवेअचउकसायाकसायणाणचउगेसु विब्भंगे ।
संजमसामइएसुं तह छेअम्मि परिहारम्मि ॥ ४४१ ॥
सुहुमाहक्खायेसुं दंसणतिगसुक्कभवियसम्मेसुं ।
खाइअउवसमसासाणसण्णिआहारगियरेसुं ॥४४२॥
कालो अत्थि जहण्णो अवट्ठिअस्स समयो मुहुत्तंतो ।
सेसासु मग्गणासुं गुणवीसुत्तरसयम्मि भवे ॥४४३॥

(प्रे०) 'तिणर०' इत्यादि, मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य मानुषी-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग काययोगसामान्यौ-दारिकका-ययोग-तन्मिश्रकाययोगलक्षणेषु विंशतिमार्गणास्थानेषु वैक्रियकाययोग आहारकद्विके=आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगाख्ये मार्गणाद्वये कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदेष्वपगतवेद-चतुष्कषाया-ऽकषाय-केवलवर्जज्ञानचतुष्केषु विभङ्गज्ञाने संयमसामान्य-सामायिकसंयमयोः छेदोपस्थापनीयसंयमे परिहार-विशुद्धिकसंयमे सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यातसंयमयोर्दर्शनत्रिक-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामा न्यलक्षणासु षड्मार्गणासु क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व सास्वादन-संज्ञ्या हारका ऽनाहारकेषु सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशन्मार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यः कालः समयोऽस्ति । कुतः ? इति चेत्, उच्यते—मनोयोगपञ्चक-वचनयोगपञ्चकौ-दारिककाययोग-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद-क्रोध-मान माया लोभा ऽकषाया ऽवधिज्ञान मनःपर्य-वज्ञान विभङ्गज्ञान-संयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम परिहारविशुद्धिकसंयम सूक्ष्म-सम्पराय-यथाख्यातसंयमा-ऽवधिदर्शन-सास्वादना-ऽनाहारकरूपाणां चतुस्त्रिंशन्मार्गणानां जघन्य स्थितिः समयो भवति, तेन तासु मार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो लभ्यते। अवधिद्विक-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणानां जघन्यकायस्थितिमन्तर्मुहूर्तप्रमाणामभ्युपगच्छतां

माचार्याणां मतेनाऽप्यवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयमात्र एव, उपशान्तमोहाऽऽरोहणसूक्ष्मसम्परायद्वितीयसमये यद्वा प्रतिपातसूक्ष्मसम्परायद्वितीयसमये प्रस्तुतबन्धसम्पादनादूर्ध्वमनन्तरसमये देवलोके भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तनाद्, मनःपर्यवज्ञान सयमसामान्यमार्गणयोश्चाऽप्युच्छेदात्। मनोयोगादिषु कासुचिन्मार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालोऽन्यथाऽपि भावयितुं शक्यते। तद्यथा–कश्चिज्जीव आयुर्बन्धद्विचरमसमयेऽथवोपशान्तमोहद्विचरमसमये यद्वा सूक्ष्मसम्परायद्विचरमसमयेऽनिवृत्तिबादरसम्परायद्विचरमसमये वा योगान्तरतो मनोयोगी जातः, चरमसमये त्ववस्थितबन्ध विदधाति, ततः परं त्वायुर्बन्धाद्युच्छेदादल्पतरादिबन्धम्। तदेवमपि मनोयोगमार्गणायामवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयः प्राप्तः। एवमन्यास्वपि मार्गणासु यथागमं प्रकारान्तरेण भावना कर्तव्या, ग्रन्थगौरवभयाद् नात्र सर्वं वितन्यते।

कषायचतुष्के प्रत्येकं वर्तमानः कश्चित् तत्तत्कषायोदयद्विचरमसमय आयुर्बन्धमारभते, तत आयुर्बन्धद्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं करोति, तृतीयसमये कषायपरावृत्तेस्तज्जीवापेक्षयाऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते। यद्वा मनुष्यगत्यादिषु कश्चिद् जीव एकप्रकृत्यपेक्षयोपशान्तमोहद्वितीयसमये, षट्प्रकृत्यपेक्षया सूक्ष्मसम्परायद्वितीयसमये सप्तप्रकृत्यपेक्षया चाऽनिवृत्तिबादरसम्परायद्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं कृत्वा म्रियते, तदेवमुक्तमार्गणापरित्यजनात् तज्जीवापेक्षयाऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकालः समयो लभ्यते, प्रतिपाताऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रतिपातसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये भूयस्कारबन्धस्याऽऽरोहणसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहप्रथमसमयेऽल्पतरस्य बन्धस्य भवनात् तृतीयसमये च मनुष्यादिमार्गणानामेवोच्छेदात्।

पञ्चेन्द्रियमार्गणायां कश्चिज्जीवः प्रतिपातसूक्ष्मसम्परायस्याऽऽरोहणसूक्ष्मसम्परायस्य वा द्वितीये समय उपशान्तमोहद्वितीयसमये वाऽवस्थितबन्धं विधाय मृतो देवत्वेनोत्पद्यते, तदाऽवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयो लभ्यते, आरोहणसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धात् प्रतिपातसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये च भूयस्कारबन्धात् तथा देवभवप्रथमसमये भूयस्कारबन्धात्। एवं पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-मतिज्ञान-श्रुतज्ञान चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सञ्ज्या हारकमार्गणासु भावनीयः समयमात्रो जघन्यकालः। काययोगसामान्ये त्ववस्थितबन्धजघन्यकालस्य समयमात्रस्य भावना मनोयोगादिवदपि कार्या। औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामप्यवस्थितबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयो भवति, समुद्घातापन्नसयोगिकेवलिनां समुद्घातद्वितीयसमय औदारिकमिश्रकाययोगदर्शनात्।

आहारकमिश्रकाययोगमार्गणाया तन्मार्गणाकालद्विचरमसमय आयुर्बन्धमारभते, चरमसमये चाऽवस्थितबन्ध करोति, ततो मार्गणोच्छेदात् प्रस्तुतबन्धस्य जघन्यकालः समयः,तथा प्रस्तुतमार्गणाकालद्वितीयसमय आयुर्बन्धविरमणमाश्रित्याऽपि भावनीयो जघन्यकाल.।

शेषास्वेकोनत्रिंशत्यधिकशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालमाह–'मुहुत्तंतो' इत्यादि, शेषासु नवदशोत्तरशतमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य जघन्यकालो 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवेत्, केवलज्ञान-केवलदर्शनमार्गणयोर्जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वाद् वैक्रियमिश्रकाययोगमिश्रमार्गणयोः सप्तप्रकृतिबन्धापेक्षया तद्व्यतिरिक्तमार्गणासु चाष्टप्रकृतिबन्धापेक्षयाऽवस्थितबन्धस्य लाभात्, सप्ताष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानयोश्च जघन्यकालस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रस्योक्तत्वेनाऽवस्थितबन्धस्य तत एकसमयेन हीनकालस्थायित्वात्।

शेषमार्गणाः पुनरिमाः–मनुष्यगतिसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीवर्जगतिभेदचतुश्चत्वारिंशत्क-पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जेन्द्रियभेदसप्तदशक-त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जकायभेदचत्वारिंशत्क वैक्रियमिश्रकाययोग-पुरुषवेदा ऽज्ञानद्विक–केवलज्ञान--देशविरता-ऽविरत--केवलदर्शन--शुक्ललेश्यावर्जलेश्यापञ्चका ऽभव्य क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिश्र मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणा इति ॥४४०-४४३॥

सम्प्रत्यवस्थितबन्धस्यैकजीवाश्रितमुत्कृष्टकालमभिधातुकाम आदौ तावद् नरकगत्यादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्योत्कृष्टकाल प्राह—

हीणा गुरुकायठिई सव्वेसु णिरयदेवभेएसु ।
विब्भंगे सव्वासु लेसासु होइ उक्कोसो ॥४४४॥

(प्रे०) 'ही ' इत्यादि, सर्वेषु निरयभेदेष्वष्टसंख्याकेषु, सर्वेषु देवभेदेषु=त्रिंशन्मार्गणास्थानेषु विभङ्गज्ञाने सर्वासु लेश्यासु सर्वसंख्यया पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु 'उत्कृष्टः' प्रक्रमादवस्थितबन्धस्यैकजीवाश्रय उत्कृष्टः कालः 'हीना' अन्तर्मुहूर्तन्यूना 'गुरुकायस्थितिः' उत कायस्थितिर्भवति, सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालस्य तावन्मात्रत्वात् ॥४४४॥

एतर्हि तिर्यग्गत्यादिमार्गणास्ववस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालमभिधित्सुराह–

सव्वेसु तिरियमणुसएगिंदियविगलपंचकायेसु ।
असमत्तपणिंदितसेसु साहिया भवठिई जेट्ठा ॥४४५॥

(प्रे०) 'सव्वेसु' इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वतिर्यक्षु=पञ्चसु तिर्यग्भेदेषु च मनुष्यभेदेषु सप्तस्वेकेन्द्रियभेदेषु नवसु विकलेन्द्रियभेदेष्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय एकोनचत्वारिंशत्पञ्चकाय मार्गणाभेदेष्वपर्याप्तत्रसे चाऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः 'साधिका' अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यवर्जासु सप्तसु प्रोक्तगतिमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेन शेषासु पुनरन्तर्मुहूर्तन्यूनतत्तन्मार्गणागतजीवभवस्थितित्रिभागेनाऽधिका 'भवस्थितिः' तत्तन्मार्गणावर्तिजीवोत्कृष्टभवस्थितिर्बोध्या, सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानकालस्य तावन्मात्रत्वात् ॥४४५॥

अथ मनोयोगादिमार्गणासु प्रस्तुतकालं व्याहरति—

पणमणवयुरलमीसगविउवाहारदुगचउकसायेसु ।
मीसुवसमसुहुमेसु अन्तमुहुत्तं मुणयव्वो ॥४४६॥

(प्रे०) 'पण०' इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग चतुष्कषायेषु मिश्रौ-पशमिकसम्यक्त्व-सूक्ष्मसम्परायेषु चाऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यः, यत औदारिकमिश्रवर्जानामुक्त-मार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽस्ति, तेन तासु प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति,नाधिकः। औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणाया यद्यप्युत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽस्ति, तथापि सा नाना-भवापेक्षया भवति, तेन कायस्थितिमध्येऽनेकशोऽष्टप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकाले भूयस्कारबन्धो जायते, तस्मादिहौदारिकमिश्रकाययोगेऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः कायस्थितिमात्रो न बोध्यः, किन्तु साधि-काऽपर्याप्तजीवभवस्थितिमात्रो बोद्धव्यः ॥४४६॥

अथ काययोगसामान्यौदारिककाययोगयोः प्रस्तुतकालं प्राह—

देसूणतिभागाहिअजेट्ठपुहविभवठिई भवे काये ।
पुढवीजेट्ठभवठिई देसूणा होइ ओराले ॥४४७॥

(प्रे०) 'देसूण०'इत्यादि, काययोगसामान्यमार्गणायामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो देशोनत्रि-भागाधिकज्येष्ठपृथिवीकायभवस्थितिर्भवेत् , काययोगे सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालस्याऽन्त-र्मुहूर्तन्यूनत्रिभागाधिकपृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितिमात्रत्वात् ।

औदारिककाययोगमार्गणायामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो 'देशोना' अन्तर्मुहूर्तकालेन न्यूना 'पृथिवीज्येष्ठभवस्थितिः' पृथिवीकायस्योत्कृष्टभवस्थितिर्द्वाविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणा भवति, प्रस्तुत-मार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालस्य यथोक्तमानत्वात् ॥४४७॥

सम्प्रति कार्मणकाययोगादिमार्गणासु प्रस्तुतकालमाह—

उक्कोसा कायठिई कम्मे सासायणे अणाहारे ।
थीए पंचावण्णा पलियाऽब्भहिया मुणेयव्वो ॥४४८॥

(प्रे०) 'उ े र' इत्यादि, कार्मणकाययोगे सास्वादनेऽनाहारकमार्गणायां चाऽवस्थित-बन्धस्योत्कृष्टकाल उत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, सास्वादनमार्गणायामावलिकाषट्कं यावत् सप्तप्रकृतीनां बन्धात् शेषयोश्च मार्गणयोः समयत्रिकं यावत् सप्तप्रकृतीनां केवलिसमुद्घाते वैकस्याः प्रकृतेर्बन्धात् ।

स्त्रीवेदमार्गणायामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽभ्यधिकानि पञ्च-पञ्चाशत्पल्योपमानि ज्ञातव्यः, सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानोत्कृष्टकालस्य तावन्मात्रत्वात् ॥४४८॥

इदानीमपगतवेदादिष्वेकादशसु मार्गणासु प्रस्तुतकालं प्रचिकटयिषुराह—

देसूणपुव्वकोडी अवेअअकसायकेवलदुगेसुं ।
मणणाणसंजमेसुं पंचसु सामाइआईसुं ॥४४९॥

(प्रे०) 'देसूण०' इत्यादि, अपगतवेदा-ऽकषाय-केवलद्विकेषु मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-मार्गणयोः 'पञ्चसु सामायिकादिषु' सामायिक-च्छेदोपस्थानीय परिहारविशुद्धिक-यथाख्यात-संयम-देशविरताख्येषु मार्गणाभेदेष्ववस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालो देशोनपूर्वकोटिर्भवति, अपगतवेदा-ऽकषाय-केवलद्विक-यथाख्यातमार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानोत्कृष्टकालस्य शेषासु च सप्तप्रकृत्यात्मक-बन्धस्थानोत्कृष्टकालस्य तावन्मात्रत्वात् । न च संयमसामान्यमार्गणायामप्येकप्रकृत्यात्मकबन्ध-स्थानस्योत्कृष्टकालो देशोनपूर्वकोटिर्लभ्यते, सोऽत्र हेतुतया कुतो नोपन्यस्यत इति वाच्यम्, साति-रेकात् संयमप्रतिपत्तिप्रथमसमयप्रभृतिसूक्ष्मसम्परायचरमसमयपर्यवसानकालाद् असंक्षेप्याद्धायाः स्तोकत्वात् । स्वभवचरमा-ऽन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणायामसंक्षेप्याद्धाया पारभविकायुष्कमवश्यं बध्नाति, आयुष्कबन्धप्रारम्भकाले चाऽवस्थितबन्धं परित्यज्य भूयस्कारबन्धमारभते, तेन संयममार्गणायां सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य कालो देशोनपूर्वकोटीमात्रः संयमकालापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणासंक्षेप्या-द्धान्यूनो लभ्यते । संयममार्गणायामेकप्रकृत्यात्मकस्थानस्योत्कृष्टकालस्त्वित्थं प्राप्यते-संयमप्रतिपत्त्य-नन्तरसमयप्रभृतिक्षपकश्रेण्यारोहणसूक्ष्मसम्परायचरमसमयपर्यवसानलक्षणा-ऽन्तर्मुहूर्तं यावदेकप्रकृत्या-त्मकं स्थानं न बध्यते, तथाऽयोगिकेवलिगुणस्थानकेऽपि न बध्यते । तदेवं संयमकालापेक्षयैक-प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालः सातिरेकेण संयमप्रतिपत्तिप्रथमसमयप्रभृतिसूक्ष्मसम्परायचरम-समयपर्यवसानकालेन न्यूनो देशोनपूर्वकोटीप्रमाणो लभ्यते,अस्मात् सातिरेकात् संयमप्रतिपत्तिप्रथम-समयप्रभृतिसूक्ष्मसम्परायचरमसमयपर्यवसानकालादसंक्षेप्याद्धा स्तोका । तेन संयममार्गणायामव-स्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालः सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानापेक्षया प्रतिपादितः ॥४४९॥

शेषासु चतुर्विंशतिमार्गणासु प्रस्तुतकालमाह—

पुव्वाणेगा कोडी अब्भहिया होअए असण्णिम्मि ।
साहियतेत्तीसुदही तेवीसाएऽत्थि सेसासुं ॥४५०॥

(प्रे०) 'पुव्वाणेगा' इत्यादि, असञ्ज्ञिमार्गणायामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः 'अभ्यधिका' देशोनत्रिभागेनाधिका पूर्वाणामेका कोटिर्भवति, सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानकालस्य तावन्मात्रत्वात् । शेषासु त्रयोविंशतौ मार्गणास्ववस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालः साधिकत्रयस्त्रिंशद् उदधयः=सागरोपमा भवन्ति, तासु सप्तप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्योत्कृष्टकालस्य तावत्प्रमाणत्वात् । शेषमार्गणाः पुनरिमाः– पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायाः पुरुषवेदो नपुंसकवेदो मति-ज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानान्यज्ञानद्विकमविरत चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनानि भव्या ऽभव्यौ सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-र्मिथ्यात्वं संज्ञ्या-हारकाश्चेति । तदेवं गतं कालद्वारम् ॥४५०॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे तृतीयं कालद्वारं समाप्तम् ॥

भूयस्कारादिबन्धकालप्रदर्शियन्त्रम्

भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धाना जघन्यकाल एकसमय,, भूयस्कारस्योत्कृष्टकालो द्वौ समयौ, अल्पतरस्यैकसमयोऽवस्थितस्य च सातिरेका ३३ सागरोपमा । (गाथा ४३७)

काल	भूयस्कारबन्धस्य			अल्पतरबन्धस्य	अवस्थितबन्धस्य		
	जघन्य	उत्कृष्ट		द्विविधोऽपि	जघन्य		उत्कृष्ट
प्रमाणम्	१ समय	२ समयौ	१ समय	१ समय	१ समय,	(अन्तमुहूर्त	देशोनगुरुकायस्थिति
गति	सर्वा' ४७	..	सर्वा ४७	सर्वा. ४७	अपर्याप्तवर्जतिनरा ३	शेषा ४४	सव निरयसुरभेदा ३८
इन्द्रियम्	सर्वा १९	पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ	शेषा' १७	सर्वा १९	पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ २	शेषा १७	
कायः	सर्वा' ४२	त्रसपर्याप्तत्रसौ	शेषा.४०	सर्वा ४२	त्रसपर्याप्तत्रसौ२	शेषाः ४०	
योग	सर्वाः १६	काययोगसामान्य०	शेषा १५	सर्वा. १६	वैक्रियमिश्रवर्जा १७	वैक्रियमिश्र	
वेद'	सर्वा. ४		सर्वा ४	सर्वा ४	पुरुषवर्जा ३	पुरुषवेद	.
कषाय'	सर्वा ४		सर्वा ४	सर्वा ४	सर्वा ५		
ज्ञानम्	सर्वा ७	मतिश्रुतावधि०	शेषा ४	सर्वाः ७	मतिश्रुतावधिमन पर्यव-विभङ्गज्ञानानि	, शेषा ३	विभङ्गज्ञानम्
सयम	सर्वा' ६		सर्वा ६	सर्वा ६	असयमदेश-विरतवर्जा ६	असयमदेशविरतौ	.
दर्शनम्	सर्वा ३	सर्वा		सर्वा ३	केवलवर्जा ३	केवलदर्शनम्	
लेश्या	सर्वा ६	शुक्ला	शेषा ५	सर्वा ६	शु ला १	शेषा ५	सर्वा ६
भव्य	भव्याभव्यौ	भव्य	अभव्य १	भव्यभव्यौ	भव्य १	अभव्य	
सम्यक्त्वम्	सर्वा	सम्यक्त्वसा० क्षायिक० औपशमिक०	शेषा ३	सर्वा ६	सम्यक्त्वसा० क्षायिक० औपशमिक० सास्वादन० ४	शेषा ३	...
सञ्ज्ञी	सञ्ज्यसञ्ज्ञि०	सञ्ज्ञी	असञ्ज्ञी १	सञ्ज्यसञ्ज्ञि०	सञ्ज्ञी १	असञ्ज्ञी १	
आहारक	आहारक	आहारक		आहारक	आहारानाहारौ २	.	
सर्वा	१६५	१८	१४७	१६५	५५	११६	४५
गाथाङ्क	४३७	४३८ ४३९	४३८	४३८	४४०-४४३	४४३	४४४

अवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालप्रदर्शियन्त्रम्

काल	अवस्थितबन्धस्य								
	उत्कृष्टः								
प्रमाणम्	साधिकगुरुभवस्थिति	अन्तर्मुहूर्तम्	देशोनत्रिभागाधिकपृथिवीकायगुरुकायस्थिति	देशोनपृथ्वीकाय-गुरुकायस्थिति	गुरुकाय-स्थिति	साधिकानि ५५पल्योपमानि	देशोनपूर्व-कोटि	साधिक-पूर्वकोटि	३३ सागरोपमाः साधिकाः
गति.	सर्वतिर्यङ्नरा ९			...					
इन्द्रियम्	पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियवर्जा १७								पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ
काय	त्रसपर्याप्तत्रसवर्जा ४०								त्रसपर्याप्तत्रसौ
योग		काययोगौदारिक-कार्मणवर्जा १५	काययोगसा०	औदारिक	कार्मण				
वेद						स्त्रीवेद	अवेद		शेषे २
कषाय		कषाया ४					अकषाय		
ज्ञानम्							मनःपर्यव-केवलज्ञान०	•	शेषा ५
संयम		सूक्ष्मसम्पराय					सूक्ष्मसम्पराय वर्जा ६		असंयम
दर्शनम्							केवलदर्शनम्		शेषा ३
लेश्या							•		
भव्य.			•						भव्याभव्यौ
सम्यक्त्वम्	•	औपशमिक, मिश्र			सास्वादन०				शेषा ४
संज्ञी								असंज्ञी	संज्ञी
आहारक	•				अनाहार				आहारक
सर्वा	६६	२२	१	१	२	१	११	१	२३
गाथाङ्क	४४५	४४६	४४७	४४७	४४८	४४८	४४९	४५०	४५०

॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

सम्प्रत्येकजीवाश्रितान्तरद्वारस्याऽवसरः । तत्रादौ तावदोघतो भूयस्कारादीनामेकजीवाश्रित-जघन्योत्कृष्टान्तरं प्रतिपिपादयिषुराह—

अंतमुहुत्तं अंतरमप्पयरस्स लहुगं खणो दोण्हं ।
जेट्ठं समयदुगमवट्ठिअस्स दोण्हऽहियजलहितेत्तीसा ॥४५१॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'अंतमुहुत्तं' इत्यादि, अल्पतरबन्धस्य 'लघुकं' जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तस्याऽऽयुष्कबन्धजघन्याऽन्तरयुक्तायुष्कबन्धजघन्यकालमात्रत्वात् । भावना पुनरित्थं कार्या-कश्चिद्-पर्याप्तजीवोऽष्टभिराकर्षैरायुष्कं बध्नन् सप्तमाकर्षचरमसमयानन्तरमल्पतरं बन्धं सम्पादयति, आयुष्क-बन्धतो निवृत्तत्वात् । ततः परमष्टमाकर्षस्य प्रथमसमयं यावदवस्थितबन्धं निर्वर्तयति, अष्ट-माकर्षप्रथमसमये तु भूयस्कारबन्धं रचयति, ततोऽवस्थितबन्धम् । अष्टमाकर्षचरमसमयानन्तरं तु भूयोऽल्पतरबन्धं विदधाति, तदेवं सप्तमाष्टमाकर्षयोरन्तरालकालेन सहितोऽष्टमाऽऽकर्षकालोऽन्त-र्मुहूर्तं भवत्यल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरम् ।

'खणो दोण्ह' ति 'द्वयोः' अल्पतरबन्धस्याऽभिहितत्वादवक्तव्यबन्धस्य च विरहाद् भूयस्का-राऽवस्थितबन्धयोर्जघन्यान्तरं 'क्षणः' एकसमयो भवति, भूयस्कारबन्धस्यैकसामयिका-ऽवस्थित-बन्धेनाऽवस्थितबन्धस्य चैकसामयिकेन भूयस्कारबन्धेनाऽल्पतरबन्धेन वा व्यवधानात् । इदमुक्तं भवति—कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितः प्रतिपतितः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमय एकप्रकृतितः षड् बध्नन् भूयस्कारबन्धं निर्वर्तयति, ततो द्वितीयसमये षट्प्रकृतीरेव बध्नन्नवस्थितबन्धमुपरचयति, ततो-ऽनन्तरं मृत्वा देवत्वं गच्छति, तत्र च प्रथमसमये षट्प्रकृतितः सप्त बध्नन् पुनर्भूयस्कारबन्धं निर्वर्तयति, तदेवं सूक्ष्मसम्परायद्वितीयसमयलक्षण एकसमयो भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं लभ्यते ।

अवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरमनेकधा भावयितुं शक्यते । तथाहि—

(१) कश्चिद् जीव आरोहणाऽनिवृत्तिबादरसम्परायचरमसमयेऽवस्थितबन्धं निर्वर्तयति, ततः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धमुपरचयति, द्वितीयसमये पुनरवस्थितबन्धं विदधाति, तदेव-मल्पतरबन्धव्यवधानेन सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयलक्षण एकसमयोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं लभ्यते ।

(२) यद्वा कश्चिज्जीव आरोहणसूक्ष्मसम्परायचरमसमयेऽवस्थितबन्धं सम्पादयति, तत उप-शान्तमोहप्रथमसमये षट्प्रकृतित एकां प्रकृतिं बध्नाति, द्वितीयसमये पुनरवस्थितबन्धं निर्वर्तयति, तदेवमप्यल्पतरबन्धव्यवधानेनाऽवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः प्राप्यते ।

(३) अथवा कश्चिद् जीव उपशान्तमोहचरमसमयेऽवस्थितबन्धं करोति, ततः प्रतिपातसूक्ष्म-सम्परायप्रथमसमये भूयस्कारबन्धं रचयति, ततो द्वितीयसमये पुनरवस्थितबन्धं विदधाति, तदेवं

भूयस्कारबन्धव्यवधानेन प्रतिपातसूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयलक्षण एकसमयोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं लभ्यते ।

(४) यद्वा कश्चिज्जीवः प्रतिपातसूक्ष्मसम्परायचरमसमयेऽवस्थितबन्धं निर्वर्तयति, ततोऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमये भूयस्कारबन्धं विदधाति, ततो द्वितीयसमये पुनरवस्थितबन्धमुपरचयति । तदेवं भूयस्कारबन्धव्यवधानेनाऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयलक्षण एकसमयोऽवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरमासाद्यते ।

(५) एवमायुष्कबन्धप्रथमसमयेनाऽऽयुष्कबन्धविरमणप्रथमसमयेन चाऽवस्थितबन्धस्य व्यवधानादप्यवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो लभ्यते ।

अथाल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरं भाव्यते—कश्चिज्जीवः सप्तमाकर्षेणायुर्बद्ध्वा तद्विरमणप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धं निर्वर्तयति । ततोऽनन्तरसमयात् प्रभृत्यवस्थितबन्धमायुर्बन्धान्तरप्रमाणान्तर्मुहूर्तकाल यावद् विधायाष्टमाकर्षप्रथमसमये भूयस्कारबन्ध सम्पाद्यायुष्कबन्धविरमणसमये भूयोऽल्पतरबन्ध विरचयति । एवमल्पतरबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं लभ्यते । यद्वा कश्चिज्जीवः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयेऽल्पतरबन्ध विधायान्तर्मुहूर्तं व्यतिक्रम्योपशान्तमोहगुणस्थानकप्रथमसमये भूयोऽल्पतरबन्धं विरचयति । एवमल्पतरबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमात्र भवति । एतयोर्यत् स्तोकतरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तदिहाल्पतरबन्धजघन्यान्तरत्वेन ग्राह्यम् ।

सम्प्रत्युत्कृष्टान्तरं व्याहर्तुकाम आह—'जेट्ठ' इत्यादि, 'ज्येष्ठम्' उत्कृष्टान्तरं समयद्विकमवस्थितबन्धस्य भवति, भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालस्य समयद्वयमात्रत्वाद् भूयस्कारबन्धेन चाप्यवस्थितबन्धस्य व्यवधानात् । तथाहि—कश्चिज्जीव उपशान्तमोहचरमसमयेऽवस्थितबन्धमुपरचयति, ततः पतित्वा सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमय एकप्रकृतितः षट्प्रकृतीर्बध्नन् भूयस्कारबन्धं सम्पादयति, ततः कालं कृत्वा देवतयोत्पन्नः प्रथमसमये षट्प्रकृतितः सप्तप्रकृतीर्बध्नन् भूयस्कारबन्धं विदधाति, तदनन्तरसमये पुनरवस्थितबन्धं करोति, तेनाऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं द्वौ समयौ लभ्यते । यद्वा कश्चिज्जीवोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकेऽवस्थितबन्धं विधाय सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथमसमयेऽथवा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकेऽवस्थितबन्धं कृत्वोपशान्तमोहगुणस्थानकप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धमुपरचयति, ततो मृत्वा देवत्वेनोत्पन्नो भूयस्कारबन्धं निर्वर्तयति, तदनन्तर पुनरवस्थितबन्धं विदधाति, तदेवमप्यवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं द्वौ समयौ लभ्यते । 'दोण्ह' इत्यादि, 'द्वयोः' अवस्थितबन्धस्योक्तत्वात् भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरम् 'अधिका' अन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽभ्यधिका जलधित्रयस्त्रिंशत्=सागरोपमत्रयस्त्रिंशद् भवति, अवस्थितबन्धस्योत्कृष्टकालस्य सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् सातिरेकाऽवस्थितबन्धोत्कृष्टकालेन च भूयस्काराल्पतरयोरन्यतरस्य व्यवधानात् । तथाहि—भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्त-

रमवस्थितबन्धोत्कृष्टकालापेक्षया पौर्वभविकाऽऽयुष्कबन्धाद्धयाऽधिकं बोद्धव्यम्, अल्पतरबन्धस्य त्वौत्तरभविकायुष्कबन्धाद्धयाऽधिकं ज्ञातव्यम् । इदमुक्तं भवति–कश्चित् पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यस्तिर्यङ् वा स्वायुषि त्रिभागावशेषे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं पारभविकमायुष्कं बध्नन् प्रथमसमये भूयस्कारबन्धं रचयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तमवस्थितबन्धं विधाय समयमेकं यावदल्पतरबन्धं करोति, ततोऽवस्थितबन्धं तावद् निर्वर्तयति, यावद् देवनारकान्यतरलक्षण उत्तरभव आयुष्कं न बध्नाति, ततो देवनारकान्यतरभवस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रे शेषे पारभविकमायुष्कं बध्नन् भूयो भूयस्कारबन्धं सम्पादयति । तदेवं भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमितं लभ्यते । एवमल्पतरबन्धस्याप्युत्कृष्टान्तरं भावनीयम्, नवरं मनुष्यतिर्यग्भव आयुष्कबन्धविरमणानन्तरसमयादन्तरं प्रारभ्यते, देवनारकभवे चाऽऽयुर्बन्धविरमणप्रथमसमयेऽन्तरं व्यवच्छिद्यते, तदानीं भूयोऽल्पतरबन्धात् ॥४५१॥

सम्प्रत्यादेशतो भूयस्कारादिबन्धानामन्तरं व्याख्येयम् । तत्रादौ यासु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं नास्ति, ता मार्गणाः संगृह्य प्राह—

भूगारप्पयराणं ण अंतरं होइ पणमणवयेसुं ।
विउवे आहारदुगे कसायचउगम्मि सासाणे ॥४५२॥

(प्रे०) 'भूगारप्पयराणं' इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगेषु वैक्रियकाययोगे 'आहारकद्विके' आहारककाययोग–तन्मिश्रकाययोगलक्षणे काययोगद्वये कषायचतुष्के सास्वादनमार्गणायां च सर्वसंख्ययाऽष्टादशमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं न भवति, तासु द्विरायुर्बन्धाभावात् पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगानां च कालस्य सूक्ष्मसम्परायकालतो हीनत्वात् । एतदुक्तं भवति-यदि मनोयोगादिमार्गणासु द्विरायुर्बन्धो भवेत्, तर्हि भवेदेतासु मार्गणासु भूयस्कारबन्धा-ऽल्पतरबन्धयोरन्तरम्, द्विर्भूयस्कारबन्धनिर्वर्तनात्, द्विश्चाऽल्पतरबन्धस्य विरचनात्, किन्तु नास्त्येतासु द्विरायुर्बन्धः, तेन नास्त्येतासु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरम् । द्विरायुर्बन्धाभावे यद्यपि भूयस्कारबन्धस्याऽवरोहणसूक्ष्मसम्परायकालेनाऽल्पतरबन्धस्यारोहणसूक्ष्मसम्परायकालेन व्यवधानं संभवति, तथापि सूक्ष्मसम्परायकालतः पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगानां कालस्य हीनत्वात् पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगेषु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरं न सम्भवति ॥४५२॥

प्रोक्ताष्टादशमार्गणासु प्रस्तुतान्तरस्य निषिद्धत्वाद् वैक्रियमिश्रकाययोगादिनवमार्गणासु च भूयस्काराल्पतरबन्धयोरभावात् सप्तचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु (१४७) भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोर्बन्धान्तरमाह—

सेसासु मुहुत्तंतो लहुं णवरि जासु जेट्ठगो कालो ।
भूयारस्स दुसमया तासु लहुं तस्स समयोऽत्थि ॥४५३॥

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, 'शेषासु' नरकगतिसामान्यादिमार्गणासु भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोर्जघन्यान्तरं 'मुहूर्तान्तर' अन्तर्मुहूर्तं भवति । सम्प्रत्यपवादमाह–'णवरि' इत्यादि, नवरं यासु पञ्चेन्द्रियाद्यष्टादशमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालो द्विसमयो भणितोऽष्टात्रिंशदधिकचतुश्शततमादिगाथाभ्याम्, तासु मार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयोऽस्ति, तत्र भूयस्कारबन्धस्याऽवस्थितबन्धेन व्यवहितत्वाद् अवस्थितबन्धस्य च जघन्यकालस्यैकसमयप्रमाणत्वात् । इदमुक्तं भवति-सप्तचत्वारिंशद्गतिभेदेषु पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जेषु सप्तदशस्विन्द्रियभेदेषु त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायरहितासु चत्वारिंशति कायभेदेष्वौदारिकद्विके वेदत्रयेऽपगतवेदे मनःपर्यवज्ञाने-ऽज्ञानत्रये संयमसामान्य सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरता-ऽविरतमार्गणासु शुक्ललेश्यावर्जासु पञ्चसु लेश्यास्वभव्यमार्गणायां क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्वयोरसंज्ञिमार्गणायां च सर्वसंख्ययैकोनत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोर्जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, अपगतवेदवर्जास्वेतासु मार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमायुष्कबन्धान्तरकालयुक्ता-ऽऽयुष्कबन्धकालेन व्यवधानात् तस्य च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । भावना तु सुगमा, तथाहि–कश्चिज्जीव आयुष्कबन्धसप्तमाकर्षप्रथमसमये भूयस्कारबन्धं करोति । तत आयुष्कबन्धकालमायुष्कबन्धजघन्यान्तरकालं च व्यतिक्रम्याऽष्टमाकर्षप्रथमसमये भूयो भूयस्कारबन्धं निर्वर्तयति, तेन भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, एवमल्पतरबन्धस्याऽप्यन्तरं भावनीयम्, नवरं सप्तमाकर्षेण बध्यमानायुष्कबन्धविरमणानन्तरसमयादन्तरं प्रारभ्यते, अष्टमाकर्षेण च क्रियमाणस्यायुष्कबन्धस्य विरमणप्रथमसमये नश्यतीति वक्तव्यम् ।

अपगतवेदमार्गणाया पुनः कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितः प्रतिपतितः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमय एकप्रकृतितः षट्प्रकृतीर्बध्नन् भूयस्कारबन्धं निर्वर्तयति, ततः क्रमेण सूक्ष्मसम्परायस्याऽन्तर्मुहूर्तकालं व्यतिक्रम्याऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमय प्राप्तः षट्प्रकृतितः सप्त बध्नन् भूयो भूयस्कारबन्धं सम्पादयति, तदेवं भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते । कश्चिज्जीवः क्षपकश्रेणिं वोपशमश्रेणिं वा प्रतिपन्नः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये सप्तप्रकृतितः षड् बध्नन्नल्पतरबन्धं निर्वर्तयति । ततः क्रमेण क्षीणमोहं वोपशान्तमोहं वा प्राप्तः प्रथमसमये भूयोऽल्पतरबन्धं सम्पादयति, षट्प्रकृतित एकस्या बन्धात् । तदेवमपगतवेदमार्गणायामल्पतरबन्धस्याऽपि जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते ।

पञ्चेन्द्रियसामान्य–पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय–काययोगसामान्य-मनः-पर्यवकेवलज्ञानवर्जज्ञानत्रय -केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रय--शुक्ललेश्या-भव्य - सम्यक्त्वसामान्य–क्षायिक-

सम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व संज्ञ्या-हारकमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, तासु भूयस्कारबन्धस्याऽवस्थितबन्धेनाऽन्तरितत्वात् तस्य च जघन्यत एकसामयिकत्वात् । प्रोक्ताष्टादश-मार्गणास्वल्पतरबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । एतासु च पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु भूयस्का-राल्पतरबन्धयोर्भावना त्वोघवत् कार्या ॥४५३॥

एतर्ह्यवस्थितबन्धस्यान्तरं भणितुकाम आदौ तावद् वैक्रियमिश्रकाययोगादिषु प्रस्तुतान्तर निषेधन् शेषासु च जघन्योत्कृष्टान्तर भणति—

वेउव्वमीसजोगे कम्मे अकसायकेवलदुगेसु ।
सुहुमाहक्खायेसुं मीसम्मि तहा अणाहारे ॥४५४॥
अंतरमवट्ठिअस्स ण समयो सेसासु होइ ह्स्सियरं ।
णवरि तहि गुरुं दुखणा जहि भूगारस्स दो खणा कालो॥४५५॥(गीतिः)

(प्रे०) 'वेउव्वमीसजोगे' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगे कार्मणकाययोगेऽकषायमार्ग-णायां केवलद्विके सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यातसंयमयोर्मिश्रमार्गणायां तथाऽनाहारकमार्गणाया-मवस्थितबन्धस्याऽन्तरं न भवति, कार्मणकाययोगाऽनाहारकवर्जासूक्तमार्गणास्वेकस्यैव बन्धस्था-नस्य सद्भावेन व्यवधानाभावात्, कार्मणाऽनाहारकयोश्च बन्धस्थानद्वयस्य सद्भावेऽपि सप्तविध-बन्धस्य विग्रहगतौ लाभेनैकविधबन्धस्य पुनः केवलिसमुद्घातावस्थायां लभ्यमानत्वेनाऽन्यो-ऽन्यस्य व्यवधानाभावात् ।

शेषास्ववस्थितबन्धान्तरमाह-'समयो' इत्यादि, शेषासु पञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणास्ववस्थि-तबन्धस्य ह्रस्वं=जघन्यम्, इतरत्=उत्कृष्टं चाऽन्तर समयो भवति, नवर तासु मार्गणासु 'गुरु' अवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तर 'द्विक्षणौ' द्वौ समयौ भवति, यास्वष्टात्रिंशदधिकचतुश्शततमादिगाथो-क्तासु पञ्चेन्द्रियादिष्वष्टादशमार्गणासु भूयस्कारबन्धस्य कालः 'द्वौ क्षणौ' द्विसमयप्रमाण उक्तः । भावार्थः पुनरयम्-वैक्रियमिश्रकाययोगादिवर्जासु सर्वासु नरकगत्यादिषु पञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणास्व-वस्थितबन्धस्य भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरन्यतरेण व्यवधानाद् भूयस्कार-ऽल्पतरबन्धयोश्च प्रत्येक जघन्यकालस्यैकसमयप्रमाणत्वादवस्थितबन्धस्य जघन्यान्तरमेकसमयो भवति । तथा पञ्चेन्द्रि-यादिमार्गणाऽष्टादशके भूयस्कारबन्धोत्कृष्टकालस्य द्विसमयप्रमाणत्वादवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं द्विसमयमात्र भवति, शेषासु सप्तचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टका-लस्याऽपि समयमात्रत्वादवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरमेकसमयो लभ्यते ॥४५५॥

सम्प्रति भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरस्याऽवसरः । तत्राऽपगतवेदौपशमिकसम्यक्त्व-वर्जासु यासु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्जघन्यान्तर प्राप्यते, तासु मार्गणासु भूयस्काराल्पत-

रबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं सातिरेकायुष्कबन्धोत्कृष्टान्तरमात्र भवति, भूयस्कारऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं सातिरेकायुष्कबन्धोत्कृष्टान्तरकालेन व्यवधानात् । इदन्त्ववधेयम्—भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्तरमायुष्कबन्धोत्कृष्टान्तरापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणया पौर्वभविकायुष्कबन्धाद्धयाऽधिकं वाच्यम् , आयुष्कबन्धद्वितीयसमयतः प्रभृति भूयस्कारबन्धान्तरप्रारम्भादायुष्कबन्धोत्कृष्टान्तरस्य त्वायुष्कबन्धविरमणसमयतः प्रभृति प्रारम्भात् । एवमल्पतरबन्धान्तरमायुष्कबन्धोत्कृष्टान्तरापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणयोत्तरभविकायुष्कबन्धाद्धयाऽधिकं वक्तव्यम्, आयुष्कबन्धविरमणसमयेऽल्पतरबन्धेनाऽन्तरव्याघातात्, आयुष्कबन्धोत्कृष्टान्तरस्य त्वायुष्कबन्धप्रथमसमये व्यवच्छेदात् । भावना त्वायुष्कबन्धान्तरवत् कार्या, नवरं भूयस्कारबन्धप्ररूपणावसरे पौर्वभविकायुष्कबन्धकालं प्रक्षिप्याऽल्पतरबन्धप्ररूपणावसरे पुनरौत्तरभविकायुष्कबन्धाद्धां निक्षिप्य प्रस्तुतान्तरं भावनीयम् । इदमेव प्रचिकटयिषुरादौ तावद् नरकगत्यादिष्वेकजीवमाश्रित्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरमाह—

भूगाराप्पयराणं उक्कोसं देसऊणछम्मासा ।
सव्वणिरयदेवेसुं पसत्थअपसत्थलेसासुं ॥४५६॥

(प्रे०) 'भूगारा०' इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वनिरयेषु=नरकगतिसामान्यतदुत्तरभेदेष्वष्टसंख्यकेषु मार्गणास्थानेषु सर्वदेवेषु=देवगतिसामान्यतदुत्तरभेदेषु त्रिंशत्संख्याकेषु मार्गणास्थानेषु 'प्रशस्ताप्रशस्तलेश्यासु' तेजोलेश्या-पद्मलेश्या शुक्ललेश्यासु कृष्णलेश्या-नीललेश्या कापोतलेश्यासु च भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं 'देशोनषण्मासाः' अन्तर्मुहूर्तन्यूनषण्मासा भवति, भूयस्कारा ऽल्पतरबन्धयोरायुष्कबन्धसातिरेकोत्कृष्टान्तरेण व्यवधानात् ॥४५६॥

अथ तिर्यग्गतिसामान्यादिमार्गणासु प्रस्तुतान्तर प्राह—

सव्वेसुं तिरियमणुसएगिंदियविगलपंचकायेसु ।
असमत्तपणिंदितसेसु साहिया भवठिई जेट्ठा ॥४५७॥

(प्रे०) 'सव्वेसु' इत्यादि, सर्वेषु तिर्यक्षु=पञ्चसु तिर्यग्भेदेषु सर्वेषु मनुष्येषु=चतुर्षु मनुष्यभेदेषु सर्वेष्वेकेन्द्रियेषु=सप्तस्वेकेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु विकलेन्द्रियेषु=नवसु विकलेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु पञ्चकायेषु=त्रससामान्यपर्याप्तत्रसापर्याप्तत्रसवर्जेष्वेकोनचत्वारिंशत्कायभेदेष्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियेऽपर्याप्तत्रसे च भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमन्तर साधिका ज्येष्ठा भवस्थितिर्भवति, सातिरेकेणाऽऽयुष्कबन्धोत्कृष्टान्तरेण भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्व्यवधानात् ॥४५७॥

सम्प्रति काययोगसामान्य औदारिककाययोगमार्गणाया च प्रस्तुतान्तरमाह—

देसूणतिभागाहियजेट्ठपुहविभवठिई भवे काये ।
उरले भवे तिभागो देसूणो जेट्ठभूभवठिईए ॥४५८॥ (गो :)

(प्रे०) 'देसूण०' इत्यादि, काययोगमार्गणाया भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं देशोनत्रिभागाधिकज्येष्ठपृथिवीकायभवस्थितिर्भवेत्, तस्यामायुष्कबन्धसातिरेकोत्कृष्टान्तरेण भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोर्व्यवधानात् । औदारिककाययोगमार्गणाया भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमेकजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं ज्येष्ठभूभवस्थितेर्देशोनस्त्रिभागो भवति, भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमायुष्कबन्धसाधिकोत्कृष्टान्तरेण व्यवधानात् ॥४५८॥

साम्प्रतमौदारिकमिश्रकाययोगादिमार्गणाचतुष्के भूयस्कारबन्धा ऽल्पतरबन्धयोरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तर भणति—

भिन्नमुहुत्तं हवए उरालमीसगयवेउवसमेसु ।
थीए पंचावण्णा पलिआऽब्भहिया मुणेयव्वं ॥४५९॥

(प्रे०) 'भिन्नमुहुत्तं' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदौ-पशमिकसम्यक्त्वेषु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । तत्रौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणाया सुगमम्, तस्यामायुष्कबन्धसाधिकोत्कृष्टान्तरेण भूयस्कारबन्धा-ऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येक व्यवधानात् । अपगतवेदौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः पुनर्भावनेत्थं कार्या—कश्चिज्जीव उपशमश्रेणि प्रतिपन्नः सूक्ष्मसम्प रायप्रथमसमये सप्तप्रकृतितः षड् बध्नन्नल्पतरबन्धं सम्पादयति, ततोऽनन्तरसमयात् प्रभृत्यवस्थितबन्ध निर्वर्तयन् क्रमेणोपशान्तमोहप्रथमसमय प्राप्तो भूयोऽल्पतरबन्ध विदधाति, पट्प्रकृतित एकस्या बन्धात् । एवमपगतवेदौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोरल्पतरबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं लभ्यते । तच्च समयोनारोहणसूक्ष्मसम्परायकालप्रमाण भवति ।

यदा कश्चिज्जीव उपशमश्रेणितः प्रतिपतितः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये भूयस्कारबन्ध रचयति, एकप्रकृतितः षण्णा बन्धात् । ततोऽनन्तरसमयत आरभ्याऽवस्थितबन्धं कुर्वन् क्रमेणाऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमय प्राप्तो भूयो भूयस्कारबन्धं विदधाति, पट्प्रकृतितः सप्ताना प्रकृतीनां बन्धात् । इत्थमपगतवेदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयन्यूनप्रतिपातसूक्ष्मसम्परायकालमात्रमन्तर्मुहूर्तं भवति ।

स्त्रीवेदमार्गणायां भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽभ्यधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि भवति, आयुष्कबन्धसाधिकोत्कृष्टान्तरेण भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येक व्यवधानात् ॥४५९॥

सम्प्रति मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणाषट्के भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेकजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं व्याहर्तुकामो निगदति—

मणणाणसंजमेसुं देसूणा होइ जेट्ठकायठिई ।
देसपरिहारसमइअछेएसुं पुव्वकोडितंसंतो ॥४६०॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'मणणाण०' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञान संयमसामान्यमार्गणयोर्भूयस्कारा-ऽल्पतर-बन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टान्तर 'देशोना' अन्तर्मुहूर्तकालेन न्यूना ज्येष्ठकायस्थितिर्भवति, कुतः ? इति चेत्, उच्यते–कश्चित् पूर्वकोट्यायुष्कः शीघ्र संयमं प्राप्य जन्मतो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमान उपशम-श्रेणिमारूढः, तेन जीवेनोपशान्तमोहप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धः कृतः, षट्प्रकृतित एकस्या बन्धात् । ततोऽद्धाक्षयेण प्रतिपतति । ततः क्रमेण कालं व्यतिक्रम्य स्वभवायुषि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रे शेषे पारभविकायुष्कं बध्नाति, आयुर्बन्धोपरमेऽल्पतरबन्ध विदधाति, तेन संयमसामान्यमार्गणायामल्पत-रबन्धस्योत्कृष्टान्तर देशोनपूर्वकोटिमात्र भवति । एवमेव प्रतिपातानिवृत्तिबादरसम्परायाऽऽयुर्बन्धप्रार-म्भापेक्षया भूयस्कारबन्धस्याप्युत्कृष्टान्तर देशोनपूर्वकोटिमात्र भावनीयम्, प्रतिपाताऽनिवृत्तिबादर-सम्परायप्रथमसमया-ऽऽयुर्बन्धप्रारम्भप्रथमसमययोरन्तराले भूयस्कारानिर्वर्तनात् । एवं च मनःपर्यव-ज्ञानमार्गणायामपि भूयस्काराल्पतरयोरुत्कृष्टान्तरं परिभावनीयम् ।

'देस०' इत्यादि, देशविरत परिहारविशुद्धिकसंयम-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंय मेषु चतुःसंख्याकेषु मार्गणास्थानेषु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टान्तर पूर्वकोटित्र्यशा'ऽ-तः' पूर्वकोटित्रिभागस्य अन्तर् अन्तर्मुहूर्तद्वयन्यूनपूर्वकोटित्रिभागमात्र भवतीत्यर्थः, तत्रायुष्कबन्धसाति-रेकोत्कृष्टान्तरेण भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्व्यवधानात् ॥४६०॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामेकजीवाश्रयमुत्कृष्ट भूयस्काराल्पतरबन्धान्तरमाह—

विब्भंगे देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
देसूणा छम्मासा हवइ त्ति भणन्ति अण्णे उ ॥४६१॥

(प्रे०) 'विब्भंगे' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणाया 'देशोना' देशोनपूर्वकोटिद्वित्रिभागलक्ष-णेन देशेन ऊना—हीना ज्येष्ठा कायस्थितिश्चतुरशीतितमगाथोक्तदेशोनपूर्वकोट्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सा-गरोपमस्थितिर्भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं भवति, आयुष्कबन्धान्तरस्य तावन्मात्र-त्वात् । अथ मतान्तरमाह–'देसूणा' इत्यादि, 'देशोना' अन्तर्मुहूर्तन्यूना षण्मासा भूयस्काराल्पतर-बन्धयोरेकजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तर भवतीति त्वन्ये भणन्ति । विशेषार्थिना त्रयस्त्रिंशदधिकशततम-गाथावृत्तिरवलोकनीया ॥४६१॥

साम्प्रतं शेषासु मार्गणासु प्रस्तुतान्तरमाह—

पुव्वाणेगा कोडी अब्भहिया होअए असण्णिम्मि ।
सेसासु जाणियव्वं तेत्तीसा सागराब्भहिया ॥४६२॥

(प्रे०) 'पुव्वाणेगा' इत्यादि, असञ्ज्ञिमार्गणायां पूर्वकोटित्रिभागेनाभ्यधिका 'पूर्वाणामेका कोटिः' एकपूर्वकोटिर्भूयस्कारबन्धा-ऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरं भवति, तस्या भूयस्काराल्पतरबन्धयोरायुष्कबन्धसातिरेकोत्कृष्टान्तरेण व्यवधानात् ।

'सेसासु' इत्यादि, शेषासु त्रयोविंशतिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरम् 'अभ्यधिका' अन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाधिका सागरोपमत्रयस्त्रिंशद् भवति, तास्वायुष्कबन्धसातिरेकोत्कृष्टान्तरेण भूयस्कारबन्धाल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं व्यवधानात् । शेषमार्गणाः पुनरिमाः–पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायाः पुरुषवेद-नपुंसकवेदौ ज्ञानत्रिकमज्ञानद्वयमविरतमार्गणा दर्शनत्रिकं भव्याभव्यौ सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्वसंज्ञ्याहारकाश्चेति ॥४६२॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे चतुर्थमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥



भूयस्कारादिबन्धैकजीवाश्रयान्तरप्रदर्शियन्त्रम्

ओघतोऽल्पतरबन्धस्यैकजीवाश्रय जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, भूयस्कारावस्थितबन्धयोश्च प्रत्येकमेकसमय, अवस्थितस्योत्कृष्टान्तर द्वौ समयौ, भूय॰।राल्पतरयोश्चोत्कृष्टान्तर साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा (गाथा ४५१)

अन्तरम्	भूयस्काराल्पतरयोरन्तर नास्ति	भूयस्काराल्पतरयो प्रत्येकम् जघन्यमन्तरम्		अवस्थितस्यान्तर न भवति	जघन्यम् अवस्थितस्य	अवस्थितस्योत्कृष्टम्	
		१ समय	अन्तर्मुहूतम्	•	एकसमय	२ समयौ	१ समय
गति			सर्वा ४७		सर्वा ४७		सर्वा ४७
इन्द्रियम्		पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ	शेषा. १७	•	सर्वा १९	पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौ	शेषा॰ ४०
काय		त्रसपर्याप्तत्रसौ	शेषा ४०	•••	सर्वा ४२	त्रसपर्याप्तत्रसौ	शेषा १७
योग	पञ्चमनो॰ पञ्चवचो॰ वैक्रिय आहारकद्विकम्	काययोग.	औदारिकद्विकम् २	वैक्रियमिश्र कार्मण	शेषा १६	काययोगसा॰	शेषा १५
वेद			सर्वा ४		सर्वा ४		सर्वा ४
कषाय॰	क्रोधमानमायालोभा			अकषाय	शेषा ४		शेषा ४
ज्ञानम्		मतिश्रुतावधि॰	अज्ञानत्रिक मन॰ प॰ ४	केवलज्ञानम्	शेषा ७	मतिश्रुतावधि॰	शेषा. ४
सयम			सर्वा ६	सूक्ष्म॰ यथा॰	शेषा ६		शेषा ६
दर्शनम्		चक्षुरचक्षुरवधि॰		केवलदर्शनम्	शेषा ३	चक्षुरचक्षुरवधि॰	
लेश्या		शुक्ला	शेषा॰ ५		सर्वाः ६	शुक्ला	शेषा ५
भव्य....		भव्य	अभव्य		भव्याभव्यौ २	भव्य	अभव्य
सम्यक्त्वम्	सास्वादन॰	सम्यक्त्वसा॰ क्षायिक॰ औप॰	क्षायोप॰मिथ्यात्व॰	मिश्र॰	शेषा ६	सम्यक्त्वसा॰क्षायिक औपशमिक॰	शेषा ३
सज्ञी		सज्ञी	असज्ञी		सज्ञ्यसज्ञिनौ २	सज्ञी	असज्ञी
आहारक		आहारक		अनाहारक	आहारक २	आहारक	
सर्वा	१८	१८	१२६	९	१६५	१८	१४७
गाथाङ्क	४५२	४५३	४५३	४५४-४५५	४५५	४५५	४५५

१४७ मार्गणासु भूयस्कारल्पतरयोः प्रत्येकमेकजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरस्य प्रदर्शि यन्त्रम्

अन्तरम्	भूयस्कारल्पतरयोरुत्कृष्टम्										
	देशोन-षण्मासा	साधिकगुरुभव-स्थिति.	देशोनत्रिभागा-धिकगुरुपृथिवी-कायभवस्थिति	देशोनगुरु-पृथ्वीकाय-भवस्थिति-त्रिभाग	अन्तर्मु-हूतम्	साधिकानि ५५ पल्यो०	देशोन-गुरुकाय-स्थिति	देशोनपूर्व-कोटित्रिभाग	देशोनगुरु-कार्यस्थिति देशाना ६ मासा व	सातिरेक-पूर्वकोटि	साधिका ३३ सागरोपमा
गति	सर्वनिरयसुर-भदा ३८	शेषा ९	••					•			
इन्द्रियम्		पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-पचेन्द्रियवर्जा १७	•			•••					पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ
काय		त्रसपर्याप्तत्रस-वर्जा ४०									त्रसपर्याप्तत्रसौ
योग			काययोगसा०	औदारिक	औदारिक-मिश्र					••	
वेद					अवेद	स्त्रीवेद	•				शेषे २
कषाय											
ज्ञानम्						••	मन पर्यव	देशस०परिहार मामा छेदो	विभङ्ग०		शेषा ५
सयम				•		•••	सयमसा०		•		असयम
दर्शनम्				•							चक्षुरचक्षुरवधि०
लेश्या	सर्वा ६	••		•		••			••		
भव्य								••••	••		भव्याभव्यौ
सम्यक्त्वम्					औपश०		•				शेषा ४
संज्ञी			•						•	असज्ञी	सज्ञी
आहारक									•••		आहारक
मार्गणा	४४	६६	१	१	३	१	२	४	१	१	२३
पत्राङ्क	४५६	४५७	४५८	४५८	४५९	४५९	४६०	४६०	४६१	४६२	४६२

॥ अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तेन नानाजीवाश्रितेन भङ्गविचयद्वारेण भङ्गविचयप्ररूपणां चिकीर्षुर्भङ्गविचयो पयोगि भूयस्कारादिबन्धकानां ध्रुवत्वादिकमाह—

भूओगाराईणं तिपयाणं अत्थि बंधगा णियमा ।
आउस्स अट्ठमो चिअ भंगो जासुं दुसट्ठीए ॥४६३॥
भूगारप्पयराणं तासुं होअन्ति बंधगा णियमा ।
भजनीया सेसासुं अवट्ठिअस्स भजणीआ उ ॥४६४॥
अत्थि अपज्जणरविउवमीसाहारदुगछेअसुहुमेसुं ।
परिहारुवसमसासणमीसेसुं णियमओऽण्णासुं ॥४६५॥

(प्रे०) 'भूओगाराईणं' इत्यादि, 'भूयस्कारादीना' भूयस्कारा ऽल्पतरा-ऽवस्थितानां 'त्रिपदानां' त्रयाणां पदाना बन्धका नियमात् सन्ति, ओघतो भूयस्कारादिबन्धकानामभावः कदापि न लभ्यत इत्यर्थः ।

अथादेशतो भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां ध्रुवत्वादिक भणति–'आउ ' इत्यादि, यासु 'द्वाषष्ट्यां' चतुष्षष्ट्यधिकशततमगाथाप्रोक्तासु तिर्यग्गतिसामान्यादिषु द्वाषष्टिमार्गणास्वायुषोऽष्टम एव 'अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धकाः' इत्येवरूपो भङ्गः, तासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका नियमाद् भवन्ति, तासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां व्यवच्छेदाभावेन सर्वदैवोपलब्धेः । द्वाषष्टिमार्गणा नामतः पुनरिमाः–तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणा, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तबादरपृथिवीकायवर्जाः पृथिवीकायभेदाः षट्, एव षडप्कायभेदाः, षट् तेजःकायभेदाः, षड् वायुकायभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायरहिता दश वनस्पतिकायभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग तन्मिश्रकाययोगा नपुंसकवेदः क्रोध-मान-माया लोभा अज्ञानद्वयमविरतमार्गणा-ऽचक्षुर्दर्शनं कृष्णलेश्या नीललेश्या-कापोतलेश्या भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञिमार्गणा-ऽऽहारकमार्गणा चेति ।

'शेषासु' उक्तोद्धृतासु त्र्यधिकशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका भजनीया भवन्ति, नानाजीवापेक्षया भूयस्काराल्पतरबन्धयोरन्तरस्य भावात् ।

अथाऽवस्थितस्य बन्धकाना ध्रुवत्वादिक व्याहरति–'अवट्ठिअ ' इत्यादि, अपर्याप्त मनुष्य-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोग तन्मिश्रकाययोग-च्छेदोपस्थापनीयसंयम सूक्ष्मसम्परायेषु परिहारविशुद्धिकसंयमौ- पशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन -मिश्रमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकास्तु भजनीयाः सन्ति, एतासा दशानां मार्गणानामेवाऽध्रुवत्वात् । 'णियमओ' इत्यादि, 'अन्यासु'

उक्तातिरिक्तासु चतुष्पञ्चाधिकशतमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धका नियमतो भवन्ति, नानाजीवा-पेक्षयाऽवस्थितबन्धस्यान्तरस्य विरहात् ।

तदेवं भूयस्कराल्पतरावस्थितबन्धकाना ध्रुवाऽध्रुवत्वं दर्शितम् । सम्प्रति तद्बलेन भङ्गा दर्श्यन्ते–ओघत आदेशतश्च नित्यासु तिर्यग्गतिसामान्यादिद्वापष्टिमार्गणासु त्रयाणामपि भूयस्कारा-ल्पतरावस्थितानां बन्धकाना ध्रुवत्वाद् ध्रुवपदत्रयनिष्पन्न एक एव 'भूयस्कारस्यानेके बन्धका अल्पतरस्यानेके बन्धका अवस्थितस्य चानेके बन्धकाः' इत्येवरूपो भङ्गः प्राप्यते । एव नित्यासु कार्म-णकाययोगा-ऽकषाय केवलज्ञान यथाख्यातसंयम -केवलदर्शना -ऽनाहारकमार्गणास्वेकस्यैवावस्थितस्य बन्धकाना ध्रुवत्वादेकध्रुवपदनिष्पन्न एक एव 'अवस्थितस्यानेके बन्धकाः' इत्येवंरूपो भङ्गो लभ्यते । वैक्रियमिश्रकाययोग सूक्ष्मसम्पराय-मिश्रमार्गणानामध्रुवत्वात् तास्ववस्थितबन्धका अप्यध्रुवाः । तेन तासु तिसृषु मार्गणासु स्यादवस्थितस्यैको बन्धकः, स्यादनेके चावस्थितबन्धका इत्येवरूपौ द्वौ भङ्गौ प्राप्येते ।

शेषासु चतुरधिकशतमार्गणासु "सधुवकमेण ठप्पा अधुवाण कमा अहो ठविअ भङ्गा । गुणणा पुव्वेण कमा भ... एगाइसजोगा ॥३५४। ते एगणेगभेआ गुणणा हि दुगेण दुदुगुणेण कमा । ते सव्वे अधुवाण भगेगहियाऽत्थि सधुवाण ॥३५५॥" इति चतुष्पञ्चाशदधिकत्रिशततमगाथा पञ्चपञ्चाशादुत्तर-त्रिशततमगाथाभ्यां प्रतिपादितेन करणेन भङ्गाः प्राप्तव्याः । तथाहि-अपर्याप्तमनुष्या-ऽऽहारककाय-योग तन्मिश्रकाययोगौ-पशमिकसम्यक्त्व सास्वादनमार्गणासु त्रयाणामपि भूयस्काराल्पतरावस्थितानां बन्धकानामध्रुवत्वात् त्रीण्यध्रुवपदानि । तस्मात् तासु चतुष्पञ्चाशदधिकत्रिशततमगाथापञ्चपञ्चाश दुत्तरत्रिशततमगाथाप्रतिपादितकरणेन षड्विंशतिः (२६) भङ्गा लभ्यन्ते । छेदोपस्थापनीयसयम-परिहारविशुद्धिसयममार्गणाद्वये तु यदि जघन्यपद एको जीवो वर्तेत, तदोक्तनीत्या षड्विंशतिः (२६) भङ्गा भवन्ति, प्रोक्तभङ्गानयनकरणगाथाद्वयस्यैका-ऽनेकजीवसापेक्षत्वात् , यदि पुनर्जघन्यपदे-ऽपि प्रस्तुतमार्गणाद्विकेऽनेक एव जीवा लभ्येरन् ,तदुक्तकरणगाथातोऽन्यथा भङ्गानामवाप्तिः स्यात् , ततो जघन्यपदे जीवानां परिमाणं यथागम तज्ज्ञातुः सकाशाज्ज्ञात्वा भङ्गानां प्ररूपणा स्वयं विधेया। शेषासु तिर्यग्गतिसामान्याऽपर्याप्तमनुष्यवर्जपञ्चचत्वारिंशद्गतिमार्गणा-सप्तैकेन्द्रियवर्जद्वादशेन्द्रियभेद-पर्याप्त-बादरपृथिवीकाय पर्याप्तबादराप्काय पर्याप्तबादरतेजःकाय पर्याप्तबादरवायुकाय पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-पुरुषवेदा-ऽपगतवेदा -ऽज्ञानद्वयकेवलज्ञानवर्जज्ञानमार्गणापञ्चक--संयमसामान्य--सामायिकसयम देश-विरता- ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन -शुभलेश्यात्रिक सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वसञ्ज्ञिरूपासु पण्णवतिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोः प्रत्येक बन्धकानामध्रुवत्वम् अवस्थितस्य च बन्धकाना ध्रुवत्वम् । तदेव द्वे अध्रुवपदे एकं च ध्रुवपदम् । तस्मात् तासु मार्गणासु चतुष्पञ्चाशद-धिकत्रिशततमगाथा पञ्चपञ्चाशदुत्तरत्रिशततमगाथाकथितकरणेन नव भङ्गा लभ्यन्ते ॥४६३-४६५॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे पञ्चम भङ्गविचयद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

सम्प्रति भूयस्कारादीनां बन्धका[न्] भागद्वारेण प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदोघतः प्राह—

भूगारप्पयराणं विण्णेया बंधगा असंखसो ।
भागा असंखिया खलु अवट्ठिअस्स उ मुणेयव्वा ॥४६६॥

(प्रे०) '**भूगारप्पयराण**' इत्यादि, भूयस्काराल्पतरयोः प्रत्येक बन्धकाः 'असंख्येयांशः' भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धत्रितयबन्धकानामसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, अवस्थितस्य तु बन्धका 'असंख्या भागाः' बहुवचननिर्देशाद् बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येक कालतोऽवस्थितबन्धस्य कालस्याऽसंख्येयगुणत्वात् ॥४६६॥

सम्प्रति भागद्वारेण मार्गणासु भूयस्कारादिबन्धकान् निरूपयितुकामः प्राह—

पज्जणरमणुस्सीसुं सव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ।
मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥४६७॥
भूगारप्पयराणं संखंसो बंधगा असंखंसो ।
सेसासुं एआसुं अवट्ठिअस्स अवसेसंसा ॥४६८॥

(प्रे०) '**पज्जणर०**' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुष्योः सर्वार्थसिद्धिकसुरा-ऽऽहारकद्विका-ऽपगतवेदमार्गणासु मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणयोः सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय परिहार-विशुद्धिकसंयमेषु च सर्वसङ्ख्ययैकादशसु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोः प्रत्येक बन्धकाः 'सङ्ख्येयांशः' तत्तन्मार्गणागतानां भूयस्कारादिसमस्तबन्धकानां संख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, तत्तन्मार्गणागतानां बन्धकाना संख्येयत्वात् । 'शेषासु' उक्तोद्धृतासु चतुष्पञ्चाशदधिकशतमार्गणासु 'असङ्ख्यांशः' भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, तत्तन्मार्गणागतभूयस्कारादिबन्धकाना-मसंख्येयत्वाद् भूयस्काराल्पतरबन्धयोश्च कालस्यैकसमयमात्रत्वेनाऽवस्थितबन्धकालतोऽसङ्ख्येयगुण-हीनत्वात् । 'एआ ' इत्यादि, 'एतासु' वैक्रियमिश्रादिनवमार्गणासु भागप्ररूपणाया निषेध-स्य वक्ष्यमाणत्वात् पञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणास्ववस्थितबन्धका अवशेषांशाः' उक्तोद्धृतभागप्र-माणा भवन्ति । अयं भावः-पर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धका बहुसङ्ख्येय-भागप्रमाणाः शेषासु च चतुष्पञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु बहुसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति ॥४६७-४६८॥

सम्प्रति वैक्रियमिश्रकाययोगादिषु भागप्ररूपणा निषेधन्नाह—

णत्थि विउव्वियमीसे कम्मणअकसायकेवलदुगेसु ।
सुहुमाहक्खायेसुं मीसाणाहारगेसुं च ॥४६९॥

(प्रे०) 'णत्थि' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणकाययोगा-ऽकषाय केवल-द्विकमार्गणासु सूक्ष्मसम्पराय यथाख्यातसंयमयोर्मिश्रा-ऽनाहारकमार्गणयोश्च सर्वसंख्यया नवमार्गणासु 'भागो नास्ति' भागप्ररूपणा नास्ति, अवस्थितबन्धमृतेऽन्यबन्धस्याभावात् ॥४६९॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे षष्ठं भागद्वारं समाप्तम् ॥

भूयस्कारादिबन्धकभागप्रदर्शियन्त्रम्

ओघतो भूयस्काराल्पतरयो प्रत्येकं बन्धका असंख्येयभागप्रमाणा अवस्थितस्य च बहुसंख्येयभागमात्रा (गाथा-४६६) ।

	भागप्ररूपणा नास्ति	भूयस्काराल्पतरयो. प्रत्येकं बन्धकाः संख्येयमात्रा अवस्थितस्य च बहुसंख्येयभागमात्रा	भूयस्काराल्पतरयो प्रत्येक बन्धका असंख्येयभागप्रमाणा अवस्थितस्य च बहुसंख्येयभागमात्रा
गति		पर्याप्तमनुष्यमानुष्यौ सर्वार्थसिद्धसुर	शेषा ४४
इन्द्रियम्			सर्वा १६
काय			सर्वा ४०
योग	वैक्रियमिश्र-कार्मणौ	आहारकद्विकम्	शेषा १४
वेद		अवेद	शेषा ३
कषाय	अकषाय		शेषा ४
ज्ञानम्	केवलज्ञानम्	मन पर्यव०	शेषा ६
संयम	सूक्ष्मस० यथा०	संयमसा० सामायिक० छेदो० परिहार०	शेषे २
दर्शन	केवलदर्शनम्		शेषा ३
लेश्या			सर्वा ६
भव्य			भव्याभव्यौ
सम्यक्त्वम्	मिश्र०		शेषा ६
संज्ञी			संज्ञ्यासंज्ञिनौ २
आहारक	अनाहारक		आहारक १
सर्वा	९	११	१५४
गाथाङ्क	४६९	४६७,४६८	४६८

॥ अथ परिमाणादीनि षड् द्वाराणि ॥

साम्प्रतं परिमाणादिद्वारषट्के भूयस्कारादिबन्धकानतिदेशेन प्रतिपादयन्नाह—

छसु परिमाणाईसुं दारेसु भवे परूवणाऽउव्व ।
दुपयाण बंधगाण छठाणव्व अवेउवसमेसुं ॥ ॥६७०॥
वेअव्व मुणेयव्वा अवट्ठिअस्स परमत्थि दुपयाणं ।
जहि सव्वद्धा कालो ण तत्थ समयो लहू तेसिं ॥६७१॥
जहि बंधगात्थि संखा तासु संखसमया गुरू णेयो ।
जासु असंखा तासु आवलियाए असंखंसो ॥६७२॥
कालो अवट्ठिअस्स अपज्जणराहारमीसुवसमेसुं ।
तइअदुआरव्व लहू सगठाणव्व परिहारछेएसुं ॥६७३॥ (गीतिः)
वासपुहुत्तमवेए भूओगारस्स अंतरं जेट्ठं ।
छेए परिहारे लहुमवट्ठिअस्स सगठाणव्व ॥६७४॥

(प्रे०) 'छसु' इत्यादि, षट्सु 'परिमाणादिषु' नानाजीवाश्रयेषु परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शना-काला-ऽन्तर भावाख्येषु द्वारेषु 'द्विपदयोः' अवस्थितस्य वक्ष्यमाणत्वाद् भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां प्ररूपणा 'आयुर्वत्' आयुष्कबन्धकवद् बोद्धव्या । अपगतवेदौ पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोरायुष्क-बन्धाभावात् तयोर्भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाना प्ररूपणा 'षट्स्थानवत्' षट्प्रकृत्यात्मकस्थान-बन्धकवद् बोध्येत्यर्थः । अवस्थितस्य बन्धकाना प्ररूपणा 'वेद्यवत्' वेदनीयप्रकृतिबन्धकवद् ज्ञेया ।

अथाऽतिप्रसक्तिवारणाय प्राह–'परमत्थि' इत्यादि, परन्तु यासु मार्गणासु 'द्विपदयोः' द्वयोर्भूयस्काराल्पतराख्ययोः पदयोर्बन्धकानामेकजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा नास्ति, तासु त्र्यधिकशत-मार्गणासु तयोर्भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाना नानाजीवाश्रयो जघन्यः काल एकः समयोऽस्ति, एतासु सर्वासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेकजीवाश्रयजघन्यकालस्य समयमात्रत्वात् । आयुष्कबन्धक नानाजीवाश्रयकालद्वारेण यद्यपि तिर्यग्गतिसामान्यवर्जगतिभेदषट्चत्वारिंशत्क-सप्तैकेन्द्रियभेद-वर्जेन्द्रियभेदद्वादशक-पर्याप्तबादरपृथिवीकाय पर्याप्तबादराप्काय-पर्याप्तबादरतेजःकाय-पर्याप्तबादरवायु—काय पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्क-विभङ्गज्ञान- संयमसामान्य सामायिकसंयम च्छेदोपस्थापनीयसंयम—परिहार-विशुद्धिकसंयम-देशविरत-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वसामान्य-

क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगमार्गणासु चायुष्कबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः समयस्तथाऽपगतवेदौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः षट्प्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः समयः प्रतिपादितः, इह तु सर्वास्वेतासु त्र्यधिकशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाना नानाजीवाश्रयजघन्यकाल एकसमयः, एतास्वेकजीवाश्रयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्जघन्यकालस्यैकसमयप्रमाणत्वात् ।

यासु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाः संख्येया भवन्ति, तासु पर्याप्तमनुष्याद्येकत्रिंशन्मार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः सङ्ख्येयसमया ज्ञेयः, यासु च मार्गणासु भूयकाराल्पतरयोर्बन्धका असंख्येया भवन्ति, तासु नरकगत्यादिद्वासप्ततिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानामुत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्येयभागमात्रो भवति ।

अथ नानाजीवाश्रयकालद्वारेऽवस्थितबन्धकजघन्यकाला-ऽतिप्रसक्तिवारणाय भणति-'कालो इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्या ऽऽहारकमिश्रकाययोगौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकानां 'लघुः'नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः 'तृतीयद्वारवद्' अवस्थितबन्धस्यैकजीवाश्रयजघन्यकालवद् भवति । इदमुक्तं भवति-अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामवस्थितबन्धकाना नानाजीवाश्रयजघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तमाहारकमिश्रकाययोगौ पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोश्चैकः समयो भवति, न तु वेदनीयबन्धकजघन्यकालवदपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया क्षुल्लकत्र आहारकमिश्रकाययोगौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोश्चान्तर्मुहूर्तम् । आहारकमिश्रकाययोगौ-पशमिकसम्यक्त्वयोर्भावनैकजीवाश्रयावस्थितबन्धजघन्यकालवत् [illegible]-व्या, परन्त्विहानेकजीवानप्यधिकृत्य बोध्या । अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तु तृतीये कालद्वारेऽवस्थितबन्धस्यैकजीवाश्रयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यकालो यः समयोनाष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानजघन्यकालप्रमाणः सूचितः, सोऽत्रा ऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामायुष्कबन्धानन्तरप्राप्यमाणसमयोनजघन्यविश्रान्तिकाललक्षणोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणोऽवस्थितबन्धकाना नानाजीवाश्रयजघन्यकालो बोध्यः ।

तथाहि-अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामेको वाऽनेके वा मार्गणागताः सर्वे जीवा असंक्षेप्याद्धां प्रविष्टा आयुष्कबन्धमारभन्ते, ते प्रथमसमये भूयस्कारबन्ध कुर्वन्ति, ततोऽन्तर्मुहूर्तं यावदवस्थितबन्ध विदधाति, तत आयुर्बन्धतो निवृत्ता अल्पतरबन्ध रचयन्ति, एवमवस्थितस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः समयोनाष्टप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धजघन्यकालप्रमाणाऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते । तथैको वाऽनेके वा जीवा अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामनन्तरदर्शितनीत्याऽल्पतरबन्धं रचयित्वाऽनन्तरसमयात् स्वायुष्कचरमसमय यावदवस्थितबन्ध सम्पादयन्ति, ततो मार्गणान्तरे सर्वे समुत्पद्यन्ते, तदेवमप्यायुष्कबन्धानन्तरप्राप्यमाणसमयोनजघन्यविश्रान्तिकाललक्षणोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः कालो नानाजीवानधिकृत्य प्राप्यते । अनयोः समयोनाष्टप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकाला ऽऽयुष्कबन्धानन्तरप्राप्यमाणसमयोनजघन्यविश्रान्तिकालयोर्यः केव-

॥ अथ परिमाणादीनि षड् द्वाराणि ॥

साम्प्रतं परिमाणादिद्वारषट्के भूयस्कारादिबन्धकानतिदेशेन प्रतिपादयन्नाह—

छसु परिमाणाईसुं दारेसु भवे परूवणाऽउव्व ।
दुपयाण बंधगाण छठाणव्व अवेउवसमेसुं ॥ ॥६७०॥
वेअव्व मुणेयव्वा अवट्ठिअस्स परमत्थि दुपयाणं ।
जहि सव्वद्धा कालो ण तत्थ समयो लहू तेसिं ॥६७१॥
जहि बंधगात्थि संखा तासु संखसमया गुरू णेयो ।
जासु असंखा तासु आवलियाए असंखंसो ॥६७२॥
कालो अवट्ठिअस्स अपज्जणराहारमीसुवसमेसुं ।
तइअदुआरव्व लहू सगठाणव्व परिहारछेएसुं ॥६७३॥ (गीतिः)
वासपुहुत्तमवेए भूओगारस्स अंतरं जेट्ठं ।
छेए परिहारे लहुमवट्ठिअस्स सगठाणव्व ॥६७४॥

(प्रे०) 'छसु' इत्यादि, षट्सु 'परिमाणादिषु' नानाजीवाश्रयेषु परिमाण क्षेत्र-स्पर्शना-काला-ऽन्तर भावाख्येषु द्वारेषु 'द्विपदयोः' अवस्थितस्य वक्ष्यमाणत्वाद् भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां प्ररूपणा 'आयुर्वत्' आयुष्कबन्धकवद् बोद्धव्या । अपगतवेदौ पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोरायुष्क-बन्धाभावात् तयोर्भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाना प्ररूपणा 'षट्स्थानवत्' षट्प्रकृत्यात्मकस्थान-बन्धकवद् बोध्येत्यर्थः । अवस्थितस्य बन्धकाना प्ररूपणा 'वेद्यवत्' वेदनीयप्रकृतिबन्धकवद् ज्ञेया ।

अथाऽतिप्रसक्तिवारणाय प्राह–'परमत्थि' इत्यादि, परन्तु यासु मार्गणासु 'द्विपदयोः' द्वयोर्भूयस्काराल्पतराख्ययोः पदयोर्बन्धकानामेकजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा नास्ति, तासु त्र्यधिकशत-मार्गणासु तयोर्भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाना नानाजीवाश्रयो जघन्यः काल एकः समयोऽस्ति, एतासु सर्वासु भूयस्काराल्पतरबन्धयोरेकजीवाश्रयजघन्यकालस्य समयमात्रत्वात् । आयुष्कबन्धक नानाजीवाश्रयकालद्वारेण यद्यपि तिर्यग्गतिसामान्यवर्जगतिभेदषट्चत्वारिंशत्क-सप्तैकेन्द्रियभेद-वर्जेन्द्रियभेदद्वादशक-पर्याप्तबादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादराप्काय-पर्याप्तबादरतेजःकाय-पर्याप्तबादरवायु-काय पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्क-विभङ्गज्ञान- संयमसामान्य सामायिकसंयम च्छेदोपस्थापनीयसंयम–परिहार-विशुद्धिकसंयम-देशविरत-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वसामान्य-

क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगमार्गणासु चायुष्कबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः समयस्तथाऽपगतवेदो-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः षट्प्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः समयः प्रतिपादितः, इह तु सर्वास्वेतासु त्र्यधिकशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाना नानाजीवाश्रयजघन्यकाल एकसमयः, एतास्वेकजीवाश्रयस्य भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्जघन्यकालस्यैकसमयप्रमाणत्वात् ।

यासु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाः संख्येया भवन्ति, तासु पर्याप्तमनुष्याद्येकत्रिंशन्मार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः सख्येयसमया ज्ञेयः, यासु च मार्गणासु भूयकाराल्पतरयोर्बन्धका असख्येया भवन्ति, तासु नरकगत्यादिद्वासप्ततिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानामुत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्येयभागमात्रो भवति ।

अथ नानाजीवाश्रयकालद्वारेऽवस्थितबन्धकजघन्यकाला-ऽतिप्रसक्तिवारणाय भणति-'कालो इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्या ऽऽहारकमिश्रकाययोगौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकानां 'लघुः'नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः 'तृतीयद्वारवद्' अवस्थितबन्धस्यैकजीवाश्रयजघन्यकालवद् भवति । इदमुक्तं भवति-अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामवस्थितबन्धकाना नानाजीवाश्रयजघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तमाहारकमिश्रकाययोगौ पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोश्चैकः समया भवति, न तु वेदनीयबन्धकजघन्यकालवदपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया क्षुल्लकव आहारकमिश्रकाययोगौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोश्चान्तर्मुहूर्तम् । आहारकमिश्रकाययोगौ-पशमिकसम्यक्त्वयोर्भावनैकजीवाश्रयावस्थितबन्धजघन्यकालवत् कर्तव्या, परन्त्विहानेकजीवानप्यधिकृत्य बोध्या । अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तु तृतीये कालद्वारेऽवस्थितबन्धस्यैकजीवाश्रयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यकालो यः समयोनाष्टप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानजघन्यकालप्रमाणः सूचितः, सोऽथवाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामायुष्कबन्धानन्तरप्राप्यमाणसमयोनजघन्यविश्रान्तिकाललक्षणोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणोऽवस्थितबन्धकाना नानाजीवाश्रयजघन्यकालो बोध्यः । तथाहि-अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामेको वाऽनेके वा मार्गणागताः सर्वे जीवा असंक्षेप्याद्धां प्रविष्टा आयुष्कबन्धमारभन्ते, ते प्रथमसमये भूयस्कारबन्ध कुर्वन्ति, ततोऽन्तर्मुहूर्तं यावदवस्थितबन्धं विदधाति, तत आयुर्बन्धतो निवृत्ता अल्पतरबन्ध रचयन्ति, एवमवस्थितस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः समयोनाष्टप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धजघन्यकालप्रमाणाऽन्तर्मुहूर्तं लभ्यते। तथैको वाऽनेके वा जीवा अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामनन्तरदर्शितनीत्याऽल्पतरबन्ध रचयित्वाऽनन्तरसमयात् स्वायुष्कचरमसमय यावदवस्थितबन्ध सम्पादयन्ति, ततो मार्गणान्तरे सर्वे समुत्पद्यन्ते, तदेवमप्यायुष्कबन्धानन्तरप्राप्यमाणसमयोनजघन्यविश्रान्तिकाललक्षणोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः कालो नानाजीवानधिकृत्य प्राप्यते । अनयोः समयोनाष्टप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकाला ऽऽयुष्कबन्धानन्तरप्राप्यमाणसमयोनजघन्यविश्रान्तिकालयोर्यः केव-

लिदृष्ट्या स्तोकतरः, सोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामवस्थितबन्धकनानाजीवाश्रयजघन्यकालत्वेन बोध्यः। एवं तृतीयद्वारे ऽभावितोऽपि शेषासु चतुर्दशोत्तरशतम र्गणास्वेकजीवमवलम्ब्य परिभावनीयोऽवस्थितबन्धस्यैव जघन्यकालः।

परिहारविशुद्धिकसयम च्छेदोपस्थापनीयसयमयोरवस्थितबन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यः कालः षट्षष्ट्यधिकत्रिशततमगाथाप्रतिपादितसप्तप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकनानाजीवाश्रयजघन्यकालवद् बोध्यः। साम्प्रतमन्तरद्वारेऽतिप्रसक्तिनिवारणाय व्याहरति–'वास०' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां भूयस्कारबन्धस्य 'ज्येष्ठम्' उत्कृष्ट नानाजीवाश्रयमन्तर वर्षपृथक्त्वं भवति, तत्रोपशमश्रेण्यामेव भूयस्कारबन्धस्य लाभादुपशमश्रेण्यन्तरस्य च तावन्मात्रत्वात्। छेदोपस्थापनीयमार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां चाऽवस्थितस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयं 'लघु' जघन्यमन्तरं षट्षष्ट्युत्तरत्रिशततमगाथाप्रतिपादितसप्तप्रकृत्यात्मकस्थानबन्धकजघन्यकालवद् ज्ञेयमिति गाथापञ्चकसमासार्थः।

॥ अथ सप्तमं परिमाणद्वारम् ॥

अथ परिमाणद्वारेण भूयस्कारादिबन्धका विस्तरेण दर्श्यन्ते–ओघतो भूयस्काराल्पतराऽवस्थितबन्धका अनन्ता भवन्ति। आदेशतः पुनस्तिर्यग्गतिसामान्य-सप्तैकेन्द्रियभेद-वनस्पतिकायसामान्य सप्तनिगोदभेद--काययोगसामान्यौ दारिकद्विक-नपुंसकवेद-चतुष्कषाया-ऽज्ञानद्विका-ऽविरता ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णलेश्या-नीललेश्या कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य मिथ्यात्वा--ऽसइज्ञ्या- हारकरूपषट्त्रिश - न्मार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका अनन्ता भवन्ति, पर्याप्तमनुष्य मानुष्या-नतादिसर्वार्थसिद्धपर्यवसानाष्टादशदेवमार्गणा ऽऽहारकद्विका ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य सामायिक च्छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धिकसंयम शुक्ललेश्या–क्षायिकसम्यक्त्वौ पशमसम्यक्त्वरूपास्वेकत्रिशन्मार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाः संख्येया भवन्ति।

शेषास्वष्टानवतिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका असंख्येया भवन्ति।

तिर्यग्गतिसामान्य-सप्तैकेन्द्रिय-वनस्पतिकायसामान्य-सप्तनिगोदभेद-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगद्विक-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद्-चतुष्कषाया-ऽज्ञानद्विका–ऽविरता-ऽचक्षुदर्शन–कृष्णलेश्या-नीललेश्या कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसइज्ञ्या हारका–ऽनाहारकरूपास्वष्टात्रिशन्मार्गणास्ववस्थितस्य बन्धका अनन्ता भवन्ति।

पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यी सर्वार्थसिद्धसुरा ऽऽहारकद्विका ऽवेदा–ऽकषाय-मनःपर्यवज्ञान-केवलज्ञान-संयमसामान्य-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय–परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय–यथाख्यातसयम केवल दर्शनरूपासु षोडशमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकाः संख्येया भवन्ति। शेषासु विंशत्यधिकशतमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धका असंख्येया भवन्ति।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे सप्तम परिमाणद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथाष्टमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ क्षेत्रद्वारेण भूयस्कारादिबन्धका विस्तरतः प्रदर्श्यन्ते-ओघतो भूयस्कारादिबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति।

आदेशतस्तिर्यग्गतिसामान्यै-केन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया -ऽप्कायसामान्य-सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया—ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-तेजःकायसामान्य सूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्त—सूक्ष्मतेजःकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-वायुकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मवायुकाय -वनस्पतिकायसामान्य--साधारणशरीरवनस्पतिकाय -सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय--पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय--काययोगसामान्यौदारिकद्विक-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्विका-ऽविरता ऽचक्षुर्दर्शना ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या हारकलक्षणासु षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धकाः सर्वजगति भवन्ति। बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय बादरवायुकाय पर्याप्तबादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायाख्येषु षट्सु मार्गणास्थानेषु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका देशोनलोके भवन्ति। शेषासु त्रयोदशाधिकशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका लोकासंख्येयभागे वर्तन्ते।

तिर्यग्गतिसामान्य-सप्तैकेन्द्रियभेद-पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाय—बादरपृथिवीकाया ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाया- ऽप्कायसामान्य—सूक्ष्माप्काय पर्याप्तसूक्ष्माप्काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-बादराप्काया-ऽपर्याप्तबादराप्काय तेजःकायसामान्य सूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय -बादरतेजःकाया--ऽपर्याप्तबादरतेजःकाय -वायुकायसामान्य सूक्ष्मवायुकाय पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय -बादरवायुकाया--ऽपर्याप्तबादरवायुकाय-वनस्पतिकायसामान्य-सप्तनिगोद-प्रत्येकवनस्पतिकाया -ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-काययोगसामान्यौ दारिकद्विक कार्मणकाययोग-नपुंसवेद कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्विका-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन कृष्णलेश्या-नीललेश्या--कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा ऽसंज्ञ्या हारका -ऽनाहारकरूपासु चतुष्षष्टिमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति।

पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायामवस्थितस्य बन्धका देशोनलोके वर्तन्ते। मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य- मानुषी--पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय -त्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकाय-गतवेदा-ऽकषाय केवलज्ञान संयमसामान्य-यथाख्यातसंयम-केवलदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणासु षोडशमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकाः केवलिक्षेत्रे भवन्ति। इह केवलिक्षेत्रं नाम लोकासंख्येयभागो वा लोकबहुसंख्येयभागा वा सर्वलोको वा।

शेषासु त्रयोनवतिमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धका लोकासंख्येयभागे वर्तन्ते।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारेऽष्टम क्षेत्रद्वार समाप्तम् ॥

।। अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् ।।

अथ स्पर्शनाद्वारेण भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धकाना स्पर्शना प्रतिपाद्यते—

ओघतो भूयस्काराल्पतराऽवस्थितबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः ।

आदेशतस्तिर्यग्गतिसामान्यै-केन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया ऽपर्याप्तसूक्ष्मैके-न्द्रिय-पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽप्का-सामान्य सूक्ष्माप्काय पर्याप्तसूक्ष्माप्काया ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-तेजःकायसामान्य सूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्तसू-क्ष्मतेजःकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-वायुकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया ऽपर्याप्त-सूक्ष्मवायुकाय-वनस्पतिकायसामान्य-साधारणशरीरवनस्पतिकाय-सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्या-प्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-काययोगसामान्यौ दारि-ककाययोग तन्मिश्रकाययोग नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्वयाऽविरता ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्या-त्रय-भव्या-ऽभव्य मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञया-हारकरूपासु षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरयोर्बन्धकैः सर्वः लोकः स्पृष्टः ।

बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-बादरवायुकाय पर्याप्तबादरवायुकाया-ऽप-र्याप्तबादरवायुकायरूपासु षट्सु मार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकैर्देशोनो लोकः स्पृष्टः ।

देवगतिसामान्य-भवनपति व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मप्रभृतिसहस्रारपर्यवसानेषु द्वादशदेवमार्गणा-स्थानेषु पञ्चेन्द्रियसामान्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग पञ्चवचन-योग-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद पुरुषवेद मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिद-र्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादनरूप-संज्ञिद्विचत्वारिंशन्मार्गणास्थानेषु च त्रसनाड्या अष्टौ चतुर्दशभागा भूयस्कारा-ऽल्पतरयोर्बन्धकैः स्पृष्टाः ।

आनतप्रभृत्यच्युतान्तसुरमार्गणासु शुक्ललेश्यायां च भूयस्कारा-ऽल्पतरयोर्बन्धकैः षट् त्रसना-ड्याश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः ।

शेषासु नरकगतिसामान्य सप्तनरकपृथिवीभेद तिर्यक्सामान्यवर्जतिर्यग्भेदचतुष्क-मनुष्यभेद-चतुष्क नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तर नवविकलेन्द्रियभेदा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथि-वीकाया ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाय-बादराप्काय-पर्याप्तबादराप्काया-ऽपर्याप्तबादराप्काय-बादरतेजःकाय प-र्याप्तबादरतेजःकाया ऽपर्याप्तबादरतेजःकाय-बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणशरीर-वनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवन-स्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तत्रसकाया-ऽऽहारककाययोगा-तन्मिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमनः-पर्यवज्ञान-संयमसामान्य- सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसयम-परिहारविशुद्धिक-

संयम-देशसंयमौ पशमिकसम्यक्त्वरूपषट्षष्टिमार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरयोर्बन्धकैर्लोकासंख्येयभागः स्पृष्टः ।

नरकसामान्य सप्तमनरका-ऽऽनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतदेवमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकैः षट् त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः ।

प्रथमनरकपृथिवी नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तर वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-सूक्ष्मसम्परायरूप-त्रयोविंशतिमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकैर्लोकासंख्येयभागः स्पृष्टः ।

द्वितीयनरकपृथिवीभेद एकस्त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागः, तृतीयनरकपृथिवीभेदे द्वौ त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागौ, चतुर्थनरकपृथिवीमार्गणास्थाने त्रयः, पञ्चमनरकपृथिवीमार्गणायां चत्वारः, षष्ठनरकपृथिवीमार्गणा-देशविरतमार्गणयोश्च पञ्च त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागा अवस्थितस्य बन्धकैः स्पृष्टाः ।

देवसामान्य भवनपति-व्यन्तर ज्योतिष्क-सौधर्मै-शान-तेजोलेश्यामार्गणासु नव, सनत्कुमार-प्रभृतिसहस्रारान्तषड्देवमार्गणा मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन पद्मलेश्यौ-पशमिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रमार्गणास्वष्टौ, वैक्रियकाययोगे त्रयोदश, सास्वादनमार्गणायां च द्वादश-त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागा अवस्थितस्य बन्धकैः स्पृष्टाः ।

शेषासु षोडशाधिकशतमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे नवम स्पर्शनाद्वार समाप्तम ॥



॥ अथ दशमं कालद्वारम् ॥

अथ कालद्वारेण भूयस्कारादीनां बन्धकानां कालः प्रदर्श्यते—

ओघतो भूयस्काराल्पतरावस्थितानां बन्धकानां नानाजीवाश्रयकालः सर्वाद्धा भवति ।

आदेशतस्तिर्यग्गतिसामान्य-सर्वैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरवर्जपृथिवीकायभेदषट्का--ऽप्कायभेदषट्क-तेजःकायभेदषट्क वायुकायभेदषट्क-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवर्जवनस्पतिकायभेददशक काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का ऽज्ञानद्वया-ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभ-लेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-हारकरूपासु द्वाषष्टिमार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरयोर्बन्ध-काना नाना जीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा भवति ।

शेषासु त्र्यधिकशतमार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यः काल एकसमयः, उत्कृष्टस्तु पर्याप्तमनुष्या नतादिसर्वार्थसिद्धपर्यवसानाष्टादशसुरमार्गणा-ऽऽहारकद्विका-ऽपग-तवेद-मनःपर्यवज्ञान-सयमसामान्य-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वरूपास्वेकत्रिंशन्मार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरयोर्बन्ध-ां सख्येयाः समयाः ।

शेपासु द्वासप्ततिमार्गणास्वावलिकाऽसख्येयभागो बोध्यः ।

अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रकाययोग-मिश्रमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यः कालो-ऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टश्च पल्योपमासंख्येयभागः, आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगसूक्ष्मसम्प-रायमार्गणासु च जघन्य एकसमय उत्कृष्टश्चाऽन्तमुहूर्तम् , छेदोपस्थापनीयसंयमे जघन्यः स्वयमूह्यः, उत्कृष्टश्च पञ्चाशल्लक्षकोटिसागरोपमाः, परिहारविशुद्धिकसयममार्गणायां जघन्यः स्वयमूहनीयः, उत्कृष्टश्च देशोनपूर्वकोटिद्वयम् , औपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादनमार्गणयोर्जघन्य एकसमय उत्कृष्टश्च पल्योपमासख्येयभागः, शेषासु च चतुष्षष्ट्यधिकशतमार्गणासु सर्वाद्धा भवति ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे दशम कालद्वारसमाप्तम् ॥



॥ अथैकादशमन्तरद्वारम् ॥

अथान्तरद्वारेण भूयस्कारादीनां बन्धकानां नानाजीवाश्रयान्तरं प्रदर्श्यते—

ओघतो भूयस्काराल्पतरावस्थितानां बन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तरं नास्ति, आदेशश्च तिर्यग्गतिसामान्य--सप्तैकेन्द्रिय--पर्याप्तबादरवर्जपृथिवीकायभेदषट्का--ऽप्कायभेदषट्क-- तेजःकाय--भेदषट्क--वायुकायभेदषट्क--पर्याप्तप्रत्येकशरीरवर्जवनस्पतिकायभेददशक काययोगसामान्यौ--दारिक-काययोग-तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का ऽज्ञानद्वया ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व संज्ञ्या-हारकरूपासु द्वाषष्टिमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयान्तरं नास्ति ।

शेषासु त्र्युत्तरशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयं जघन्यमन्तरमेकः समयः, उत्कृष्टन्तु पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणायामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणायां द्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्त द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणासु त्रसकाया-ऽपर्याप्तत्रसकाययोश्च सर्वसंख्यया द्वादशमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तम् , अपगतवेदमार्गणायाश्च अल्पतरस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासाः, भूयस्कारस्य च बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां भूयस्काराल्पतरयोरुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं समस्ति । तच्छेषास्वेकोननवतिमार्गणासु तु स्वयमेवोहनीयम् ।

सूक्ष्मसम्परायमार्गणायामवस्थितस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयं जघन्यमन्तरमेकसमय उत्कृष्टं च षण्मासाः, छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोर्जघन्यं स्वयं बोध्यम् , उत्कृष्टं चाष्टादशकोटीकोटयः सागरोपमाणाम् , अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां मिश्र सास्वादनयोश्च जघन्यमेकः समय उत्कृष्टं च पल्योपमासंख्येयभागः, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां जघन्यमेकः समय उत्कृष्टश्च द्वादशमुहूर्ताः, आहारकद्विके जघन्यमेकः समय उत्कृष्टं च वर्षपृथक्त्वम् ,औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया जघन्यमेकः समय उत्कृष्टं च सप्त दिवसाः, शेषासु च चतुष्षष्ट्यधिकशतमार्गणास्ववस्थितस्य बन्धकानामन्तरं नास्ति ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकार एकादशमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वादशं भावद्वारम् ॥

अथ भावद्वारेण भूयस्कारादिबन्धा निरूप्यन्ते-ओघत आदेशतश्च पञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणासुभूयस्काराल्पतरबन्धौ चतुस्सप्तत्यधिकशतमार्गणास्ववस्थितबन्धश्चौदयिकभावेन भवन्ति ॥४७०-४७४॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे द्वादश भावद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

इदानीमल्पबहुत्वद्वारेण भूयस्कारादीना बन्धकानभिधातुकाम आह—

भूओगाराईणं तिण्ह कमाऽप्पाऽहिया असंखगुणा ।
होअंति बंधगेवं मणुस्सदुपणिंदियतसेसु ॥४७५॥
पणमणवयकायउरललोहेसु तिणाणदंसणतिगेसु ।
सुक्कभवियसम्मेसु खइए सण्णिम्मि आहारे ॥४७६॥

(प्रे०) '**भूओगाराईणं**' इत्यादि. भूयस्कारादीना त्रयाणा बन्धकाः क्रमेण अल्पा अधिका असंख्यगुणाश्च भवन्ति । अय भावः–भूयस्कारस्य बन्धकाः सर्वस्तोका भवन्ति, उपशमश्रेणितः पतद्भिरायुश्च बध्नद्भिर्भूयस्कारस्य बन्धात् । ततोऽल्पतरस्य बन्धका विशेषाधिका भवन्ति । एतदुक्तं भवति–उपशमश्रेणितोऽवरोहन्त आयुर्बन्धमारभमाणाश्च भूयस्कारबन्धका भवन्ति । अल्पतरस्य बन्धकास्तु क्षपकश्रेणिमुपशमश्रेणिं चारोहन्त आयुर्बन्धतश्च निवृत्ता भवन्ति, तेन भूयस्कारबन्धकेभ्योऽल्पतरबन्धका विशेषाधिका भवन्ति, क्षपकश्रेणिगतजीवानामप्यल्पतरस्य बन्धनाधिकृतत्वस्य लाभात् । ततोऽवस्थितस्य बन्धका असंख्येयगुणाः, अल्पतरबन्धस्यैकसमयमात्रित्वादवस्थितबन्धस्य बाहुल्येनाऽन्तर्मुहूर्तादिकालस्थायित्वाच्च ।

"**एमेव**" इत्यादि, 'एवमेव'' यथौघतो बन्धका अल्पबहुत्वद्वारेण कथिताः, तथा मनुष्यगतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायमार्गणासु पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौदारिककाययोगलोभमार्गणासु मतिज्ञान-श्रुतज्ञानाऽवधिज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनमार्गणासु शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्यमार्गणासु क्षायिकसम्यक्त्वे संज्ञिमार्गणायामाहारकमार्गणायां च विज्ञेयाः ॥४७५-४७६॥

सम्प्रति पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु भूयस्कारादिबन्धकानामल्पबहुत्वं आह—

भूओगारस्सप्पा दुमणुअमणणाणसंजमेसु तओ ।
ऽप्पयरस्सऽब्भहिया संखगुणाऽवट्ठिअस्स तओ ॥४७७॥

(प्रे०) '**भूओगारस्स**' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य मानुषी-मनःपर्यवज्ञान संयमसामान्यमार्गणासु भूयस्कारस्य बन्धकाः 'अल्पाः' स्तोका भवन्ति, ततोऽल्पतरस्य बन्धकाः 'अभ्यधिकाः' विशेषाधिका भवन्ति, क्षपकश्रेणिमारोहता भूयस्कारबन्धविरहेणाल्पतरबन्धस्यैव भावात् । ततोऽवस्थितस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, अवस्थितबन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वेऽपि तद्बन्धकाना संख्येयत्वात् ॥४७७॥

सम्प्रति सर्वार्थसिद्धादिमार्गणासु प्रस्तुताल्पबहुत्वं व्याजिहीर्षुराह—

सव्वत्थाहारगदुगसमइअछेएसु परिहारे।
भूगारप्पयराणं थोवा तोऽवट्ठिअस्स संखगुणा ॥४७८॥ (उद्गीतिः)

(प्रे०) 'सव्वत्थ०' इत्यादि, सर्वार्थसिद्धसुरा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग सामायिकसंयम च्छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणासु परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाः स्तोका भवन्ति, मिथश्च तुल्या भवन्ति। एतदुक्तं भवति—एतासु मार्गणासु य आयुष्कं बध्नन्तः प्रथमसमये भूयस्कारबन्ध निर्वर्तयन्ति, त एवायुष्कबन्धतो निवृत्ताः प्रथमसमयेऽल्पतरबन्धका भवन्ति, तेन भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धका मिथः समाना भवन्ति। तेभ्योऽवस्थितस्य बन्धकाः संख्येयगुणा न्ति, बहुसंख्येयभागप्रमाणैर्जीवैरवस्थितस्य बन्धात् ॥४७८॥

सम्प्रति यासु मार्गणासु भूयस्कारादिबन्धकाल्पबहुत्वं न संभवति, ता मार्गणाः संगृह्य प्राह—

णत्थि विउव्वियमीसे कम्मणअकसायकेवलदुगेसुं।
सुहुमाहक्खाये मीसाणाहारगेसुं च ॥४७९॥

(प्रे०) 'णत्थि' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणकाययोगा ऽकषाय केवलज्ञान केवलदर्शनमार्गणासु सूक्ष्मसम्परायसंयम यथाख्यातमार्गणयोर्मिश्रा-ऽनाहारकमार्गणयोश्च सर्वसंख्यया नवसु मार्गणासु 'नास्ति' बन्धकाल्पबहुत्व न भवति, भूयस्काराल्पतरबन्धयोर्विरहात् केवलस्य चा-ऽवस्थितबन्धस्यैव भावात् ॥४७९॥

सम्प्रत्यपगतवेदमार्गणायां भूयस्कारादिबन्धकानामल्पबहुत्व प्राह—

थोवा अत्थि अवेए भूओगारस्स बंधगा तत्तो।
संखेज्जगुणा णेया अप्पयरावट्ठिआण कमा ॥४८०॥

(प्रे०) 'थोवा' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां भूयस्कारस्य बन्धकाः स्तोकाः सन्ति, ततोऽल्पतरावस्थितयोर्बन्धकाः क्रमात् संख्येयगुणा ज्ञेयाः। अयं भावः—अपगतवेदमार्गणायां भूयस्कारस्य बन्धकाः सर्वाल्पा भवन्ति, प्रतिपातसूक्ष्मसम्पराया-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायप्रथमसमयवर्तिनां भूयस्कारस्य बन्धेन साधिकशतमात्रत्वात्। ततोऽल्पतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, आरोहकोपशमकक्षपकसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोह-क्षीणमोहैरल्पतरस्य बन्धेन साधिकत्रिशतप्रमाणत्वात्। ततोऽवस्थितस्य बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति, शतपृथक्त्वप्रमाणत्वात् ॥४८०॥

साम्प्रतमौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां भूयस्कारादिबन्धकानामल्पबहुत्व प्रतिपादयन् प्राह—

भूगाराप्पयराणं हुन्ति उवसमम्मि बंधगा थोवा।
सयमुज्झाऽण्णोण तो अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा ॥४८१॥

(प्रे०) 'भूगारप्पयराण' इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाः स्तोका भवन्ति, संख्येयत्वात् , अन्योन्यं च स्वयमूह्याः । अय भावः–यदोत्कृष्टपदे सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयवर्तिन उपशान्तमोहप्रथमसमयवर्तिनश्च भवन्ति, तदा यदि सूक्ष्मसम्पराये वोपशान्तमोहे वा कालं कुर्वन्तो लभ्येरन् , तह्यल्पतरबन्धकेभ्यो भूयस्कारबन्धकास्तत्सङ्ख्यानुसारेण यथागमं विशेषाधिकादिका वाच्याः, यदि तु न लभ्येरन ,तर्हि तुल्या भवेयुः उभयेषामप्यष्टाधिकशतप्रमाणत्वात् । ततो भूयस्काराल्पतरबन्धकेभ्योऽवस्थितबन्धकास्त्वसख्येयगुणाः, असंख्येयत्वात् ॥४८१॥ अथ शेषासु मार्गणासु भूयस्कारादीना बन्धकानामल्पबहुत्वमाह—

भूगारप्पयराणं सेसासु बधगा मुणेयव्वा ।
सव्वत्थोवा तत्तो वट्ठिअस्स उ असखगुणा ॥४८२॥

(प्रे०) 'भूगारप्पयराण' इत्यादि, शेषासु त्रयोविंशत्यधिकशतमार्गणासु भूयस्काराल्पतरयोर्बन्धकाः सर्वस्तोका ज्ञेया मिथश्च तुल्याः, आयुष्कबन्धप्रथमसमये भूयस्कारस्य बन्धादायुष्कबन्धनिवर्तनप्रथमसमये चाल्पतरबन्धस्य निर्वर्तनात् । ततोऽवस्थितस्य तु बन्धका असख्येयगुणा भवन्ति, तत्तन्मार्गणागतैर्बहुसख्येयभागप्रमाणैर्जीवैरवस्थितस्य बन्धात् ।

शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः-मनुष्यसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीसर्वार्थसिद्धसुरवर्जा गतिभेदास्त्रयश्चत्वारिंशत् पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जा इन्द्रियभेदाः सप्तदश त्रसकायसामान्य पर्याप्तत्र [illegible]यविरहिताः कायभेदाश्चत्वारिंशद् औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियकाययोगौ स्त्री-पुरुष-नपु सकवेदाः क्रोध-मान माया अज्ञानत्रयं देशसंयमा ऽसंयमौ शुक्ललेश्यावर्जिताः पञ्चलेश्या अभव्यः क्षायोपशमिकसम्यक्त्व सास्वादन-मिथ्यात्वमार्गणा असज्ञिमार्गणा चेति ॥४८२॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वार समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे तृतीयो भूयस्कारा[illegible] ॥



भूयस्कारादिबन्धकपरिमाणप्रदर्शियन्त्रम्

ओघतो भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धका अनन्ता भवन्ति ।

बन्धका	भूयस्काराल्पतरयो अनन्ता	भूयस्काराल्पतरयो सङ्ख्येया	भूयस्काराल्पतरयो असङ्ख्येया	अवस्थितस्य अनन्ता	अवस्थितस्य सङ्ख्येया	अवस्थितस्य असङ्ख्येया
गति	तिर्यग्गतिसा० १	पर्याप्तमनुष्य, मानुषी आनतादयोऽष्टादशदेवभेदा २०	शेषा २६	तिर्यग्गतिसामान्य० १	पर्याप्तमनुष्य मानुषी सर्वार्थसिद्ध० ३	शेषा ४३
इन्द्रियम्	सप्तैकेन्द्रियभेदा ७		शेषा १२	सप्तैकेन्द्रियभेदा ७		शेषा १२
काय	वन० सप्तनिगोदभेदा ८		शेषा ३४	वन०, सप्तनिगोदभेदा ८		शेषा ३४
योग	काययोग औदारिकद्विकम् ३	आहारकद्विकम् २	शेषा ११	काययो० औदारिकद्विकम्, कार्मण० ४	आहारकद्विकम् २	शेषा १२
वेद	नपुंसकवेद १	अपगतवेद १	शेषे २	नपुंसकवेद १	गतवेद १	शेषे २
कषाय	कषाया ४			कषाया ४	अकषाय १	
ज्ञानम्	अज्ञानद्विकम् २	मनःपर्यवज्ञानम् १	शेषा ४	अज्ञानद्विकम् २	केवलज्ञा० मनःपर्यव० २	शेषा ४
संयम	असंयम १	संयमसा० सामा०, छेदो० परिहार० ४	देशविरत० १	असंयम १	संयम० सामा० छेदो० परि० सूक्ष्म० यथा० ६	देशविरत० १
दर्शनम्	अचक्षुर्दर्शनम् १		शेषे २	अचक्षुर्दर्शन० १	केवलदर्शनम् १	चक्षुर्द० अवधि० २
लेश्या	अशुभास्तिस्र ३	शुक्ला १	शेषे २	अशुभास्तिस्र ३		शुभा ३
भव्य	भव्याभव्यौ २			भव्याभव्यौ २		
सम्यक्त्वम्	मिथ्यात्वम् १	क्षायिकौपशमिके २	शेषा ३	मिथ्यात्वम् १		शेषा ६
सञ्ज्ञी	असञ्ज्ञी १		सञ्ज्ञी १	असञ्ज्ञी १		सञ्ज्ञी १
आहारक	आहारक १			आहारानाहारौ २		
सर्वा	३६	३१	९८	३८	१६	१२०

भूयस्कारादिबन्धकक्षेत्रप्रदर्शियन्त्रम्

ओघतो भूयस्कारालपतरावस्थितबन्धका सर्वलोके भवन्ति।

	भूयस्कारालपतरबन्धकानाम्			अवस्थितबन्धकानाम्			
क्षेत्रम्	सर्वलोक	देशोनलोक	लोक संख्य भाग	सर्वलोक	देशोनलोक	केवलिक्षेत्रम्	लोकासंख्यभाग
गति	तिर्यग्गतिसामान्यम् १		शेषा ४६	तिर्यग्गतिसामान्यम्		मनु० पर्याप्तमनु० मानुषी ३	शेषा [illegible]३
इन्द्रियम्	एके० सूक्ष्मै० पर्याप्त-सूक्ष्मै० अपर्याप्तसूक्ष्मै० ४	त्रिबादरैके० ३	शेषा १२	सप्तैकेन्द्रिया ७		पञ्चे० पर्याप्त-पञ्चे० २	शेषा १०
काय	पृथ्व्यादिपञ्चकाया निगोद, १५ सूक्ष्म-भेदा २१	त्रिबादरवायु-काय० ३	शेषा १८	कायमार्गणाभेदा ३४	पर्याप्त-बादरवायु	त्रस-पर्याप्तत्रसौ २	शेषा ५
योग	काय० औदारिक-द्विकम् ३	..	शेषा १२	काययोग औदारिक-द्विक कार्मणयोग ४	...	..	शेषा १४
वेद	नपुंसकवेद १		शेषा ३	नपुंसकवेद १	...	गतवेद १	शेषे २
कषाय	कषाया ४	...		कषाया ४		अकषाय १	
ज्ञानम्	अज्ञानद्विकम् २		शेषा ५	अज्ञानद्विकम् २	.	केवलज्ञानम् १	शेषा ५
संयम	असंयम १		शेषा ५	असंयम १		संयम० यथाख्यात २	शेषा ५
दर्शनम्	अचक्षुर्दर्शनम् १	...	शेषे २	अचक्षुर्दर्शनम् १		केवलदर्शनम् १	शेषे २
लेश्या	अशुभास्तिस्र ३	...	शेषा ३	अशुभास्तिस्र ३		शुक्ला १	शेषे २
भव्य	भव्य अभव्यौ २	...		भव्याभव्यौ २		..	
सम्यक्त्वम्	मिथ्यात्वम् १		शेषा ५	मिथ्यात्वम् १		सम्य० क्षायिक ०	शेषा ४
संज्ञी	असंज्ञी १	.	संज्ञी १	असंज्ञी १			संज्ञी १
आहारक	आहारक १	.		आहारानाहारी २			
सर्व	४६	६	११३	६४	१	१६	६२

भूयस्कारात्पतरयोर्बन्धकाना स्पर्शनायाः प्रदर्शि यन्त्रम्

ओघतो भूयस्कारात्पतरयोर्बन्धके सर्व जगत् स्पृष्टम् ।

स्पर्शना	सर्वलोक	देशानलोक	८ रज्जव	६ रज्जवः	लोकासंख्य-भाग
गति	तिर्यग्गतिसामान्यम् १		देव-भवनपत्यादिसहस्रा-रान्ता १२	चतुरानतादय ४	शेषा ३०
इन्द्रियम्	त्रिबादरवर्जाश्चत्वार एकेन्द्रियभेदा ४	त्रिबादरैकेन्द्रियभेदा ३	पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ २		शेषा १०
काय	❀ २१ कायभेदा	त्रिबादरवायुकाय भेदा ३	त्रसपर्याप्तत्रसौ २		शेषा १६
योग	काययोग औदारिकद्विकम् ३		पञ्चमनो० पञ्चवचन० वैक्रिय ११		आहारकद्विक. २
वेद	नपुंसक १		स्त्रीपुरुषवेदौ २	•	अवेद १
कषाय	कषाया ४				
ज्ञानम्	अज्ञानद्विकम् २		मतिश्रुतावधिविभङ्गानि ४		मनःपर्यव० १
संयम	असंयम १				शेषा ५
दर्शनम्	अचक्षुर्दर्शनम् १		चक्षुरवधिदर्शन० २		
लेश्या	तिस्रोऽशुभा ३		तेजोलेश्या पद्मलेश्या २	शुक्ला १	
भव्य	भव्याभव्यौ २		•		
सम्यक्त्वम्	मिथ्यात्वम् १		सम्यक्त्वसा० क्षायिक. वेदक० सास्वा० ४	•••	औप० १
संज्ञी	असंज्ञी १		संज्ञी १	••	••
आहारक	आहारक १				
सर्वा	४६	६	४२	५	६६

❀पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया--ऽप्कायसामान्य-सूक्ष्माप्काय पर्याप्तसूक्ष्माप्काया ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय- तेजःकायसामान्य--सूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-वायुकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय वनस्पतिकायसामान्य- साधारणशरीरवनस्पतिकाय सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकाय--पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया -ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पति पा एकविंशतिकायभेदा ।

अवस्थितस्य बन्धकानां स्पर्शनायाः प्रदर्शि यन्त्रम्

ओघतोऽवस्थानस्य बन्धकैरखिल जगत् स्पृष्टम् ।

स्पर्शना	६ रज्जवः	लोकासंख्यभाग	१ रज्जु	२ रज्जू	३ रज्जव	४ रज्जव	५ रज्जव	६ रज्जव	८ रज्जव	१३ रज्जव	१४ रज्जव	सर्वलोक
गति	नरकसामान्यम् सप्तमनरक चतुराननादय	प्रथमनरक , नवग्रैवेयका , पञ्चानुत्तरा	द्वितीय-नरक	तृतीय नरक	चतुर्थ-नरक	पञ्चम-नरक	षष्ठ-नरक	देव-भवनपति व्यन्तरज्योतिष्क-सौधर्मशाना	शेषसुरभेदा ६			शेषा ९
इन्द्रियम												सर्वा १९
काय												सर्वा ४२
योग		वैक्रियमिश्र आहारकद्विकम्								वैक्रिय		शेषा १४
वेद												शेषा, ५
कषाय							...	...				सर्वा ५
ज्ञानम्		मन पर्यवज्ञानम्							मतिश्रुतावधि० ३			अज्ञानत्रिकम् केवलज्ञानम् ४
संयम		सामा०छेदो०परि० सूक्ष्मसम्प० ४					देश-विरत	..				असंयम संयमासा० यथा ३
दर्शनम									अवधिदर्शनम्			शेषे ३
लेश्या		.						तेजोलेश्या	पद्मलेश्या			शेषा ४
भव्य		...										भव्याभव्यौ २
सम्यक्त्वम							...		औपश० क्षायोपश० मिश्र०		सास्वादन	मिथ्यात्वम् क्षायिकस० २
संज्ञी		⁝						.		.		संज्ञ्यसंज्ञी २
आहारक								.		...	.	आहारानाहारी
सर्वा	६	७३	१	१	१	१	२	७	१४	१	१	११६

भूयस्काराल्पतरावस्थितनानाजीवाश्रयबन्धककालप्रद यन्त्रम्

	भूयस्काराल्पतरबन्धकानाम्			अवस्थितबन्धकानाम्					
जघन्य		१ समय	१ समय	अन्तर्मुहूर्तम्	१ समय	१ समय	स्वयमूह्य	स्वयमूह्य	सर्वाद्धा
उत्कृष्ट	सर्वाद्धा	सङ्ख्येयसमया:	आवलिकाऽसङ्ख्यांश	पल्यासङ्ख्यांश	अन्तर्मुहूर्तम्	पल्यासङ्ख्यांश	५० लक्ष-कोटीसागरा	देशोन-पूर्वकोटीद्वयम्	
गति	तिर्यग्गतिसा० १	पर्याप्तमनुष्यमानुष्यौ आनतादयोऽष्टादश २०	शेषा २६	अपर्याप्तनर		•			शेषा ४६
इन्द्रियम्	सप्तैकेन्द्रियभेदा		शेषा १२						सर्वा १९
काय	३४ कायभेदा: *		शेषा ८					•	सर्वा ४२
योग	काय० औदारिक-द्विकम् ३	आहारकद्विकम् २	५मनो० ५ वचो० वैक्रिय ११	वैक्रियमिश्र	आहारकद्वि-कम्				शेषा १५
वेद	नपुंसक १	गतवेद १	शेषे २						सर्वा ४
कषाय:	कषाया ४				•				सर्वा ५
ज्ञानम्	अज्ञानद्विकम्	मनःपर्यव० १	शेषा ४						सर्वा ८
संयम	असंयम	संयमसा० सामायिक छेदो० परिहार० ४	देशसंयम		सूक्ष्मस० १		छेदोप० १	परिहार	शेषा ५
दर्शनम्	अचक्षु० १	...	शेषे २						सर्वा ४
लेश्या	अशुभा ३	शुक्ला १	शेषे २				–		सर्वा ६
भव्य	भव्याभव्यौ २		..						भव्याभव्यौ
सम्यक्त्वम्	मिथ्यात्वम् १	क्षायिकौपशमिकौ २	शेषाः ३	मिश्र		औपश० सास्वादनम्			शेषा ४
संज्ञी	असंज्ञी १		संज्ञी						सञ्ज्ञ्यसं० २
आहारक:	आहारक १						---		आहारानाहारौ
सर्वा	६२	३१	७२	३	३	२	१	१	१६४

* एकचत्वारिंशदधिकपञ्चशततमपृष्ठस्य टिप्पनी लोकनीया ।

भूयस्काराल्पतरावस्थितनानाजीवाश्रयबन्धकान्तरप्रदर्शियन्त्रम्

ओघतो भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धकानामन्तरं नास्ति ।

	भूयस्काराल्पतरबन्धकानामन्तरम्			अवस्थितबन्धकानामन्तरम्							
जघन्यम्		१ समय	१ समय	१ समय	स्वयमूह्यम्	स्वयमूह्यम्	समय १	१ समय	१ समय	१ समय	
उत्कृष्टम्	अन्तर नास्ति	अन्तर्मुहूर्तम्	स्वयमूह्यम्	६ मासा	१ कोटीकोटीसाग	१८ कोटीकोटीसागरा	पल्यासंख्याश	१२ मुहूर्ता	वर्षपृथक्त्वम्	७ दिवसा	नास्ति
गति	तिर्यग्गतिसा०	पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्	शेषा ४४				अपर्याप्त मनुष्य				शेषा ४६
इन्द्रियम्	सर्वैकेन्द्रिया ७	卐 ८ इन्द्रियभेदा	शेषा ४			...					सर्वा १९
काय	❀ १४ कायभेदा	त्रसापर्याप्तत्रसौ	शेषा ६								सर्वा ४२
योग	काय औदारिकद्विकम्		शेषा १३				•	वैक्रियमिश्र	आहारकद्विकम्	•	शेषा १५
वेद	नपुंसक	△ अवेद	शेषा ३					..			सर्वा ४
कषाय	कषाया ४										सर्वा ५
ज्ञानम्	अज्ञानद्विकम्		शेषा ५								सर्वा ८
संयम	असंयम		शेषा ५	सूक्ष्म सम्प०	छेदोप०	परिहार०					शेषा ५
दर्शनम्	अचक्षु०		शेषे २								सर्वा ४
लेश्या	अशुभा ३		शेषा ३								सर्वा ६
भव्य	भव्याभव्यौ		•								भव्याभव्यौ
सम्यक्त्वम्	मिथ्यात्वम्	★ औपश	शेषा ४				मिश्रसास्वादनौ			औपशमिक०	शेषा ४
संज्ञी	असंज्ञी		संज्ञी								संज्ञ्यसंज्ञि० २
आहारक	आहारक										आहारानाहारौ
सर्वा	६२	१४	९८	१	१	१	२	१	२	१	१६४

❀ एकचत्वारिंशदधिकपञ्चशततमपृष्ठस्य टिप्पनी विलोकनीया । 卐 द्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिया ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिया ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया । △ भूयस्कारस्योत्कृष्टं वर्षपृथक्त्वम् , अल्पतरस्य चोत्कृष्टं षण्मासाः । ★ भूयस्काराल्पतरयोरुत्कृष्टं वर्षपृथक्त्वम् ।

भूयस्कारादिबन्धकाल्पबहुत्वप्रदर्शियन्त्रम्

ओघतो भूयस्कारस्य बन्धका स्तोका, ततोऽल्पतरस्य विशेषाधिकाः ततोऽवस्थितस्याऽसङ्ख्यगुणा । (गाथा-४७५)

अल्पबहुत्वम्	ओघवत्	भूयस्कारस्य स्तोका, ततोऽल्पतरस्य विशेषाधिका, ततोऽवस्थितस्य सङ्ख्येयगुणा	भूयस्काराल्पतरयो स्तोका ततोऽवस्थितस्य सङ्ख्येयगुणा	अल्पबहुत्व नास्ति	भूयस्कारस्य स्तोका ततोऽल्पतरस्य सङ्ख्यगुणा, ततोऽवस्थितस्य सङ्ख्यगुणा	भूयस्काराल्पतरयो स्तोका ततोऽवस्थितस्यासङ्ख्यगुणा	भूयस्काराल्पतरयो. स्तोका ततोऽवस्थितस्यासङ्ख्यगुणा
गति	मनुष्यसा० १	पर्याप्तमनुष्य-मानुषी २	सर्वार्थसिद्धसुर १			·	शेषा ४३
इन्द्रियम्	पञ्चे०पर्याप्त-पञ्चे० २				..		शेषाः ११
काय	त्रसपर्याप्तत्रसौ २			..	·	·	शेषा ४०
योग	५ मनो०५वचो० कायसा० औदारिक १२		आहारकद्विकम् २	वैक्रियमिश्र-कार्मणो २			शेषे २
वेद			...		अवेद		शेषा २
कषाय.	लोभ १			अकषाय १			शेषा ३
ज्ञानम्	मतिश्रुतावधि० ३	मनःपर्यवज्ञानम् १		केवलज्ञानम् १			शेषा ३
संयम		संयमसा० १	सामायिक० छेदो०परिहार० ३	सूक्ष्म० यथा०२			शेषे २
दर्शनम्	चक्षुरचक्षुरवधि० २			केवलदर्शनम् १			
लेश्या	शुक्ला १		·				शेषा ५
भव्य	भव्य १						अभव्य १
सम्यक्त्वम्	सम्यक्त्वसा० क्षायिक०२			मिश्र० १	..	औपश०	शेषा ३
संज्ञी	संज्ञी १						असंज्ञी १
आहारक	आहारक १			अनाहारक १			..
सर्वा	२०	४	६	६	१	१	१२३
गाथाङ्क	४७५,४७६	४७७	४७८	४७९	४८०	४८१	४८२

॥ अथ पदनिक्षेपाधिकारः ॥

सम्प्रति प्रकृतिबन्धाधिकाराख्यानावसरे 'पदणिक्खेवो' इति नाममात्रेण कथितस्य चतुर्थाऽधिकारस्यावसरः। तेन तदधिकारप्रारम्भे तदनुयोगद्वाराणि समर्थयन्नाह—

तुरिये पदणिक्खेवे अधिकारे तिन्नि हुन्ति दाराइं ।
संतपयं सामित्तं अप्पाबहुगं ति जहकमसो ॥४८३॥

(प्रे०) 'तुरिये' इत्यादि, 'तुरिये' चतुर्थे 'पदनिक्षेपे' जघन्योत्कृष्टलक्षणेन पदद्वयेन वृद्धिहान्यवस्थानरूपाणां भूयस्कारादिविशेषाणां निक्षेपात् चिन्तानात् पदनिक्षेपः, तत्प्रतिपादकोऽधिकारोऽपि पदनिक्षेपः, प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः कथञ्चिदभेदात्, तस्मिन् पदनिक्षेपाभिधेऽधिकारे (१) सत्पदम् (२) स्वामित्वम् (३) अल्पबहुत्वं चेति यथाक्रमशस्त्रीणि 'द्वाराणि' अनुयोगद्वाराणि भवन्ति । इदत्ववधेयम्–भूयस्काराधिकारे जघन्यादिभेदाननादृत्य सामान्यतस्त्रयोदशद्वारैर्वृद्धिहान्यवस्थानान्याश्रित्य तेषां प्ररूपणा कृता, इहाधिकारे तु जघन्योत्कृष्टभेदा अवलम्ब्य वृद्ध्यादीनि प्ररूप्यन्त इति ॥४८३॥

॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

इदानीं द्वारनामानि निर्दिश्य क्रमप्राप्तेन प्रथमेन सत्पदद्वारेण जघन्योत्कृष्टवृद्ध्यादीनि प्रतिपादयन् प्राह—

अत्थि जहण्णा जेट्ठा वुड्ढी हाणी तहा अवट्ठाणं ।
मूलपयडीण एवं सव्वासु दुविहत्तिपयाणि ॥४८४॥
णवरि ण विउव्वमीसे कम्मे अकसायकेवलदुगेसु ।
सुहुमाहारए मीसेऽणाहारगे ताणि ॥४८५॥

(प्रे०) 'अत्थि' इत्यादि, 'मूलप्रकृतीनां' ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकृतीनां बन्धस्य जघन्या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा च वृद्धिर्हानिश्च 'तथा' अर्थवशाल्लिङ्गविपरिणामाद् जघन्यमुत्कृष्टं चावस्थानं प्रत्येकम् 'अस्ति' विद्यते, जघन्योत्कृष्टवृद्ध्यादिपदानि सन्तीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति–(१) सप्तप्रकृतितोऽष्टप्रकृतीनां बन्धो भवति, (२) षट्प्रकृतितः सप्तप्रकृतीनां बन्धो भवति, (३) एकप्रकृतितश्च षण्णां सप्तानां वा प्रकृतीनां बन्धो जायत इत्येषु त्रिषु भूयस्कारबन्धेषु यः सर्वाधिकवृद्धिविशिष्टो भूयस्कारबन्धः

संभवति, तस्य बन्धस्य वृद्धिरुत्कृष्टा ज्ञेया। यथौघप्ररूपणायां यदैकप्रकृतितः सप्तानां प्रकृतीनां बन्धो भवति, तदेव मूलप्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टा वृद्धिर्भवति ।

पूर्वोक्तेषु त्रिषु भूयस्कारबन्धेषु यः सर्वाल्पवृद्धिविशिष्टो भूयस्कारबन्धः संभवति, तस्य बन्धस्य वृद्धिर्जघन्या कथ्यते, यथौघप्ररूपणायां यदा सप्तप्रकृतितोऽष्टानां वा षट्प्रकृतितः सप्तप्रकृतीनां वा बन्धो भवति, तदा मूलप्रकृतिबन्धस्य जघन्या वृद्धिर्भवति ।

(१) अष्टप्रकृतितः सप्तप्रकृतीनां बन्धो भवति, (२) सप्तप्रकृतितः षट्प्रकृतीनां बन्धो जायते, (३) षट्प्रकृतितश्चैकस्याः प्रकृतेर्बन्धो जायत इत्येषु त्रिष्वल्पतरबन्धेषु यः सर्वाधिकहानिविशिष्टोऽल्पतरबन्धः संभवति, तस्य मूलप्रकृतिबन्धस्य हानिरुत्कृष्टा भण्यते, यथौघप्ररूपणायां यदा षट्प्रकृतित एकस्याः प्रकृत्या बन्धो भवति, तदा मूलप्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टा हानिर्भवति ।

पूर्वोक्तेषु त्रिष्वल्पतरबन्धेषु यः सर्वाल्पहानिविशिष्टोऽल्पतरबन्धः संभवति, तस्य बन्धस्य हानिर्जघन्या कथ्यते, यथौघप्ररूपणाया यदाऽष्टप्रकृतितः सप्तप्रकृतीनां वा सप्तप्रकृतितः षट्प्रकृतीनां वा बन्धो भवति, तदा मूलप्रकृतिबन्धस्य जघन्या हानिर्भवति ।

उत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहान्योरनन्तरं या अवस्थितबन्धौ जायेते, तयोर्यः पूर्वसमयतो वर्तमानसमयेऽधिकतरतारतम्यवान् बन्धो जायते, तस्य बन्धस्यावस्थानमुत्कृष्टमुच्यते। यथौघप्ररूपणायामेकप्रकृतितः सप्तप्रकृतीना बन्धो भवन्ति, तदनन्तरं च जायमानस्य मूलप्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टमवस्थानं भवति । यत्र तूत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहानी परस्परं तुल्ये, तत्राऽन्यतरस्या अनन्तर प्राप्यमाणमवस्थानमुत्कृष्टं भवति ।

जघन्यवृद्धिजघन्यहान्योरनन्तर या अवस्थितबन्धौ जायेते, तयोर्यः पूर्वसमयतो वर्तमानसमयेऽल्पतरतारतम्यवान् भवति, तस्य बन्धस्यावस्थान जघन्यं भण्यते, यथौघप्ररूपणायामष्टप्रकृतितः सप्तप्रकृतीना वा सप्तप्रकृतितः षट्प्रकृतीनां वा सप्तप्रकृतितोऽष्टानां वा षट्प्रकृतितः सप्तप्रकृतीना वा बन्धो भवति, तदनन्तरं जायमानस्य मूलप्रकृतिबन्धस्य जघन्यमवस्थानं भवति । यत्र तु जघन्यवृद्धि जघन्यहानी परस्परं तुल्ये, तत्राऽन्यतरस्या अनन्तरमवस्थान जघन्यम् ।

तदेव दर्शितान्योघप्ररूपणाया जघन्यवृद्धि जघन्यहानि-जघन्यावस्थानान्युत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहान्युत्कृष्टावस्थानानि । तेषां भावना तु स्वामित्वद्वारे व्यक्तीभविष्यति ।

अथादेशतः सत्पदद्वारेण वृद्ध्यादीनि प्राह–'एव' इत्यादि, 'एवं' यथौघतो जघन्यवृद्धि-जघन्यहानि-जघन्यावस्थानान्युत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहान्युत्कृष्टावस्थानानि च प्रत्येक भवन्ति, तथैव सर्वासु मार्गणासु 'द्विविधत्रिपदानि' द्विविधानि जघन्योत्कृष्टप्रकाराणि त्रीणि पदानि वृद्धिहान्यवस्थानानि प्रत्येकं भवन्ति । अथातिप्रसक्तिवारणाय प्राह–'णवरि' इत्यादि, नवरं वैक्रियमिश्रकाययोगे कार्मणकाययोगाऽकषाय केवलज्ञान-केवलदर्शनमार्गणास्थानेषु सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यात-

॥ अथ पदनिक्षेपाधिकारः ॥

सम्प्रति प्रकृतिबन्धाधिकाराख्यानावसरे 'पदणिक्खेवो' इति नाममात्रेण कथितस्य चतुर्थोऽधिकारस्यावसरः । तेन तदधिकारप्रारम्भे तदनुयोगद्वाराणि समर्थयन्नाह—

> तुरिये पदणिक्खेवे अधिकारे तिन्नि हुन्ति दाराइं ।
> संतपयं सामित्तं अप्पाबहुगं ति जहक्कमसो ॥४८३॥

(प्रे०) 'तुरिये' इत्यादि, 'तुरिये' चतुर्थे 'पदनिक्षेपे' जघन्योत्कृष्टलक्षणेन पदद्वयेन वृद्धि-हान्यवस्थानरूपाणां भूयस्कारादिविशेषाणां निक्षेपात् चिन्तानात् पदनिक्षेपः, तत्प्रतिपादकोऽधिका-रोऽपि पदनिक्षेपः, प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः कथञ्चिदभेदात् , तस्मिन् पदनिक्षेपाभिधेऽधिकारे (१) सत्पदम् (२) स्वामित्वम् (३) अल्पबहुत्वं चेति यथाक्रमशस्त्रीणि 'द्वाराणि' अनुयोगद्वाराणि भवन्ति । इदत्ववधेयम्–भूयस्काराधिकारे जघन्यादिभेदाननादृत्य सामान्यतस्त्रयोदशद्वारैर्वृद्धि-हान्यवस्थानान्याश्रित्य तेषां प्ररूपणा कृता, इहाधिकारे तु जघन्योत्कृष्टभेदा अवलम्ब्य वृद्ध्या-दीनि प्ररूप्यन्त इति ॥४८३॥

॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

इदानीं द्वारनामानि निर्दिश्य क्रमप्राप्तेन प्रथमेन सत्पदद्वारेण जघन्योत्कृष्टवृद्ध्यादीनि प्रति-पादयन् प्राह—

> अत्थि जहण्णा जेट्ठा वुड्ढी हाणी तहा अवट्ठाणं ।
> मूलपयडीण एवं सव्वासु दुविहतिपयाणि ॥४८४॥
> णवरि ण विउव्वमीसे कम्मे अकसायकेवलदुगेसु ।
> सुहुमाहक्खाएसु मीसेऽणाहारगे ताणि ॥४८५॥

(प्रे०) 'अत्थि' इत्यादि, 'मूलप्रकृतीनां' ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकृतीनां बन्धस्य जघन्या 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा च वृद्धिर्हानिश्च 'तथा' अर्थवशाल्लिङ्गविपरिणामाद् जघन्यमुत्कृष्टं चावस्थानं प्रत्येकम् 'अस्ति' विद्यते, जघन्योत्कृष्टवृद्ध्यादिपदानि सन्तीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति–(१) सप्तप्रकृतितोऽष्टप्रकृ-तीनां बन्धो भवति,(२) षट्प्रकृतितः सप्तप्रकृतीनां बन्धो भवति, (३) एकप्रकृतितश्च षण्णां सप्तानां वा प्रकृतीनां बन्धो जायत इत्येषु त्रिषु भूयस्कारबन्धेषु यः सर्वाधिकवृद्धिविशिष्टो भूयस्कारबन्धः

संभवति, तस्य बन्धस्य वृद्धिरुत्कृष्टा ज्ञेया । यथौघप्ररूपणायां यदैकप्रकृतितः सप्तानां प्रकृतीनां बन्धो भवति, तदैव मूलप्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टा वृद्धिर्भवति ।

पूर्वोक्तेषु त्रिषु भूयस्कारबन्धेषु यः सर्वाल्पवृद्धिविशिष्टो भूयस्कारबन्धः संभवति, तस्य बन्धस्य वृद्धिर्जघन्या कथ्यते, यथौघप्ररूपणायां यदा सप्तप्रकृतितोऽष्टानां वा षट्प्रकृतितः सप्तप्रकृतीनां वा बन्धो भवति, तदा मूलप्रकृतिबन्धस्य जघन्या वृद्धिर्भवति ।

(१) अष्टप्रकृतितः सप्तप्रकृतीना बन्धो भवति, (२) सप्तप्रकृतितः षट्प्रकृतीनां बन्धो जायते, (३) षट्प्रकृतितश्चैकस्याः प्रकृतेर्बन्धो जायत इत्येषु त्रिष्वल्पतरबन्धेषु यः सर्वाधिकहानिविशिष्टोऽल्पतरबन्धः संभवति, तस्य मूलप्रकृतिबन्धस्य हानिरुत्कृष्टा भण्यते, यथौघप्ररूपणायां यदा षट्प्रकृतित एकस्याः प्रकृत्या बन्धो भवति, तदा मूलप्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टा हानिर्भवति ।

पूर्वोक्तेषु त्रिष्वल्पतरबन्धेषु यः सर्वाल्पहानिविशिष्टोऽल्पतरबन्धः संभवति, तस्य बन्धस्य हानिर्जघन्या कथ्यते, यथौघप्ररूपणाया यदाऽष्टप्रकृतितः सप्तप्रकृतीनां वा सप्तप्रकृतितः षट्प्रकृतीनां वा बन्धो भवति, तदा मूलप्रकृतिबन्धस्य जघन्या हानिर्भवति ।

उत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहान्योरनन्तरं या अवस्थितबन्धौ जायेते, तयोर्यः पूर्वसमयतो वर्तमानसमयेऽधिकतरतारतम्यवान् बन्धो जायते, तस्य बन्धस्यावस्थानमुत्कृष्टमुच्यते। यथौघप्ररूपणायामेकप्रकृतितः सप्तप्रकृतीनां बन्धो भवन्ति, तदनन्तरं च जायमानस्य मूलप्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टमवस्थानं भवति । यत्र तूत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहानी परस्पर तुल्ये, तत्राऽन्यतरस्या अनन्तर प्राप्यमाणमवस्थानमुत्कृष्टं भवति ।

जघन्यवृद्धिजघन्यहान्योरनन्तर या अवस्थितबन्धौ जायेते, तयोर्यः पूर्वसमयतो वर्तमानसमयेऽल्पतरतारतम्यवान् भवति, तस्य बन्धस्यावस्थान जघन्यं भण्यते, यथौघप्ररूपणायामष्टप्रकृतितः सप्तप्रकृतीना वा सप्तप्रकृतितः षट्प्रकृतीनां वा सप्तप्रकृतितोऽष्टानां वा षट्प्रकृतितः सप्तप्रकृतीना वा बन्धो भवति, तदनन्तरं जायमानस्य मूलप्रकृतिबन्धस्य जघन्यमवस्थान भवति । यत्र तु जघन्यवृद्धि जघन्यहानी परस्परं तुल्ये, तत्राऽन्यतरस्या अनन्तरमवस्थान जघन्यम् ।

तदेव दर्शितान्योघप्ररूपणाया जघन्यवृद्धि जघन्यहानि-जघन्यावस्थानान्युत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहान्युत्कृष्टावस्थानानि । तेषा भावना तु स्वामित्वद्वारे व्यक्तीभविष्यति ।

अथादेशतः सत्पदद्वारेण वृद्ध्यादीनि प्राह–'एव' इत्यादि, 'एवं' यथौघतो जघन्यवृद्धि-जघन्यहानि-जघन्यावस्थानान्युत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहान्युत्कृष्टावस्थानानि च प्रत्येक भवन्ति, तथैव सर्वासु मार्गणासु 'द्विविधत्रिपदानि' द्विविधानि जघन्योत्कृष्टप्रकाराणि त्रीणि पदानि वृद्धिहान्यवस्थानानि प्रत्येकं भवन्ति । अथातिप्रसक्तिवारणाय प्राह–'णवरि' इत्यादि, नवरं वैक्रियमिश्रकाययोगे कार्मणकाययोगाऽकषाय केवलज्ञान-केवलदर्शनमार्गणास्थानेषु सूक्ष्मसम्परायसंयम-यथाख्यात-

संयममार्गणयोर्मिश्रमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च 'तानि' जघन्योत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानि न भवन्ति, तासु भूयस्काराल्पतरबन्धरूपस्य सामान्यस्याभावान्न सम्भवति तद्विशेषो जघन्योत्कृष्टवृद्धि-हानिलक्षणः, तत्सामान्यस्याऽभावे सति तद्विशेषाभावकूटस्य न्यायसिद्धत्वात् । जघन्योत्कृष्टा-वस्थाने अपि तासु न संभवतः, इह तयोर्जघन्योत्कृष्टवृद्धिहानिप्रतिबद्धत्वात् ।

तदेवं पञ्चपष्टयधिकशतमार्गणासु जघन्योत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानि भवन्ति ॥४८४-४८५॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे चतुर्थे पदनिक्षेपाधिकारे प्रथम सत्पदद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

सम्प्रति स्वामित्वद्वारस्यावसरः । तत्रादौ तावदोघत उत्कृष्टवृद्धयुत्कृष्टावस्थानयोः स्वामिन-माह—

गुरुवड्ढि उवसंतो कालं किच्चा सुरम्मि उववण्णो ।
कुणए तस्स चिअ भवे से काले गुरुमवट्ठाणं ॥४८६॥

(प्रे०) 'गुरुवड्ढि' इत्यादि, 'उपशान्तः' उपशान्तमोहवीतराग एका प्रकृति बद्ध्वा कालं कृत्वा देवत्वेन समुत्पन्नः प्रथमसमये सप्त प्रकृतीर्बध्नन् 'गुरुवृद्धिम्' उत्कृष्टवृद्धि करोति, उत्कृष्टमूलप्रकृति-वृद्धेः स्वामी भवतीत्यर्थः । अथोत्कृष्टावस्थानस्य स्वामिनं भणति-'तस्स' इत्यादि, 'तस्य' उपशान्तमोहतश्च्यवनानन्तरं देवत्वेन समुत्पन्नस्यैव 'से काले' इति अनन्तरकाल उत्कृष्टप्रकृति-बन्धवृद्धिप्रवर्तनद्वितीयसमये 'गुरु' उत्कृष्टमवस्थान भवति ॥४८६॥

अथौघत उत्कृष्टहानेर्मनुष्यादिमार्गणासु चोत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनः प्रतिपादय-न्नाह—

गुरुहाणि उवसंतो खीणकसायो व पढमसमयत्थो ।
तिणरपणमणवयउरलअवेअमणणाणविरईसु ॥४८७॥
सुहुमो पढमखणत्थो पडमाणो कुणइ गुरुवड्ढि ।
ओघव्व जेट्ठहाणिं से काले दोण्ह वि गुरुमवठाणं ॥४८८॥ (उद्गीतिः)

(प्रे०) 'गुरुहाणि' इत्यादि, उपशान्तमोहच्छद्मस्थवीतरागः क्षीणमोहच्छद्मस्थवीतरागो वा 'प्रथमसमयस्थः' सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकभाविषट्प्रकृतिबन्धत्यागप्रथमसमये वर्तमान एकां वेद-नीयाख्या प्रकृतिं बध्नन् 'गुरुहानिम्' उत्कृष्टहानि करोति, उत्कृष्टहानेः स्वामी भवतीत्यर्थः ।

अथ मनुष्यादिमार्गणासु प्रकृतस्वामिनमाह–'तिणर०' इत्यादि, मनुष्यसामान्य-पर्याप्त-मनुष्य-मानुषी-पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोगौ-दारिककाययोगा–ऽपगतवेद-मन.पर्यवज्ञान संयमसामा-न्यरूपसप्तदशमार्गणासु 'पतन्' उपशान्तमोहगुणस्थानकतोऽवतरन् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथम-समयस्थ एकप्रकृतिबन्धपरिहारात् षट्प्रकृतीर्बध्नन् 'गुरुवृद्धिम्' उत्कृष्टवृद्धिं करोति। ओघवत् 'ज्येष्ठहानिम्' उत्कृष्टहानिं करोति, तासु मार्गणासूपशान्तमोहो वा क्षीणमोहो वा षट्प्रकृतिबन्धपरि-त्यागादेकां प्रकृतिं बध्नन्नुत्कृष्टहानिं करोतीत्यर्थः।

अथोत्कृष्टावस्थानस्वामिप्रदर्शनाय प्राह–'से काले' इत्यादि, अनन्तरकाले मनुष्यसामान्या-दिसप्तदशमार्गणासु 'द्वयोरपि' उत्कृष्टवृद्धिकारिण उत्कृष्टहानिविधायिनश्चापि 'गुर्ववस्थानम्' उत्कृ-ष्टमवस्थानं भवति, उभयोरुत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहान्योस्तुल्यत्वात् ॥४८७ ४८८॥

अथ पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासूत्कृष्टवृद्ध्यादीनां स्वामिनो व्याजिहीर्षुराह—

दुपणिंदियतसकायतिणाणदरिसणेसु सुक्कभवियेसुं।
सम्मखइअसण्णीसुं आहारे गुरुपयाण ओघव्व ॥४८९॥(गीतिः)

(प्रे०) 'दुपणिंदिय०' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्त-त्रसकाय काययोगसामान्य-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-चक्षुर्दर्शना–ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनमार्ग-णासु शुक्ललेश्या-भव्यमार्गणयोः सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-सञ्ज्ञिमार्गणास्वाहारकमार्गणायां च सर्वसंख्यया सप्तदशमार्गणासु 'गुरुपदानाम्' उत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिन ओघवद् भवन्ति। अयं भावः–अभिहितसप्तदशमार्गणासूत्कृष्टवृद्धेः स्वाम्युपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहे कालं कृत्वा देवत्वेन समुत्पन्नो देवभवप्रथमसमयवर्ती भवति, एकप्रकृतितः सप्तप्रकृतीनां बन्धात्, तदनन्तरसमये स एवोत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवति। उपशमश्रेणौ क्षपकश्रेणौ च सूक्ष्मसम्परायतो यथाक्रममुप-शान्तमोहगुणस्थानकं क्षीणमोहगुणस्थानकं च प्राप्तः प्रत्येकमुत्कृष्टहानेः स्वामी भवति, षट्प्रकृतित एकस्याः प्रकृतेर्बन्धात् ॥४८९॥

अथ लोभमार्गणौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रकृतमाह—

मोहणवबंधसमये लोहे वुड्ढी गुरू भवे हाणी।
तव्बंधखयऽज्झखणे से काले दोण्ह वि गुरुमवट्ठाणं ॥४९०॥ (गीतिः)
अहवा सेसव्व गुरुतिपयाण ओघव्व उवसमे णेया।
णवरं खीणकसायो सामी णत्थि गुरुवुड्ढीए ॥४९१॥

(प्रे०) 'मोहण.व०' इत्यादि, लोभमार्गणायां 'मोहनवबन्धसमये' सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकतः प्रतिपाते सति वा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके कालकरणेन देवत्वेन समुत्पत्तौ सत्यां वा जायमानस्याभिनवस्य मोहनीयबन्धस्य प्रथमसमये षट्प्रकृतिबन्धपरित्यागात् सप्तप्रकृतीर्बध्नतो जीवस्य 'गुरुः' उत्कृष्टा वृद्धिर्भवति । 'तद्बन्धक्षयाद्यक्षणे' मोहनीयबन्धविच्छेदप्रथमसमये सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथमसमयवर्ती यः सप्तप्रकृतिबन्धपरित्यागात् षट्प्रकृतीर्बध्नतः 'गुरुः' उत्कृष्टा हानिर्भवेत् । अनन्तरकाले द्वयोऽपि तयोरुत्कृष्टवृद्धहानिस्वामिनोः 'गुरु' उत्कृष्टमवस्थानं भवति ।

एतदुक्तं भवति–उपशमश्रेणितः प्रतिपतन्ननिवृत्तिबादरसम्परायः प्रथमसमये षट्प्रकृतिबन्धपरित्यागाद् मोहनीयेन सह सप्तप्रकृतीर्बध्नन् लोभमार्गणायामुत्कृष्टवृद्धिं करोति, अथवा यः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके कालं कृत्वा देवत्वेन समुत्पद्यते, स देवभवप्रथमसमये षट्प्रकृतिबन्धपरिहाराद् मोहनीयेन सह सप्तप्रकृतीर्बध्नन् लोभमार्गणायामुत्कृष्टवृद्धिं करोति । क्षपकश्रेणिं वोपशमश्रेणिं वा-ऽऽरोहन् सूक्ष्मसम्परायः प्रथमसमये सप्तप्रकृतिबन्धपरिहारात् षट्प्रकृतीर्बध्नन्नुत्कृष्टहानिं करोति, तयोरन्यतरस्यानन्तरसमय उत्कृष्टावस्थानं भवति ।

अथ प्रकारान्तरेण लोभमार्गणाया स्वामित्व प्रतिपादयति-'अहवा' इत्यादि, अथवा 'शेषवत्' यथानन्तरगाथया शेषास्वेकोनत्रिशदधिकशतमार्गणास्वायुष्कबन्धप्रारम्भकः सप्तप्रकृतिबन्धत्यागादष्टप्रकृतीर्बध्नन्नुत्कृष्टवृद्धेरायुष्कबन्धतश्च निवृत्तोऽष्टप्रकृतिबन्धपरिवर्जनात् सप्तप्रकृतीर्बध्नन्नुत्कृष्टहानेस्तयोरन्यतरश्चानन्तरसमयेऽवस्थानस्य स्वामी वक्ष्यते, तथैव लोभमार्गणायामपि 'गुरुत्रिपदानाम्' उत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानाना स्वामिनो बोध्याः, उभयथाऽपि बन्ध एकस्याः प्रकृत्या वृद्धेर्हानेश्च भावात् । इदमत्रावधेयम्–इह यदि प्रकृतिसख्यापेक्षयोत्कृष्टवृद्धहानी इष्येते, तर्हि उभाभ्या स्वामिभ्यामुत्कृष्टवृद्धिहानी प्राप्येते एव, यदि पुनः पूर्वबद्धप्रकृत्यंशापेक्षयाऽप्युत्कृष्टवद्धिहानी इष्येते, तर्ह्यनन्तरगाथाप्रतिपादितस्वामिभ्यामेवोत्कृष्टवद्धिहानी लभ्येते इत्यपेक्षाकृतभेदेन विकल्पान्तर दर्शितम् ।

साम्प्रतमौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतमाह–"ओघव्व" इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानाना स्वामिन ओघवद् ज्ञेयाः, नवर क्षीणकषाय उत्कृष्टवृद्धेः स्वामी 'नास्ति' न भवति, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां क्षपकश्रेण्यभावेन क्षीणकषायस्याभावात् ॥४९०-४९१॥

साम्प्रतमेकोनत्रिशदधिकशतमार्गणासूत्कृष्टवृद्धयादेः स्वामिनो भणति—

गुरुवड्ढिमाउबंधारम्भे सेसासु कुणइ गुरुहाणि ।
आउगबंधविरामे से काले दोण्ह वि गुरुमवठाणं ॥४९२॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'गुरुवड्ढि०' इत्यादि, 'शेषासु' उक्तोद्धृतासु नरकगत्याद्येकोनत्रिशदुत्तरशतमार्गणास्वायुर्बन्धप्रारम्भे जीवः सप्तप्रकृतिबन्धपरिहारादष्टप्रकृतीर्बध्नन् 'गुरुवृद्धिम्' उत्कृष्टवृद्धिं करोति,

आयुष्कबन्धविरामे चाष्टप्रकृतिबन्धपरिवर्जनात् सप्तप्रकृतीर्बध्नन्नुत्कृष्टहानिं करोति, अनन्तरे च काले द्वयोरपि तयोरुत्कृष्टावस्थानं भवति, उभयत्रापि बन्ध एकस्या एव प्रकृतेर्वृद्धिहान्योर्भावात् । शेषाश्च मार्गणा इमाः-मनुष्यसामान्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीवर्जा गतिमार्गणाभेदाश्चतुश्चत्वारिंशद् , पञ्चेन्द्रिय-सामान्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरहिताः सप्तदशेन्द्रियमार्गणाभेदाः, त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसपरिवर्जाः कायमार्गणाभेदाश्चत्वारिंशत्, वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारकद्विको-दारिकमिश्रमार्गणास्त्रयो वेदाः, क्रोधमान-माया अज्ञानत्रयं सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमा-ऽसंयमाः शुक्ललेश्यावर्जाः पञ्चलेश्याः, अभव्यः, क्षायोपशमिक-सास्वादन-मिथ्यात्वमार्गणा असंज्ञी चेति ।।४९२।।

सम्प्रति जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानामोघत आदेशतश्च स्वामिनो भणितुकामः प्राह—

लहुवड्ढिमाउबंधारंभे सव्वत्थ कुणइ लहुहाणिं ।
आउगबंधविरामे से काले दोण्ह वि गुरुमवठाणं ।।४९३।। (गीतिः)
परमारम्भविरामा अवेउवसमेसु अत्थि मोहस्स ।
लहुतिपयाणेवं वा ओहणराइचउतीसाए ।।४९४।।

(प्रे०) "लहु०" इत्यादि, आयुर्बन्धारम्भे सति सप्तप्रकृतिबन्धपरित्यागादष्टप्रकृतीर्बध्नन् जीवः 'सर्वत्र' ओघत आदेशतश्च सर्वासु द्वयोर्मार्गणयोर्विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वात् त्रिषष्ट्यधिकशतमार्गणासु 'लघुवृद्धिं' जघन्यवृद्धिं करोति, बन्ध एकप्रकृतेर्वृद्धेः, आयुष्कबन्धविरामे सत्यष्टप्रकृतिबन्धपरिहारात् सप्तप्रकृतीर्बध्नन् जीव ओघत आदेशतश्च सर्वासु द्वयोर्मार्गणयोर्विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वात् त्रिषष्ट्यधिकशतमार्गणासु 'लघुहानिं' जघन्यहानिं करोति, बन्ध एकस्याः प्रकृतेर्हानेः ।

अथ द्वयोर्मार्गणयोर्विशेषमाह-'**पर०**' इत्यादि, परमपगतवेदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयो-र्मोहस्यारम्भविरामाद् लघुत्रिपादाना जघन्यवृद्धिजघन्यहानिजघन्यावस्थानानां जीवः स्वामी भवति । अयं भावः-उपशमश्रेणौ सूक्ष्मसम्परायतः प्रतिपतितोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने वर्तमानः षट्-प्रकृतिबन्धपरित्यागात् सप्तप्रकृतीर्बध्नन् जीवोऽपगतवेदौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्जघन्यवृद्धेस्त-दनन्तरसमये च जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवति । तथोपशमश्रेणा आरोहन्ननिवृत्तिबादरसम्परायतः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके सप्तप्रकृतिबन्धपरित्यागात् षट्प्रकृतीर्बध्नन् जीवोऽपगतवेदौ-पशमिकसम्य-क्त्वमार्गणयोर्जघन्यहानेस्तदनन्तरसमये च जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवति ।

यदि पूर्वबद्धप्रकृत्यंशापेक्षयाऽपि जघन्यवृद्धिहानी इष्येते, तर्हि ओघे तथा मनुष्यसामान्यादिचतु-स्त्रिंशन्मार्गणासु त्रिनवत्यधिकचतुश्शततमगाथाप्रतिपादिता एव जीवा जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामिनः । यदि पुनः केवलं प्रकृतिसंख्यापेक्षयैव जघन्यवृद्धिहानी इष्येते, तर्हि ओघे तथा मनुष्यादिचतुस्त्रिंशन्मार्गणासु

जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामिनोऽपगतवेदवदपि प्रतिपाद्याः । तदेव प्राह—'एव वा' इत्यादि, 'एवं वा' अथवा यथा ऽपगतवेदौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्मोहस्य बन्धस्य प्रारम्भको जघन्यवृद्धेः स्वामी मोहस्य बन्धतो निवृत्तो जघन्यहानेस्तदनन्तरसमये चावस्थानस्य च स्वामी दर्शितः, तथैव 'ओघनरादिचतुस्त्रिंशति' ओघे तथा मनुष्यसामान्य पर्याप्तमनुष्य मानुषी पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग -काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग- लोभ-मतिज्ञान श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञान मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना ऽवधिदर्शन शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व संज्ञ्या हारकरूपासु चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामिनो ज्ञेया इति शेषः ॥४९३-४९४॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने चतुर्थे पदनिक्षेपाधिकारे द्वितीय स्वामित्वद्वार समाप्तम ॥

॥ अथ तृतीयमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

इदानीमोघत उत्कृष्टवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिषुराह—

जेट्ठा हाणी थोवा हवेज्ज तत्तो विसेसअहियाणि ।
वड्ढिअवट्ठाणाइं जाणेयव्वाणि जेट्ठाणि ॥४९५॥

(प्रे०) 'जेट्ठा' इत्यादि, 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा हानिः स्तोका भवति, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानत उपशान्तमोहगुणस्थानकं प्राप्तस्योपशमकस्य वा क्षीणमोहगतस्य क्षपकस्य वा प्रथमसमय उत्कृष्टहानेर्भवनेन पञ्चप्रकृतिपरिमाणत्वात् तस्याः । ततः 'ज्येष्ठे' उत्कृष्टे वृद्ध्यवस्थाने विशेषाधिके ज्ञातव्ये, परस्परं च तुल्ये, उपशान्तमोहगुणस्थानके मरणेन देवभूय गतस्याविरतसम्यग्दृष्टिदेवस्योत्कृष्टवृद्धेर्लाभेन तदनन्तरसमये चोत्कृष्टावस्थानस्य प्राप्त्योत्कृष्टवृद्ध्यवस्थानयोः षट्प्रकृतिपरिमाणत्वात् ॥४९५॥

सम्प्रत्यादेशत उत्कृष्टवृद्ध्यादीनामोघत आदेशतश्च जघन्यवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वं प्राह—

एमेव दुपंचिंदियतसकायतिणाणदंसणेसु तहा ।
सुक्कभवियसम्मखइअउवसमसण्णीसु आहारे ॥४९६॥
तुल्लाइं जेट्ठाइं पयाणि तिण्णि वि हवेज्ज सेसासुं ।
ओहेणाऽऽएसेण वि लहूणि तिपयाणि तुल्लाणि ॥४९७॥

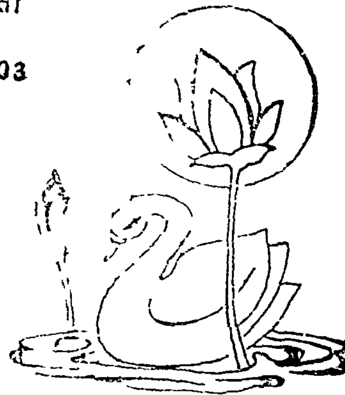
(प्रे०) 'एमेव' इत्यादि, 'एवमेव' यथौघत उत्कृष्टहानिः स्तोका, तत उत्कृष्टवृद्ध्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं च तुल्ये इत्यल्पबहुत्वमभिहितम्, तथैव पञ्चेन्द्रियसामान्य -पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-

त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय काययोगसामान्य मतिज्ञान–श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनमार्गणासु तथा शुक्ललेश्या भव्य-सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणास्वाहारकमार्गणायां च सर्वसंख्यया-ऽष्टादशमार्गणासूत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानामल्पबहुत्व भवति, एतासु मार्गणासूपशान्तमोहगुणस्थाने कालकरणाद् देवत्वेन समुत्पन्नस्योत्कृष्टवृद्धेः स्वामित्वेन लाभात् , औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुपशान्तमोहस्य शेषासु चोपशान्तमोहस्य क्षीणकषायस्य चोत्कृष्टहानेः स्वामित्वेन प्राप्तेः ।

अथादेशतः शेषासु मार्गणासु प्रस्तुताल्पबहुत्व प्राह -'तुल्लाइ' इत्यादि, शेषासु नरकगत्यादिषु सप्तचत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु "ज्येष्ठानि" उत्कृष्टानि त्रीण्यपि पदानि वृद्धिहान्यवस्थानानि-परस्पर तुल्यानि भवन्ति, मनुष्यसामान्य पर्याप्तमनुष्य मानुषी पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोगौ दारिककाययोगा ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यरूपसप्तदशमार्गणासु बन्धे पञ्चप्रकृतिपरिमाण-वृद्धिहानिभावात् , शेषासु च त्रिंशदधिकशतमार्गणासु बन्ध एकप्रकृतिपरिमाणवृद्धिहानिलाभात् ।

अथ जघन्यवृद्धयादीनामल्पबहुत्व भणितुकामः प्राह–"ओहेणा०" इत्यादि, ओघेन आदेशेन च पञ्चषष्टयधिकशतमार्गणासु 'लघूनि' जघन्यानि 'त्रिपदानि' वृद्धिहान्यवस्थानानि परस्पर तुल्यानि, तास्वेकप्रकृतिपरिमाणवृद्धिहानिभावात् ।।४९६-४९७।।

।। इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे चतुर्थे पदनिक्षेपाधिकारे तृतीयमल्पबहुत्वद्वार समाप्तम् ।।



जघन्योत्कृष्टप्रकृतिबन्धवृद्ध्यादीनां सत्पद-स्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघत आदेशतश्च 卐पञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणासु जघन्योत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानि सन्ति (गाथा-४८४-८५)

कासु मार्गणासु	स्वामिन
ओघत पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रस-पर्याप्तत्रस-काय-योग-मति-श्रुता--ऽवधिज्ञान-चक्षु- रचक्षु-रवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकौ-पशमिकसम्य-क्त्व-सन्याहारकमार्गणासु च	उत्कृष्टवृद्धे रुपशान्तमोहे काल कृत्वा देव स्वप्रथमसमये उत्कृष्टावस्थानस्य स एवा-ऽनन्तरसमये । उत्कृष्टहाने क्षीणकषाय ❀ उपशान्तकषायो वा स्वप्रथम-समये ।
मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य मानुषी-पञ्चमनोयोग-पञ्चवच-नयोगौ दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-मन पर्यवज्ञान सयम-सामान्यमार्गणासु	उत्कृष्टवृद्धे रुपशान्तमोहत पतित सूक्ष्मसम्पराय. उत्कृष्टहाने सूक्ष्मसम्परायत उपशान्तमोह प्राप्त उत्कृष्टावस्थानस्याऽनन्तरसमय उभावपि ।
लोभमार्गणायाम्	उत्कृष्टवृद्धे सूक्ष्मसम्परायतोऽद्धाक्षयेण कालकरणेन वा पतितो मोह बध्नन् स्वप्रथमसमये । उत्कृष्टहाने सूक्ष्मसम्पराय स्वप्रथमसमये । उत्कृष्टावस्थानस्याऽनन्तरसमय उभावपि । अथवा शेषमार्गणावद्बोध्यम् ।
शेषासु १२६ मार्गणासु	उत्कृष्टवृद्धेरायुष्कबन्ध कुर्वन् प्रथमसमये । उत्कृष्टहानेरायुष्कबन्धविरमणसमये कश्चिज्जीव । उत्कृष्टावस्थानस्योभावप्यनन्तरसमये ।
अवेदौ-पशमिकसम्यक्त्वयोरोघतो मनुष्यादिचतुस्त्रिंश-न्मार्गणासु च	जघन्यवृद्धे सूक्ष्मसम्परायत प्रतिपतन् स्वप्रथमसमये । जघन्यहाने सूक्ष्मसम्परायत्व प्रतिपन्न स्वप्रथमसमये । जघन्यावस्थानस्यानन्तरसमय उभावपि ।
अथवौघतो मनुष्यादिचतुस्त्रिंशन्मार्गणासु शेषासु च १२६ मार्गणासु	जघन्यवृद्धेरायुष्क बध्नन् प्रथमसमये । जघन्यहानेरायुष्कबन्धतो निवृत्त प्रथमसमये । जघन्यावस्थानस्याऽनन्तरसमय उभावपि ।

अल्पबहुत्वद्वारम्

ओघत पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रस-पर्याप्तत्रस-काययोग मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-चक्षु-रचक्षु -रवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य- क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सन्याहारकमार्गणासु च	(१) उत्कृष्टा हानि स्तोका । (२) तत उत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टावस्थाने विशेषाधिके परस्पर च तुल्ये ।
शेषासु १४७ मार्गणासु	उत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानि परस्पर तुल्यानि ।
ओघत आदेशतश्च 卐१६५ मार्गणासु	जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानि परस्पर तुल्यानि ।

卐 वैक्रियमिश्र-कार्मणा-ऽकषायकेवलद्विकसूक्ष्मसम्पराय यथाख्यात-मिश्रा-ऽनाहारकवर्जासु ।

❀ नवरमौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया क्षी . स्वामी नास्ति ।

॥ अथ वृद्ध्यधिकारः ॥

प्रकृतिबन्धाधिकारकथनावसरे 'वड्ढी' इति नाममात्रेण कथयित्वा तत्र च सङ्ख्यामात्रेण त्रयोदश द्वाराण्यभिहितानि, तानि सम्प्रति नामग्राहं भणन् प्राह—

णेयाणि वड्ढबंधे अहिगारे पंचमे दुआराइं ।
तेरस संतपयं तह सामी कालंतराइं च ॥४९८॥
भंगविचयो य भागो परिमाणं खेत्तफोसणाउ तहा ।
कालो अंतरभावा अप्पाबहुगं जहाकमसो ॥४९९॥

(प्रे०) 'णेयाणि' इत्यादि, पञ्चमे वृद्धिबन्धेऽधिकारे त्रयोदश द्वाराणि 'ज्ञेयानि' बोद्धव्यानि । तान्येव द्वाराणि नामग्राहं प्राह–'संतपय' इत्यादि, प्रथमं सत्पदद्वारम्, द्वितीयं स्वामिद्वारम्, तृतीयमेकजीवाश्रितं कालद्वारम्, चतुर्थमेकजीवाश्रयमन्तरद्वारम्, पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम्, षष्ठं भागद्वारम्, सप्तमं परिमाणद्वारम्, अष्टमं क्षेत्रद्वारम्, नवमं स्पर्शनाद्वारम्, दशमं नानाजीवाश्रितं कालद्वारम्, एकादशमन्तरद्वारम्, द्वादशं भावद्वारम्, त्रयोदशं चाल्पबहुत्वद्वारं यथाक्रमं वृद्धिबन्धाधिकारे त्रयोदशद्वाराणि ज्ञेयानीत्यर्थः । एतेषां द्वाराणां व्याख्या त्वेकचत्वारिंशत्तमगाथा द्वाचत्वारिंशत्तमगाथावृत्तितोऽवसेया केवलं तत्र मूलप्रकृतिबन्धमधिकृत्य व्याख्यातानि, इह तु सङ्ख्येयभागसंख्येयगुणवृद्धिहान्यवस्थितबन्धमवलम्ब्य विवेचनीयानि । भूयस्काराधिकारे सामान्यतो भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धश्च वर्णितौ, इह वृद्ध्यधिकारे तु विशेषतो भूयस्कारबन्धस्य संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिरल्पतरबन्धस्य च सङ्ख्येयभागहानिः सङ्ख्येयगुणहानिर्निरूपयिष्यन्त इत्यस्ति विशेषः । अवस्थितबन्धस्तु निर्विशेषेणाऽतिदेशेन भूयस्काराधिकारवदत्रापि बोध्यः, स चानन्तरगाथयैव दर्शयिष्यते, तथा पदनिक्षेपाधिकारे भूयस्कारस्य वृद्धिरल्पतरबन्धस्य च हानिर्जघन्योत्कृष्टभेदेन निरूपिते, इह तु सङ्ख्येयभागसंख्येयगुणभेदेन प्ररूपयिष्येते इति पदनिक्षेपतोऽपि वृद्धिबन्धाधिकारस्याऽस्ति विशेषः ।

॥ अथ सत्पदादीनि द्वाराणि ॥

द्वारनामान्यभिधाय सङ्ख्येयभागवृद्धिबन्धं संख्येयगुणवृद्धिबन्धं सङ्ख्येयगुणहानिबन्धं सङ्ख्येयभागहानिबन्धमवस्थितबन्धं च सत्पदाद्यल्पबहुत्वपर्यवसानैस्त्रयोदशद्वारैः प्रतिपिपादयिषुरादौ तावद् भूयस्कारादिप्ररूपणायास्तुल्यत्वादल्पवक्तव्यत्वाच्च संख्येयभागवृद्धिहान्यवस्थितबन्धानतिदेशेन प्रतिपादयन्नार्यापञ्चकमाह—

भूगारे बारससु संतपयाईसु मूलपयडीणं ।
भणिओऽवठिओ जह तह णेयो इह वि अविसेसेणं ॥५००॥

भूओगारव्व भवे परूवणा संखभागवड्ढीए ।
अप्पयरव्व हवेज्जा तह संखेज्जंसहाणीए ॥५०१॥
णवरं ण भवे सुहुमो सामी संखेज्जभागवड्ढीए ।
उवसंतखीणमोहा ण अत्थि संखंसहाणीए ॥५०२॥
तइए तत्थ वि समयो जेट्ठो संखेज्जभागवड्ढीए ।
जत्थ वि कालो जेट्ठो भूओगारस्स दो समया ॥५०३॥
तुरिये भिन्नमुहुत्तं होइ लहुं संखभागवड्ढीए ।
तत्थ वि जत्थ जहण्णं भूगारस्संतरं समयो ॥५०४॥
न य अंतरं हवेज्जा संखेज्जइभागवड्ढिहाणीणं ।
अवगयवेअम्मि तहा उवसमसम्मत्तभेअम्मि ॥५०५॥

(प्रे०) 'भूगारे' इत्यादि, भूयस्काराख्येऽधिकारे 'सत्पदादिषु' सत्पद-स्वामित्व-काला-ऽन्तर-भङ्गविचय भाग-परिमाण-क्षेत्र स्पर्शना नानाजीवाश्रितकाला-ऽन्तर भावाख्येषु द्वादशसु द्वारेषु मूलप्रकृतीनामवस्थितबन्धो यथा 'भणितः' प्रतिपादितः, तथा 'अविशेषेण' निर्विशेषेण ओघत आदेशतश्च मार्गणासु 'इह' वृद्ध्यधिकारेऽपि 'ज्ञेयः' बोध्यः, विशेषाभावात् । 'भूओगारव्व' इत्यादि, द्वादशद्वारेषु संख्येयभागवृद्धेः प्ररूपणौघत आदेशतश्च मार्गणासु भूयस्कारबन्धवद् भवेत् । तथाऽल्पतरबन्धवत् संख्येयभागहानेरोघत आदेशतश्च प्ररूपणा भवति । अथातिप्रसक्तिनिवारणाय प्राह–'णवर' इत्यादि, नवरमोघत आदेशतश्च मनुष्यादिमार्गणासु संख्येयभागवृद्धेः स्वामी सूक्ष्मसम्परायो न भवति, उपशान्तमोहगुणस्थानकपरित्यागात् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं प्राप्तस्य सूक्ष्मसम्परायसयतस्य सङ्ख्येयगुणवृद्धेः । इदमत्राऽवधेयम्–ओघत आदेशतश्चपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासूपशान्तमोहगुणस्थानके कालकरणेन देवभूयगतोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्यो भूयस्कारस्य स्वामी भावितः, स इह वृद्ध्यधिकारे ओघत आदेशतश्च पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु सङ्ख्येयभागवृद्धेः स्वामी न परिभाव्यः, तस्य संख्येयगुणवृद्धेः । तथौघत आदेशतश्च मनुष्यादिमार्गणासु सङ्ख्येयभागहानेः स्वामितयोपशान्तमोह-क्षीणकषायौ प्रत्येकं न भवतः, तयोः संख्येयगुणहानेः । तृतीय एकजीवाश्रयकालद्वारे यत्र भूयस्कारबन्धस्य 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः ऽो द्वौ समयौ, 'तत्राऽपि' ओघत आदेशतश्च पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वपि सङ्ख्येयभागवृद्धेरुत्कृष्टकाल एकः समयः, भूयस्कारबन्धस्य प्रतिपादितसमयद्वयमात्रोत्कृष्टकाले प्रथमसमयभावनायाः सङ्ख्येयगुणवृद्धिसम्बन्धित्वादत्राऽघटनात् । 'तुरिये' इत्यादि, चतुर्थ एकजीवाश्रयान्तरद्वारे यत्र भूयस्कारस्य जघन्यमेकजीवाश्रयमन्तर समयः, 'तत्रापि' ओघत आदेशतश्चापि पञ्चेन्द्रियाद्यष्टादश-

मार्गणासु संख्येयभागवृद्धेः 'लघु' जघन्यमेकजीवाश्रयमन्तरं भिन्नमुहूर्तं भवति, भूयस्कारस्यैक-जीवाश्रयजघन्यान्तरस्यैकसमयमात्रस्य संख्येयगुण-संख्येयभागवृद्धयोरन्तरालकालत्वेन लाभात् संख्येयभागवृद्धिजघन्यान्तरस्य च द्वयोरायुष्कसप्तमाष्टमाकर्षयोर्जघन्यान्तरकालत्वेन प्राप्तेः । तथाऽपगत-वेदमार्गणायाम् 'औपशमिकसम्यक्त्वभेदे' औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां च संख्येयभागवृद्धि-हान्योरेकजीवाश्रयान्तरं न भवति, प्रोक्तमार्गणाद्वयपरित्यागमृते द्वितीयवारमुपशमश्रेणेः प्राप्तेर-भावात् ।

अवस्थितबन्धस्य निर्विशेषेणातिदिष्टत्वादिह वृद्धयधिकारे नास्ति कश्चिद्विशेषो वक्तव्यः । सख्येयभागवृद्धिहान्योस्तु भूयस्काराल्पतरबन्धापेक्षया नामभेदोऽन्यश्च विशेषः प्रतिपादितः । तेन साम्प्रतं संख्येयभागवृद्धिः संख्येयभागहानिश्च सत्पदादिद्वारैः प्रत्येकं वृत्तौ भण्येते । तथाहि-सत्पदप्ररूपणायामोघत आदेशतश्च पञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणासु मूलप्रकृतिबन्धे संख्येयभागवृद्धिः सख्येयभागहानिश्च स्तः । इति प्रथमं सत्पदद्वारम ।



अथ द्वितीय स्वामित्वद्वारम् । ओघतो मिथ्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्दृष्ट्य-विरतसम्यग्दृष्टि-देश-विरत-प्रमत्तसयता-ऽनिवृत्तिबादरसम्परायाः प्रत्येक सख्येयभागवृद्धेः स्वामिनः सन्ति । तथा मिथ्या-दृष्टि-सास्वादनसम्यग्दृष्ट्य-विरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसयता-ऽप्रमत्तसंयत-सूक्ष्मसम्परायाः प्रत्येकं सख्येयभागहानेः स्वामिनो भवन्ति । एवमोघवन्मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी पञ्चेन्द्रियसामा-न्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग- पञ्चवचनयोग काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-लोभ-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन शुक्ललेश्या भव्य-सज्ञ्या-हारकरूपासु षड्विंशतिमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योः प्रत्येक स्वामिनो भवन्ति, औदारिकमिश्रमार्गणाया सख्येयभागवृद्धि-हान्योः प्रत्येक मिथ्यादृष्टिः स्वामी भवति । स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-क्रोध-मान-मायारूपषड्-मार्गणासु मिथ्यादृष्टि-सास्वादना ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसयताः संख्येयभागवृद्धेः स्वामिनो भवन्ति, तथा मिथ्यादृष्टि-सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसयता ऽप्रमत्तसंयताः संख्येय-भागहानेः स्वामिनो भवन्ति । अपगतवेदमार्गणायामनिवृत्तिबादरसम्परायः संख्येयभागवृद्धेः सूक्ष्म-सम्परायसयतश्च सख्येयभागहानेः स्वामी भवति । मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनसम्य-क्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु संख्येयभागवृद्धेः स्वामिनोऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशसंयतप्रमत्त सयता ऽनिवृत्तिबादरसम्पराया भवन्ति, सख्येयभागहानेश्च स्वामिनोऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशसंयत-प्रमत्त-सयता-ऽप्रमत्तसयत सूक्ष्मसम्पराया भवन्ति । मनःपर्यवज्ञानमार्गणाया प्रमत्तसंयता ऽनिवृत्तिबादरसम्प-

रायौ संख्येयभागवृद्धेः स्वामिनौ भवतः, संख्येयभागहानेश्च स्वामिनः प्रमत्ता-ऽप्रमत्त सूक्ष्मसम्पराया भवन्ति । सामायिकसयम च्छेदोपस्थापनीयसयम परिहारविशुद्धिसयममार्गणासु संख्येयभागवृद्धेः स्वामी प्रमत्तसंयतो भवति, सख्येयभागहानेश्च स्वामिनौ प्रमत्ता ऽप्रमत्तसंयतौ भवतः ।

तेजोलेश्या पद्मलेश्ययोः संख्येयभागवृद्धेः स्वामिनो मिथ्यादृष्टि सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमत्तसंयता भवन्ति, सख्येयभागहानेश्च स्वामिनो मिथ्यादृष्टि सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत-प्रमत्तसंयता-ऽप्रमत्तसंयता भवन्ति । क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत प्रमत्तसंयताः संख्येयभागवृद्धेः स्वामिनो भवन्ति, संख्येयभागहानेश्चाऽविरतसम्यग्दृष्टि -देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता भवन्ति । औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामविरतसम्यग्दृष्ट्यनिवृत्तिबादरसम्परायौ सख्येयभागवृद्धेः स्वामिनौ भवतः, सूक्ष्मसम्परायसयतश्च सख्येयभागहानेः स्वामी भवति ।

नरकगतिसामान्य–सप्तमनरकवर्जनरकभेदषट्क--पञ्चानुत्तरवर्जपञ्चविंशतिसुरभेद—वैक्रियकाययोगा-ऽविरत-कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्यारूपासु सप्तत्रिंशन्मार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामिनो मिथ्यादृष्टि-सास्वादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । सप्तमनरके सख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामी मिथ्यादृष्टिर्भवति ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जासु चतसृषु तिर्यङ्मार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामिनो मिश्रवर्जमिथ्यादृष्ट्यादिदेशविरतपर्यवसाना भवन्ति ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तमनुष्य--पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियभेद-त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जचत्वारिंशत्काय भेदा-ऽभव्य- मिथ्यात्व-ऽसंज्ञिलक्षणेषु द्वाषष्टिमार्गणाभेदेषु संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामी मिथ्यादृष्टिर्भवति ।

पञ्चानुत्तरदेवमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वाम्यविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति । आहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामी प्रमत्तमुनिः । मत्यज्ञान श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामिनौ मिथ्यादृष्टि-सास्वादनौ भवतः । देशविरतमार्गणायां संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामी देशसंयतो भवति, सास्वादनमार्गणाया च संख्येयभागवृद्धिहान्योः सास्वादनो भवति । इति स्वामित्वद्वारम् ।

अथैकजीवाश्रित कालद्वारम् । ओघत आदेशतश्च पञ्चषष्टयधिकशतमार्गणासु संख्येयभागवृद्धेः संख्येयभागहानेश्चैकजीवाश्रयः कालो जघन्यत उत्कृष्टतश्चैक समयः । इत्येकजीवाश्रयं कालद्वारम् ।

अथैकजीवाश्रितमन्तरद्वारम् । ओघत आदेशतश्च पञ्चमनोयोगादिविंशतिमार्गणासु निषेधस्य वक्ष्यमाणत्वान्निरयगत्यादिपञ्चचत्वारिंशदधिकशतमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रय जघ-

न्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , उत्कृष्टतश्चैधतः संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमन्तरं सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः ।

पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोगा-ऽवेद-कषायचतुष्कौ-पशमिकसम्यक्त्व-सास्वादनरूपासु विंशतिमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमन्तरं नास्ति ।

नरकगतिसामान्य-सप्तनरकभेद त्रिंशद्देवभेद षड्लेश्यासु सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तर देशोनषण्मासाः ।

पञ्चसु तिर्यग्भेदेषु चतुर्षु मनुष्यभेदेषु पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियभेदेषु त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायवर्जेषु च चत्वारिंशत्कायभेदेषु संख्येयभागवृद्धिहान्योरुत्कृष्टमेकजीवाश्रयान्तरं सातिरेकस्वस्वोत्कृष्टभवस्थितिः ।

काययोगसामान्यमार्गणायां सख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं देशोनत्रिभागाधिकोत्कृष्टपृथिवीकायभवस्थितिर्भवति ।

औदारिककाययोगमार्गणायां सख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं देशोनोत्कृष्टपृथिवीकायभवस्थितित्रिभागो भवति । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणाया संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् ।

स्त्रीवेदमार्गणाया संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागाधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि भवति ।

मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणयोः संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनस्वोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति ।

सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसयम-देशसंयममार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणं भवति ।

विभङ्गज्ञानमार्गणाया सख्येयभागवृद्धिहान्योर्देशोनपूर्वकोटिद्वित्रिभागन्यूनोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, अथवा देशोनाः षण्मासा भवति ।

असंज्ञिमार्गणाया संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटित्रिभागाधिकपूर्वकोटिर्भवति ।

शेषासु पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद नपुसकवेद-मति-श्रुता ऽवधिज्ञाना-ऽज्ञानद्विका-ऽविरत-केवलवर्जदर्शनत्रिक-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्व संज्ञ्या-हारकमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा भवति । इत्येकजीवाश्रय चतुर्थमन्तरद्वारम् ।

अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् । ओघतः सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका नियमतो भवन्ति । आदेशतः पुनस्तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणाया सप्तैकेन्द्रियभेदेषु पर्याप्तबादरपृथिवीकायवर्जेषु षट्सु पृथिवीकायभेदेषु एव षडप्कायभेदेषु, षट्तेजःकायभेदेषु, षड्वायुकायभेदेषु, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायरहितेषु दशसु वनस्पतिकायभेदेषु, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग तन्मिश्रकाययोग–नपुंसकवेद क्रोध-मान-माया–लोभा-ऽज्ञानद्वया-ऽविरतमार्गणा–ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णलेश्या नीललेश्या-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य मिथ्यात्व-संज्ञिमार्गणा-ऽऽहारकमार्गणासु च सर्वसंख्यया द्वाषष्टिमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका नियमाद्भवन्ति, शेषासु त्र्यधिकशतमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका भजनीया भवन्ति, नानाजीवापेक्षया सख्येयभागवृद्धिहान्योरन्तरस्य भावात् । भङ्गास्त्वग्रे सख्येयगुणवृद्धिहानिबन्धकभङ्गविचयप्ररूपणाऽवसरे दर्शयिष्यामः । इति पञ्चम भङ्गविचयद्वारम् ।

अथ षष्ठं भागद्वारम् । संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका असंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, अवस्थितबन्धकानां बहुसंख्येयभागमात्रत्वात् । आदेशतश्च पर्याप्तमनुष्य-मानुषी सर्वार्थसिद्धिकसुरा-ऽऽहारकद्विका-ऽपगतवेदमार्गणा-मनःपर्यवज्ञान सयमसामान्य-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयमाख्यास्वेकादशसु मार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकं बन्धकास्तत्तन्मार्गणागताना भूयस्कारादिसमस्तबन्धकानां संख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, तत्तन्मार्गणागताना बन्धकाना संख्येयत्वात् । उक्तोद्धृतासु चतुष्पञ्चाशदधिकशतमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका असंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति, अवस्थितबन्धकानां बहुसंख्येयभागप्रमाणत्वात् । इति षष्ठं भागद्वारम् ।

अथ सप्तम परिमाणद्वारम् । अथ परिमाणद्वारेण सख्येयभागवृद्धिहानिबन्धका विस्तरेण दर्श्यन्ते-ओघतः सख्येयभागवृद्धिहानिबन्धका अनन्ता भवन्ति । आदेशतः पुनस्तिर्यग्गतिसामान्य सप्तैकेन्द्रियभेद वनस्पतिकायसामान्य सप्तनिगोदभेद काययोगसामान्यौदारिकद्विक-नपुंसकवेद-चतुष्कषायाऽज्ञानद्विका-ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णलेश्या नीललेश्या-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य मिथ्यात्वा ऽसंज्ञ्या ऽऽहारकरूपषट्त्रिंशन्मार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका अनन्ता भवन्ति ।

पर्याप्तमनुष्य-मानुष्या नतादिसर्वार्थसिद्धपर्यवसानाष्टादशदेवमार्गणा ऽऽहारकद्विका ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान--संयमसामान्य –सामायिक च्छेदोपस्थापनीय –परिहारविशुद्धिकसयम–शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वो-पशमसम्यक्त्वरूपास्वेकत्रिंशन्मार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाः सख्येया भवन्ति ।

शेषास्वष्टानवतिमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका असंख्येया भवन्ति । इति सप्तम परिमाणद्वारम् ।

अथाष्टमं क्षेत्रद्वारम् । अथ क्षेत्रद्वारेण संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धका विस्तरतः प्रदर्श्यन्ते-ओघतः संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति ।

आदेशतस्तिर्यग्गतिसामान्यै-केन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया -ऽप्कायसामान्य-सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया-ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-तेजःकायसामान्य सूक्ष्मतेजःकाय-पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय-वायुकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय -वनस्पतिकायसामान्य -साधारणशरीरवनस्पतिकाय -सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय--पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया--ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय--काययोगसामान्यौदारिकद्विक नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्विका-ऽविरता ऽचक्षुर्दर्शना ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा ऽसंज्ञ्या-हारकलक्षणासु षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु सङ्ख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाः सर्वजगति भवन्ति ।

बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया -ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय -बादरवायुकाय--पर्याप्तबादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायाख्येषु षट्सु मार्गणास्थानेषु सङ्ख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका देशोनलोके भवन्ति ।

शेषासु त्रयोदशाधिकशतमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका लोकासंख्येयभागे वर्तन्ते ।

इत्यष्टमं क्षेत्रद्वारम् ।

अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् । अथ स्पर्शनाद्वारेण संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धकाना स्पर्शना प्रतिपाद्यते—

ओघतः संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः ।

आदेशतस्तिर्यग्गतिसामान्यै-केन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पृथिवीकायसामान्य-सूक्ष्मपृथिवीकाय-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाया-ऽप्कासामान्य सूक्ष्माप्काय-पर्याप्तसूक्ष्माप्काया ऽपर्याप्तसूक्ष्माप्काय-तेजःकायसामान्य-सूक्ष्मतेजःकाय पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजःकाय—वायुकायसामान्य—सूक्ष्मवायुकाय-पर्याप्तसूक्ष्मवायुकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मवायुकाय-वनस्पतिकायसामान्य-साधारणशरीरवनस्पतिकाय सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाया ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-काययोगसामान्यौदारिककाययोग तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्वया-ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रय-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या हारकरूपासु षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकैः सर्वः लोकः स्पृष्टः ।

बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-बादरवायुकाय पर्याप्तबादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायरूपासु षट्सु मार्गणासु सङ्ख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकैर्देशोनो लोकः स्पृष्टः ।

देवगतिसामान्य भवनपति व्यन्तर-ज्योतिष्क सौधर्मप्रभृतिस ारपर्यवसानेषु द्वादशदेवमार्गणास्थानेषु पञ्चेन्द्रियसामान्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग

योग-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद पुरुषवेद मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञान--विभङ्गज्ञान--चक्षुर्दर्शना ऽवधिदर्शन--तेजोलेश्या--पद्मलेश्या-सम्यक्त्वसामान्य--क्षायिकसम्यक्त्व--क्षायोपशमिकसम्यक्त्व--सास्वादन-संज्ञिरूपद्विचत्वारिंशन्मार्गणास्थानेषु त्रसनाड्या अष्टौ चतुर्दशभागाः संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकैः स्पृष्टाः ।

आनतप्रभृत्यच्युतान्तसुरमार्गणासु शुक्ललेश्यायां च संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकैः षट् त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः ।

शेषासु नरकगतिसामान्य सप्तनरकपृथिवीभेद तिर्यक्सामान्यवर्जतिर्यग्भेदचतुष्क मनुष्यभेदचतुष्क नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तरसुर नवविकलेन्द्रियभेदा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तबादरपृथिवीकाया ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकाय-बादराप्काय-पर्याप्तबादराप्काया-ऽपर्याप्तबादराप्काय--बादरतेजःकाय-पर्याप्तबादरतेजःकाया ऽपर्याप्तबादरतेजःकाय-बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय--पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकाय-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकाया ऽपर्याप्तत्रसकाया-ऽऽहारककाययोग- तन्मिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य--सामायिकसंयम--च्छेदोपस्थापनीयसयम-परिहारविशुद्धिक-संयम- देशसंयमौ--पशमिकसम्यक्त्वरूपषट्षष्टिमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकैर्लोकासंख्येय भागः स्पृष्टः । इति नवमं स्पर्शनाद्वारम् ।

अथ दशमं कालद्वारम् । अथ कालद्वारेण संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाना कालः प्रदश्यते--

ओघतः संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाना नानाजीवाश्रयकालः सर्वाद्धा भवति ।

आदेशतस्तिर्यग्गतिसामान्य सप्तैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरवर्जपृथिवीकायभेदषट्का--ऽप्कायभेदषट्क-तेजःकायभेदषट्क वायुकायभेदषट्क--पर्याप्तप्रत्येकशरीरवर्जवनस्पतिकायभेददशक-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का ऽज्ञानद्वया--ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभ--लेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-हारकरूपासु द्वाषष्टिमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा भवति ।

शेषासु त्र्यधिकशतमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाना नानाजीवाश्रयो जघन्यः काल एकसमयः, उत्कृष्टस्तु पर्याप्तमनुष्य-मानुष्या-नतादिसर्वार्थसिद्धपर्यवसानाष्टादशसुरमार्गणा-ऽऽहारकद्विका-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-सयमसामान्य-सामायिकसंयम--च्छेदोपस्थापनीयसयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वरूपास्वेकत्रिंशन्मार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्ध कयोः सख्येयाः समयाः । शेषासु द्वासप्ततिमार्गणास्वावलिकाऽसंख्येयभागो बोध्यः । इति दशमं नानाजीवाश्रय कालद्वारम् ।

अथैकादशमन्तरद्वारम् । अथान्तरद्वारेण संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धकानां नानाजीवाश्रयान्तरं प्रदर्श्यते—

ओघतः संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तरं नास्ति, आदेशतश्च तिर्यग्गतिसामान्य-सप्तैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरवर्जपृथिवीकायभेदषट्का-ऽप्कायभेदषट्क-तेजःकाय-भेदषट्क-वायुकायभेदषट्क-पर्याप्तप्रत्येकशरीरवर्जवनस्पतिकायभेददशक-काययोगसामान्यौ-दारिक-काययोग-तन्मिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्वया-ऽविरता-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्या-त्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-हारकरूपासु द्वाषष्टिमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयान्तर नास्ति ।

शेषासु त्र्युत्तरशतमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयं जघन्यमन्तरमेक-समयः, उत्कृष्टन्तु पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणायामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणायां द्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्त-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमा-र्गणासु त्रसकाया-ऽपर्याप्तत्रसकाययोश्च सर्वसंख्यया द्वादशमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तम् ।

अपगतवेदमार्गणायाञ्च संख्येयहानेर्बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासाः, संख्येयभागवृद्धेश्च बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति ।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां संख्येयभागवृद्धिहान्योरुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं समस्ति ।

प्रोक्तशेषास्वेकोननवतिमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरं तु स्वयमेवोहनीयम् । इत्येकादशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारम् ।

अथ द्वादशं भावद्वारम् । अथ भावद्वारेण संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धौ निरूप्येते ओघत आदेशतश्च पञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धौ चतुस्सप्तत्यधिकशतमार्गणास्वव-स्थितबन्धश्चौदयिकभावेन भवतः । इति द्वादशं भावद्वारम् । ५०० ५०५ ।।



॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

साम्प्रत सत्पदद्वारेण सख्येयगुणवृद्धिहानी ओघत आदेशतश्च समर्थयन्नाह—

संखगुणवड्ढिहाणी मूलप्पयडीण अत्थि एमेव ।
तिमणुयदुपणिदियतसपणमणवयकायउरलेसु ॥५०६॥
गयवेए णाणचउगसंजमदंसणतिगेसु सुक्काए ।
तह भवियसम्मखाइअउवसमसण्णीसु आहारे ॥५०७॥

(प्रे०)'संख०' मूलप्रकृतीना बन्धे 'संख्येयगुणवृद्धिहानी' सख्येयगुणवृद्धि' सख्येयगुणहानिश्चौघतः स्तः । 'एवमेव' यथौघतः सख्येयगुणवृद्धिहानी स्तः, तथैव मनुष्यसामान्य पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगमार्गणास्वपगतवेदमार्गणाया मतिज्ञान श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञानरूपज्ञानचतुष्क-सयमसामान्य केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रिकमार्गणासु शुक्ललेश्यायां तथा भव्य-सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणास्वाहारकमार्गणायां च सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु संख्येयगुणवृद्धिः संख्येयगुणहानिश्च स्तः, उपशान्तमोहगुणस्थानकतोऽद्धाक्षयेण वा भवक्षयेण वा प्रपततः सख्येयगुणवृद्धेः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानतश्चोपशान्तमोहत्वं वा क्षीणमोहत्व वा प्राप्तस्य संख्येयगुणहानेः ॥५०६-५०७॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे प्रथम सत्पदद्वार समाप्तम् ॥



॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

साम्प्रतं संख्येयगुणवृद्धिहान्योः स्वामिनं प्ररूपयितुकामः प्राह—

सखियगुणवड्ढीए सामी सुहुमो उ पडणपढमखणे ।
होइ अहव उवसंतो कालं किच्चा सुरो जाओ ॥५०८॥
कुणइ उवसंतमोहो खीणकसायो व पढमसमयत्थो ।
संखियगुणहाणिं पणतीसाए दोण्ह एवमेव परं ॥५०९॥ (गीतिः)
तिमणु॰पंचमणवयणउरलअवेअ ।णण॰।णविरईसु ।
वड्ढीए णत्थि रो हाणीए वसमे वगो ॥५१०॥

(प्रे०) 'संखिज्जगुणवड्ढीए' इत्यादि, ओघतः संख्येयगुणवृद्धेः स्वामी सूक्ष्मसम्पराय-सयतः 'पतनप्रथमक्षणे' पतनप्रथमसमये भवति, अथवोपशान्तमोह' कालं कृत्वा सुरो जातः, स संख्येयगुणवृद्धेः स्वामी भवति । अय भावः–यदा कश्चिज्जीव उपशान्तमोहो भूत्वाऽद्धाक्षयेण प्रति-पतति, तदा प्रतिपातसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथमसमय एकप्रकृतिबन्धपरित्यागात् षट्प्रकृतीर्बध्नन् सूक्ष्मसम्परायसंयतः संख्येयगुणवृद्धि करोति. अथवोपशान्तमोहे भवक्षयेण काल कृत्वा देवत्वेन समु-त्पन्न एकप्रकृतिबन्धपरित्यागाद् देवभवप्रथमसमये सप्तप्रकृतीर्बध्नन् सुरः सख्येयगुणवृद्धि करोति ।

प्रथमसमयस्थ उपशान्तमोहो वा प्रथमसमयस्थः क्षीणमोहो वा सख्येयगुणहानिं करोति, षट्प्रकृतिबन्धपरित्यागादेकस्याः प्रकृतेर्बन्धात् ।

अथादेशतः स्वामित्वं प्रतिपादयति–'पणतीसाए' इत्यादि, 'एवमेव' यथौघतः संख्येयगुण-वृद्धिहान्योः स्वामिनः प्रतिपादिताः, तथैव पञ्चत्रिंशति सत्पदद्वारोक्तासु मनुष्यसामान्यादिमार्गणासु द्वयोः सख्येयगुणवृद्धिहान्योः स्वामिनो बोध्याः । अथातिप्रसक्तिवारणाय प्राह–'परं' इत्यादि, परन्तु मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य–मानुषी-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ दारिककाययोगा-ऽवेद-मनःपर्यव-ज्ञान-संयमसामान्यरूपसप्तदशमार्गणासु 'सुरः' उपशान्तगुणस्थानके कालकरणाद् देवतया समुत्पन्नः 'वृद्धेः' प्रस्तुतत्वात् संख्येयगुणवृद्धेः स्वामी न भवति, मार्गणापरावृत्तेः । तथौपशमिकसम्यक्त्व-मार्गणायां 'क्षपकः' क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः क्षीणकषायः सख्येयगुणहानेः स्वामी न भवति, औप-शमिकसम्यक्त्वमार्गणायां क्षपकश्रेणेरभावात् ।

इदमुक्त भवति–मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ-दारिकका-ययोगा-ऽपगतवेद मनःपर्यवज्ञान संयमसामान्यरूपासु सप्तदशमार्गणासु संख्येयगुणवृद्धेः स्वामी उपशान्तमोहगुणस्थानकतः प्रतिपाते सति पतनप्रथमसमये सूक्ष्मसम्परायसयतो भवति, संख्येय-गुणहानेश्च स्वामी प्रथमसमयस्थ उपशान्तमोहो वा क्षीणमोहो वा भवति ।

पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय–त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-मति–ज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान चक्षुर्दर्शना–ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकसम्यक्त्व-सज्ञ्या-हारकलक्षणासु सप्तदशसु मार्गणासु सूक्ष्मसम्परायसयतः पतनप्रथमसमयेऽथवो-पशान्तमोहे कालकरणात् सुरत्वेन समुत्पन्नः प्रथमसमये सख्येयगुणवृद्धेः स्वामी भवति । सख्ये-यगुणहानेश्च स्वामी प्रथमसमयस्थ उपशान्तमोहो वा क्षीणमोहो वा भवति ।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाया सूक्ष्मसम्परायसयतः पतनप्रथमसमयेऽथवोपशान्तमोहगुण-स्थानके कालकरणाद् देवत्वेन समुत्पन्नः प्रथमसमये सख्येयगुणवृद्धेः स्वामी भवति, सख्येयगुण-हानेश्च स्वामी प्रथमसमयस्थ उपशान्तमोहो भवति ।।५०८-५१०।।

।। इति श्रीमूलप्रकृतिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे द्वितीय स्वामित्वद्वार समाप्तम् ।।

॥ अथ कालादीनि दश द्वाराणि ॥

साम्प्रतं संख्येयगुणवृद्धिहान्योः कालादिक निरूपणिपुरतिदिशन्नाह—

होइ दससु दारेसु कालाईसु छबंधठाणव्व ।
सव्वा परूवणा खलु संखियगुणवड्ढिहाणीण ॥५११॥
णवरि तइए दुआरे गुरू वि समयो चउत्थदारम्मि ।
णंतरमत्थि अवेउवसमेसु संखसमया गुरू दसमे ॥५१२॥ (गीति.)
सव्वह अंतरदारे एगारसमम्मि अंतरं जेट्ठं ।
संखियगुणवड्ढीए वासपुहुत्तं मुणेयव्वं ॥५१३॥

(प्रे०) 'होइ' इत्यादि, 'कालादिषु' एकजीवाश्रयकाला-ऽन्तर-भङ्गविचय भाग परिमाण क्षेत्र-स्पर्शना-नानाजीवाश्रयकाला-ऽन्तर-भावाख्येषु दशसु द्वारेषु संख्येयगुणवृद्धिहान्योः सर्वा खलु प्ररूपणा षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानवद् भवति ।

अथातिप्रसक्तिवारणाय व्याहरति-'णवरि' इत्यादि, परन्तु तृतीय एकजीवाश्रये कालनाम्नि द्वारे प्रस्तुतत्वात् संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्गुरुरपि कालः समयो भवति, संख्येयगुणवृद्ध्यनन्तरसमये-ऽवस्थितबन्धस्य संख्येयभागवृद्धेर्वाऽवश्यम्भावात् संख्येयगुणहानेश्चानन्तरसमयेऽवस्थानबन्धस्य संख्येयगुणवृद्धेर्वाऽवश्यभावात् । तथा चतुर्थद्वारेऽन्तराख्येऽवेदोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमन्तरं नास्ति, द्वितीयवारमुपशमश्रेण्यारोहणे प्रस्तुतमार्गणाद्वयपरावर्तनात् । दशमे नानाजीवाश्रये कालाभिधे द्वारे संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रयः 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः कालः संख्येयसमया भवति, न तु षट्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानकनानाजीवाश्रयकालवदन्तर्मुहूर्तम् , उत्कृष्टतोऽपि संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयकालस्यैकसमयमात्रत्वाद् बन्धकानां च संख्येयत्वात् , तथैकादशे नानाजीवाश्रयेऽन्तरद्वारे 'सर्वत्र' ओघत आदेशतश्च पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु संख्येयगुणवृद्धेर्नानाजीवाश्रयं 'ज्येष्ठम्' उत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति, संख्येयगुणवृद्धेरुपशमश्रेण्यामेव लाभेनोपशमश्रेणेर्नानाजीवाश्रयान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् ।

साम्प्रतं संख्येयगुणवृद्धिहान्योः प्ररूपणा वृत्तिग्रन्थे प्रतिद्वारं विस्तरतः क्रियते ।

मतस्तृतीयमेकजीवाश्रयं कालद्वारम् । ओघत आदेशतश्च मनुष्यसामान्यादिपञ्चत्रिंशन्मार्गणासु संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्जघन्य उत्कृष्टश्चैकजीवाश्रयः काल एकः समयः । इति तृतीयमेकजीवाश्रितं कालद्वारम् ।

अथ चतुर्थमेकजीवाश्रयमन्तरद्वारम् । ओघतः सख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयमन्तरं जघन्यमन्तर्मुहूर्तम् , उत्कृष्टं च देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तः, आदेशतः पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौ- दारिककाययोगा -ऽपगतवेद- शुक्ललेश्यौ--पशमिकसम्यक्त्वरूपपञ्चदशमार्गणासु सख्येयगुणवृद्धिहान्योरन्तरं नास्ति ।

मनुष्यसामान्य पर्याप्तमनुष्य मानुषीरूपासु तिसृषु मार्गणासु सख्येयगुणवृद्धिहान्योर्जघन्यमेकजीवाश्रयमन्तरमन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टञ्च पूर्वकोटिपृथक्त्वम् ।

अचक्षुर्दर्शन भव्यमार्गणयोः संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रय जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तमु कृष्टं च देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तः ।

शेषासु पञ्चदशसु पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु सख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयं जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , उत्कृष्टं च देशोना स्वस्वकायस्थितिः । इत्येकजीवाश्रयान्तरद्वारम् ।

अथ पञ्चम भङ्गविचयद्वारम् । सख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्धका ओघत आदेशतश्च मनुष्यसामान्यादिमार्गणासु भजनीया भवन्ति ।

अथ संख्येयभागवृद्ध्यादिपञ्चपदान्याश्रित्य भङ्गा दर्श्यन्ते । तथाहि ओघतः संख्येयगुणवृद्धेः सख्येगुणहानेश्च बन्धकानामध्रुवत्वात् सख्येयभागवृद्धिहान्यवस्थितानां च बन्धकानां ध्रुवत्वाच्चतुष्पञ्चाशदधिकत्रिशततमगाथा-पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमगाथाप्रतिपादितकरणेन नव भङ्गा लभ्यन्ते ।

तिर्यग्गतिसामान्य-सप्तैकेन्द्रियभेदपर्याप्तबादरवर्जषट्पृथिवीकायभेद -षडप्कायभेद -षट्तेजः -कायभेद षड्वायुकायभेद–पर्याप्तप्रत्येकशरीरवर्जदशवनस्पतिकायभेदौ–दारिकमिश्रकाययोग नपुंसकवेद क्रोध-मान माया लोभा ऽज्ञानद्वया-ऽविरत-कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या ऽभव्य मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिरूपासु सप्तपञ्चाशन्मार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहान्योरवस्थितस्य च बन्धकाना ध्रुवत्वात् संख्येयभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकमवस्थितस्य च बन्धका अनेक इत्येक एव भङ्गो लभ्यते ।

मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य मानुषी पञ्चेन्द्रियसामान्य--पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगा ऽपगतवेद मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना -ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्लेश्या-सम्यक्त्वसामान्य क्षायिकसम्यक्त्व संज्ञिरूपासु सर्वसख्यया ऽष्टाविंशतिमार्गणासु सख्येयभागवृद्धेः सख्येयभागहानेः सख्येयगुणवृद्धेः सख्येयगुणहानेश्च बन्धका अध्रुवा अवस्थितस्य च बन्धका ध्रुवाः, तदेवं चत्वार्यध्रुवपदान्येकं च ध्रुवपदम् , तेनोक्तमनुष्याद्यष्टाविंशतिमार्गणासु भङ्गाश्चतुष्पञ्चाशदुत्तरत्रिशततमगाथा-पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमगाथाऽऽयितकरणेनैकाशीतिर्लभ्यन्ते ।

काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन भव्या-ऽऽहारकमार्गणासु द्वयोः संख्येयगुण-वृद्धिहान्योर्बन्धकानामध्रुवत्वेन द्वयोः पदयोरध्रुवत्वात् संख्येयभागवृद्धिहान्यवस्थितबन्धकानां च ध्रुवत्वाद् नव भङ्गा लभ्यन्ते ।

शेषासु मार्गणासु भङ्गा भूयस्काराधिकारगतभङ्गविचयद्वारप्रतिपादितभङ्गवद् ज्ञेयाः, विशेषा-भावात् । इति पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ।

अथ षष्ठं भागद्वारम् । ओघतः संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्धका अनन्तभागप्रमाणा भवन्ति ।

आदेशतः पुनः पर्याप्तमनुष्य मानुषी गतवेद मनःपर्यवज्ञान संयमसामान्यरूपासु पञ्चमार्ग-णासु संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्धकाः संख्येयभागप्रमाणाः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽचक्षु-र्दर्शन भव्या ऽऽहारकरूपपञ्चमार्गणास्वनन्तभागमात्राः, शेषासु च मनुष्यसामान्य-पञ्चेन्द्रिय-सामान्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- त्रसकायसामान्य पर्याप्तत्रसकाय--पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोग -मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञान चक्षुर्दर्शना ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या--सम्यक्त्वसामान्य -क्षायिकसम्यक्त्वौ--पश-मिकसम्यक्त्व-संज्ञिरूपपञ्चत्रिंशतिमार्गणास्वसंख्येयभागप्रमाणा भवन्ति । इति षष्ठ भागद्वारम् ।

साम्प्रतं सप्तमं परिमाणद्वारम् । ओघत आदेशतश्च मनुष्यसामान्यादिपञ्चत्रिंशन्मार्गणासु संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्धकाः सख्येया भवन्ति । इति सप्तमं परिमाणद्वारम् ।

अथाष्टमं क्षेत्रद्वारम् । ओघत आदेशतश्च मनुष्यसामान्यादिपञ्चत्रिंशन्मार्गणासु सख्येयगुण-वृद्धिहान्योर्बन्धका लोकासंख्येयभागे वर्तन्ते । इत्यष्टम क्षेत्रद्वारम् ।

अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् । ओघत आदेशतश्च मनुष्यसामान्यादिपञ्चत्रिशन्मार्गणासु सख्येय-गुणवृद्धिहान्योर्बन्धकैर्लोकासख्येयभागः स्पृष्टः । इति स्पर्शनाद्वारम् ।

अथ दशमं कालद्वारम् । ओघत आदेशतश्च पञ्चत्रिशन्मार्गणासु संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्ध-कानां नानाजीवाश्रयो जघन्यः कालः समय उत्कृष्टश्च सख्येयसमयाः । इति दशम कालद्वारम् ।

साम्प्रतमेकादशमन्तरद्वारम् । ओघत आदेशतश्च पञ्चत्रिशन्मार्गणासु सख्येयगुणवृद्धिहान्यो-र्बन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तर जघन्यं समय उत्कृष्ट च सख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकानामोघत आदेशतश्च सर्वासु पञ्चत्रिशन्मार्गणासु वर्षपृथक्त्वम् , सख्येयगुणहानेर्बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं मानुष्य--वधिज्ञान मनपर्यवज्ञाना ऽवधिदर्शनौ- पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु वर्षपृथक्त्वम् , मतान्तरेणाऽ-वधिद्विके सातिरेकवर्षम् , ओघे तथा शेषासु त्रिंशन्मार्गणासु च षण्मासाः । इत्येकादशमन्तरद्वारम् ।

साम्प्रत द्वादशं भावद्वारम् । ओघत आदेशतश्च पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु सख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्ध औदयिकभावे भवति ।इति द्वादशं भावद्वारम् ।

॥ अथ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

साम्प्रतं संख्येयभागवृद्ध्यादीनां बन्धकानामल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदोघतः प्राह-

संखियगुणवड्ढीए थोवा तत्तो हवेज्ज सखगुणा ।
संखियगुणहाणीए तत्तो संखंसवड्ढीए ॥५१४॥
हुन्ति अणंतगुणा तो अब्भहिया संखभागहाणीए ।
ताओ अवट्ठिअस्स असंखगुणा बंधगा णेया ॥५१५॥

(प्रे०) 'संखिय०' इत्यादि, सङ्ख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकाः स्तोका भवन्ति । ततः संख्येयगुणहानेर्बन्धकाः संख्येयगुणा भवेयुः, सातिरेकद्विगुणत्वसंभवात् । एतदुक्तं भवति-संख्येयगुणवृद्धेर्बन्धका उपशान्तमोहगुणस्थानकतोऽद्धाक्षयेण प्रतिपतन्त उत्कृष्टतश्चतुष्पञ्चाशद् भवन्ति, परे च संख्येयगुणवृद्धेर्बन्धका भवक्षयादुपशान्तमोहगुणस्थानके कालकरणेन देवलोके समुत्पद्यमानाः केचिल्लभ्येरन् । सङ्ख्येयगुणहानेर्बन्धकास्तूपशान्तमोहगुणस्थानकं प्रतिपद्यमानाश्चतुष्पञ्चाशत् क्षीणकषायगुणस्थानकं च प्रतिपद्यमाना अष्टाधिकशतमिति सर्वसङ्ख्यया द्वाषष्ट्यधिकशतं भवन्ति, तेन संख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकेभ्यः सङ्ख्येयगुणहानेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । यदि पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानके निधनत्वं प्राप्नुवन्तः सप्तविंशतिजीवतोऽधिका भवेयुः, तदा सङ्ख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकेभ्यः सङ्ख्येयगुणहानिबन्धका विशेषाधिकाः स्युः । अत एव गाथायां सम्भावने 'हवेज्ज' त्ति विधिलिङ् प्रायोजि । ततः सङ्ख्येयभागवृद्धेर्बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, उपशान्तगुणस्थानकतोऽद्धाक्षयेण भवक्षयेण वा पतितानां जीवानां तथाऽऽयुष्कबन्धकानामपि तद्बन्धकत्वेनाऽनन्तत्वात् । ततः संख्येयभागहानेर्बन्धका 'अब्भहिआः' विशेषाधिका भवन्ति, क्षपकश्रेणिप्रतिपन्नानामप्यष्टाधिकशतमात्राणां संख्येयभागहानिबन्धकत्वेन तावत्सङ्ख्ययाऽधिकत्वात् । तेभ्योऽवस्थितस्य बन्धका असंख्येयगुणाः, अवस्थितबन्धस्य कालस्या-ऽसंख्येयगुणत्वात् ॥५१४ ५१५॥

साम्प्रतमादेशतः काययोगादिमार्गणासु पञ्चपदानामल्पबहुत्वं प्राह—

ओघव्व अत्थि काये उरलाचक्खुभवियेसु आहारे ।
एवं णरदुपणिंदियतसपणमणवयतिणाणेसुं ॥५१६॥
ओहिणयणसम्मेसुं सण्णिम्मि य परपयाण अप्पबहू ।
णवरि असंखेज्जगुणा णेया संखंसवड्ढीए ॥५१७॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, काययोगसामान्यमार्गणायामौ-दारिककाययोगाऽचक्षुर्दर्शन भव्य-

मार्गणास्वाहारकमार्गणाया च 'ओघवत्' यथौघतः पञ्चपदानामल्पबहुत्वं प्रतिपादितम् , तथैवैतासु पञ्चसु मार्गणासु पञ्चपदानामल्पबहुत्व बोध्यमित्यर्थः ।

'एवं' इत्यादि, 'एवं' यथौघतः पञ्चपदानामल्पबहुत्वं भणितम्, तथैव मनुष्यगतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोग-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणास्ववधिदर्शन चक्षुर्दर्शन-सम्यक्त्वसामान्यमार्गणासु संज्ञिमार्गणायां च सर्वसंख्यया द्वाविंशतिमार्गणासु पञ्चपदानामल्पबहुत्वमस्ति, नवरं सङ्ख्येयभागवृद्धेर्बन्धका असंख्येयगुणाः, न त्वोघवदनन्तगुणाः, एतासु मार्गणास्वायुष्कबन्धकानामसङ्ख्येयगुणत्वात् । एतदुक्त भवति प्रोक्तमनुष्यसामान्यादिद्वाविंशतिमार्गणासु संख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकाः स्तोका भवन्ति, ततः संख्येयगुणहानेर्बन्धकाः सङ्ख्येयगुणाः, (३) ततः सङ्ख्येयभागवृद्धेर्बन्धका असङ्ख्येयगुणाः, (४) ततः सङ्ख्येयभागहानेर्बन्धका विशेषाधिकाः, (५) ततोऽवस्थितस्य च बन्धका असंख्येयगुणा भवन्ति । ॥५१६-५१७॥ सम्प्रति पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु संख्येयगुणवृद्ध्यादिबन्धकाल्पबहुत्वं व्याहरति—

ओघव्वऽप्पबहुगं दुमणुयमणणाणसंजमेसु परं ।
जहठाणं संखगुणाऽवट्ठिअसंखंसवुड्ढीणं ॥५१८॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषी मनःपर्यवज्ञान-सयमसामान्यमार्गणासु पञ्चपदानामल्पबहुत्वमोघवद्भवति, परमवस्थितसंख्येयभागवृद्ध्योर्यथास्थान सङ्ख्येयगुणाः, एतासु मार्गणासु बन्धकानां सङ्ख्येयभावात् । एतदुक्तं भवति (१) पर्याप्तमनुष्यादिचतुर्मार्गणासु संख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकाः स्तोकाः, चतुष्पञ्चाशत्संख्याकत्वात् । (२) ततः सङ्ख्येयगुणहानेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, द्वाषष्ट्यधिकशतप्रमाणत्वात् । (३) ततः सङ्ख्येयभागवृद्धेर्बन्धकाः सङ्ख्येयगुणाः, एतासु मार्गणासु क्षपकोपशमकत आयुष्कबन्धकाना सङ्ख्येयगुणत्वात् । (४) ततःसङ्ख्येयभागहानेर्बन्धका विशेषाधिका भवन्ति, (५) ततोऽवस्थितस्य बन्धकाः सङ्ख्येयगुणा भवन्ति ॥५१८॥

अथापगतवेदमार्गणायां सङ्ख्येयभागवृद्ध्यादीना बन्धकानामल्पबहुत्वं व्याजिहीर्षुः प्राह—

वुड्ढिदुगस्स अवेए थोवा ततो हवेज्ज सं गुणा ।
दोण्हं हाणीण तओ अवट्ठिअस्सऽत्थि संखगुणा ॥५१९॥

(प्रे०) 'वुड्ढिदुगस्स' इत्यादि, 'वृद्धिद्विकस्य' संख्येयभाग सङ्ख्येयगुणवृद्ध्योर्बन्धका अवेदमार्गणाया स्तोका मिथश्च तुल्या भवन्ति, चतुष्पञ्चाशत्सङ्ख्याकत्वात् । ततः 'द्वयोर्हान्योः' सङ्ख्येयभाग-सङ्ख्येयगुणहान्योर्बन्धकाः सङ्ख्येयगुणा भवन्ति, द्वाषष्ट्यधिकशतप्रमाणत्वात् । ततोऽवस्थितस्य बन्धकाः सङ्ख्येयगुणाः सन्ति, कोटिपृथक्त्वमात्रत्वात् ॥५१९॥

सम्प्रति शेषासु मार्गणासु सङ्ख्येयभागवृद्ध्यादिबन्धकानामल्पबहुत्व समर्थयन्नाह—

सुक्कखइएसु मणुयव्व णवरि संखेज्जभागवुड्ढीए ।
संखगुणाऽत्थि उवसमे थोवाऽत्थि दुवुड्ढिहाणीणं ॥५२०॥
ताउ असंखगुणाऽवट्ठिअस्स सेसासु अत्थि अप्पबहू ।
तिपयाण बंधगाणं भूओगाराहिगारव्व ॥५२१॥

(प्रे०) 'सुक्कखइएसु' इत्यादि, शुक्ललेश्या क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोः सख्येयभागवृद्ध्यादिबन्धकानामल्पबहुत्वं मनुष्यवद् बोध्यम्, नवरं सख्येयभागवृद्धेर्बन्धकाः सख्येयगुणाः सन्ति। एतदुक्तं भवति—शुक्ललेश्या क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोः सख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकाः स्तोकाः, ततः सख्येयगुणहानेर्बन्धकाः सख्येयगुणाः, हेतुस्तु ओघवद् बोध्यः। ततः सख्येयभागवृद्धेर्बन्धकाः सख्येयगुणाः, उपशमकानामायुष्कबन्धकाना च संख्येयत्वात्। ततः सख्येयभागवृद्धेर्बन्धका विशेषाधिकाः, क्षपकाणामपि तद्बन्धकत्वात्। ततोऽवस्थितबन्धका असख्येयगुणाः, बहुसख्येयभागप्रमाणैरुक्तमार्गणाद्वयगतैरवस्थितस्य बन्धात्।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां 'द्विवृद्धिहानीनां' सख्येयभागवृद्धि सख्येयगुणवृद्धि-सख्येयभागहानि-संख्येयगुणहानीना बन्धकाः स्तोकाः सन्ति, उपशमश्रेणिमारोहता श्रेणितश्च प्रतिपतता बन्धकानां सख्येयत्वात्, परस्परं तु भूयस्काराधिकारगताल्पबहुत्ववत् स्वयमूह्यम्। ततोऽवस्थितस्य बन्धका असख्येयगुणाः, असंख्येयत्वात्।

शेषासु निरयगत्यादित्रिंशदधिकशतमार्गणासु त्रिपदाना सख्येयभागवृद्धिहान्यवस्थिताना बन्धकानामल्पबहुत्वं भूयस्काराधिकारगतबन्धकाल्पबहुत्ववद् बोध्यम्। एतदुक्तं भवति—सर्वार्थसिद्धसुरा-ऽऽहारककाययोग-तन्मिश्रकाययोग-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसयमेषु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाः स्तोका मिथश्च तुल्या भवन्ति, तन्मार्गणागतैः संख्येयभागमात्रैरायुष्कस्य बन्धादायुष्कबन्धप्रथमसमये संख्येयभागवृद्धेर्बन्धादायुष्कबन्धनिवर्तनप्रथमसमये च सख्येयभागहानेर्निर्वर्तनात्। ततोऽवस्थितस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, बहुसख्येयभागमात्रैरवस्थितस्य बन्धात्।

शेषासु निरयगत्यादिषु चतुर्विंशत्यधिकशतमार्गणासु सख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाः स्तोकाः मिथश्च तुल्याः, असख्येयभागमात्रैरायुष्कस्य बन्धात्। ततोऽवस्थितस्य बन्धका असख्येयगुणाः, बह्वसख्येयभागप्रमाणैरवस्थितस्य बन्धात्। निरयगत्यादिकाश्चतुर्विंशत्यधिकशतमार्गणास्त्विमाः-मनुष्यपर्याप्तमनुष्यमानुषीसर्वार्थसिद्धिकसुरवर्जा गतिभेदास्त्रयश्चत्वारिंशत्, पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जा इन्द्रियभेदाः सप्तदश, त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायविरहिताः कायभेदाश्चत्वारिंशद् औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियकाययोगौ स्त्री पुरुष नपुंसकवेदाः क्रोध मान-माया-लोभा अज्ञानत्रयं देशसयमा ऽसयमौ शुक्ललेश्यावर्जिताः पञ्चलेश्या अभव्यः क्षायोपशमिकसम्यक्त्व सास्वादनमिथ्यात्वमार्गणा असंज्ञिमार्गणा चेति ॥५२०-५२१॥

अथ टीकाकृत्प्रशस्तिः

卐

श्रीवीरं तं प्रवन्दे निजजननमहे यः सुरेशाभिषिक्तः,
दत्त दानं च वर्षं सकलहितकरं भव्यवर्गाय येन।
प्राव्राजीद्यः स्वकीयं विततभवविपत्कर्मशत्रुं निहन्तुं,
येन ध्यानाग्निशक्त्या खलु झटिति कृतो कर्मकाष्ठव्रणाशः ॥१॥ (स्रग्धरा)

आसीच्छ्रीवीरविभोः पट्टे गणभृत् सुधर्मनाम्ना सः।
तत्त्वादर्शि विशालं यद्दृब्धं द्वादशाङ्गन्तु ॥२॥ (पथ्यार्या)

तत्पट्टधरा जैनप्रवचनलक्ष्म्या विलासिनो ददताम्।
श्रीजम्बूस्वामि-प्रभवप्रभु-शय्यम्भवाद्याः शम् ॥३॥ (विपुलार्या)

वीराद्वह्नितुरङ्गमसम्मितपट्टे (७३) श्रुतोदधिर्धीरः।
न्यायाम्भोधिर्जीयाच्छ्रीविजयानन्दसूरीशः ॥४॥ (पथ्यार्या)

तत्पट्टधरो जयतात् स श्रीमद्वि यकमलसूरीशः।
मेरुरिव विबुधसेव्यो यो गम्भीरश्च जलधिरिव ॥५॥ (पथ्यार्या)

तत्साम्राज्ये श्रीवीरविजयसंज्ञाः स्वशिष्यदानयुताः।
पाठकवर्याः कामं रेजुः कुमते महर्यत्ताः ॥६॥ (विपुलार्या)

सज्ज्ञानं दर्शनं सत् सुविमलचरणं चेति रत्नत्रयीयं,
प्राप्ता भव्यैर्यतोऽब्धेरिव किल भूपतिः श्रीः सुधा चाऽऽदितेयैः।
शुद्धं मार्गं क्रियाख्यं प्रकटकति तु गौर्यस्य हेलेरिव स्म,
जीयात्सद्दानसूरिः स विजयकमलाचार्यसत्पट्टधारी ॥७॥ (स्रग्धरा)

चारित्रांशवन्विते यच्छशधर उदिते तस्य पट्टाद्रिशृङ्गे,
भव्यव्रताब्धिवेला विपुलशमयुता प्राज्यमुल्लासमाप्ता।
यः पूज्यः प्रीतिपात्रं रविरिव समभूत् साधुकोकव्रजानां,
विश्वे सिद्धान्तविज्ञो जयतु स सुगुरुः प्रेमसूरीशवर्यः ॥८॥ (स्रग्धरा)

यः स्याद्वादनयप्रमाणविदुरो वैराग्यवारान्निधि-
र्मोहग्रीष्मसुतप्तभव्यभुवने यद्गीः पयोदायते।

यो नित्यं तपते तपः कृशतनुः संसारसंतापहं,
स श्रीमान् खलु पातु **भानुविजयः** पन्न्यासपादो गुरुः ॥९॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

तच्छिष्यो मम पूज्यो गुरुः सहोदरचरो तपश्चारी।
भवजलधितारणतरीतुल्यजितेन्द्रविजयो जयतु ॥१०॥ (प॰यार्या)

श्रीमत्सिद्धान्तमहोदधिविजयप्रेमसूरिवर्याणाम्।
पूज्यानामादेशात् तदीयसत्प्रेरणातश्च ॥११॥ (प॰यार्या)

रचिता जितेन्द्रविजयान्तिषदा साधुगुणरत्नविजयेन।
प्रेमप्रभाविवृत्तिः खलु मूलप्रकृतिबन्धस्य ॥१२॥ (पथ्यार्या)

संशोधिता ततोऽसौ श्री विजयप्रेमसूरिवर्यैस्तु।
सत्सिद्धान्तज्ञैर्गच्छेशैः परमकारुणिकैः ॥१३॥ (पथ्यार्या)

तच्छिष्यैरागमविज्ञैर्जम्बूसूरिभिश्च पूज्यैश्च।
आगमकर्मप्रकृतिप्रभृतिग्रन्थेषु विद्वद्भिः ॥१४॥ (पथ्यार्या)

जयघोषविजय धर्मानन्दविजय वीरशेखरैर्मुनिभिः।
अन्यैश्च साधुवृषभैः परोपकारव्यसनभाग्भिः ॥१५॥ (पथ्यार्या त्रिभिर्विशेषकम्)

छाद्मस्थ्याद् मतिमान्द्याद् वा यत्किंचिद् विरुद्धमागमतः।
स्यादुक्तं तच्छोध्यं बहुश्रुतैर्मयि कृपां कृत्वा ॥१६॥

श्रीमरुधरपादरलीवासिभिरुद्यापनादिकारैस्तु।
हीराचन्दस्वसुतश्रीकमचन्दसरदारमलैः ॥१७॥ (पथ्यार्या)

जिनदासदिलीपकुमाराभ्यां मुद्रापिता समूलाऽसौ।
सुकृताय स्वद्रव्यव्ययेन **प्रेमप्रभावृत्तिः** ॥१८॥ (युग्मम्)

तथाहि—

कर्मेन्धनं ज्वलितमाशु जिनेन येन।
ध्यानानलेन समवापि शिवं च येन।
यज्जापसिंहनदनेन पलायते च।
कर्मद्विपः स वितनोत्वृषभः सुखं नः ॥१९॥

तद्बिम्बदर्शनात् सर्वो लोकः सम्यक्त्वमश्नुयात्।
प्रकृतिबन्धमुच्छेद्य सम्प्राप्नोतु शिवश्रियम् ॥२०॥

ममास्ति श्रीमदर्बुदाचल **राणकपुर जेसलमेरा**दिमहातीर्थपरिमण्डितश्री**मरुधरापर-नामराजस्थान**देशे श्रीविश्वानन्ददायकप्रथमशासनपतिश्री**ऋषभदेव**प्रासादपरिभूषितं पुण्यभाव-प्राणिपरिवृतं **पादरलो**नाम नगरम् । तत्रावात्सीत् श्रेष्ठी**जेरूपचन्दजी**नामार्हतो धर्मकर्मरुचिः । तस्यासीद् धर्मपत्नी **नवीबाई**इतिनाम्ना शीलऋजुतादिगुणभृत् । तस्यां धर्मोत्सोहिनौ व्यवहारि-हीरकौ श्रेष्ठि**हीराचन्दजी छोगालाला**ख्यौ द्वौ पुत्रा अभूताम् । आद्यस्य सधर्मिणी धर्मकर्मपरायणा गुरुजनोपासिका स्वसन्ततिषु धार्मिकसंस्कारप्रदानैकलक्ष्या **मनुबाई**इत्यभिधा शीलालङ्कारधारिणी पौषदशमीतपः-सिद्धचक्रतपः-कल्याणकतपो-वार्षिकतपःप्रभृतिप्रचुरतपश्चारिणी समभूत् । तस्यां जाताश्चत्वारस्त्रि**कमचन्दजी जेठमलजी-सरदारमलजी-गणेशमल**नामश्रेयाः पुत्राः पुत्री च **फुलीबाई** नाम्नी सम्प्रत्यपि नन्दन्ति।एकाधिकद्विसहस्रतमे(२००१)वैक्रमाब्दे **मनुबाई**नामधेयाः श्रेष्ठिन्याः पोषदशमीतपस उद्यापनं साधर्मिकवात्सल्यपूर्वकाष्टाह्निकामहोत्सवेन कृतसम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रसामग्रीसंचयेन सोत्साहं कृतवान् श्रेष्ठि**हीराचन्दः** स्वचतुष्पुत्रयुतः। ततस्तत्पुत्रोऽष्टाधिक-द्विसहस्रतमे विक्रमीये वर्षे सिद्धान्तमहोदधि-कर्मसाहित्यनिष्णात-सुविहितगच्छाधिपति-श्रीमदाचार्य-**विजयप्रेमसूरीश्वर**महाराजनिश्रायां **पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धोपचाररूपमुपधानतपो जेठमलजी-**नामा कृतवान्, उपधानतपो वहंश्च परमपूज्यप्रवचनप्रभावक-तार्किकशिरोमणि (साम्प्रतं पंन्यासप-दधारिणां)गुरुवर्याणां **भानुविजया**नां वैराग्यमयोपदेशप्रभावेण श्रीमदाचार्यदेवश्रीणां **विजयप्रेम-सूरीश्वराणां** संयमसंनोदनया च संयमं सत्वरं जिघृक्षुर्जातः। निवेदितश्च स्वाभिप्रायो भ्रातृभ्यो मातापितृभ्याञ्च। धर्मपरायणा माताऽनुज्ञातवती तं स्वपुत्ररत्नं संयमाय षोडशमासजातस्य तत्पुत्रस्य स्वपौत्रस्य संवर्धन पालन-पोषणाद्युत्तरदायित्वं स्वशिरस्यादाय । तदनु श्रेष्ठि-**हीराचन्दजी-**नामधेयः पिता भ्रातादयश्चानुज्ञातवन्तः । **प्यारीबेन**नामधेया पत्नी अपि स्वपतिं संयमं लिप्सुं ज्ञात्वा संसारं दुःखस्वरूपं दुःखफलं दुःखानुबन्धिनं च श्रुत्वा स्तनन्धयपुत्रस्नेहादिकं परित्यज्य पारमेश्वरी प्रव्रज्यां ग्रहीतुं निश्चितवती, पत्यनुगामिन्यो हि सत्स्त्रियः । मातृपित्रादिभिरनेकैः प्रलोभनैः साऽनेकधा परीक्षिता । सर्वासु च परीक्षासूत्तीर्णा । तेना-ऽष्टाधिकविंशतितमे वैक्रमे वर्षे ज्येष्ठमासस्य शुक्लपक्षस्य पञ्चम्यां सशान्तिस्नात्राष्टाह्निमहोत्सवपूर्वकं **जेठमलजी**नामधेयाय श्रेष्ठिपुत्रायाऽन्यैश्च चतुर्भिः श्रेष्ठिपुत्रैः सह परमपूज्याः सिद्धान्तमहोदधि श्रीमदाचार्य**विजयप्रेम-सूरीश्वराः** परमपवित्रस्वशुभहस्ताभ्यां रजोहरणस्य प्रदानेन प्रव्रज्यामददत् मुम्बापुर्यां **भायखला**ऽ-भिधविशालमार्गे स्थिते श्रीऋषभजिनचैत्यमहामण्डपे । केशलुञ्चनानन्तरं घोषितश्च **जितेन्द्रविजय** इतिनामकः पूज्यप्रवचनप्रभावकाणां (सम्प्रति पन्यासपदधारिणाम्) **भानुविजया**नां शिष्यः । तदनु च चतुर्दश्यां **मुम्बापुर्यं**कदेशे **माटुंगा**भिधे जाता दीक्षा **प्यारीबेन**नामधेयायास्तत्स-

धर्मिण्याः। घोषिता च सा प्रशान्तस्वभावाद्यनेकगुरुगुणोपेत-**निरञ्जनाश्री**नामधेयानामार्याणां शिष्या **पुष्पलताश्री**ति।

सातिरेकवर्षे व्यतिक्रान्ते श्रेष्ठिनो **हीराचन्दजी**नामधेयस्य लघुतमः पुत्रः **गणेशमल**-नामधेयः प्राप्तयौवनवयाः संयमजिघृक्षां प्रकटितवान् स्वमातृपितृपुरः। अनेकविधपरीक्षणानन्तरं मातृपितृभ्यां लब्धानुज्ञाय तस्मै कर्मसाहित्यनिष्णाताः श्रीमदाचार्य**विजयप्रेमसूरीश्वरा** अष्टाह्निका-महोत्सवसाधर्मिकवात्सल्यादिशासनप्रभावनापूर्वकं प्रव्रज्यां दत्तवन्तो **मुम्बापुर्याः शाखापुरे दादर**-नाम्नि घोषितश्च **गुणरत्नविजय** इतिनाम्ना पूज्य**जितेन्द्रविजय**महाराजस्य भ्रातृचरस्य शिष्यः। अध्यापितश्च गच्छाधिपैः **कर्मविपाकादिग्रन्थान्** अन्यैश्च सिद्धहेमशब्दानुशासनादिग्रन्थान्।

ततो ज्येष्ठपुत्रस्य **विक्रमचन्दजी**त्यस्य भार्यया **लक्ष्मीदेव्या** मध्यमस्य च **सरदारमलजी**त्यस्य च जायया **मंछीदेव्या** यथासमयं समाराधितानां पञ्चमीतपःसिद्धचक्रतपइत्या-दितपसामुद्यापनमष्टाह्निकामहोत्सवपूर्वकं कृतवन्तो **हीराचन्दाभिधः** श्रेष्ठी तत्पुत्रौ च त्रयोविंश-त्यधिकविंशतिशततमवैक्रमाब्दे। ततश्चतुर्विंशत्यधिकद्विसहस्रतमे वर्षे **मुम्बापुरीस्थलालबाग-पौषधशालायाः** पुनर्निर्मितौ विशिष्टमार्थिकसाहाय्यं दत्त्वा समुपार्जितवन्तश्च सुकृतम्।

तदनु उच्चमूल्यवत्पाषाणविशेषनिर्मितविशालजिनेन्द्रप्रासादे जिनबिम्बानि प्रतिष्ठापयितु-मञ्जनशलाकामहोत्सवः **पादरलीश्रीसंघेन** योजितः सप्तविंशत्यधिकद्विसहस्रतमे विक्रमीयाब्दे। तस्मिंश्च महोत्सवे नगरस्थान् नगरान्तरेभ्यः समागतांश्च साधर्मिकान् जनान् मिष्टभोजनं प्रदातुं शिष्टजनचेतश्चमत्कारिद्रव्योत्सर्पणेन* आदेशं श्रीसंघाल्लब्ध्वा मृगशीर्षमासस्य षष्ठ्यां तिथौ **आदीश्वरादिप्रभु**प्रतिष्ठाशुभदिनेऽनेकसहस्रजनान् मिष्टान्नं भोजयित्वाऽर्जितं महत् सुकृतम् तस्मिंश्चैव दिने **श्रीशान्तिनाथप्रभुं** प्रचुरद्रव्योत्सर्पणेन प्रातिष्ठिपत्।

सप्तविंशत्यधिकद्विसहस्रतमे वैक्रमे वर्षे **विक्रमचन्दजी**त्यस्य पुत्र्या **रतनकुमार्याः सरदार-मलजी**त्यस्य च **अरुणाकुमार्या** उपधानमालारोपणार्थमुत्सर्पणेन सज्जनचित्तचमत्कृद्बृहद्द्रव्य-राशिप्रदानपुरस्सरं सोत्साह उपधानमालारोपणं कृतम्।

इतश्च लब्धपरमपूज्यगच्छाधिपश्रीमदाचार्य**विजयप्रेमसूरीश्वर**समादेशो **गुणरत्न-विजयो**ऽहं सवृत्तिकां क्षपकश्रेणिं रचयित्वा **बन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धस्य प्रेमप्रभाख्यां** वृत्तिं व्यतनवम्। तां मम वृत्तिकारस्य पिता **हीराचदजी** नामा भ्रातरौ **विक्रमचंदजी-सरदारमलजी**नामानौ भ्रातृव्यौ **जिनदास दिलीपकुमरौ** मुद्रापणव्ययार्थं संस्थायै द्रव्यं समर्प्य कृतसुकृतविशेषाः प्रमुदिताः प्रकृतिबन्धं विच्छेदयन्त्विति।

---

* उच्छामणीति भाषायाम्।

प्रेमप्रभाविवृत्तिनिर्मित्यापि गुणरत्नविजयेन ।
यत्कुशलं तेन जगद् विच्छेदयतु प्रकृतिबन्धम् ॥२१॥

॥ इति समाप्ता प्रशस्तिः ॥

॥ तदेव श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिबन्धप्रेमप्रभाटीका समाप्ता ॥

तत्समाप्तौ च

समाप्तः

प्रवचनकौशल्याधार सुविहिताग्रणी-गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावक सिद्धान्तमहोदधि-
कर्मसाहित्यनिष्णाताऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादाना पुण्यतमनिश्राया
तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मित मुनिश्रीजयघोषविजय-धर्मानन्दविजय-वीरशेखर-
विजयसगृहीतपदार्थक मुनिश्रीवीरशेखरविजयविरचितमूलगाथाक
प्रेमप्रभाटीकाविभूषिते

बन्धविधाने

मुनिगुणरत्नविजयविरचित-
प्रेमप्रभाटीकासमलकृत

प्रकृतिबन्धः

शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
३	३	ज्योर्तिवि०	ज्योतिर्वि०
५	२९	यथागम्	यथागमम्
५	३२	अनुष्टप् युग्म्	अनुष्टुप् युग्मम्
६	२	०जानत०	०जनित०
७	१	व्युत्पत्ति	व्युत्पत्ति
८	२	विशिष्ट०	विशिष्टाऽ०
८	१०	४-६५	-४६५
९	१३	२-२-४०	२-२-४२
९	१७	परिक्षा	परीक्षा
१०	१८	शम्भव-	शय्यम्भव-
११	८	०त्पत्त्यन्तर०	०त्पत्त्यन्यतर०
११	१४	।ववक्षितव्य	विवक्षितव्य
१२	१७	गुणान	गुणान्
१२	२५	वाचकर्य्यै०	वाचकवर्य्यै०
१३	८	अनपलणी०	अनपलपणी०
१४	४	०तैक्षण्यादि०	०तैक्ष्ण्यादि०
१४	१५	न चते	न चर्ते
१५	२५	मनुष्य	मनुष्यो
१५	२६	अतो	अतो
१५	३०	अस	असो
१६	१२	तैरभ्युगम्य०	०तैरभ्युपगम्य०
१६	१५	रूपं	रूव
१६	३०	०न्ये	०ग्रन्थे
१७	२४	मयोगत्व	सयोगत्वे
१८	६	काय	कार्य
१८	२६	रस	रसन
२०	४	सर्वदशैर्योग-	सर्वदर्शैर्योग-
२१	१२	०नेनक०	०नेन क०
२१	१५	५-१-८	५-१-२८
२१	१५	कर्माणिय प्रत्यय	कर्मणि यप्रत्यय
२२	४	उणदि	उणादि
२२	१३	लक्षणमावे	लक्षणाभावे
२३	५	गोत्रदय-	गोत्रोदय-
२४	९	प्रतिहित०	प्रतिहत०
२६	१६	०ऽनना०	०ऽनेना०
२६	१८	स०	सु०
२७	३	०स्मिन	०स्मिन्
२७	२५	पञ्जायादित्रण	पञ्ज यादित्राणं
२८	२३	पयायेषु	पर्यायेषु
२९	१३	इंदियाविमागा	इंदियविभागा
३०	१५	रोग् प्रापण	योंग् प्रापणे
३०	३१	२-३-१०८	५-३ १०८
३१	३	'पयाला'	'पयला'
३१	१८	स्त्यानद्धि	स्त्यानर्द्धि
३१	२३	०रय	०स्य
३३	१६	करणेऽल्पप्रत्यय	करणेऽलप्रत्यय
३३	२९	यशो०	यथो०
३४	३	५-३-१५	५-३-१८
३४	१६	०वचन	०वचनं
३७	१६	तदन्यत्व	तदन्यत्वं
३८	४	विघातघातकारित्वात्	विघातकारित्वात्
३९	२	उद्गता	उद्भूता
३९	१०	समुद्गता	समुद्भूता
३९	१७	बहुपायै कष्टेन	बहूपायै कष्टेन
४०	२६	उदारतिसमाण	उदारातिसमाणं
४१	२	०रागत्त०	०रागरत्त०
४१	१६	व्यञ्जनान्तात्	व्यञ्जनाद्
४३	१२	५-३-१००	५-२-९१
४५	१२	०मृततरिण्ड०	मृत्पिण्ड०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
४५	१५	एवमौदादारि०	एवमौदारि०
४६	१४	०गुणाङ्ग०	०गुणाङ्ग० —
४७	१४	०शृगा	०शृगा-
४८	१०	०घुनाम	०लघुनाम
४८	११	अगुरु	अगुरुलहू
४८	२१	प्राहु	प्राहु
४९	४	-तत्त्वाथभाष्यकार'	तत्त्वार्थभाष्यकारै
४९	१३	०कम०	०कर्म०
५०	१८	गण्डाल	गण्डोल
५१	३०	आहारक०	आहार०
५१	२६	०नोदिष्टा	०नोद्दिष्टा
५२	६	०भिहिमिति	०भिहितमिति
५२	१६	०मश्रित०	०मिश्रित०
५४	४	कीत्तिश्च	कीर्त्तिश्च
५४	१५	५-२-८२	५-२ ८१
५६	१६	०जात्यपेक्षाया	०जात्यपेक्षया
५७	१८	०लिका०	०लुका०
५८	२२	०कारण	०कारण
५८	२८	०र्निवृत्ता	०र्निर्वृत्तां
५९	२	०प्रसर्व	०प्रसव०
५९	३	०मङ्कुरादीनाम्	०मङ्कुरादीनाम्
५६	७	०यवतिष्ठ-०	०यवतिष्ठ-०
५९	१५	कार्मणां	कर्मणां
६०	१९	चत्तारो	चत्तारि
६१	१५	०कार्मणभ्यां	०कार्मणाभ्या
६२	२६	०संहनन	०संहनन
६२	२९	मक्कडबध त	मक 'धो तं
६४	७	सम-	समा-
६५	१२	पुंस्त्वम्	पुंस्त्वम्
६६	७	०ससर्ग०	०ससर्ग०
६७	२७	वक्रग य	वक्रगत्या
६७	२	०विपाके —	०विपाके-
६७	१६	शोरिका ,	शौरिका
६७	२५	प्राह —	प्राह —
६८	२४	कुसमोश्च०	कुसुमोच्च०
६९	२४	द्वाविशत्य०	द्वाविंशत्य०

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धिः	शुद्धि
७०	७	❀६कपायाः	❀६नोकषायाः
७१	३२	०स्पर्शना	०स्पर्शानां
७३	१५	०ऽपिताद्दशगते	०ऽपि ताद्दशगते.
७४	४	०योत्स्वौ०	०योस्त्वसौ
७४	२२	सास्नामत्त्वे	सास्नादिमत्त्वे
७४	२४	इन्द्रियोद्धत	इन्द्रियोद्भूत
७४	२६	लाभोयेभ्य',	लाभो येभ्य ,
७५	४	ज	जे
७७	४	०व्यापाराहृता०	०व्यापाराहृत०
७७	१६	तदप्यसाधक	तदप्यसाधक
७८	२३	सुर्णपाषाण०	सुवर्णपाषाण०
		सुर्वणयो'	सुवर्णयो
७८/८४	१६/२६	०जिनदास०	०जिनभद्र०
७८	३१	पासणकणग०	पासाणकणग०
७९	२	सपत्तीजोग्गस्सेव	सपत्ती जोगस्सेव
८०	२६	०योगोलकादिपुत्र-	योगोलकादिषु
		ह्विवत्	वह्विवत्
८१	११	औज =	ओज =
८१	१४	अणतर	अणतर
८१	१७	०दिवाकर	०दिवाकरै
८३	३	चाष्ट०	चाष्टा०
८३	१५	सयम०	सयम०
८५	२४	सञ्ज्ञिनोऽ०	सञ्ज्ञिनोऽ०
८५	२४	०तिरञ्चो	तिर्यञ्चो
८६	१४	०त्येवरूपं	त्येवरूप
८६	२२	सूर्यचन्द्र-	चन्द्रसूर्य-
८८	१३	कत	कुत
८८	२३	अन्वीष्यन्ते	अन्विष्यन्ते
९०	८	०च्छीलाङ्गा०	०च्छीलाङ्का०
९०	९	समर्थ	समर्थ
९०	२४	शेषाण्यङ्गु लाऽ०	शेषाणग्रङ्गुलाऽ०
९०	३५	राजवर्तिका०	राजवार्तिका०
९३	२३	केचत्तु	केचित्तु
९४	१३	०क्षयोपशमशमाच्च	०क्षयोपशमाच्च
९४	१७	स्पर्शेनेन्द्रिया-०	स्पर्शनेन्द्रिया ०
९४	२०	शेपेन्द्रिय-०	शेपेन्द्रिया-०

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
९४	२३	सेसिंदिय०	सेसिंदिय०
९६	८	०श्चर्त्य .	०श्चेत्यर्थ,
९६	२९	किञ्चित्तारम्यम्	किञ्चित्तारतम्यम्
९७	१	०ख्यान	०ख्यान
९७	१६	कम्मसरीरे	कम्म सरीरे
९९	६	०द्विया	०द्विधा
१००	१०	वनस्पतिकाय	वनस्पतिकाय-सामान्यमार्गणेत्यर्थ
१०२	१२	०मणोऽभावेऽपि	०मनोभावेऽपि
१०२	२६	सदसद्रपो	सदसद्रूपो
१०३/	१७/२४	द्वितीयतृतीय-	तृतीयचतुर्थ-
१०५	५	घटव्यपदेश	घटव्यपदेश
१०६	१२	कहमुदारत्त ?	कहमुदारत्त?
१०६	१६	पर	पर
१०६	२५	वैक्रियेण	वैक्रियेण
१०७	५	स्वरूपणाऽ०	०प्ररूपणाऽ०
१०७	२२	वेदन वेद ,	वेदन वेद
१०८	१४	स कषाय ।	सोऽकषाय ।
१०९	७	त्रय	द्वय
११०	२२	परिहारविशुद्धक	परिहारविशुद्धिकं
११०	२६	वाचनार्यश्चत्वारो	वाचनाचार्यश्चत्वारो
११०	३०	०तपश्चरति ।	तपश्चरन्ति ।
१११	९	जहन्न	जहन्नं
१११	१२	०भाव वयति०	भावं वयति
१११	२३/२४	जहन्नि गुणतीसा	जहन्निगुणतीसा
१११	२८	०मष्टविंशति०	०मष्टाविंशति०
१११	३२	सयम०	संयम०
११२	९	नयमा ।	नियमा ।
११२	२८	नच्च त	नच्चंत
११३	२८	चतुर्लब्ध्वादि	चतुर्लब्ध्वादि
११३	२९	०चरित्र-०	०चारित्र०
११५	२३	प्रष्टव्यानि	प्रष्टव्य
११६	२	वा घातो	वाघातो
११६	३०	पदमसमुदाय०	पदसमुदाय०
११६	३०	"क्लिवे"	"क्लीवे"
११७	१७/१८	०क्षुर्दर्शनस्य	०क्षुरादिदर्शनस्य
११७	२७	मत्यज्ञानाऽश्रुता०	मत्यज्ञानश्रुता०
११७	३०	"ओधिदसणी	ओविदसणी
११८	११	विब्भगे	विब्भंगे
११९	३	उवयोग	उवयोगा
११९	२६	०सयमकषाया०	०संयमकषाया०
१२०	३१	तोरुवत्ताए	तारुवत्ताए
१२१	२०	वण्णादि णोद्रव्ये	वण्णादिणोद्रव्ये
१२३	५	०ऽप्यशुभले०	ऽप्यशुभले०
१२३	८	भवति (५)	भवति विशुद्धत्वात्(५)
१२४	१७	०नुगतस्थान०	०नुगतस्वस्थान०
१२५	१३	–सक्रम०	–संक्रम०
१२५	१९	सक्राति–	संक्रान्ति–
१२६	२३	०सक्रम०	०संक्रम०
१२८	२१	एगजोग०	एयजोग०
१२८	२१	तुप रिणामे	तु परिणामे
१२९	२२	दान्त स्वल्प०	दान्तो योगोपधानवान् स्वल्प०
१२९	२७	वा जितेन्द्रियो	वा उपशान्तो जितेन्द्रियो
१२९	३०	०सम्यग्दृष्टरुदय०	०सम्यग्दृष्टेरुदय०
१३१	५	पुन्जोदयसमविनि	पुञ्जोदयसमविनि
१३२	२०	गतिविग्रहगति	गतिर्विग्रहगति.
१३२	३२	०र्निष्क्रम्योत्पद्यते	०र्निष्क्रम्योत्पद्यते
१३३	२१	चाद्ये समये	चाद्ये चतु समये
१३३	२७	उववायाभाओ	उववायाभावाओ
१३५	१	मार्गणाना	मार्गणाप्रदर्शि
१३५	३१	–[३]सूक्ष्मपर्याप्त-[४]बादरसामान्य	[३]सूक्ष्मपर्याप्त-[४]सूक्ष्मापर्याप्त –[५]बादरसामान्य
१३८	२०	"एएत्तमुहुत्ता-०	"एयत्तमुहुत्त०
१३९	१६	धातार्घञ्	धातोर्घञ्
१३९	१७	५-२-१५)	५-२-२८)
१४०	८	"सपइ काले खेत्त	"सपइ काले खेत्त

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धि
१४२	९	नयनक्रिययां	नयनक्रियायां
१४२	११	०गुणस्थानानि-वन्धनत्वात्	गुणस्थाननिवन्ध-नत्वात्
१४२	२७	०परूपणमाह्-	०प्ररूपणामाह्-
१४३	१६	इन्द्रियाणादीनाम०	इन्द्रियादीनाम०
१४३	२६	ञ्चसग्रहेऽ०	पञ्चसग्रहेऽ०
१४३	३०	लब्ध्यपर्याप्ता०	लब्ध्यपर्याप्त०
१४४	६	सज गिअता	सजोगिअता
१४४	२५	०ज्ञाना-०	०ज्ञान-०
१४४	२८	त	त
१४४	२८	तच्चाण जाण	तच्चाणजाण
१४६	११	त सव्वहा विसुद्ध	ज सव्वहा विसुद्ध
१४६	◦४	कार्मन्थिकाभि-प्रायेण	कार्मग्रन्थिका-भिप्र येण
१ ८	३१	वत्तो	वृत्तौ
१४९	१७	द्राघ्रीयमी	द्राघीयमी
१५०	१५	०लोगासपएस-मेत्त णि	०लोगागासपए-समेत्ताणि
१ ?	९	(इन्दियत्थु०	०इन्दियवत्थु०
१५१	२५	०रान्तराल	०न्तराल
१५२	१८	ञदायाऽ०	उदयाऽ०
१५२	२१	उवसत ज कम्म णाय	उवसत ज कम्म ण य
१५२	२७	=किट्टिकृत	=किट्टीकृत
१५३	२९	गयकलुस	गयकलुसं
१५४	१२	शैलश्य०	शैलेश्य०
१५४	२७	जीवमासे	जीवसमासे
१५५	१७,२४,२५,२६	०वैकियषु	०वैक्रियेषु
१५५	२४,२५	पञ्चविशतौ	पञ्चविंशतौ
१५५	२९	वैक्रिययोगस्यैव	वैक्रिययोगस्य
१५५	२६	-छेदापस्थापन०	छेदोपस्थापन०
१५६	२९	पद	पद
१५७	१९	पज्जत्तगा पज्ज-त्तगेसु	पज्जत्तगाप-ज्जत्तगेसु
१६०	२६	सयागि०	सयोगि०
१६१	१८	तिरिअनरा	तिरिअनराऊसुहु-

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धि	शुद्धि
		ऊसुहुमतेर	मतेर
१६३	४	सम्मवीति	सम्भवतीति
१६५	२८	वेइदियाण	वेइंदियाण
१६५	२८	मते।	भते।
१६७	६	परिविशुद्धि०	परिहारविशुद्धि०
१६८	२४	सास्वादन मिश्रा ०	सास्वादन-मिश्रा-०
१६९	३	सास्वादन-सम्यग्दृष्टय	सास्वादना
१७०	६	-प्रमत्तसयता०	प्रमत्तसयता-प्रमत्तसयता
१७०	१२	सुरायुवन्धेऽ०	सुरायुर्बन्धेऽ०
१७०	१६	स्वकल०	स्वकाल०
१७०	२२	-नम-गोत्रा-ऽ०	-नाम-गोत्राऽ०
१७१	७	०प्रमत्तसख्येया-०	०प्रमत्तसख्येय०
७५	२०	-पर्याप्तत्रसकागौ ०	पर्याप्तत्रसकायौ ०
१७६	१३	०वजमर्वे-०	०वर्जमर्वे ०
१७७	६	०मार्गियो	०मार्गणयो
१७८	२१	०केवल्यान्ता	०केवल्यन्ता
१७८	२७	ततन्मागणाभाज	तत्तन्मार्गणाभाज
१८०	२३	औदरिाक ४०	औदारिक ०२
१८०	२७	भवति	भवन्ति
१८४	६	समास	समास
१८५	१६	०चूर्णिकारणा-दिभि०	०चूर्णिकारा-दिभि०
१८५	२०	पुनर्जायमनो	पुनर्जायमानो
१८८	२६	स्वप्रायोग्याना	स्वप्रायोग्य णा
१८९	१४	किन्त्य.य०	किन्त्वाय०
१८९	२५	पसवर्त	परावर्त
१९०	२०	चऽ यवच्छेद-०	च व्यवच्छेद-०
१९०	२२	०न्मात्रत्वन	०न्मात्रत्वेन
१९१	५	वेदनाय०	वेदनीय०
१९२	५	'स्वप्रायोग्याना'	'स्वप्रायोग्याणा'
१९३	११	०कायमणञ्जवेसु	०कायमणपज्जवेसु
१९३	२०	-मोहीनीय-	मोहनीय
१९४	२५	०चु	

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१९४	३०	देशानार्द्ध०	देशोनार्द्ध०
१९७	१९	'सुरनिरयो'	'सुरनिरययो'
१९७	२२	बोद्धव्या	वोद्धव्या
१९७	२३	त्रयस्त्रिंशत्सागरो-म-०	त्रयस्त्रिंशत्सा-गरोपम-०
१९७	३०	०भ्याधिकानि	०भ्यधिकानि
१९८	२	ण	ण
१९८	२३	सप्तमपृथवि०	सप्तमपृथिवी०
१९९	१७	तथा तद्ग्रन्थ,	तथा च तद्ग्रन्थ
२००	२६	०सहस्राणि	सहस्राणि
२०१	४	($\frac{५}{१०}$ १	(६ $\frac{५}{१०}$ १
२०१	१३	विशोधियि-	विशोधयि-
२०२	२५	०तम प्रभाया	तम प्रभाया
२०३	१४	०सर्पिण्य०	०त्सर्पिण्य०
२०३	१६	ण	ण
२०७	१०	-ऽपर्याप्तजीवाना	-ऽपर्याप्तजीवाना
२०७	२१	तत्समानात्वा०	तत्समानत्वा०
२०९	२०	०सम्वधश्च	सम्बन्धश्च
२११	५	०कारकतया	०कारतया
२१४	१३,२२	०कन्द्रिय०	०केन्द्रिय०
२१४	२०	०-ऽपाहारे	ऽपहारे
२१४	२३	भावान्तर	भावान्तरं
२१४	२९	इत्युक्त	इत्युक्त
२१५	१८	र्याप्तेषु	पर्याप्तेषु
२१६	७	उक्त	उक्त
२१६	१२	०कायिकप्रत्येक०	०कायिकवायुका-यिकप्रत्येक०
२१६	२९	वायुकायमार्गणाश्च	तेज कायमार्ग-णायाश्च
२१७	२	०वायर०	०बादर०
२१७	१६	०जीवश्रितो०	जीवाश्रितो०
२१८	१४	पुद्गलपवरार्तान्	पुद्गलपरावर्तान्
२१९	४	वाउकायइए	वाउकाइए
२२२	२३	अणत काल	अणत काल
२२४	१६	पुनस्पर्शनेन्द्रिय०	पुन स्पर्शेन्द्रिय०
२२६	२६	०श्रितोकृष्टा	०श्रितोत्कृष्टा
२२८	८	काल	काल
२२८	२७	०निरवेक्खा	०निरवेक्खया
२२९	११	०त्वोपपत्तो'	०त्वोपपत्तो ,
२२९	१६	०ऽन्तमुहूर्त०	०ऽन्तर्मुहूर्त०
२२९	२१	त०	त०
२२९	२३	योज्य	योज्य
२२९	२८	-प्रथमनिरयो	-प्रथमनिरययो
२३०	२८	माउआ	माउआ
२३१	६	सागरोपमस्यैक०	सागरोपमस्यैका०
२३२	५	महातमप्रभाया	महातम प्रभाया
२३३	१८	'भिन्नमुहुर्तम्'	'भिन्नमुहूर्तम्'
२३४	६	०सवा-दो	सवादो
२३५	६	ज्ञापनासूत्र०	प्रज्ञापनासूत्र०
२३६	५	०दारिशरीरे	०दारिकशरीरं
२४३	१०	५०	४६
२४५	१	०यकायोत्कृष्ट०	०योत्कृष्टकाय०
२४५	१०	२	१
२४७	६	०कर्मणा	०कर्मणा
२४७	१३	०नायुत्रस्त्रि०	०नायुषस्त्रि०
२४७	२५	=सयमसामन्य०	=सयमसामान्य०
२४८	२६	०यागादिपु	०योगादिपु
२४९	२०	-वेदनीयनाम-	-वेदनीयनाम-
२४९	२४,२५	'स्वप्रायोग्याना'	स्वप्रायोग्याणा
२५२	२९	०सूक्ष्मैन्द्रिय-	०सूक्ष्मैकेन्द्रिय-
२५३	४	पृथिकाया-०	पृथिवीकाया-०
२५५	७	पञ्चन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रिय०
२५७	२२	पूर्वस्तुपरामर्शि०	पूर्ववस्तुपरामर्शि०
२६२	२५	मार्गणया	मार्गणाया
२६४	५	साधकानि	साधिकानि
२६७	१३	०मोह क्षीण०	मोह-क्षीण०
२६७	१७	आयुर्बन्धोछेदाद्	आयुर्बन्धोच्छेदाद्
२७४	२३	पुत्रर्भार	पुत्रैर्भार
२७६	१६	एकेन्द्रियानाम०	एकेन्द्रियाणाम०
२७६	२०	०न्द्रयादीनां	०न्द्रियादीनां
२७६	२०	०ऽप्यने के	०ऽप्यनेके

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
२७७	६	नित्या ।	नित्या ।
२७६	१२	पल्लामखियभाग	पल्लासंखियभाग
२७६	२४	०प्रप्त्यादि०	०प्रज्ञप्त्यादि०
२८०	१०	०सयत०	०सयत०
२८२	२१	इत्येवरूप	इत्येवरूप
२८५	५	एकश्च चाऽबन्धक	एकश्चाऽबन्धक
२८५	१०	बन्धकानाम- नित्यान	बन्धकानाम- नित्यत्वात्
२८५	१६	द्वाविंशत्याधिक०	द्वाविंशत्यधिक०
२८५	१८	नामतइमा	नामत इमा
२८७	१८	०मार्गणया	०मार्गणाया
२८७	१९	विशिष्टिश्रुत०	विशिष्टश्रुत०
२८९	२	०ऽबन्धक	०ऽबन्धक
२८९	६	छेदाप०	छेदोप०
२९२	१३	०मार्गणागत०	०मार्गणागत०
२९४	१४	मार्गणायोश्च	मार्गणयोश्च
२९५	१२	भागद्वारामा०	भागद्वारमा०
२९६	२२	परिणाम०	परिमाण०
३०१	१०	वर्जाणित्रीणिवेद०	वर्जानि त्रीणि वेद०
३०१	१६	०तीना०	०प्रकृतीना०
३०१	२४	य सा	यासा
३०३	१०	बन्धका तत्त०	बन्धकास्तत्त०
३०३	२३	०माणा०	०प्रमाणा०
३०३	२६	मार्गणया	०मार्गणाया
३०७	३	०भाग०	०भाग०
३ ६	२	बहुसख्येयभाग	बहुसख्येयभागा
१४	१६	ऽभिधियन्ते,	-ऽभिधीयन्ते,
३१६	२६	साम्प्रत	साम्प्रत
३१८	१०	०मार्गणायामकेषा	मार्गणायामेकेषा
३१८	२२	तासिण	तासिण
३१९	१५	देवानां	देवेभ्य
३२०	२	०मागणाऽ०	०मार्गणाऽ०
३२०	१८	०रिन्द्रियो०	०रिन्द्रिययो०
३२३	१	सप्तकर्मबन्क०	सप्तकर्मबन्धक०
३२३	२६	०जोणिआ पुरिसा	०जोणिणीओ
३२३	२७	०तिरिक्ख-	०तिरिक्खजोणिआ जोणिणीओ० पुरिसा सखेज्जगुणा जलयरपंचिं- दियतिरिक्ख जोणि- णीओ संखेज्जगुणाओ
३२४	१८	सुयनाण	सुयनाण
३२५	११	पल्लम्य	पल्लस्स
३२५	२६	व्याहर्तु काम्	व्याहर्तुकाम
३२८	११	०-ऽऽहारकाय	०-ऽऽहारककाय०
३३०	७	लभ्यरेन्	लभ्येरन्
३३१	१६	यथासभव सख्ये- यभागमात्राणा- मसख्येयभाग- प्रमाणाना	यथासभव बहु- सख्येयमात्राणा बहुसख्येय- भागप्रमाणाना
३३३	१	परिणाम०	परिमाण०
३३५	५	सव्वलोय-	सव्वलोयप०
३३७	२६	सप्तकर्मणा	सप्तकर्मणा
३४०	१	सप्तकर्मबन्धक०	सप्तकर्माबन्धक०
३४१	१८/१९	-ऽपर्यासूक्ष्म०	-ऽपर्याप्तसूक्ष्म०
३४१	२६	बन्वका	बन्धका
३४४	५	लोकसख्य-	लोकासख्य-
३४८	१२	भागा	भागा सग
३४८	१४	रज्जुरिय	रज्जुरिय
३४८	२६	दण्डस्तदुपत्ति०	दण्डस्तदुत्पत्ति०
३५०	२८	जायन्ते.	जायन्ते
३५२	३	धर्मोर्द्ध्व०	धम्मोर्द्ध्वं०
३५२	८	अच्चुअ	अच्चुअ
३५४	१८	०त्रिविधिक्षेत्रा०	०त्रिविधक्षेत्रा
३५६	१४	०त्पित्त्व	०तिपत्तव
३५७	७	०पृथिकायिकेषु	०पृथिवीकायिकेषु
३५७	२९	०घाताभ्युपगमेन	०द्घाताभ्युपगमेन
३५८	४	ईशान्ना	ईशानान्ता.
३५९	२४	तद्द्यअस्स	तइअस्स
३६०	९/१०	षड्	अष्टौ
३६३	२५	०समुद्घागतै०	०समुद्घातागतै०
३६४	१८	मागणानाम०	मार्गणानाम०
३६५	११	०काययोग०	०काययोग

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
३६५	२७	०रिंत्काय०	०रिंशत्काय०
३६७	१३	शषाः ५	शेषा ५
३६६	१	०मार्गणायमायु०	०मार्गणायामायु०
३६१	१३	परिहारविविशुद्धि०	परिहारविशुद्धि०
३७२	२०	तप्रतिपत्तो०	तत्प्रतिपत्तो०
३७३	३०	०व्याप्तकाना	०व्यापकाना
३७५	१४	सर्वसख्यैको०	सर्वसंख्ययैको०
३७७	६	सप्तसमयेऽप्यौ-०	सप्तमसमयेऽप्यौ-०
३७९	२४	-परिह ाविशु-द्धिक०	परिहारविशु-द्धिक०
३८१	१७	प्रमाणतश्वसौ	प्रमाणतश्चासौ
३८१	१७	अस्मिने काले	अस्मिन् काले
३८१	२३	चरमसमरूपै०	०चरमसमयरूपै०
३८४	२७	०वाश्रयकालस्य	वाश्रयबन्धककालस्य
३८५	११	वा-ऽनेका	वा-ऽनेके
३८६	१५	अट्ठार सागरोवम०	अट्ठारससागरोवमा०
३८७	१५	०सम्यक्त्वा-	०सम्यक्त्व-
३६१	२०	०मिश्रकायकाय-योग-०	०मिश्रकाययोग०
३६२	६	गुरुमद्धपुहुत्त०	गुरुमद्धपुहुत्त०
३६३	२४	कालो भणित	काल सर्वाद्धा भणित
३९५	१७	जीवाश्रयाजघ०	०जीवाश्रयजघ०
३९७	१२	त्रसपर्याप्तत्रसौ	त्रसापर्याप्तत्रसौ
३९८	१७	लाभ-भागो-	लाभ-भोगो-
३९९	२६	मिश्रदृष्टया०	सम्यग्दृष्ट्या०
४००	२४	क्षायिकभावेण	क्षायिकभावेन
४०९	२६	उक्तमार्गणापञ्चक	उक्तमार्गणाचतुष्क
४१३	१४	उपशान्तमोह-क्षीणमोहाना	सूक्ष्मसम्परायाणा
४२५	१६	०त्मक	०त्यात्मक
४२७	१५	सर्वप्ररूपण	सर्वप्ररूपणा
४२६	२	०सम्परायानाम०	सम्परायाणाम०
४४१	२३	०ऽन्तमुहूर्त०	०ऽन्तर्मुहूर्त०
४४१	२८	बन्धस्याऽवश्य-भावात्	बन्धस्याऽवश्य-भावविरहात्

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४४६	५	अ मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्
४५१	२०	सप्तप्रकृत्य-	सप्तप्रकृत्या-
४५२	१२	विमणिपु०	विभणिपु०
४५३	३	०नन्तर	०नन्तरं
४६१	२२	(३+१२+८)	(६+१२+८)
४६१	३०	सप्तविशति०	सप्तविंशति
४६४	३०	चतुश्चत्वारिंशद्	०चतुस्त्रिंशद्
४७३	६	०न्तराणा	०न्तरभावानां
४७९	७	०तावन्मात्रात्त्वात्	०तावन्मात्रत्वात्
४८०	१५	०क्षौय.पशमिक०	०क्षायोपशमिक०
४८५	२५	०नानाजीवाश्रा०	०नानाजीवाश्र०
४८६	३	०सख्य०	०सत्व०
४८९	४	०नरा	०नरा
४८६	२६	अशोपमिक०	औपशमिक०
४९४	१०	मात्रार्थ	भावार्थ
४६८	६	तस्मिश्च	तस्मिंश्च
४६९	११	पञ्चेन्द्रियपर्याप्त-	पञ्चेन्द्रिय०
५०१	२	तेसु	तेसु
५०१	२२	स च	तेन स चः
५०३	३	सम्यदृष्टि०	सम्यग्दृष्टि०
५०३	२६	५-१ ४५	५ १-२७
५०३	३०	४ ३-४५	२ १-८६
५०३	६	त्रिप्रकारोऽपि	चतुष्प्रकारोऽपि
५०४	२	३ २-१२२	३-२-१२५
५०४	८	भूयस्कारदि०	भूयस्कारादि०
५०५	२७	०बध्नाति	०र्बध्नाति
५१६	१८	अवास्थत	अवस्थितः
५२०	३०	वेका	वैका
५२५	१८	०रिथति०	०स्थित०
५२६	६	भिन्न०	भिन्न०
५२७	४	स्थिति	स्थिति
५२७	६	-पयाप्त-	-पर्याप्त-
५२८	२६	प्रकृति	प्रकृतिं
५३२	२३	भूयस्कारऽल्पतर०	भूयस्कारा-ऽल्पतर०
५३४	१५	सम्प य०	सम्पराय०
५३६	२	पूर्वकोटि-	देशोनपूर्वकोटि-

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
५३७	१९	आहारक' २	आहारकः १
५३८	५	०पयाप्त०	०पर्याप्त०
५४०	२	०बन्धान्तरस्य विरहात्	०वन्धान्तर - विरहात्
५४०	६	०नके	०नेके
५४०	२५	बाद पृ०	बादरपृ०
५४०	२६	०प्त सकाया-	०प्तत्रसकाया-
५४२	१५	०च्छदो०	०च्छेदो०
५४३	१५	योग'	योग.
५४३	१८	मन०	मन ०
५४३	१९	सयमः	सयम
५४३	२०	दशन	दर्शनम्
५४३	२४	सञ्ज्यासञ्ज्ञिनौ	सञ्ज्यसञ्ज्ञिनौ
५४४	४,६,८,१० १२	६	४
५४५	१६	समया	समयो
५४५	१७	चुल्लकव	चुल्लकभव
५४६	२६	-मानुष्यी	-मानुषी
५४७	२१	०नपु सवेद०	०नपुंसकवेद०
५४८	५	सूक्ष्मपृथिवीका-या-ऽपर्याप्त-०	सूक्ष्मपृथिवीका-य-पर्याप्त-०
५४९	५	०त्का-	०त्काय-
५४८	२२	सामान्य	सामान्य-
५४८	२७	योगा-तन्मिश्र०	योग-तन्मिश्र०
५४९	१	निरगत्यादि०	निरयगत्यादि०
५४९	१४	द्वादश-	द्वादश
५५०	१६	कालो-ऽमुर्हूर्त०	कालोऽन्तमुर्हूर्त०
५५१	३	आदेशश्च	आदेशतश्च
५५१	५	०वज०	०वर्ज०
५५१	१७	छेदोप था०	छेदोपस्था०
५५१	२५	मार्गणासुभूय०	मार्गणासु भूय०
५५२	२६	सख्येगुणा	सख्येयगुणा.
५५६	६	त्रिवदरैके०	त्रिबादरैके०
५५६	१५	भव्य०	भव्याऽ-०
५५७	१६	।	सञ्ज्ञी
५५८	६	०सौधर्म०	०मौधर्म०
५५८	६/१९	सवा	सर्वा
५५८	१२	शेपे	शेषाणि
५५९	५	०सनुष्य०	०मनुष्य०
५५९	१४	शेपे	शेषे
५६०	५	काटा०	कोटा०
५६०	१६	आहारक	आहारक'
५६१	११	शेपे	शेषे
५६२	४	अधिकारे	अहिगारे
५६२	७	निक्षेपात् चिन्तानात्	निक्षेपात्= चिन्तनात्
५६२	१०	इदत्व०	इदन्त्व०
५६६	७	०वृद्ध०	०वृद्धि०
५६७	१	०पऽल्वहुत्व०	०ऽल्पबहुत्व०
५६७	२	बध्न्तु०	बध्नन्तु०
५६७	२	कले	काले
५६८	१	०बहत्वम्	०बहुत्वम्
५७०	९	०रुपान्त०	०रुपशान्त०
५७०	३१	शेषसु	शेषासु
५७०	३१	त्कृष्ट०	उत्कृष्ट०
५७१	१६	वणिती	वर्णितौ
५७१	१८	निविशेषेणाऽ०	निर्विशेषेणाऽ०
५७२	२०	आदेशतश्चपञ्चे०	आदेशतश्च पञ्चे०
५७७	१९	-ऽत्का-	०-ऽत्काय-
५८०	७	सख०'	'सख०' इत्यादि
५८२	१८	०जीवाश्र काल०	जीवाश्रयकाल०
५८२	२५	त्रिशन्मार्गणासु	त्रिंशन्मार्गणासु
५८३	८	०मुकृष्ट	०मुत्कृष्ट
५८४	२५	०मनपर्यव०	मन पर्यव०
५८७	८	०लेश्या	०लेश्या-
५८८	१५	कुमते महर्यक्षाः	कुमतेभहर्यक्षा
५८८	२४	स्याद्वाद०	स्याद्वाद०
५९०	५	०त्सोहिनौ	०त्साहिनौ
५९१	२३	माल-	माला-